श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी-२

रूपांतरकर्त्री

विद्यावती 'कोकिल'

©श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी–२
१५ अगस्त १९६६

प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-२
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२

Hindi : Savitri by Sri Aurobindo
Published by Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry--2
Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry--2

‘सावित्री’

(हिन्दी रूपांतर)

Blessings

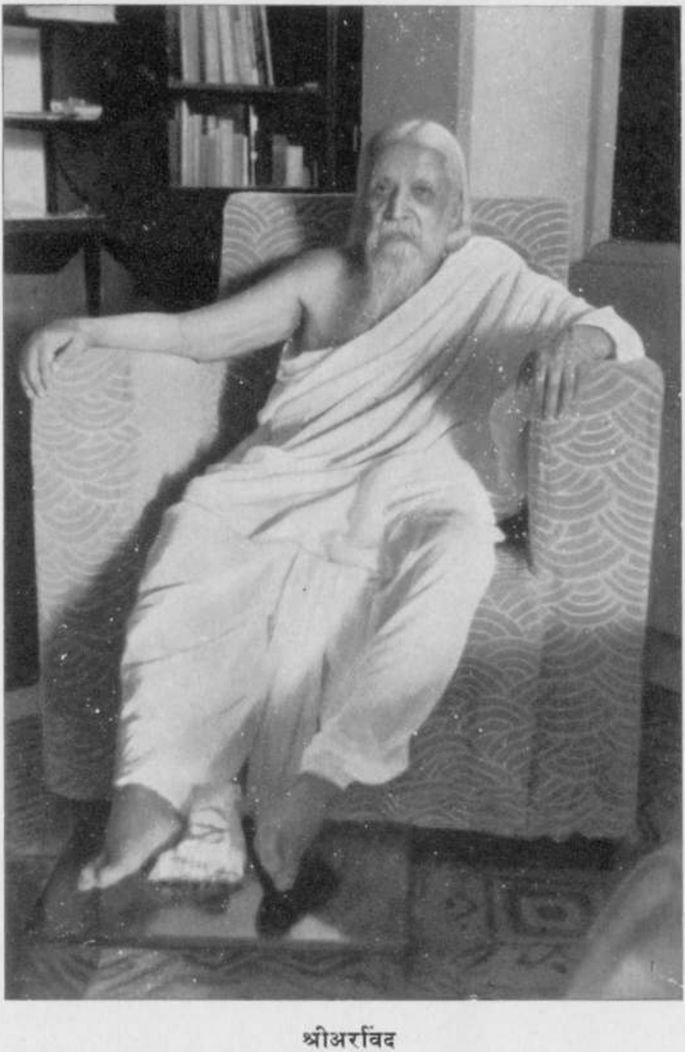

श्रीअरविंद

समर्पण

सावित्री की चैत्य शुभ्र किरणोंको
पकड़े पकड़े मानव स्वर्ण चढ़ेगा,
जीवन में ही आनंदों के सागर
खुल जाएंगे स्वर्ग यहीं उतरेगा।

मैं भी मनन अध्ययन में इसके यों
डूबूं कि नया जीवन एक पा सकूं,
मधु से अंध बनी अपनी श्वासों को
तव पद-पद्मों पर प्रतिपल लुटा सकूं।

—विद्यावती 'कोकिल'

महे नो अद्य बोधय उषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते।

आओ हे उषा, द्यौ के अपने समस्त वैभवों के साथ आओ, और आज हमें परम आनंद के प्रति जगाओ, जैसे कि पहले भी एक बार तुमने हमें ज्ञान के जन्म के शिशु भावमें, सत्य की अंतःप्रेरित श्रुतिमें जगाया था।

अयि देवि! तेरा जन्म पूर्ण है। अयि, तेरे अश्वों की पगचाप में सत्य निहित है।

—ऋग्वेद ५-७९-१

बिंबानुदर्शन

ऋषि, द्रष्टा और कवि श्रीअरविंद द्वारा अंग्रेजी भाषा में रचित यह सार्वभौम चेतना का महाकाव्य एक पुराण कथा भी है और एक रहस्यमय प्रतीक भी। यहां हम आध्यात्मिक कविता के गूढ़ बिंबों और अंतर संकेतों की संगीतमय डोर को पकड़े, सशक्त और जीवंत प्रतीकों की सहायता से चेतना के ऊंचे शिखरों पर चढ़ते चले जाते हैं। ऊंचे चढ़ते-चढ़ते हम चेतना के उस उत्तुंग शिखर पर पहुंचा दिए जाते हैं जहां से कभी उस लीलाधर की 'एकोऽहं बहु स्याम्' की विश्व-लीला प्रारंभ हुई थी। सावित्री महाकाव्य में भी यहीं से पटोन्मीलन होता है।

बस अचित् की महारात्रि के साम्राज्य में चिद्-घन की उषा के आगमन की तीव्र आकांक्षा के बीच यवनिका उठती है। यह वही प्रतीकात्मक प्रथमा शाश्वती उषा है जो देवताओं की जननी है, जो सत्य की आदि ज्योति है, जो प्रकाश की गौओं की संरक्षिका है और जो गुह्य ज्ञान का आदि स्रोत है:

"यह क्षण था जब सुर जगनेवाले थे।"

पर अभी शाश्वतता के अंधे दीप-विहीन विराट्-मंदिर में अचित्-निशा का और उसके हठी मन का साम्राज्य फैला था जो सभी प्रकार से प्रकाश को ठेल रहा था। सृष्टि के आदि का यह दिव्य दर्शन आंखें बंद करके पढ़ने-गुनने की वस्तु है, ध्यान और सहज ज्ञान का विषय है। यह तो आर्ष-वाणी है, मंत्र-काव्य है। इस प्रकार यह इस महाकाव्य का प्रारंभ तो है ही साथ ही यह मानव की अज्ञानता से मुक्ति की एक दिव्य घोषणा भी है। यह इसी लोक में, इसी भूतल पर उसके छिने हुए, खोए हुए आनंद में उसके जीने के अधिकार को पुनः वापस लाने का प्रयत्न है।

एक दिन दस वर्ष पूर्व संसार सागर के थपेड़ों से झकझोरी, थकी और अर्ध-मृत, जब मैं अनजाने यहां आकर खड़ी हुई थी और इस आध्यात्मिक स्वप्ननगरी-के अजायब घरमें यह सावित्री महाकाव्य का ग्रंथ रत्न मेरे हाथ लगा था तो मैं नहीं जानती कौन-सी अमूल्य निधि मुझे मिल गयी थी, कौन से अनुत्तरित महा-प्रश्न का उत्तर मिल गया था, मेरी कौन-सी असमाधेय समस्या हल हो गयी थी। मेरे संपूर्ण जीवन से, जीवन के सारे क्षेत्रों से, — घर बार, परिवार-समाज, शिक्षा-संस्कृति, समाजसेवा, देश-सेवा, साहित्यसाधना, कलासाधना, — सब कहीं से उठ उठकर एक असंतुष्ट जिज्ञासु-श्वास आकर यहांके गंधमादनी शिखरों से टकराने लगा और इनके चरणों की महाशांति में विलय पाने लगा। इस जीवन से ही नहीं, मेरे पिछले प्रत्येक जीवन से भी जैसे कोई महाश्वास चुपचाप उठ-उठकर यहां आने लगा। बस, मेरा बाह्य अहं और मेरी अंतरात्मा जो कुछ ढूंढ़ रही थी वह क्षण भर के लिए मिल गया।

क्षण भर को इसलिए कि मेरे जैसे विद्या-दरिद्रीको यह अनंत ज्ञान-रत्नराशि जो हाथ लग गई है यह मेरे पास रह कैसे सकेगी? यह तो मेरे अभिलषितसे भी बहुत अधिक मिल गया था। यही प्रश्न तो अब था कि जन्म-जन्मांतरों से संजोई दुर्बलता, भीरुता और कर्दम-निवास की आदत एक दिन में कैसे छूट जायगी। यह जो एक मानव मजबूरी है यही तो उसकी शत्रु है; इसीलिए तो काल की ताल पर शाश्वतता के महासागर को लुटा लुटा कर यह दिव्य प्रकाश धरती से लौट जाता है। सावित्री के प्रथम सर्ग की पंक्ति मुझे साक्षात् हो उठी, चैत्य उषा यहां आकर भी क्यों लौट जाती है:—

"भगवत्ताका दिव्य प्रकाश धरा पर केवल क्षण भर को ही रुक पाता है।"

आखिर ज्ञान की पूर्ण उषा को पार्थिव भूमिका पर से वापस जाना पड़ता है। फिर बस मानव के अंतर में प्रकाश की अभीप्सा-आतुर एक धुंधली छाया भर रह जाती है:—

"किंतु स्वयं ही सारी दिव्य प्रेरणा खत्म हो गई, या मुख मोड़ फिर गई,
धीरे धीरे कर इस मर्त्य-भूमि से उपेक्षित, अवांछित सी मंद पड़ गई,
उसके पीछे उसकी अनुरेखा सम एक पवित्र अभीप्सा शेष रह गई।"

पर इसके बाद ही एकमात्र आशा की किरण सावित्री के रूप में हमारे सामने आती है जो मानव के बंद, जकड़े पड़े दैवी अधिकार के द्वार खोलने को कृतसंकल्प है। बस प्रतीकों का यह अद्‌भुत संसार, सावित्री और अश्वपति के अग्नि-संकल्पों-से आज्वल्यमान जीवन के द्वारा काव्यमयी, आनन्दवर्षिणी दिव्य वाणी से, सुरोंको भी दुर्लभ अमृत लेकर हमें छका छका देता है।

मुझे वह दिन अभी भी नहीं भूलता जब इस अभावग्रस्त, निराश और रिक्त जैसे संसारमें मेरा मन अनंत जैसे आदर्शों के चक्र पर निरर्थक घूमता ही रहता था। ये नीले-पीले-सुनहले मौक्तिक और हीरक आदर्श अपनी रंगबिरंगी साज सज्जा से मन को कैसे क्षण भर चकाचौंध करके छोड़ जाते हैं और कुछ ही काल में हम जहां थे फिर वहीं पहुंच जाते हैं। मेरा मन इन आदर्शों से असन्तुष्ट बना बिलख उठा था और मैं सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञानोंके, अहंकारों और सभी प्रकार की समाज-सेवा और देश-सेवा के भूल-भुलैया के महाद्वारों से लौट कर साहित्य-मंदिर के धुंधले द्वार पर, जहां ऊपर केवल नभ और नीचे चटखती धूप थी आकर बैठ गयी थी। क्योंकि केवल यहीं पर मुझे किसी अंतिम समाधान के मिलने की आशा थी, पर वह कैसे कहां और कब मिलेगा यह न जानती थी। यह प्रश्न मुझे एकाकी घड़ियोंमें सदा सालता रहता था। यह मुझे भोजन के बाद कभी सुख की नींद नहीं लेने देता, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद में डूबने नहीं देता, एकांत के क्षणों में ऊंची उड़ानें भी भरने नहीं देता और ज्ञान के शिखरों पर निर्द्वन्द्व चढ़ने भी नहीं देता।

मैंने अभीतक लौकिक और धार्मिक काव्य के ही दर्शन हिंदी में अधिक किए

थे, आध्यात्मिक काव्य की यत्र-तत्र ही झलकें मिली थीं। उनमें आज की समस्याओं के स्पष्ट और विवर्धित चित्र तो खूब थे पर सर्वसामंजस्यमय समाधान का कहीं पता न था। यह समाधान शायद द्रष्टा के आर्ष काव्य में ही संभव हो सकता था, क्योंकि —

"लौकिकानां तु साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥"

लौकिक काव्य में सदा कुछ आदर्शात्मक और विचारात्मक ध्येय होता है, वाणी उसका ही अनुसरण करती है, पर ये आदर्श आपस में ही एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, यहां सर्व समाधानकी आशा कैसी ? समाधान तो उस आर्ष वाणी में ही मिल सकता है जो उन्नत लोकों से सीधे आई है, जहां सब आदर्श मिल कर एक हो जाते हैं। यहां अर्थ वाणी का अनुसरण करता उसके पीछे पीछे दौड़ता आता है। यह वाणी तो किन्हीं मानसोपरि लोकों से ही आती है।

मुझे बराबर यह आभास होता रहता था कि ऐसा ग्रंथ मुझे एक दिन अंग्रेजी में मिलेगा। इसीसे मैंने कभी अंग्रेजी का अध्ययन मनन एकदम छोड़ नहीं दिया था। शक्ति परिमित होनेपर भी अंतर की आवाज पर कुछ कर गुजरने का संकल्प बना हुआ था। इसीलिये संपूर्ण जगतीतल में मेरे लिये यह पांडिचेरी ही वह स्वर्ण-स्थल सिद्ध हुआ है जहां रहस्यों के उद्‌घाटन हुआ करते हैं और जीवन बदल जाते हैं। और यहीं सावित्री जैसे चिर-प्रतीक्षित ग्रंथ का साक्षात्कार हुआ, इतना ही क्यों, जहां मन को ग्रंथ का साक्षात्कार हुआ वहां आंखों के लिए उनके सारे समाधानों स्वरूप रक्त मांस से रचित मानव-रूपिणी 'सावित्री' की भुवन मोहिनी छबि भी सामने खड़ी मिली। बस मेरे काव्यमय सपने सत्यकी ठोस भूमिपर उतर आए और प्रकाशसे, आनन्द से, सौंदर्य से, सत्य से तथा जीवन की जाज्वल्यमानता से मेरा भीतर, बाहर प्रकाश की सागर हिलोरों से आन्दोलित हो उठा। श्रीअरविंद के बताए काव्य के इन उपरि इंगित पंच सूर्यों ने पल भर के लिए मेरी नाड़ी-नसों में मधु का संचार कर दिया। और जैसे एक प्यारी-सी गेंद को पाने के लिए रोते हुए बालक के सामने साक्षात् चंद्रमा ही लाकर रख दिया जाय ऐसे ही मेरा मन प्रसन्नता और आह्लाद के अद्‌भुत चमत्कार से भर उठा। साथ ही इस चंद्र-गेंद को उठा सकने की अपनी असामर्थ्य और अशक्तता पर मन मसोस कर भी रह जाती हूं। अब मैं अपने बाल हाथों से इसे कहां तक समेट पाती हूं इसी में मेरे जीवन की सुन्दर साधना और परितृप्ति निहित है। यदि पाठक मेरा उत्साहवर्धन कर इस १२ पर्व वाले विशालकाय महाकाव्य के इस प्रथम पर्व को जैसा भी यह है अपना कर मुझे अपना बल देंगे तो कुछ भी बाधाएं आएं, उनपर जय पाई जा सकती है और शायद एक दिन यह क्रम अपनी सुखद परिणति को प्राप्त हो सकता है।

निश्चय ही लौकिक काव्य हमारे मन प्राण और भावनाओं को जिस प्रकार आंदोलित करते हैं, यह तो हमें उस प्रकार आंदोलित करने के लिए नहीं लिखा गया है। इसी लिए इसके समझने में केवल परिमार्जित भावना और पांडित्य ही कोई शर्त नहीं है। इसे समझने के लिए एक बार पूर्णरूपेण समर्पण तो करना ही पड़ता है। यह तो कहना ही पड़ता है कि यह साधारण पाठकों के लिए नहीं है। विशेषकर यह प्रथम पर्व तो विद्वानों और रहस्यमर्मियों को भी कभी अप्रवेश्य सा दिखता है। यह तो साधकों को उनकी समाधि में सिद्धि प्राप्त करानेवाला एक सुव्यवस्थित संगीत है जो पार्थिव चेतना से लेकर उन्नततम चेतना के लोकों तक छहरा पड़ा है। इसे पढ़ने के लिए एकांतचित्तता, आवेगहीनता और शांत वातावरण की अपेक्षा तो है ही। मैं यह भी जानती हूं कि आज के महागतिरोध से ऊबकर ऐसे साहित्य को पढ़ने वाले लालायित रसिकों की भी कमी नहीं है। क्योंकि आधुनिक कविता की भांति यह आज की आवश्यकता की कमोबेश पूर्ति करके ही नहीं समाप्त हो जाती या केवल कुछ कल्पित समाधान देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाती, यह तो हमारे मन, प्राण और अंतरात्मा पर ही क्या, संपूर्ण सत्ता पर एक जीवंत प्रभाव डालती है। फिर भी यह इतने से संतुष्ट नहीं होती और सत्य के लोक-लोकांतरों के दर्शन स्पर्शन के आध्यात्मिक विज्ञान को इस प्रकार इस नन्हें-से मानव मन के भीतर अपने बिंबों, प्रतीकों, उपमाओं, व्यंजक शब्दों और उनकी ध्वनियों के द्वारा धारावाहिकता से मूर्त करती चलती है कि उस उन्नतशिखरी सामंजस्य को यह बौना मानव भी पा सके। यह देखकर बरबस मुख से निकल जाता है कि 'सावित्री महाकाव्य' जगत् का एक महा चमत्कार है।

हिन्दी अनुवाद के विषय में

इस हिंदी अनुवाद में तुकान्त कविता की सारी सीमाओं को निभाते हुए मूल के गूढ़ चित्रों, बिंबों और प्रतीकों को बड़ी ईमानदारी से ज्यों का त्यों रक्खा गया है। इनमें मेरी अशक्ति से बहुत जगह क्षति आने की संभावना है पर इसके लिए मैं साहित्यिक और काव्यरसिक बंधुओं की कुशाग्र मति पर भरोसा रखकर यह बाल प्रयत्न सोल्लास बड़ी विनम्रता से उन्हें समर्पित करती हूं। मैंने इसमें जो ईमानदारी और एकनिष्ठता निभाने का प्रयास किया है उसे पारखी ही समझ सकेंगे, मैं उसके विषयमें कुछ कहना नहीं चाहती। यह तो मूल का ही बाल अनुसरण और प्रतिनिरूपणमात्र है। क्योंकि मैं जानती हूं सीधे ऊपर की चेतनासे आने वाले दर्शन में एक भी चित्र और शब्द का हेर-फेर या उसका विस्तार और फैलाव भाषा भावों और तुकों में भले ही कुछ जादू ले आ सकता है पर इससे डर था कि पदों की हीरक माला में पड़े अनमोल हीरों की जगह कांच के

मोतियों की मिलावट आ जाती। अतः पाठक धुंधले रह गए हीरों को, जो ज्यों के त्यों ही धरे हैं, स्वयं सजा और संभाल लें।

इस अनुवाद के लिए मेरे हृदय की कुछ ऐसी मजबूरी थी कि जो अपने चारों ओर पर्वतों की खिंची सीमा को देखकर भी घबराई नहीं। तब किसी को रोका कैसे जाय? जब संसार की सारी काव्यमयता को अपने शरीर और सत्य की अंतिमतम ऊंचाई को अपनी आत्मा में भरे ज्योति की ढाली यह सर्वसुन्दर प्रतिमा "सावित्री" मेरे सामने आकर उपस्थित हो गई तो मैं इसे अपनी आंखों में, अपने प्राणों में भर कर अपनी भाषा में गा डालने के लिए मजबूर हो उठी। क्योंकि मैंने देखा कि अंग्रेजी भाषा में होते हुए और विश्व का मन मोहते हुए भी यह अपने अंतर और बाह्य में कितनी भारतीय है। यही नहीं, अपनी उपस्थिति से इसने भारतीय संस्कृति की परिधि को ही बढ़ा दिया है। यदि वेद, शास्त्र, रामायण, महाभारत और कालिदास मिलकर भारत की ऊंची संस्कृति और भारत जो कुछ है इसका दिग्दर्शन कराते हैं तो सावित्री महाकाव्य मानव जो कुछ है, इतना ही नहीं भावी में उसे जो कुछ अभी बनना बाकी है उस सबका पूर्ण दिग्दर्शन कराता है। इस प्रकार यह भविष्य की काव्य शैली और विधा में ढला हुआ भावी का मंत्र-काव्य है। अतः पाठक को कुछ अत्यंत नवीन शब्दों का यहां सामना करना पड़ेगा तथा पुराने शब्दों में एक नए परिवेश के विशाल दर्शन भी मिलेंगे। ऐसे कुछ शब्द पुस्तक के अंतमें सव्याख्या देने का यत्न किया गया है। साथ ही पाठकों की सुविधा के लिए मूल में जो शब्द दीर्घ अक्षरों से आरंभ होते हैं और जो श्रीअरविंद दर्शन के अनुसार अपना कुछ विशेष अर्थ रखते हैं उन्हें उद्धरण चिन्हों में प्रदर्शित किया गया है।

श्री रवीन्द्रनाथ जब श्रीअरविंद से एक बार मिलने आए थे तब उन्हें देख हठात् उनके (रवीन्द्रनाथ के) मुख से निकल गया था :— "आपके पास दैवी वाचा है और हम उसे आपसे प्राप्त करने की बाट जोह रहे हैं। भारत आपकी वाणी के द्वारा संसार को अपना संदेश देगा। वह कहेगा :— "ओ संसार सुन ......"

मैं जानती थी ऐसे ग्रंथ के अनुवाद की मैं अधिकारी नहीं हूं। मुझे यहां के मनीषी अधिकारीगण भला कैसे इसकी आज्ञा देंगे! पर मजबूरी के ऐसे ही क्षणों में, अंतर के ऐसे ही आग्रहों पर, भगवत्कृपा का खेल देखने में आता है। कृपा ने कब कैसे और किसके द्वारा मेरी सहायता की है मेरे लिए वह सब चमत्कार ही बन गया है और जिन लोगों ने मेरे यहां रहने और इस कार्य के पूर्ण करने में निःस्वार्थ भाव से सहायता की है उनके विषय में मुझे एक दिन अवश्य कुछ लिखना पड़ेगा। हां, इस संदर्भ में अभी मैं केवल दो व्यक्तियों के नाम जरूर लेना चाहूंगी जिनकी सहायता के बिना यह कार्य प्रारंभ ही न हुआ होता। कृपाकर तो मेरे ऊपर पांडिचेरी आने से पहले से ही बना हुआ था। यहां आते ही मेरी भेंट पहले श्री ऋषभचंद जी से हुई जिनके यज्ञ-अर्चि के समान पूत व्यक्तित्व

ने मुझे प्रारंभ से ही ऐसी सक्रिय प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया है जिसने मेरे व्यक्तित्वमें एक अद्‌भुत बल का संचार किया है। साथ ही पितातुल्य पूज्य श्री अंबालाल पुराणी जैसा सागर व्यक्तित्व मां की कृपा से न मिला होता तो यह कुछ भी संभव न बना होता, जिसने पग पग पर यहां मेरी सहायता करके और देख-रेख करके मुझे यहां रह सकने का संबल दिया है ; जिनके कक्ष में, जिनकी छत्रछाया में मैंने श्रीअरविंद साहित्य का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों की भांति किया है। आज जब उनका प्रयत्न कार्यान्वित होने जा रहा है तो विधि की विडंबना से वे हमारे बीच नहीं हैं। अब यदि मैं इस कार्य को संपन्न कर सकूंगी तो उन दोनों की एक बहुत बड़ी इच्छा को पूर्ण करके संतुष्ट हो सकूंगी। मुझे तो कृपा का अवलंब ही आदि में था और वही आज भी है और आगे भी रहेगा। मुझे एक दिन भी किसी तरह की थकावट या ऊब या निराशा का अनुभव कभी नहीं हुआ। जैसे मैं केवल जुटी भर रहती हूं , करनेवाला तो कोई दूसरा ही है।

इसी प्रकार अजस्र धारावाही इस अंग्रेजी छन्द के लिए कोई समुचित छंद चुनने का काम भी कम महत्त्वशाली और कठिन न था। पर जैसे सब कहीं मेरी दुर्बलताओं की रक्षा उस छिपे कर ने की है वैसे ही यहां भी हुआ। यह छंद तो मेरे पांडिचेरी आने के पहले से ही मेरे अंतर में एक अजस्र स्रोती धारा लेकर हहराता रहता था। जैसे मैं किसी महाकाव्य के नायक का, किसी आवृत-विभूतिका, जीवन-गायन सुनती रहती थी। इस महाकाव्य में मुझे वह विभूति साक्षात् मिल गई थी और छंद के लिए मेरे मन में कभी विकल्प ही नहीं उठा। यहां मेरे अग्रज बंधुओं ने जब ऐसे वेदगर्भी काव्य के लिए मुझसे संस्कृत छंद के चुनने की बात कही तब भी मैंने अपना निश्चय नहीं बदला। यहां भी वही हुआ जो और सब कहीं हुआ, क्योंकि बुद्धि पर तो मैंने कोई निर्णय लेने का काम छोड़ा नहीं था। उसे तो केवल अनुकरण करना था। यह छंद चौपाई की भांति चार चरणों में चलता है। बांए से दाहिने दो चरण पर पंक्ति पूरी होती है। पर ऐसी सशक्त अंगरेजी कविता का आधार बनाने के लिए छंद को लचकीला बना लेना पड़ा है। अनुवाद की सीमाओं को देखते हुए छंद को एक चरण, दो चरण, या तीन चरण पर भी समाप्त करने की स्वतंत्रता ले ली गई है। प्रारंभ भी कहीं कहीं दूसरे ही चरण से होता है। बंधन और मजबूरियां होते हुए भी मूल की भांति एक ही छंद में सारे ग्रंथ को संभालने का संकल्प लिया गया है जिसमें धारा की अनंतता और अखंडता में बाधा न आने पाए। इसी प्रकार तुक-साम्य का भी कठोरता और संकीर्णता से पालन नहीं किया गया है।

फिर भी यह सारा प्रयत्न तो एक नितांत नई भूमि पर हल चला कर ढेले फोड़ने भर का ही है। हिंदी के महान् दृष्टिमान कवि इस प्रयत्न को दुलार से अपना कर फिर अपनी प्रतिभा से इसे सुन्दर सरल ललित और जीवंत दिशाओं में ढाल ढाल कर जन-मन को मधुपान कराएंगे।

पर्व-प्रसादी

प्रथम पर्व में पांच सर्ग हैं। प्रारंभ में हमने देख लिया है कि अखिल्-महा निशा को किसी अनजान मजबूरीवश पूर्ण प्रकाश में परिवर्तित होना ही पड़ा है। वहां से कुशल कलाकार किस प्रकार विकास की क्रिया को मानव तक लाया है। पर मानव तो अर्ध ज्ञान का ही नाम है न। ज्ञान की पूर्ण उषा के धारण करने और उसे सहन करनेमें वह अक्षम है। बस उपेक्षिता और अवांछिता-सी उषा पार्थिव भूमिका से लौट जाती है। क्षण भर के लिए जागकर मानव फिर अपनी दैनिक कोल्हूरेढ़न में पड़ जाता है। सनातन सूर्य के स्थान पर यह भौतिक दिन का प्रकाश भर उसके पल्ले पड़ता है। पर मानव जाति के बीच आशा की एक किरण सावित्री बचती है जिसे पार्थिव प्रकाश या मानव जीवन के आकर्षण फुसला नहीं सकते।

"अरे काल से उपजी क्षणिक ज्योति का यह संदेशा उसके लिए नहीं था।"

वह मानव को जितना ही उसका स्वर्गिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न करती है वह उतना ही उसे ठेल-ठेल देता है और मानव जातिके उत्थान के लिए की हुई उसकी सब तप साधना बेकार हो जाती है। बस पार्थिव भूमिका पर से जैसे उषा को उपेक्षित होकर जाना पड़ा था वैसे ही उसका भी निरादर होता है और उस देवी को जो मनुष्य के लिए असंभव स्वर्ग किरीट लाई थी, पृथ्वी ने उपहार में क्या दिया ? एक प्रेम का पुष्प और उसकी अनिष्ट भावी यानी सत्यवान की मृत्यु। अब सावित्री को अपने अंतर बल का ही सहारा था और उसी के बल से अपने शत्रु पर विजय पानी थी।

दूसरे सर्ग में यही समस्या उसके सामने है। संसार की कोई शक्ति इस कार्य में सहायक नहीं हो सकती। उसकी सारी चेतना अंतर्मुखी हो उठती है, वह अपने संपूर्ण भूतकाल पर दृष्टि डालती है और आदिकाल से चले आ रहे मनुष्य के अज्ञानी उत्तराधिकार का तमाशा देखती है। अपने आत्मबल की दृढ़ता से इस तमसिल उत्तराधिकार की भीतियों को गिराने का निश्चय करती है।

**"औ' अब फेंकी गई 'भाग्य'-पांसों मिस यही समस्या थी उसकी आत्मा की,
कि रहे ढोती मृत्यु 'अज्ञता' यों ही या कि 'अमर'-पथ चीर बनाना होगा,
मानव हेतु दिव्यता की बाजी वह हार जाय या जीत दिखाना होगा।"**

आखिर वह निश्चय करती है कि वह प्रकृति के इस महाचक्र को उलट कर रहेगी। क्योंकि शाश्वतता की वह पुत्री अपना नाता उससे तोड़ नहीं सकती थी। आखिर उसकी सत्य लगन को एक दिन एक जादू चाबी मिल ही जाती है। वह चाबी क्या है ?

**"वह तो है एक प्रार्थना औ' है इक सिद्ध-कर्म औ' इक अधिपति-विचार है,
जो मानव की शक्ति का परात्पर की शक्ति से करा सकता लगनचार है।"**

पर यह सावित्री कौन है, कहां से आई है और क्या ध्येय लेकर आई है? यह एक प्रश्न है। पाठक को यहां न कोई कथा-वार्ता मिलेगी न कोई भावुकता-पूर्ण वर्णन, पर आत्मा के धरातल पर जाने से उसे कथा का वह स्वर्ण-सूत्र मिलेगा जिसका एक छोर धरती को तो दूसरा स्वर्ग को छू रहा है और उन्हें एक कर रहा है। सावित्री राजा अश्वपति की कन्या मात्र नहीं है, वह तो सत्य के क्रिया-शील सूर्य की शक्ति और भगवती माता का अंश है। संपूर्ण जगत् की अभीप्सा ने ही उसे जन्म लेने के लिऐ मजबूर किया है।

"जग की इच्छा ने ही सावित्री को मर्त्य जन्म के हित मजबूर बनाया।"

उसी प्रकार उसका जनक, अश्वपति भी, सन्तति के लिए योग करनेवाला साधारण पिता नहीं है। वह तो संपूर्ण जगत् की प्राणशक्ति का, जो अपनी मुक्ति-के लिए सक्रिय अभीप्सा में ऊपर उठी चली जा रही है उसका प्रतीक है।

"औ' रहस्यमय लीला का अधिनायक एक सनातन अन्वेषण का अगुआ,
जिसके भीतर 'अज्ञात' स्वयं धरता नाना आकारों को हो खिंच आया,
औ' सीमित कर अपनी शाश्वतता को इस सँकरे कालचक्र में घिरवाया,
जिसका हाथ पकड़ कर अंध शून्य हो प्रयत्नरत जीने लसनेको धाया,
ऐसा वह आदर्श वायु में भ्रमरत
इक चितक औ' साधक नृपति अश्वपति
सावित्री की चिर भास्वरा शक्ति को
पृथिवी की बोझिल आवश्यकता में था बरबस नीचे उतार कर लाया।"

ये अंतिम तीनों सर्ग उसकी आत्ममुक्ति और उसके राजयोग के सर्ग हैं। उसकी अभीप्सा को आधार बनाकर जगत् की आत्मा ही अपनी आत्मा के बंधन को काटना चाहती है। कोई छिपा हुआ कर उसके इस माटी के इंजन को स्वर्ग के उपयुक्त बनाता रहता है। धीरे-धीरे उसका मन और प्राण ही नहीं, नाड़ी-नसें और सारी सत्ता ही रूपांतरित हो उठती है। पूर्णयोगकी आत्माभिमुखताका बड़ा ही रोचक वर्णन यहां मिलेगा। परम चरम आनंद की उस चोटी पर वह एकदम एकाकी है:

"पर उसके क्षण बिलकुल एकाकी थे,
सूर्य सरिस अद्भुत महिमाव्यापी थे।"

अब वह एक उन्नततम चोटी पर खड़ा था और उसने एक गुह्य ज्ञान का साक्षात्कार कर लिया था जहां से उसने मानव की घनघोर सीमाओं और संकीर्णताओं को देख लिया था। वह देख रहा था कि ऐसी महान् संसिद्धियों का अधिकारी यह मानव कैसा लाचार और दरिद्री बना पड़ा है।

"फिर भी यदि पूर्ण रूप से अंतर्मुख बन निज आत्मा में हम फ़कत जी सकें,
औ' भीषण वह वाणी दबी सुन सकें
तो भविष्यदर्शी ज्ञान पर अरे हम अपना अधिकार पुनः रख सकते हैं।"

उसने अब साफ़-साफ़ देख लिया था कि एकम् में से ही कैसे द्वैत का जन्म हुआ है। और यहां दूसरा कुछ नहीं बस परम पुरुष और साक्षात् भगवती माता की ही लीला है। उस परम शक्ति के पीछे रहकर वह लीलाधर ही सब कुछ-का कर्ता है। यही एक संतोष का विषय था। अंतिम सर्ग में वह मन की डोर को काट कर एकदम उस पार निकल जाता है और एक दर्शनकूप के निकट पहुंच जाता है जहां इस ब्रह्मांड अंड को वे महिमामय पांखें सेया करती हैं। वह सतत प्रकाश के देश में पहुंच जाता है। वहां से उसने प्रकृति की संपूर्ण योजनाओं को एक खुली पुस्तक के रूपमें अपने सामने खुला पड़ा देखा और अज्ञान-का सारा रहस्य उसके नेत्रों में अनावृत हो उठा।

यह सब कुछ साक्षात् दर्शन है और ध्यान का विषय है। इनमें जो व्यवस्थित विज्ञान, जो इतिहास, और जो कथा फैली पड़ी है उसे आत्मा की दृष्टि ही बांच सकती है। आशा है पाठक इसे बड़े धैर्य से पढ़ेंगे और इसका अमृत चखेंगे। जहां कमी खटकेगी मूल से सहायता लेंगे।

—विद्यावती 'कोकिल'

आवाहन !

"हे सुखदे! सुभगे! आओ अपने शुभ स्वर्णिम चन्द्रिम चरणों से अब उतरो,
इन भूमितलों को जिनकी निद्रा पर हम विश्रमते हैं निज वैभव वितरो।"

सावित्री पर्व ५ सर्ग ३

सावित्री

एक आख्यान और एक प्रतीक

आदिपर्व

सर्ग पहला

प्रतीक ऊषा

यह क्षण था जब सुर जगने वाले थे।

'रजनी' का विशाल पूर्वाभासी मन,
शाश्वतता के अंधे दीप विहीने
निसंग एकाकी अचलायमान-सा
'निशि' की दृष्टिहीन ध्यानमग्नता के
उस अस्पष्ट और धुंधले प्रतीक में
ही जैसे अभेद्य औ' अप्रवेश्य-सा
इक अविमापी महाशून्य ही केवल
तभी प्रथम औ' अंतिम 'असत्' मध्य बस
अधःपतित उस निस्सीमा आत्मा की
जिसमें से उसने निज जन्म लिया था
फेर लिया उसने अपना आनन बस

औ' इच्छा की उस शून्य 'असत्-ता'में
बस फिर जैसा सदैव होता आया,
वैसे ही उस 'अज्ञात' की मूक औ'
अचित्-कर्म को करते पुनरावर्तित
'अज्ञ शक्ति' की उस वैश्विक सुषुप्ति को
जिसकी भ्रमणशील यह सर्जक तंद्रा
और लिए फिरती रहती है अपने
जहां कि निष्फल जैसी फैली दिखती
जीवन तथा मन रहित उसकी अंधी
पड़ी हुई-सी एक आत्मच्युत छाया
और धरा यह एक बार फिर से निज
अपनी आत्मा औ' भावी दोनों से
रिक्त दिशाओं की पोली खाड़ी में

उस दिव्य 'संघटन' के रिक्त मार्ग पर

मंदिर में 'नीरवता' के उपांत पर,
पड़ा हुआ था आड़ा फैल पसर कर।

अनाकार शाश्वत की निस्तलता का
बस इक अनुभव सब कुछ में होता था,
सब जगती को घेरे पड़ा हुआ था।

जागी बरबस एक शक्ति, औ' जग कर
अंधी उसी कोख की क्षण भर सुधि कर,
जन्म की जटिल रहस्यमयी दिशा से,
नश्वरता की मंथर परंपरा से,
ही वापस आने की एक त्वरा से।
सकल वस्तुओं के अचित्-प्रारंभ में,
लक्षण विहीन-सी कोई अनुकृति में,
करते अनयन संकल्प को विस्तरित,
अचक कर दिया अंतर में दोलायित,
करती रहती है प्रदीप्त सूर्यों को,
निद्राचर गतिचक्र में जीवनों को।
'महा-दिशा' की विशालतम समाधि में,
आकार रहित तंद्रिल बेहोशी में,
'रिक्तशून्य' में लगी कि सन् सन् फिरने।
चिंतनबिन सपनों में प्रक्षिप्ता सी,
विसुध बनी इक व्यामोह विमुग्धा-सी,
परित्यक्ता, भ्रमिता-सी लगी घूमने।

जहां गगन संवेग-रहित, तटस्थ औ'
तभी वहां उस अपरीक्ष्य अंधतम में
लगा कि कोई वस्तु हिली औ' डोली

जो कि परम आग्रही, असंतोषी-सी
किसी वस्तु ने बस जीवन इच्छा की
उसने छेड़ दिया था 'अचित् रात्रि' को,
और 'अचित्' रजनी के अंतरतम में
जो अपने पीछे बस अनुपीड़न के
जिसने क्लांत पुरातन इक इच्छा को
जो अब तक अगम्य चन्द्रमा विहीना

कभी प्रकाश खो दिया था जो उसने
सुधि बिसरे औ' मुंदे हुए नयनों को
मजबूर किया फिर से खींच-खींच कर
जैसे भटक रहा हो कोई अपना
पर अभिलाषा की लाशें ही लाशें
लगा 'असत्' की इस अगम्यता में भी
स्मृति-विहीन 'सत्ता' की महाशक्ति इक
जो पिछले दफ़नाए भूतकाल की
बनी भाग्य परवश थी आकर अब वह
अपना जीवन फिर से धारण करके
इस प्रकार इक रूप-विहीन चेतना
कोरे इक पूर्वाभास ने उभर कर
बस मानों निज माता के कपोल पर
लापरवाह बनी-सी 'विश्व-जननि' को
वस्तु वस्तु में कोई अंतहीन-सी
और एक बाल वांछना अब धूसर
फिर क्या था अनजाने कहीं फूट कर
सृष्टि सृजन की अनचाही इच्छा मिस
बस मरु-अंतर को ललचानेवाली
संशय-चंचल प्राण रंगों की लंबी
जो कि अचित्-नींद में सुप्त जीवन के
पल्लेपार से तभी असीमता के
गहन मौन अंधकार की छाती को

परम शांत था इक भाव-शून्यता में।

जैसे नामविहीना कोई गति थी,
बिना विचारी इक 'दिव्य भावना' थी,
जाने कब से ध्येय-विहीन पड़ी थी,
ले कैसे जीवन जानती न थी जो,
'अज्ञान' के जागरित कर लेने को।
इक प्रसूति की पीड़ा घोर जग उठी,
कंपन की एक निशानी छोड़ चली,

अचित्-कंदरा की शांति में पड़ी थी
जगा दिया निज शीश उठा लेने को,
उस प्रकाश के पुन: प्राप्त करने को,

वैसे ही निज चेत फेर लाने को,
पिछला खोया आपनपौ पाने को,
आती हों हाथ अंत में बस जिसको।
अंतिमतम इस प्रलय के हृदय में भी,
पड़ी हुई थी चुपचाप यहां सोती
दाढ़ों से पिस कर थी शेष बच रही,
जगकर निष्फल-सी सृष्टि में दूसरी
पूरा श्रम सहने को सृजन का वही।
ने प्रकाश की फिर से आकांक्षा की,
दूरस्थित परिवर्तन की इच्छा की।
नव-जाए ने निज उँगली रख दी हो,

आवश्यकता की याद धरा दी हो,
'विराट् आंचल' से थी बस आ चिपकी:

आग बगावत की जैसे बह निकली
इक धुंधली स्मिति की रेखा-सी कोई
औ' एकाकी रेखा प्रकट हो गई,
दूर सुदूर छोर सब झकझोर गई।
उस परात्पर के हृदय से उतर कर,
देव-दृष्टि इक भेद गई बस आकर,

बस इक ज्ञानालोकित सूर्यलोक से
शोध कर रही गुप्त-चारिका कोई
व्याधि-ग्रस्त औ' श्रम-संतप्त जगत् की
यथा अचित् में परित्यक्ता एकाकी
जो इस हद तक पतित हुई हो कि जिसे
यहां चेतना की और आनंद की
मन-विहीन इस जगती में बरजोरी
फैली हुई अनिच्छुक इक चुप्पी को,
और 'प्रकृति' के भग्न-स्वप्न अंतर को
दर्शन, स्पर्शन के अद्भुत अनुभव हित
अचित् 'शून्यता' के अमाप अंतर में
अंधकार की और अतलता में भी
भीतर सोई पड़ी हुई इक स्मृति अब
जैसे बहुत दिनों की मृत-आत्मा हो
लेकिन अधःपात के कारण उसके
उसने नष्ट-भ्रष्ट करके सब पिछली
लेकिन जो कुछ नष्ट हो गया है अब
बस जीर्ण-अनुभवों ने शुरू कर दिया
फिर यदि 'प्रभु' का स्पर्श कहीं मिल जाए
बस इक आशा जो पहले मुश्किल से
वह अब 'अचित्-रात्रि' की उस असहाया
जो कि पराई-सी जगती में करके
औ' संकोच विनम्र, साहसिकतामय
और यहां अनाथ, निष्कासित फिरती
एक अटनशील चमत्कारिणी जिसे
इस प्रकार दूरस्थित एक स्वर्ग के
कोने में एक मंद, सुचमत्कारी
उस विनम्र रूपांतरकार स्पर्श के
इस जड़तम औ' काली निश्चलता को

मंद, पीत मोहिनी-ज्योति से निर्मित
एक अटनप्रिय हाथ यहां पर, बुझते
स्वर्णिम-चौखट औ' मौक्तिक-बाजू की

इस भारी विश्व विश्रांति में प्रकटी,
इक संज्ञा-शून्यता में यहां विचरी,
हमजोली आत्मा को ढूंढ रही हो,
स्वर्गानंद की सब सुधि बिसर गई हो।
एक साहसिकता को फिर न्योता कर,
पैठ गया उसका संदेश चीर कर,

जीत कर, उसे फिर मजबूर बनाया,
फिर से राजी करके उसे मनाया।
एक विचार-बीज का वपन हो गया,
एक सेन्द्रियता को जन्म मिल गया,
'काल' के हृदय तल में थी लहराई,
जीवन धारण करने को ललचाई :
सकल चेत पर विस्मृति थी जो छाई,
आलेख तख्तियां थीं पोंछ मिटाईं,
उसको फिर से था नव-निर्मित करना,
फिर से एक बार अपना श्रम करना।
तो सब कुछ नव निर्मित हो सकता है।
जीने का भी साहस कर सकती थी,
उदासीनता में छिप आ बैठी थी।
अभ्यर्थना बुलाई यथा गई हो,
स्वाभाविक सुषमा लेकर आई हो,
हो, अपना आवास ढूंढ लेने को;
रहने को भी कोई जगह नहीं हो,

इंगित की अस्फुट विनती प्रकटी हो।
बार बार आग्रही एक स्पंदन ने
कुछ करने के हित फिर से उकसाया,
बस इस सौंदर्य ने और विस्मय ने
'प्रभु' के क्षेत्रों में इक खलल मचाया।

हुए एक क्षण के उपांत पर चमका,
उस रहस्यमयता के एक सिरे पर
स्वप्नों का इक रत्निल द्वार खुल पड़ा।

एक दीप्त कोने ने बस गवाक्ष सम
आंख खोलकर लखने के हित अंधी
इस प्रकार 'रजनी' का महा तमस् सब
लेटे हुए देवता के तन पर से
तब पांडुरवर्णी उस पौ फाटन से
जिसमें से मुश्किल से ही सूर्यों की
उसमें से बढ़कर साक्षात्कार औ'
क्षण भर को सुसनातन प्रतीकरूपी
चमकी एक अलौकिक छटा उतर कर
बही इन्द्रधनुषी रंगों की धारा
जैसे उस अनजाने औ' अविनश्वर
कंपती हुई सृष्टि की क्षीण कोर पर
'ऊषा' ने सतरंगा आभा मंडल
धरा काल के अंतस्तल के भीतर
इस प्रकार क्षण भर की अतिथि-दिव्यता
'अंतर्दृष्टि' उगी औ' रुकी तनिक इक
और झुकी पृथिवी के आतुर-वर्तुल,
जिसने रहस्यमय इक गुह्य बोध के

चिन्मय ऊषाओं की और महत्ता-
का इक अर्थ, गभीर-पुराण-कथा की
यों इक जगमग सांकेतिक भाषा में
वह प्रकाश का पूर्णाविर्भाव अरे!
अपने सारे चिंतन औ आशाएँ

वह एकाकी महिमा का गौरव निज
अपारदर्शी अंधे अचित्‌गर्त में
किसी के पदाघात ने यहां फिर से
आकर बस इन छूछे विस्तारों में
अनन्तता का केंद्र, और आनँद से
और खुल पड़ीं जिसमें शाश्वत पलकें
परमधामवासी इक मंगल काया
अनित्यता और नित्यता दोनों के
बीच की 'सुदूती' 'सर्वज्ञा जननी'
सकल ग्रहों के नियमबद्ध अयनों को

खुलकर गुप्त वस्तुओं को झलकाया
जग असीमता को मजबूर बनाया।
घोर पराजय को ज्यों प्राप्त हो गया,
जैसे उसका चीवर हो खिसक गया।

किरण-ज्योति झलकी भी मिल सकती थी,
आध्यात्मिक ज्वाला की धार बह चली।
महा-ज्योति वह नभ में फिर प्रसर चली
परात्पर की अगम्य ऊंचाई से,
'अदृष्ट' की महिमामय अरुणाई से,
'प्रकाश' से कोई संदेशा आकर
ज्योति अक्षरों में रह गया उभर कर,
किया और नवज्योति कला से निर्मित,
किया बीज अपनी महिमा का बीजित।
प्रकट हुई मानो अपनी धरती पर:
जीवन की संकुचित रेख के ऊपर,
चिन्तन-निमग्न मस्तक की रेखा पर।
सतरंग गूढ़ाक्षर द्वारा अभिगोपित
आनँद औ' सुषमा को खोल दिया था,

पंक्ति पंक्ति में लिख उल्लेख किया था
नभ-पृष्ठ पर रहस्यालिखित हुआ था।

जिसकी इक सांकेतिक सी मशाल हैं,
प्रकट उसी दिन मानो कि हो गया था,
दृष्टि-अगोचर अपने महाध्येय से
फेंक तभी बल भर कर दिया गया था।

एक बार ज्यों छेड़ छाड़ मचवाई,
स्नात, शांत इक 'आनन' दिया दिखाई,
जिन्होंने कि 'स्वर' की सब निधि झलकाई;
लगा कि हम से हो अब नियरा आई।

झुकी दिशाओं के विस्तृत आंचल पर
जो रखती लपेट कर अपने भीतर,

उसने अपने चरणों पर स्वागत-नत देखे उत्सुक खड़े देश देशांतर।
हेरा तनिक पुनः आवृत सविता को एक बार निज अधघूमी चितवन से,
औ' चिन्तन-मग्ना-सी पुनः जुट गई उसी निज सनातन कार्यमें लगन से।
अनुभव किया धरा ने कि अविनश्वरा का आगम बिलकुल नियरा आया हो;
और 'प्रकृति' के जगे हुए श्रवणों में पगचापों का ध्वनि-संगीत पड़ा हो;
औ' फैली इस असीमता ने अपनी अनंत दृष्टि उठा कर उधर लखा हो।
औ' बस उसकी स्मिति की आनन्दाभा मुद्रांकित अतलों पर थी बिखर गई,
उन नीरव औ' प्रशांत लोकों में बस एक अग्नि प्रज्वलती-सी चली गई।
जग की सब सामग्री कोई दैवी अनुष्ठान औ' संस्कार बन निखरी।
बनी समीरण पृथिवी तथा स्वर्ग के गठियाने का इक पुलकित माध्यम पर
महान् ऋत्विग् मरुत की ऋचाओं के विशालपंखी सामगान उठ उठ कर
ऊर्ध्व पर्वतों की वेदी के ऊपर टकरा टकरा कर विलय पा रहे थे;
और क्रांतदर्शी इस नभ के नीचे
उन्नतमुखीय शाखाओं के झुरमुट झुक झूम कर प्रार्थनाएं करते थे।
और सदैव बने संदेह अनिश्चित, इस गूंगी पृथ्वी के वक्षस्थलपर,
यहां जहां अधज्योतित अचित्-अज्ञता रही अंध-खात की किनार स्पर्श कर,
यहां जहां सामने उठा निज पथ भी कहां पड़ेगा देख नहीं पड़ता है
शंका की कुहेलिकाच्छन्न पीठ पर जहां सत्य निज सिंहासन रचता है;
ऐसे दुःखभरे औ' पराधीनतर जीवन के इस श्रम-श्लथ कर्मक्षेत्र के,
सब पीड़ा-हर्षों पर, साक्षिदृष्टि सम कूटस्थ ब्रह्म की सुदीर्घ-चितवन के
नीचे खुली पड़ी इस मूक धरा ने चैत्य-किरण को धारण पुलक था किया,
क्रांत-दर्शिनी और भविष्य-सूचिका
ज्योति ने यहां अर्थ-हीन साधारण द्रव्यों में भी जादू फूंक था दिया।

किंतु स्वयं ही सारी दिव्य-प्रेरणा खत्म हो गई या मुख मोड़ फिर गई,
धीरे धीरे कर इस मर्त्य भूमि से उपेक्षित, अवांछित-सी मंद पड़ गई।
उसके पीछे उसकी अनुरेखा सम एक पवित्र-अभीप्सा शेष बच गई,
जो इक दिव्य 'उपस्थिति' और 'शक्ति' की,—
जिसे न मृत्यु-विवश-उर गह पाते हों,
वह उनके अंतर में श्रद्धा, पूजा के स्वरूप में ही अब बची रह गई,
औ' आनेवाली एक चमत्कारिक संभूति के पूर्वज्ञान-सी बस गई।
भगवत्ता का दिव्य प्रकाश धरा पर केवल क्षण भर को ही रुक पाता है:
बस आत्मिक सौषम्य धरा पर आकर औ' मानव-दृष्टि को प्रकाशित करके
जड़ता की इस छद्म वेश-भूषा के

और 'काल' की एक ताल पर, शाश्वत
जैसे ज्योतित अंतरात्मा आ जब
नश्वर धरा-काल को और अनश्वर,
तब 'जड़ता' की अंध खोह में घुस ज्यों
और अचित् की विविध भूमिकाओं में
उसी भांति दैनिक अभ्यस्त वायु में
उन्नत चमत्कारिणी उस मयूख का
स्वर्ग-सँदेसा यों ही रुद्ध रह गया
वह अद्वितीय औ' केवल 'आवाहन'
सुदूरवासी कोई दृष्टि-अगोचर
परम रूप-श्री का वह चमत्कार औ'
औ' भू की मंद-मर्त्यता को पीछे
सुन्दरता की वह स्वर्गिक अतिशयता
मानो निज तेज का प्रभाव अति-प्रखर
काल-जीविता बन सकने में उसकी
इसी लिए महिमामय उसकी काया
वह अद्वितीयता और विलक्षणता
और पार्थिव दिन का वही पुराना
अर्थहीन जीवन-गति का कोलाहल
अंध-शोध की अपनी उन कोल्हूई-
और अखिल-जन निज दैनिक कार्यों के
भू, वृक्षों के सहस सहस वासी निज-
उन्नत-भावी से अनभिज्ञ से बने
वर्तमान-घड़ियों की फ़क़त प्रेरणा
औ' शंकित मन वाला सब का नेता—
यह मानव जो निज भविष्य के आवृत
इसने ही केवल अपनी विधि का सब

औ' सविता 'होता' के सामगान के
और बाह्य जीवन की सुन्दरता के
तथा ऊपरी क्षणभंगुर आनँद में
उस मानव समूह के सँग ही जैसे

नीचे, निज रहस्य, प्रेमोन्माद का
अस्तर लगा लगा कर फिर जाता है,
के सागर को लुटा लुटा जाता है।
यहां जन्म-डेहरी पर नियराती है,
सीमा-हीन काल से गठियाती है,
एक दिव्य चिनगारी बुझ जाती है,
उसकी ज्योति विलोपित हो जाती है,

प्रकाश आंखों आगे लयित हो गया।
संदेशहर स्वयं भी लुप्त हो गया।
वह निसंग, एकाकी, विरली 'सत्ता'
गुप्त जगत् में जैसे लौट गई थी,
चिन्मय आभा निज मुख मोड़ गई थी,
घूम हेरना भी अब भूल गई थी।
जो स्वाभाविक देव-जाति को ही हो
काल-जात सृष्टि पर न डाल सकी हो।
रहस-वास्तविकता अत्यधिक पड़ी थी,
अरे गगन से अब लोप हो गई थी,
तनिक देर भी यहां न ठहर सकी थी।
साधारण प्रकाश अब शेष बच गया।
श्रम से जैसे कुछ विराम-सा लेकर
रढ़नों में आकर था पुनः पड़ गया।
चर्खों में आकर फिर से उलझ गये

के नीचे जैसे चुपचाप जुट गये।

आनन को करता एकाकी घूरा,
बोझ अकेले ढोया पूरा पूरा।

सुनने को जो उतावले लगते हैं,
रंग-ढंग पर जो भूले रहते हैं,
अपना भाग बँटाकर खुश होते हैं,—
सावित्री भी निज निद्रा से जागी।
किंतु जहां से थी वह भू पर आई

उस शाश्वतता की वह सखी सहेली क्षणिक सुखों में आनंद ले न पाई,
औ' मानव के पार्थिव मर्त्य क्षेत्र में एक समर्थ अजनबी-सी प्रविशाई
उसकी अंतरवासी 'अतिथि'-दिव्यता इन हर्षों से जा न सकी ललचाई।
वह कामनाह्वान जिसमें मानव मन भरता सदा छलांगे लंबी लंबी,
नानारूपी उद्देश्यों के पीछे उसकी प्रतिपल आतुर दौड़ाधूपी,
विधि विधि पंख फड़फड़ाती बहुरंगी इच्छाओं की माया पतंगरूपी,–
इन सबका अभिनय उसके अंतर पर मधुर विजातीय गान-सा लगता था।
अरे 'काल' से उपजी क्षणिक ज्योति का यह संदेशा उसके लिए नहीं था।
उसमें देवों के उर की पीड़ा थी
जो भंगुर मानव सांचे के भीतर रहते हैं उसके अंतर में बन्दी,
वह मृत्युंजय मर्त्यशील द्रव्यों से आकर यहां और अब विजित बनी थी।
एक विराट् 'प्रकृति' का विस्तृत आनँद कभी रह चुका था उसकी स्वाभाविक;
किन्तु बहुत दुष्कर था अधिक समय तक,
उस क्षणभंगुर धरा की भूमिका पर
टिक सकना या यहां खड़ा रह सकना उसके शुचि रंगोंका स्वर्णिम, स्वर्गिक,
क्षणभंगुर आधारों पर सांसारिक।
और 'काल' के अतल-गर्त के मुख पर रेंग रही सी एक संकुचित गति ने,
जीवन की भंगुरा-क्षुद्र पद्धति ने
उस परिपूर्ण ओज को ही ठुकराया,
गौरवमय चित्-विशालता औ' आनँद, लाई मनुजरूप में भी वह जिनको,
औ' प्रशांत हर्ष को, जो किसी आत्मा को बर कर वर लेता है सब कुछ को,
स्वर्गिक आनँद के जाज्वल्य कपाटों की साक्षात् एक स्वर्णिम कुंजी को,
इस अंधी पार्थिवता ने निदराया।
जग-माटी का नाज चाहता है रे, अश्रु, हास्य के रस पर ही बस पलना,
इस कारण वरदान से अमरता औ' आनँद के बस फेर लिया मुख अपना:
औ' अनन्त की पुत्री को फिर उलटे दी पृथ्वी ने उपल-भेंट यह आकर,–
एक पुष्प, रागासिक्त प्रेम का औ' दी इक, अनिवारी-भावी, अनिष्टकर।
लगा कि किया धरा सब महिमाशाली त्याग और तप अब बेकार हो गया।
निज अटूट दिव्यता के खजाने की
उस अति मुक्त-हस्त औघड़दानी ने
अपने सब आपनपौ को औ' अपने सब कुछ को इस मानव पर लुटा दिया,
इस आशा से कि कभी उसकी उन्नत सत्ता सुप्रतिष्ठित की यहां जा सके
और स्वर्ग स्वाभाविक रूप से कभी मर्त्य-भूमि पर अपनी जड़ जमा सके।
किन्तु निज प्रकृति बदल डालने को यह धरा नहीं फुसलाई जा सकती है।
शाश्वत के स्पर्शों को निज अंगों पर यह नश्वरता सहन न कर सकती है:

क्योंकि अमिश्र-अक्षमा से वह देवी,
एक एक पल रहती ही है डरती,
चैत्य-भूमि के अनल, अनिल के भारी
संघातों से है भय-कातर रहती;
दुःखहीन इस सुख पर अरे बराबर
है कुछ न कुछ बड़बड़ाया ही करती,
और घृणा से भर कर जैसे लाई
हुई ज्योति को ठेल ठेल देती है,
तथा 'सत्य' की नग्न, कठोर शक्ति से
औं' उसकी निरपेक्ष गिरा के भीषण
माधुर्य, तेज से कांपा करती है।
उच्चस्तरीय और प्रदेशों पर भी
निम्नस्तरीय अंधे नियम लगा कर
स्वर्ग से यहां आए दूतों को, निज
कर्दम से कर्दमित किया करती है:
निम्नप्रकृति के खर कांटों से ही यह
निज रक्षा दीवार उठा लेती है,
जिसे कि दैवी करुणा के मंगलमय
उठे 'करों' के सम्मुख कर देती है;
भेंट लिए मृत्यु और पीड़ा की बस
'भगवत्'-पुत्रों से आकर मिलती है।
बस विद्युत्-आभाओं का प्रताप इक
धरा-भूमिका पर से था गुजर गया,
मानव के अज्ञ-मनस् से धुंधला कर
उनका भास्कर-चिंतन मंद पड़ गया,
गया छला उनका उद्देश्य ही यहां
और सकल शुभ अशुभों में बदल गया।
उनके दिए ताज के बदले में बस
उनको सूली ही उपहार दी गई।
उनके पीछे मात्र 'नाम' की उनके
इक स्वर्णिम स्मृति ही फिर शेष रह गई।
यथा अग्नि-सी उतरी निज धरती पर
औं' मानव-अंतर छू लौट गई हो,
उसे अल्प-जन ही हों पकड़ सके औं'
उस ऊंचे जीवन तक पहुंच सके हों।
पर वह तो सबसे भिन्न-प्रकृति की थी
जो उतरी थी मानव-क्षेत्र में यहां
इक सहायता औं' रक्षा करने को,
इसी लिए उसकी महानता जैसे
बोझ बन गई जग के अज्ञ हृदय को,
इसी लिए औं' जग के अंध-खात ने
प्रतिशोध का विकट पंक उछाला था,
जिसके द्वंद्वों, दुःखों औं' पतनों में
सावित्री का भी इक भाग लगा था।
बस उसको भी जीना पड़ा विपद् में
लेनी पड़ी होड़ मृत्यु से, मार्ग में,—
इस प्रकार मर्त्य के नियति की रेखा
पड़ी 'देवता' के भी अरे भाग में।
और ओटनी में पार्थिव विधियों की
आकर फंसी मनुज के समान वह भी
लगी जोहने बाट परीक्षा-पल की,
जीती रही और जन्मजात अपने
सब सुख-सौरभ से बन निर्वासित-सी
जीवन के पार्थिव अस्पष्ट आवरण
को देकर स्वीकृति अपनी मरजी से
और छिपाती हुई सदा अपने को,
अपने ही प्यारे औं' सगे जनों से
बनी दिव्यता उसकी और महत्तर,
भू के मंद भाग्य को अपनाने से।
इक भीषण अनिष्टमय पूर्वज्ञान ने
अब उसको उन सबसे अलगाया था
जिनकी वह अधार औं' ध्रुवतारा थी।
अति महान् थी वह निज कष्टों को औं'
पीड़ाओं को मुख तक भी लाने में,

बस आनेवाले निज महाशोक को
भटक रहे अंध-जनों पर ज्यों कोई
इस प्रकार इस अज्ञ जाति का बोझा
उसे शत्रु को इक आश्रय देना था
उसके कर्म अजाने थे, हत-भावी
बिना मदद के अपने फकत सहारे

बहुत दिनों से विदित अरे अपघाती
पीछे लिए उसी दोपहरी को जो
क्योंकि 'प्रकृति' तो निज राज-पंथ पर बित
कोई जीवन हो, कोई आत्मा हो
पीछे छोड़ किसी भी मृत आत्मा को
इसे ध्यान में लाता मानव है या

अरे मृत्यु औ' भय के इस निष्ठुरतम
भी तो आह निकाली औ' न पुकारा
नहीं उचारा और किसी के आगे
शांत रहा मुखमंडल उसका, उसको
फिर भी यह तो बाह्य प्रकृति थी उसकी
यहां तक कि उसकी यह स्थूल मनुजता
उसकी अपनी आत्मा मुक्त भाव से
उसकी प्रकृति और अपने ही भीतर
अंतरजीवी बन कर वह एकाकी
एकाकिनि वह अपने ही अंतर पर
उसकी अपनी आशंका दुनिया की
उसकी और शक्ति अपनी इन सारी
निखिला 'विश्वजननि' के अंतरतम की
जग-जीवन की दुःख भरी भूलों का
जिसके भीतर रहने वाले अशुभों
के विरोध में युद्ध ठान देने को
मंत्र-पूत कर निज पीड़ा से उसने
उसने इक एकाकी, निसंग मानस,
उसने 'देवों' के करणीय कर्म का
आरंभ में कभी उसके जीवन ने
उसकी बोझीली गूंगी छाती से

चली छिपाए विदीर्ण-उर-कोने में।
ऊपर से कर रहा इक निरीक्षण हो,
वह अपने ऊपर कर रही वहन थी,
हृदय-रुधिर पर औ' पोषण करना था,
भी अजान थी जिसको समुहाना था,
उस पूर्वज्ञान का सब भय ढोना था,
और अकेले सब साहस सेना था।
प्रातः था अब सम्मुख हुआ उपस्थित
हुई अन्य दुपहरियों सरिस गोचरित।
चिंता किए किसी की बढ़ती जाती,
बिना विचारे चली कुचलती आती,
निर्द्वन्द्व बनी पथ पर चरण बढ़ाती :
'प्रभु' की आंखें, जो सब कुछ निहारतीं।
अंतर के इस घोर हताशा पल में,
महा भयंकर इक संकेत-स्थल में,
कभी किसी को मदद के लिए उसने,
भारी दुखके उस रहस्य को अपने,
मौन बनाए रक्खा है साहस ने।
जो सब कुछ सहती आगे बढ़ती थी,
औ' दैहिकता भी आधी दैवी थी :
वैश्विक 'आत्मा' के प्रति खुली हुई थी,
सब, विश्व-'प्रकृति' का अनुभव करती थी,
सब जीवों का मौन वहन करती थी;
सकल जगत् का भार लिए फिरती थी :
आशंका के सँग मिल एक बनी थी,
विश्व-शक्तियों के उर में मूलित थी,
प्रीति अथाही अरे उसी की तो थी।
उसकी निज-पीड़ा व्यक्तिगत चिह्न थी

इक रहस्यमय खर तलवार रची थी।
औ' था विश्व-विशाल हृदय इक पाया
निपट अकेले बोझा सकल उठाया।

दुःख, शोक का नहीं श्वास प्रकटाया,

पड़ी रही बन कर अक्रिय जड़ ऐसी,

अडिग, अडोल और चुपचाप बनी-सी
निज मन की किनार के ऊपर सीधी
पड़ी बीच में दो चैत्य प्रदेशों के
दुख द्वंद्वों से छुट कर दूर कहीं बस
वहां फटक पाती थी नहीं दुखों औ'
धीरे-धीरे तभी एक छाया-सी
भर कर आह, धरा फिर हाथ हृदय पर,
अनुभव हुई उसे एक यातना-सी,
गहरी, मौन, पुरातन वह पीड़ा आ
पर वह अब तक समझ नहीं पाई थी
क्योंकि 'शक्ति' जो मन ज्योतित करती है
भारी मन से और अनिच्छुकता से
नीरस मन से हों ज्यों श्रमिक कार्यरत
स्नेह-शून्य बन इन्द्रिय का दीपक भी
असहाय बना मस्तिष्क भी अभी तक
अस्पष्ट एक भू-स्वभाव ही अब तक
पर अब वह डोली, उसके जीवन ने
अब शरीर के इक मूकावाहन के
आमंत्रण पर उसकी शक्तिशालिनी,
दूर दूर पंख विहारिणि आत्मा ने,
पीछे, जहां अज्ञता और नियति का
पीछे, श्रम, संघर्ष ही जहां प्रश्रय
बस चल दी वह महा सुप्ति-सागर के
प्रतीकात्मक निज अद्भुत सपनों से
उसके 'प्रकृति'-भवन ने अब अनजाने
जीवन के सब अँधियारे कक्षों में
स्मृति के और गवाक्ष अचानक अपने
औ' विचारके मांदे, थके चरण उठ
अब तो सबने ही समीप आ आ कर
'पृथिवी', 'प्रेम' तथा उस 'अनिष्ट भावी',–
बड़े पुरातन इन तीन बैरियों ने
निशि में मल्लयुद्ध करते आपस में
धुंधली 'अचित्' रात्रि में से जनमाकर

मुक्त बनी इक बिस्मरणावस्था में,
धरा-अंक की मूलभूत तंद्रा में,
पाषाणों-सी या कि गगन तारों-सी,
लेटी जैसे विश्राम कर रही थी।
नीरवता की गहन-दरी के भीतर
सारी चिंताओं से कि मोक्ष पाकर,
कष्टों की हलकी स्मृति भी इक आकर;
धुंधली स्मृति थी भीतर हुई जागरित,

बसी उसी थल पर जैसे चिरपरिचित,
स्वाभाविक स्थान पर बस गई अपने,
यह आई क्यों, किस थल से, क्या करने।
वह अब भी उससे दूर ही बनी थी,
बजा रहे थे जीवन-दास हजूरी,
मिली न हो जिनको आनंद-मजूरी।
जलने से अब इनकार कर रहा था
अपने विगत भूत को पा न सका था।
साधे हुए चल रहा शरीर को था।
विश्व भार का निज बोझ उठाया था।

चाप बढ़ाया था पीछे को मुड़ कर,
जुआ लदा ही रहता है कंधे पर,
पाता मानव दिनचर्या में नश्वर,
ज्वारों के ऊपर सुवेग से बढ़ती,
एक नए पथ को सुप्रकाशित करती।
-प्रभाव का ज्यों अनुभव इक पाया हो
एक प्रकाश प्रकाशित हो आया हो,
काल के क्षणों पर आज खुल गए हों,
उसके द्वारों की ओर चल पड़े हों।
उसके, दिया बराबर अपना फेरा,

उसके घर में डाला अपना डेरा,
इन वृहदाकारों ने उसको घेरा,
जैसे ये देवगण आज हों जागे,

इक दिव्य प्रयास औ' यातना के ही
सहने को बाजी बद आए आगे,
औ' सावित्री के ज्वलंत अंतर के
पीछे बसती एक महा छाया से,—
वाद-विवादों के उस तमस् केंद्र से,
आश्वासन विहीन अज्ञान-अंध उस
महागर्त का इक रक्षक अधिकारी,
युग युग में जनमी जग-पीड़ाओं का
औ' दुःखों का, वह उत्तराधिकारी,
शांत, शिलावत 'दुःखों' का महान् वह
देवाधिदेव बैठा हुआ दिशाओं
के अनंत में अपनी आंख गड़ाए
निज अपलक चितवन से घूर रहा था,
जिस चितवन ने दुख की कालविहीना
गहराई तो भली भांति निरखी थी
पर जीवन ध्येय को नहीं देखा था।
निज कठोर दिव्यता से दुखित बन कर
परवश बंधे हुए निज सिंहासन से
लगा देखने पथ वह सावित्री के
अरुदित अश्रुकणों द्वारा तर्पण का,
असंतुष्ट होकर एक खिन्न मन से,
मानव के जीवन के सभी भयानक
प्रश्न लगे उठ कर अब जीने फिर से।
दुःख कामना की बलि जिसको भू है
करती आई अर्पित 'अमरानँद' को
इक शाश्वतीय 'कर' के नीचे फिर से
उसने आज किया आरंभ कि उसको।
सावित्री ने जग कर अब घड़ियों की
व्यूहबद्ध कूच को सहा औ' झेला,
औ' इस हरी भरी मुसकाती हँसती
खतरनाक दुनिया का देखा मेला,
सुना और जग के जीवधारियों का
रव चहुंमुख अज्ञान भरा अलबेला।
अर्थहीन कोलाहल में और इसी
अपरिवर्तिनी दृश्यावलि के भीतर,
'काल' तथा 'विधि' से बाजी लेने को
सावित्री की आत्मा हुई सुतत्पर।
निज में ही वह रही अविचलित बन कर
रक्खी अपनी सकल शक्ति संचित कर,
क्योंकि सत्यवान की मृत्यु का निश्चित
दिन था खड़ा सामने पर्वत बन कर।

सर्ग दूसरा

समस्या

क्षण भर को इस हलचल से पीछे हट
लगा घूमने उसका मन अब उसके
यों जी लिया विगत को एक बार फिर
मरते मरते फिर से और जी उठा
वह जो क्षण भर जी कर बस अब अपनी
वह अदृष्ट जो उसके भाग्य में लिखी
उसने ही उसके भविष्य का अपनी
बस वर्त्तमान के आग्रही क्षणों का
उन सब बीती घटनाओं के अंतिम
औ' सावित्री की साक्षी-आत्मा अब
जो था बसा सुहृद् बन्धु बान्धवों से,–
औ' जो कुछ भी गोचर द्रव्य रहे हैं
लगी 'काल' का सिंहावलोक करने।
सब कुछ जिसकी उसने आशा की थी
वह सब भूत चल दिया श्येन-पक्षि सम
औ' अब उसके अंतर की झिलमिलती
वे विस्तृत राजमार्ग सब जीवन के
खुली पड़ी थीं ज्यों नकशे सम उसकी
लेकर उसके शैशव की ऋतुओं के
ऊर्ध्वाकांक्षी सतत उठ रहे ऊपर

अनिवारी अनिष्ट की मूकिल, तमसिल
जहां स्वर्ग जा अंतिमतम मोड़ों तक

और बारहों रागाविष्ट महीने
क्योंकि कभी यह मानव अरे यहां जब
निरा औ' अलौकिक, इक महा-तमस् तब

अंतर के निगुह्य चिंतन क्षेत्रों में
भूतकाल के विविध रूप रंगों में,
और विलोका निकट अंत को अपने:
इक अक्षयपन से उसके अंतर में;
नश्वर आंखों से ओट हो गया है,
उसकी आत्मा की प्रैतिक छाया है
छायिक छाती पर अभिवहन किया है।
प्रवाह अब पीछे को लगा भागने,
से अंतिम स्रोतों तक लगा पहुंचने;
होकर खड़ी गूढ़ उस प्लावन तट पर
जो हैं आज बन चुके अलभ्य, दुष्कर,
ले कर उनके सारे सूक्ष्म रूप वर,

जिसको सपनाया और जी चुकी थी,
उड़ता उसके विशद स्मृति-गगनों में।
विविध रँगीय ज्वलंती नव ऊषा में
और बीथियां, मीठी मोहक डगरें,
सूर्य सरीखी निरीक्षिका चितवन में,–
हरियाली मज्जित जगमग देशों से
नील महीधर यौवन के दिवसों तक,
नंदनवनीय मयूरपंख 'प्रेम' से
छाया में पलते ज्वलंत आनँद तक,
होड़ ले रहा दौड़ नर्क से अनथक,–
फैला सब कुछ स्पष्ट पड़ा था उसमें।
आ सिमटे थे ज्यों इस नियति दिवस में।
'ईश्वर' के ढिग आ कर नियराता है,
आकर उसके ऊपर छा जाता है:

एक घड़ी आती है, जब कि 'प्रकृति' का सारा उपाय निष्फल हो जाता है;
चीर रक्षिका 'अज्ञान'-कंचुकी को
वह अवस्त्र, आदिम आवश्यकता में फिर से पीछे उछल पहुंच जाता है,
आखिरकार उसे निज बाह्य चेतना के स्वरूप को तजना ही होता है,
अपनी असली 'मैं' के साथ पूर्णत: तादात्म्य इक जोड़ना ही पड़ता है:
वही मुहूर्त्त आज सावित्री पर भी आकर एकाएकी घहराना था,
पहुंची थी उस अंतिम बिंदु पर जहां जीवन को अर्थहीन बन जाना था;
या फिर उसको अपने मए अजन्मे तत्त्वों के प्रति जाग्रत हो जाना था,
औ' अपने संकल्प से निजी कायिक भावी को आज रद्द करवाना था।
क्योंकि उस अजन्मा आत्मा की ही बस कालातीता शक्ति एक ऐसी है,
जो काल में जन्म लेने से हम पर लदे जुए को फकत उठा सकती है।
वह 'आत्मा' ही है जो इस आकारी प्रकृति चेतना की असली जननी है;
औ' इन मर्त्य विकारग्रस्त नामों को विविधाकारी अनगिनत जीवनों को,
औ' विस्मरणशील नव-व्यक्तित्वों के जोड़े रखनेवाली परंपरा को,–
जो कि रूढ़ औ' अनंत सी दिखती है,

औ' भूले बिसरे उन जीर्ण विचारों,
कर्मों की धारा को, जीवन-धंधों के भीतर आज भी बुने रहती है,–
इस क्रम परंपरा को वह आत्मा ही है जो केवल गिरा ढहा सकती है,
और हमारे दफनाए व्यक्तित्वों
की सारी अचलाई बपौतियों को,
जो पिछली नाश हो चुकी कायाओं का बोझिल उत्तराधिकार बनी थीं,
जो काया औ' मोहग्रस्त आत्मा के अंधेपन में की स्वीकार गई थीं,
उन्हें वही अस्वीकृत कर सकती है।

वर्तमान अपना यह सारा जीवन बिसरी हुई कथा की इक घटना है,
जिसके कि आरंभ का पता नहीं है जिसका कथावस्तु, उद्देश्य छिपा है।
कभी रही होगी जो जीवित गाथा उससे ही अंकित आज का भाल है,
और नियति अपनी सब भूतकाल की प्रवृत्तियों से जनमा एक बाल है।
और विश्व घटनाओं की निश्चयता
जो कड़ियाई अनिवार्यता से अलख उन्हें, उसे आज तोड़ना ही होगा,
और भूत को, बना हुआ है जो अब
रोड़ा उसके अमरत्व के मार्ग में
उसको केवल अंतरात्मिक बल से अब देश निकाला देना ही होगा,
इस सब कुछ को भूमिसात् करके बस निर्माण नई विधि का करना होगा।
आदि देवताओं की इक गोष्ठी में एक गुह्य वार्तालाप हो रहा है,
अज्ञात के गुह्य छोरों पर गुपचुप एक सभा आयोजन जुड़ा हुआ है,

ऐसे में उसकी आत्मा को उठकर
मूर्तिमान् 'असत्' के साथ अब अपना वह भीषण परिवाद चलाना होगा,
और उस खतरनाक भूमिका पर जा अब पूरा मुकाबला करना होगा:
बस उसकी पूरी सत्ता को अपने अरूप 'कारण' के सम्मुख आना था,
एक ओर लड़नेवाला सब जग था एक ओर केवल उसको डटना था।
उस सुनसान शिखर पर जहां कि 'आत्मा' खड़ी 'शून्य' के सम्मुख एकाकी है,
जीवन का कुछ मतलब नहीं प्रेम को जहां खड़े होने की जगह नहीं है,
ऐसे महानाश की कोर पर पहुंच अपने लिए वकालत करनी होगी,
जग की मृत्यु-गुफा में इस जीवन के •
असहाय से बने दावे को लेकर उसको एक घोषणा करनी होगी,
जीने और प्रेम करने के अपने अधिकार पर फिर विजय पानी होगी।
और 'प्रकृति' की निर्दय कार्य-प्रणाली अब उसको एकदम बदलनी होगी,
अपनी भूतकाल की बाधाओं पर सभी तरह से निजात पानी होगी,
सभी पुराना चला आ रहा खाता दुख पीड़ा का बंद कराना होगा,
तथा 'काल' में आकर जनमाने से
अंतरात्मा पर चढ़ते जाते इस चक्रवृद्धि व्याज को चुकाना होगा,
'कर्मदेवताओं' की असह गुलामी से उसको आजाद कराना होगा,
और अक्षमाशील क्रूर 'नियमों' की प्रतिकार से भरी इस धीमी गति को
वैश्विक दुख की गुरु आवश्यकता को,
भीषण त्यागों दुरन्त परिणामों को, अपने पथ से दूर हटाना होगा।
और चीर कर कालातीत यवनिका उसको उसके बाहर आना होगा,
विचार की सुगहनताओं को लेकर
'महाशून्य' की इस दानव चुप्पी के भीतर घुस कर प्रवेश पाना होगा,
अमराए से और 'मृत्यु' नयनों में नयन डाल कर उसे घूरना होगा,
निज निर्वसना आत्मा को लेकर बस 'अनन्त' निशि में थाह लगाना होगा।
ऐसी दुःख पूर्ण गंभीर घड़ी अब उसके अत्यंत निकट आ पहुंची थी।
आखीरी लंबे दिवसों की चापें भारी पांवों से ऐसे बढ़ती थीं,
यथा काल-भावी के महा गाल में पंक्तिबद्ध सेना कूच कर रही थी,
जो दुख से बेशक लंबे लगते थे पर कितनी जल्दी भागे जाते थे!
और अंत को निकट लिए आते थे।

अपने प्रिय स्वजनों के बीच अकेली
अविद, अजान सुखी हृदयों के सम्मुख वही महान् दुःख की जागरूक थी,
अमानुषीय वनों से घिरी हुई उस मोहक सुन्दरता के भीतर थल की
पूर्व विदित उन कठोर पग-चापों को कान खड़े कर अविराम सुन रही-सी
बनकर शस्त्र सुरक्षित उसकी 'आत्मा निष्ठुर घड़ियों पर पहरा देती थी।
उस नीरव औ' भीषण मल्लभूमि में वही अकेली थी इक मल्ल निराली,

औ' ऐसे जग के प्रति जो निज रक्षक
के प्रति भी था बना नितांत बेखबर,   जूझ रही थी वह एकल मतवाली :
अपनी 'अंतःशक्ति' छोड़कर बाहर   जिसका कोई अपर सहाय नहीं था;
पार्थिव आंखों से निहारने वाला   और दूसरा साक्षी कहीं नहीं था;
नीचे 'प्रकृति' और 'सुर समाज' ऊपर
उसकी मौन औ' अगम्य वेदना को-   लखनेवाले मात्र ये निरीक्षक थे।
उसके चारों ओर गगन संकेती   कठिन, कठोर महीधर खड़े हुए थे,
हरे भरे सरसर ध्वनि करते विस्तृत   विचार अभिमग्न तपोवन छहरे थे,
अविरम गति से अपनी खुसपुसान में   जो कुछ गुपचुप टोना बोल रहे थे।
पत्रों की प्रगाढ़ नीली इकरसता   से आच्छादित और नहाए जैसे,
औ' प्रफुल्ल फूलों के चित्र विचित्रित   रंगों औ' किरणों से सजेधजे से
अपने में ही लीन बने जीवन ने
सावित्री की भावी के एकाकी   इस दृश्य को, धरा था करके गोपित।
यह स्थान था जहां उसने आत्मा के   उस उन्नततम क़द को किया था फलित :
विशाल नीरवताओं के देवों ने   अपने एकाकीपन में विशालतर,
    उसकी आत्मा को भरपूर डुबाकर
उसको अपनी असल वास्तविकता का   फिर से लाकर था परिचय करवाया,
उसके अपने वातावरण का और   उसके साथ पुनः गठबंध कराया।
शाश्वत औ' एकमेव अद्वितीय की
पृष्ठभूमि में उसके सुएकांत ने
उसकी मानवता भीगी घड़ियों को   और भी अधिक महान था बनवाया।
अनिवारी सीधी आवश्यकताओं
के इक दबाव ने उसके दिवसों के
भारी भरकम मानवीय कार्यों को   कम से कम जरूरतों में हलुकाया,
श्रमश्लथ कर देनेवाले मानव के
बाह्याडंबर के मेले को केवल
सीधी सादी शरीर आवश्यकता   की पतली इक रेखा तक घटवाया,
और आदि भू की महती विशालता,
खड़े हुए थिर और शांत वृक्षों की   एक कुलाय-निलयिनी घन-झुरमुटता,
और गगन की शांत सुध्याम-मग्न सी   फैली हुई सुनील विराम-लग्नता,
धीरे-धीरे गुजर रहे मासों के .   बोझीले पांवों की गुरु गभीरता,—
इन सबसे था उसने इक चिंतन का   औ' 'भगवत्' विचार का अवसर पाया।
यह स्थान था जहां उसके नाटक का   दीप्त मंगलाचरण गया था गाया।
शाश्वत की चापों के उपयुक्त बना   वन की मठी प्रार्थनाओं से पूरित,
ऊंचे शिखरों की और अभीप्साओं   से प्रतिपल उन्नत, जाग्रत, सुनिरीक्षित,

प्रकट हुआ वह स्थान हठात् 'काल' के
जहां कि नीरवता ने कोई अनकह
घड़ियां पैर बढ़ाना भूल गई थीं
ऐसे में ही आकर दिव्य अवतरण

भू की नीरस कोल्हू रहनी गति को
आया 'प्रेम' छिपाए 'मृत्यु' छाय को
जहां कि सावित्री के उर में शायद
जबसे भू जीवन ने पहले पहले
तब से मानव जीवन के इन सारे
लगातार कष्टों के बीच गुज़र कर
नहीं किसी और श्रेष्ठतर प्राणी ने
वह जो इस मानव में भगवत्ता की
इक विद्युत्-प्रकाश है, जो उन उन्नत
सावित्री के भीतर का सब कुछ इक
भू विशालता की वह मित्र, स्वर्ग की

उसकी बाल-विशाल-सिद्ध आत्मा ने
शांति और महिमा के उन लोकों की
'विचार' के नियमों का अतिक्रमण कर
जग में अब तक अजन्म बनी वस्तुओं
उसके आत्मनिष्ठ औ' अडिग अचल उस
औ' उसके मन की विशालता फैले
भावोन्माद में उमड़ कर बहती थी,

प्रेरित, शासित बनी 'सत्य' के द्योतक
गुम्बद के नीचे इक भविष्यदर्शी
जैसे इक नीरवता का अंतर, जो
औ' इक श्री-समृद्ध रचनात्मक धड़कन
या कि नव-उषोपम काया जो लगती
या कि परालोक के खोलनेवाला
उसकी काल जात चापों से भी इक
उसकी चितवन औ' स्मिति भू तत्त्वों में
औ' अपने आनँद की श्री को लेकर

अंतर पर खुल पड़े हिरण्य-विवर में,
वाणी सुनी अनुभवी कर्ण-गुहर में,
जहां विकार और दुःख की डगर में।
यहां अचानक है हो आया करता,—
प्रथम अवतरण जादू को दुहराता,
आनँद की धाराओं में बदलाता
पीछे, अंतर पर टोना करवाता।
उसका सुपूर्ण देवालय बन सकता।
स्वर्ग की दिशा में चढ़ना सीखा है,

कभी 'प्रेम' का तीखा बाण सहा है,—
एक महान् औ' ज्वलंत परीक्षा है,
-लोकों से आ इस मर्त में गिरा है।
आभिजात्य को आभासित करता था।
ऊंचाई के साथ एकता वाली,
सुतीव्र गति, हर्ष से बनी मतवाली

यात्रा से थी अनुपम गरिमा पाली,

के लखने की अभिनव-दृष्टि जगा ली।
संकल्प में एक ज्वाला जलती थी;
सच्चाई के सिंधु सरिस लगती थी,
पर एक भी लहर पंकिल न बनी थी।
यथा गुह्य औ' क्रियाशील नर्तन में,
एक देवदासी विशुद्ध आनँद से,

देव-गुफा में माती थिरक रही हो,
आनंद के करों से धरा गया हो,
आकर जिसमें बरबस निवस गई हो,
इक प्रच्छन्न दिव्यताका सुनीड़ हो,
एक स्वर्ण-मंदिर का रत्न-द्वार हो।
मृत्युंजयी ताल-लय लहर रही थी,
भी इक दिव्यानुभूति जगा रही थीं,

इस अति नीरस मानव के जीवन में परात्पर सुन्दरता बहा रही थीं।
विस्तृत औ' विशाल आत्म-समर्पण को उसने था स्वीय स्वभाव ही बनाया।
उसके संपर्क में जभी जो आया
समुद्र के समान गहरी, औ' नभ के
समान ऊंची, उसकी उदारता की महामनता में गया हठात् डुबाया,
और लगा ज्यों उसके साथ साथ ही जगती को भी गया महान् बनाया:
उसकी ममतामय देखभाल, रवि के सम शीतोष्ण ताप का कुनकुनपन थी,
उसकी उन्नत अंतर-रागमत्तता नील गगन का महान् संतोलन थी।
ज्यों उड़कर, औ' बचकर एक विहंगिनि छटके हुए शिकारी के तीरों से,
झंझाओं के पीड़ात्रस्त क्षेत्र में उड़ी जा रही हो निज थके परों से,
और पहुंच कर फिर इक शांत सुनीरव अपने सुख सुधिआए वक्षस्थल में,
पा जाय सुरक्षित इक कूल अनोखा, कोमल आश्रय, इक सुदूर आंचल में,
जहां कि फिर माधवी-अग्नि के सोते उसके जीवन की लहका सकते हैं,
सुख की पुराण-प्रकृति को और उसमें एक बार फिर से लौटा सकते हैं,
उसी तरह उड़कर एक अंतरात्मा
थी सावित्री के उस प्रकृति-तेज के वातावरण का सुअनुभव कर सकती
उसकी गरमाहट औ' अंतर रंगों
के प्रभाव में सब अस्त-व्यस्त अपने पर सँवार आनन्द सुर मिला सकती।
सागर के समान उसकी करुणा औ' देवस्थान सरिस इक नीरव चुप्पी
ले, उसकी आंतर सहायता सबके लिए द्वार इक दिव का खोल रही थी,
उसके अंतरतम का प्रेम निराला इस सारी जगती से भी विस्तृत था,
उसके एक अकेले अंतर में ही यह सारा जग आश्रय ले सकता था।
असंतुष्ट औ' महान् 'प्रेम'-देवता इस थल पर आ निवास कर सकता था:
औ' उसके बौने अहं की कैद से
छुटकर उसकी मनोदशा अब 'उसकी' उन्नत श्वासों को तट दे सकती थी,
सामंजस्यमयी जिसकी आत्मिकता सब द्रव्यों को दिव्य बना सकती थी।
क्योंकि हृदय की उसके अंध खाइयां भी तो प्रकाश-कुक्षि गुफाएं ही थीं।
एक साथ ही शांति और वाचा की अभिव्यक्ति का अनूठा उदाहरण थी,
स्वप्रसारित सुशांति का महाद्वीप थी इक अकंप क्वारी अग्नि का सिंधु थी:
इक देवों वाली सामर्थ्य और इक नीरवता उसका अपना स्वभाव थी।
इसी लिए प्रेम देवता ने उसमें अपनी जैसी विशालता पाई थी,
वह उसमें अपने स्वाभाविक गृह सम अपनी इच्छित गतिविधि कर सकता था,
उसमें निज शाश्वतता लह सकता था।

तब तक शोक विधुर कोई छाया उठ उस मयूख की बाधा नहीं बनी थी।

तब तक इस अनिश्चिता भू की भंगुर
छाती पर उसकी वर्तुलिता आंखें
निज श्वास-बद्ध काया-गृह से बाहर

जहां कि परिवर्तन के सुखप्रद क्रम की
नश्वर पलकें जिससे कि बेखबर हैं,
और टिमटिमाते 'काल' के विखण्डित
चित्र पटल पर चलते रहते भंगुर
आकारों वाले इस अजीब जग को
दिव्य अजन्म 'शक्तियों' के समान जो
यद्यपि मानव बोझे के ढोने को
पर उसकी चाल ढाल सब देवों की
उस शुचि ज्योतित दर्पण को मटमैला
औ' इस मर्त्य वायुमंडल के रजकण
उसकी शुचिता आत्मानँद को भू पर
औ' जो उसके प्रकाश में जीते थे
उनकी आंखों ने स्वर्गजात उसके
जो उसके प्रकाश के पीछे उसकी

इक अंतहीन आनँद से निर्मित वह
श्वेत-अग्नि-पन्नग सम पुराण-पंखी
अपने ज्वलंत पंखों को फैलाए
औ' विधि-विनियोजित शिशु, सावित्री की
उसके बाल्यकाल के आरंभिक दिन,

जैसे गुजर रहे एक देव-दल के
युवाकाल लगता था शांत, सुखी इक
पर मानव के क्षणभंगुर जीवन में
नश्वर चीजों में इक अंधकार है
बहुत देर तक जो आनंद की अमल
सावित्री को भी उस मानव विधि ने
कृत-तनु-त्राण उस अमर प्राणी को भी
वही देव जो सतत-भारक्षम, महती-

वह जो परीक्षणोंका अनुमंता है

सुखी सितारों पर जाकर खुलती थीं,
उनकी ही सहानुभूति में पगी थीं,
यह जीवन गति शिकार नहीं बनी थी,
उस सुन्दरता की सुधि वहां बसी थी,

वह आश्चर्य से भरी निरख रही थी,
दुख से अस्पर्श्य थी औ' निरापद थी।
ही वह अपनी धरती पर निहुरी थी,
गति का ही अंदाज लिए रहती थी।
करने में भू-श्वासें व्यर्थ बनी थीं :
औ' कीचड़ से दागी बने बिना ही
कर प्रतिबिंबित बस अविराम रही थी।

उस अमर्त्य मित्र को विलोक लिया था,
अवरोहण-अनुरेखा को अनुसरता
उच्च सनातन लोकों से उतरा था,

उसके दिवसों पर पहरा देता था :
स्वर्गिक ढाल सरिस रक्षा करता था।
इक ज्योतित अंशुल कक्षा लगते थे,
और महिम-वत्सर यों सरक रहे थे
स्वर्णिम दुकूल झलमल झलक रहे हों,
महान् राजा सिंहासनारूढ़ हो।
स्वर्गानँद न अंततक टिक सकता है :

-स्वर मिठास को सहन न कर सकता है।
अनिवारी 'पंजे' से आ जकड़ा था,
ढोना 'काल' फंद विकराल पड़ा था।
आत्माओं से मिलता है, था आया,
उसके हित भी कठिन परीक्षा लाया।
औ' जीवन का पथ प्रशस्त करता हैं,

जो आत्मा की जग-रूपायन बलि में
परमा-आत्मा के ही अंकुश के हित मृत्यु, पतन औ' दुःखों को चुनता है,
उस अस्पष्ट देव ने दुख-मशाल ले
औ' अंध बने जग की महा गुफा पर एक प्रकाश फेंक कर उसे उघारा
औ' सावित्री की आत्म-शक्ति को उस महाखात के भरने को ललकारा।
महान् और दयाबिन शांत दृष्टि से
'शाश्वत' की दुर्धर्ष व्यूह रचना को अधिक उच्चतर तथा महान् बनाकर,
सावित्री की शक्ति की महत्ता के अनुपात में कष्ट की माप बढ़ा कर,
गहरे गर्त को गभीरतर बनाया जिसे सभी को जाना है उलांघ कर।
और दिव्यतम उसके सब तत्त्वों पर निष्ठुरता से एक आक्रमण करके
उसके हृदय को सुसाधारण जन के चेष्टाशील हृदय सम अज्ञ बनाया,
और शक्ति को उसकी उसी सुनिश्चित विधित मार्ग पर चलने को विवशाया।
इसीलिए तो नश्वर मानव श्वासें आकर उसके द्वारा वरी गई थीं;
तमसिल 'छाया' से कुश्ती लड़ने को ही तो वह इस धरती पर उतरी थी,
इस गूंगी 'जड़ता-रात्रि' में चल रही मानव के जन्म की और जीवन की
क्षण भर टिकने वाली पहेलिका के सम्मुख मुकाबिला करने आई थी।
औ' अब फेंकी गई 'भाग्य' पांसों मिस यही समस्या थी उसकी आत्मा की,
कि रहे ढोती 'मृत्यु' 'अज्ञता' यों ही या कि 'अमर' पथ चीर बनाना होगा,
मानव हेतु दिव्यता की बाजी वह हार जाय, या जीत दिखाना होगा।
कुछ हो, पराधीन रहने औ' सहने को तो नहीं जगत् में वह जनमी थी;
अपितु पथ प्रदर्शन औ' बंधन मोचन
का गौरवशील महान् कार्य करने के हित ही वह भेजी, चुनी गई थी।
उसकी निर्मिति के ताने बाने में पार्थिवता का कुछ भी भाग नहीं था,
जो कि व्यस्त लापरवाह 'शक्तियों' के इक दिवसीय भोग के हित है होता।
काल चित्रकार ने अरे मानव की खींची जग में यही रूपरेखा है,—
कि क्षणिक लीला हित यह आधे जी का
प्राणी, नियति यवनिका पर इस आकर निज पंख फड़फड़ा कर रह जाता है,
या कि जिसे विस्तृत 'वासना'-सिंधु में
इक निर्दयतम क्रीड़ा की पारी में तीव्र भँवर पर फेंक दिया जाता है,
और 'परिस्थिति' की गहरी खाड़ी में फिर उछाल कर छोड़ दिया जाता है।
यह इक जीव है कि जो पैदा होता है एक जुए में ही बस जुतने को,
'काल'-देवताओं का खेल तमाशा या कि गाय गोरू उनका बनने को,
या इस विशाल शतरंजी के ऊपर
पृथिवी की आत्मा औ' इस अनिवारी—
'अनिष्ट' सँग चलते इस महा खेल में

एक और प्यादा है जो आया है जगमें बस धकियाए ही जाने को,
औ' मजबूर बना है धीरे धीरे एक एक चाल ही फकत चलने को,—
इसके हित तो वह तैयार नहीं थी।
वह तो इक चैतन्य-ज्योति प्रतिमा थी उसका बल तो एक 'स्वयंभू बल' था।
भगवत्-संख्या की इस पहेलिका में,

ससीम 'प्रकृति' और निस्सीमा 'आत्मा'
के बीच एक मद्धिम विचित्र गति से बढ़ते से इस व्याकुल समझौते में
जहां कि पूर्व-विहित इक 'दैवयोग' औ'
उदासीन इक अंधी 'आवश्यकता' के भीतर सबको बढ़ते जाना है,
तब कैसे उस थल आत्मिक ज्वाला का हो सकता उन्नत उठकर जलना है।
क्योंकि एक बार भी अगर वह छू भर पाए अपनी उस आदिम ज्वाला को
तो वह अब तक उठी सब दिवारों को,

फकत जवाबी एक स्पर्श से अपने छिन्न भिन्न कर फोड़ फाड़ सकती है,
औ 'शाश्वत' के बोझे से यह पृथिवी पिस सकती है और डूब सकती है।
उसके लिए यह विशाल और विस्तृत फैली जगती एक जेल लगती है:
पाहन-दृष्टि विधान एक शस्त्रित बन इक इक चौराहे पर खड़ा हुआ है,
द्वार द्वार भीषण अस्पष्ट संतरी चौकस बन पहरे पर अड़ा हुआ है।
इक धूमिल 'अज्ञान' की अदालत में
'निशि'-पुरोहितों की इक 'जांच-मंडली'
इस महान् साहसी-वीर-आत्मा का बैठ कर जहां न्याय किया करती है,
द्वंद्वों की सारणी और 'कर्मों' की
नियमावलियां भीतर बसनेवाले 'दानव'-'देव' पर नियंत्रण रखती हैं:
दुख अपने कोड़ों से मार मार कर
सुख अपनी रुपहल रिश्वत के बल पर,—
युगल भावनाएं इस 'कोल्हू'-गति की जड़ अक्रियता पर पहरा देती हैं
इस प्रकार अविरत उन्नतिप्रिय मन पर बस इक बाधा लगवा दी जाती है,
उदार औ' विस्तृत इक दरिया दिल पर एक मुहर अंकित कर दी जाती है,
खोज में लगे इस यात्री 'जीवन' को और मृत्यु बार बार अटकाती है।
इस विधि से 'अचित्' का अभय सिंहासन बिना रोक टोक के सुरक्षित रहता,
जब तक युग-चक्रों की इन धीमी गति —कुंडलियों का प्रसरण होता चलता,
और 'प्राण'-पशु उत्तेजित हो हो कर इस सुपवित्र बाड़ को रहता चरता,
तब तक स्वर्ण-'श्येन' यह नहीं कभी भी आकाशों में है उड़ान भर सकता।
पर अब खड़ी हुई वह आत्मा जिसने है अनन्त इक ज्वाल प्रज्वलित कर दी।
जो आनंद से सदा घृणा है करती बस 'अचित् की उसी 'तमसा देवी' ने,
अब उस भीषण दुर्धर्ष कचहरी में

जहां कि जीवन को निज भोगों हर्षों
के बदले जुर्माना देना पड़ता,
सावित्री के खिलाफ अपील कर दी,
औ' यांत्रिक न्यायाधीशों ने उसको
मानव-आशाओं का मूल्य चुकाने
को घोर यंत्रणा की सजा सुना दी,
पर उस अनिष्ट भावी की घन चोटों
के सम्मुख असहाय हृदय उघार कर
सावित्री ने दंड विवश बन कर औ'
शीश झुकाकर हार नहीं मानी थी।
इस प्रकार तो बस इस मानव का ही
मनोजात संकल्प झुका करता है,
और पुराने निश्चित विधि-विधान को
ज्यों का त्यों स्वीकृत कर दीन भाव से
विनम्र बन कर इन अधःस्थ देवों की
आशाओं को शिरोधार्य करता है।
सावित्री में एक परामानव ने
ही अपने बीज का निधान था किया।
अपने सपने की महान् पांखों को
समेटने में असमर्थ बनी उसकी
आत्मा ने साधारण-मनुज-भूमि को
कंठ लगाने से इन्कार कर दिया,
या जीवन के सब स्वर्णिम अर्थों को
लुटा हुआ औ' खोया हुआ देखकर,
रह जाने में पृथ्वी से ही बंध कर,
औ' तारों की सूची से च्युत हो कर,
तथा निराशा की काली बदली में
'प्रभु' प्रदत्त स्वर्गिक-प्रकाश को खो कर
जीना उसने अस्वीकार कर दिया।
उसकी सब सत्ता जो निज अंतर से
अपने दिव्य स्रोत में जगी हुई थी,
शाश्वत और सत्य की उच्च भूमि में
जीने की जो हरदम अभ्यासी थी,
उसने नश्वर दुरबलता से दुख की
राहत हेतु न भीख कभी भी मांगी,
असफलता, सौदागीरी, समझौतों
की न कभी भी औ' पैबन्दें टांकीं।
वह तो एक कार्य करने आई थी
वह तो इक वाचा देने आई थी;
लिखते हुए एक असमाप्त कहानी
विचार और कर्म में खोल खोल कर
'प्रकृति'-महाकाव्य में उसे सुसँवारा,
इन ज्योतित-पृष्ठों को ठप कर देने
का विचार उसने न तनिक स्वीकारा
और तोड़ लेना निज नाता रिश्ता
शाश्वतता से कभी न अंगीकारा,
और विश्व-विनिमय के अचित् संतुलन
पर निज दुरबल अनुमति के हस्ताक्षर
कर देना तो उसे न हुआ गवारा।
एक शक्ति जो उसमें श्रमशीला थी
तब से, जब से यह जगती सिरजी है,
और महान् विश्व आयोजन को जो
पीछे रह पूरा करती आती है,
और मृत्यु के पीछे छिप कर भी निज
अमर ध्येय को उकसाती जाती है,
उसने बांझ निराशा की सहमति को
सदा मानने से इनकार किया है,
'काल'-स्रोत में जनमाने के अपने
उद्देश्य को हारने नहीं दिया है,

और सामयिक सत्यों के प्रभुत्व को
तथा क्षणिक 'दैवयोग' के हाथों में
अपने उन्नत अवलंबन को उसने
जग के लौह नियम के सम्मुख अपने
बस जग शासन के विरोध का मोर्चा
इस अनिवार्य 'अनिष्ट-नियति' के चक्रों
के हठात् अटका देने के ही हित
उसके अंतर के निगुप्त द्वारों पर

उसके अभिगुप्त दरारों में निद्रित
उसी ने सहा 'तत्' के महाघात को,

इस विकराल कूच को आर पार कब
रोक बीच में उसके पथ को कोई
अब ऐसे शक्ति के विशाल इंजिनों
भ्रमते महाचक्र की बीच राह में
और एक मन के आगे आ कर अब
जीर्ण शीर्ण रूढ़ियों को महा भीषण
सावित्री को जैसे अंधकार में
जो अविरत आवृत्त उस 'अकथनीय' के
वह तो है एक प्रार्थना, औ' है इक
जो मानव की शक्ति का परात्पर की
तब फिर बस यह चमत्कार साधारण
एक महान् कर्म भी बस परिवर्तित
ऐसा एक अकेला विचार भी बस
अभी तो 'प्रकृति' की स्थूली यांत्रिकता
भौतिकता की अंतविहीन गुलामी
लम्बी नियतिबद्धता की और उसे
और प्रकृति के रूढ़ स्वभावों के उन
उसके अचित् किंतु पटु कुशलता भरे
मानव संकल्पों की स्वतंत्रता के
इस फैली यांत्रिकता के मध्य अरे
मन इक पिचकारी है बस जिसमें से
औ' अंतर की धड़कन से जैसे हों
प्राण-विहीन एक ऊर्जा है जिससे

किया नहीं है अपना आत्मसमर्पण,
किया नहीं है निज भावी का अर्पण।
बस अपने भीतर ही प्राप्त किया था,
शाही हक को ला पेश कर दिया था :
एक अकेले संकल्प ने लिया था।

यह महानता जागी औ' प्रकटी थी।
जब 'अदृष्ट' ने ऊपर से दस्तक दी,
तब विद्युत्-स्पर्शों से महत्तर बनी
पड़ी हुई सी उसकी शक्ति जग उठी।
जो सब कुछ को या कि बोर देता है,
या सब कुछ को तार तार लेता है।
मानव की ये आंखें लख सकती हैं,
संकल्प शक्ति बदल नहीं सकती है,
के सम्मुख उसका बल होड़ ले चला,
एक हृदय था बस आ हो गया खड़ा :
सारा जग संचालन ठप्प पड़ गया,
आत्म-ज्वाल से पाला एक पड़ गया।
हाथ लग गयी थी इक जादू चाबी,
अनंत संकल्प को चला है जाती :
सिद्ध कर्म औ' इक अधिपति विचार है,
'शक्ति' से करा सकती लगनचार है।
दैनिक एक नियम में ढल सकता है,
सकल वस्तुओं की गति कर सकता है,
सर्वशक्त बलमंडित बन सकता है।
का ही चहुँमुख यहां बोलबाला है;
का ही बस मानव ने मद ढाला है,
जकड़े क्रूर शृंखला की माला है,
'नियमों' के मर्कटी नकलचीपन ने
सकल विधि विधानों के साम्राज्य ने,
अधिकारों को है नितांत व्यर्थाया,
मानव भी है गया मशीन बनाया :—
विचार के नव नव आकार निकलते,
भावुकता के रूप जा रहे बनते,
हम आत्मा का धोखा हैं रच लेते।

औ' जग का स्वरूप, इस विधि सिरजा है,–
कि 'जड़ तत्त्व' के बंध खम्भ में बांधे
उसकी कोल्हूगति में बैल की तरह
उन्हीं गोल घेरों पर बार बार बस
फिरते रहनेवाले 'दैवयोग' के संकेतों को वह खोला करता है।
अर्थविहीना उखड़ी घटनाओं का
इक उद्देश्यरहित बेमतलब सा क्रम,–
जिस पर तर्कबुद्धि यह कूद कूद कर निज रहस्यमय अर्थ लगाती रहती,
या अनुभव पर आधारित 'जीवन' की गति कुछ सुसहज शोध किया है करती,
और विराट् अंत-मन की इक भारी भरकम चिंता की गति चलती रहती।
पर इक दिन प्रज्ञा प्रकटाती ही है,
दिव्य दृष्टि अंतर से आती ही है।
तब 'प्रकृति'का करण यह मानव अपने 'राजा'को किरीट मंडित करता है,
उसको भीतर बैठे साक्षि-पुरुष औ' परा चेतना का अनुभव मिलता है,
उसकी आत्मा अभिसर्पण करती है और परात्पर 'प्रकाश' को लखती है।
अचित् यांत्रिकता के पीछे हरदम इक 'भगवत्ता' सदा खड़ी रहती है।
इस सत्य ने प्रवेश किया अब उसके अंतर में चिर जय-ज्वाल की लपक में,
लिया जन्म तब एक महान विजय ने 'प्रभु' के हित पहले पहले मानव में,
हटा दिया आनन श्री का अवगुण्ठन अंतर के अपने सुनिगुह्य 'देव' ने।
और महा 'विश्व-जननि' अब आकर थी प्रकट हुई सावित्री के अंतर में:
इस जीवंत सत्य के दृढ़ निश्चय ने हिमवत् जड़ विधि की गति ही रुकवा दी,
और 'परिस्थिति' के ऊपर आत्मा के अधिकारी चापों की मुहर लगा दी,
अर्थहीन इक गति पर रढ़ते भीषण 'चक्रों' की गति पीछे को धकिया दी,
चली आ रही औ' 'आवश्यकता'की मौन कूच एकाएकी रुकवा दी।
बस शाश्वत के अति उन्नत शिखरों से इस जाज्वल्यमान योद्धा ने आकर,
एक प्रवेशनिषेधित बन्द द्वार को पुनः खोल देने का निज बल लेकर,
आज मृत्यु के मुख पर उसकी गूंगी- केवलता पर कठिन-प्रहार कर दिया
और चेतना तथा 'काल' की सीमा तोड़ फोड़ उस पार प्रवेश था किया।

सर्ग तीसरा

राजा का योग : आत्मा की मुक्ति का योग

'जग' की इच्छा ने ही सावित्री को मर्त्य जन्म के हित मजबूर बनाया।
औ' रहस्यमय लीला का अधिनायक, एक सनातन अन्वेषण का अगुआ,
जिसके भीतर 'अज्ञात' स्वयं धरता नाना आकारों को हो खिंच आया,
औ' सीमित कर अपनी शाश्वतता को इस सँकरे कालचक्र में घिरवाया,
जिसका हाथ पकड़ कर अंध 'शून्य' हो प्रयत्नरत जीने, लखने को धाया;
ऐसा वह आदर्श-वायु में श्रमरत,
इक चिंतक औ' साधक, नृपति अश्वपति
सावित्री की चिर-भास्वरा शक्ति को
पृथिवी की बोझिल आवश्यकता में था बरबस नीचे उतार कर लाया।
उसकी ही वह इक उन्नत आत्मा थी
जो भंगुर-दृष्टि भूलोक में अपने अति विशाल उत्क्षेत्रों से उतरी थी,
और मर्त्यता के बीच अमरता से आ एक उपनिवेशक सम ठहरी थी।
और धरा के इन संदिग्ध पथों पर वह इक तीव्र तीर सम छुटी किरण था,
जिसका जन्म एक उज्ज्वल प्रतीक था या कि मार्गदर्शक कोई इंगन था।
उसकी दीपित मनुज व्यक्तिता ने उस
'सर्वज्ञानमय' को जो अंध जगत् का
नेतृत्व कर रहा है एक पारदी अमल वस्त्र के समान ढक रक्खा था।
वैश्विक 'देश' 'काल' से संबंधित बन
प्रभु पर चढ़े हुए भू औ' मानव के ऋण को वह चुकता करने आया था,
इस प्रकार एक महत्तर आत्मजता पर अपना दिव्याधिकार लाया था।
यद्यपि यहां मर्त्य-अज्ञान के लिए उसने अपनी स्वीकृति दे रक्खी थी,
पर उसकी ज्ञान ज्योति अकथनीय उस 'ज्योति' में सदा भागीदार बनी थी।
बस मौलिक 'ध्रुवता' की शक्ति आज थी काल और काल-धार से आ लिपटी,
पीछे छिपे हुए 'विराट् दर्शन' की महिमा उसके आगे उघर गई थी :
'अज्ञेय' से मिली इक शक्ति नई थी।

'परलोक' प्रतीकों का संग्रहकर्त्ता कोषाध्यक्ष परामानव सपनों का,
महान् आदिस्मृतियों के अंकन को ज्योतित अंतर पर धारण करता था,
औ' इस साधारण जीवन पर अपनी महिमाशाली किरणें बरसाता था।

उसकी दिवस पंक्तियां 'परम पुरुष' के धाम तलक बस चली गईं छहरी थीं।
एक नभोन्मुख सत्ता स्वीय जड़ों को
गुह्य आत्म-स्रोतों से सींचती हुई
निज अदृष्ट 'रवि' से मिलने सित किरणों को पकड़े पकड़े स्वर्ग चढ़ गई थी।
उसकी आत्मा शाश्वतता प्रतिनिधि के समान ही इस प्रदेश पर जीती थी,
उसकी मनस् शक्ति इक सतत-अग्नि थी जो स्वर्ग पर आक्रमण रत रहती थी
संकल्पशक्ति, इक शिकारिणी थी जो प्रकाश-पद-चिह्नों को अनुसरती थी।
उसकी सागर-प्रवृत्ति ने थीं उसकी सबकी सब श्वासें ऊर्ध्व में उठाईं,
एक एक कर्म ने और धरती पर 'प्रभु' के पगचापों की छाप लगाई,
एक एक घटिका परम शक्तिशाली गरुड़ परों की फड़फड़ान सी आई।
उन्नत जग से आए इस भू-वासी के स्पर्श मात्र से अपनी नन्हीं-सी
यह नश्वर धरती 'जीवित अनन्त' का आनँद क्रीड़ास्थल एक बन गई थी।
बस यह शारीरिक आकार ही फकत इस मानव का सारा सत्य नहीं है।
जग की यह नामरूपता छलती है और व्यक्ति तो केवल छद्मवेश है।
मानव की अंतर गहराई में ही छिप स्वर्गीय शक्तियां रह सकती हैं।
यहां, काल-सागर पर भंगुर काया
की यह नौका, अज्ञात रूप में उस 'अक्षर यात्री' को लेकर फिरती है।
वह आत्मा जो 'प्रभु' की अग्निशिखा है अंतर के भीतर निवास करती है,
उस 'विचित्र' का एक अग्नि-अंशी है,
वह खुद ही अपनी सुन्दरता का औ' आनँद का इक अद्भुत कलाकार है,
और हमारी नश्वर दरिद्रता में अमर्त्यता का एक इजारदार है।
यह 'अनन्त' के आकारों का शिल्पी निज गृह का अनपहचाना 'मालिक' है,
जो आवृता गुह्यताओं को प्रेरित करता रहनेवाला इक साधक है,
जो नन्हें औ' गूंगे एक बीज में विश्व विचार का बना इक गोपक है।
और 'कूट-कल्पन' की मौन शक्ति में
पहले से ही निश्चित और नियोजित रूप औ' क्रिया का परिनिर्धारण कर,
जीवन से जीवन श्रेणी से श्रेणी
यह यात्री निज मूर्तित सत्ता को बस आकार से नवाकार में बदल कर,
निज विशाल चितवन के तले मूर्ति को क्रम क्रम से विकसित होते लखता है,
और कीट में आनेवाले भावी देवत्व की शुभ प्रतीक्षा करता है।
आखिरकार महायात्री यह अपने
'काल'-पथों पर बढ़ते-बढ़ते शाश्वत धुर-सीमा देश में जा पहुंचता है।
मानवता के इस भंगुर प्रतीक में
उपरिवेश से सज्जित और निमज्जित
रह कर भी अमरणशीला सत्ता के उस मूलतत्त्व का अनुभव करता है,

और मर्त्यता से बंधकर भी उसके
आकर 'शाश्वतता' की एक किरण है
औ' उसके विचार की सारी गति फिर
उसकी सारी अंतरसत्ता उठ कर
उसकी आत्मा विशाल 'विश्वात्मा' में
उस विराट् जीवन के द्वारा उसकी
तब वह 'विश्व जननि' के पयोधरों के

निश्चूड़ पराप्रकृति जहां आकर तब
और वही निज परिवर्तनशीला इस
जगती के आश्वासन स्वरूप उसकी
आत्मा की अविनश्वर और सनातन
और अनाविर्भूता स्व-शक्तियों के
औ' मानव के भीतर नित्य रूप से
बन कर स्वयं अनावृत जगत-विधात्री
बस फिर उस प्राणी के आनन के मिस

फिर एक विशाल एकता के द्वारा
तब मानव के भीतर छिपी 'दिव्यता'
तब इक तटस्थ 'तादात्म्य' औ' क्रियात्मक

तब उसकी काया, आत्मा दोनों ही
रे, मानव का बस यह सारा जीवन
श्रम, आशा, युद्ध, शांति का चक्कर है
जिसे 'प्राण' ने बस 'जड़ता' की अंधी
उसमें ही मानव निज चढ़ाइयों में,—

और ज्योति-परिसर की इक कौंधन में
अर्द्धज्ञात औ' एक स्खलनधर्मा सी
या तो किसी वस्तु औ' किसी व्यक्ति को
या इक आदर्श, उपासन पद्धति को
बस यह उसकी उन्नति और पतन की
जब तक जाकर आखिरकार न उसको
वह भीषण चूड़ांत विन्दु मिल जाता

सँग निज नाता तोड़े ही रहता है।
तब उसके अंतर पर प्रहार करती,
अनन्तता में प्रसार पाने लगती,
है घूम आत्म-भूमा की दिशि पड़ती।
मिल जाने के हेतु गुहार लगाती,
जीवन सरिता सिंधु बना दी जाती।
श्वेत-पयस् का पान किए होता है,
आनँद-मधु से छका छका रहता है।
इस मानवाधार में भर जाती है,

ऊर्ध्व भूमिका को धारण करती है,
नवीन आकार की सृष्टि करती है।
अपने को गर्भायित कर देती है,
उसके द्वारा निज कार्य सँवरती है:
माता की ही आनन छवि दिखती है,
नेत्रों में उसकी ही द्युति दिपती है,
मां की सब सत्ता उसकी बनती है।
प्रत्यक्ष रूप से बाहर खुलती है।
'शक्ति' उतर कर मानव में आती है,
जो मुद्राएं हैं पूर्ण 'ईशता' की,
महिमामय मुद्रांकन धारण करतीं।
इक धुंधली औ' लंबी तैयारी है,

तमस्-भूमि में गोल गोल खींचा है,
जिन पर-अन्यों ने पग नहीं धरा है,
क्रम क्रम से इक इक चोटी चढ़ता है,

मूक-सत्यता को ढूंढ़ा करता है,
खोज रहा है जो न उसे मिल पाया,
जिसे न सिद्ध यहां पर है कर पाया।
उन्नत कुन्तल-कमान खिंची हुई है,

जिसके द्वारा 'उसकी' 'महिमा' जगती,
'जिसके' लिए कि सिरजी है यह जगती,

तब तक तोड़ न मानव की भू-सत्ता
'प्रभु' की अनन्तता में प्रवेश करती।
और तभी हम अपने भू स्वभाव की
सीमा के हाथ से निबुक जाते हैं,
परा प्रकृति के उस जीवित प्रकाश के
वृत्त-चाप में निज प्रवेश पाते हैं।
आज 'शक्ति'-पुत्र अश्वपति के द्वारा
यह सिद्धि साक्षात् अनुभवी गई थी
एक उच्च संक्रांति ने आज आ कर
उसके भीतर अपनी नींव धरी थी।
औ' परमोच्च सनातन 'सर्वव्याप्त' ने,–
सकल 'प्रकृति' प्रक्रिया-कला है जिसकी,
उसी विश्व-'कर्ता' ने काया-रूपी
माटी के सुचमत्कारी इंजन को
बना स्वर्ग उपयोगी देने के हित
उसमें निज अदृष्ट हाथ को लगाया,
उसे स्वर्ग कार्य के सुयोग्य बनाया।

संदेहशील इस पट के पीछे से
और दिव्य 'शाश्वत सन्निधि' ने आकर
अमने कठिन कार्य का भार उठाया:
पीट पीट उसकी माटी को, उसको
चंड-भार के ढोने योग्य बनाया,
स्वाभाविक शक्ति के और इस अधगढ़
मट्टी के लोंदे को छील छाल कर
उसकी आत्मा को लेकर अति अनुपम
मूर्तिमान 'प्रभु' का स्वरूप सिरजाया।
वह जादूई आत्म तत्त्व का 'शिल्पी'
अद्भुत जग के वृहत् कारखाने में
जो निज उन्नत कठिन योजना के हित
निशि दिन रहता है कार्य में अभिनिरत,
'उसने' उसके छंदोमय अंगों को
सूक्ष्म-'काल' में ढाल किया फिर निर्मित।
तब जाकर परात्पर का वह जादू
यहां अचानक अब हो सका अवतरित:
औ' प्रभु की आवृत निष्कलंक-'महिमा'
तब जाकर कर सकती चाव से चित्रित,–
निज सपनाए भावी के चित्रों के
चरमातिचरम सुषमा के नकशे को,–
जो जीवन के गुह्य गर्भ में अब तक
प्रसूति-पीड़ा में था पड़ा प्रयत्लित।
और विश्व-सौंध के सुशीर्ष मुकुट ने,
'भू'-'दिव' गठबंधन के इस रहस्य ने
ऊपर से लाकर दिव्यता को यहां
जोड़ दिया था इस मर्त्यायोजन से।
अब उत्पन्न हुआ 'ऋषि' एक भूमि पर
उतरा ज्योति-'अतिथि' इस धरा-काल में।
उसके लिए मनस्-नभ की सीमा वह
अब ऊपर होकर बन्द रह गई थी,
'रात्रि'-'दिवस' रूपी और गरुड़ बदनी
उस अग्रिम सीमा के सर्व-निगोपी
गुम्बद में एक दरार पड़ गई थी।
सत्ता के सारे सचेत छोर आज
लुढ़कते हुए पीछे चले गए थे,
औ' नगण्य मानव-व्यक्तित्व के सभी
सीमा के बंधन नष्ट हो गए थे,
और अहंता का क्षुद्र-द्वीप जाकर
अपने महाद्वीप के साथ जुड़ गया,

तथा संकुचित मर्यादित आकारों वाली दुनिया का अतिक्रमण हो गया,
टूट गए जीवन-प्रतिरोध और सब, उनका प्रवाह 'अज्ञात' में खुल गया।
और धारणा की अब सारी शर्तें टूट गईं औ' जैसे रद्द हो गईं;
सतत गुलामी के हित लगी दफाएँ पिछली सब की सब निर्मूल हो गईं,
जीव के साथ अचित् 'प्रकृति' की सारी पूर्व संधियां अब थीं भंग हो गईं।
औं' सारे धूमिल प्रतिबंध हट गए मन का टूट हिरण्मय पिधान गया,
होकर निर्भित्ति सत्य ने अब अपने भेंट पुनः असीम विस्तार को लिया,
जाग्रत हुई दिव्य दृष्टि एक जिसने शुरू जानना लखना सत्य का कि ज्यों
सीमित मन निस्सीम प्रकाश बन गया,
क्षुद्र-सांतता ने निर्मुक्त भाव से 'अनंतता'-आलिंगन आज पा लिया।
अब आध्यात्मिक कूच अश्वपति की औ' लगी ऊर्ध्व में गरुड़ उड़ानें भरने।
'अज्ञान' की महा प्रयोगशाला की उमीदवारी से निकाल प्रज्ञा ने
निज शिल्प का उसे आचार्य बनाया,
औं' आत्मा का मुख्य स्थपति बनाया,

सर्जनहार एक 'देव' गूढ़ गृह का
और परम 'कालातीत' अभीप्सा का इक अभीप्सु रसरागाचार्य बनाया:
अब स्वतंत्रता औं' साम्राज्य ऊर्ध्व से उसके ढिग स्वाभाविकपन से आया,
मन की सांख्य-ज्योति के औं' जीवन की
तारा खचित रात्रि के भी ऊपर से
आनेवाले आध्यात्मिक दिन का यह बालारुण निज शोभा ले प्रकटाया।

ज्यों ज्यों विकसित होता गया अश्वपति निज विशालतर आत्मा के शासन में,
त्यों त्यों पड़ती गयी शिथिल मानवता, उसकी पगगति के स्वरूप-सर्जन में,
बस एक महत्तर सत्ता ने देखा था अब एक महत्तर जग को अपने।
जीवन की प्रतिरक्षा-रेखाएँ जो
खींची गईं तर्क से, और जिन्होंने मन को खुलकर उड़ने से रोका है,
औं' 'अनन्त-सागर' में डुबकी लेने से आत्मा को बढ़कर नित टोका है,
उन रेखाओं को अब उसका निर्भय ज्ञानातुर संकल्प मिटा सकता था।
उसकी आरंभिक चापों ने ही बस तोड़ा लघु-पार्थिव-सीमाओं को था,
एक मुक्ततर, उन्नततर, सुबृहत्तर वातावरण में आज वह रमता था।
यों रूपांतरकारी 'महा-शक्ति' के द्वारा पोषित निज सशक्त हाथों से,
अन-उपयुक्त बनी मानव के भीतर
सोती पड़ी हुई सी सुशक्तियों को उठा लिया था उसने यों हलके से,
मुद्रित, गुप्त गुफा में इक औंवाले पड़े हुए निज महाधनुष को जैसे
असुर उठा लेता स्वाभाविक ढंग से।
उसने चमत्कार को अब जीवन का साधारण एक कर्म था बना दिया,

औ' उसको दिव्य कार्य के इक दैनिक कार्य भाग का बना सहज अंग लिया,
और प्रयत्न, जिन्हें करने में मानव
का अंतर-बल टूट फूट जाता है
वह उस उच्च भूमिका पर उसके हित शोभा-भव्य साहजिक कर्म बन गया,
ध्येय, जो बहुत ही उच्च हैं 'प्रकृति' के
दैनिक-संकल्प से वरे जाने को
वह उसके द्वारा इक शाही ढंग से संचालित होते थे अति सरलतया:
उसके पास एक के बाद एक सब आत्म-सिद्धि के रत्न चले आते थे,
वे अब उसके जीवन के नक्शे थे और बने एक विशेषाधिकार थे।
शुद्ध बोध-क्षमता, सीधे उसमें इक आलोकित आनंद उँडेल रही थी,
जिसकी सत्य-दृष्टि ने नहीं बैठकर बाट विचार की कभी भी जोही थी।
जिसने निखिल-'प्रकृति' को अपनी विस्तृत एक अकेली चितवन बीच भर लिया,
जिसने कि वस्तुओं के असल मर्म को उनकी आत्मा में पैठ था पढ़ लिया,
आकारों के इन छलिया-वेशों से छले गए बिन आत्म-स्वरूप लख लिया।
उसने देख लिया जो कुछ कि पड़ा है प्राणी के भीतर उससे अनजाना,
पकड़ लिया मन के विचार को था अब औ' अंतर की इच्छा को पहचाना,
औ' मन्तव्यों को जो छिपा धरे हैं मानव ने बस अपनी ही आंखों से,
लाया उनको खोज खोज धुंधराई निगूढ़ता की अभिगोपित पर्तों से।
अन्य व्यक्तियों के जीवन की धड़कन
अपने सुख दुख के झोंकों को लेकर उसके ऊपर हमला करती आती,
उसके सुस्थिर शांत-सिंधु में उनकी अनकह आशाओं औ' क्रोध, प्रेम की
धाराएँ हर हर करती आती थीं या कि उर्मियों समान थीं उमड़ाती।
यही नहीं वह स्वीय विचारों की भी
प्रेरित-वाणी को औरों के मानस -गुम्बद में प्रतिध्वनित बनी सुनता था,
विश्व-विचार निर्झरों को सम्मुख से ही अब वह आते जाते लखता था;
उसकी अंतरात्मा विशाल बनकर
अपरात्माओं की निकटस्थ बनी थी;
सजातीयता भार सहन करता वह आपसके बंधन में बंधा हुआ था,
फिर भी अस्पर्श्य ही बना रहता था खुद निज स्वराट् था, और अकेला था।
इक जादूई समवादी-स्वर ने अब
आकाशी संगीत के स्वरों के सँग
पृथ्वी की वीणा के जीर्ण तार सब उसकी खूंटी कस कस कर मिला दिए,
जिसने मन, प्राण के करण सब ऊपर
उठवा कर आत्मा के समवेदन में सुखिया भागीदार सतत बना दिए,
नाड़ी और नसें एक सूक्ष्म-ग्राही तन्तुजाल में रूपांतरित हो गईं,

जो आह्लाद तथा प्रकाश दोनों का
इस प्रकार तन के उपकरण, इन्द्रियां
स्वर्गिकतर कार्यों ने इक सुन्दरतर
तौर तरीके से निज शाही ढंग में
इस मानव की बाह्य पार्थिवता को
अब आत्मा के गभीरतर कोशों का
अनुभव 'जड़ता' के तमसिल प्रभाव की
रखती है जो आत्मा को बरका कर,
लगती जो बाहर से निद्रा मग्ना

इक रहस्यमय दिशि को द्योतित करता
'जड़ तत्त्वों' के शक्ति उपादानों से
जिससे इन्द्रिय-अग्राह्य वस्तुओं का
और सुनीरव आत्मप्रदेशों में अब
इस प्राणिक औ' भौतिक बाह्य मनस् से

दीप्त अनाविर्भूत स्वर्ण देशों में
जहां कि वह सारा अप्राप्य जगत् ही
अब आंखों के सम्मुख प्रकट हुआ था
औ' जीवन ने जिसकी इच्छा की है
अब 'प्रभु' के हर्षातिरेक की मधुमय
मृत्यु रहित रूपश्री से इक मंडित
देखा उसने 'पूर्णदेवताओं' को
जीने लगा भूमिका पर उस उन्नत
एक मनोमय चिदाकाश की अब वह
औ' इक आकाशीय 'शक्ति' के द्वारा
फिर तब तक 'शाश्वत' की ऊर्जाओं के
जब तक कि देवता के ही स्वभाव में
छिपे हुए औ' प्रच्छन्न प्रांतरों पर
मानस-दीवारों से सुठि अभिविरचित

अंतर्दृष्टि के गवाक्ष खुल पड़े थे।
वह अविभक्त-'काल' के शाश्वत गृह को
औ' तन के मांसल भारी परदे को

इक कोमलतर माध्यम सुखद बन गई,
आत्मा की पूत-पुजारिनें बन गईं।

इक शाश्वत-प्रकाश में दीप्त कराया,

बेहोशी में सुप्त नहीं रह पाया।
जड़ता की उस दृढ़ पाषाण भीति में,
ऐसी निगूढ़ता के अंतस्तल में,
उस चेतन मन से पर परालोक में

निर्मित इक पाषाणी द्वार खुल पड़ा,
शोभा-आकर सम्मुख प्रकट हो उठा :

अनदेखा अनजाना जगत् जग उठा।
और गुह्य कक्षों में स्वीय बैठ कर
लगा अश्वपति आज देखने बाहर,

जिसे कभी इस मन ने सपनाया था,
और कल्पना नहीं सत्य लगता था,
वह सब आया हुआ निकट लगता था।
हृदय धड़कनों में आनंदस्पंदित,
'शाश्वत'-शांति भुजाओं में आलिंगित,
लोकों के तारक भवनों में निवसित।

जहां कि विचार जन्म ग्रहण करता है,
सत् संकल्प जहां पोषण पाता है,
शुद्ध श्वेत दुग्ध का पान करता है,
विकस पनप कर नहीं पहुंच जाता है।

उस 'साक्षी' के सूक्ष्म, गुह्य कक्षों के
निगुप्त पड़े हुए नीरव स्थलों में

आज रख सका अपना पुनः बना कर।
सबल खींच कर खड़ा हुआ वह जाकर

होकर खड़े विलोका औं' फिर दीपित
सुनने लगा अभूतपूर्व अनजानी

फिर छूछी नीरवताओं में घूरा
'परालोक' से आती पग चापों की
और सुनी इक निगुह्य स्वर-लहरी औं'
फिर अवलोकी वह निगुप्त-आनन-छवि
और आंतरिक गुप्त-भूमिकाओं ने
वे विचित्र शक्तियां तथा प्रभाव वे,
धरा-भूमिका से उच्चतर भूमिका
और दीप्ततर क्षेत्रों औं' गगनों से
उतरीं पराचेतनाएं जो निज भू
और शरीरी, जो इन स्थूल शरीरों
औं' पदार्थ, ऐसे जो अपनी ऐन्द्रिय
और कर्म, जो उस अतिमनस् ज्योति की
अतिचेतन शक्ति के अजस्र स्रोत से
औं' आनँद-धारा, जो कि मर्त्य-अंगों
सुन्दरतर दृश्यावलि और सुखीतर
सौंदर्य और आनंद के बोध ने
और स्वयंभू कोई सत्य ज्ञान ने,
शंकाकुलित बोध का स्थान ले लिया,
खण्डित राग-भाव को नष्ट कर दिया
औं' संपूर्ण प्रकृति को निज बाहों में
और यह मनस् सब आवृत-लोकों से
सुचमत्कारिक आकारों, रंगों में
स्वर्गीय सुगन्धि नासिका रन्ध्रों में

उसकी श्रवण शक्ति एक चमत्कारी

जिसे धरा के कान न सुन पाते हैं
सुषुप्त पुरुष चेतना के अभिगोपित

जो बिन पहचानी इस उपरि-चेतना
जो इक सहज-हृदय औं' गूढ़ इन्द्रियों

संजग सर्परक्षिता एक डेहरी पर
अंतविहीन सुविस्तृत सम्पन्थों पर,
सुअतिथियों की चापों की आहट वर
नीरव अंतर में अपने चुप रहकर।
औं' स्वप्नातीता दिव्य-भावना की,
ध्वनियां उसके कानों ने अनुहारीं,
परावाक्, सब कुछ की जाननहारी,
जो है हममें सबसे अधिक हमारी।
खोल दिए सब स्फटिक द्वार थे अपने;
लगे प्रभावित जीवन को फिर करने।
की इक क्रांत-दृष्टि अब नीचे उतरी,
एक चेतना अपनी भू पर निहुरी,
से थीं कम सीमित जीव-धारियों की,
से थे ज्यादा स्थायी, सूक्ष्म-शरीरी
ग्राहकता से थे सुष्ठुतर जाति के,
उमंग में स्पंदित, संपादित होते।
संचालित हो रही क्रियाएँ देखीं,
में न कभी पहले उमगी, मचली थी,
जीवन-चर्या, जो न यहां खेली थी।

आकर इस मानवी विभाजनकारी

घसीट कर अब छाती से लगा लिया।
मिलने के हित ललचा और झुक पड़ा,
सारा समां झलमला डबडबा उठा।
लगी सुगन्धि-वैभवों को बिखराने,
स्वर्गिक मधु जिह्वा पर रिसने ढरने।
श्रुति का अहरह बहता स्रोत बन गई,
और विश्व-लय की इक नहर बन गई,
ऐसे गूढ़ नाद का क्षेत्र बन गई।
पथ से रहस्य-ध्वनि एक उठ रही थी
जो उस तलशायी ऋत की वाणी थी,
के नीचे चुपचाप है बहा करती,
के द्वारा ही जाकर साधी, पकड़ी,

उस सर्वज्ञानी नीरवता में ही
और चेतना ने अब उसकी जैसे
मूक और मुद्रित निगुह्यताओं के
और अधूरी भू की अभिलाषा को
और अभी तक यहां असिद्ध-स्वर्ग के
इस प्रज्ञाघन की जाग्रत् 'निद्रा' में
जो कुछ छिपा पड़ा है, उस सब कुछ को
एक निरंतर नाटक जो कि 'काल' के
उस दीर्घश्रावी-प्रवाह के ऊपर
जो प्रवाह इस जग की असमाधेया
शंका को छाती पर ढोता अपनी
जहां अनिद्र-सुखों का मत्त हास्य इक
और कामना-मर्मर जो अमर्त्य है
वहीं अश्वपति को जग के अब भावी
उसकी जिजीविषाके संकल्पों का

इस शून्याकाश में कूद आत्मा ने
कैसे वह महान् यात्री, जादूई
औ' प्राणिक सत्ता के द्वारा श्रम कर
कैसे स्वीय-जन्म के गूढ़ अर्थ औ'
उच्चात्मिक समवेदन के आनँद को
याद पड़ी सब जीवन उपहारों की
मधु-मधुता से उसको मिलनेवाली
उसका दीर्घ निश्वसन, नाड़ी तपकन,
याद पड़ीं पीड़ाओं की टीसें औ'
बरबस आए आनँद के झोंके से
नानाविध रागावेशों के मंथन
अश्रुतपूर्व ध्वनियों की गुनगुन फुसफुस
जो छा तो जाता है मनुज हृदय पर
वह अब बटुर बटुर औ' उमड़ घुमड़ कर
अरे, वही था यह जो अज्ञ बना-सा
और था कि जो नवल जन्म लेने को
वह माधुर्य, यहां जिसका न कभी भी
औ' वह सुन्दरता, जो कभी न भू पर
बधिर मर्त्य-श्रुति को नितान्त अश्रुत सी

जा सकती है केवल सुनी औ' गही!

बहते सुसंगीत को पकड़ लिया था,
उसने वाणी का वरदान दिया था,
गीतों का आश्वासन व्यक्त किया था,

लाकर उसने बाहर प्रकट किया था।

अहरह अविरत होता घटित जा रहा

ध्येय-हीन यात्रा में बढ़ा जा रहा;

हरहर झाग उड़ाता बहा जा रहा;
-आनँद का जैसे इक नाद सुन पड़ा,
सब महिमा औ' माहात्म्य था खुल पड़ा,
और अश्वपति को सब स्मरण हो उठा,
कैसे है महान् जोखिम को झेला,
-शताब्दियों में होती चली आ रही,
इस 'जड़' जग में कैसे बढ़ी जा रही,

बिना विराम खोजती चली आ रही,–

एक तृप्ति, औ' सुसंतोष का स्पंदन,
आशा औ' भय में सिहरन औ' कंपन,
हर्षों तथा अश्रुओं का आस्वादन,
अन्तर में उठते तीखे परिस्फुरण,
औ' अंतहीन पीड़ा की इक सुबकन।
का इक शब्द कान में था अब आता,
पर प्रवेश को वहां गवाक्ष न पाता,
इक नन्हें से गायन बीच भर गया,–
जीने के हित है नित कष्ट झेलता,
एक व्यर्थ के श्रम में है लगा हुआ,
मानव रसना सुस्वादु ले पाएगी,
स्वीय जन्म को धारण कर पाएगी।
विशाल विश्व-छन्द-तालों ने आकर,

परम शक्तिशाली भीषण गायन को
जिसके सँग तुक-भार मिला लेने को
जीवन रह जाता था यहां तरस कर,
उसे चेतना के साथ था बुन दिया,
निस्सीम गीत-सागर में ससीम की
एक एक सीमा को घुला घुला कर
अनन्त के स्वर में सान्त को मिला कर,
अभिनव एक थाट राग का चुन दिया।
अब अवचेतन की गहन गुफाओं से
एक बुदबुदाहट गूंजने लगी थी,
जो आदि-अज्ञता की तुतलाहट थी,–
उसके अटपट प्रश्नों के उत्तर में
अब ज्योति-कंठ, विद्युत्-पंखविहंगिनि
दीपित एक गिरा धरती पर निहुरी,
जो उस 'अकथनीय' की दिव्य-ऋचा थी,
परचैतन्य ज्योति का विजय-स्तोम थी।
ऐसी उन्नत मनोदशा में उसकी
वह सब कुछ अब होकर व्यक्त पड़ा था,
जो न अभी हो सकता व्यक्त यहां था,
क्रांत दृष्टि औ' स्वप्न तो कथा थे इक
जिसे सत्य ही निज मुख से कहता था,
या कि वास्तविकता से अधिक वास्तविक
और प्रमाणित वे कोई प्रतीक थे,
या खुद पराप्रकृति की मुद्रा द्वारा
हुए प्रवर्तित आ कर महा सत्य थे।
अमर शक्तियां उसके ढिंग नियराईं
औ' उसकी आंखों में आंखें डालीं,
तथा लोक लोकांतर की सत्ताएँ
उससे खिंची चली आईं औ' बोलीं,
और सततजीवी पितृलोक वासी
जिनको हम मृत जान समझ बैठे थे,
वे जन्म और मरणातीता अपनी
महिमा का भी परित्याग करके अब
निज उन्नत वाचातीता प्रज्ञा को
उसके हित मानों प्रकट कर रहे थे।
शुभों और अशुभों के राजाओं ने
न्यायी विवेक के सम्मुख प्रार्थी बन,
एक दूसरे ने अब निज विपरीती
धर्मों का था किया खुला प्रख्यापन;
अब दोनों ने ही अपने को 'प्रभु' का
अधिवक्ता करके जाना माना था :
ज्योति के सुरों औ' तम के असुरों ने
इक बहुमूल्य पुरस्कार सरिस उसकी
आत्मा के हित ज्यों झगड़ा ठाना था।
और 'काल' तरकश से घटिकाओं के
शर यों छूट रहे थे जैसे बहते
नव-शोध के गीत की सुझंकार हो,
और धनुष प्रत्यंचा मिस टंकरता
एक युवा-प्रयोग का सुख-गुंजार हो।
बस प्रत्येक दिवस मानों अंतर से
उमड़ रही आध्यात्मिक मृदु-लीला था,
इस प्रकार उसने ज्यों नई प्रदीपित
जगती में अब फिरसे जन्म लिया था।
साहस उसमें आ यों अचक कूदता
आ पहुंचा अप्रत्याशित कि मित्र हो,
जोखिम, इक सुख-अनुभव यों लाता था
कि उठ रही मृदु हुंकार हर्ष की हो :

एक-एक जीवन घटना अब जैसे
उच्चस्तरीय सुसमागम होते थे
महाकाव्य के काव्यात्मक स्तर पर ही
औ' सम्मतियां स्वर्गीय गिरा में से
हर्षातिरेक के दिव आह्वानों पर
मधुमिश्रित विनतियां किसी अनदेखे
सौंदर्य प्रदेशों से मीठे मोहक
आनन्द लोक से हर्षातिरेक के
यह आनँद, विस्मय का साम्राज्य था
और सूक्ष्म इन्द्रिय की स्पर्श-तीव्रता
महती अनजानी नवल-वस्तुओं की
नई अपार्थिव-सन्निधियों की जाग्रत्
बन, उसकी बोध-शक्ति अग्रहणीया
औ' रहस्यमय इक द्वारोन्मीलन की
क्रांत-दृष्टि की विद्युत्-ज्योतियां निकल
यही नहीं अंतर्दृष्टि औ' चेतना
जो व्यापक से व्यापकतर बनती औ'
अब 'जड़ता' के शासन की सीमा से
नांघ चुका था वह सीमा भी कि जहां
प्राण-भूमिका के साम्राज्य की जगह
आज प्रतीकों वाली इस दुनिया से
पहुंचा था नीरव साक्षि-चेतना में
और वहां से उस पार के अनामी
ये प्रतीक आकार जहां पर अपना
मनुज-बोध से पकड़े जानेवाले
और वहां तन के स्पर्श से न बिलकुल
चितवन का अंदाज न केवल जा कर
नीरव, निश्चल मनोदशा के विरले
बह कर सकता था आरोहण उठकर
जहां अरूप-पदार्थ से ठसाठस भर
सब जगती उस केवल सत्ता के ही
और एकता के प्रकाश में ही बस

'परात्पर' की चितवन ने ही मानव
सभी प्राणियों में औ' सब द्रव्यों में

अंतर का मार्मिक प्रतीक-अनुभव हो।

जहां वार्ताएं चलती रहती थीं,
ही अपने सब इंगित अनुसरती थीं,
अंतर को स्फूर्ति कला सिखलाती सी,
निगूढ़ ओष्ठों से श्वासें लेती थीं,
आकर्षण चुपके चुपके आते थे,
उफान से उठ उठ कर छा जाते थे।

द्रव्यों का अंतःस्वन सुन सकती थी,
सुखानुभूति उसे स्पंदित करती थी।

अनन्तताओं को उत्तर देती थी,
मीठी और एक रजतिम ध्वनि के सँग
अदृश्य के सागर में जा कूदी थीं।
भी उसकी दिन दिन थी बढ़ती जाती,
ऊंची ऊंची उड़ान भरती जाती,
वह बिलकुल ही बाहर चला गया था,

मनोभूमिका का शासन छाया था।
इकदम छुटकर ऊपर आ पहुंचा था,
जहां कि जग का अस्तित्व ही नहीं था,
इक विराट् को अब वह निरख रहा था।
जीने का सब अधिकार खो चुके थे,
सब इंगित औ' संकेत मिट चुके थे।
अंतर में कुछ स्फुरण कहीं जगता था,
बाह्य स्थूल सौंदर्यों पर गिरता था।
उन ज्योति जगमगे अवकाश क्षणों में,
अब उन्नत लक्षणविहीन क्षेत्रों में,

आलिंगन में लिपटी हुई पड़ी थी,
सकल वस्तुएं समझीं लखी गईं थीं,
आत्मा ही बस खुद अपना साक्षी थी।
चितवन से था अब जैसे अवलोका,
सब कुछ में अब अपना स्वरूप देखा,

औ' सारे विचार में औ' वाचा में अपनी ही वाचा का पाया लेखा।
जहां एकता के खोजने भेंटने को न शेष अब कुछ भी अंतराल था,
प्रेम जहां 'एकम्' में खो जाने की 'एकम्' की ही अभिलाषा विशाल था,
औ' सुन्दरता 'उसकी' ही इक मोहक विभिन्नता की कि अंतरावस्था थी
और एकता बहुत्व की आत्मा थी।
जहां पहुंच कर सारे सत्य बस उसी एक परम सत्य में समा जाते थे,
जहां विचार एक में एक जुड़े से चरम 'वास्तविकता' में मिल जाते थे।
जहां कि वही केवला-शब्दविहीना,
परमा-प्रज्ञा, अपनी अवधिविहीना
-आत्मा से ही निज को जानते हुए,
अपनी सर्वदर्शिनी, ध्रुव, सर्वोपरि
साम्राज्ञी, उस शाश्वत 'महा शांति' में अद्वितीय बन रहती है आसीना।
और जहां पर ज्ञान के लिए, अपनी
'दिव्य गिरा' का आशय प्रकटाने को शब्दों की कुछ भी दरकार नहीं है,
अपितु गिरा निस्सीम अनन्त में वहां
थक कर निर्निकेत-अमरत्व से स्वयं अपने लिए एक घर ढूंढ़ रही है,
पर, तक्षित, जगमगित विचार-कोठरी में तो वह विरमाना नहीं चाहती,
जहां से कि द्रव्यों को लखने वाली
एक संकुचित एकाकी खिड़की से
'ईश्वर' के इस विस्तृत महाकाश का नन्हा वृत्त-चाप ही है लख सकती।
मिल असीम ही है असीम से सकता,
और वहां जब तक भी कोई ठहरे जग से भी विशाल बन कर रह सकता,
और वहां जब तक है तब तक अपनी अपनी अनन्तता को है रख सकता।
बस अब यह मन उसका केंद्र नहीं था
क्रांतदृष्टि इक नीरवता ने जैसे उसके अंग अंग को पूर लिया था:
अब ग्रहीत बन कर वह शांत सुनिश्चल
शुद्धाविर्भाव की अमल आभा से
उस दर्शन में पहुंचा दिया गया था जो रूपों का अतिक्रमण कर जाता,
उस जीवन में पहुंचा दिया गया था जो सारे जीवन को उलांघ जाता,
औ' वह सब कुछ धारण करनेवाली पराचेतना के ढिग जा पहुंचा था।
वाणी, वह जो कि बोल कर ही केवल मन को स्फुरित अभिद्रवित कर सकती थी
वह उस स्थान पर पहुँच अंतरात्मा का इक नीरव प्रज्ञान बन चुकी थी,
और शक्ति जो कर्मों में ही केवल स्वीय सत्य का अनुभव कर सकती थी,
वह आकर अब उस सर्वशक्तिशाली मौन शांति में चुपचाप बस गई थी।
लोकों के भ्रमते श्रम-चक्र में यथा विराम सुख ने एक प्रवेश किया था,

सतत शोध की खुशियों औ' कष्टों में
जिससे कि 'प्रकृति' की संघर्षावस्था
सुविशाल एकमतता के द्वारा अब
वह विचार-युद्ध जो कि जगत्-जनक है,
जो आघातों के आग्रह के द्वारा,
वैसे ही उडु में कर ज्योति-प्रकाशन
और दिशाओं में इक अंडवृत्त पर
फिरने वाली लीकों की रेखाएं

यह सब कोल्हूचक्र अश्वपति के अब
और 'काल' के महा-स्रवण के भीतर
दुर्धर्ष वासना-बल के कार्यों की
जो पृथिवी के सब कूड़े कचरे को
औ' कीचड़ कांदो को ले ले कर जो

'प्रकृति' -क्षुधा का तोषण करनेवाली
जो उन्मत्त सिसृक्षा से है अपनी
औ' अदृष्ट विधि, जो कि पराजय द्वारा

औ' वह दुखान्त जो है अपनी लंबी
और 'प्रेम' का रोदन औ' 'देवों' का
अपने प्रकाशजीवी सत्य में पहुंच.

तनिक चैन का ठहराव आ गया था;
को 'प्रभु'-प्रशांति में खींच थिर कर दिया।
जीवन विवाद का था अंत हो गया।
और शक्तियों के वे प्रतिसंघर्षण,
जैसे करके इक रजकण का सर्जन,
जीने का प्रयत्न करते रहते हैं,

जिन पर जगत्-कामना के अन्वेषण
फिर फिर अपने हल जोता करते हैं,
सम्मुख से जैसे कि समाप्त हो गया;
फिर फिर आने वाले दीर्घ प्रतिस्रवण
दुःसह पीड़ाओं का अतिशय छेदन,—
है गतिशील और सक्रिय बनवाता,
सुव्यक्तिता का नव निर्माण रचाता,—
इन सबको अपना चिर सत्य मिल गया,
मानव के शोकों की घायल मस्ती,
दुःख-अग्नि के द्वारा सर्जन करती,
पुण्यों को एक दंड देती रहती,—
इन सब पहेलियों का अंत हो गया;
सुख परंपरा को विनष्ट कर देता,
कलह जो चला करता सतत घसिटता,
इस विपरीत दिशा का अंत हो गया।

अब उसकी आत्मा इकदम विमुक्त थी,
केवल साक्षी थी, एकछत्र नृप थी।

इक घटना से किसी अपर घटना तक
ऐसे दौड़ा दौड़ा फिरता रहता
वहीं, कालवाही इस अतिप्रवाह में
और चैन से अब अविभाज्य सनातन
जैसे दूर पूर्व की लिखी कहानी
अपने वर्तमान में उसने अपने
और एक पल में अनगिनती वर्षों
औ' घंटों को यों देखा कि पृष्ठ पर

और जहां मानव-मन सतत-उबर कर
जैसे कोई तिरता हो तख्ते पर,
आज अश्वपति डूब नहीं पाता था,
-'काल' क्षेत्र में बसा हुआ लगता था,
सम्मुख जिसका अब अभिनय होता हो,
अतीत औ' भविष्य को आ पकड़ा हो,
का जैसे लेखा आज ले रहा हो,
विराम चिह्नों को अवलोक रहा हो।

इस अज्ञात 'सत्यता' के पहलू से
विश्व-दृश्य का मतलब ही बदल गया,

यह विशाल जड़ जगत् किसी इक महती
भीषण, बृहत् शक्ति का इक नन्हा सा
औ' नगण्य सा परिणाम भर रह गया:
अब शाश्वत 'किरण' ने काल पर अपना
कर अधिकार वह सभी कुछ प्रकटाया,
जो अब तक था गया नहीं निरमाया।

औ' विचार अपनी इक शब्दविहीना
उच्चावस्था में चुपचाप पड़ा था,–
श्रमश्लथ और वह विचारक विशाल बन
औ' विकसित बन अब मौन रह गया था,
और परात्पर प्रज्ञा ने समीप आ
उसके स्पंदित उर का स्पर्श किया था:
उसकी अंतरात्मा अब विचार के
दीप्त सींखचों को उलांघ सकती थी,
कूलरहित शाश्वत सिंधु में उतरने
से मनस्-शक्ति रोक न रख सकती थी।
धीरे धीरे पीछे सरक रहे से
इक शून्याकाश के पार अब उसने
डूब रहे तारों की इक आखीरी
चमचमान औ' बिछलन के भीतर से
देखा परात्पर चेतना विमंडित
अचल शांतिमय सुविशाल प्रदेशों को,
जहां पहुंच फैसले विफल हो जाते
और शब्द जाते हैं जहां मौन हो,
तथा 'अचिन्त्य' जहां बन मार्ग रहित सा
नितांत एकाकी विराम करता हो।
जहां न कोई रूप कहीं आता था
और न ऊपर आती कोई वाणी,
वहां सघन इक 'नीरवता' छाई थी
और 'निरतिशयता' इक परम अजानी।
औ' उस छाई हुई शान्त-थिरता से
नवजात एक मन था जैसे जागा,
और अभी तक अनभिव्यक्त थे ऐसे
सत्यों में रहता था पागा पागा।
प्रकट हुए आकार और ज्यों लेकर
मूक भाव से अंतर अर्थ सुन्यारा,
इक पश्यन्ती विचार शक्ति जगी औ'
एक 'परावाचा' ने शब्द उचारा।
देख लिया उसने उस आत्म-स्रोत को,
उसकी आत्मा प्रकट हुई कि जहां से,
और हो उठी जगत्-क्रिया सुविवाहित
जैसे अब अपनी निश्चल 'भूमा' से;
अपनी सब मूलों को मग्न कर दिया
अब उसने ले जाकर 'अनंतता' में,
और लिया आधार बना बस अपने
जीवन का उसने अब 'शाश्वतता' में।

केवल तनिक देर ही टिक पाया वह
पहले उस स्वर्गिकतर मनोदशा में,
और दीर्घकालिक विशाल संतुलनों
की उड्डीयमान ऊर्ध्वावस्था में।
क्योंकि देह की पाहनवत् अविचलता
प्राणों की मौन समाधि की अवस्था,
अंतःरुद्ध-श्वास की सघन शक्तिता
नीरव-मन की शांति और सुस्थिरता,–
यह सब उन्नत ज्योतित दबाव सारा
बहुत शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो जाता,
या धीरे धीरे करके मिट जाता
जैसे स्वर्णिम दिवस अस्त है पाता।
उन्हीं पुराने बचकाने कार्यों औ'
भेदों में बस जीने के अभ्यासी,
मानव करण शांति से थक जाते वे
अहरह निम्न भूमिकाओं के वासी।
बस स्वाभाविक उन निम्न वृत्तियों पर
चलने की इक बीमारी जग जाती,
उन्हीं सुपरिचित नन्हें व्यक्तित्वों में
पुनः लौटने की चाट लौट आती

उन्हीं पुराने औ' सीमित ढर्रों पर
जैसे शिशु जब चलना सीख रहा हो
बस उत्कर्ष से पतित होना ही है
ये प्रवृत्तियां उसके उद्गमनार्थी
और हृदय की वेदी पर से उसकी
अवचेतन सूत्रों की वही पुरानी
औ' जिज्ञासा-शिथिल अंतरात्मा को
या तो मंद गुरुत्वाकर्षण की इक
शक्ति हमें फिर से नींव के हमारे
वह 'चाणक्यराज' इस अधःपतन का
और पतन को पहले से महानतर
क्योंकि अरे इस अपनी अज्ञ-प्रकृति के
और मर्त्य-जीवन की अर्ध व्यवस्थित

तो उसकी 'छाया' के साथ साथ ही
वह अरूप 'शक्ति' और चिर प्रकाश की
ये जुड़वा द्वैत जो कि आदि काल से
इस तूफानी ऐन्द्रिय साम्राज्य में
बस वह अनजाने ही उतर हमारे
औ' इस तमसिल पर्दे के पीछे से
बस यह सूक्ष्म तथा सर्वज्ञ अतिथि औ'
जब तक अंग अंग आवश्यकता वश
यहां सभी को अपने इस उन्नततर
तन के कोष कोष को अरे 'अमरता'
और नहीं तो बस आत्मा ही केवल
और अर्द्ध-रक्षित जगती यह यूं ही
बिना सफलता की आशा के अविरत
और दिशाओं में यह धरा हमेशा
बस इस भीषण महासृष्टि का सारा
जब तक आखिरकार न हताश होकर
उसकी देवोपम 'सुशक्ति' को भी पर
योगी नृप की भी उच्चतर चेतना

और विवश बाह्य मनुजता अब फिर से
उसी पुरानी उच्च चेतना के सुठि

चलने की एक बान है पड़ जाती,
नहीं देर तक है चलता रह सकता,
मानव की नैसर्गिक आवश्यकता,
भीषण संकल्प का स्थान ले लेतीं,
पूत अग्नि ज्वाला है बुझने लगती।
कशिश कि जैसे फिर ताजी हो जाती,
फिर ऊंचे से नीचे घसीट लाती,

अंध विवश तमस् में खींच ले जाती।
भी लेकिन सदुपयोग कर लेता है,
उन्नति का साधन बनवा देता है।
झंझा झकझोरे धूसर-प्रदेश में,
महा अव्यवस्था के विकृत-वेश में
जब यह आत्मा यहां उतर कर आती

'पुरुष चेतना' भी आती पछुआती,
एक बने हैं अलग नहीं होते हैं,
जो आकर खुद निज निवास चुनते हैं।
इन्हीं अंधतर अंगों में छिप जाता,
निज उद्देश्यों का विधान रचवाता।
नेता, तब तक यहां छिपा रहता है,
रूपांतर का न संकल्प करता है।
विधान पर चलना सीखना पड़ेगा,
की शुचि ज्वाला से परखना पड़ेगा।
अपने उच्च स्रोत तक पहुंच सकेगी,
ढोती संदिग्ध नियति को घिसटेगी।
यहां 'प्रकृति' श्रम करती पड़ी रहेगी,
असहाय सी घूमती फिरा करेगी,
ध्येय निरंतर असफल ही जाएगा,
अपूर्ण ही रह विश्व डूब जाएगा।
चढ़ने के हित गिरना आवश्यक है:
भीतर खिंच कर अंतरधान हो गई,
ग्रहणग्रसी सी मानो मंद पड़ गई,

अनुभव के पाने को विकल बन गई,

मात्र सुरक्षा के उन्नत स्पर्श को
औ' निज दुर्निवार आवश्यकता, उस

और सदा ही अब अंतर में उसके
या धीरे धीरे उसकी छाती में
उसकी शक्ति पुनः अपनी सुधिआई
या जिस चोटी से कि गिरी थी नीचे
प्रत्येक बार जब गिर कर उठता था
और उच्चतर आत्म भूमिकाओं पर
औ' 'प्रकाश' उसके हृदय में पूर्व से
बस पृथिवी औ' स्वर्ग बीच चलती इस
वाचातीत आपसी सहयोगों से
उसकी आत्मा पूर्णत्व की सुमहिमा
कला कला कर बढ़ते हुए चन्द्र की
और अनन्य व्यक्तिता के सँग सँग अब
औ' आनन आनन से उठी दृष्टि में

जिसने वस्तु वस्तु पर संकुचित, सीमित
मानव-बल औ' भगवत्-निर्मित 'विधि'के
इस मानव की खण्ड खण्ड सत्ता को
इस प्रकार इक दृढ़ आत्म-संतुलन से
औ' शाश्वत की सुभूमिका पर जाकर
एक 'महा नीरव' औ' 'किरण-ज्योति' में

उसकी सत्ता की सब अद्रि-शिखाएँ
औ' मन की गति परात्पर प्रदेशमें
औ' निज शिखर-दृष्टि से इस पृथिवी की
जहां कि 'दिवा'-'निशा' की मंद-अंक में
जहां कि लीला-कामी-सुसनातन ने

ऊपर की उन शांत भूमिकाओं औ'

उसकी शांत-शक्ति का महा संतुलित
और 'काल'-हलचल पर उठी हुई इक
मीठे खट्टे सकल अनुभवों को ही

औ' उस ऊंची आकाशीय ज्वाल को
दिव्य शक्ति के फिर लौटा लाने को
घोर यत्न करने में लीन हो गई।
शक्ति, मेघ सम आती थी घहराती
एक दिव्य सन्निधि थी जगती आती,
ऊंचाई पर थी अब चढ़ी जा रही,
उससे भी ऊंची थी उठी जा रही।
बन विस्तृततर सुसंतुलन जाता था,
अधिक देर तक ठहर विचर सकता था,
और दीर्घ काल तक ठहर सकता था।
इक आवागमनी की अविरत गति से,
होती रहने वाली इस उन्नति से,
में इस प्रकार अविरम लगी पनपने
सुषमा यथा लगी हो दिन दिन बढ़ने।
उस एकल 'ऋत-चित्' के सतत मेल से,
उस 'एकमेव' की दृष्टि के खेल से,
और काल में 'शाश्वत' की 'सन्निधि'से
मर्त्य-मनुज-दृष्टि वृत्तको विस्तृत कर,
बीच के महाखातों पर पुल रच कर
यहां दिया है फिर से आज पूर्ण कर।
उसने एक विजय, अब वर पाई थी,
एक सनातन-स्थिति दृढ़ कर पाई थी,
पूर्ण-सुरक्षा का आश्वास मिल गया,
'अक्षरता' में सतत निवास मिल गया।
उसकी 'नीरव-आत्मा' में बसती थीं,
आनँद से विश्राम भोग सकती थी,
सब जादू-लीला को लख सकती थी,
'भगवत्-शिशु' निस्पन्दित पड़ा हुआ है,
'काल'-आवरण धारण किया हुआ है।
उसकी समदर्शी-आत्मा दोनों को, —
निम्न तलीय अशांत गहनताओं को,
अब निज शाही-अनुमति अरप रही थी:
प्रसन्न गांभीर्य से भरा इक चिंतन,
उसकी विस्तृत और अकंपित चितवन,
अचल शांति से कर स्वीकार रही थी।

जग के भिन्न-विभिन्न चमत्कारों औ'
देख रहा था अब वह निश्चल बनकर
रहकर शांत, तटस्थ और सब कुछ से,
प्रेरित होकर सप्रज्ञ-नीरवता से

जिससे ही इस जग की सृष्टि हुई है

चित् की परम-विरोधी इस 'जड़ता' पर
उसकी सकल शक्ति जाग्रत हो, करने
पत्थर को लेकर इक मूर्तिकार है
यों ही तामस-जड़ की चढ़ी परत को
धीरे धीरे करके लगा छीलने
और भेद डाला अब उसने भीषण
जिसके तमस्-आवरण से 'शाश्वत' है
जिससे विश्व-'काल' में छिप अनजाने
इस प्रकार चोटी से आत्म-सृजन की
तथा रहस्यमयी गभीरताओं में
एक सुखीतर वैश्विक-क्रिया का और
उसके भीतर नए ढंग से ही इक

शोक और आनँद से उदासीन सा
नित नव निमंत्रणों से अनाकृष्ट सा,
इस जग रूपायन के द्रुत-प्रवाह को,
मदद दे रहा था श्रमनिरता भू को।
बन्द दृष्टि के औ' अन्तर्दर्शन से,
अनगढ़ अपरिपक्व इस विजड़-तत्त्व पर,—
और 'जाड्य-पुंजता' की असहमति पर
जगत-'अज्ञता' के सीमा-मोर्चे पर
बार बार होती जीवन-भूलों पर
लगी कार्य नव-ज्योति-कला को लेकर।
गढ़ता यथा देव के सदाकार को,
'प्रकृति'-अज्ञता की रक्षा-दिवार को,

महा-'अचित्' के उस माया-रहस्य को
ढक, लपेट कर रखता अपने सिर को
करता रह पाए निज विहित-कर्म को।
महान-महिमा का आरंभ हो सका,
रूपांतर का अभिनव बीज उग सका,
कार्य-विधान यहां निज नींव धर सका,
नव-जगती के आकार को गढ़ सका।

बस 'प्रभु' यहां पा लिए गए प्रकृति में,
और 'प्रकृति' परिपूर्ण हो उठी 'प्रभु' में।

'महाशक्ति' का वही कार्य अब बिल्कुल
औ' आत्मा की उन्नत उँचाइयों पर
उसकी अंतरात्मा, मन औ' अंतर
केवल जीवन के निम्नतर गर्त ही
किन्तु वहां भी जीवन की अनिश्चिता

औ' अन्तर-'साक्षी' की अचल-शांति के
सुनिरीक्षण में वह अस्पष्ट, आवृता
यहां तक कि उस नीचे पड़ी घसिटती

आज एक के पीछे एक सुमहिमा
एक एक अनुभूति आज ज्वाला की
'देवों' के आते सुवर्ण-पोतों का

लगा दिखाई देने था योगी में,
अपना गृह निरमाया था जीवन ने,
मिलकर केवल-दिनकर एक थे बने
आज रह गए थे अस्पष्ट से बने।
—छाया में कोशिश एक चल रही थी,
और श्वास में इक-अग्नि जल रही थी,

स्वर्गीय-शक्ति निज-कार्य में लगी थी।
प्रयत्न-निरत 'प्रकृति' के जीवन में भी
प्रकाश की सशक्त-घड़ियां आती थीं:
की विद्युत-झलकियां कौंध जाती थीं,
और अग्नि की बनी एक गाथा थी,
वायु उर्मि-भुज में स्पर्श भर रही थी,

जिनमें 'अदृष्ट' की अद्भुत चिर-निधियां
बस 'अंतर दर्शन' की महिमा से था
और अचित् की नीरवता के सँग अब
आनंद औ' प्रकाशित-शक्ति की सतत
सर्वबली उस परमा निगुह्यता से
प्रहर्ष की झंझा झकझोर रही थी
बस ये सब सर्वज्ञानी-गरुड़ों की
कठिन-आवरण पर्त एक टूटी थी,
आनँद मग्न-परात्पर उँचाइयों से
अनदेखी जगती के गिरि-शिखरों पर
बस उसकी आत्मा की केवलता में
वाचाएं, जिनको केवल अंतर-श्रुति
वे निज भविष्यदर्शी संदेशों को

एक निगुह्य क्रांत-दर्शी 'प्रकाश' की
अग्राह्य गुह्यताओं से आकर सब
उसके भीतर आकर गूढ़-'ज्ञान' इक
जिसके क्षण का भी प्रकाश तर्कों के
उन्मेषी ज्वाल की ताल इक ठनकी
यथा मार्ग पर आकाश दीप द्वारा
अब ऐसी मात्र एक चितवन उठकर
या देवों के बनावटी हस्ताक्षर
मनस्-द्वार से असंख्य आनेवाले
अधिकारी-दल पर इक रोक लगाने

औ' जादूई शाश्वत-वधु को उसकी
इस विचार औ' इस जीवन के सतही

अक्सर ही अब विद्युत-चरण-प्रेरणा
समग्र-पश्यन्ती उच्च-शिखाओं से

गुप्त वस्तुओं की एक छन्दमयता
और मर्त्य-वाचा का क्षेत्र लांघकर
'निखिलानँद' की यथा स्वर्ण-कलशी से

आकर उसके समीप पहुंच रही थीं।
विचार का छूछापन भरा जा रहा,
वार्तालाप 'ज्ञान' का शुरू हो रहा,
नदियां बांध तोड़ बहती आती थीं,
आ सुषमाएँ कौंध कौंध जाती थीं,
औ' आनँद की वर्षा-झड़ी लगी थी।
पंक्तियों सरिस चली उतरती आतीं।
सशक्त कानाफूसी सुन पड़ती थीं।
महामंत्र प्रज्ञा का गूंज रहा था,
जिसका संगीत फूट बरस रहा था,
रह रह आज यही क्रम सचर रहा था।
की ही शक्ति मात्र इक सुन सकती थी,
उसके अंतर पर व्यक्त कर रही थीं,
'परावाक्' का ज्वालावृत विस्फोटन,
लहरों की रह रह कर उठती मचलन,
उसके समीप पहुँच रहे थे अनुदिन।
सिंहासनासीन अब स्वतः बना था,
शत-वत्सर-प्रकाश से अधिक घना था:
जैसे 'सत्य' पर स्वराघात गिरा हो,
बुद्धि को प्रखर-सहज-विवेक मिला हो।
सच और झूठ को अलगा सकती थी,
की आड़ लिए उससे रक्षित होकर

के हित तम में एक मशाल जला कर
उनका सकल ढोंग प्रकटा सकती थी,
छद्म वेश-भूषा में धर सकती थी,
रूप रँगों का छद्म ताड़ सकती थी।

उतरे हुए दूत के समान भास्वर,
योगी-अधिपति के मन के उन निःस्वर–
छाय-पथों को नांघ चली जाती थी,
बस लहराती हुई निकल जाती थी।
प्रकट हुई एक ऋचामय वाणी थी।
एक ज्योतिराह्लाद ने घुमड़ घिरकर,

और 'अमर-वाचा' की स्पन्दित, पुलकित
एक रिक्त-प्याले की भांति समुत्सुक
युवा और क्वारे-'काल' में कि जैसे
'प्रभु' की सृष्टि-सृजन का इक अपूर्वतम
इक नन्हें क्षण में, इक बिन्दु-देश में
शब्द-विहीन महान-विचार ठसाठस
हृदय-सिंधु की आशाकुल चुप्पी में

अनभिव्यक्त वह 'सत्य'-अंश था यह जो
नीरवता के द्वारा ही अब नीरव
अतल-गभीर 'विधात्री' ने अब उसकी
औ' उसके बल ने वाचा–विहीन रह
उसने अब फैले संपूर्ण-दृष्ट को
औ' अब अकल्प्य-क्षेत्रों को भी उसने
सकल क्रांतदर्शन इस भांति बटुर कर
जैसे त्राटक-क्रियामध्य साधक इक
जो रहता है तब तक वहां घूरता,
जब तक न एक ज्योतिर्विन्दु-तीव्रता
औ' द्रष्टा के क्षेत्र में न जब तक वह
और यकायक उसे सुमहिमा मंडित
जिसने 'महा अचित्' की अपारदर्शी
अपनी उठी हुई उँगली की खरतर
और अकल्प्य नोक के ज्वाल-वार से
चीर, अगोचर 'परालोक' की सीमा
बस उन समाधिमग्ना, शब्दविहीना
और तोड़ 'कल्पनातीत' को भी अब
फिर उस काली, ऊंची, धुर दिवार को,–

नांघते हुए अपनी जोखिम पूरित
तोड़ ताड़ कर 'अज्ञात' के द्वार वह
और 'सत्य' के महाक्षेत्र में बिखरे
अपनी अनन्त अनुभव की खेती के
सुप्रेरणा ने, 'विश्व शक्ति' के आवृत
सहस्र परतों में लिपटी जादूई

आशु-दृष्टि हर्षोल्लास ने उमड़ कर,
आनन्दोन्मादी धारा ने बह कर
उसके अंतर को खलखला भर दिया,

प्रथमानँद दुहराया पुनः था गया।
पकड़ा गया 'ज्ञान' था अब वह सारा,
भरा पड़ा था जिसमें बिना किनारा,
जिसको दिया गया है वास सुन्यारा,
यह अंतिम-'निरपेक्ष' कनी ज्यों पारा,

–अंतरात्मा में हो गया उधारा।
नीरवता में अपना कार्य सँवारा;
जोड़ा संबंध और भी अनिवारा;
और सकल अपूर्वदृष्ट को निहारा,
अपनी सीमा के भीतर स्वीकारा।
एक किरण में एकत्र हो गया हो,
अलख बिन्दु पर निज ध्यान साधता हो,

में से रूपों का जग ही प्रकटाए
जग-रूपों का दर्शन प्रवेश पाए।
उठा नग्न कर एक पड़ा दिखलाई,
जाली में अब इक फाटन करवाई,

की शोभा इन आंखों में झलकाई।
उँचाइयों पर ज्यों इक नेत्र खुल पड़ा,
ले आनेवाला इक मनस् जग उठा,
रखती छिपा पराचेतन को है जो,
उसको प्रेरित-वाचा की कुठार ले,
अनुपम और अकेली इक छलांग से,
लूट पाट कर कोषों को ले आई।
लघु लघु दाने चुनती रहने वाली,
पूरों को लपेट कर रखने वाली,
सकल रहस्यों को छेद भेद डाला,
सभी प्रक्रियाओंको उधेड़ डाला।

फिर ऊर्ध्वारोही पथ पर इतस्ततः
चढ़ते समय उतावल-'मन' से त्यागे
अथवा विस्मृत बन चुके स्थानों के अब,
बनी 'काल'-विस्मृत निगुह्यताओं को,
शिखर से रसातल तक की इक यात्री
जिसने उस पार के दूर छोरों को
या दौड़ रहे भूखे मृगया-कुक्कुर
के समान पूर्णज्ञान का पीछा कर
लेकर 'स्वर्ग' से 'नर्क' तक के सारे
प्रज्ञा के निगुह्य वार्तालापों की
जिसके दिव-वाचा के धावित-विवरण
निगुह्य मन के आवृत-कार्यालय् से
इक भविष्य वक्ता और ऋषि चेतना
के हित जैसे परम निगुह्य 'सत्य' की
अमरों की पूछताछ, पड़तालों का
'परात्पर' की नीरव मौन दृष्टि के
बनी यहां इस नश्वर मानव के हित
और खिंचे उस अभिदीपित औ' पतले

शशि को भी जैसे धूमिल करते से
महान विस्तृत-प्रदेश अब आ आ कर
अनन्त शोधों का आवाहन करते
जीवित सत्ता के वे विशाल सागर
इक शाश्वत-चुप्पी में आवृत, मंडित
आनँद औ' निरपेक्ष शांति के विस्तृत
वे सब मार्ग और वीथियाँ अनोखी
अंतहीन-सुख को जो लिए जा रहीं
ध्यान निमग्न सुविस्तारों में होकर
बस मार्ग-रहित फैली 'अनन्तता' में
स्वर्ण-घड़ी की एक ज्वाल-कौंधन में
अन्तविहीना इस गोपित-'आत्मा' में
सब द्रव्यों के बन्द हृदय के भीतर
उन्होंने एक अनिर्मेय रेखा को
जो इस महान संवत्सर-यात्रा पर
और पढ़ लिया उसमें स्पष्ट कि कैसे

गिरी पड़ी धूल में औ' दरारों में,
उन्हीं पुराने औ' भूले सपनों में,
दफना दिए गए से अवशेषों में, —
जगह जगह से उसने आज बटोरा।

ले इन अंध-गहनताओं से जोड़ा

पथ पर था निज पद चिह्नों को छोड़ा।
यह संवाद दात्री और लिपिकरी

होकर चले गुजरते द्रुत जाते थे,

एक वाङमय काया अरप रहे थे।
ब्योरा रखनेवाली इक अभिलेखक,
आशय के इंगित की वह अभिव्यंजक
एक अनश्वर-वाचा की आवाहक।
तर्क बुद्धि के वृत्त-चाप के ऊपर
दीप्तवायुमंडल सम विमुक्त बनकर
एक अरेख, असीम क्रांत दर्शन के
लगे तैरने आत्मलोक में उसके।

उस यात्री-आत्मा से लगे भेंटने;

'कालातीत' क्षेत्र थे लगे प्रसरने :

स्वप्नस्मितियों समान लगीं दौड़ने;
निर्मल सूर्य-स्टेपी-प्रदेश खुल पड़े
औ सम्मुख आकर हो गए थे खड़े।
एक नग्न से वृत्तचाप को पकड़े,
जो बिन्दुस्थल चले जा रहे दौड़े,
था अब छायांकित सामने दिया कर,
'आदि सनातन' को चलती है लेकर।

'विश्व-मनस्' की जादूगर-सुयोजना

जीवन की घटती घटना के अविरत
अनन्त की आजादी को सीमित कर
दैवयोग की घटनाओं को लेकर
संकेतों की और अव्यवस्था को
और 'अन्नमयता' के छद्म वेश में
आत्मा का जो अविरत नृत्य चल रहा

'काल' रूपरेखा का सकल संतुलन
अंतरतम की गहरी पृष्ठभूमि पर
करी गयी उसकी सुव्यवस्थित सारी

औ' परिवर्तनशील एक शाश्वत की

सदा सदा से अजान द्रव्यों की भी
'आदिनाद' की उस अविचलता में से
औ' अविकारी अनाम और अगोचर–
'आदि-स्रोत' में देखी गई उभरती
परंपरा, उन दिव्य-भावनाओं की
और 'प्रकृति'-समाधि की काली धरती
जो 'आत्मा' की अंध-विराट्-कामना

और जहां से फैलाई हैं उसने
देखा वृहत् वास्तविकताओं को तब
फिर 'अज्ञात' की महाछाया से उठ
जहां अकाय-'अनामी' इक सत्ता ने
मर्त्य-मनस् औ' आत्मा के द्वारा फिर
औ' इक मृत्युहीन-तन, दिव्य नाम को
देखे उसने अचल-ओष्ठदल, देखीं
पराचेतना की 'सुषुप्ति' में मूंदा
औ' मूंदी पलकों वाली वे आंखें

जिसने ही समाधि में निमग्न रहकर

ने निज-'प्रकृति' के प्रतीकी सत्यों के,
रचे हुए उन नग्न-व्यूहचक्रों से,
होते रहने वाले स्व-सिगनलों से

एक विश्व के विधान में बदलाया,
ही एक विश्व का बस नाम दिलाया।

उसके गरिमाभरे चमत्कारों से,
औ' रहस्यमय नर्तन के फेरों से,
उसकी आंखों को था स्पष्ट हो गया,

स्वगठित-परिणामों की सम्मति, समता
उसकी मायिक-कला की वास्तविकता
अनन्त बुद्धिमती उसकी तार्किकता, –
नित नवीन सी घटती चमत्कारिता,
सब कुछ उसको पुस्तक सरिस खुल गया।
तो अब एक झलक अनुभवी गई थी,
एक वर्णमाला अब उभर उठी थी।

जैसे अतल-सिंधु से उमड़ हो रही
जिनसे गई कि यह जगती है सिरजी,
में जिसको था किया गया अभिबीजित,
के बीजवत कर दिया गया नियोजित,
महा विश्व-पिप्पल है जिसमें गर्भित,
आकाश स्वप्न में शाखाएं विस्तृत।
उसने धारण करते हुए रूप वर :

झांका बाहर अपनी दृष्टि उठाकर,
देखा 'प्रभु' को जग में जन्म धारते,
यहां सिद्ध करने का प्रयत्न करते।
वे पाखें अति-यथार्थ और सुमहती,
ढका हुआ आनन एक अखिलस्रोती,
जो हैं सब द्रव्यों पर निगाह रखतीं, –
उसको विश्व स्थपति अब पड़ा दिखाई,
है यह विराट् अद्भुत सृष्टि रचाई।

'महाशून्य' में 'एकोबहुस्याम्' की
आदि-कामना ने ले लिया जन्म चिर,
दृष्टि उठा कर झांका बाहर औ' फिर।

देखा, आशा को जो अनिद्र रह कर
बिना विराम चली जा रही निरंतर,
उन चापों को, जो इस धावित विधि के
पीछे भागे जाते चले बराबर,
औ' देखा फिर उस अनन्त सपने के
विशाल अकथनीय अर्थ को महत्तर।
बस मानो 'प्रभु' की एक शक्ति ने निज
कर में जलती इक मशाल साधी हो,
उस 'अधिमानस्' की द्योतित औ' स्वर्णिम
सीमा की झिलमिलती इक किनार पर
निशि के चमकीले सुछोर के ऊपर,
मंद सितारे के सम झलक उठी हो।

सत्य सनातन की वह दीपित जगती
पकड़ी गयी प्रेम की वह मधुस्मिति थी,
एक छद्म-पट के पीछे झलमलती
होने की अनुमति है देती रहती,
जो इस अंतहीन लीला नाटक के
'प्रज्ञा-माता' के स्तन-द्वय पय ताते,
देखी गई, शांत इक आत्मतृप्ति औ'
थे जैसे मधुमय पय पान कराते,
जो 'दैवयोग' रूपी बाल-हास्य को
महाशक्ति है जो एक आदि-धात्री।
लखी गई 'नीरवता', 'सर्वशक्त' की
आदि अमर-'वाचा' की महा कोख को,
लखा गया सर्वज्ञ महा-चुप्पी को, —
आनन की महिमा के महा ओज को,
'काल-पुरुष' के शांत और ध्यानस्थित
औ' 'शाश्वत' के सृजनात्मक लोचन को,
आज कि जैसे पकड़ा धरा गया हो।
इस प्रकार दिव्य प्रेरणा ने आकर
मर्त्य-हृदय में आज प्रवेश किया था,
वहां भविष्य विचार के लिये मानो
एक शोध कार्यालय बना दिया था,
औ' भविष्यवाणी करने वाले इक
मन्दिर की भमिका पवित्र रचाई,
जहां बनी थी उसकी शुभ्र-पीठिका
मानव के मन की वह त्रिगुण तिपाई :
बनी सुविस्तृत ऊपर की ऊंचाई
हुई प्रकाशित नीचे की गहराई।
अंधकार के अंतर में प्रवेश कर
उसने प्रकाश कूपों को खनवाया,
और अशोधी पड़ी गहनताओं पर
एक रूप का अध्यारोप कराया,
गूंगे पड़े हुए और विराटों में
आह्वानों के मृदु-कंपन लहराए,
और अकूल, अवाक् तारिका-विरहित
दिशि विस्तारों के भीतर से होकर
'अकथनीय' की नीरवता से उसको
काट छांट कर औ' विधिवत सँवार कर
लाई क्रांत विचार के कणों को वह
अपनी दरिद्र पृथिवी पर उतार कर।
इक वाणी प्रकटी अंतर में जिसने
पूर्व अनुच्चारित नाम को उचारा,
औ' अन्वेषक विचार का इक सपना,
जो दिशि दिशि फिरता था मारा मारा
अब उसने इक अदृश्य और अगोचर
निषिद्ध निवास में अपना पग धारा:
खोज लिया उसने परात्पर 'दिन' का
खोया शाश्वत कोष आज था सारा।
औ' अवचेतन की गहरी गहराई
तक अब उसका रत्निल दीप जल उठा,
ऊपर से जिसका प्रकाश पड़ने से
सकल गुफा का वैभव अतुल जग उठा,
जहां कि इंद्रिय के कदर्य-पणियों ने
कभी न उसका सद्-उपयोग किया था,

और निशि-गरुड़ पंजों में जकड़ा यह
वहां मखमली तम पर्तों में छिप कर
दबा हुआ अब तक मौन सो रहा था,
जिसके अनमोल मूल्य ने जगती को
बचा लिया सारे खतरों से होता।
धारण किए उषा को निज अंतर में
अब अंधकार उस शाश्वत अतिविस्तृत
प्रत्यावर्ती द्युति को अगोरता था,
कि इक महत्तर किरण अवतरित होकर
खोई हुई 'सूर्य' की गायों को फिर
लाए खोज यही आशा करता था।
'प्रभु' के औघड़पंथी स्वभाव की इस
बड़ी शहंशाही फिजूलखर्ची में,
सर्जन की इक अतिव्ययी गर्मी में
अतल-जगत-पोतांगन में च्युत होकर
छूट गईं जो इक लापरवाही में,
जिन्हें चुरा ले गया दस्युमंडल था
अपने अवचेतन की गहराई में,
'शाश्वत' की वे सुठि सुवर्ण-मुद्राएं
स्पर्श, दृष्टि और विचार-कामना से
छिपी पड़ी थीं जहां अगिन मात्रा में,
होकर बन्द एक अज्ञान-बाढ़ की
तामस अंधी कन्दरीय पर्तों में,
कि पा न उन्हें कहीं यह मानव जाए,
और 'देवताओं' समान बन जाए।
अब अदृश्य औ' सुदूर उँचाइयों पर
एक क्रांत दर्शन का प्रकाश प्रकटा,
वाचाहीन गहन पतालताओं से
इक प्रज्ञा का प्रकाश झलमल झलका,
गभीरतर व्याख्या ने एक 'सत्य' को
था अब और भी महानतर बनाया,
बस 'रात्रि' और 'दिन' दोनों ने ही अब
इक महिमाशाली पलटा था खाया,
जीवन के ध्येय को समुन्नत करते
जग-मूल्यों में ही परिवर्तन आया।
मानव के धीमे मंद परिश्रम से
जो कुछ जीवन में आना संभव था,
उससे अधिक विवेकपूर्ण इक वाणी
और विचार एक विस्तृततर आया,
जाग्रत हुआ और इक गूढ़ बोध अब
जिसने देखा व्याप्त उसी 'सत्ता' को
लखा सब कहीं उसी इक 'महत्ता' को।
अब यह धरती अर्थहीन यात्रा पर
चली जा रही युंही नहीं लगती थी,
जड़वत फिरती रहनेवाली कोई
भीषण यांत्रिक कोल्हूरढ़न नहीं थी,
अब यह जीवनहीन ऊपरी अपने
भड़कीले चेहरे को छोड़ चुकी थी,
यांत्रिकता-अनुभूति नहीं होती थी
और न घटना 'दैवयोग'-लगती थी,
अब तो यह सब 'प्रभु' धारित काया की
जीवित जाग्रत श्री सम एक क्रिया थी।
सभी शक्तियों के औ' आकारों के
भीतर छिपी हुई वह इक आत्मा ही
इस फैले औ' विस्तृत वाह्य दृश्य का
केवल मात्र एक गूंगी साक्षी थी :
औ' यह सुन्दरता औ' ये नानाविध
चमत्कार अब अपने सँग लाए थे
'अनभिव्यक्त' भावी की झलकों को ही
औ' आकार विहीन 'सनातन सत्ता'
इन दृश्यों में अब घूमने लग गई,

जीवात्माओं और वस्तुओं में निज रूप-पूर्णता को ढूंढ़ने लग गई।

अब जीवन में कहीं प्रमाद नहीं था,
अर्थहीन कोई आकार नहीं था।

अब वह जगती के श्रम औ' पीड़ा में देवजन्म का प्रसव-यत्न लखता था :
'अज्ञानता'-वेश को धारण करके गुह्य ज्ञान ही तो सब कहीं छिपा था;
औ' अदृश्य आवश्यकता के पीछे मानव की विधि का विधान गोपित था
जो उस सर्वशक्त 'संकल्प' का अरे एक दैवयोग रूप खेल बना था।
बस इक महिमा, हर्षोन्माद, मोहिनी का उसको अब इक अनुभव होता था,
उस 'निखिला आनन्दमयी' का उर में अनजाने प्रतिपल निवास रहता था।
भू-कष्ट एक जुर्माना लगते थे
जो बंदी आनँद को मुक्ति के लिये अपनी यहां चुकाना ही पड़ता था।
हर्ष-मिलन ने इन अस्थायी घड़ियों में इक रंगीनी दी थी अब भर भर,
और दिवस वे यात्री लगते थे जो बढ़े जा रहे थे विधि-विहित मार्ग पर,
तथा निशाएं लगतीं विचारमग्ना -आत्मा की बस सखी सहेली ही वर।
इस स्वर्गिक उत्साह ने हृदय में थी उसके चिर चाव-तीव्रता जगवाई,
और काल की मंद घसिटती पग गति शानदार इक कूच में बदलवाई;
अंतरस्थ 'वामन-देव' और बढ़कर अनाप उंचाइयों तक पहुंच था गया,
और धरा का विस्तृत साम्राज्य यह उसकी विजय के लिए अल्प पड़ गया।
जो जीवन पहले मानव-लघुतापर
'अंध-शक्ति' के अति भारी कदमों को रख, चलने वाली एक प्रक्रिया था,
उसमें अब 'प्रभु' के पास पहुंचने का इक दृढ़ निश्चय दिखलाई पड़ता था,
सारी 'सत्ता' इक दैवी प्रयोग थी
औ' ब्रह्मांड अंतरात्मा की खातिर मिला हुआ कोई स्वर्णिम अवसर था।
औ' यह जग 'अंतर-स्वामी' के द्वारा
'जड़ता' में जीवित आकारों वाला लिया हुआ विचार था और जन्म था;
और 'प्रकृति' यह अपने गर्भ बीच बस उसी 'अमर' को किए हुए धारण थी,
उसके द्वारा ही वह अपने शाश्वत -जीवन में आरोह कर सके कि कभी।
आज अश्वपति की सारी सत्ता बस ज्योतित अचल शांतिमें बसी हुई थी,
औ' वह विशुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश के उज्वल कूपों में स्नान कर रही थी,
और सनातन-रविसे बने प्रकाशित
ज्ञानात्मा के विशाल-अंतःक्षेत्रों में आनँदपूर्वक विचरण करती थी।
अब उसकी काया का सूक्ष्म प्राण भी
जड़ पार्थिव भागों को ऊंचे ध्येयों और वस्तुओं तक ले जा सकता था,
औ' तन में भी स्वर्गिक एक वायु की श्वासें आज बैठकर भर सकता था।
औ' काया भी स्वयं दिव्यता की दिशि पूर्ण रूप से अब बढ़ती जाती थी,

हर्षातिरेक के पक्षधर-पवन पर
जिसे न पहले पकड़ भी कभी पाती
परात्पर 'सत्य' के साथ अब मन की
औ' जीवन की चरमानन्द प्राप्ति की
सारी दबी पड़ी शक्तियां हमारी

इस प्रकार इस अज्ञानता क्षेत्र से
जो उसके पार्थिव मन औ' शरीर का
दिव्य ज्ञान का एक अनन्त प्रस्रवण
और नवीन एक विश्व ज्ञान उसके
दैनिक विचार की दृष्टि विकस कर उस
साधारण जीवन के दैनिक धंधे
जिनको 'प्रकृति' छिपाती आई है उन
औ' अस्पर्श्य बनी हैं मनुज क्षेत्र से,
वह था बढ़ते-बढ़ते आज हो गया
उसकी पकड़ ने प्रकृति के महानतर
अज्ञात लोकपालों के सँग उसने
मानव आंखें जिन्हें न लख पाती हैं
विस्तृत, विशद दृष्टि ने सूक्ष्म, अगोचर
औ' विश्व की शक्तियों को अब अपने
और मनुज-संकल्पों के पीछे भी
'काल' के रहस्य अब सकल उसके हित
जहां भूत औ' भविष्य के सब ब्योरे
संक्षेप में सूक्ष्म आकाश पृष्ठ पर
और 'विश्वकर्ता' के अभिकौशल से
उसकी मनुष्यता भी भगवत्-चापों
उसके कार्य न अब उसके अंतर की
जिसने उसके पार्थिव अग्रिम मोर्चे
अंतर-काय-पुरुष उसकी काया के
जिसको मानव के विधि-वेष्टित सारे
औ' असिद्ध 'शक्तियों' बीच रह कर जो
जो आत्म महत्ता में ही जीती हैं
अब वह निज मन के विशद एकांत में
अब वह अर्द्धदेव सम था जो मानव
एक अंतरात्मा की ऊर्ध्वाकांक्षा

जैसे अब वह तिरती-सी आती थी,
उसी 'ज्योति' से पकड़ी धरी गई थी,
सब अभाग्यमय दूरी त्याग चुकी थी
सारी अयोग्यता दूर जा चुकी थी।
विकसित होना आरंभ कर चुकी थीं।

उसकी आत्मा को अब मुक्ति मिली थी,
इक पहला आध्यात्मिक परिवर्तन थी।
अब ऊपर से होने लगा प्रवाहित,
अंतर से उठ होने लगा प्रसारित,
'एकम्' औ' 'ऋत-चित्' में हुई प्रतिष्ठित,
अंत:प्रकाश से हो चले प्रस्रवित।
सभी रूपरेखाओं से बन जाग्रत,
उनकी सब गतिविधि से बना सम-स्वरित,
इक निगुप्त जगती के साथ एकचित्।
सकल शक्ति-स्रोतों को चकित कर दिया,
वार्तालाप सहज आरंभ कर दिया,
उन रूपों आकारों को देख लिया।
सत्त्वों को था मूर्त रूप दे डाला,
अपने महाकार्य में लग्न निहारा,
एक गुह्य आशय का भेद उघारा।
अक्सर पढ़ी हुई-सी इक पुस्तक थे,

कर अविरम उनका उद्धरण रहे थे।
अब बन कर एकात्म और संवादी
के साथ-साथ कर सहचरण रही थी।
स्वर्णिम-ज्वाला को धोखा देते थे।
की महानता को तैयार कराया।
कोष कोष में उन्नत गया कराया,
कार्यों का सिद्ध अर्थ था बस गोचर,
करता उनके सँग था कूच निरंतर,—
जीवन के चक्कर के बाहर बाहर।
बस एकाकी बनकर ही रहता था,
-जीवन की सब रूप रेख गढ़ता था :
से सब जाति गई उन्नीत कराई,

कार्य कर गई इक 'शक्ति' थी अनोखा था न किसी को पता कहां से आई।
सब जगती के बल उसके बल के सँग आकर जैसे एकाकार बने थे।
उनकी विशालता की असीमता में
धरती की लघुता औ' नगण्यता लख खींच रहा था उन ओजों को निज में,
जो युगको परिवर्तित कर सकते थे।

जो साधारण दृष्टि को अमेय थे ऐसे महान् सपनों को निरमाया,
जिनके भीतर कि जा सके उन भावी द्रव्यों का सब रूप सहज रचवाया,
फिर कर्मों को कांसे सरिस ढाल कर वर्षों की सीमा पर घेरा डाला।
और 'काल' के भीतर उसकी गति ने पार्थिवता का अतिक्रमण कर डाला।
पर उसके क्षण बिलकुल एकाकी थे,
सूर्य सरिस अद्भुत महिमा व्यापी थे।

सर्ग चौथा

गुह्य ज्ञान

जो अपने से महानतर शिखरों को
'अनन्तता' की दिशि बढ़ती चापों का
वह इतना ही है कि ज्यों चमत्कारी-
एक किनारे पर बस सुठि ऊषा का
जब कि अदृश्य, भव्य महिमामय दिनमणि
बस जो कुछ भावी में आने को है
उस सुदूर अज्ञात के लिये पृथिवी
औ' इस पार्थिव सतहीय चेतना से
और एक शाश्वत-'प्रकाश' की अनुपम
है यह सब अपनी मानव आत्मा की
यह जगती तो बस इक समारंभ है
जहां 'प्राण', 'मन' को निज विरचित सपनों
आकर जहां अजन्मा एक 'शक्ति' को
और मृत्यु-सीमित यह क्षुद्र अल्पता
अपनी अमर्त्य बिसरी विशालताएँ,
अपने उन्नततम शिखरों के ऊपर
जग-सत्ता की अनाप उँचाइयां औ'
अकथनीय गुह्यता से सुसंबंधित,
निगुह्यता, 'काल'-असिद्धा-शाश्वतता,—

और उच्च-शिखरीय प्रदेशों के प्रति,
क्योंकि दूर हैं बहुत हमारे 'पार्थिव'
क्योंकि बहुत ऊंचे हैं और हमारे
किन्तु उधर, निज-अंतरतम में बिसरी
हर्षातिरेक का इक मंद नाद है
जो उन विस्मृत, भूली हुई प्रकाशित
औ' जब हम अपनी अंतर-आत्मा को

था अब खड़ा अश्वपति उस चोटी पर
देख रही थी अपनी दृष्टि उठाकर।
जो कुछ प्रयत्न अब तक होता आया,

हो शोभा, माहात्म्य गया निरमाया,
अभी पड़ा हो पीछे छिपा छिपाया,
देख रहे हैं हम उसकी इक छाया।
का लखना बस अपनी दृष्टि उठा कर,
आत्मा की शोध के लिए महानतर,
सुदूर झलक के लिए यत्न निरंतर,—
चढ़ाइयों के हित एक भूमिका वर।
औ' बढ़ने के हित है नींव सलोनी,
के हैं महल उठाने, भीतें गढ़नीं,
अभी वास्तविक की है रचना करनी।
भर ही अपना पूरा सत्य नहीं है;

निज शोध की बाट देखा करती हैं,
उसकी गहराइयां हमारी ही हैं।

ये सारे के सारे 'स्वर्ग'-पड़ोसी
हैं बस उन्नत शिखर सब 'प्रकृति' के ही।
जो मुहरांकित हैं, मानव शोधों से,
—जीवन की साधारण गतिविधियों से,
मर्त्य-जीवनों की सीमित श्वासों से,
—सजातीयता इक इंगित करती है,
औ' एक प्रार्थना उठती रहती है,
—उँचाइयों को बरबस गुहारती है।
लखने में असफल बन रह जाते हैं,

औ' अपनी इस मनुज-चेतना के सँग
तब भी भीतर छिपे हुए थल हैं जो
फिर भी ज्योतित-पथ हैं, शान्त-स्वर्ग हैं
महिमा के औ' आनन्दातिरेक के
और स्वच्छ-मंदिर हैं 'भगवत्ता' के
और एक आकार रहित स्मृति है जो
और कभी जब दृष्टि हमारी बरबस
तब, पृथिवी पर की वह अज्ञ-यवनिका
और तनिक देर के लिए मानव को
यह संकीर्ण अनुभवों की तनु-झालर

चिपटे लिपटे पड़े हुए होते हैं,
'ज्योति' की दिशा में अविरत बढ़ते हैं,

'स्वर्ण-क्षेत्र' हैं, जो निगुह्य रहते हैं,
जो इस मानव-दृष्टि में न आते हैं।
अंतर के भीतर श्वासें भरती है,
निज अंतर की ओर घूम पड़ती है,
आंखों के सम्मुख से उठ जाती है;
जादूई एक मुक्ति मिल जाती है।
जो जीवन की परिधि स्वरूप मिली है,
औ' ये पग-चापों की सीमित गतियां
औ' ये नाकाफी-सी स्वीय-प्राप्तियां,—
सबकी सब बस पीछे छुट जाती हैं।

ऐसी एकाकी महान घड़ियों में,
अपनी अन्तरात्माएँ अविनाशी
नीरव 'महाशक्ति' की 'सर्वदर्शिनी'
अगम, अगाध, अनाप तीव्र-'आनँद' के

-'प्रकाश' के शांत-प्रदेशों में जाकर
ऊंची गरुड़-शिखाओं पर उड़ उड़ कर,
चन्द्रिम ज्योत्स्ना-ज्वाल जगे सागर पर
औ' 'आत्म-देश' के थिर-विस्तारों पर
सहज भाव से जाकर रम सकती हैं।

'आत्म'-सत्य के विकास-अनावरण में
कभी कभी गुप्त अकथनीय-'गुह्यता'
इस मानव के आधार को अप्रतिम
परालोक के और वायुमंडल से
एक दिव्य-सन्निधि अनुभव होती है
बस फिर इन पार्थिव-करणों के ऊपर
और कभी संगमर्मरी स्मारक के
सरिस अडिग अचलायमान-सी होकर
यह काया, शाश्वत-'शांति' की मूर्ति का
या फिर आत्म-प्रकाशित एक 'शक्ति' जो
किसी विराट् श्रेष्ठतर महाद्वीप से
'दैवी प्रज्ञा' अपने पीछे पीछे
और 'प्रकृति' बस उसकी महाशक्ति से
कभी कभी 'व्यक्तित्व' महत्तर कोई
यद्यपि भीतर भीतर हमें विदित है
और हमारा मन निज आत्माओं के

यहां अवतरण के हित चुन लेती है।
श्वास उतर कर इक नीचे आती है
पथ प्रदर्शिका एक 'ज्योति' जगती ह,
एक परम-नीरवता छा जाती है :

इक आधार-स्तंभ सा बन जाती है।
अग्निपात-सी हरहरती आती है,

प्रकाश के सिंधु लिए प्रविशाती है,
औ' ज्वाला से कांप कांप जाती है।
आ हम पर अधिकार जमा लेता है,
कि वह हमारा अपना ही होता है :
'स्वामी' की पूजा करने लगता है।

तब अपनी यह नन्हीं देह-अहंता छीज छीज जाती औ' ढह जाती है;
तब इस अलग थलग अस्तित्व के निजी आग्रह पर वह अड़ी न रह पाती है,
अलग-जन्म की इक व्यक्तित्वविन्दुता
को वह अपनी बिसरा और मिटा कर
हमें 'प्रकृति' औ' 'ईश्वर' दोनों के सँग यहां मिला कर एक बना जाती है।
उस स्वर्णिम-मुहूर्त्त में जब अंतर के बुझे हुए ये दीपक जल उठते हैं
औ' जीवन के परिपोषित, संवर्धित अतिथिवृन्द घर-बाहर हो जाते हैं,
अपनी उन प्रेरक-घड़ियों में आत्मा
चुपचाप बैठकर अपने नीचे के गहरे गर्तों से बातें करती है।
विशालतर एक चेतना भीतर से जग कर तब अपने द्वार खोलती है।
आत्मिक नीरवताओं से उमड़ाती
कालातीता 'महिमा' की मयूख इक
अधिकृत बनी हुई ज्योतित-माटी से,
अपने संबंधों को स्थापित करने के हित तब इस पृथिवी पर झुकती है,
और हमारे जीवन पर निज विस्तृत विशुद्ध मुद्राएं अंकित करती है।
इस विस्मरणी नश्वर-मनस्-क्षेत्र पर
समाधि की मूंदी-द्रष्टा आंखों के सम्मुख उद्घाटित और प्रकट होकर,
या इस गभीर अंतर एकलतामें एक अपरिचित सूक्ष्म-बोध में खुलकर,
शाश्वत के इंगित दिखलाई पड़ते।
सत्य, जिसे मन जान नहीं सकता था निज आनन को अनावरित करता है,
हम वह सुनते हैं, जिसको इस नश्वर श्रुति ने अपनी पहले नहीं सुना है,
वह अनुभव करते हैं जिसका पार्थिव बोध ने नहीं पहले स्वाद लिया है,
औ' हम कंठ लगाते उसको, जिससे जन-मन डरता, ठेल्ठेल देता है,
एक ओजमय 'सर्वप्रज्ञ' के आगे मानव-मन है मौन ठगा रह जाता;
आत्मा के निगुह्य कक्षों से उठकर है एक 'स्वर' हठात् गुहार लगाता;
अमर-अग्नि के स्वर्णिम गुप्तवास में स्पर्श 'ईश्वरी'-'आनँद' का मिल जाता।
ये सारे संकेत एक विस्तृततर आत्मा के अपने दैनिक स्वभाव हैं,
जो कि हमारे भीतर ही अनजानी औ' अनदेखी बन करती निवास है।
कभी कभी ही बस ऐसा होता है कि इक पवित्र-प्रभाव यहां पड़ता है,
एक शक्तिशाली प्रवाह का झोंका इस जीवन को ले आगे बढ़ता है,
तथा अंतरात्मा को एक दिव्यतर 'सान्निध्य' यहां संचालित करता है।
या तोड़ फोड़ पार्थिव-आवरणों को कोई वस्तु यहां प्रविष्ट हो जाती,
आकर कोई आध्यात्मिक प्रकाश की इक शोभा सुन्दरता है छा जाती,
और यहां इक स्वर्गीय-अग्नि-वाचा मधुर-गुनगुनाती सी है प्रकटाती।
अपना असली 'मैं' औ' मुख्य-अतिथि यह जिसका अनुभव करते सदा यही हैं,

जो है, और अलख बन कार्य निरत है, औ' लगता है जैसे कहीं नहीं है,
शाश्वत-जन्मों की क्रम-परंपरा का करता सतत अनुगमन ही रहता है,
फिर भी अपने मर्त्याकार में सदा वह हमको विनष्ट होता लगता है।
भावी के 'पूर्णावतार' में अपने धरे पूर्ण विश्वास एक बढ़ता है,
नहीं घड़ी औ' घंटों को गिनता है;
विश्व-शक्ति के निश्चित औ' सोद्देशी सतत चल रहे विकास के इस क्रम म,
और 'काल' के सर्वोन्मोची अविरम चले जा रहे लम्बे एक सफ़र में,
आने वाले अभिनव परिवर्तन के धीमे जादू की बाट जोहता सा,
महान, धैर्यवान और शांतचित बन गुजर रही सदियों को लखता रहता।
यही आदि आरंभ है अरे उसका यही असल बस उसका अता पता है,
ऊपर 'महामौन' भीतर इक 'वाणी' अंतर में जीवित इक मूर्ति लुकानी,
भित्ति-रहित विशालता एक अजानी और विन्दु की थाह-विहीन कहानी,
यही काल की रंगभूमि पर चलते कन्दरीय-दृश्यों का चरम-सत्य है
यही एक असली 'सत्' है जिसकी दिशि होता आता यह सारा प्रयत्न है,
और यही जीवन का एक हमारे निगूढ़ वैभवशाली महा अर्थ है।
'प्रभु' के मधु-कोशों का मधु-संचय है
औ' अंधकारमय एक कंचुकी में लिपटी एक प्रज्वलंती 'गरिमा' है,
'प्रभु'-ज्वाला की कि जागतिक महिमा है,
जग के असली सुख औ' आनंदों का यही हमारा सोने का झरना है,
मृत्यु अंतरीप में पड़ी प्रच्छन्ना यहां अमरता का अपना स्वरूप है,
जो दिव्यता नहीं जन्म ले सकी है उसका ही वर्तमान एक रूप है।
यहीं बैठकर अंतर गहराई में
वह अपनी उस अलख, अजानी विधि का हमारे लिए सुनिरीक्षण करती है,
जहां हमारी सब नश्वर चीजों की इक शाश्वत बीजरूपता सोती है।
एक रहस्यमयी कुंजी है जिसको
सदा सदा हम लिए फिरा करते हैं,
जो अपने जीवन के अवात, मुद्रित एक किसी कोने में मुंदी पड़ी है।
इक जाज्वल्य-साक्षी है मंदिर का
जो कि 'काल' औ' इन सब 'आकारों' की अंधभित्ति के पार लखा करता है;
अपने निगूढ़-नेत्रों के भीतर जो कालातीत-'प्रकाश' लिए रहता है;
वह उन गुप्त वस्तुओं को लखता है जिन्हें शब्द अभिव्यक्त न कर सकता है,
जो कि अचेतन धरती के ध्येयों को चुपचाप जानता और समझता है,
औ' यात्री-वर्षों के सकल रहस्यों के मर्मों को पढ़ औ' गुन सकता है।

पर यह सब है अभी निलीयमान ही,

उपचेतन है और निगूढ़ ज्ञान ही।
इसे चाहिए सहज ज्ञानमय अंतर और इसे इक अंतर्दृष्टि चाहिए,
आध्यात्मिक दर्शन की शक्ति चाहिए।

और नहीं तो अपने जाग्रत-मन की
उपरितलीया नन्हीं क्षणिक-दृष्टि को
यह ध्येय-विहीना अपनी यात्रा में एक अनिश्चित-सा पथ ही है दिखता
जिसे किसी 'दैययोग' ने हो खींचा,
या कि किसी 'संकल्प' ने अचानक ही लिया मोल खतरा इक अति भारी हो,
कारण, ध्येय बिन कि 'आवश्यकता' जो,
बनी यहां मजबूर अनिच्छा से ही जीते रहने को, बढ़ते जाने को।
इस घन-सघन क्षेत्र में जहां न कुछ भी निश्चित है औ' सीधा तथा सरल है
जहां कि अपना यह अस्तित्व ही सकल संदेहास्पद है औ' प्रश्नास्पद है
औ' जीवन इक धुंधला-सा प्रयोग है,
औ' आत्मा अज्ञान, अपरिचित जग में जुग-जुगते प्रकाश का सुसंयोग है
पृथिवी इक अनगढ़ यांत्रिक घटना है,
औ' इक मृत्यु-जाल है जिसमें मानव को इत्तिफ़ाक़ से जीते जाना है
जो कुछ भी हमने जाना सीखा है शंकाभरी एक अटकल लगता है,
जो कुछ प्राप्त हुआ, है एक मार्ग भर या फिर केवल मात्र इक अवस्था है,
जिसका अंतिम सिरा हमारी आंखों से ओझल है छिपा हुआ रहता है,
दैवयोग से घटी कि इक घटना है अकस्मात् आ बना कि विधि-लेखा है,
बस इक अज्ञात स्रोत है अपना औ' इक अज्ञात की ओर ही बढ़ना है।
अनुत्तरित प्रश्नोंकी धुंधली छाया
यहां इन क्षणिक अस्तित्वों को अपने चहुंमुख से आकर घेरे रहती है;
'विधि' की आरंभिक-रेखा के पीछे
काली 'अचेतना' की इंगित-रहिता असिद्ध रहस्यताएं खड़ी हुई हैं;
और 'रात्रि' के गभीरतम अंतर में एक अभीप्सा जो छिपकर रहती है,—
जो नाशवान तन औ' अर्ध-प्रकाशित पार्थिव-मन का स्थायी एक बीज है,
जो कि सचेत अग्नि की निज एकाकी जिह्वा को ऊपर की दिशि पसारती,
उस 'प्रकाश'के प्रति जो सदा सदा को गुमा गया है फिर ज़ोर है मारती।
वह केवल अपने ही आवाहन की इक एकाकी प्रतिध्वनि भर सुनती है,
औ' मानव के अज्ञ बने अंतर में इक धुंधला-सा उत्तर भी गुनती है,
पर यह बिन समझे, वह क्यों आई है.,
औ' किस कारण से दुनिया पर सारी दुख मुसीबतों की बदली छाई है,
वह 'प्रभु' की अनुमति से होते आते विषम विरोधाभासों से मिलती है,
तथा 'काल' में 'अमरों' के जनमाने की इस गूढ़ पहेली को लखती है।

अपनी निश्चेतन की महा-प्रक्रिया
के इँडुरी सम गोड़िआए अतितम में

इसके भीतर 'सत्ता' एक छिपी है
जिसको शायद इक दिन वह समझ सके,
एक 'गिरा' अंतर में कुछ कहती है
इक दैवी 'विधि' उसको विवश बनाती
फैले महा 'शून्य' पर होकर अपने
निज निर्मन अधजगी अतलताओं से
फलस्वरूप इक संकटमय जीवन औ'
इक 'विचार' जो कि कल्पना कर सकता
उसके भीतर धीरे धीरे उठता
औ, ऐसी भाषा को है उच्चरता

और एक चलवन्ती-सी प्रसन्नता
इस सब सुन्दरता से बरसा करती
औ' निज चरणों के सँग खिचती आती
और अभी तक अविजित उन समुन्नता
अपने अनिद्र उर में बस अंतरमुख
जो उससे उसके सब चैन सुखों को
अज्ञान और परिश्रांत-सी फिर भी
बनी अजेय सदा वह निज आत्मा के
अंतर-युद्धों औ' चंचल दुःखों में

जीवन की पाहनता कर्दमता में
इक ऐसी श्रद्धा को ढूंढ़ा करती
और प्रेम की इक ऐसी दृढ़ता को
बस फिर इक प्रकाश उसमें अंखुआता
वह अपनी स्थिति का अध्ययन सीखती,
पर वह केवल-सत्य कि जिसे चाहती
वह खुद, औ' यह सब कुछ, निकल भागता
वह इक मंद-ध्वनि कानों से सुनती
जिसका प्रभाव तो अनुभव करती है
कुछ अद्वितीय-सी भनकें मिलती हैं

औ' एक सर्पगति से बांकी सरसर,

यह पृथिवी 'देवी' 'काल'-मरुस्थल पर
बिना रुके श्रम करती चली आ रही।

अंतर में है ऐसी आशा करती,
किंतु उसे वह सुन औ' समझ न सकती
जिसका स्वरूप है दृष्टि से न लखती।
अचित्-अयन में गति करती रहती सी,
ऊपर उठने का प्रयत्न है करती,
संघर्षरता प्रसन्नता है मिलती;
किंतु ज्ञान का स्वाद नहीं चख सकता,
और भावना का सर्जन है करता,
जो कि प्रकाशित तो कम कर पाती है,
बस चिह्नित, नामांकित कर जाती है।
जिसे नहीं आनंद कहा जा सकता,
जो भंगुर है जिसको मरना पड़ता।
शोक-शृंखला से भयभीत बनी-सी,
-द्रव्यों की मन में निज जागरूक-सी
एक अभीप्सा को है पाले चलती
और शांति को सदा हरे है रहती।

उस शुद्ध पूर्णता को ढूंढ़ा करती
जिसको उसकी घायल-प्रकृति मांगती,
'भगवत्ता' की इक श्वास को खोजती।
जो कोई हार से न मात खा सके,
जो कि ठगी मृत्यु से न कभी जा सके।
और एक वाणी उसको मिलती है,
निज संपादित कर्मों को पढ़ती है,
उसकी पकड़ हाथ से खस जाती है,
जिस सबका ही वह खुद एक चिह्न है।
जो उसके चरणों को खींच रही है,
किंतु लगा उसका न अर्थ पाती है।
जो उसका मार्ग प्रदर्शन करती हैं,

विशाल भविष्यदर्शी स्फुरित दीप्तियां उसके मस्तिष्क को खोल जाती हैं,
और कभी स्वप्नों और कल्पनाओं कभी प्रेरणाओं में उसकी जगकर
सत्य, जिसे उसने खो दिया था वही उसपर दृष्टि डालता, बाहर आकर,
जो लगता तो बहुत दूर है लेकिन रहता निज आत्मा में ही है छिपकर।
एक सुखद-परिवर्तन नियराता है जो उसकी पकड़ से भाग है जाता,
जिसका स्थगित आगमन होता रहता,

बार बार जो प्रयत्न करने पर भी
अपनी इस नश्वर आशा से पाने औ' सहने के हित अति महान् होता।
तब उसको उन परम-चरम 'सुशक्तियों' का इक साक्षात्कार यहां होता है,
जो खो गए वरिष्ठ किसी संबंधी -सम उसको अपनी ओर खींचता है
जो इक बिछुड़ी, महान् औ' आभायुत चितवन से उसके निकट पहुंचता है।
तब, जो कुछ वह नहीं है अभी तक फिर उस सब कुछ के लिए घूम पड़ती है
औ' जो कुछ उसका है नहीं बन सका उसके हित निज बाहें फैलाती है।
अचित् 'शून्य'में अपने हाथ उठाए
'अमरों' के अदृश्य आकारों से वह होकर व्यग्र प्रार्थनाएं करती है,
गूंगी 'विधि' औ' प्रयत्नशील 'काल' से
निज परमावश्यकताओं को, जो हैं उसकी पहुंच परिधियों से छुट जातीं,
उनके हित इक विधुर-याचना के सँग आतुरता से है द्रुत बाट जोहती,
और चाहती इक ऐसा मन जिसमें झूठी माया की न झलक आती हो,
इक 'संकल्प' शक्ति जो अंतरात्मा के इष्टदेव की अभिव्यक्ति बनी हो,
एक 'शक्ति' जो निज तीव्र-वेग में भी न लड़खड़ाने को परवश बनती हो,
एक 'हर्ष-भावना' कि जो निज छाया के साथ दुःख को न खींच लाती हो।
इनके हित वह लालायित रहती है भीतर ही भीतर अनुभव करती है,—
यह तो उसका अधिकार है, नियति है:
औ' स्वर्ग के विशेषाधिकार को वह निज स्वाभाविक हक घोषित करती है।
तथा सर्वदर्शी 'देवलोक' करते हैं स्वीकार कि यह अधिकार सही है,
और तर्क के उस पार, इक महत्तर प्रकाश में यह लगता भी सच ही है:
उसके अंतर का यह सहज ज्ञान तो उसके अधिकार का नाम पट्टा है,
अंध विचार जिसे धकिया देते हैं आत्मा से स्वीकार किया जाता है।
पृथिवी के आकाशी पंखिल सपने 'देवलोक' में ये 'सत्य' के अश्व हैं,
और असंभवताएं, आने वाले सत्य के लिए 'प्रभु' का इक इंगित हैं।
पर, अपनी वर्तमान स्थिति से आगे लख पाने वाले कितने थाड़े हैं,
जो इन्द्रिय बाड़ को नाँघ सकते हैं।

बस जो कुछ घटता है इस पृथिवी पर औ' जो कुछ इसके बाहर है घटता,
उसी असीम-योजना का अवयव है जिसको वह 'एकम्' अंतर में रखता,

बाहर घटने वाली घटनाओं के
औ' यह एकाएकी घटने वाली
यह निर्बोधी परिणामों की ढेरी,–
सत्यों की गूंगी रेख-अंकनी है
'अज्ञात' के विधानों की माला है
ये घटनाएं जो बाह्य जीवनों की
वे प्रच्छन्न चेतना के स्पंदन हैं

यह सब रुद्ध वास्तविकताओं का ही
जो कि कभी मुश्किल से ही इस पार्थिव
वे इक सद्यावश्यकता के ही मिस
अंतरतम में एक सुरंग बनाकर
आत्मा की गूढ़-शक्तियों के सविता
पर छेद भेद कर इस गहराई को
समझेगा कौन भला आत्मा की किस
निश्चित होगा किया अचानक घटते
कर्मों को औ' उसके परिणामों को?
डूबे दैनिक कर्मों की रेढ़न में
और 'परिस्थिति'-चक्रों के ध्वंसों का
औ' घटनाओं के निगुह्य कारण पर
फिर भी यदि पूर्ण रूप से अंतरमुख

तो भविष्यदर्शी 'ज्ञान' पर अरे हम

छाया तो बस कभी कभी ही कोई
जिसको ही केवल अदृश्य के गोपित
कभी-कभी ही गिने हुए जीवों में,–
उनमें, अपने मन के साथ-साथ ही
वैश्विक-'संकल्प' की महान् प्रक्रिया
अपनी आकृति को फिर और हमारी
इसी संकुलित वृत्तचाप के भीतर
जिसको हम देख और सुन सकते हैं

औ' फिर मुश्किल से ही कभी हमारे

वही अकेले है सब सत्य जानता।
बीज हमारे भीतर छिपे हुए हैं,
'विधि' जो दैवयोग बन कर आती है

जो अदृष्ट रह कार्य किया करती है:
जो कि ज्ञात-जग की रचना करती है।
गति को कि हमारी ढाला करती हैं,
जिनकी पकड़ कभी ही हो पाती है,
धुंधली ही अनुभूति भिगो पाती है,
प्रकट हो पड़ा सा उभार होते हैं,
-जीवन में निज शीश उठा सकते हैं:

के द्वारा उत्पन्न हुए होते हैं।
उतरेगा कौन गुप्त उस खाई में,
गहरी और तीव्र आवश्यकता ने

बाह्य दृश्य पर अपने नेत्र लगे हैं।
भीषण रव हम कानों से सुनते हैं,
चौकन्ने रह आश्चर्य करते हैं।
बन निज आत्मा में हम फक़त जी सकें,
औ' भीषण वह वाणी दबी सुन सकें,
अपना अधिकार पुनः रख सकते हैं।
आनेवाली उस निश्चित भावी की
क्षण में गूढ़ बोध को है छू पाती,
महाघात की छुअन अरे छू जाती,
जो दे सकते हैं उसका प्रतिउत्तर,
मानव-मन का एकाकार करा कर

आंखों के सम्मुख उन्मीलित करती।
अरे हमारी लघु-सीमा निश्चित है,–
औ' जिसका स्पर्श बोध ले सकते हैं,
जिसका विचार-कल्पन कर सकते हैं,

भीतर ऋषि औ' द्रष्टा जाग्रत होकर
बाह्य और तात्कालिक आवश्यकता
और मृत-विगत भर ही केवल अपनी
मन, आत्मा को बंदी कर रखता है
औ' प्रज्ञा-सूर्य तक पहुंच पाने हित
क्षुद्र पशु-मनस् का उत्तराधिकारी
यह मानव, 'प्रकृति' के महान्-करों में

उसके अधिकार की और तनु-रेखा
परिवर्तनकारी वर्तमान में ही
औ' भूतकाल के उस प्रेत रूप को
औ' ज्यों ज्यों वह बढ़ता जाता उसकी
वह कल्पित परिधानों को लखता, पर
औ' परिसीमित, शंकित एक शक्ति से
शस्त्र-सुसज्जित बन वह आने वाले
किसी विरोधी दैवयोग से अपने
सतत यत्नरत इक अज्ञान है कि जो
अपने कर्मों के परिणाम के लिए
और निज विचारों के निश्चय की नित
वह जानता नहीं क्या प्राप्त करेगा,
पता नहीं है कि अंततः वह जीवित
हस्ति सरिस होगा या एक कीट सम
और मिटेगा नाम निशान जगत् से
उसको इसका कुछ भी पता नहीं है
अपनी गौरवशाली उच्च नियति का
केवल 'देश' 'काल' की दीवारों के
अपनी अमर्त्य ऊँचाइयों पर बैठे

जो 'विधि' 'दैवयोग' और 'संकल्प' पर
जग आवश्यकता-प्रमेय के ज्ञाता
जो 'दिव्य-कल्पना' औ' 'महाशक्ति' को,
जो 'काल'-मार्ग में परिवर्तन लातीं
वे किरण-केशरीय-प्रकाश को लिए
औ' जब जग-जन गहन-अंध अंतर से
वे ही किसी अपूर्व-दृष्ट-घटना की

'अज्ञात' का प्रकाश उदित करते हैं।
ही तो निज क्षेत्रों का सीमांकन है,
पृष्ठ भूमिका है औ' अवलंबन है;
हम अपने ही कर्मों के अनुचर हैं;
दृष्टि को कहां कर सकते स्वतंत्र हैं।

आज भी अबोध एक बाल बना है,
क्षण क्षण कर कि जिसे जीवन जीना है।

बस सीमित औ' सकुचित होकर रहती,
मुड़ मुड़ कर उसकी स्मृति घूरा करती,
भावी दौड़ सामने से सर जाती,
वह आनन श्री उसे कहां दिख पाती।

कार्य-फलों की बस रक्षा करता है।
उसके ज्ञान का अभिन्नतम सखा है।
उत्सुकता से इंतज़ार करता है,
शक्ति जानने को आतुर रहता है,
या उसको कब कहां प्राप्त करना है।
भी रह सकता है, या कि अंत उसका,

जहां बजा डंका उसके शासन का।
अपने ही जीवन अर्थ से विसुध है,
और बिचारे को कुछ होश नहीं है।
परे के निवासी वे 'सुरवासी' ही
बैठे केवल वे चिर-'अविनाशी' ही
विचार-बंधन-च्युत जीवन 'स्वामी' ही
मौन बने निगरानी करते रहते,

हैं केवल निज आंखों से लख सकते,
दूर अशोधे लोकों से हैं चलते,
निज पथ पर असफल श्रम करते होते,
सरपट टापों का रव हैं सुन सकते,

ले कर और 'परा-मानव'-सवार को
औ' जग हलचल तथा आर्तनादों से
'भगवत्-शृंगों' की चिर-नीरवता पर
जैसे बिजली कौंधे वज्रपात हो,–
वैसे ही धमक कर गुज़र जाते हैं।
अरे जगत् के ये निर्माता अपनी
औ' फैले इस दृश्य-जगत् के भीतर
हमको छलने वाली बाह्य रूप इस
इन घड़ियों की व्यस्त दौड़ धूपों पर
औ' उस 'अजन्म' का इक शांत धैर्य ले
मंद मंद नियराती अपनी उन्नत
जो चीरते अनन्त 'युगों' को आते
सदा कार्य-कारण के लखने वाले
इस मानवी भूमि के कोलाहल में
पर वे अदृष्ट-'सत्य' के सहज श्रोता
उस स्वर को,–ज्यों अदृश्य भविष्यवक्ता

औ 'जड़' सुषुप्ति के अंतर के भीतर

और असावधान जीवन श्रवणों ने
विचार की सर्वज्ञा समाधि में जिस
उन्हें उतर अंतर की गहरी श्रुति में
क्षणभंगुर आशा-माया से ऊपर
औ' इस यांत्रिक दैवयोग के पीछे
सकल शक्तियों के इस महायुद्ध में
विजय, युद्ध और निराशाओं के पर
जिसके हित भू-हृदय पुकार रहा है
वे इस अपने लंबे जीवन पथ पर,
जो निज शंकाग्रस्त दिनों, घड़ियों में
उस 'आनँद' से मिलने के हित केवल
असावधान बनी फिरती जगती को
इस प्रकार ही आवृत, गूढ़, 'परात्पर'
जब भू का तम गहरा होते होते
और मनुज के भौतिक मन का ही बस
तब रात में चोर के सरिस अदेखे

यहां हमारे निकट हैं चले आते,
चलायमान हुए बिन तटस्थ रहकर
पुनः लौट जाते हैं भू को छूकर;
निज चिह्न छोड़ रौंदे 'जीवन'-उर पर

इस जगती के ऊपर खड़े हुए हैं,
उसके गुह्य स्रोत को निरख रहे हैं।
लीला की कुछ भी परवाह न करते,
अपने कुछ भी कान नहीं हैं देते,

-'विधि' के सुदूर चापों को सुनते हैं,

नेत्र न जिनको देख समझ पाते हैं
कानों से असुने ही रह जाते हैं।

-पंख सरसरान को, पकड़ लेते हैं,
औ' अथाह अर्थों वाले नादों को,
ध्यान-मग्न उन महान् गुंजारों को,
निज सूक्ष्म इन्द्रियों से सुन लेतें हैं।
जिन मृदु गुंजारों को गंवा दिया है,
परिद्रष्टा सुदीठि को भुला दिया है,
सहज भाव से सुन औ' गुन सकते हैं।
जो बाह्य कर्म और रूप के पीछे,
औ' इन धुंधले अनुमानों के पीछे,
औ' उनके पग की रौंदन के स्वर में,
इक 'आनँद' का पथ जोहा करते हैं,–

जिसको अंत न निज ढूंढ़े मिलता है,
होकर अनजाने भ्रमता रहता है,

लेकर नित आगे बढ़ते रहते हैं।
अपने सिंहासन पर कभी चढ़ेगा।
बरबस उसका दम घोटने लगेगा,
दीपक जब उसके ढिग शेष बचेगा,

उसके तनरूपी मंदिर में वोही
तब सुन पड़ेगी एक मंद 'गिरा' बस
मन के किसी भीतरी कक्ष में और
एक मोहिनी और मधुरता आकर
और एक सुषमा जग कर पृथिवी के
इक सत्यज्योति 'प्राकृत'-साम्राज्य पर
'प्रभु' की छिपी उपस्थिति इस अंतर को
बस यह धरती आशातीत रूप से
औ' इस पाहन 'जड़ता' के भीतर से
औ' काया काया के भीतर अभिनव
और सितारोंके स्तुति-गायन के प्रति,
जीवन-दिवसों का प्रयाण सुखदायी
और हमारा सुसंकल्प 'शाश्वत' की

जिसे न अब तक इक जन भी समझा है

या सोते होंगे, तब धीरे धीरे
क्योंकि मनुज तो देख नहीं पाएगा
और कार्य जब तक संपन्न न होगा

एक अभागी अरे चेतना है जो
धोखा देने वाली ऊषाओं की
जो सत्ता के तमोग्रस्त औ' ज्योतित
छोरों के बीच की अपूर्ण ज्योति में,—

और 'वास्तविकता' के भीतर यह ज्यों
वह इक पूर्ण 'विचार' को काट देती
इक धुंधले मध्य-देश में वह जैसे
अपने आदि, अंत के प्रति शंकाकुल
या फिर कोई अंतविहीन मार्ग पर
इस प्रकार प्रथमा-'ऊषा' से औ' उस
एक महा विशाल शून्य 'अचेतन' में
एक विचार-शक्ति के समान है जो

जो 'मन' को शत, सहस्र लक्ष अर्थ के

अपने दबे पाँव रखता आएगा।
चिद्-आत्मा जिसका अनुकरण करेगी,
एक शक्ति आकर चुपचाप छिपेगी,
जीवन के सब बन्द द्वार खोलेगी,
सारे प्रतिरोधों पर विजय वरेगी,
तब एकाएकी कब्जा. कर लेगी,
आनंद के लिए अभिविवश करेगी,
निजी दिव्यता में विकसे पनपेगी।
आत्मा का सुप्रकाश प्रज्वलित होगा,
एक पुनीत जन्मका दीप दिपेगा,
फिर रजनी का अंतर जाग उठेगा,
एक तीर्थ-यात्रा की कूच बनेगा,
स्वीय-शक्ति के प्रवाह सरिस बहेगा,
विचार, आत्म-सूर्य की किरण बनेगा।
कुछ जन उसे आंख से देख सकेंगे।
औ' बस जब ज्ञानी बतियाते होंगे,
ईश्वर अंखुआता औ' बढ़ता होगा,
जब तक न मुहूर्त्त प्रकट सम्मुख होगा,
तब तक उसको विश्वास नहीं होगा।

अपने ही सत्यों से अज्ञ है बनी,
गृहविहीन इक सैलानी शिकारिणी,

जो आंखों को पूर्ण सरिस लगती है,
उसमें यहां घूमती ही रहती है:
इक मध्यावस्था है, इक विराम है,
इक समग्र-'शक्ति' को छिन्न कर देती
गोल गोल फिरती, या कि खड़ी रहती,

इधर उधर भागा दौड़ा है करती।
अंतिम 'ज्वाला' से दूर दूर रह कर
ही वह अपने वास किया करती है,
विस्तृत शून्य में डटी ही रहती है।
वह ज्यों दुर्बोध एक गूढ़-शक्ति हो
करने का इंगित देती रहती हो,

दैवयोग से जनमी इस जगती को
संदेहात्मक अरे प्रमाणों पर ही
समझा हुआ गलत एक संदेश हो
दूर जा पड़ा जो निज असल ध्येय से

या विश्व-गिरा की समग्रता से इक
आजू बाजू के दो भीम अक्षरों
इक पहेलिका भरे जगत् को लेकर
आदेश बिना ही इस अपने मध्यम
मानो यह इक वर्तमान है ऐसा
जो अपनी क्रांति के उन्हीं चक्रों को
बार बार दुहराता हुआ शून्य की
इस प्रकार सर्जन का अर्थ हमारी
क्योंकि विश्वपृष्ठ को अरे यह मानव
जिसके इंगित हमको जैसे कोई
ढकी हुई एक विदेशी भाषा में
या महिमामय सांकेतिक भाषा का

नश्वर-प्राणी की आंखों में जिसने
अर्थहीन-से दिखते इक जादू का
केवल तनिक देर जीने को जिसने
जो अपने सिंधु को न कभी पा सके
जीवन और मरण के बीच दौड़ती
जिसके महा-कारनामों की ऊष्मा
बस हम जिससे कि हुए अलग पड़े हैं
उससे पुनः भेंट लेना ही अपनी
दो शाही गोलार्द्धों के समान जो
या कि 'रात'-'दिन' के प्रतिकूल-ध्रुवों के
जिस गहरी खाई को अरे रचा है
'अनंतता' के विवृत स्वरों के सँग फिर
नश्वरता के संभृत पड़े व्यंजन का
'जड़तत्त्व' और 'मन' के बीच आज फिर
ऊर्ध्वारोही आत्मा के हित पतली
वस्तु वस्तु में गोपित एक सूत्रता
स्वीय-अंतरों को उस गुमी खो चुकी

अपना ही इक अर्थदान करती हो।
टिका हुआ जैसे एक अनुमान हो,

इतना एक विचार कि भ्रम्यमाण हो,–
ऐसा ही कुछ वह उचार सकती है,
खींच निकाला अंश बोल सकती है।
का अर्थ किए बिना बढ़ी जाती है

-इंगित पर बस घूम घूम पड़ती है,
जिसका भूत-भविष्य नहीं दिखता है,

बस अपनी 'कीली' पर ही फिरता है।
इन आंखों से सदा छिपा रहता है,
बिना पूर्व-संदर्भ पढ़ा करता है,
अनजानी लिपि के सम घूरा करते
अपने सम्मुख मानो प्रकट हुए हों,
इंगित है जिसकी कुंजी गायब हो,
गूढ़ पहेली का या एक अंश हो।

महिमा-कंचुक धारण किया हुआ हो,
अपने को मिट्टी में मिला दिया हो;
बस मानो ऐसी वह इक सरिता हो,
'काल'-किनारी पर भागी जाती हो।
'निशि' में जलती एक अग्नि-ज्वाला हो।
जो आज विरोधी है और द्वैत है,
सत्ता की गंभीर इक जरूरत है,
दूर हो गए कभी नहीं मिलते हैं,
सम आमने सामने खड़े हुए हैं।
हमने, उसे हमें ही भरना होगा,

आज यहां संबंध जोड़ना होगा,
इक समास चिह्न को खींचना होगा
संयोगभूमि एक बनानी होगी :
की मंत्र-शक्ति पुनः जगानी होगी,
'दिव्य भावना' को पुकारना होगा,

पूर्ण-गिरा के उस जादू को अपने
'आदि', 'अंत' दोनों शब्दों को लेकर
तब जाकर 'परमा-आत्मा' और 'प्रकृति'
दोनों उस फैली रहस्य लीला के
'आत्मतत्त्व' के मुक्त अलक्षण-नभ में
सबसे पृथक्, और स्वर्णिम सूर्यों के
जिसे न मर्त्य-दृष्टि इक सह सकती है
'आत्मा' की स्वतंत्र, केवला शक्तियां

इक पुलकन, इक दीप्ति, एक चुप्पी है
दुख की सतत अपेक्षा रखनेवाली
और दर्द में गुहार करने वाली
'उसकी' अखण्ड-आनन्दानुभूति में
निष्कलंक आत्मबोध, आत्मशक्ति में
'शाश्वत-संकल्प' पर सुशांत भाव से
उसके ही नियम विधान मानती हैं
उनका अपना कोई ध्येय नहीं है
कालातीता पवित्रता में, उनकी
पूजा का विनिमय औ' रिश्वतखोरी
विद्रोही-चीत्कारों औ' अज्ञानी
न हमारे पाप-पुण्य को गिनती हैं
भूलों से औ' उसके शासन से वे
वे तो 'महासत्य' की नीरवता की
वे तो बस जैसी की तैसी 'प्रभु' की
इक गभीर औ' पूर्ण समर्पण ही बस
और शांत तादात्म्य ही एक उनकी
निद्रा के समान निस्पंद औ' अचल
अपनी शांति में पड़ी देख रही हैं
अपनी 'अमर्त्यता' से निरख रही हैं
अचलायमान बनी निहार रही हैं
खुलते इस 'विधि' के लंबे नक्शे को
और हमारे जीवन संघर्षों पर
फिर भी जग-अस्तित्व की हक़ीक़त यह
इच्छा, आशा, अनिष्टभावी, सबसे
अपनी अविजित चिर शक्ति में प्रतिष्ठित

स्वभाव, ससंस्कारों से उगना होगा,
उनको स्वरैक्यता में लाना होगा।
ये दोनों मिलकर एकात्म बनेंगे,
युगल छोर हैं इसको सिद्ध करेंगे।
शुभ्र, निर्वसन अचला 'नीरवता' में,
समान चकाचौंध दीप्ति से प्रखरतर
उस ज्योति की 'किरण' से आवृत होकर
'दिव्य' विचारों के एकाकीपन में
अविराम एक टक हैं जलती रहतीं।
घायल अंतर की पहुंच से अलक्षित,
सृजन-'भावना' के हित जो हैं वर्जित,
गूढ़ 'शक्ति' से दूर और अभिगोपित,
वे रहती हैं बनी हुई संवादित।

संतुष्ट बनी चुपचाप पड़ी रहतीं।
और उसी के कहने में हैं चलतीं,
वे हैं अपना कुछ उद्देश्य न रखतीं।
उन्हें नहीं फुसलाया जा सकता है,
उन्हें न कुछ भी आकर्षित करता है।
स्तुति-वन्दन पर नहीं द्रवित होती हैं,
और न करुण-पुकारों पर झुकती हैं,
निज जीवन-व्यापार नहीं रचती हैं:
जागरूक प्रहरी, रक्षा-कर्त्री हैं,
अचला-आज्ञा की पालन-कर्त्री हैं।
उनकी कार्य-क्षमता का अधार है
ज्ञान प्राप्ति का केवल खुला द्वार है,
गठित कार्य का उनके सुव्यापार है।
तारों के नीचे की सब हलचल को,
'मृत्युवशी' औ' 'दैववशी' कार्यों को,
चले जा रहे युगों के काफिले को,
वे तटस्थ बनकर हैं लखती रहतीं
निर्लिप्त दृष्टि डाल लिया हैं करती,
उनके बिना न संभव थी बन सकती।
अस्पर्श्य औ' अछूती बनी हुई सी,

विचलित हुए बिना दुनिया के भारी
जग की अज्ञानता अरे उनके ही
उनकी उदासीनता ही तो उसमें
जैसे ऊंचाई नीचाई को है
जैसे विशालता लघुता को भीषण
उसी भांति उनकी यह दूरी हमको
रागावेग हमारे उत्सुक रहते
औ' यह बौनी-शोधों वाला निज मन
अनुमति देते हुए और उस प्रज्ञा
औ' जिसने मृत्यु और आंसू के भी
अनुमति देते हुए मंद औ' धीमे
वे उस दुख की जो जग के अंतर को
जो उसके शरीर को औ' जीवन को
उनकी शाही चापें सब दुख सुख की
विनष्ट हो जाने वाले इस शुभ में
मौन, विशुद्ध बनीं वे किये हुए उन
और नहीं तो सब कुछ क्षय हो जाए
'दिव्य' चरमताओं में बसने वाले

इन लंबे अस्पष्ट-युगों के धीमे
विपद्-ग्रस्त कर्मों से कढ़ने वाले
अमर देवता लखता नहीं हमारी
वह लखता है छिपे हुए पक्षों को
वह नियम विधान को जानता है औ'
इन नन्हें जीवन की कर्मेच्छाओं
दया तथा भय के अंकुश के नीचे

या जग के टूटे कर्कश-अंतर को

इसी 'काल' के शासन के भीतर ही
फिर भी परम आध्यात्मिक सहायता
जब तक इस लंबे धीमे-'विकास' की
और 'प्रकृति' वज्रों से छेद भेद कर
सिंहासनासीन ऊपर से तब भी
अपनी शक्ति से बहुत महान् कोई

कार्य भार को बैठी संभालती हैं
ज्ञान से प्रकाशित होती है रहती,
सतत अभीप्सा जाग्रत करती चलती।
ऊंचे चढ़ने को आकर्षित करती,
-साहस कृत्यों के हित प्रेरित करती,
अपनी सीमा के उस पार खींचती।
शाश्वत की शांति से भेंट लेने को,
व्याकुल 'सर्वज्ञ'-शक्ति से मिलने को।
को जिसने नर्क का विधान रचा है,
उपयोग का तरीका अजब चुना है,
'क्रम' से बढ़ते हुए 'काल' चापों को,
वेध रहा है, फिकर नहीं करती हैं,
कोंच रहा है, सोच नहीं करती हैं,
सीमाओं को अतिक्रम कर जाती हैं;
भाग नहीं अपना कुछ भी रखती हैं,
अशुभों में कुछ हिस्सा न बंटाती हैं,
औ' वे जग की सुरक्षा न कर पाएं।
महा सत्य से बना हुआ अवबोधित
सर्वज्ञा 'शक्ति' की प्रगति से जाग्रत,
धीमे बढ़ने वाले इस साहस को,
जग के आशातीत महान् शुभों को
अर्थहीन दृष्टि-समान वस्तुओं को।
और देख लेता बंद शक्तियों को,
चीजों की स्वाभाविक गति विधियों को,
पर वह परवश, बाधित हुए बिना ही
इक गुलाम सम चालित हुए बिना ही
इस जग रहस्य की गांठ खोलने में
सुसंतुष्ट और सुछन्दित करने में
नहीं जल्दबाजी कोई करता है।
'शाश्वत' मुहूर्त्त की बाट जोहता है।
गुप्त रूप से यहां सदा रहती है।
कुंडलिका धीरे धीरे खुलती है,
अपना पथ प्रशस्त करती चलती है,
एक शक्ति शासन करती रहती है।
कार्य के लिए करने को परवश से,

अरे निरर्थक सम इस भूगोलक पर
यहां तक कि इस जटिल अव्यवस्था के
मृत्यु-पतन की इस कड़ुआहट में भी
अपने दुखिया जीवन के ऊपर हम
वह अनगिनती तनुओं में, जन्मों में
अपने कर की और अकंप पकड़ से
वह अनिवार्य हमारे चरम ध्येय को
जिसे न कोई संकल्प दूर हमसे

पहले पहले जब मानव के उर ने
मरण सहा जीवन-कष्टों को झेला
उसी समय उन आत्माओं के सन्मुख
बस जिसने इस जग को गढ़ रक्खा है
सभी हमारी भूलें और गलतियां
वह जीवन के दुःखों औ' कष्टों में
युद्धों और श्रमों की भारी श्वासों
और हमारे पापों, पीड़ाओं में,
और हमारी अचित्-निशा पर उसका

कितने भी भीषण हों अशुभ हमारे
जब हम कुछ भी देख नहीं पाते हैं
तब भी सारी हलचल के भीतर से
और विभाजनशील इस जगत् की जब
तब 'भगवत्' आनँद और एकता के
और कलेंडर में उस 'अनजाने' के
और श्रेष्ठतम उस दिव्य 'जन्म' की वह
तब आत्मा निज बहुरंगी चापों के
जो कुछ अभी शून्य सरिस है, दूर है
और सुदूर वासिनी शांत 'शक्तियां'
और विधि-विहित अपने कार्य के लिए
सतत ज्ञानमय करुणामयी सुशोभन
'ओजस्विनियां', 'अवतारी' वाणी को
जो कूदेगी 'अज्ञानता'-गर्त की
इस प्रकार इस 'जीवन' रूपी भीषण

मृतवत् फिरते इस जग में, जीवित से,
यों ही हैं हम भ्रमते नहीं जा रहे;
द्वारा भी तो जिसे 'नियति' हैं कहते,

फैले हुए 'हाथ' का अनुभव करते।
अरे हमारे समीप ही रहता है;

हमारे लिए परिरक्षित रखता है
कर सकता, न कुभाग्य बदल सकता है,
यह चैतन्य-'अमरता' का किरीट है;

उनका पूर्व-प्रतिज्ञात देवत्व है।
सदा सदा वह ही इसका शासक है:
तो मार्ग में उठे बस उसके डग हैं।
अपना कार्य चलाए ही चलता है,
में भी उसका कार्य नहीं रुकता है,
अश्रुधार में कार्य किए जाता है,
ज्ञान स्व-शासन डोर कसे रहता है।
जीवन का कैसा भी दुखद भोग हो—
कितनी भी भीषण वर्तमान विधि हो
इत से उत मारे मारे फिरते हैं
एक सशक्त 'पथ-प्रदर्शन' पाते हैं,
हम सब सेवाएं खत्म कर चुकेंगे,
जन्मजात हक़ निश्चय हमें मिलेंगे।
इक दिन इसके लिए सुनिश्चित ही है
स्वर्णिम जन्मजयंती सुनियत ही है।
अर्थों का औचित्य सुप्रगट करेगी
वह सब सिद्धि उसे आकर भेंटेगी।
आखिर अपना कार्यारंभ करेंगी।
अचल अटल भाव से समुद्यत रहतीं,

सुनने हित आतुर हो बाट जोहतीं,
वृहत् खोह के पाट पाट देने को,
महाखात के पूर पूर देने को।

औ' बस तब तक यहां जगत्-'आत्मा' के

यहां 'विचारक' की आंखों के नीचे
और जगत्-द्रव्यों के अंधकारमय
उस 'प्रकाश' औ' अ-वसन, केवल, 'ऋत' के
छद्म-वेश में मुंदी दिव्य-सत्ता के
सदा पास रहनेवाले आनँद की
औ' जिससे जग का निर्माण हुआ है
और कालिया-सर्प की नींव वाले
गुप्त रूप से यहां प्रकृति-अंतर में
औ' विराट् की इस विश्व-योजना में
ले अजन्म-देवों की मृदु प्रतिमाएं
'विधि'-पट्टे में जकड़ी और कसी-सी
इस धीमे शाश्वत-'काल' की सुमौनिल,
सह चुपचाप गुह्यतम कार्य भार को
इस आवृत, आवश्यक अचित्-गर्त में
अरे अचित्-गर्त की मूक आकांक्षा

और विवर्तनोन्मुख 'आदि-नाद' का

जो शिखर-विजय के विराट् आरोहण
औ' आत्मा की विशालतम उन्नति के

यहां जहां पर सभी वस्तुएं अपना
ये सब 'केवल' उस एक परात्पर के
उससे ही उनका अस्तित्व है यहां
एक अदृष्ट 'उपस्थिति' है जो इनकी
'महा-जननि' की इस विराट् लीला में
घूम रहे इस शंकित भू-गोलक पर
औ' प्रत्येक रूप में और शक्ति में
'अचित्' महानिद्रा की गुप्तात्मा है

ये पंचभूत भी जब नहीं बने थे
मन का प्रकाश जनमा अरे नहीं था
इस विश्व की महान् छद्म लीला में

एक विरोधी सरिस विपक्षी-ध्रुव में,
'प्रभु' विरचित और इस अचित् रहस्य में,—
चुना यहाँ निज गोपित निवास जिसने,
अंत के निकट रहने बसने वाले,—
साथ चले आते इस समझौते में,
इस दुखान्त लगते सुखान्त नाटक में,
इस युगयुगीन आती चली शोध में
उस महिमाशाली शोभा-सपने में,
इस उन्नत औ' स्वर्णखचित गुम्बद में
कार्य कर रही वह चैतन्य 'सुस्रष्ट्री',
वह तम परिधानित अपार श्रमकर्त्री,
'सत्य भावना' की वह कार्य विधात्री,

धैर्यवान्, एक व्यवस्थापक जैसी,
एक एक क्षण पूरा करती रहती।
अपनी पूर्व-दृष्टि से सब लखती है।
उस महेच्छा को उत्तर देती है,
जो ऊपर से देख रही होती है,
ध्यानस्थित, अपरिष्कृत यह प्रथमाक्षर
चलता दीप्त-अंत को निज धारण कर
का मर्मी है और सहजज्ञानी है,
एक पूर्वलक्षण की सुनिशानी है।

एक अलग ही अस्तित्व दीखती हैं
ही आकार प्रकार फकत होती हैं:
उसकी ही श्वासों पर ये जीती हैं,
अचेत मिट्टी को गढ़ती रहती है।
'वह' उसका खेल-सखा बना हुआ है,
वह 'एकम्' ही तो नीचे आया है,
उसकी महा खोज से छिप, बैठा है।
आकार हीन एक 'शक्ति-सरिता' है,
औ' बस नादविहीन 'परा वाचा' है,
तब भी था समुपस्थित अरे यहां ही;
श्वास न ले पाया था जीवन तक भी।
वह उसका सहकारी बना हुआ है,

अपनी अनुकृतियों को भी ले लेकर
बदल वास्तविकता में जो देता है
औ' प्रतीक को सत्य बना देता है।
अपनी दिव्य-मनीषा को औ' फिर वह
यहां 'काल' में रूप धरा देता है।
वह द्रव्यों का उपादान कारण है
औ' निमित्त कारण भी अरे वही है।
प्रकृति ने सकल कौशल, सामर्थ्यों को
उसमें से ही ढाल ढाल विरचा है:
अपनी रंग तरंगों के जादू में
मूंद ढांक कर उसको ही रक्खा है,
उसके ही लक्षों सत्यों को लेकर
अपने अनगिन स्वप्नों को सिरजा है।
इस सारी सत्ता का 'स्वामी' अपने
आप अरे उसके समीप आया है,
और इसी अस्थायी काल-गर्भ में
उसी अमर शिशु ने तो जन्म लिया है।
वस्तु वस्तु में निज निर्माण रचाती
व्यक्ति व्यक्ति में औ' विचार उपजाती,
'उसके' हित अपनी इक धारणा लिए
सपनाती सी पीछे भागी जाती
कभी इधर उसकी झलक को पकड़ती
उधर भावभंगी को इक धर लेती।
इस प्रकार निज, अंतविहीन जन्म को
इनमें रह दुहराता ही है जाता।
अरे वही तो जग का 'निर्माता' है
और वही जगती है, जिसे बनाता,
दर्शन भी है वही और द्रष्टा भी
खुद अभिनेता भी है औ' अभिनय भी,
और वही ज्ञाता है और ज्ञान भी
स्वयं स्वप्नद्रष्टा है और स्वप्न भी।
वे 'दो' हैं जो असल में 'एक' ही हैं
अनगिन जगतों में खेल खेलते हैं।
'ज्ञान' और 'अज्ञान' बीच दोनों ने
बातें की हैं औ' दोनों भेंटे हैं,
और प्रकाश तथा अंधकार दोनों
उनकी दृष्टि का परस्पर विनिमय है।
औ' अपनी जगती के सुख दुख दोनों
उनका मल्लयुद्ध हैं, आलिंगन हैं,
अपने कर्म और आशाएं, उनकी
जीवन महा-कथा में गुंथे हुए हैं,
और हमारे विचार औ' जीवन में
वे अजान एकायित बने हुए हैं।
यह जगती इक अंतहीन छलना है,
उसका नहीं स्वरूप असल अपना है,

क्योंकि यहां जो कुछ दिखता है वह तो
यह तो स्वप्न-सत्य दर्शन है सत् का
जिसको पूरा पूरा सच बनना है,
सपने में बस छोड़ न और कभी भी

शाश्वतता की धुंधली पृष्ठभमि के
संम्मुख इक अद्भुत-सा सर्जन अपनी
विशिष्टता को लेकर खड़ा हुआ है,
हम उसका बाह्य रूप ही लेते हैं
अंतरार्थ पर ध्यान नहीं देते हैं,
एक भाग को ही देखते समझते
उसको ही संपूर्ण समझ लेते हैं।
बस उन दोनों ने अपनी क्रीड़ा में
हमको माध्यम मात्र बना रक्खा है,
सच पूछो तो स्रष्टा औ' अभिनेता
वही है, और बना दृश्य खुद ही है,
वह 'आत्मा' बनकर गति करता रहता
और 'प्रकृति' बन वह घूमा करती है।
इस जगती में जहां कि हम सबको बस
अपना अपना अभिनय करना होता,
कौन दिशा होगी अब इस नाटक की
यह हम में से कोई नहीं जानता,

और हमारे मुख से कढ़ा वाक्य झट
अपनी महत् योजना को वह सारी
अपनी महिमा-शोभा औ' आनँद को
'प्रेम' तथा 'ज्ञान' को छिपा रखती है
उसकी सारी सुन्दरता औ' सारे
उनमें से हम तमसाच्छन्न तनिक सा
वह भी आ इक छोटे और संकुचित
निज सर्वशक्तता को बिसराता है,

पहिचानता 'प्रकृति' को है अब केवल
उसे महान् बनाने के हित उसने
बन कर 'मूर्त' यहां अपनी निस्सीमा
शांति को प्रकृति के सर्जक -आवेशों
के आनँद के साथ संगठित करके,
उसमें अपने को इक नई रीति से
यद्यपि स्वामी है वह स्वर्ग, धरा का
किंतु 'प्रकृति' के ऊपर ही जगती का
उसके सब दृश्यों का 'एकल साक्षी'
उसके रंगमंच के ऊपर जैसे
नहीं एक अक्षर भी जहां बोलता
वह उसके जगत् में जन्म लेता है
उसके रहस्यमय हावों भावों के
उसकी मनोदशा की उठती गिरती
संयोगवशी-घटना के मोड़ों को
जिन्हें चाह कर भी वह समझ न पाती
धीरे धीरे दीर्घ-'काल' से होकर
वह 'प्रकृति' को पूजता ऐसे, जैसे
और अर्चना करता, ऐसे जैसे
बन विनम्र रहता है ऐसे, जैसे
रात्रि-दिवस का धूप-दीप लेकर वह
इस प्रकार यह महायज्ञ का उसके
उसके प्रेम और करुणा का जैसे
और प्रकृति में मिला निजी आनँद ही
अपनी सत्ता की सकल शक्तियों में
वस्तु वस्तु में 'प्रभु' के छिपे लक्ष्य को

उन दोनों के विचार को ढक लेता,
लुका छिपा रखती है मनुज दृष्टि से:
बरका और दुरा रखती है हमसे
अपने अंतर में इक छद्म वेश से।
चमत्कार जो नित आते जाते हैं,
ही बस केवल अनुभव कर पाते हैं ।
'देवत्व' को यहां धारण करता है,

अनंतता औ' शांति को गंवाता है।
अपने को एकदम बिसार दिया है,
अपना सब कुछ उस पर वार दिया है।

फिर से पाने की आशा करता है।

सब संचालन भार छोड़ देता है,
सारे नाटक को देखा करता है।
एक फालतू-सा अतिरिक्त पात्र है,
या परदे के पीछे छिपा हुआ है।
उसकी इच्छा का पालन करता है,
अर्थों का लेखा लेता रहता है,

सदा समझने की कोशिश करता है,
उसके उन तात्पर्यों को निकालता
उसके उद्देश्य को पूर्ण है करता।
कोई उसके हित महान् देवी हो;
वह उसकी इच्छाओं की शासक हो,
उसके संकल्प की कि संचालक हो,
अर्च अर्च जीवन अर्पण करता है,
इक भव्य अनुष्ठान चला करता है।
एक विसुध चालक बनकर रहता है,
उसको अपना पूर्ण जगत् लगता है:
उसके ही द्वारा विकास करता है;
वह उसके द्वारा ही बस पढ़ता है।

या उसके अनगिन परिजन वर्गों में वह भी एक मुसाहिब बन रहता है,
संतुष्ट बना उसके सँग रहने में अपने पास उसे अनुभव करता है,
थोड़े से थोड़ा जो कुछ दे देती उसे अधिक से अधिक मान लेता है,
औ' जो कुछ वह करती है उस सबको अपने आनंद में डुबा देता है।
उसकी उठी एक चितवन भी उसके पूर्ण दिवस में चमत्कार भर लाती,
मुख से निकली हुई पुलक इक वाचा उसकी घड़ियों को है पर दे जाती।
वह जो कुछ है, जो कुछ भी करता है सबमें उसपर ही निर्भर रहता है:
उसके उपहारों पर ही वह अपने गौरवमय सौभाग्य दिवस गढ़ता है,
औ' मयूरपंखी जीवनहर्षों को घसीटता सारे जग में फिरता है,
उसकी क्षण-स्मिति-महिमा के आतप में निज पर खोल कर घमाया करता है।
सहस सहस विधि से वह यहां प्रकृति की शाही जरूरतों को पूरा करता,
उसका कालचक्र यह उसकी इच्छा के चारों दिशि है बस घूमा करता,
सभी वस्तुओं में से उसकी सनकों को बेरोक प्रकट होने देता है,
सब कुछ उन दोनों की ही लीला है:
महा विशाल और विस्तृत सारा जग और नहीं कुछ, केवल 'पुरुष' 'प्रकृति' हैं।

यही गांठ तो है बस बांधे रखती
आपस में फैले नभ के तारों को
वे 'दो,' जो यथार्थ में सदा एक हैं वही शक्ति मात्र का छिपा रहस्य हैं,
वे 'दो,' जो यथार्थ में सदा एक हैं, वस्तु-शक्ति हैं और वस्तु-धर्मी हैं।
'उसकी' अंतरात्मा मौन रूप से प्रकृति और जग का आधार बनी है,
'उसके' कर्म प्रकृति की आज्ञा का औ' आदेशों का खाता और बही हैं।
उसके चरण तले वह बना मौज से परम सुखी, जड़ सम है लेटा रहता,
और प्रकृति के महा-विश्व नर्तन हित उसने निज वक्षस्थल है दे रक्खा,
बस अपने ये जीवन जिसकी ही तो हैं कांपती हुई एक रंगशाला,
जो अंतर में उसकी शक्ति न होती सहता कोई कैसे सकल कसाला,
फिर भी कोई छोड़ न सका, क्योंकि है उसके आनंद का बना मतवाला।
'उसके' सारे कर्म, विचार और सब गए प्रकृति द्वारा ही रचे गढ़े हैं,
और पुरुष की सारी सत्ता केवल अरे प्रकृति का ही विस्तृत दर्पण है:
उससे ही प्रेरित, सक्रिय बनकर 'वह' चलता फिरता है और बोलता है,
उसके अंतर की अनकही कामना को 'उसका' कर्म संपन्न करता है;
और जगत् की क्रिया प्रतिक्रियाओं को मूक भाव से 'वह' सहता रहता है,
जैसे उसके स्पर्श सदा ही 'उसकी' आत्मा औ' जीवन को ढाल रहे हों:
इन दिवसों में होकर 'उसकी' यात्रा कर रवि की दिशि सतत प्रयाण रही हो;
'वह' उसके ही मार्ग पर दौड़ता है उसका ही पथ बस 'उसका' अपना है।

उसके सुख दुःखों का इक साक्षी या

उसके उन्माद भरे तौर तरीकों
उसके मधुराकर्षी और भयावह
'उसका' अनुमतिकारी नाम सब कहीं
उसके सब दस्तावेजों पर 'उसके'
और प्रकृति अपने विस्तृत नाटक की
क्षणजीवी मानसिक-कल्पनाओं औ'

जहां देखने वाली इन आंखों को,
औ' साधारण आकार तक 'प्रकृति' के
वह 'उसकी' ही साक्षि-दृष्टि के द्वारा
'उसके' ही शक्ति-संचरणके द्वारा
अपने वैश्विक-'महाकर्म' के सारे
उसकी संघटनाएं जो आत्मा को
उसका बल, जो संचालित करता है

उसकी 'वाणी' जो चिर नीरवता में
उसकी नीरवता जो है 'वाचा' की
उसकी ऊंचाई, नीचाई जिसके
उसकी घटनाएं और जो हमारे
या वह सब कुछ जिसके द्वारा हम सब
कड़ुवी-मीठी भव्य-तुच्छ सब द्रव्यें
इनका, मौनिल पुरुष-दृष्टि के नीचे
सकल विश्व के ऊपर अरे प्रकृति ने
उसके सूक्ष्म समर्थ महान्-विधानों
'उसकी' और चेतना प्रकृति-गोद में
अंतविहीन अंतरिक्ष और उसका
इस प्रकार पुरुष की सकल सत्ता ही
वह 'काल' के असंख्यों आकारों को
और भाग्य का कठोर नकली चेहरा

और पुरुष के इस परिवर्तित श्रमरत
यहां पुरुष की आत्मा स्थूल-पिण्डता

उनके पढ़ने वाला विद्यार्थी है,
पाप पुण्य का औ' उसके साक्षी है,
को 'उसने' अपनी अनुमति अरपी है,
बल को अपनी बागडोर दे दी है।
निज संक्षिप्त-नाम की मुहर लगाता
महामौन का हस्ताक्षर है रहता;
महद् योजनाओं के संपादन में,
क्षणिक मनोभावों के प्रतिपादन में,
इस साधारण स्पष्ट जगत्-प्रयाण में,–
सब कुछ रहस्यमय, अद्भुत लगता है,
चमत्कार औ' अचरज का स्रष्टा है,

उपकरणों को है उद्घाटित करती,
उन्नत करतीं या अभिघातित करतीं,
और शक्तियां जो अभिरक्षित करतीं,
औ' जो हैं जीवन का कि अंत करतीं,
हृदय से हमारे है बातें करती,
उन्नत चोटी को भी उलांघ जाती,
बीच कि आत्मा अपनी गिरती उठती,
जीवन का हैं तानाबाना बुनतीं,
निज जीवन का सब कुछ पाते खोते,
भीषण-सुन्दर या कि दिव्य सब चीजें,–
ही अविरत विस्तार है किया करती।
एकछत्र निज शासन किया प्रवर्तित,
से होता है 'पुरुष' जहां पर शासित।
बन बैठी इक नन्हा-सा बालक है,
'उसके' विचार का क्रीड़ा-प्रांगण है,
बनी प्रकृति का प्रयोगक्षेत्र वृहत् है।
सीमित-मन की रचनात्मक भूलों को,
पहन प्रकटने वाले दैवयोग को
दुःख, मृत्यु 'निश्चेतन' की क्रीड़ा को
ज्ञान डोर से बांध बांध रखती है,
-अमरत्व बीच ज्ञानबोध भरती है।
बीच विराजित अति-सूक्ष्म एक अणु है,

'उसका' धातुतत्व ही उसके भौतिक
यहां वस्तुओं की मृत्यु के बीच बस
औ' प्राणी प्राणी की खाई से हो
उसके द्वारा ही 'वह' 'महारात्रि' से
यह महिमामय पूर्ण समर्पण 'उसके'
'उसकी' विशुद्ध पराशक्ति ने निज को
उसकी विश्व-अज्ञता के रहस्य में,
असमाधेय खेल की पहेलिका में,
जिस ढांचे में उसने 'उसको' ढाला
उसके विचार के साथ सोचता है
जैसा वह चाहती ढालना 'उसको'
उसका कलाकार संकल्प उसे जो
यद्यपि स्व-कल्पना मार्गों पर अपने
जैसे निज शिशु हो या परिचारक हो
फिर भी नश्वर दिखने वाले अपने
इस गुड्डे को ले वह स्वतंत्रता की
और जगत् के ऊपर स्थित उस अपनी
फिर भी काया रूपी अपने घर में
मर्त्य-सत्र में यह ध्येयबिन मुसाफिर
यह क्षणजीवी होकर भी तो है उस
फिर भी वह इस मानव रूप 'पुरुष' को

वह सारी प्रकृति की शक्तियों को है
और प्रकृति के द्वारा रचे नियम के
औ' मानव विचार रूपी यह मुखड़ा
प्रकृति-पाश की जकड़न में पड़ पड़ कर
औ' उसकी आवृत-सनकों में बंध कर
इस प्रकार यदि कहीं घड़ी भर को भी
औ' वह 'उसकी' इच्छा पालन करती
'वह' उसको अपने क्षण-आवेगों की
वह आज्ञा पालन का भाव दिखाती
क्योंकि वह उसी के तो लिए बनी है
पर जब उस पर जय पाता होता तब

औ' उसके उपाय जिनको कि काम में

कार्यों के हित स्थूलित इक पदार्थ है।
उसका सुपरम-आत्मा बच रहता है,
'वह' शाश्वतता-चोटी पर चढ़ता है,
अमर 'ज्योति' तक ले जाया जाता है।
स्वतंत्र संकल्प की अमूल्य भेंट है,
उसके बाहुपाश में दिया सौंप है।

रचा गया इक प्राणी मर्त्य-तत्व से,
चलता बढ़ता है 'वह' उसी रीति से,
उसके दुख में शीत-श्वास भरता है;
उसी वस्तु का रूप धार लेता है,
चाहता बनाना है बन जाता है।
वह 'उसको' खींचे खींचे फिरती है,
इस प्रकार 'उसके' साथ खेलती है

औ' 'शाश्वत'-कौशल की दिशि बढ़ती है
अविनश्वरता का ध्येय साधती है।

जन्म-मृत्यु के बीच यात्रा-कर्ता,
उन्नत अमर्त्यता के सपने लेता,
शासन करने हित प्रेरित करती है,
और इसी में सुसंतुष्ट रहती है।
अपने सशक्त हाथों में ले लेता,
जुए में उसे जोत जोत है देता।
निज शीश पर मुकुट है धारण करता।

उसके तौर तरीकों को पढ़ता है,
कर सकता है तो जी भर करता है,

एक क्रीत-दासी करके लखता है :
निज प्राणी का यथा अनुकरण करती,
उसके ही उपयोग के लिए जीती।
सबसे अधिक दास उसका बन जाता
'वह' केवल उसपर ही निर्भर करता
लाता है, वे सकल हैं प्रकृति के ही,

उसके बिना नहीं वह कुछ कर सकता
आखिर अपनी 'पुरुष' चेतनाकी स्मृति,–
अपने इष्ट देव की मूर्ति, एक दिन
इस प्रकार इस मानव-ढांचे में से
तब उच्चातिउच्च अपना स्वरूप वह
बस तब तक यह पुरुष खेल का उसके
दिखलाई पड़ता है शासक लेकिन
उसके ओजों की कमानियों पर ही
'वह' इस प्रकार कार्य संवरता रहता •
किसी और से चालित यंत्र की तरह
और 'शक्ति'-लगुडों को उसके खाकर
उसका विचार श्रम करता रहता ज्यों
जिस संकल्प को कि वह अपना कहता
'विश्व-प्रकृति' के इस गूंगे शासन में

भीषण लीला के हित चुनी हुई इस
संगिनि के संकल्प को सदा 'उसने'
उसकी ही सनकों को उसने अपने
उसकी शाही-सत्ताके हाथों में
फिर वह चाहे वरदान दे, शाप दे
जो निज बोधों को पीड़ा लगती हैं
उसमें भी 'वह' उसके राजहस्त की
सभी अनुभवों में 'वह' उसके हाथों
उसके चापों के सुखमय स्पर्शों को
फिर प्रति घटना औ' प्रत्येक घड़ी के
दैवयोग में बस वह उसके मीठे
वह जो कुछ कर सकती उसकी आंखों
'वह' निधरक हो उसके संग रमता है
उसकी जगती के सब आनंदों का
उसके इक इक विचार और कर्म में
वह जिस कुछ की कि कामना कर सकती
जो कुछ वह चाहती है वही कुछ 'वह'
उस 'आत्मा' औ' बहुरूपी इस 'एकम्'
ने अपनी उस निपट अकेली नीरव
अंतविहीन 'काल' की परंपरा में

वह 'उस' पर शासन करती है फिर भी।

उसके अंतर में जग, दिपती ही है,
फटकर 'भगवत्ता' बाहर आती है:
उधार उसकी संगिनि बन जाती है।
बना एक साधारण-सा गुड्डा है,
उसकी सनकों पर नाच नाचता है,
यह जीवित बबुआ फिरता रहता है,
ज्यों कोई सपने में गति करता हो,
अपनी 'विधि' की लीकों पर फिरता हो,
गिरता पड़ता वह दिन दिन बढ़ता हो:
'काल' क्षेत्र में गया बैल जोता है,
ढला प्रकृति-भट्टी में वह होता है।
सब आज्ञाओं को बस शिरोधार्य कर,
निज दुर्जेय 'शक्ति' से चालित होकर

अपनी विधि का स्वामी कर माना है
सुख दुःखों का निर्माता जाना है,
'उसका' सब कुछ बेमोल बिकाना है
स्वीकारेगा निश्चय यह ठाना है:

स्पर्श-माधुरी का अनुभव करती है,
का आनँदमय एक स्पर्श लहती है।
'वह' अपने अंतर ऊपर लेता है,

सुआगमन का चमत्कार लखता है।
को सब चमत्कार पूरित लगता है,
और सिंधु का उसके संतारक है,
अनथक पिपासु, अल्हड़ एक रसिक है,
वह ऊब डूब आनँद लेता रहता,
उस सबको अपनी अनुमति है देता;
बन जाने में है अंतर सुख लहता:

शाश्वतता को पीछे छोड़ दिया है,
'वह' इक अविरम अंतविहीन जन्म है,

औ' इस फैली अंतविहीन दिशा में   प्रकृति सान्तता का एक नानात्व है।

इस सारी सत्ता का स्वामी अपने   अंतरतम के भीतर छिपा हुआ है,
औ' अपनी ही 'शक्ति' देवि के संग संग   लुका छिपी का इक खेल खेलता है;
और 'प्रकृति' के करणों के भीतर इक   गुह्य 'देव' इधर उधर भटक रहा है।
वह 'सर्वव्यापी' मानव के भीतर   अपने गृह के सरिस वास करता है,
निज 'शक्ति' के महाकार्य प्रदर्शन को   इक व्यायाम निकेत रचा रक्खा है।
'सर्वज्ञानी' होकर भी मानव की   तमसावस्था को स्वीकृत करता है,
और 'दिव्य' होकर भी वह पशुओं औ'   मानव के आकार ग्रहण करता है;
औ' 'शाश्वत' होकर भी 'नियति''काल' को   चलने की अनुमति अर्पित करता है,
और अमर होकर भी वह लीलाधर   इस नश्वरता से खेला करता है।
'अज्ञान' में कूदने का यह जोखिम   स्वयं 'सर्वचैतन्य' ने सकारा है,
और 'सर्व आनँद' ने ही तो आकर   विसंग बनने का कौतुक धारा है।
दुःख और कलहों से भरे जगत् में   आकर उसने निज अवतार लिया है,
    सुख शोक का अँगरखा इक पहना है;
और अनुभवों को लेकर सब जग के   शक्ति-वारुणी के सम पान किया है।
संभावना सुगर्भित सब 'वृहतों' पर   जो परात्पर बन शासन करता है,
वह भविष्य द्रष्टा ही गूढ़ हमारी   गहराइयों बीच छिप कर रहता है,
वह ज्योतिर्मय इक व्याप्त व्यक्तितता की   'सत्ता' है, औ' एकाकी बसता है।

उस 'निरपेक्ष' 'पूर्ण' औ' 'केवल' ने ही
अपनी मौन 'शक्ति' को 'नीरवता' से   उठ आने के हेतु किया आह्वानित,
जो कि अकाय, अरूप एक चुप्पी में   पड़ी हुई थी सुख मौज में विश्रमित,
जैसे परम चरम उस एकलता की   अकथनीय शक्ति को किए अभिरक्षित
    स्व-अचल निद्रा से पहरा देती हो,
    और 'समय' से उसको बचा रही हो।

बस 'निरपेक्ष' 'पूर्ण' औ' 'केवल' ने ही
अपनी नीरवता के साथ हमारे   देश-काल में अरे प्रवेश किया है:
और एक आत्मा से असंख्य अनगिन   -व्यक्तित्वों का शुभ निर्माण किया है,
और वही जो एकाकी 'विराट्' का   वासी था इस सब कुछ में बसता है।
    स्वयं 'दिशा' है वो ही 'काल' वही है।

बस वह 'निरपेक्ष' 'पूर्ण' औ' वह 'अक्षत'
'एकम्' जो हम सबकी गुह्यात्मा है
उसने ही तो अब इस अपूर्णता के   छद्मवेश को किया यहां धारण है,
और मांस मज्जा के इस निवास को   आकर खुद ही उसने किया वरण है,

उसने ही तो इस मानवाकार में अरे मूर्ति को बस अपनी ढाला है,
कि दिव्यता की उसकी ऊंचाई तक हम सब कभी समुन्नत बन पहुंच सकें।
तब इक दिव्य रूप रेखा में फिर से ढाल ढाल 'स्रष्टा' हमको रचा सके,
औ' निज अनंतता की ऊंचाई तक मानव के सांत मनों को उठवाकर;
क्षण से शाश्वतता का स्पर्श कराकर
इसी मर्त्यता के विस्तृत ढांचे पर अपनी दिव्य योजना को चला सके।
यह रूपांतर तो ऋण के स्वरूप में अरे स्वर्ग पर पृथिवी का उधार है:
यह तो इक आपसी दुतरफा ऋण है जो हमको बांधता 'परात्पर' से है:
बस हमको धारना प्रकृति है 'उसकी' जैसे उसने कि हमारी धारी है।
बस हम सब 'प्रभु' के ही अरे पुत्र हैं औ' उनके ही समान तो बनना है,
उनके ही हम सब मानवी अंश हैं हमें उसी दिव्यता में विकसना है।
जीवन एक विरोधाभास है जिसे 'प्रभु' रूपी कुंजी से ही खुलना है।

पर इस अपनी मध्यावस्था में तो
सब कुछ एक स्वप्न के द्वारा फेंकी हुई फकत मानो धुंधली छाया है,
औ' चिंतनमग्ना अक्रिय-'आत्मा' को
'जीवन' औ' 'वह' स्वयं धरे पौराणिक महाकथा का एक पक्ष लगता है,
या इस लंबी बढ़ती चली जा रही अर्थविहीन कथा की विषयवस्तु है।
क्योंकि महा अज्ञान 'अचित्' ने अब तक वह स्वर्णिम कुंजी तो चुरा धरी है,
और सतह की इस डेहरी के नीचे निगूढ़-'प्रभु' की श्री-सुषमा छहरी है।
इक काया में छिपाते हुए अमरा
'आत्मा' को, एक अनामी 'अधिवासी'
सज्जित बना सब अदृष्ट-शक्तियों से
'जड़ता' के इन आकारों के संग संग विचार से पर उद्देश्यों को लेकर,
औ' उनके बिन सोचे परिणामों के अद्भुत महा-जोखिमों को खे खेकर
इक सर्वशक्तिमान् अनाप, अथाहा 'प्रभाव' है जो अंतर में दिपता है,
औ' जिस आकार में वास करता है उससे ही अनजाना बन रहता है,
भटक रहे और अर्धज्ञानी मन से निज ज्ञान को सुआवृत कर रखता है।
जिसे विचारों ने ही उसके सिरजा उसी जगत् में भ्रमित बना फिरता है,
वह उस प्रज्ञा को जो ऊपर जाकर
उसकी ही है, ढूंढ़ ढूंढ़ लेने को
सत्य और झूठ की अंतहीना इस धुपछांही की ओर घूम पड़ता है।
जैसे वह बिलकुल ही बिसर गया हो वह निज को ही इस भांति ढूंढ़ता है;
जैसे अंतरज्योति गुमा बैठा हो अब उसको ही कि खोजता फिरता है:
इक यात्री सम रुकता और भटकता परदेशी दृश्यों में घूम रहा है,

वह यात्रा करता उस निज घर की दिशि
जिसका कुछ भी ज्ञान नहीं रखता है।
वह जो खुद ही सत्यों का सुसत्य है
अपनी सत्ता का 'सत्य' ढूंढ़ता है,
वही स्वयं 'लीलाधर' है जो आकर
स्वयं जादुई लीला यहां बना है।
अरे 'विचारक' स्वयं विचार बना है,
अरे वह महानीरव 'एकम्' ही तो
आ नाना-आकारी यहां बना है।
अब विश्व-शक्ति के प्रतीक रूपों में,
उसके चर और अचर सुइंगितों में,
घटनाओं के उलझे इन्हीं क्रमों में,
वह अपने ही अंतहीन जादू को
तब तक ढूंढ़ा करता अरे निरंतर
जब तक कि सर्वसाक्षी उस 'आत्मा' के
'केवल'-प्रकाश में बस पहुंच पनप कर
सहस सहस-विध उलझी जग-पहेलिका
सुलझ न जाए सीधी सुसरल होकर।

अपनी शक्तिशालिनी संगिनि के संग
उसका यही सनातन समझौता था,
कि प्रेम की खातिर उसके, उसके संग
बंध कर सदा सदा ही साथ रहेगा,
'काल'-शाश्वती के इस अनन्त पथ पर
उसके पीछे पीछे चला करेगा।
उसकी उठी अचानक मनस्-तरंगों
के इन जादूमय महत्-नाटकों में,
और छद्मरूपिणी 'भावनाओं' के
उसके आश्चर्य में पगे रूपों में,
औ' उसकी भीषण विशाल सनकों के
हठात् आए उतार औ' चढ़ावों में,
सदा सदा वह उसके साथ रहेगा।
यदपि ध्येय उसके दो से दिखते हैं
फिर भी दोनों हैं एक ही बराबर,
एक दूसरे को निहारते रहते
अंतहीन इस 'काल'-पंथ पर चलकर।
'आत्मा' औ' 'जड़ता' तो उन दोनों का
एक अंत औ' आदि हैं परम-सुन्दर।
वह जीवन के विभिन्न आकारों में
छिपे हुए अर्थों का इक शोधक है,
अंतर के गुह्य-अनन्त सागरों में
'जगदम्बा' के विस्तृत, अनरेखायित
संकल्प की तथा उसकी इन पार्थिव
प्रणालियों की ग्रामीण-पहेली का
इक शोधक है और एक नाविक है:
जादू-भू के इक गुह्य भूगोल का
एक साहसिक है संसृति-शास्त्री है।
और प्रकृति की भौतिक, स्थूल अवस्था
की इस अटला अचला सुयोजना में
जहां कि सब कुछ निश्चित सा लगता है,
औ' यदि कुछ परिवर्तित भी लगता है
फिर जैसे का तैसा हो जाता है,
औ' यद्यपि अंत यहां सदा सदा ही
अनजाना औ' अनदेखा रहता है,
औ' जीवनका यह परिवर्तनशाली
प्रवाह अस्थिर सदा सदा होता है,
फिर भी उसकी नीरव विधि के द्वारा
उसके पथ खोज ही लिए जाते हैं;
युग युग बहते भारी काल-प्रवह में

कुछ निश्चित प्रदेश प्रकटाते हैं जो
हमको आकर्षित तो करते हैं पर
फिर दूसरे नवीन क्षितिज आ आकर
इस सांत की अगम अंतहीनता का
औ' विचार के कहीं ठहर सकने का
अंतरात्मा के विविध अनुभवों को
इक सीमा है, इक दूरी है जिसको
अबतक अविजित बनी पूर्णता है जो
सुदूर के कोई 'अदृष्ट' छोरों से
बस अब तक जो कुछ भी विजित हुआ है

यही 'काल'सिंधु का एक नाविक है
और 'विश्व-जड़ता' का यही बराबर
जिसने अपने नन्हें-से शरीर में
जिसने यद्यपि अहंभाव की सकरी
पर आखिर में अगाध अनन्तताओं
वह इक शाश्वतार्णवों का यात्री है।

अपनी दिव्य शक्ति से अज्ञ बना-सा
अपने ही भीतर की सुगंधि से वह
अपनी महायोजनाओं का वारिस

तुच्छ नगण्य नाशवान् वस्तुओं का
पहले तो वह तट से चिपटा रहता
दूर सुदूर के भयानक-सागर में
और किनारे पर के ही साधारण
एक दूसरे के पास पड़ोसी ही
और सुरक्षित चक्र के अपरिवर्ती
नए अदृष्ट-तटों की खोज के लिए
पर वह विशालतर सिंधुओं से आज
विकसित होता हुआ एक जग है जो
और विशाल दृष्टि के नव-क्षितिजों की
किन्हीं अपरिचित जनों और अबतक के

बहुत देर तक ठहर नहीं पाते हैं,
मन को बढ़ने के हित ललचाते हैं।
अंत कभी भी आता पास नहीं है,
अंतिम निश्चय आता कहीं नहीं है,
मिलता अपना लक्ष्यस्थल न कहीं है।
पहुंच न पाता, ललचा उसे रही है,

उसको ठहर ठहर कर टेर रही है
वह इक लंबी शुरुआत मात्र ही है।

इक मंथर औ' सतत शोधकर्ता है,
लेकर जन्म कि यात्रारंभ किया है,
खाड़ी में स्वकला का पाठ पढ़ा है,
तक जाने का महायत्न करता है,

पर यह यात्री निज विश्व-जोखिमों में,
और प्राथमिक अपनी शुरुआतों में,
देखो कैसा मारा मारा फिरता,
कस्तूरी-मृग जैसा गाफिल रहता,
कायर औ' नौसिखिया ही है लगता।
भिदुर-पोत का एक कुशल नाविक है
सौदा करने वाला इक वणिजक है?
विस्तारों से दूर दूर रहता है,
पड़ने का जोखिम न मोल लेता है।
व्यापार बीच जन्म खपा देता है,
बंदर तक घूम कर उदर भरता है,
इस मार्ग पर तुष्ट होकर फिरता है,
नए नए साहस करते डरता है।
आते हुए एक स्वर को सुनता है।
उसको दूर के किन्हीं नव दृश्यों पर,
बार बार मोहक यात्रा करने पर,
किन्हीं अदेखे दूर नवीन तटों पर,
उसको फिर फिर आमंत्रित करता है।

बंधे नपे बस अपने उसी मार्ग पर
और 'काल' की संपत्ति लिए अपनी
दूर देश में अनजाने बंदर के
नई-हाट में ले जाकर जीवन की
भूमि-निवेष्ठित इक महान्-सागर के
बड़ी कीमती गांठें, गढ़ी मूर्तियां,
कढ़े, जड़े, चमचमें खिलौने जिनका
गाढ़े श्रम से और स्वेद से निर्मित,
क्षणिक भव्यता वाली चीजें जो बस

या कि शिलास्तंभों के महाद्वार के
वह अनाम, भीषणसागरों की अभी
पर सुदूर के आदर्शी सपनों की
बस अनजान-तटों से चिपटा चिपटा
और वहां झंझालोड़ित द्वीपों में
या विचार की निश्चित दिशि-सूची के
और 'अज्ञता' के व्यापारी पथ पर
फिर इक चमकीले से कुहरे में, जो
बस धीरे धीरे वह अपनी नौका
औ' अकल्प्य भू-खण्डों में वह जाकर
रुक सकता है कैसे, कहीं कि वह तो
इस जग की अंतिम सीमा को तजता
इसी प्रतीक-शोध के भीतर फिर वह
फिर 'जीवन' इन 'काल'-रचित द्रव्यों को
औ' अनंतता को ढक रखनेवाले

नश्वर-वायु न निज चमकीले पट को
वह नश्वर-विचार औ' आशा की सब
वह जगती के सिरे तक पहुंच कर फिर
मर्त्यकाय-आंखें ये अपनी चितवन

अरे 'काल'-यात्री को एक महत्तर
आखिरकार उसे उन्नत शिखरों पर
और दूरियां उससे बातें करतीं,
वह अदृष्ट की सीमा उलांघ जाता

उसका तिजारती पोत घूमता है,
विश्व की तिजारत करता फिरता है,
प्रकाश तक और वह पहुंच पाने को
सुसमृद्ध-कला के और बेचने को,
फेनों को चीरता हुआ बढ़ता है;
रंग बिरंगे किरमिच के सब साधन,
क्षण-शिशुक्रीड़ा के हित होता सर्जन,
सुघर वस्तुएं भांति भांति की नश्वर
कुछ दिन में फिर खो जातीं बन अर्जित,
उनका वह व्यापार किया करता है।
अरे बीच से बढ़ते हुए बराबर,
यात्रा को होता है नहीं सुतत्पर,
यात्रा का करता साहस न कठिनतर,
ही वह अपनी यात्रा पर है बढ़ता,
नए नए पोताश्रय है पा जाता,
इंगित के पथ निर्देशन पर चलता,
अरे बराबर वह यात्रा करता सा,
तारों को ढक रखता, है जा कढ़ता।
बिन खोजे तीरों को ले चलता है,
अकस्मात् ही कभी पहुंच जाता है;
'आनंद लोक'—द्वीपों का शोधक है,
अंतिम और समुद्रों को है तिरता,
शाश्वत-द्रव्यों की ओर घूम पड़ता;
उसके लिए नितांत बदल देता है,
आकारों में जादू भर देता है।
पार्थिव-सीमाएं पीछे हट जातीं,
उसके चहुंमुख है डाले रह पाती।
सीमा के उस पार पहुंच जाता है,
उसके उस पार दृष्टि फैलाता है,
उन 'आंखों' के बीच डुबा देती है,
जो चिर शाश्वतता पर लगी हुई हैं।
-जग की शोध एक दिन करनी ही है।
मंत्रोच्चार सुनाई पड़ता ही है,
अज्ञात पास उसके आता ही है:

औ' मर्त्य-दृष्टि की मर्यादा तजकर
जहां कि अपना औ' सारी द्रव्यों का

जो उसको जानती नहीं है बिलकुल
उसके लक्ष्यहीन अन्वेषण का यह
सतही-प्रतीक उसके अंतर्दर्शन
उसकी तो संपूर्ण खोज बस जैसे
या फिर इस नश्वर जीवन की अविरत
वह अपने पार्थिव-तन की नौका से
इन्द्रिय की सकरी सीमा के ऊपर
जहां कि केवल इक मन का शशि है जो
धुंधले और रहस्यभरे इक तट की
खिंची हुई रेखा है जो कि सदा ही
जैसे वह पतली औ' तुहिनाच्छादित
'अचित्' के अगाध सिंधु का वह नाविक
'जड़ता' के प्रवहण-पृष्ठ पर खड़ा हो

इस कोलाहल औ' बहुविध चीत्कारों
आनन्दमग्न औ' उन ज्ञानातीता
उन उन्नततर पर-व्योमों के नीचे
अपनी इस मर्त्यभूमिका के सारे
और प्रकृति के सब प्रचलित नकशों के
पर जानता नहीं है कोई भी वह
अथवा 'जगजननी' ने उसे कौन सा
उस माता के सर्वशक्तिशाली इक
जीवन के उछलते सिंधु पर बढ़ता
वज्र गर्जनाओं को चीरता हुआ
उस घोर कुहासे से और धुंध से
वहां बढ़ा जाता उसकी आज्ञाओं
और गुह्य-भाषा को खोल कर कभी

कि क्या फकत वह उस 'अदृष्ट' के कोई
या 'मां' के आदेशों से शस्त्रित बन
इक नवीन तन, मन के पा लेने को
औ' उर के गौरवमय मंदिर में कर

वह उसके उस पार निकल जाता है
एक नया दर्शन स्पर्शन पाता है।
इक अपूर्ण जग में वह इक आत्मा है,
औ' निज का भी जिसको नहीं पता है:

में इक अति गंभीर अर्थ धरता है;
तम की प्रकाश के हित मची खोज है,
अमर्त्यता के हित इक मची शोध है।

'काल'-सिंधु-जादू-लहरों को लखता,
दुनिया के तम को है ज्योतित करता।

दृष्टि-क्षेत्र से अपसरती रहती है,
स्वप्न ज्योति में चित्रित करी गई है।

तारा खचित विचार जगत् से होता,
आत्म-सूर्य की दिशि है यात्रा करता।
भरे जगत् से उस पार दूर जाकर,
निगूढ़ नीरवताओं को उलांघ कर,
एक विलक्षण मध्यलोक से होकर
अक्षांश देशांतरों से उठ ऊपर
बाहर, उसका ध्येय है सुदृढ़ औ' थिर।
हो इस अज्ञात से किधर जाता है,
गुप्त-ध्येय का कार्य-भार सौंपा है।
संकल्प की अदृष्ट-शक्ति को लेकर,
है उसके श्वासों से प्रेरित होकर,
निर्वात-मौन के भीतर से होकर,
जहां कुछ नहीं होता उसको गोचर
को लेकर अपनी छाती के भीतर।
बहुत दिनों बाद जब कि पढ़ पाएगा,
तब जाकर उस पर यह भेद खुलेगा,
सूने तट की ही ओर बढ़ रहा है,

'प्रभु' के नगर में प्रवेश कर रहा है,
उस 'अमर' की स्थापना यहां रहा है,

औ' जगती की ससीमता को लेकर
वर्षों के उस अंतहीन औ' खारी
'माता' की समुद्र-पवनें ही उसकी
औ' विश्व-समुद्रों में नाव लिए निज
उसके चहुंमुख इक गर्जन होता है
दुर्धर्ष एक आवाहन सुनता है
मातृशक्ति की अनुलीकों के पीछे
जीवन, मरण और अगले जन्मों में

'महाजननि' की एक शक्ति ऐसी है
औ' जो उसको उसकी निजी सृष्टि की
बस इस महान् यात्री को जीवन में
इस रहस्यमय-यात्रा का और कहीं
जब तक इस निश्चेतन अंधकार का
औ' वह 'दैवी'-प्रपात आकर जब तक
जब तक है अस्तित्व 'प्रकृति' का जग में
क्योंकि अरे इतना तो निश्चय ही है
यहां तक कि जब वह सोता होता है
और दूसरा कोई छोड़ दे उसे
उसके बिन एकल 'अज्ञेय'-लोक में
एक सत्य है जिसे जानना ही है
विश्व-प्रकृति की यह लीला सच्ची है;
इस गभीर विश्व-तरंग में 'जननि' की
विशाल निरुद्देश्य सी इस लीला का
जीवन की प्रथमा ऊषा से लेकर
उस अविरत-संकल्प को अरे उसने
कि एक निर्वैयक्तिक 'महाशून्य' में
भू की जड़-समाधि की दृढ़-मूलों पर
अचित् की गहन गहराई में सोती
और गुम चुकी इक शक्ति को अजगरी,
जिससे 'कालातीत' शक्ति निज चितवन
और जगत् फिर साक्षात् 'दिव्यता' को
यह सिद्धि साधने को ही 'आत्मा' ने
औ' अपने ऊपर जड़ काया का यह
'भगवत्ता' का बीज कि भावी में वह

उस 'असीमता' से जा जोड़ रहा है।
ऊसर पर जब उसकी नौका बढ़ती,
भटकी नौका को हैं राह दिखातीं;
जब छप छप करता वह बढ़ता होता,
औ' वह खतरों के सम्मुख है आता,
तो वे ही हैं उसको मार्ग धरातीं;
सदा पोत है उसका बढ़ता आता।
होकर उसका जहाज बढ़ा जा रहा,
निद्रा जागृति से हो चला जा रहा।
जो प्रतिपल उसके ऊपर रहती है,
विधि से ले जाकर गठिया देती है,
नहीं तनिक आराम कहीं मिलता है,
नहीं कभी भी अंत अरे दिखता है,
पट उठ जाय न मानव आत्मा पर से,
उस रजनी पर निज अधिकार न कर ले।
तब तक उसका भी जग में निवास है,
कि 'पुरुष' 'प्रकृति' अलग हैं नहीं, एक हैं।
उसको वक्षस्थल पर ही रखता है:
पर वह उसे न भूले से छोड़ेगा,
भी जाकर विश्राम नहीं भोगेगा।
औ' एक कार्य है जो करना ही है;
'वह' एक 'रहस्य' को सिद्ध करता ह।
क्रमबद्ध एक महती सुयोजना है,
एक सुनिश्चित ध्येय यहां अपना है।
उसका एक यही उद्देश्य रहा है,
निज लीला से आवृत कर रक्खा है,–
उद्बुद्ध एक व्यक्तित्व को कर सके,
'सत्य-प्रकाश' की कि इक चोट कर सके,
उस गूंगी आत्मशक्ति को जगा सके,
तमनिद्रा से झँझोर कर उठा सके,
को 'काल' से उठा ऊपर लगा सके
ऊपर लाकर फिर से कि प्रकटा सके,
अपनी शुभ्र-शाश्वती को त्यागा था,
भार स्वयं उसने इक दिन लादा था,
इन मनरहित 'दिशाओं' में उगा सके।

सर्ग पांचवां

राजा का योग : आत्मा की मुक्ति और महत्ता का योग

कालजात-मनुजों में पहले पहले
इस ज्ञान को अश्वपति ने पाया था।
वह अब अपने मानव-विचार के औ'
उस केवला-दृष्टि के बीच में पड़ी
मन की जगमग अभिदीप्त यवनिका को
छेद भेद कर आगे पहुंच गया था,
अब आत्मा में दर्शन-कूप के निकट
उसने एक निगुह्य-गुफा पाई थी,
औ' रहस्यमय एक द्वार पाया था,
और जहां महान 'महिमामय' 'पांखें'
ब्रह्मांड-अंड को हैं सेया करती
सतत सूर्यज्योतित उस देश में जहां
सकल सत्यता ज्ञात ही बनी रहती
उस प्रदेश में आज प्रवेश किया था।
संशय-विश्वासों से विमुक्त बनकर
नग्न वास्तविकता के तीव्राघातों
को सहने के प्रति अति उत्सुक होकर
उसने मनस्-डोर को, जो भू-अंतर
से बांधे रखती है, काट दिया था,
औ' 'जड़ता'-विधान के सकल जुए को
निज कंधों से उतार फेंक दिया था।
आत्मा की शक्तियों को न अब कोई
तन के विधान बांधे रह सकते थे :
जीवन की गति के चुक जाने पर भी
यम के दूत प्रवेश न पा सकते थे।
उसमें तब भी जीने का साहस था
जब श्वासों का चलना बन्द हो गया,
जब विचार का बहना बन्द हो गया।
बस फिर इस प्रकार वह उस अभिनवतम
जादूई देश में प्रवेश कर सका,
जहां कि क्षण भर मन के श्रमश्लथ कार्यों
से और 'प्रकृति' की इस स्थूल दृष्टि की
दरिद्रता से थोड़ा ऊपर उठकर,
थोड़े ही जन ले पाए होंगे बस
उसकी एक फकत नन्हीं झलकी भर।
'देवों' ने जो कुछ जाना सीखा है
वह सब स्वतः ज्ञान है बस उस थल पर
और वहीं पर मौन औ' पिहित-द्वारी
एक कक्ष के भीतर दृष्टि निगोपित,
विश्व-सदन के मुंशी चित्रगुप्त के
लेखा-पत्र धरे हैं बन रेखांकित,
और वहीं उस पवित्र विधि-'विधान' की
धरी सकल सारणियां हैं सुसहेजित,
'सत्ता' के 'सूचीपत्र' का पृष्ठवर,
और वहीं पर 'वैदिक'-सत्य का धरा
आदिम-पाठ्य ग्रंथ भाष्य सहित सुन्दर,

और भाग्य-गणना का मानव की है
संख्या औ' रूप की प्रतीक-शक्तियां,—
औ' आत्मा सँग होते रहनेवाले
इक रहस्यमय जीवन के अंतर पर
दिव्यात्मा के स्मृति-कक्ष की चमक में
अस्पष्ट, संदिग्ध पृष्ठ-कुण्डली को
वह दीपित उपान्त टिप्पणियों को अब

और उस तमस् समझौता-'पत्रक' से

वही सकल जो तमसिल-'प्रकृति' नींद से
उठ उठ कर उस 'आदि-सनातन' को है
योगी राजा आज उसी पत्रक को
उसके अद्‌भुत प्रतीकाक्षरों को औ'

पहेली भरे उसके मुहावरों को
और सत्य की प्रतिकृतियों के भीतर

औ' इस महत्-कार्य के लिए अति कठिन
शर्त को एक उचितावश्यकता सम

जिसको उसका जादू-कौशल ही तो
औ' 'देवों' के आपसी विरोधों के

गूंगी और महान यह 'प्रकृति' माता
आकारों के जन्म और उद्‌भव हित
शाश्वत की शाही अनुमति के द्वारा
स्वीय सृष्टि में दुख सुख का सर्जन कर

औ' मृत्यु के इस भयानक शासन में
इक अमोघता के साथ सतत अपनी
रक्त-मांस के बने हुए अंतर में
आनन्दानुभूति की एक प्यास को

ग्रह, उपग्रहों का वह ताल, छन्द, स्वर:
विश्वेतिहास की सांकेतिक भाषा,
'प्रकृति' पत्र-व्यवहार का सकल लेखा,
वहां सुरक्षित सब कुछ लिखा धरा था।

करते हुए ज्योति से और बिन्दुकित
पढ़ पढ़ अन्तर में कर सका बिसूरित,
यों आदि-भूमिका को बचा सका था,
इक रक्षा की दफा निकाल सका था,
जिस पत्रक से ही सब शासित होता,—

नए नए आकारों से ढक लेता।
पुनः पढ़ सका, नव भाष्य कर सका था,
बिखरे पड़े हुए अस्पष्ट इंगितों,
भविष्य वचनों औ' उन उलटवासियों,
के सच्चे अर्थ को निकाल सका था
अर्थ रहित से और विशेष पदों को
छिपे हुए गूढ़ विरोधाभासों को
वह अब उद्‌घाटित कर बांच सका था।

ठीक ढंग से अब पहचान सका था,
'प्रकृति' के असंभाव्य 'भगीरथ' श्रम को
इस जग में बस लागू कर सकता था,
उसके असह्य भारी कठिन नियम को,
उसके द्वंद्वों के अविभाज्य क्रमों को
वह आकर इस थल पर जान सका था।
जो अपनी विश्व-समाधि में पड़ी है

अपना मतलब सिद्ध किया करती है,
अचित्-जगत् में फिर चिर जिज्ञासा को
कभी न मरनेवाली जिजीविषा को
कार्यसिद्धि हेतु स्वीकार करती है,

वह अपने उर में धारण करती है,

जीवतत्त्व औ' गैस से यहां उपजे   इस जादूई अद्भुत एक जन्म में
जीवात्मा की सुसंभूति के द्वारा
अचित्-'रात्रि' के साथ 'ईश' के गुपचुप   करार को अंजाम दिया करती है।
औ' फिर से उस नीरव वैश्विक-'मन' में
अपनी श्रमनिरता-'शक्ति' से की हुई   'शाश्वत' की सुप्रतिज्ञा पड़ी सुनाई,
जो उसके विश्व-आवेश के द्वारा   कार्यारंभ हित गई थी दुहराई,
और मर्त्यभूमि पर जन्म का क्रन्दन
तथा 'काल' के इस दुखान्त नाटक का   उसको पड़ा मंगलाचरण सुनाई।
अब जग की गभीरताओं में से बस   समाधिस्थ वह आदि रहस्य जग पड़ा,
औ' आत्म-कन्दरा के भीतर रक्खा   था जो बन्द खजाने में इक जकड़ा,
उस आज्ञापत्र को अश्वपति ने अब   उठा लिया था जैसे और था पढ़ा,
औ' यह अस्पष्ट तथा मन्द-शक्ति जो
अज्ञानान्धकार के इन 'क्षेत्रों' में   रहती 'प्रकाश' के चरणों को रचती
उसके आच्छन्न कार्य पर अब उसने
दैवी-'प्रज्ञा' के हस्ताक्षर देखे   औ' उसकी अग्निल मुद्राएं देखीं।
निद्रामग्न और एक देवता ने   अपनी अमर्त्यशीला आंखें खोलीं :
अब उसने आत्माविहीन आकारों   में अरूपधारी विचार को देखा,
आध्यात्मिकता के अर्थ से सुगर्भित   'जड़तत्त्व' का लिया अब उसने लेखा,
देखा, कि 'अज्ञेय' को 'मनश्चेतना'   भी पढ़ने का साहस कर सकती है,
औ' यह 'प्राणशक्ति' उस 'स्वर्णिम शिशु' को   धारण करने की इक गर्भावधि है।
विचार के इक रीते छूछेपन में   उमड़ाती आती सुज्योति में माती,
उसने आत्मचेतना के इंगित से   इस जगती की एक नई व्याख्या की
औ' बाह्य पाठ्य-पुस्तक यह अब उसने   अपने अंतर की आंखों से बांची :
बस पहेलिका सीधी हो सुलझ गई   उसने अपनी सब बांकी गति त्यागी।
और विराट् पृष्ठ को इक विशालतर   आभा ज्योतित करने आज लग गई।
इन्हीं 'काल'-सनकों के साथ साथ ही   आ अब इक महान् उद्देश्य जुड़ गया,
'दैवयोग' के डगमगते चापों में   आकर कोई गहरा अर्थ भर गया,
औ' 'विधि' ने द्रष्टा-संकल्पों की इक   परंपरा को जैसे खोल था दिया
इक चिन्मय विशालता ने अब गूंगी,   प्राचीन 'दिशाओं' को पूर था दिया।
'महाशून्य' में 'सर्वज्ञ' परात्पर को   सिंहासन पर बैठा था देख लिया।

इक विशाल-'संकल्प' और आशा ने   उसके अंतर पर अधिकार कर लिया।
बस एक महत्तर-लोक को धरा पर   ले आने की उच्च अभीप्सा से भर,
और परामानव के प्रकट रूप को   जान समझ लेने की इच्छा लेकर
ऊंची, अदृष्ट, आध्यात्मिक ऊँचाइयों   पर उसने निज दृष्टि उठाकर ताका।

क्योंकि जिस महा महिमा से भेंटा है उसे बनाना है अब निज घर बांका।
और दीप्ततर स्वर्गिक एक सूर्य से
सकल गुप्त सीढ़ियों सहित मानवता -रूपी धुंधला सा यह कमरा अपना
था शीघ्र ही उसे सुप्रकाशित करना।
जगती की इस नन्हीं शिशु-शाला में अंतरात्मा के इस नन्हें शिशु को,
नाम रूपमय इन पुस्तक पाठों को,–
जिनको बहुत तनिक ही समझ सका है,
इनमें, प्रारंभिक बुद्धि-व्याकरण औ'
'पार्थिव-प्रकृति' कला की इस अनुकरणी टेव से उसे आगे बढ़ना होगा,
प्रकृति-लोक भाषा को लेकर अपनी एक 'दिव्य-वाक्' में बदलना होगा,
और 'वास्तविकता' का सजग-प्रतीकों में अब उसे अध्ययन करना होगा,
औ' 'अनन्त' के उन्नत तर्क-शास्त्र को आज उसे जानना सीखना होगा।
'आदर्श' को 'प्रकृति' का इक साधारण सा दैनिक सत्य आज बनना होगा,
अंतरवासी 'इष्ट देव' से अपने तन को प्रदीप्त करके रखना होगा,
हृदय और मन को इस सारे जग के साथ ऐक्य का अनुभव करना होगा,
एक सचेतन आत्मा को जग-रूपी एक सचेत भवन में रहना होगा।
जैसे कुहराच्छन्न मार्ग से होकर इक हिमालयी धुरचोटी हो दिखती,
उसी तरह इक खण्ड विखण्ड जगत् में बनी हुई सी पड़ी यहां वनवासित,
जहां अभी तक ये सब दिव्य वस्तुएं हो पाई हैं आधी ही अभिव्यंजित
इनमें होकर शाश्वत-'आत्मा' की अब महानता थी उसके सम्मुख दिपती।
इस शाही परिवर्तन में अब उसके ये वस्तुएं न कुछ काम थीं आ सकी,
उसके अमरों सम स्वाभिमान ने अब अनिष्ट-भावी के तौर तरीकों पर
जीने से इकदम इंकार कर दिया,–
औ' जो एक ओर इस कृपण-क्षुद्रता और तुच्छ आशाओं को ले लेकर
दूसरी ओर करुणामय 'अनन्तता'
के बीच इक दरिद्री लेन देन था,– उसको उसने अस्वीकार कर दिया।
उसकी उच्च चेतना ने अब भू की निम्नावस्था को कर बहिष्कृत दिया :
इस पार्थिव ढांचे से असन्तुष्ट बन
उसके भीतर की इक विशालता ने
'प्राकृत' शर्तों की दरिद्र स्वीकृति से, पीछे हट अपना मुख मोड़ लिया था,
कठोर समझौतों को त्याग दिया औ'
'प्रकृति' के लिए लिखे सभी पट्टों को औ' सारी शर्तों को तोड़ दिया था।
यह तो अपने उच्च ध्येय का केवल आरंभ ही यहां पर हुआ पूर्ण है।
यहां नींव की अपनी यह 'जड़ता' ही हमको लगती एक समग्र सत्य है,
जो आत्मा बिन जैसे निरा यंत्र है।

या यह सब कुछ अधकचरे विचार की मिली जुली इक खिचड़ी सा लगता है
या कि हमारे द्वारा स्वर्गिक चीजों की उतावली औ' अपूर्ण झांकी पर,
स्वर्गिक तौर तरीकों के अनुमानों, औ' उपहासजनक उनकी नकलों पर
इन पार्थिव रूपों औ' आकारों का एक कलंक यहां लादा जाता है।
एक अव्यवस्था का क्रम मिल मिलकर खड़ा एक जग है अपना कर लेता,
एक शून्य में जैसे यह नन्हा सा जग रूपायन है बस फिरता रहता :
जहां ज्ञान का बँदर-नकलचीपन है, आधे परधे हैं वृत्त औ' शक्ति के,
इन पार्थिव आकारों के स्वरूप में जलते हुए ज्वार औ' सुन्दरता के,
भग्न-एकता-प्रतिबिंब चिर प्रेम के,
यों दीखते तैरते से हरदम हों
जैसे कोई तिरते हुए सूर्य के टूटे फूटे खण्डित कि प्रतिबिंब हों,
भद्दे और प्रयोगात्मक जीवन से ठास ठास कर भरा कि एक ढेर जो
टुकड़े टुकड़े करके समग्रता के इक गुच्छे में गया सजाया फिर हो।
बस अपनी आशाओं को कोई भी संतोषप्रद नहीं उत्तर मिलता है,
अंधे और शब्द-हीन द्वार हैं बस जिनकी कुंजी का न पता चलता है।
निष्फल ही विचार आरोहण करते जो इक उधार का प्रकाश लाते हैं,
जीवन की हाट में हमारे हाथों
बेचे खोटे सिक्कों से कि ठगा कर
हृदय हमारे अधिकार रहित स्वर्गिक इक आनँद को धरने हित बढ़ते हैं।
मानव की तृप्ति के लिए तो जग में चारे दाने की कुछ कमी नहीं है,
औ' शरीर का सुख औ' मजा बहुत है किंतु आत्म-इच्छा की पूर्ति नहीं है।
अरे 'काल' का उच्चातिउच्च आनँद
भी तो अग्रहीत आनंद-उदधि का एक किया जाता सा मजाक ही है,
स्वर्गोल्लासों की विकृत-प्रतिमा है,
या इक घायल सुख है जो कि अंततः जीवित भी तो बना न रह सकता है,
मन और इंद्रियों का थोथा सुख है,
जिसे कि विश्व-'शक्तियों' ने अपने इस अन्न-सृष्ट-चर के आगे फेंका है,
या 'अज्ञान' के अरे रंग महल में जबरन लादे हुए एक आनँद की
रमती हलकी एक प्रतिच्छाया है।
क्योंकि यहां जो कुछ हमने पाया है उसकी कीमत शीघ्र उतर जाती है,
'काल' बैंक में बिगड़ी हुई साख है
क्योंकि 'अचेतन' के खाते में से यह अपूर्णता-हुंडी काटी जाती है।
प्रत्येक किए गए नव-प्रयत्नों का एक असंगति पीछा करती फिरती
प्रत्येक विश्व-निर्माण के मार्ग पर सदा अव्यवस्था बाट है जोहती :
प्रत्येक सफलता के भीतर है इक बीज रूप असफलता छिपकर बैठी।

अब उसने जग की सकल वस्तुओं में संशय की एक अवस्था अवलोकी,
मानव के अभिमान भरे विश्वासी विचार में एक अनिश्चयता देखी,
अपनी मनुज शक्ति की और सिद्धि में उसने इक नश्वरता थी अवरेखी।
इस विचार विरहित जगती में केवल मानव ही इक विचारशील जीव है,
'अज्ञात'-सिंधु का लघु एक द्वीप है,

वह इक ऐसी लघुता है जो महती बनने के हित सतत प्रयत्नवान हो,
वह ऐसा पशु है एक इस जगत् का जिसमें कि देव का कुछ सहज ज्ञान हो,
एक कहानी है उसका जीवन जो कहने में अति साधारण लगता है,
उसके महान् कर्म एक संख्या हैं जिन्हें जोड़ने पर कि शून्य आता है,
उसकी और चेतना वह मशाल है जो जलती ही है केवल बुझने को
उसकी आशा ज्यों बाल-पालने पर और कब्र पर जलने वाला उडु हो।
फिर भी इक महानतर भावी शायद उसके निजी भाग्य में लिखी हुई है,
क्योंकि अंत में आखिरकार सत्य तो उसकी बस इक शाश्वत-'आत्मा' ही है।
वह अपने को, अपने परिवेशों को चाहे तो फिर निर्मित कर सकता है,
औ' जिस जग में रहता है वह उसको नए ढंग से गढ़ औ' रच सकता है,
वह जो आज अज्ञ दिखता है, वह तो 'काल' के परे का भी इक 'ज्ञाता' है,
वह तो 'प्रकृति' और मानवकी 'विधि' से ऊपर रहने वाली इक 'आत्मा' है।

उसने अब तक जो कुछ किया धरा था उससे उसकी आत्मा मुक्त बन गई।
मानव-श्रम के अर्थ हीन-कोलाहल की ध्वनि थी अब बिलकुल मौन पड़ गई,
दिवसों के कोल्हू रेढ़न की सब गति उससे त्यक्त बनी घूमने लग गई,
जीवन के चलखुर की भारी हड़कन कहीं दूर पर जैसे डूब हो गई।
अब एक 'महा नीरवता' ही केवल उसका साथी संगी फकत रह गई।
अब वह निरावेग होकर जीता था सब जग-आशाओं से मुक्त बना था,
अकथनीय 'साक्षी' के मंदिंर में वह

वृहत् विचारों के प्रदक्षिणा पथ पर अनन्तता-धूसर गुम्बद के नीचे,
और स्वर्ग के प्रति चिन्तन विनिमज्जित उन अदृष्ट विस्तृत-पांखों के नीचे,
एक दिव्य-प्रतिमा सम टहल रहा था।

अग्राह्य ऊर्ध्व देशों से अब उसके पास आ रहे थे आह्वान बराबर,
उदासीन बन, अब 'मन' की नन्हीं सी चौकीदारी से वह निकल, वृहत्तर
'शाश्वत' के शासन बीच बस गया था।

उसकी सब सत्ता अब चिन्त्य 'देश' की सीमाओं से बाहर खसक गई थी,
उसकी निस्सीमा सब विचार धारा बनी पड़ोसिन अब विश्व-दृष्टि की थी:
औ' उसकी तेज पूर्ण आंखों से बस विश्व-प्रकाश की किरण फूट रही थी,
उसके अंतर औ' मस्तिष्क से आज स्वर्णिम प्रवाह धारा उमड़ रही थी,

उसके नश्वर अंगों पर अब कोई शक्ति उतर कर अविराम छा रही थी,
शाश्वत के 'आनंद'-सिंधुओं से औ' हर हर लहराती लहर आ रही थी,
अंतर बना आक्रमित था औ' सारी सत्ता अनाम सुख में डूब गई थी।
बस अपने सर्व शक्तिमान्-'केंद्र' का अब वह जैसे शुचि जागरूक बन कर
सर्वज्ञानी 'आनन्दातिरेक' से बरबस मुग्ध और आकर्षित होकर
अब 'असीम' का जीवित इक केंद्र बना विशाल विश्व-परिधि से होड़ ले चला,
औ' वह अपनी अति महान् आध्यात्मिक नियति की ओर बढ़ औ' घूम था पड़ा।
फटे हुए वातावरण के पृष्ठ पर बना विसर्जित जैसे एक चित्र हो,
जो सुदूर की धुंधली रेखाओं में जैसे मिट कर कि हो चुका गायब हो,
उसी भांति अब पार्थिव-प्रकृति की सभी
ऊंची ऊंची शिखरावलियां उसके चरणों के नीचे डूबी जाती थीं :
अनंत से मिलने की खातिर उसकी सभी शक्तियां बढ़ी चली जाती थीं।
'निष्क्रिय ब्रह्मन्' की सागर नीरवता जाते देख रही थी उसको ऐसे,
छुटा 'काल'-प्रत्यंचा से कि यकायक सन्नाता तीर जा रहा हो जैसे,
एक किरण निज पितृ-सूर्य को लौटे।

औ' निर्वाण-कीर्ति की परम विरोधी
तमस्-'अचित्' ने अपनी सर्प-पुच्छ को था अति जोखिमपन से आज हिलाया,
मार मार भीषण-चोटों से सोते
अवचेतन-अनन्तता के सागर से तमसाकारों को झकझोर जगाया :
फिर उसने निद्रा के महा द्वार सम अपने सन्मुख पड़ा मृत्यु को पाया।
उस निष्कलंक 'आनंद' के लिए ही अपने चित को बस एकाग्र बनाए,
दौड़ रहा था 'प्रभु' के पीछे जैसे भव्य शिकार की कि हो घात लगाए,
अग्निल-त्रिशंकु के सम जैसे कोई लप लप करता ऊपर बढ़ता जाए।
बस ऐसी देवोपम-मुक्ति निराली किसी को बहुत मुश्किल से मिल पाती,
जो ईश की कृपा से ही है आती,
सहस सहस मानव जो नहीं कभी भी उसका पावन स्पर्श अरे लह पाते,
जो बाह्य-जगत् की बस रीति-नीतियों में ही डूबे हुए पड़े रह जाते,
उनमें निगुह्य-साक्षी-'नेत्रों' द्वारा अरे एक ही यह बस चुना गया था,
औ' अपनी आत्मा के अनरेखायित
विस्तारों पर कोई 'प्रकाश'-कर के इंगित पर संचालित किया गया था।
'सत्य-सनातन' का एक तीर्थ यात्री
जिसके मनस् के अपरिमित-मानों को मान हमारे साध नहीं सकते हैं,
उसने इन संकुचित क्षेत्र की ध्वनियों से बस अब अपना मुख मोड़ लिया था,
मानव 'दिशा-काल' की औ' इन सँकरी गलियों को अब उसने छोड़ दिया था।
यों बस मनुज विशाल महान्-योजना के मौन प्रदेश में पहुंच जाता है

'अज्ञात' की डयौढ़ियों के भीतर जा पुनः चरण वह अपने धर देता है,
औ' अशरीरी एक 'मार्गदर्शक' के
पीछे पीछे चलते हुए बराबर
सीमाहीन शून्यता के भीतर वह एकाकी एक नाद को सुनता है ।
और गभीर विश्व कोलाहल सारा उसके लिए मौन सा पड़ जाता है,
औ' वह तो सृष्टि के आदि की केवल नीरवता में जीने लग जाता है,
'आत्मा' को उस काल-रहित 'एकम्' में वस्त्रहीन सा छोड़ दिया जाता है।
रचित वस्तुओं के दबाव से विरहित
बस विचार औ' उसकी छायाभासी सभी मूर्तियां जैसे मिट जाती हैं,
आकारों और व्यक्तियों की सारी गढ़ना रची अनरची हो जाती है ।
औ' एक अकथनीय 'वृहत्ता' उसको निज जाति का मानने लग जाती है।
'प्रभु' के प्रदेश के प्रति गति करता सा वह एकाकी एक पुरोगामी है,
औ' जो अबतक ले आकार न पाया अनजनमी द्रव्यों के सुप्रतीकों में,
औ' 'अजन्म-शक्तियों' के मुंदे नेत्रों तथा मौन-वदनों के निरीक्षणों में,
उस 'अगम्य' से मिलने की खातिर वह यात्रा करनेवाला इक यात्री है।
'एकांत' की शाश्वती-चौगानों में
बस अपनी ही पग-ध्वनि को वह केवल सुनता हुआ सतत बढ़ता जाता है।
एक अनामी 'चमत्कार' आकर औ' अचल, अडिग घड़ियों को भर देता है।
और 'शाश्वती' के अंतर के सँग सँग उसकी आत्मा जाकर मिल जाती है,
औ' फिर 'अनन्तता' की नीरवता को निज उर पर धारण कर ले जाती है।

मानव-मर्त्य-विचारों से पीछे हट और पहुंच अंतर की दिव्य थली में
आत्मदृष्टि की इक अद्भुत भंगी में
मानवता के परिधान को छोड़ कर
उसकी सारी सत्ता मार्गरहित उन ऊंची उँचाइयों पर आज चढ़ गई।
और विशुद्ध निर्वसन उस योगी से मिलने वह ज्यों ज्यों चढ़ती जाती थी,
त्यों त्यों सशक्त अवरोहण की भारी धारा नीचे को कूदी आती थी।
इक 'शक्ति-शिखर' 'ज्वाल-शिखा' 'श्री आभा' जो कि अमर्त्यों को भी है अधगोचर,
इक 'हर्ष' का ज्वार 'माधुर्य' भयंकर,
जिसने उसको चहुं ओर से घेर कर अपने अद्भुत अंगों बीच कस लिया,
औ' फिर उसकी नाड़ी, नसों, हृदय औ' उसके मस्तिष्क में प्रवेश था किया,
बस इक आविर्भाव-मोदसे उसकी संज्ञा स्फुरिता, सुख-मूर्छिता बनी थी,
औ' 'अज्ञात' की सुअनिवार्य पकड़ में उसकी संपूर्ण-प्रकृति सिहर उठी थी।
औ' अब एक महान् शक्ति के द्वारा
जो थी अरे प्रेम से भी दारुणतर और स्वर्ग से भी सुमधुरतर, सुखकर,

इक पल में,—— जो लघु था कि 'मृत्यु' से भी और 'काल' से भी था जो सुदीर्घतर
गहा गया था वह इक भव्य रीति से अब शाश्वत की बाहों में चिर सुन्दर,
इक अवसन, खालिस स्वार्गानँद द्वारा अभिनन्दित और विवश सा बनवाकर
शक्ति और आनँद के अति मदमाते सशक्त चक्रवात में और खींचकर
पहुंचा दिया गया था गहनातिगहन एक कल्पनातीता गहराई में,
उठा लिया औ' गया एक उन्नत से उन्नत, अनाप अपार ऊंचाई में,
औ' बस उसकी मनुज-मर्त्यता का सब दबाव टूट फूट कर बिखर गया था,
तथा एक नूतन औ' अंत विहीने रूपांतर को अपने प्राप्त हुआ था।
औ' अब दृष्टि औ' विचार के बिना ही आने वाली इक 'सर्वज्ञ'-सज्ञता
व्याख्यातीत एक 'सर्वशक्तिमत्ता'
जग को निज में धारण करनेवाली औ' इक रहस्यमय आकार रूपता,
आज एक मानव-अंतर को अपना शुचि उन्मादी-मन्दिर बना सकी थीं,
औ' जिज्ञासाकुल एकाकीपन से
उसे खींच कर वे 'प्रभु' विशालताओं के आलिंगन में ला पुनः सकी थीं।
जैसे खुल कर कालातीत 'दृष्टि' इक कर रद्द काल व्यापारों को देती,
और कर्म को तथा कार्य-कर्ता को बना निरर्थक उन्हें बिदा कर देती,
उसी तरह अब उसकी आत्मा बन कर रीती, विशाल औ' विशुद्ध छाई थी:
जाग्रत मनस्थली अब उसकी कोरी आलेख पट्टिका एक बन गई थी,
जिस पर वह 'केवला' और 'विश्वात्मा' अपने संदेशों को लिख सकती थी।
जो कुछ गिरी हुई चेतना को यहां
और भी गिराता है वह सारा कुछ,
भूले से लाद दिए बोझ के सरिस उसके सिर से उतार लिया गया था,
औ' देवकाय सम अब एक 'अग्नि' ने
भूतकाल के सब सीमित आकारों को अपनी ज्वाला से निगल लिया था
औ' नूतन आत्मा के रहने के हित विशाल नव गृह का निर्माण किया था।
शाश्वत के स्पर्श ने औ' यहां आकर इन ऐन्द्रिय-सांचों को तोड़ दिया था।
भू से एक महत्तर शक्ति ने आज उसके अंगों पर अधिकार किया था,
औ' इस महा विशाल कार्यपद्धति ने
अब तक पड़ी हुई सब निपट अशोधी -क्रमिक-भूमिकाओं को खोल था दिया,
अनजानी ऊर्जाओं के औ' भीषण गुप्त करों ने कार्यारंभ था किया,
औ' मन के तेहरे सूत्रों का बंधन अब ढीला करके बस खोल था दिया
और 'दिव्य' चितवन की उस स्वर्गीया विशालता को था अब मुक्त कर दिया।
जिस प्रकार वस्त्रों के भीतर होकर किसी वस्त्रधारी की आकृति दिखती,
उसी भांति वैश्विक अनुभूति एक जग और परात्पर दृष्टि आज बस सीधी
आकारों की बाधा को न मान कर उस निगुह्य-केवल तक पहुंच रही थी।

उसके प्रकृति-उपकरण और शक्तियां	विस्तृत और महत्तर आज बनी थीं।
माया के निज परिवर्धक-चश्मे की	शक्ति आज बस बेकार हो गई थी,
जैसे जैसे उसके हाथों से वे	विस्तृत मूल्य-मान खसके जाते थे,
वैसे वैसे वृहत्-काय रूपों के	आकार आणविक बनते जाते थे।
नन्हें अहंभाव के छल्ले का मुंह	खुल कर अब वह फिर से जुड़ न सका था;
उसका शरीर तो जैसे आत्मा के	
विस्तृत औ' विशाल-क्षेत्रों में इत उत	उड़ता चला जा रहा एक खोल था,
उसका मन ज्यों अविनाशी 'वासी' का	भित्ति चित्र-सज्जित कोई आंगन हो :
उसकी आत्मा मनुजेतर लोकों के	वातावरण में कि श्वासें भरती हो।
अब उसके बंदी इष्टदेवता ने	
इक विद्युत्-गर्जन, इक सिंधुघोष से	जादूई दीवार तोड़ डाली थी,
इस महान् मुक्ति के और चारों दिशि	सब बंधन, बाधा चूर हो गई थी।
विचार और कर्म के चारों बाजू	
श्रम, आशा के चक्कर औ' परिणतियां,	
	अचलपने से वृत्तायित औ' खींची
	अविकृतपन से ये जग की समजीवी,–
इन सब सुदृढ़ अपरिवर्तिनी परिधियों	
ने 'अवतारी' की चापों के नीचे	अब अपने को बिलकुल मिटा दिया था।
कठिन आवरण औ' इक अतल गुफा वह	
जिसके बीच विचार और जीवन निज,	दोनों सदा सदा घूमा करते हैं,—
जो इस धूमिल खतरनाक सीमा के	
उस पार अरे जाने में अब भी तो	वर्जित और अनधिकृत बने हुए हैं;
औ' सब प्रहरी तमस्विताएं पहले	जो मूक और दुर्जय बनी हुई थीं,
'अज्ञान' औ' 'मनस् शक्ति' की दिवारों	में पक्षहीन आत्मा को घेरे थीं,
अब वे द्वंद्वभरी शाश्वतताओं की	अपनी कुछ भी रक्षा न कर रही थीं,
अपने सौंपे भारी कार्यों को अब	छोड़छाड़ कर बस लोप हो गई थीं।
और कभी जो जग-सर्जन के निष्फल	'अण्डवृत्त' का इक आकार बना था,
उसी विवर्धनशाली शून्य ने आज	अपने महावृत्त को मिटा दिया था।
शिला समान निषेधाधिकार जीरण	रह न सके आज खड़े, कूच कर गए;
धरा-'प्रकृति' के दकियानूसी शासन	होकर उसके वशीभूत कि रह गए।
	अवरोधक-'विधान' की शेष-कुंडली
झटपट उठते हुए 'देव' को रोके	रहने में बेकाबू आज पड़ गई :
	विधि की लिखी गई लिपि सकल मिट गई।
बना मृत्यु आखेट क्षुद्र यह प्राणी	नहीं कहीं भी था अब शेष रह गया,
और सर्वभक्षी उस 'अपरिमेय' से	

कहीं न रक्षा करने को अब कोई
सत्ता का क्षणभंगुर रूप रह गया।
औ' अवरुद्ध पड़ी अब विश्व-हृदय में,
वज्र समान धड़कनों ने उठकर उन
नन्हें बांधों को तोड़ फोड़ डाला,
जो अब तक विश्व की तमाम शक्तियों
से अपनी रक्षा करते हैं प्रतिदिन।
आत्मा और विश्व अब बराबरी से
खड़े हुए आमने सामने पट-बिन।
औ' बस अमित-'काल' में आकर कोई
असीम-सत्ता ने जैसे कि 'प्रकृति' पर
अनंतता का हमला बोल दिया था,
औ' उसने निज महा-विराट् लक्ष्य को
अब मार्ग रहित, भित्ति रहित देखा था।

अब उसकी मुद्राविहीन आंखों में
सब कुछ खुला हुआ था और स्पष्ट था।
एक निगुह्य-'प्रकृति' निज रक्षा-पट से
एकाएकी जो विच्युता बनी थी,
भय-पीड़ित अर्धज्योति-शासन में जो
बनी हुई दुर्जेय ही अभी तक थी,
वह अपनी वैयक्तिक गोपनता में
आज यकायक पकड़ी धरी गई थी,
और अश्वपति के अग्नि-संकल्प के
सम्मुख निर्वसना सी बनी पड़ी थी।
बन कर इक अद्भुत सूर्य से प्रकाशित
अपने धुंधले छायावी-कक्षों में,
जो कि छिपी जादू कुंजी से भी तो
मुश्किल से खुलने वाले थे उनमें
उसके संकटपूर्ण महा रहस्य औ'
उसकी पर्यावृत गुप्त-'शक्तियों' ने
अपने ऊपर 'मन' के आधिपत्यमय
अवतार को आज स्वीकार कर लिया
कालजात प्राणी की दृष्टि के एक
बरबस आग्रह का सब बोझ सह लिया।
अगणित, अपनी जादू-पद्धतियों में
अपराजित, तात्कालिक निज कर्मों में
महानतर लोकों को ही स्वाभाविक
प्रकृति-शक्तियां जो अति गुह्य बनी हैं,
मानव-आवश्यकताओं के सीमित
क्षेत्रों से जो ऊपर उठी हुई हैं,
ऐसी दुर्लभ औ' दूर शक्तियों ने,
और अर्द्ध दैवी गुह्याधिकार ने,
इन्हीं 'प्रकृति' के गोपित-संकेतों के
इन अमोघ जैसे शक्ति-नमूनों ने,
'उसकी' रेखागणितीय शक्ति के औ'
खींचे विविधाकारी इन खाकों ने,
आश्चर्यभरे और नमूनों वाली
'उसकी' सुचमत्कारी क्षमताओं ने
पार्थिवता-पोषित इस महाशक्त की
अंगीकार स्वयं ही अब प्रभुता की
सेवा करने की और याचना की।

प्रबुद्ध-'प्रकृति' की प्रखर-यांत्रिकता ने
ऋषि-'मन' की द्रष्टा रागमत्तता को,
औ' उस अखण्ड, स्वतंत्र आत्मशक्ति की
चकाचौंध करती इक विवस्त्रता को
छिपी हुई इक जादूई-महिमा के
द्वारा शस्त्र-सुसज्जित आज कर दिया।
अब तक सोचा गया असंभव सब कुछ
संभव का स्वाभाविक अंग बन गया,
औ' परात्पर-स्वाभाविकता का अब
जग में एक नया ही क्षेत्र खुल गया,—
कि इक गुह्यज्ञानी परमेश्वर ही इस

नामरूपमय दिखनेवाले जग की यहां दिशा में सुठि रचना करता है,--
जो कि इन्द्रियों को छलता रहता है,
अपनी अंतर्हित और चेतना के सूत्रों से ताना-बाना बुनता है,
निराकार निज ऊर्जाओं की खातिर आकारी जगका सर्जन करता है।
जिसने अनाकार से, रिक्त 'वृहत्' से ठोस-मूर्तियों का जादू सिरजा है,
रचना-संख्या और बहु-नमूनों का अपना इन्द्रजाल फैला रक्खा है,
अडिग, विवेकहीन यह अंतर-डोरी जिसको कोई काट नहीं सकता है,
अदृश्य-नियमों की प्रतिकूली गुत्थी कोई नहीं जिसे सुलझा सकता है
उसकी अचूक जैसी नियमावलियां
उसकी छिपी हुई प्रगति-प्रक्रियाएं
व्याख्यारहित सृष्टि की इक रचना का अमोघपन से ध्येय सिद्ध करती हैं,
जहां भूल जीवित-अज्ञान के लिए ज्ञान के मूर्ताकार गढ़ा करती है।
यहां 'प्रकृति' रहस्यमय मनोदशा में अपनी, प्रभु के विधान से च्युत होकर
शाही तौर तरीके से वैसे ही अपना अविचल राज्य एक रचती है,
उसकी संकल्पशक्ति महावृहत् इस
अनिर्णीत को नव नव -स्वरूप देकर
अनंत में से और सान्त को गढ़ कर,
निज अद्भुत सनकों द्वारा वैसे ही सुविन्यस्त जगती को गढ़ सकती है,
जैसे उग्र श्रेष्ठता द्वारा अपनी
आवृत-'सर्जक' की विश्व-गुह्यताओं को पछाड़ने की स्पर्धा करती है।
मनमौजीपन की सरपट चालों में
मुकुलित फूलों के सम उसकी चापें पथ में चमत्कार रचती चलती हैं,
जो विवेक से भी निश्चिततर होतीं कौशल से भी सुकुशलतर होती हैं,
और 'कल्पना' के सुतीव्र-पंखों से भी जो तीव्रतर उड़ानें भरती हैं।
वह विचार औ' वाणी को लेकर निज नई रीति से सारा सर्जन करती
निज 'मन' की जादू लकुटि को घुमा कर सब तत्त्वों को है और विवश करती।
'मनस्-शक्ति' यह मध्यस्थ-दिव्यता है :
और शक्तियां इसकी, सकल 'प्रकृति' के किए धरे सब काम को मिटा सकतीं,
यह 'मन-सत्ता' भू के ठोस-नियम को सहज बदल सकती है ठप कर सकती।
पार्थिव-स्वभाव की तामसिक मुहर से
होकर मुक्त विकट 'जड़ता' की भारी लौह जकड़ को तोड़ फोड़ सकती है :
और 'मृत्यु' की कोपाच्छन्न दृष्टि से
तटस्थ रहकर क्षणिक कर्म को भी यह निज हाथों में अमर बना सकती है :
इसकी विचार शक्ति के कि साधारण से ही मिले हुए एक आदेश से
और मिली इक नन्हीं स्वीकृति के ही उसके कभी कभी के लघु प्रभाव से

उसकी रहस्यमय समाधि-कक्षों में
भीतर दबी मंद औ' मूक 'शक्ति' सब खुल पड़ने को स्वतंत्र है बन सकती
काया की निद्रा तक को वह अपना एक शक्तिशाली उपकरण बनाती,
सांसों को रोक रुद्ध कर देती है और हृदय की गति को बंद कराती,
और जब अदृष्ट पा लिया जाता है
और असंभव संभव बन जाता है
तब वह अनुच्चरित विचार के सँग सँग बिना किसी माध्यम के जा मिलती है,
इक केवल मौन संकल्प से अपने घटनाओं का संचालन करती है,
हाथ और पैर के बिना ही निशिदिन दूर दूर के कार्य सिद्ध करती है।
वह इस सुरसा-'अज्ञानता' को अरे
औ' इस बौनी प्राण शक्ति को अपनी क्रांत-दृष्टि से ज्योतित कर सकती है,
'गंधर्वानंद' को जगा सकती है और 'कोप' को भी भड़का सकती है,
और हमारी काया बीच जागरित सुर को या असुरों को कर सकती है,
'सर्वज्ञ' और 'सर्वशक्त' का चाहे तो भीतर आवाहन कर सकती है
अपने भीतर फिर भूली औ' बिसरी जगा निखिल-'ईश्वरता' को सकती है
और 'मनस्'-भूमिका पर अरे अपनी वह एक चमकती अधीश्वरी ही है।
औ' अनम्य इस पार्थिव प्रदेश में भी 'मनस् शक्ति' शासक बन रह सकती है,
अर्द्ध देव तुल्य 'भावना' की अपनी
बे जोड़ तर्क की पद्धति को लेकर
कभी संक्रमण-घटिका की छलांग में करती है वे चमत्कार सर्जन के,
जो 'जड़' के कि विचित्र अचित् कौशल से भी न अभी तक सुसिद्ध किए जा सके।
उस प्रदेश में सब कुछ जादू ही है बदल सभी कुछ जादू से सकता है
और यही तो वह प्रदेश है जो उस गुह्य-'प्रकृति' की सामर्थ्य की शिखा है।
महत्-सूक्ष्म लोकों की इस सीमा पर
और शक्ति के अभी तक अननुशासित महिमामय साम्राज्यों में उन्नततर,
जहां कि जीवन पर औ' आकारों पर 'मनस् शक्ति' ही निज शासन करती है,
औ' आत्मा अपने विचार को अपने ही बल के द्वारा पूरा करती है,
यही स्थान है जहां प्रकृति उन्नततर 'परा वाक्' पर ध्यानस्थित है बनती,
औ' फिर आँख उठाकर अपनी ऊपर उन अदृष्ट सी कड़ियों को है लखती,
जो उस अलग हो गए कि अपरार्ध को हैं फिर से परार्ध के साथ जोड़तीं।
और वहां से उस साधक पर जो इन
नियम-विधानों का पालन करता है
उस पर निज रहस्यमय ऊंचे क्षेत्रों के प्रकाश को लाकर है बरसाती :
और जहां वह खड़ा हुआ है नीचे रोपे हुए निज चरण जगती तल पर
उसका मन इस 'जड़ता' के ढांचे से रहता है फिर नहीं तनिक भी बंधकर

वह उन दोनों की सीमाके ऊपर	भव्य-शक्तिके आवेगों में फट कर
उनकी जादूई सुप्रक्रियाओं को	
औ' उनकी उस विलक्षणी-वाणी के	मंत्र सरीखे सिद्धांतों को लेकर,
तब तक अपनी शक्ति बरसती आती	
जब तक न स्वर्ग और नर्क दोनों ही	जगत् के रसद-भंडारी बन जाते,
और मर्त्य-संकल्प की गुलामी में	जब तक न ये लोक सारे बंध जाते।
वह आवृत और अनामी देवों के	साथ हमारा संबंध जोड़ती है,
जिनकी विजातीय संकल्पशक्ति इस	मानव जीवन को छूती रहती है,
और उस महान् 'विश्व-जादूगर' की	
रीति नीति की एक नकल सी करके	
स्वनिबद्ध मुक्त-संकल्प के लिए वह	कोल्हू-चक्कर की रचना करती है
औ' फिर प्रभु के जादू-कौशल को वह	
इक बंधनकारक कारण बतला कर	दिखाव करती, एक स्वांग रचती है।
और सभी लोकों को निज लीला में	वह सहकारी सरिस बना लेती है,
जोर जबर्दस्ती के सब कामों में	संगी और सहायक कर लेती है,
और असंभवता के महासिंधु में	वह अपनी भीषण छलांग भरती है:
और किसी भी स्रोत से सदा अपने	चतुर साधनों को हथिया लेती है
और विविध चेतना-भूमिकाओं के	
एक स्वतंत्र-प्रेम-परिणय के द्वारा	
सृजन के असाधारण कार्यों के हित	रचना के तत्त्वों को ले लेती है:
	असत्य को लेकर सत्य बनाने हित,
दबी पड़ी या कि वास्तविकताओं को	यहां खोल कर मुक्त कराने के हित,
उसने फैले अंतविहीन-ज्ञान के	चमत्कार पूरित ताने बाने को,
औ' 'प्रभु' की ईजादों के उस अद्भुत	करतब के सारे संक्षिप्त-सार को,
	ले दोनों को, है एक में मिलाया,
कोई रक्षा-बाड़ से रहित अपने	
'मायामंडित' इस आश्चर्य देश में	
अपनी निगुह्य महानताओं को ले	है इक बेतरतीबी से हंकवाया।
अनंत के शिल्पों के सुधियाने का	उसकी स्मृति-विद्या का शास्त्र सुन्यारा,
और छिपी उस प्रच्छन्न-चेतना की	अंतर सनकों की वह तरंग-धारा,
'अचित्' जंत्र मंत्रों की वे ताबीजें	
जिसका नियम विधान नहीं है ऐसे	इक 'सत्य'-सम्राट् की औ' स्वतंत्रता,
अमर लोक में पैदा होनेवाले	और विचारों का इक बहता सोता,
औ' भविष्यवाणी जो इक मंदिर के	भीतर से चुपचाप उच्चरित होती,
औ' प्रचंड इक अंतरवाणी उठ कर	जो अविरत चेतावनियां है देती,

कभी कभी आनेवाली झलकें औ' भविष्यवाणी की वह बिजली कौंधन,
अंतर श्रुति को मिले हुए अधिसूचन,
हठी और दृढ़ तथा निरंकुश जैसे एकाएकी आए कि अंतरायण,.
औ' उच्चतर चेतना के अनजाने अकथनीय कर्मों का अचक संघटन,–
इनके द्वारा उसके जादू पट का सुसंतुलित ताना-बाना सिरजा है,
विकट-कला का अद्‌भुत शिल्प रचा है।
ऐसा एक विलक्षण साम्राज्य अब अधिकार में अश्वपति के आया था।
वह प्रेम कर रही थी उसको ऐसे
सतत उपेक्षा करने पर प्रेमी के बढ़ता जाता प्रेम किसी का जैसे,
इस प्रकृति ने स्व-महती जायदाद को
अपनी सकल शक्ति और विधानों को
परवश बनकर संकोची आनँद में भर ऋषि के प्रति अर्पण कर डाला था।
उसके आनंद-भोग की खातिर औ'
उसके उपयोग के लिए बस उसने अपने को सुसमर्पित कर डाला था।
अपने गहन-मार्ग पर चली जा रही आज भटकने से वह मुक्त बन गई,
जिसके लिए बनी है उसकी अंतिम -परिणति थी बस उसको आज मिल गई,
जिसे पालती आई उसी अशुभ से उसने अब अपना मुख मोड़ लिया था,
उसका यांत्रिक मन्यु और उसके वे विनष्ट करने के उपाय अनदेखे,
उन सबसे निज नाता तोड़ लिया था।
खतरनाक निज मनोदशाओं का औ' मनमौजी अपनी शक्ति का भयंकर
आज कर दिया था संपूर्ण समर्पण अंतरात्मा की सेवा में लाकर,
सौंप दिया था अधिकार में आज इक आध्यात्मिक संकल्प के और जाकर।
अब महानतर इक सत्ताधारी ने साधा उसके सत्ताधारीपन को।
जिसकी उसको आशा तलक नहीं थी उस अपने राजा से बनी सी 'विजित,
अपनी आत्मा के दुर्ग में अकेली वह आश्चर्यचकित सी बनी आक्रमित,
औ' अब निज वादे को पूरा करके और गुलामी से सब दंड चुका कर,
हुई विनत चरणों में उसके जैसे अब अतिशय आनँद से परवश बनकर,
औ'. बस उसकी सकल गुह्य मुद्रांकित -प्रज्ञा फूट पड़ी उसके भीतर से
'सर्वशक्ति' की सारी रहस्यमयता
जो थी पड़ी विभक्त बनी टुकड़ों में उमड़ पड़ी सत्ता के कुहर कुहर से।
यह एक निगुह्य और सूक्ष्म-'शक्ति' ही इस सीमालोक की फकत शासक है।
इन भू-दृश्यों के उस पार के अरे 'लोकों' की यह इक ड्योढ़ी रक्षक है,
इसने देवों की उद्‌गार-बाढ़ के बहने को नहरें और दिशाएं दीं,
सहजदृष्टि की गलियों से निकालकर

जाज्वल्यमान शोधों की इसने नव
और चमत्कारी 'अज्ञात'-जगतियां
उस सीमा के पीछे अवर्णनीया
यह उसका साम्राज्य अरे था उन सब
उनकी सिंह शक्तियां सब आ आकर
उनके द्वारों के पीछे अनजाने
उसके आत्म-डगों के चारों मुख अब
औ' आरोहणमुख परिदर्शन के संग
वहां अनन्तारोहण के लालच ने
शोधक-मन को अथक रूप से रह रह
था आकर्षित किया और कानों को
औ' अगणित रूपों ने, जो थे आते
यह तो प्रभु के सहस्रमुखी भवन के
और अर्ध आवृत 'अदृश्य' के वे तो
प्रच्छन्न एक प्रकाश के परिसर में

विविध-भूमिकाओं की इक रहस्यमय
औ' जादूई इक छज्जा था औ' इक
बस इस मध्यदेश के ऊपर ऊपर
सारा 'अज्ञात' जहां दृष्टि उठा कर
औ' एक किनारे पर आकर उसने
एक सनातन अधुना के भीतर से
उसकी छायाएं देवों के पावन
औ' उसके शरीर 'अशरीरी सत्' की
औ' उसके मस्तक उस अधि-आत्मा के
उसके रूप और आकार चले सब
उसंके नेत्र और उस 'अकथनीय' के

जीवन ने आज अश्वपति में अपनी
नन्हें सीमा प्रांतों ने अपने को

और सुदूर परात्परताएं उसके
प्रकाशगुल्मों की पारदर्शिताएँ

इस सीमा पर उन प्रचंड लोकों की

लंबी एक सड़क काट काट रच दी।
उसके समीप ही अनुभव होती थीं,
दैवी एक 'उपस्थिति' खड़ी हुई थी :
लोकों के गूढ़ प्रभाव से सुशोभित
थीं उसके चरणों के नीचे सुनमित,
पड़ा हुआ था भविष्य निद्रा-मज्जित।
नरक-कंदराएं निज मुख बाए थीं,
दिव्य-शिखा का आह्वान कर रही थीं।
और 'भावना' की सुसाहसिकता ने,

मोहित किया अगिन, अनजान स्वरों ने,
ओझल हो जाते फिर खो जाते थे।
एक बाहरी और प्रथम दर्शन थे,
बस इक पहले पहले सदारंभ थे।
जादूई प्रवेश पथ का मंडप था,
चमचम करता सा जो कांप रहा-था,
आवागमनी का इक चौराहा था,
आगे निकला हुआ कि अग्रभाग था
ऊंची विशालताएं दमक रही थीं।
अपनी निस्सीमा से झांक रहा था :
कालातीत 'काल' को बसा दिया था,—
उसकी दृष्टि कि बाहर घूर रही थी,
गर्भों को धारण कर दमक रही थीं,
दिशि अपने संकेतन भेज रहे थे,
चिर प्रकाश से अभिदीप्त हो रहे थे,
'अज्ञेय' के गर्भ से ही आते थे,
अति विशाल सपनों में पगे हुए थे,
औ' मुख शाश्वतता को घूर रहे थे।
छिपी विशाल पार्श्व भूमि को पढ़ा था,
अदृष्ट-वृहतों के प्रति खोल दिया था,
और प्रकृति-खाइयां अवसन हो पड़ीं,

आंखों के आगे प्रज्वलित हो उठीं।

इक क्रमपरंपरा की शोध हुई थी।

'जड़'-जीवन की फैली अल्प द्रव्य यह

स्पष्ट-जगत् यह जिसके आकारों ने
अतिचेतन प्रकाश में डूबे सारे
औ' निज गोपित सांकेतिक भाषा के
सुअक्षरों को साफ साफ रूपों में
और सूक्ष्म संकेतों का इक नक्शा
प्रच्छन्न मनस् की इक दिवार पर था
एक सहज व्याख्या के द्वारा जिसने
जग की इन ठोस मूर्तियों के गोपित
अंतरज्ञानी व्याख्याकार के लिए
कि महा-जीवन के युग-ध्रुवों बीच इक
बंधे हुए निज नियमों के विधान में
उस सत्य सानतन से बाहर आकर
कैसे बहुलीलाकामी इक मन की
औ' जीवन के विविध-जोखिमों से औ'
औ' जड़ता के आकारों रंगों की
वे इस 'काल'-भूमिका पर से उठकर
औ' जीवात्मा को अपने सँग लेकर
आत्मा की परपक्षीय चरमताओं

एक चेतना से दूसरी चेतना
में गिरने के अपने अवतरणों में
प्रत्येक शक्ति जिसकी अपने अपने
औ' अपनी उन बांधी सीमाओं का

की उड़ान में प्रत्येक ने स्व-शिखरों

जो उनका आदिमूल कभी रहा था
यह सब शाश्वत-कर्मों की मधु भीनी
विविध-आननों वाले उस 'अद्भुत' की
जो अपनी चरमातिचरम सीमा की
दिव्य विकास 'मार्ग' के पूर्व सुनिश्चित

है जिसका बस इक अंतिम फुंदना ही
या परिवितत एक अंचल अदना ही।

रहस्य को है रूपों बीच छिपाया,

लिख लिख कर है सँवार कर फैलाया।
जिसे विचार नहीं छू भी है पाया
लटका हुआ देखने में अब आया।

सार्थक सुप्रतीकों को करके ज्योतित
शाश्वत-रहस्य की झलकें कीं स्पन्दित,–
आरोहण अवरोहण में गति करते,
औ' दैवी-क्रम में बद्ध साम्राज्य ये,
हैं फिर यहां काल में कैसे कूदे;
महिमाशाली श्री से प्रसन्न होकर
आनंदों से वैभवशाली बन कर
मनमोहक सुन्दरताओं से भरकर
अमर्त्य 'परम पुरुष' तक पुनः चढ़ गए,

को हीरक-सूत्रों से जोड़ते हुए
स्वर्ण नसेनी पर चढ़ते चले गए।
इस प्रकार से सारे साम्राज्य वर,

झुके हरेक गूढ़ इक 'अचित्'-शक्ति पर,
एक अपेक्षित अज्ञान का स्रोत है,
शिल्पी है जिनमें ही वह रहती है।
एक चेतना से दूसरी चेतना,
को था अब उस 'तत्' तत्त्व तक उठाया,
जिससे उसने कभी प्रयाण किया था,
औ' अब भी उनका घर बन सकता था।
बाजे की अपनी एक सुरावलि है,
धरी गई अनुपम एक पदावलि है,
अंतविहीन शांति में चढ़ी जा रही,
या क्रम-विकसित ये क्रीड़ा-प्रांगण हैं,
विकसनशील आत्मकद के मापन हैं,

और सकल अस्तित्व की सुव्याख्या को
और उन्होंने दो प्रच्छन्न ध्रुवों को
और सृष्टि को लेकर सकल उन्होंने
अब अंतिम उन्नत-'जग' पड़ा दिखाई
उसकी उन्नत-शिखर-दीप्ति पर कि जहां
और सच्चिदानंद त्रयी की निखिला
उस क्रम परंपरा ने सब कुछ पाया
उसने उस अनाप निस्सीम में डुबा

और अचित् ने धीरे धीरे करके
यहां कल्पना औ' समवेदन दोनों
जो 'अज्ञान' में सदा भटका करते
आखिर इन दोनों ने प्रेम में उमड़
'जड़' नीरवताओं में जनमा गायन

उसे अकथनीय की अतलता से अब
परिपूर्ण इक ताल औ' लय मदमाती,–
क्षत-भू की भूखी आवश्यकता पर,

और सौंपते हुए उसे अब फिर से

स्वर्णिम एक पूर्ण उत्तर ने आकर
जिसमें नश्वर मानवी प्रयत्नों के
एक समन्वयकारी 'प्रज्ञा' ने अब
उसने मानव अंतर में प्रयत्नरत
औ' मानव आशाओं की शंकाकुल
एक मधुर सुखभीने आवाहन में
जिसने दुख के भूमिगर्भ में गोपित
उसके भीतर से ही खोज खोज कर
उन्नत औ' सुविशाल एकता ही तो
उसने ही इत उत बिखरे आत्मा के
जो मुश्किल से ही इस कठिन हमारी
या वे 'जड़ता' की अंतर अचेतना
औ' नींद की अनर्गल बर्राहट में

वे शिखरों औ' तलों को जोड़ते हैं
वे उसके ही सम्मुख सजा रहे हैं,
गठिया कर एक साथ मिला दिया है,
उस 'अकथनीय' के संग जोड़ दिया है।
जहां जगतियां सारी मिल जाती हैं,
'रात्रि' और निद्रा न कहीं दिखती है,
-चिर ज्योति जहां से दिपने लगती है।
वहां, यहां जिसको ढूंढ़ा करती है।
इस सांत को मुक्त था आज कर दिया,
निज शाश्वतताओं को पहुंच पा लिया,
चित् अंतर में आज प्रवेश था किया,

आज 'सत्य'-काया को चिपट धर लिया,
जिसे वह पकड़ केवल रह जाती थी,
किंतु जिसे वह गिरा न दे पाती थी
खींच लिया औ' उसका अर्थ उधारा।
जिसे कभी सपने में फकत निहारा,
अब चीरते हुए उस महारात्रि को,
जिसने ढक रक्खा है कि 'अज्ञात' को,
उसकी ही भूली बिसरी आत्मा को,
उसके 'समाधान' को यहां उतारा।
आज घोर संकट का अंत कर दिया,
ऊंचे शिखरों ने निज अंत पा लिया।
डाली अपनी निगाह थी जीवन पर;
भटकते हुए निम्न स्वरों को लेकर
सारी टेकों औ' कड़ियों को लेकर
दिया और अब उनका रूपांतर कर:
जीवन के अवाक् नाद को उठाया,
अनन्त एक अर्थबोध को जगाया।
उसकी एक सनातन विषय वस्तु है,
उन धीमे उच्चरणों को पकड़ा है,
विचार-पद्धति बीच पढ़े जाते हैं,
औ' तन्द्रिलता में डूबे रहते हैं
टुकड़े टुकड़े हुए सुने जाते हैं।

गहरे बैठी आध्यात्मिक-पुकार को
इसने उसके बीच की सुनहली वे
औ' फिर उन्हें दिखाई दिव्य-एकता
वे सब महान् 'मांत्रिक शब्द' जिन्होंने
अब तक उस 'एकम्' की सुअभिव्यक्ति में
एक साथ सब उस प्रकाश-केवलता
औ' अविरत भाव से एक प्रज्वलती

एक सत्य के साथ दूसरे कोई
और न आदर्श के साथ अब कोई
औ' भेदों के अंतविहीन पर्व अब
इस 'सर्वज्ञ' महामुंशी के द्वारा
अपने अपने भेद लिए अब वे सब
मन के सुकुण्डलित अन्वेषण से अब
क्योंकि आज पश्यन्ती 'वाचा' द्वारा
जो वाचा रखती हैं अपने अंतिम

बस 'एकत्व भावना' की शैली औ'
इस 'काल' की सुसर्जनशील क्रियाएं
विलुप्त ध्यान निमग्न अतलताओं से
और एक स्तुतिगायन जैसे उठकर
और काल से उठकर इक क्रंदन ज्यों

आरोहणरत 'सामञ्जस्य नसेनी'
आत्मा के ऊंचे शिखरों की दिशि अब
'दैवी' संगीत के अंतरे के सम
उसके ऊपर तटस्थ रहनेवाले
शुभ्र, श्वेत और स्फटिक कक्षों वाले

उन्मीलित आत्म सागरों से होकर
उधर उसी 'एकम्' के मृत्युंजय चिर
विविध चमत्कारमयी एक चेतना
ने विराट्-ध्येय, प्रक्रियाएं औ' वे

जो कुछ यह सत्ता है उसके भीतर,
आत्म विभाजन की भूल से बचा कर,
कड़ियां जोड़ी हैं, जो टूट चुकी थीं,
उनकी, जिसे गुमा औ' खो बैठी थीं।

अपने सारे यत्न लगा रक्खे थे,
में अब खींच कर उठा लिए गए थे,
द्रष्टा की 'सत्योन्मोची' ज्वाला में,
शाश्वत 'वाचा' की और अमरता में
फिर से खींच कर बुला लिए गए थे।
सत्य का नहीं वैर आज दिखता था,
आदर्श का विरोध कहीं लगता था,

उस प्रकाश में फिर से लिखे गए थे,
एक एकता की ओर बढ़ रहे थे,
शंका के सारे रंग उड़ गए थे,
अपने अन्त ध्येय को प्राप्त हुए थे,
-सुवाक्य की चरम शुद्धता के भीतर
आदिम मौलिक-विचार को सुसज्जाकर:
शाब्दिक रचना के रंग में नहाए
और वचन सब मिल कर एक हो गए।
एक विजयगान उठा उमड़ा घुमड़ा
आनन्दमय त्रयी में गूंज हो उठा,
'अमरानँद' में जाकर लुप्त हो गया।
वाणी और आननों से अभिनिवसित
वैश्विक गीति-काव्य के इक सरगमवत,
'जड़तत्त्व' की कंदराओं से उठ कर
चली गई सुअभीप्साकुल सी ऊपर।
सतत अविकृत अमरों के अगार थे,
'शाश्वत' के अनुपम क्रीड़ा विहार थे,
उस 'केवल' के अद्भुत महाद्वार थे।

लोकों के साक्षात्कार होते थे।

बेड़ी-मुक्त मान सब खोल दिए थे,

ऊर्ध्व-'प्रकृति' के महान् और सुपरिचित मार्ग वहां सब पड़े हुए सम्मुख थे।
पार्थिव बोधों के जाल से मुक्त बन
संभावना और सामर्थ्य के सुथिर शांत महाद्वीप दिखाई पड़ते थे।
सुन्दरता के निजी निवास-स्थान थे जो मानव की आंखों को वर्जित थे,
जो कि उस 'अनोखे' की ज्योतित पलकों से भी पहले आधे ही दिखते थे,
वे इक अनुपम सौभाग्य और सुख से उसकी दृष्टि को चमत्कृत करते थे,
सद्-ज्ञान के सूर्य-कटिबन्ध और सद्- आनंद के चंद्र-कटिबंध बराबर
इन क्षुद्र मानवी-सीमाओं के पर
विशालता के आनँद-मद में डूबे उसके सम्मुख फैले पड़े हुए थे।
ऐसी उच्च भूमिका में प्रवेश कर पाया था, औ' क्षण भर बस पाया था।
अनरेखायित मार्गों का इक यात्री
'अज्ञात' के महा अदृष्ट जोखिम के सम्मुख सीधे जाकर खड़ा हुआ था,
ऐसे सुविशाल प्रदेशों में जाकर
अपार एक साहसिकता को लेकर
एक दूसरे ही 'देश' औ' 'काल' में उसने जाकर आज प्रवेश किया था।

मूल ग्रंथ के कुछ शब्दों का अध्ययन

[हम पाठकों की सुगमता के लिए मूल ग्रंथ में व्यवहृत कुछ ऐसे शब्द यहां दे रहे हैं जो अपने अभिधार्थ से बहुत अधिक एक दूसरा गुह्य और प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं।]

आदिपर्व सर्ग पहला

Dawn—उषा, सत्य के पूर्ण प्रकाश के प्रारंभ का प्रतीक, ज्योतिर्मय आध्यात्मिक चेतना का नवोदय, देवताओ की माता 'अदिति' का स्वरूप।

Night—रात्रि, पूर्ण अचेतना और अज्ञान का प्रतीक, उषा की ही प्रच्छन्नावस्था का स्वरूप जब तक पूर्ण उषा का उदय नहीं होता तब तक रात्रि का साम्राज्य रहेगा।

Foreboding mind—पूर्वाभासी मन।

Inconscient—अचित्, जो सत् का केवल अभाव नहीं है जिसे जड़वादी विश्व का आधार मानते हैं। अचित् में पूर्ण चेतना तिरोहित है।

Zero—शून्य, यह शून्य केवल अभावात्मकता नहीं है अपितु यह 'वास्तव' का आधार है।

Nothingness—असत्-ता, सत् का अभाव।

Naught—Nothing, असत्।

Unknown—अज्ञात, जो मन से ज्ञात नहीं। केवल चेतना से उसका अनुभव होता है।

Ignorant force—अज्ञ-शक्ति, अचित् में जन्म धारण करके जो शक्ति सृष्टि का निर्माण करती है। उसे प्रकृति भी कह सकते हैं।

Vast— विराट्, भूमा, बृहत् आदि।

Nature— प्रकृति, अचित् की महाशक्ति जो सृष्टि को जन्म देती है।

Presence and power—Presence दिव्य तत्व के व्यक्तित्व का अनुभव है, सन्निधि है। Power उसीकी शक्ति है, दिव्य शक्ति है।

Matter—जड़ प्रकृति, यह आत्मा की ही जड़ीभूत अवस्था का नाम है इसमें प्रच्छन्न रूप से आत्मा का निवास है।

Time—काल, चेतना की गति का नाम है।

Truth—सत्य, ऋत।

Impartial witness—तटस्थ, साक्षिदृष्टि।
Earth and Love and Doom—पृथिवी, प्रेम और अनिष्ट भावी।
Godlike Pain—दुःख का देवता, क्योंकि अज्ञानावस्था में दुःख ही मनुष्य को ऊपर उठाते हैं।

आदिपर्व सर्ग दूसरा

Spirit—यह जड़तत्त्व का एकदम विपरीत तत्त्व है, यानी आत्मतत्त्व है। यह निर्वैयक्तिक है, शाश्वत है, सार्वभौम है। जड़तत्त्व में प्रच्छन्न रूप से इसी आत्मा का निवास है।
Self—परम पुरुष, यह ब्रह्म का वह स्वरूप है जिसमें वह व्यक्तिगत, वैश्विक, और परात्पर रूप में एक साथ अनुभव किया जा सकता है।
Soul—जीवात्मा, अंतरात्मा, अंतःपुरुष को या विश्वात्मा और विश्व पुरुष को भी कह सकते हैं।
Dynamic Dance—सक्रिय नर्तन, सृष्टि की रासलीला।
Holocaust of the Soul—पुरुष का सर्वमेध यज्ञ।
Chance—संयोग, जो कुछ विश्व योजना में पहले से निश्चित हो गया है, वही हमें यहां घटने पर दैवयोग सरीखा लगता है।
Life—प्राण शक्ति, विकास की क्रिया में चेतना के स्तरों पर नीचे से यह दूसरा स्तर है। प्राण-शक्ति वनस्पति, पशु और मनुष्य में तीनों स्तरों पर कार्य कर रही है।
Nature's Instrument—प्रकृति के करण, जो विशेष रूप से तीन हैं, मन, प्राण और जड़तत्त्व।
Light Supreme—सत्य की महा ज्योति।
World Mother—विश्वजननि, परा प्रकृति, अदिति।

आदिपर्व सर्ग तीसरा

Yoga—योग, अर्थात् जिससे हमारी चेतना कभी बिछुड़ गई है उसके साथ मिलन।
Unknowable—अज्ञेय, यह वह प्रदेश है जिसे मन की शक्तियों से जाना नहीं जा सकता, यह उपरि-चेतना में भी है और चेतना की अतल गहराई में भी है।
Soul-space—आत्माकाश (ध्यान से पढ़ने पर ऐसे विशाल आध्यात्मिक अर्थों में गढ़े हुए कितने ही शब्द मिलेंगे)।

The occult Idea—गुह्य भावना या संकल्प, यह स्रष्टा की आदि भावना है, जिसमें सारी योजना सुनिश्चित की जाती है।

A static Oneness—अक्रिय अद्वैत, जो एकमेव है और तटस्थ है।

A dynamic Power—उस एकम् की सक्रिय शक्ति, जिसकी ही यह सारी क्रिया है।

The one—केवल, एकम् ।

Reality—चरम सत्य जहां से हम निकले हैं, और जहां जाना है। पर-तत्त्व।

The silence—परम नीरवता, यह नीरवता शून्यता नहीं अपितु सभी संभावनाओं से पूर्ण है।

A union of the real with the unique—ऋत-चित् के साथ अनन्य का मेल। परम चेतना के साथ मानव व्यक्ति की चेतना (जो अनन्य है) का मेल।

आदिपव सर्ग चौथा

The Transcendence—परात्पर चेतना, विश्वातीत चेतना।

Inspiration—अंतःप्रेरणा, एक दिव्य शक्ति, जिससे दिव्य दृष्टि पैदा होती है।

Cosmic mind—विश्व मन, या मन की विश्वमय भूमिका।

The tree of cosmos—अश्वत्थ, महा पिप्पल।

The original desire—ब्रह्म की आदि कामना (एकोऽहं बहु स्याम)

The Golden overmind—स्वर्णिम अधिमानस, मन के ऊपर की भूमिका।

Fate—विधि या विमति।

Destiny—व्यक्ति की विधि में निश्चित व्यक्ति के भाग्य का विधान।

Doom—अनिवारी और अनिष्ट विधि।

The tripod of mind—मन के स्तर के तीन पक्ष (१) विशुद्ध मन (२) प्राणिक मन और (३) शारीरिक मन।

Riches of the Cave—अज्ञान की अंधी गुफा में पड़ा ज्ञान के प्रकाश का वैभव।

The herds of the Sun—सूर्य की गायों के समूह।

The robbers of the Deep—अज्ञान की गुफा के पणि जो प्रकाश की किरणों को चुरा ले जाते हैं।

Unmanifest—अनभिव्यक्त, जिसने अभी तक जगत् में रूप नहीं ग्रहण किया है।

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ४

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ४

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी-२

रूपांतरकर्त्री

विद्यावती 'कोकिल'

१५ अगस्त १९६९

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-२
प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-२
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२

Hindi — Savitri by Sri Aurobindo

[Translated by Vidyavati 'Kokil']

Published by Sri Aurobindo Ashram, pondicherry-2
Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

'सावित्री'

(हिन्दी रूपांतर)

अश्वपति :
चेतना के सप्त सिंधुओं की यात्रा पर

पाठकों को जो इस पर्व से वंचित रखा गया था उसके कुछ कारण ही थे। मननशील और सुधी पाठक इस विशाल पर्व को पढ़कर मेरे इस संकोच की वस्तु-स्थितिको स्वयं ही समझ लेंगे। इस चौथे पुष्प में भी यह समाप्त न होगा। यह दो (चौथे और पांचवें) पुष्पों में जायगा। क्यों न हो, यह लेखक के द्वारा भी सावित्री में पीछे से ही जोड़ा गया था।

यह पर्व विश्व-लोकों की यात्रा का है। चेतना के इन सूक्ष्म लोकों की यात्रा का जोखिम कौन उठा सकता है? जो मानसिक शक्तियों के ऊपर उठकर उनका राजा बन गया हो, जिसकी प्रतिष्ठा आत्मा में हो चुकी हो। फिर वह आत्मा में मात्र जीवन से पलायन करके ही न गया हो अपितु उसमें आत्मा को उसके पूर्ण वैभव में जीवन के भीतर जीने की जीवट भरी हो। यही वह काम है जिसे भावी के नए विकसित मानव को करना है। वही देख सकता है कि मानव को मिला भगवदात्मा का यह नन्हा-सा स्फुलिंग कितना विशाल है, कितना सम्पन्न है। यदि हम मानव आत्मा का ध्यान से निरीक्षण करें तो उसमें तीन पहलू पाएंगे, पहला यह व्यक्तिगत स्वरूप जो विकास में भाग लेता दिखाई देता है, दूसरा इसका विश्वात्मा का स्वरूप जिसमें यह सारे लोक-लोकान्तरों को छिपाए है, तीसरा इसका कालातीत और अज्ञेय स्वरूप। योगीका काम इन तीनों को सिद्ध करना है।

सामान्यत: कुछ ही लग्नशील पाठक धैर्य से रस लेकर सावित्री को पढ़ते होंगे। पर जो पढ़ते हैं उन्हें भी पर्व दूसरे का अभाव विशेष न खटका होगा। हाँ, जो लोग मूल के साथ इसे पढ़ते हैं उन्हें यह अवश्य लगा होगा कि इतने अधिक पृष्ठ बीच में छूट गए हैं, क्योंकि ये अकेले पुस्तक का तिहाई भाग घेरे हैं। फिर भी इससे कथा में कहीं व्यवधान नहीं लगता। यों, हमें यह पर्व कथा की दृष्टि से गौण भले दिखता हो पर यह श्रीअरविंद की योग-साधना तथा काव्य-साधना दोनों का ही ज्वलंत उदाहरण है। सावित्री एक महान् कथा ही नहीं, वह एक अद्भुत प्रतीक भी है। इस तथ्य को छोड़नेपर, अश्वपति का प्रतीक-पक्ष, जो आज तक के काव्यों में वर्णित प्रतीकों में सबसे बलवान् है, फीका ही

रह गया होता। जिस पृथिवी के लिए, जिस मानव-जीवन के लिए अश्वपति अपनी कठिन तपस्या करता है और जिसे पूर्ण करने के लिए ही भगवती माता की शक्ति को अनिवार्यतया स्वयं आना पड़ता है, वह रहस्य तो छिपा ही रह गया होता। आदिकाल से पृथिवी की अंधकार की महागुफा में जो तपस्या चल रही है, जो आघात-प्रतिघात वह सहती चली आ रही है, गिरते-पड़ते, रक्त चुचुआते, जो कुछ उन्नति उसने अबतक की है, और आगे भी जिस प्रकार प्रयत्न-रत बढ़ी जा रही है, तथा कुछ संतोषजनक वस्तु के पा लेने को जिस आतुरता से वह अंधेरे में भटक रही है, उसका कोई स्वरूप ही हमें न मिला होता। पृथिवी की तपस्या से मथकर निकाला गया मानव-चेतना का रत्न, यह मानवता का अग्रणी दीप-वाहक और नेता, अश्वपति, जिस शक्ति का प्रतीक है उसका कुछ भी रहस्य न उभरा होता। यही नहीं अपितु चेतनाओं के उन स्तरों की मनोदशाओं, ऊर्जाओं और इस सृष्टि में उनके कार्य-व्यापारों और प्रभावों की आवश्यकता का हमें कुछ आभास ही न मिला होता और न अपनी प्रगतियों और पतनों का रहस्य ही खुला होता। आत्मा के इस अचित् सागर में महा पतन के द्वारा जिन लोकों का निर्माण हो गया था ये वे ही चेतना लोक हैं जो हमारे जगत् को साधे हैं और हमारे ऊर्ध्वारोहण की सोपान-सीढ़ियां भी बनते हैं। यही नहीं उन लोकों में दैवी और आसुरी दोनों शक्तियों का अपना-अपना जो उचित स्थान है वह भी हमें देखने को न मिला होता। यदि एक ओर दैवी शक्तियां अपने दुलार, कृपा और करुणा से हमारे जीवन को साधे हैं, उसे विकसित कर रही हैं, तो दूसरी ओर आसुरी शक्तियों के आक्रोश, बाधाएं और अभिशाप ही हमारे विकास को तीव्र, तीखा और धारयुक्त बनाकर पूर्णता को सहने का बल दे रहे हैं। वे ही हमारी शक्ति और सामर्थ्य को सब कुछ सहने योग्य बना रहे हैं। इनके बिना सारा दैवी मातृस्नेह लुंज-पुंज, आंशिक और इकतरफ़ा ही रह गया होता। पूर्णता को पाने के लिए इन सभी लोकों की विजय आवश्यक है। बस यहीं से, नाटक के इसी दृश्य से, श्रीअरविंद हमें आज तक के प्राप्त मूल्यों से उठाकर कहीं बहुत ऊपर ले जाते हैं जहां से यह आदेश आता है कि अशुभ ही नहीं शुभ के भी ऊपर हमें जाना होगा। जहां हर प्रकार की विरोधी चोटियाँ आकर मिलती हैं। वहां से हमें अपनी ऊर्ध्व यात्रा प्रारंभ करनी होगी। शुभ और अशुभ दोनों ही अपनी-अपनी चोटियों पर मानव-आत्मा के पाने को लालायित हैं, पर मानव-आत्मा को एक मुसकान छोड़ उनसे ऊपर निकल जाना होगा तभी उसे सत्य की झलक मिलेगी। हमारे अधिकतर साधु-महात्मा और आचार्य तो इस शुभ और सदाचार में ही अटक कर रह गए हैं। इसके ऊपर वे देख नहीं पाते। उनसे ऊपर जाकर शायद ही किसी महाकाव्य ने कोई मार्ग दर्शाया हो। हां, दार्शनिक साहित्य में जीवन को यों ही रक्तरंजित अवस्थामें छोड़ संसार से मुक्ति ले लेने की बात अवश्य बताई गई है। जहां न जीवन का कोई अर्थ है, न प्रेम का। अधिकतर

काव्यों में दैवी-आसुरी युद्ध के ही दर्शन होते हैं जिनमें किसी-न-किसी प्रकार आसुरी शक्ति पर दैवी शक्ति की विजय होती है। पर आसुरी शक्तियां भी कम बलशाली नहीं हैं और न उनको सौंपा गया काम ही कम महान् है, इस तथ्य को समझे बिना हम जीवन के दुःख, आपदाओं और भयों पर विजयी नहीं हो सकते। केवल देवों की उपासना करते-करते ही मानव बलहीन, डरपोक और निकम्मा हो गया है। आज हमारी इस दुर्बलता से ही जड़वाद को शह मिल गयी है। हमारे हृदय श्रद्धाविहीन बन गए हैं। यह तो हम सावित्री में ही देखते हैं कि किस प्रकार मानव, देव-दानव सबसे ऊपर चढ़कर एक उपरितम चेतना को भी यहां जी सकने में समर्थ है। बस कहना न होगा, यह पृथिवी, जिसने उसे जन्म दिया है बड़ी ही महान् है। अचित् के पंक में सनी प्रकृति, जिसकी गोद में पल-पनपकर इस अनिल पुष्प का विकास संभव बना है,—कि जिसकी मूल यद्यपि जड़ता से बंधी है पर जिसकी शिखा की सुगंधि से स्वर्ग महक उठा है, ऐसे पुत्र को पाकर वह धन्य हो उठी है। अन्य महाकाव्यों ने मानव आत्मा को उठाकर स्वर्ग तक पहुँचाया भले था पर नर्क और स्वर्ग अलग-अलग ही रह गए थे। और न नर्क व स्वर्ग के बीच कोई स्वर्ण-सेतु ही निर्मित हो पाया था और न किन्हीं चमत्कारी पगों ने नर्क का रूपांतर ही कर पाया था। इसी लिए कथा नहीं सावित्री का जादू उसके महान् विशाल और अकल्प्य प्रतीकों में छिपा है।

जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ और पुनः दुहराती हूँ कि अश्वपति संपूर्ण जगती की प्राणमय चेतना का प्रतीक है। पर प्राणमय चेतना क्या है? यह तो स्वयं सच्चिदानन्द की 'चित् शक्ति' ही है। जैसे उसके 'सत्' ने सारी सत्ताओं का निर्माण किया है वैसे ही उसके 'चित्' स्वरूप से सकल प्रकार की चेतनाओं का जन्म हुआ है और उसका 'आनन्द'-तत्त्व ही इस जीवन में सब प्रकार के सीमित और विशाल सुखों, हर्षों और प्रसन्नताओं के स्वरूप में बदल गया है। वह सर्व ज्योतिर्मय, स्वतंत्र, निःसीम और पूर्ण क्रियाक्षम 'चित्' शक्ति ही, प्राण शक्ति में निपतित बनकर नन्हीं-नन्हीं किरणों, अहं की क्षुद्र सीमाओं, सान्त द्रव्यों के क्षणिक जीवनों और अज्ञान की गति-सरणियों में बदल गई है। तो फिर इस ध्वस्तबला, खण्ड-मण्डला सत्ता को, फिर से अपने पूर्ण मण्डल की ज्योति को प्राप्त करना ही होगा।

आदि में देवों की पुकार पर जड़ता की वज्र नींद को तोड़-फोड़कर सृजन-क्रम आरंभ करनेवाली बागी शक्ति यही है जो पाषाणों को फोड़कर स्रोतों में बह निकली और कठोर तप्त धरा को चूर्ण-विचूर्ण करके हृदय का न जाने कौन-सा संकल्प लेकर, कौन-सा सौंदर्य लेकर, स्वर्ग को भी द्रवित कर देनेवाला एक आह्वान लेकर, वनस्पति जगत् के रूप में तृणदलों, कोंपलों, और पातों तथा लता-वल्लरियों में फूट-फूट पड़ी। और अपने सघन वृक्षों और अंध वनों से पर्वत, घाटियों और मैदानों को ढककर पृथिवी के अंतर को कँपा-कँपा दिया। इस प्रकार सारे सृष्ट जगत् की अगुआ बनी-सी न जाने अपनी कौन-सी अदम्य कामना लेकर एक अनवरत

महा युद्ध, एक अनवरत यात्रा के लिए सन्नद्ध हो गई थी। फिर कीड़े-मकोड़ों और पशु-पक्षियों की सेना उपजाती और अपनी विजय के बिगुल बजाती अपने-सर्वस्व की बाज़ी लगाती-लगाती एक दिन मानव की चेतना तक पहुंच गई थी। मानव-चेतना में पहुंचकर अब उसकी प्रगति ने एक अद्भुत मोड़ ले लिया है। अब उसकी चेतना अपनी पूर्ण विजय के लिये अधीर हो उठी है। मानव पृथिवी के गर्भ की अतल गहनताओं के रहस्य का पूरा पता लगा लेना चाहता है, वह आकाश के रहस्यों का पूरा भेद जान लेना चाहता है, वह अनन्तताओं को नाप लेना चाहता है। वह सारी प्रकृति को नंगा करके देखने को अधीर है क्योंकि उसे यह आभास मिल गया है कि रहस्य के इस पड़े हुए पर्दे ने ही उसकी आंखों से उसके मनचाहे को, उसके सर्वस्व के राजा को उससे छिपा रखा है। पर बुद्धि के इस उपकरण से जो उसको मिले उपकरणों में सबसे तीव्र और उन्नत है, वह उस भेद को जानने में असमर्थ रह गया है। वह खीझ से अपना सिर पटक देता है। इस अशक्तता, निराशा और लाचारी की कचोट ने ही शायद पृथिवी पर अश्वपति को, एक मन से अधिक शक्तिशाली नए उपकरण से सज्ज करके एक पूर्ण विजय के लिये भेजा है। मानव-समाज का यह अगुआ, सत्यान्वेषी, एक महा वरदान के स्वरूप ही यहां अवतरित हुआ है। यह सारी पृथिवी की अंतरेच्छा के स्वरूप ही यहां जन्मा है। उसकी तपस्या का फल ही सावित्री के जन्म को संभव बनाता है। सावित्री ही यहां दिव्य जीवन को संभव बना सकती है।

इसलिए यह पर्व अपना एक अद्वितीय महत्त्व रखता है। मानवता की तो यह जीवन-कुंडली ही अपने में छिपाए है। उसका भूत, वर्तमान और भविष्य यहां अंकित है। इसे छोड़ देने से आत्मा के विशाल वैश्विक स्वरूप का, उसके सारे नर्कों और स्वर्गों का रहस्य ही न खुला होता। और श्रीअरविन्द की सिद्धि का असल अर्थ ही न सिद्ध हुआ होता। इसको और इसके महत्त्व को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता।

सारा जगत्, सारी प्रकृति, सारी मानवता और सारा जीवन, एक प्रश्न चिह्न बना चला आ रहा है और आज भी वह वैसा ही है। प्रत्येक उन्नति एक-न-एक दिन अपने पतन को प्राप्त हो जाती है। अपने पतनों पर सदा को विजय पा लेने के लिए मानव की यह सारी जिज्ञासा अश्वपति के अग्निल चरणों में उसके दृढ़ संकल्प को लेकर लोक-परलोक सब कुछ पर विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध बन बैठी है। जितना प्रखर आरोहण होगा उतना ही प्रखर और सशक्त अवरोहण भी होगा। हमें भूलना नहीं है कि उसका योग कोई व्यक्तिगत योग नहीं है। यह तो संपूर्ण सृष्टि के विकास के लिए किया गया योग है। योग के इतिहास में कभी यह दिशा, यह महान् अभीप्सा, यह अदम्य साहस थाहा नहीं गया है। इसीलिए यह कहना पड़ता है कि जहां सारे योग समाप्त हो जाते हैं वहां से श्रीअरविन्द का योग प्रारंभ होता है।

इस प्रकार अश्वपति की साधना को हम आरोहण के तीन पर्वों में बाँट सकते हैं।

१ —— प्रथम पर्व के अंतिम तीन सर्गों में अश्वपति, आत्माकी मुक्ति का योग प्राप्त करता है तथा उसे अज्ञेय के रहस्य के दर्शन भी होते हैं। फिर भी आत्मा की शांति और आनन्द में डूबकर और उसमें निमज्जित होकर रह जाने से वह इनकार करता है। अपितु वह उस अनुभव को प्राप्त कर एक महान् सिद्धि से लाभान्वित होना चाहता है, वह सिद्धि है इस जगत् को ही पूर्ण करने की इच्छा। यह आत्मा की परमात्मा में लीन होने की अभीप्सा से एक भिन्न प्रकार की और साहसपूर्ण अभीप्सा है। वह वहां पाता है कि यह आत्मा ही सारे विश्व का आधार है, इसमें ही सारे लोक-लोकान्तर प्रतिष्ठित हैं। इन सबकी पूर्णता ही आत्मा की सर्जनेच्छा का उद्देश्य है। वह तो गीता के विश्वरूप दर्शन करनेवाले योगी से भी आगे की बात सोचता है। वह एक-एक लोक में जाकर उनका साक्षात्कार करना चाहता है और उस रहस्य को जानकर सारी जगती को उससे लाभान्वित कराना चाहता है। उसके परम उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है।

२ —— बस यहीं से श्रीअरविन्द की साधना, योग-साधना के इतिहास में एक महत्त्वशाली और नया मोड़ लेती है। दूसरे पर्व की यात्रा की कथा श्रीअरविन्द की प्राप्त सिद्धियों का इतिहास है जिसने अश्वपति के योग का रूप धारण किया है। इन लोक-लोकान्तरों की महा यात्रा मे ही उसे हमारे जीवन की असफलताओं के सारे रहस्यों का भेद मिलता है। वह देखता है कि इन लोकों के छोटे-बड़े देवता हमारे जीवन पर किस भांति छाए हुए हैं और हमारे बड़े से बड़े आदर्शों को भी एक न एक दिन कैसे निराश होना पड़ता है। किस प्रकार खून-पसीना एक करके निकाले हुए मार्ग और अन्वेषण निष्फल हो जाते हैं। युगों में जो कुछ उन्नति की जाती है उसे एक उन्मादी क्षण नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। बस जैसे-जैसे वह इस रहस्य का पता लगाता चलता है उसकी पूर्ण विजय की पिपासा बढ़ती जाती है। वह देखता है कि मानव के भीतर दुर्बलता का नन्हा धब्बा भी बढ़कर उसकी सारी उन्नति के ऊपर छा सकता है। अंधकार और अज्ञान का एक कण भी विस्तृत होकर सारे जीवन को ढक लेता है अतः पूर्णता से कम उसे कुछ भी संतुष्ट नहीं कर सकता। वह देखता है कि मन के द्वारा जाना हुआ सारा ज्ञान अर्द्धप्रकाश में गढ़ा हुआ एक कल्पना-जगत् ही है। हम बराबर देखते हैं, प्रथम पर्व में ही उसकी अभीप्सा मन में एक अपूर्व निश्चय को ठान बैठी है।

बस उसका सत्यार्थी मन उस आत्मा के राज्य को, जो मानव-अंतर में अबतक छिपी बैठी है, उसकी ही पूर्णता और आनन्द की दृष्टि से देखता है, उसका ही शासन धरती पर फैलाने के लिए पल-पल अधीर हो उठता है। वह यही सोचता है कि आखिर अभीतक यह रहस्य छिपा ही क्यों पड़ा है। आखिर आत्मा ने इस जड़ता में किस अपूर्व अनुभव को साधित करने के लिए अचित् के महा अंधकार में डुबकी मारी थी? किस महा आनन्द को पाने के लिए उसने अपनी स्वर्ण-

चेतना को गुमाने का जोखिम उठाया था। वह आनन्द, सत्य और ज्योति पृथिवी पर अभी तक चरितार्थ क्यों नहीं की जा सकी। उसकी सारी सत्ता को झकझोर देनेवाली पृथ्वी की आकुल पुकार ने उसे व्यक्तिगत और प्राणिक, मानसिक ही नहीं एक महान् भौतिक रूपान्तर की सिद्धि के हित विवश किया था। बस उसकी अमर जिज्ञासा ने उसके पगों में एक अग्निल संकल्प भर दिया था और चेतना केवल अपनी अंतर-ज्योति के सहारे उन लोकों के ऐन्द्रजालिक घेरों में कहीं न फँसती हुई, ज्योति के तीर की भांति बढ़ती चली जा रही थी। यह वह यात्रा है जिसका साहस आज तक कोई भी योगी और ऋषि नहीं कर पाया। और इसीलिए अज्ञान को जीवन में कभी जड़ से नष्ट नहीं किया जा सका। क्यों-कि उसके अपने अँधेरे घर में जाकर उसकी सुदृढ़ जड़ों को कभी कोई खोद नहीं पाया था। क्योंकि अज्ञान को जड़ मूल से नष्ट करने का अर्थ ही बड़ा महान् है। वह है उसे ज्ञान के पूर्ण प्रकाश में ही बदल डालना। श्रीअरविन्द कहते हैं हमारा अज्ञान और है ही क्या वह तो अंधेरे में पूर्ण प्रकाश के पाने की ही एक अनवरत खोज और भटकन है।

३ —- पर दूसरे महा भीषण पर्व के समाप्त होते-होते उसकी साधना एक अद्भुत दृढ़ संकल्प को धारण करती है। अब उसकी आत्मा व्यक्ति की आत्मा नहीं रह जाती। वह विश्व की आत्मा के साथ एक बन जाती है। तथा उससे भी कुछ और बनने को ललकती है क्योंकि वह देखती है कि जिस एकम् ने इस बहुत्व को रचा है उसका साक्षात्कार तो उसे अभी तक नहीं हुआ है। उसकी जिज्ञासा का पूर्ण उत्तर देनेवाला अधिकारी व्यक्तित्व अभी दिखाई नहीं पड़ा है। तो फिर वह पृथिवी के भाग्य को बदलने की प्रार्थना ही किससे करे। बिना पृथ्वी के दुख-श्लथ भाग्य को बदले उसका व्रत कहां पूरा होता है।

यद्यपि अपने उद्देश्य के लिये वह सब कुछ की आहुति दे चुका है, यद्यपि उसने सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले सारे देवी-देवताओं के दर्शन प्राप्त कर लिये हैं, उनके सारे कार्य व्यापार को देख और समझ लिया है, फिर भी अभी उसका उद्देश्य कहां पूरा हुआ। मानो उसने सारे विकास तथा अनुक्रम को देख लिया है, भूत भविष्यत् वर्तमान तथा इससे भी अधिक कालातीत तक का अनुभव प्राप्त कर लिया है, रात्रि के गहरे गह्वर से लेकर द्वाभा के प्रकाश से होता हुआ वह शाश्वत दिन के प्रकाश तक की झलक ले चुका है, फिर भी वह शक्ति, जो इन सबका संचालन करती है उसके मुख-मंडल के दर्शन का सुख अभी नहीं प्राप्त कर सका है, तो फिर पृथ्वी की कातर पुकार को वह क्या उत्तर दे? उसका कार्य तो अभी भी पूरा नहीं हुआ। पाठक देखेंगे कि उसकी साधना किसी एकान्त समाधि में जगत् का परित्याग कर किसी एकाकी सुख में मज्जित नहीं होती, उसकी चेतना सर्वदा एक जाग्रत समाधि बनी रहती है। और वह जहां भी पहुँचता है पृथ्वी की पुकार, उसका हाहाकार वह बराबर सुनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

इस सिद्धि से कैसे एक व्यक्ति के साथ सारा संसार ही ऊपर उठ जाता है। बस वह पुनः एक घोर साधना में जुट जाता है, वह सब तो पाठक के सामने हैं। पाठक को तीसरा पर्व मिल ही चुका है। किस प्रकार पहले उसकी अभीप्सा का कोई उत्तर नहीं आता। फिर धीरे धीरे उसे माँ की उपस्थिति का स्वर्णिम आभास मिलता है, और जैसे-जैसे उसकी उत्कंठा ज्वलंत बनती जाती है उसका स्वप्न सच होता जाता है। उसे निखिला सौंदर्यमयी जननी के दर्शन होते हैं और बस सारी मिथ्या, भ्रम, भूल और अज्ञानता तथा उससे होनेवाली सारी यातनाएँ अपने रहस्य को उसके आगे खोल देती हैं। सारे प्रश्नों का उत्तर लग जाता है। फिर भला अश्वपति उस सामंजस्य और सम्पन्नता को पृथ्वीपर प्राप्त करने से कैसे वंचित रह सकता था। बस अपने पुत्र की अभीप्सा की तीव्रता से जगत्-जननी के सारे तर्क हार मान लेते हैं और फिर जो असंभव है उसे संभव बनना पड़ता है। अश्वपति को सावित्री के जन्म का वरदान प्राप्त होता है।

अपनी बात

तो फिर मेरे लिए भी इस विशालकाय और लगभग ३०० पृष्ठों में फैले इस दुर्ग्राह्य पर्व का मनन-अध्ययन सहज कार्य नहीं था। और फिर यह पर्व तो श्रीअर-विन्द के यौगिक जीवन का, उनके निगुह्य अंतर्दर्शनों, विज्ञनों और साक्षात् अनु भवों का इतिहास है। इसे तो हर प्रकार के पूर्वाग्रहों को बालायताक रखकर ही पढ़ना-समझना संभव हो सकता है। हमारे मन की पकड़ में भला ये कहां आते हैं ! मानसिक खोज, उत्सुकता और जिज्ञासा की इच्छा इसमें सहायता नहीं बाधा ही उत्पन्न कर सकते हैं। केवल शिशु भाव से स्वच्छ अंतःकरण द्वारा कुछ अभीप्सा करते-करते ही थोड़ी झलकें मिल पाती हैं। मन को अंतःकरण का आज्ञाकारी अनुकर्ता बनकर ही अपने सँजोए ज्ञान का सदुपयोग करना पड़ता है। कल्पना के दुर्बलकर सत्य के ज्वलंत आकारों को साधने में सर्वथा असमर्थ हैं। मन की वायव्य आत्मा पर यह नानारूपी आकारों का, नाना उद्देश्यवाली शिखाओं का सामंजस्य अपने जीवन का स्वरूप निर्मित नहीं कर पाता। जैसे पुष्प ३, पर्व ५ के सर्ग ३ के ३७-३८ पृष्ठ पर देखिए: --

सत्यवान् की आत्मा जब सावित्री के सम्मुख पुकार उठती है: ---

"जीना आया यों इक किरण-ज्योति में किन्तु सूर्य को अपने देख न पाया"

... ...

"उदित तुम्हारी इस मुख-श्री ने मुझ पर स्वर्ण भागवत-भास्कर ही प्रकटाया।"

यह न कल्पना है न मात्र उपमा के लिए कोई काव्यमय कथन, यह तो एक साक्षात् सत्य है। जो चाहे अपनी साधना से सिद्ध कर सकता है। इसी प्रकार कभी सावित्री के मस्तक प्रदेश पर 'आत्माकाश' का दर्शन कोई अनूठी कल्पना

नहीं, अकाट्य सत्य है। इस प्रकार के न जाने कितने शब्द-समूह स्वाभाविक रूप से बनते चले गए हैं, . . . विचाराकाश, विभावनाकाश, अग्निल पुष्प, अग्नि-पंखी प्रकाश-पत्र, प्रकाश-जलद, प्रकाश-पंखी, या फिर सत्यदर्शी गुम्बद आदि। उनके पदविन्यासों और शब्द चित्रों को कहीं रुकना और हकलाना नहीं पड़ता क्योंकि वे कल्पनाद्वारा गढ़े तो जाते नहीं वे तो सत्य के साक्षात् चित्र ही होते हैं। शब्द-शक्ति अपने प्रकाश-तीर से हमारी सीमाओं को छेद-भेद जाती है। उनके साथ चलने के लिए हमें भी अपनी मानसिक गति और रीति-नीति से ऊपर उठना पड़ता है।

ऐसे में मेरे जैसे अल्पज्ञ अनुवादक की क्या गति होती है इसे केवल मैं जानती हूँ और भगवान् जानता है, जिनकी कृपा का सहारा ही कुछ संभव बना सका है। इन शब्दों और इनसे उत्पन्न होनेवाली चिर गुंजायमान विलक्षण और विस्तृत ध्वनि से मैं खेल नहीं कर सकती। क्योंकि प्रत्येक बिंब, प्रतीक और चित्र अपने ढँग से अपनी रीति में ही पूर्ण चित्र बनाते हैं। उसमें साहित्यिकता के नाम से हम उलट फेर नहीं कर सकते। एक-एक दृश्य मानो एक-एक सुव्यवस्थित, सुगठित जगत् ही होता है और ये सब जगत् मिलकर एक विराट् नभमंडल ही बनाते हैं। इनके साथ ईमानदारी निभाना और अनुवाद की पूरी सटीकता का होना एक आवश्यक अंग है। वैसे अंग्रेजी में उनके द्वारा चुने हुए शब्द के लिए हिन्दी का एक ही शब्द पाना कठिन है फिर कविता के छंद के अनुरूप चुनाव द्वारा जड़ाव करने की गुंजायश ही कहां रहती है। फिर भी इस छंद में २० मात्रा का जो एक चरण चुना गया है उसमें कहीं कम-बढ़ नहीं होने पाई है। हां कहीं-कहीं लय में शब्द-अनिवार्यता से कुछ रुकावट सी लगने लगती है। पर संभालकर पढ़ने से और ह्रस्व-दीर्घ पर ठीक बल देने पर यह कमी दूर हो जाती है। पर दूसरी तीसरी आवृत्ति में कुछ सुधार आने की संभावना बराबर ही बनी हुई है और जितना संभव है किया भी जायगा। फिर यह तो माटी का प्रथम सेतु है, कुशलतर कलाकार बहुत कुछ सुधार-निखार ला सकता है।

मैंने अपने अंतर के संगीत के जिस अनन्त आग्रह से मजबूर होकर इसे तुकान्त छंद में सँभालने का प्रयत्न किया है पाठक भी यदि उसी संगीत में डूबकर पढ़ेंगे तो उन्हें अधिक कठिनाई नहीं प्रतीत होगी। संगीत की करेंट से सहज ही एक अंतर बल्ब कुछ देर के लिए जल उठता है। विशेष रूप से ऐसे गुह्य ज्ञान को समझने में उससे कुछ इंगित अवश्य मिलता है। लोगों के इस कथन में कि, — जब तुम गाकर सावित्री पढ़ती हो तब वह अधिक समझ में आती है, — कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। संगीत अपने आवेश से कुछ अगोचर वस्तु को भी सहज में झलका जाता है। भारतीय भाषाओं में विशेष रूप से हिन्दी में काव्य को गाकर पढ़ने की प्रथा बहुत पुरानी है। लोगों का विचार है कि सावित्री जैसे गुह्य ज्ञान के वेदगर्भी साहित्य को संस्कृत छन्द में ही लिखना चाहिए। पर मैंने ऐसी किसी

अनिवार्यता का अनुभव नहीं किया। यह तो व्यक्ति और उसकी शैली पर निर्भर करता है। मैंने तो यही पाया है कि सावित्री में लेखक को जो भी कहना है उसके उपयुक्त शैली भाषा और छंद के चुनाव में अधिक से अधिक जो सरलता हो सकती थी वह पाई जाती है। हिन्दी को तो अपने लोक-गीतों से एक सहज सागर-संगीत प्राप्त है जिसकी तुलना किन्हीं नपे-तुले छंदों से हम नहीं कर सकते। लोक-ध्वनियों का गांभीर्य कितना हृदय-द्रावक और भाव संक्रामक है यह किसी से छिपा नहीं है। केवल तीन चार स्वरों पर प्रवाहित होनेवाले सुहाग-गीतों का संगीत किसका हृदय नहीं हिला जाता। इसका गांभीर्य वेदों के ऋचा-गान का समकक्ष बन सकता है। या तो यह सागर, सरिता और झरनों के या पवनों के संगीत का समकक्ष बन सकता है। यद्यपि लोक-ध्वनि में आध्यात्मिक भावनाएँ कम ही गाई गई हैं फिर भी उच्च कोटि के भजनों की कमी नहीं है। और फिर इस दिशा में अभी विस्तार की संभावना ही संभावना पड़ी है। इस छंद की लय और शैली लोकगीत की शैली के बहुत निकट है। इसी लिए तुक जहां मिल गए हैं वहां तो ठीक है, जहां स्वाभाविक रूप से वे नहीं मिले हैं वहां भी एक ध्वनि साम्य है उसे पाठक भीतर पैठकर पा सकते हैं। इसी तरह आवृत्तियाँ भी कहीं कहीं हैं, और वे अच्छी भी लगती हैं। यही क्यों, मूल ग्रंथ में विचारों और भावों की आवृत्तियाँ तो इसकी जान ही हैं। सावित्री के साहित्य को हम निश्चय ही मन बहलाने के लिए नहीं पढ़ते। उसे तो हम ब्रह्मानन्द सहोदर का आनन्द पाने तथा जीवन के सब संदर्भों में उसे ही दुहराने और इतना ही क्यों उस आनन्द को जीवंत और अमर बनाने के लिए ही पढ़ते हैं। हमारे इस ध्येय के लिए यह हिन्दी अनुवाद यदि मूल का कुछ भी परिचय करा सके तो अधिक मैं आशा नहीं करती। वह तो मेरे जैसों के लिए असंभव भी है।

पर्व-प्रसादी

पर्व २, सर्ग १

जगत्-सोपान

अश्वपति अपने पार्थिव मन से ऊपर उठकर अपनी यौगिक दृष्टि से इन सारे लोक-लोकान्तरों की पहले एक झलक प्राप्त करता है। इसके बाद वह एक-एक कर उन लोकों में प्रवेश करने की जिज्ञासा से विवश बनता जाता है। उसके योग ने एक नितान्त नवीन और साहसपूर्ण दिशा पकड़ी है। यह मोड़ निश्चितरूपसे प्रथम पुस्तक में आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने पर ही उसने ले लिया था। क्योंकि मुमुक्षावस्था में वह केवल अपने सुख के लिए समाधिमग्न होकर

नहीं रह जाता है। उसकी अन्तरदृष्टि बराबर जाग्रत रहती है। वह आत्मा के किये गए, सृष्टि के महान् प्रयोग को उसकी ही सक्रिय दृष्टि से देखता है। उसके आगे अब एक स्वयंभू सर्जन प्रकट होता है। वह प्रभु के प्रेमावेग से उत्पन्न इस विश्व-लीला में कार्यरत अनेकानेक दिव्य मनोदशाओं और ऊर्जाओं के सागरों को पर्वताकार रूपमें ऊपर बढ़ता देखता है। उसकी ज्ञानातुर दृष्टि पर अनेक रहस्य प्रकट होने लगते हैं। वह वहां सुन्दर स्वर्गों और क्रूर नर्कों, -- इन दोनों को ही अपने समानुपात में उपस्थित पाता है। दोनों की आवश्यकताओं को समझता है। वह देखता है कि नाना-प्रकारी सृष्टियां एक ही विश्व-राग की विविधस्वरी गूंजवत् वहां स्थित हैं।

यह सब एक प्रथम दृष्टि का अखण्ड दर्शन है। समग्र की एक दृष्टि है। उसे ये लोक एक-दूसरे में गुँथे, ऊपर-ऊपर उठते हुए जान पड़ते हैं, और जैसे उनकी शिखाएँ, एक अदृष्ट में लोप होती हुई दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार नीचे उतरते-उतरते उनका तल भी एक अदृष्ट में लोप हो जाता है।

"सक्रिय प्रकाश के इक गुह्य बाँध में . . . .

. . . .

उसे उठाया अज्ञेय के लोक में।"

यह विश्व-लोकों का एक पुंज ही -- देवों के अद्रिरथ के नाम से पुकारा गया है। जिसका तल यद्यपि इस पार्थिव चेतना पर स्थित है पर उसकी शिखा स्वर्ग में उठती चली गई है और अदृष्ट हो गई है। प्रत्येक लोक अपने वातावरण को, अपने आकाश को, अपनी भावभंगी को, अपनी रंजित आभा को अपने साथ लिए ऊपर चढ़ता चला गया है। यह एक दोहरी गतिवाली सीढ़ी है। यह आरोहण-अवरोहण दोनों की एक उभयमुखी सोपान है। अवरोहण की प्रतिक्रियास्वरूप आरोहण होता है, और सक्रिय आरोहण होता है तो अवरोहण की गति भी प्रारंभ होती है। क्योंकि यहां तल में भी तो वही परम सत्ता निवास करती है जो ऊपर के परम-चरम लोक में। ये लोक, आत्मा के निपात में स्वयं रचित उसकी मनोदशाएँ हैं। इन्हीं पैड़ियों से प्रकृति पुनः धीरे-धीरे कर ऊपर चढ़ती है। पृथिवी के तत्त्व में यह सोपान सब कहीं विद्यमान है। उसके सारे विकासक्रम का इतिहास उसकी इसी ऊर्ध्व-संचरण की जिज्ञासा की भटकती हुई कथा है। आज मानव पर आकर उसकी दृष्टि बड़ी आशा-अभिलाषा से टिक गई है।

"और हमारी भू उस मिश्र तत्त्व का . . . ."

मानव की आत्मा में उस अद्रिरथ की, उस विश्व सोपान की एक प्रतिलिपि छिपी है। और यह कहां नहीं है?

"यह अपने भीतर है औ' बाहर है यह अपने नीचे है औ' ऊपर है।"

यही तो पृथिवी का एक विशेषाधिकार है जिसको लेकर वह फिर स्वर्ग तक चढ़ सकती है।

पर्व २, सर्ग २

सूक्ष्म जड़तत्त्व का लोक

अश्वपति, स्थूल जड़तत्त्व से ऊपर उठकर सूक्ष्मजड़-जगत् की चेतना में प्रवेश करता है जो हमारे मर्त्य जगत् के सबसे निकट है। और सूक्ष्म लोकों की श्रेणी में जो अंतिम है। यहां से ही आत्मा इस जड़ स्थूल के अंधकार-सागर में छलाँग लेती है और अपनी सारी संभावनाओं को यहां लाकर छिपा देती है।

"जड़ता-आत्मा इक चैतन्य मिलन में दोनों आकर इस प्रकार मिलते हैं,
किसी अकेले गुप्त स्थान में जैसे दो प्रेमी आ चुपचाप भेंटते हैं।"

हमारे पार्थिव मन के सारे सुन्दर प्रारंभ यहीं मिलते हैं। हम अपने पार्थिव मन से जो सपने देखा करते हैं, जो ऊंची कल्पनाएँ किया करते हैं उन सबके पूर्ण रूप यहां विद्यमान होते हैं। यह ऊपर के लोकों का ऐसा धरातल है जो एक छत की भांति हमारी चेतना के ऊपर उठा रहता है और ऊपर के तीव्र दिव्य प्रकाश व वर्षा की झड़ियों को नीचे आने से रोके रहता है। क्योंकि यदि वह प्रकाश समय से पहले कहीं नीचे चला आए तो यह सारी पृथिवी नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है।

"जिनका यत्न यहां हम नाहक करते, जिनपर अभी विजय है और निरर्थक।"

. . . .

"जो शिखान्त में सुन्दर है औ' अपने निम्नस्तर में खतरों भरा भयंकर।"

साथ ही यह लोक अपने ऊर्ध्व में जहां सौंदर्य और लावण्यपूर्ण आकारों को जन्म देने में समर्थ है वहां अपनी निम्न भूमिका में सारे भयंकर और कुरूप आकारों का भी कारण बनता है।

यह तो एक देदीप्यमान आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व के मेल से बुनी हुई रचना-कृति है। यह सुन्दर और पूर्ण आकारोंवाला जगत् है। यह हमारे जगत् में भी आकार का कारण बनता है। यहीं से आत्मा निबिड़ अंधकार में डुबकी लेती है। और वही एक दिन सारे विकासक्रम की कहानी प्रारंभ करती है। और जब इसी अंधकार में वह चरम-परम स्वयं छिपा है तो फिर इस गूंगी जड़ता को गुलाब और कमल उत्पन्न ही करने हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या?

"तो फिर बस इस जड़ कीचड़-कांदों को सरसिज, गुलाब धारण करना ही है।"

हम भले ही आज अपूर्ण दिखते हों पर एक न एक दिन हमें अपनी छिपी पूर्णता को प्राप्त करना ही है। हम इस बेदरकार जैसे दिखते जगत् में अकेले नहीं हैं। हमारे पीछे महा शक्तियां कार्यरत हैं। पर अश्वपति को यह आकारों की पूर्णतावाला जग रोक नहीं पाया। उसे आगे बढ़ना ही था।

पर्व २, सर्ग ३

प्राण शक्ति का ऐश्वर्य और पतन

अब इस पार्थिव स्वर्ग से आगे बढ़कर अश्वपति प्राणशक्ति के एक ऊबड़-खाबड़ पर उन्नत राज्य में पहुँचता है। इस लोक के कारण ही पृथिवी पर चेतना का श्रीगणेश हुआ। सृष्टि के इतिहास में चेतन तत्त्व एक सबसे बड़ी घटना थी। पृथिवी पर इस मनोदशा के प्रारंभ होते ही जीवन और मरण का एक अथक और अनन्त क्रम प्रारंभ हो जाता है। उत्पत्ति, पोषण, क्षय और नाश के महाचक्र में पृथिवी का चप्पा-चप्पा डूब जाता है। यह तो एक विवादग्रस्त, परिवर्तनशाली शोध और श्रम का जगत् है। यहां से चेतना के जगत् की एक अथक भटकन, एक अन्तविहीन भूख और खोज प्रारंभ हो जाती है।

"यह तो महाकाश में चिदानन्द ने . . . .

अनन्त का आवेश तथा तरंग थी।"

प्राण के प्रत्येक स्तर पर अगणित प्रयोग चलते रहते हैं। फलस्वरूप असंख्य कीड़े-मकोड़े, पतंगे और पशु-पक्षी जन्म लेते हैं। गैंडे और हस्तियों से चींटी तक, पृथिवी को खूंद डालते हैं। वह फिर भी किसी आशा को पाले सब कुछ चुप-चाप सहती हैं। अच्छा-बुरा कुछ नहीं देखती। फलाफल भी नहीं देखती। सारा दुख-दर्द, हँसी-खुशी, चीख़-दहाड़, भय-कंप तथा हार-जीत के ख़तरों और आवेशों-को प्रसन्नता से सहती चलती है।

"दौड़ रहे वज्रक्षुरी परिवर्तन की....... . . . .

फिर भी उसका जन्म विशुद्ध, दीप्त था. . . . ."

अश्वपति उसके इन निम्न और उन्नत,––स्वर्गिक तथा नारकिक दोनों ध्रुवों को देखता है। वह इस आशाभिलाषा की भटकन में भी आनन्द के एक आनन को वहां खुलता हुआ पाता है। जो हमारे बड़े-बड़े आदर्शों, कला-कौशलों और सपनों का मूर्त रूप है। इतना ही नहीं जिसकी कल्पना अभी हम नहीं कर सके हैं उनका रूप भी वहां पाता है। अश्वपति ने अपने सपनों का एक साकार रूप वहां पाया। यह प्राणशक्ति अपनी खोज और जिज्ञासा की सनक में कहीं भी कूद पड़ने का जोखिम मोल ले लेती है।

"क्योंकि पतन में भी इक विकृत सुख है . . . ."

पर कितना भी गहरा से गहरा पतन हो उसमें सदा ऊपर उठने की सामर्थ्य छिपी रहती है। वह अपने झटकों में आनन्द के उन्नत लोकों में भी चढ़ जाने में समर्थ है। यही नहीं वह अपने पतन में भी विशुद्ध प्रेम और आनन्द की एक अनुभूति की स्मृति छिपाए रहती है। क्योंकि वह अपने-आप ही तो इस विरोधी दशा की शिकार बनती है। श्रीअरविंद की विचार-धारा में प्राणशक्ति का जो

स्थान और महत्त्व जीवन में है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसे पाठक सावित्री में ध्यान से देखें और अनुभव करें। ऊर्ध्वारोहण में वह बाधक ही नहीं, सहायक भी है।

पर अश्वपति उसके इन दोनों ध्रुवोंके बीच की अवस्था को भी देखता है। यह प्रदेश एक ओर स्वर्ग के निकट है तो दूसरी ओर हमारे पार्थिव जीवन के भी निकट ही है। हम प्रयत्न करें तो वहां तक तो पहुंच ही सकते हैं। हमारे उन्नत आदर्श यहीं से आते हैं। श्रद्धा-विश्वास, आज्ञाकारिता और सेवा-शुश्रूषा आदि की प्रवृत्तियाँ वहीं से आती हैं।

"उस भूमि पर कार्य भी एक खेल था और खेल ही केवल एक कार्य था... वहां आह्लाद और गति ही गति थी, न कहीं बुढ़ापा आता था, न मुख पर चिन्ता से झुरियाँ पड़ती थीं। समर्पण स्वेच्छित था, प्रेम स्वाभाविक था, सच्चाई और ईमानदारी स्वधर्म था। अश्वपति ने चाहा कि वह इस लोक में प्रवेश पा सके पर उसे कहीं कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ा। क्योंकि उसकी प्रकृति तो हमारे दुखी और पीड़ित लोक के ही पास बसती थी। मानव इनसे शीघ्र मुक्त नहीं बन पाता। और फिर उसने देखा कि जहां वह खड़ा था वहीं से निशा के द्वार आरंभ होते हैं। प्राण में स्वर्ग नर्क दोनों ही हैं।

"पर जग-चिंताओं से घिरे-घिराए....

द्वंद्व-नियम ही मिला मार्ग केवल है।"

क्योंकि यह हमारा जीवन तो जड़ता से ही उत्पन्न हुआ है। संघर्ष और द्वंद्व ही उसका धर्म हैं। अश्वपति सारे विकासक्रम को देख जाता है। वह देख जाता है कि प्राणशक्ति स्वयं ही बाल देवताओं की प्रार्थना पर कैसे यहां पतित बनी थी। अब वह अपनी पहले की आनन्द-अवस्था को ही भूल गई है। अब तो उसे इस जड़ता के विधान का पालन करते हुए ही आगे बढ़ना होगा।

पर्व २, सर्ग ४

अल्पतर प्राणशक्ति के लोक

बस इन ऊर्ध्व और अधः प्राणशक्तियोंके मिलन से ही इस सूक्ष्म अल्पतर प्राणलोक का निर्माण हुआ है। यद्यपि मौलिक रूप से प्राणशक्ति विशुद्ध है, पूर्ण है और स्वर्गिक है पर इस जड़ धरा को उन्नत करने के लिए वही नीचे आती है। और कीचड़ काँदों में मनती है। वह सर्वशक्तिशालिनी ही अपने ऊपर इस दुर्बलता और कंगाली का आवाहन करती है। प्रारंभिक अवस्था में उसे सभी प्रकार के दुख-दर्द के हीन साम्राज्य को झेलना पड़ता है। मानव का जीवन भी इस लोक से बहुत प्रभावित है। जीवन में चिंता, दुख, शोक, भटकन और दौड़धूप उसे

संतोष और चैन नहीं लेने देते। पर प्रारंभ में उसे इसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ना होगा। उसकी विशेष शक्ति सहजबोध तक ही सीमित है। "यह पृथिवी उसका ही निजी क्षेत्र है।"

"औ' इसपर जब वह जय पा जाती है तो दिव पर अपना अधिकार जनाती" अश्वपति उसके परम कुशल, पर कष्ट-यातना-सने जीवन को देखता रहा तथा जिस बौने देश से जीवन ने जन्म लिया है उसे भी अवलोकता रहा मानो :--

"जो उसमें कोई प्रचंड ऊषा के आगम की सुखमय बाट जोहता हो,
और काल के व्यापारों के पीछे निश्चित उद्देश्य को निहार रहा हो।"

इस सबके पीछे बराबर वह एक दिव्य उपस्थिति को विलोक रहा था। यदि इस दैवी सत्ता ने, इस भागवत चेतना ने, अपने दिव्य ज्ञान, शक्ति और आनन्द की बलि न चढ़ाई होती तो इस अचित् अंधकार से इस अनन्त महिमा का आविर्भाव संभव न बनता। उस चिदानन्द ने ही अपनी छाती पर अपना विरोधी ध्रुव निर्मित किया है। जिससे कि कभी इस जड़ जगत् के द्वारा ही उस परम-चरम सामंजस्य को स्वरूप दिया जा सके।

इस प्रारंभिक सृष्टि के बाद पशुओं का जन्म होता है। जिनमें मस्तिष्क का एक बौना स्वरूप देखने को मिलता है। इस लोक में एक संघ वृत्ति है जो इन प्राणियों में पाई जाती है। पढ़िए और आनन्द लीजिए। प्रकृति आखिरकार अपनी साधना में सफल होती है और वह एक मानव-आकार की रचना करती है। उपनिषद् में आता है कि देवतागण अश्व और गो जैसे उन्नत आकारसे भी तुष्ट नहीं हुए, इस मानव आकार को देखकर वे कितने प्रसन्न हुए थे और सहर्ष इस आकार को अपना निवास बनाया था "सुकृतं बतेति, पुरुषो वाव सुकृतं"। पर यह मानव अल्प प्राण के नाना प्रकार के क्षुद्र जीवों के प्रभाव में रहता है। प्रारंभ में तुच्छ कार्यों में जीवन बिता देता है। तब उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती, पाशविक इच्छाओं में ही वह सीमित होती है। पर जब तक यह मनुष्य पूर्ण प्रबुद्ध न बन जाय प्रकृति को चैन नहीं था। वह तो मानव-बुद्धि को लिए अपने अन्वेषणों में लगी थी पर अभी भी नितान्त असन्तुष्ट थी। और प्रकाश तथा आनन्द मत्त बने उसके पास-पास चक्कर काट रहे थे।

"प्रभु-अंगूरों की इक कच्ची मदिरा .....
उस परमानँद के उफान को भू की माटी के ही भाजन में ढाल सके।"

इसके बाद तीसरी अवस्था का जन्म होता है जिसमें विशुद्ध विचार प्रकट होता है। अब मन को एक द्रष्टा की शक्ति प्राप्त होती है। जिसे लेकर वह जगत्-की प्रत्येक वस्तु को व्यवस्थित और सुगठित करने का यत्न करता है। इस प्रकार उसकी यात्रा में एक ऊर्ध्व चरण और बढ़ता है पर उसका ध्येय अभी बहुत दूर है।

पर्व २, सर्ग ५

अन्तर प्राणशक्ति के देववृंद

यद्यपि ये सारे लोक और लोकांतर जो आत्मा के अवपतन से निर्मित हो उठे थे अपने-अपने स्तर पर बँधकर और सीमित रहकर रह गए हैं। और एक अटल-अचल रूप से उस चेतना-सोपान की पैड़ियां बन गए हैं। इन लोकों के देवों के तत्-तत् कार्य, अपनी परिधियों में ही सीमित हैं। यह तो मानव आत्मा का ही एक विशेषाधिकार है कि वह ऊंची से ऊंची चेतना तक चढ़ सकती है। और जब तक यह संभव न हो तब तक ये दिव्य लोक उसे उठाने के लिए ही, अपने-अपने प्रभावों से प्रभावित करते रहते हैं। यह मानव-चेतना सारी लीला का केंद्र है। इस अचित् के साम्राज्य का यह सिरमौर उत्पन्न हुआ है। पृथिवी की आंखें बड़ी आशा और उमंग से उसके कार्यों को देखा करती हैं। पृथिवी क्या देवों की भी दृष्टि इस अलौकिक प्राणी पर लगी हुई है। देवता क्या स्वयं परमात्मा भी अपना सब कुछ न्योछावर कर अपने इस अनोखे पुत्र पर बड़ी उत्सुकता से निहार रहा है। क्योंकि उसका चरम ध्येय अर्थात् जड़ता पर आत्मा का पूर्ण शासन स्थापित हो यह इसी पर निर्भर करता है। जब तक ऐसा नहीं होता यह माया-नाटक चलता रहेगा। जड़ता से ऊर्जा का गठबंधन इसीलिए होता है कि उससे प्राणशक्ति का जन्म होता है। और चेतना को एक महा क्रांति का अवसर मिल जाता है। एक उन्नत स्थिति में उसके ध्येय-पूर्ति के लिए मन को आना पड़ता है। जो प्रारंभ में एक सबसे बड़ी घटना दिखाई पड़ती है।
"जो विचार को एक सत्य न्यायी की गद्दी पर ले जाकर बैठा देता,

... ...

उत्तरीय को चीर फेंकना ही है।"

प्रकृति का एक अद्वितीय तत्त्व होने पर भी यह मन, जिज्ञासा में एक वेग-प्रवेग को तो भरता है पर घटनाओं को जोड़कर परिणाम नहीं निकाल पाता। यह एक कठपुतली के जैसा और यांत्रिक है। इसी से पशु-पक्षी एक सहज बोध-शक्ति से अपने कार्य करते हैं। और मानव की बुद्धि भी प्रारंभ में बहुत उन्नत और सूक्ष्म नहीं होती। उसके सारे कार्य बच्चों की भांति संपन्न होते हैं, यहां तक कि उसके विज्ञान आदि के चामत्कारिक अन्वेषण कार्य भी अंत में तुच्छ ही दिखाई पड़ते हैं। और वे हमारे जीवन को कुछ ऊँचा भी नहीं उठा पाते, उसे जहां का तहां अज्ञानता में घिसटने के लिए ही छोड़ जाते हैं। इस मन का वर्णन श्रीअरविंद के काव्यपूर्ण शब्दों में आप स्वयं ही पढ़ लें। पूर्णता के संदर्भ में हमारे तन, मन और प्राण के इन क्षुद्र उपकरणों के दारिद्र्य को पाटने के लिए ही वे बार-बार विकास-क्रम को दुहराते हैं। पर नए-नए संदर्भों में यह

आवृत्ति उतनी ही मधुर और आकर्षक लगती है जैसे प्रति नए पर्व पर नए-नए मिष्टान्नों में हम चीनी की आवृत्ति करते हैं। अतः इस प्राणिक मानसिक भ्रामक और छायिक लोक से भी अश्वपति को आगे बढ़ना है न —

"बसी हुई मद्धिम भुतही चकचौंधन उसके चारों दिशि बस चमक रही थी,
... ...
उसकी आत्मा की ज्वाला ही बस उस के लिए वहां पर एक ज्योति थी।"

पर्व २, सर्ग ६

महत्तर जीवन के साम्राज्य और देवतागण

उस अस्पष्टता, अस्थिरता, और संदिग्धता की अवस्था से घबराकर अश्वपति एक सुदूर प्रकाश की ओर बढ़ने लगता है। उसे लगा कि इस नई भूमिका पर एक आत्म-खोज चल रही थी, संदिग्धाशा में एक उषोदय का झुटपुटा प्रकाश था और अनिश्चित द्रव्यों में एक निश्चित आनंद का स्पर्श बोध था। वह एक उन्नत से उन्नत नवीन प्राप्तियों का देश था। यह चमत्कार, सौंदर्य, आश्चर्य और कल्पना का क्षेत्र था जहां कभी-कभी आध्यात्मिक भव्यता की झलकें भी दिखाई पड़ जाती थीं। यहां सब कुछ में एक भारी आकर्षण था पर वह संतुष्टि को नहीं दे पाता था। इसके सौंदर्य पर आकर्षित होकर पूर्ण तत्त्व के वे दिव्य प्राणी भी यहां खिंच आए थे। :—

"अदेहधारी प्रदीप्ति के वे बालक" .... और फिर वहां वह एक महान् शोध को प्रारंभ हुई देखता है और एक संदिग्ध सूर्य को भी सामने पाता है। पर यह सारी सुषमा और प्रकाश एक द्वाभा का ही सौंदर्य है। शाश्वत दिन का निर्मल प्रकाश अभी भी उसकी आंखों से ओट है। हाँ मनस्-शक्तिके द्वारा टुकड़ों-टुकड़ों में सत्य को जोड़कर बस एक समग्र सत्य की टूटी-फूटी मूर्ति भर बनाई गई थी। इस प्रकार "यह प्रकृति की तीर्थ यात्रा उस 'अज्ञात' की ओर ले जाती है।" "कभी कभी तो वह उस खाई को, फलांग जाने की आशा भी करती है, जिसे वह कभी नहीं पूर सकती।" पर उसका ध्येय अभी सिद्ध कहां हुआ है? इस प्रकार वह श्रम करते रहने को परवश है। वह अपनी अति महिमा और शाप को ढोकर बढ़ती रहती है।" सत्यं, शिवं, और सुन्दरं, ये तीनों ही उसके अपने उपास्य इष्ट-देव हैं....।" फिर भी दुःख-कष्ट के बीच अभी तो वह "क्रूशारोहित प्रभु को अपने वक्षस्थल पर लेकर बढ़ती है।" पर इस अथक खोज के पीछे उसके अंतर-आग्रह को कोई समझ कहां पाता है? वह तो सारे कार्य-व्यापारों द्वारा अपने प्राणवल्लभ को एक दिन प्रकट कर लेने के लिए ही सारी यातना को ओढ़ती है। उसकी इस दुष्कर यात्रा का यही रहस्य है। उसके सारे अनुभव एक गुह्यता से

मंडित होते हैं। उसके सारे आकार एक रहस्यमय प्रतीक हैं। "प्रति विचार औ' प्रत्येक भावना तो .... प्रति कर्म इक प्रतीक और इंगित है।" फिर भी इस चेतना ने अभी तक एक प्रकाश को ही देखा है पूर्ण सत्य के सूर्य को नहीं।

उसके देवता अपनी एक अद्वितीय महत्ता और भावना में ओत-प्रोन रहते हैं। "प्रत्येक ही वहां एक महत्ता है, ...। उस आदि 'विभावना' से निकली अगणित विभावनाएँ अपने-अपने जगत् का निर्माण कर लेती हैं और उन्हीं से बँधकर रह जाती हैं। ये सभी प्रभु के उस आदि संकल्प की सहायक तो हैं पर उसका अन्तिम फल नहीं बन पातीं। बस फिर:—

"स्वर्ग के लिए हो या नर्क के लिए उन्हें समर इक लड़ना ही होता है।" उस स्तर पर शुभ-अशुभ विरोधी नहीं समानान्तर शक्तियां लगती हैं। स्वर्ग का मार्ग नानाविध नर्कों से होकर ही जाता है। द्वंद्व शक्ति की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। यह शक्ति धरा के प्रभाव से ज्यों ही दूर हटती है एक उन्नत दिशा में अग्रसर हो जाती है। वह अपने शक्ति-बाण को एक ऐसे निशाने पर छोड़ देती है जो उससे छिपाकर रक्खा गया है। अश्वपति ने इन इंगितों का अर्थ पढ़ लिया था। फिर वह उसके प्रतीकों में घूमता रहा जहां प्राणशक्ति ने अपने गरुड़ों को अनन्तता में उड़ने के लिए निर्बाध छोड़ दिया है। जैसे-जैसे वह उसकी आत्मा को पढ़ता है वैसे वैसे वह समझता जाता है कि वह तो एक 'स्फिक्स'[१] शक्तिसे सज्ज ऐसी चेतना है जिसकी आंखें बस पूर्ण सत्य-सूर्य पर लगी हैं। बस अब प्राण ने उसे ऐसी कहानी सुनाई थी जो मानव ने कभी न सुनी हो पर वह आधी कही कहानी की भांति ही थी।

फिर भी इस लोक में एक दिव्य दृष्टि के दर्शन तो होते ही हैं। हाँ, एक दिव्य प्रतिमा इस कुहासे के अंधकार में बन्दी पड़ी है। उसका वह दिव्य 'प्रेमी' उसकी मोहनी में ही अभी भूला रहता है। पर यहां वह बराबर शाश्वती की एक महा चुप्पी से आती हुई गुंजार को सुन लेती है। उसपर मोहित भी बनी हुई है, पर उस परात्पर शक्ति से अभी भी उसके पास कोई श्वास नहीं आती।" "यह सब इक शानदार विष्कंभक है जिसकी ध्वनि कानों को छा लेती है।" पर काल-नादों की विस्मरणशील ध्वनि उसे फिर ढक देती है। यह एक भारी विडम्बना है। "अरे यहीं इक भारी अंतराल है.....। यही एक भारी अभाव उसे खटकता रहता है। फिर भी वह निराश कहां होती है, वह तो और अधिक वेग और उत्साह से भागती है। प्रत्येक बार गिरकर तेज़ी से ऊपर उठती है। जन्म-मरण, मरण-जन्म, इस अनवरत यात्रा पर; हृदय में एक आशा सँजोए चक्कर

---

[१] 'स्फिक्स' शब्द का सावित्री में बहुत स्थानों पर उपयोग मिलता है। यह रहस्यमय शक्ति का प्रतीक प्रतीत होता है।

काटती है। वह चाहे जितना थक जाए पर उसकी यात्रा समाप्त कहां होती है। "उसके लिए मुक्ति का निषेध ही है जो उसका केवल बचाव लगती है।" तो फिर कहीं निस्तार नहीं, कहीं ठहराव नहीं, उसे सतत बढ़ते ही जाना है।

—विद्यावती 'कोकिल'

सावित्री

एक आख्यान और एक प्रतीक

यात्रा पर्व

पर्व २, सर्ग १

जगत्-सोपान्

इन अदृष्ट क्षेत्रोंको आज नाँघता
निरख रहा था उसको बढ़ते केवल

देखा जा सकता था वह सब कुछ जो
जाना जा सकता था वह सब-कुछ औ'
और किया जा सकता था वह सब कुछ
जिसे मर्त्य संकल्प यहां करने का
इक निस्सीमा क्रियाशीलता ने था
इस पृथिवी से अस्पर्श्य औ' अगोचर,
जो मानव-आदर्शों औ' सपनों का
और जहां पर सारे दिशा-'दिशांतर'
औ' इन पाए जानेवाले सारे
द्रव्यों के उस अन्तर्निष्ठ ऐक्य में,
अब विश्रामरहित औ' अन्तविहीने
अबाधगति एक स्वयंभू सर्जन ने
औ' अपनी उस लीला के जोखिम में
अनगिन मनोदशाओं औ' ऊर्जाओं

जो उसकी सत्य-कल्पनाएं हैं उन

औ' उसने उस अविरत, अचल, स्थाणु के
महाप्रवह में इक हर्षोन्माद औ'
और सनातनता के प्रेमवेग को
उस सतत 'निर्विकारी' की तरंग में,

चला जा रहा था अश्वपति अकेला,
शाश्वतता का सागर परित: फैला,
औ' ऊपर 'अज्ञेय' एक अलबेला।
रहता चर्म-चक्षु-परिधि को दुराता,
मन का अश्व जिसे है पकड़ न पाता;

है साहस भी कभी बटोर न सकता।
इक निस्सीम महा-शांति को भर दिया।
अतल, अपार एक सत्-ता के भीतर,
आदि-जनक है औ' है आदि-वंशधर,
लगते हैं इक आत्मप्रयोग बृहत्तर,

'अज्ञात' का विश्व था प्रकट हो गया।

'अनन्त' की चिर महिमाओं को खोला:

को खेल खेलने के हेतु ढकेला,
औ' इन सारे वैश्विक आकारों को,
'स्वशक्ति'-स्वातंत्र्य के आदि सूत्रों को
जग-सर्जन के महावेश में रेला।

'दिव्यविभावन' की केलि को उँडेला,
तथा क्रिया के महावेश को घोला।

प्रकटे वहां अजन्म विचार, जो कि बस
अव्यक्त शब्द, जो चिरजीवी होते
अकृत कर्म, जो कि महा 'नीरवता' से
प्रकटे अप्रकट रेखांकन, अव्यञ्ज्य को
'शाश्वत' की उस नीरवता ने अपने
देखा अपनी विश्व-'शक्ति' को अपने
जो निज जिजीविषा के सुसंकल्प के
अद्‌भुत चमत्कार औ' सुसौंदर्य को
दुख-कथानकों, आनन्द-नाटकों में
सब कुछ, यहां तक कि सब दुःख भी वहां

और उसी 'एकमेव' की थी सारी
तभी भर उठा सहसा सब विराट् ज्यों
नहीं जा सका और भागकर कुछ भी,
ऐसा कुछ भी उसके निकट न आया
इस सब फैली असीमता के सँग वह
इक परमातिपरम उच्च चेतना में,
कभी न मरनेवाले उस 'अजन्म' को

'विश्वात्मा' की आकारित औ' मूर्तित

देखा योगी नृप को ऐसे, जैसे
जो उस अनिर्वाच्य की गतिविधियों को
अब सत्ता के विविध पहलुओं ने थे
औ' आकार जिन्होंने दिव्य वस्तुओं
उसकी काल-बद्ध दृष्टि को बने अब
औ' 'अध्यात्म'-सत्य के सुठि प्रतीक वे
उस 'अकाय' की जीवित कायाएं वे

औ' अदृष्ट से उसे जोड़नेवाली
अब अपने अंगुलि-संकेतों द्वारा
'प्राण-शक्ति' के सहस-लक्ष क्षेत्रों की
वाचाओं ने अपने महत्त्वशाली
और 'स्वर्ग'-संकेत कि जो पृथिवी के

निज अमर्त्य परिणामों में बसते हैं,
गोकि वहां मौन ही पड़े रहते हैं,
उसका गूँगा बोध लिए आते हैं,
जो बहु-बहु भांति से व्यक्त करते हैं।
अविकारी आनँद में बन सुप्रतिष्ठित,
भीषण, कठिन कार्य में सतत निमज्जित,

है बस प्रति दिन करती चलती प्रसृत।
था आत्मा का ही सुख-मोद अखण्डित,
सब अनुभव एक योजना थी सुगठित,
यह अभिव्यक्ति सहसविध और सुविस्तृत।
उसकी एक अकेली दृष्टि-परिधि में;
पकड़ा गया महत् अंतर्दर्शन में,
जो न उसे निज सजातीय लगता था:
जुड़कर इकरस, एकात्म हो गया था।

काया देकर करती-सी आकारित
सुन्दर-रूपधारिणी प्रतिमाओं ने,
बन बैठी-सी उन क्रान्त दृष्टियों ने,
सत्-शाश्वती-स्पर्श से बनकर जीवित
रूपबद्ध आत्मिक विचार लखते हों,
मूर्तित, आकारित करते रहते हों।
जगत् रूप-रेखाके सुवसन धारे,
के लखने को थे चल द्वार उघारे,
परिचित, वे सब अपने रूप सँवारे।

अब थीं उसके बिलकुल निकट आ गयीं,
उसके रात-दिवस के सखा बन गईं।
अनिद्र 'मन' की अक्षय्य दृष्टियों ने
सम्मुख बिछी हुई अक्षर-पांतों ने
उसको चारों दिशि से घेर लिया था,

संदेशों से प्रेरित उसे किया था।
जीवों पर आक्रमण किया करते हैं,

औ' कठोरतम क्रूर कल्पनाएं वे
गौरव 'नर्क' जिन्हें नित सपनाते हैं,
उनका यहां अनुसरण करें अगर हम
या हम उनका अनुभव ही कर पाएं
तो ये मानव इन्द्रिय-स्पर्श हमारे
अपनी सब अनुभव-शक्ति ही गँवाएं,
या कि मर्त्य दुर्बलताएं ये अपनी
अधिक समय तक न सहनक्षम रह पाएं,
वहां सभी उन्नत समानुपातों में
वे संगठित रूप से सुनियोजित थे।
और स्वयंभू वातावरण में वहां
चले जा रहे वे अपने जीते थे,
अपने शिखाहीन ऊर्ध्व उड्डयनको
औ' अपनी नैसर्गिक एक 'शक्ति' को,
धारण किए हुए जा रहे जिए थे;
आत्मा पर उनके अति दृढ़ दबाव ने
बस अपनी-अपनी सुचरमताओं के
आवेश को और इक परिमलता को,
यहां चेतना की सुविशाल भूमि पर
बस गहरे से गहरे धँसा दिया था
निज एकल नारे की केवलता को

अपने सुन्दर या प्रचंड आनँद की
एक भव्य औ' शाही सुमधुरता या
एक उग्र औ' मादक-सी कविता को,
बस चेतना-क्षेत्र पर गड़ा दिया था।

वह सब, जिसे विचार जान सकता है,
और सुविशाल दृष्टि देख सकती है,
औ' वह सब, कि विचार, दृष्टि भी जिसको
देख न सकती, जान नहीं सकती है, —
अब वे गुह्य और दुष्प्राप्य वस्तुएं
जो दूर, अपरिचित और अजनबी थीं,
सार्वभौम आत्मा के स्पर्शबोध में
उसके अंतर-संपर्क के निकट थीं।
अब वे नृप के स्वभाव के द्वारों पर
प्रवेश पाने के हित उनके भीतर,
उसकी आत्म-शोध के ज्वलंत साक्षी
वे, निज चमत्कार और वैविध्य की
अपनी सामूहिक भेंटें ले-लेकर,
उसके विस्तृत और विशाल बन चुके
मन-आकाशों में एकत्र हुई थीं।
अब ये अनुभूतियां सकल बस उसके
व्यक्तित्व के नए अंग ही बन गईं;
औ' उसकी आत्मा के एक महत्तर
जीवन-आकारों में मूर्त हो गईं;
उसकी विशाल लम्बी काल-चाल के
चलते-फिरते दृश्यों में सँवर गईं:
उसके अपने चित्रित, खचित, कढ़े-से
इन्द्रिय बोधों के सुठि तन्तु बन गईं:
और उन्होंने मानवीय द्रव्यों का
ही अभिन्न स्थान एक ग्रहण कर लिया,
औ' मानव विचार का निकट सखा बन
साथ साथ बस रहने वहीं लग गईं,
या उसकी आत्मा का ही स्वाभाविक
और साहजिक वातावरण बन गईं।
हर्षातिरेक से औ' कभी न थकने-
वाले अन्तर-साहस का अद्भुत बल,
'औ' अब 'आध्यात्मिक' आनँद के बहुविध
अंतहीन अगणित साम्राज्य ये सकल,
एक साम्यता के तारों की ही बस
जैसे अगणित ध्वनियां गुंजा रहे थे।
प्रत्येक ध्वनि यहां निज विशालपंखी
अपने-अपने विश्व-संतुलन के प्रति,

और एक में ही 'सर्वं' की व्यापक
इक पूर्णता के स्वरों को, न जिन्हें है
'महासत्य' की निगुह्यताओं में निज
औ' 'अनन्त' की महा भूमिका पर इक
वहां प्राप्त था वह सब कुछ, जिसको उस

इक आवेशी विभिन्नता से उपजे
औ' 'प्रभु' को काल-प्रवह पर पल-क्षण में
लाकर सतत विभाजित करनेवाले

लेकिन एक उपस्थिति का अभाव था,——
जो अपने उस एकाकी निनाद में
सब शाश्वतता को धारण करती है;

पूर्णांक है चरम 'आत्म'-योगफल का,
और असम-'सर्वं' को लेकर अपने
और वह अकेला इंगित है जो इन
तथा पूर्ण और परम अभिसूचन, जो

सक्रिय प्रकाश के इक गुह्य बांध में
देखा उसने एकाकी विशाल इक
जगत्-पुंज जो चला गया है उठता
अगम्य नभ के नीचे ज्यों देवों के
जैसे जड़ता के मूल-आधार से,

तक्षित किया हुआ जग-सिंधु उमड़ता

चला गया है ऊर्ध्व संचरण करता
औ' फिर आशा करता उड़ जाने की
शत-शत उच्च भूमिकाओं ने मिलकर
इस प्रकार यह ऊपर उठते-उठते
और शान्त, नीरव, चैतन्य-'बृहत्' में
बहु मंजलिवाला मन्दिर-बुर्ज यथा
जिसको मानवकी सुअभीप्साशाली
कि वह स्वीय सपनाए, उस 'अदृश्य' के

मापविहीना इक स्वानुभूति के प्रति,
देखा आज तक गया, ले आयी थी;
एकाकी सुविश्राम को लाई थी,
समंजसमयी पार्श्व-ज्योति लाई थी।
विरले ने सपनाया और बनाया,
औ' इक अनन्त आनँद-चमत्कार से
समृद्धिशाली अभिनव सुसौंदर्य से,

अरे ताल के अपने द्रुत ठेके से
रंजित करते हुए जिसे निरमाया।
उस अनादि 'वाचा' का वास नहीं था,

और स्वदीप्त 'विभावन' का अभाव था,
जो भावना मात्र की है कि कुंचिका,

उस सम-'एकम्' के समान करता है,
सकल इंगितों की व्याख्या करता है,
उस 'केवल' का अभिसूचितकर्ता है।

निज अंतर्मुखता में भीति-सुरक्षित,

एक-एक के ऊपर वक्रित, वलयित,
अडिग अद्रिरथ-सम सीधा सुप्रतिष्ठित।
औ' उस दृष्टि-अगोचर एक नींव से
वैसी ही सुअगोचर एक शिखा तक,
अपनी झाग-अयाली द्रुत लहरों में
चढ़ता हुआ 'परात्पर' के क्षेत्रों तक,
उन विशालतर अमाप विस्तारों में,
'अकथनीय' के अनंत साम्राज्य में;
उसे उठाया 'अज्ञेय' के लोक में।
अस्पर्श्य उँचाई तक पहुंच गया है,
जाकर बस जैसे लोप हो गया है,
चढ़ता आकाशमें चला जाता है,
आत्मा ने इसलिए रचा होता है
सपने के समीप तक उठ पहुंच सके,

बस ज्यों-ज्यों वह सपनाता जाता है
बस ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है
उसकी उन्नत कलशी उठ जगती की
बस ज्यों-ज्यों वह अवाक् और महत्तर
पृथिवी को एक-एक उन्नत, आवृत
उस एकम् के अनगिन सृजन तंत्र हैं,
किंतु अकेला एक वही है जो बस
'प्रकृति'-गुहा में पतित दीर्घकालिक इस
आत्मलोप से हमें जगाकर अपने
यह, जो पृथिवी पर मूलित है, निज में

यह सत्ता के धुरतम ध्येय-संचरण
'आत्मा' की संपूर्ण अवस्थाओं को
इसके विश्वचेतना-श्रेणीक्रम की
प्रतिलिपि ही है जो निज आत्मा-रूपी
अपनी संसृति का है एक सूक्ष्मतम
यह अपने भीतर है औ' बाहर है
यह दृश्य-'प्रकृति' की इस महायोजना
औ' अपनी भू की जड़ता की भारी
उसे सोचने औ' अनुभव करने के

और हमारे भीतरके सुदिव्यतर
इस प्रकार मर्त्य मनस् को उन्नततर
और मांस-मज्जा के जीवन को भी
शरीर की मृत्यु को और लेकर जो
बस फिर भीषण 'अचेतना'-मूर्च्छा से
हमें जगाकर अतिचेतन-'प्रकाश' प्रति
यदि पार्थिवता ही सब कुछ होती औ'
तो विचार की हस्ती कहीं न होती
तो जीवनविहीन इक विश्व-शक्ति के
शासन में जड़ आकारों की टोली
इस स्वर्णिम अत्याधिक्य से धरा ने
औ' भविष्य में इससे भी उन्नततर
सत्ता की यह उन्नततर सुयोजना

औ' उड़कर उसमें टिक और बस सके।

अनंतता उसको पुकारती जाती,
उच्चतम शिखा को है बस छू लेती,
नीरवताओं में बढ़ता जाता है,
शाश्वतता से गठियाता जाता है।
जो सर्जक आनँद से रचे गये हैं,

प्रत्यावर्तन का इंगित करता है;
सभी भूमिकाएँ धारण करता है:
यह 'विराट्' का संक्षिप्त नमूना है।
को बढ़ने की पैड़ी एक अकेली।
संक्षिप्त रूप में प्रकटाने वाली,

निगूढ़ वातावरण में गई ढाली,
मधुर नमूना, अनुकृति एक निराली।
यह अपने नीचे है औ' ऊपर है।
के ऊपर निज क्रिया किया करता है,
निद्रा में जागृति भरता चलता है,
हित अविरत प्रेरित करता रहता है,
आनँदके प्रति उत्साहित करता है।
अंगों को ले, एक रूप गढ़ता है,
एक व्योम में जा पहुँचा देता है,
दूर ध्येय हित आतुर बनवाता है,
अमरत्वावाहन से गठियाता है:

जाने के हित प्रयत्नरत करता है।
'वह' यदि इसके भीतर छिपा न होता,
जीवन-आनँद की प्रतिक्रिया न होती:

पृथ्वी का आतिथ्य पा रही होती।
चिन्तक मानव को उत्पन्न किया है,
और महत्तर प्राणी को जनमेगी।
ही तो अपने उद्भव का कारण है,

यही हमारी ऊर्ध्व संचरणशीला   'विधि' की कुंजी को करता धारण है।
औ' जड़ता के घर में पालित-पोषित
दबी पड़ी-सी इस चेतन आत्मा को
सघन मर्त्यता के भीतर से अविरत   जगा-जगा उद्बुद्ध किया करता है।
औ' उस 'अचल अद्रि', इस सारी चेतन   भूमिकावली के जीवित प्रतीक ने,
औ' अदृष्ट से आनेवाले इसके   सतत प्रभावों ने, इसके देवों ने,
और परम 'सद्वस्तु' के सुकर्मों के   विचारातीत इसके महातर्क ने
ही तो द्रव्य-निगुप्त अबोल सत्य से
जगकर अरे हमारे अंतर्जीवन   के मंदारोहण की हर पैड़ी के
अनुक्रम को बस निश्चित कर रक्खा है।

इसकी एक-एक सोपान-श्रेणियां
स्थूल जन्म के अपनाए जोखिम से   उठकर आत्म-निवर्तन के दृढ़ डग हैं
परम-मुक्ति-आरोहण की सीढ़ी हैं,
औ' सोपान-दण्ड हैं, जिन्हें गह 'प्रकृति'   अपने पुरुष-देवता तक चढ़ती है।
और एकदा साक्षी अमर दृष्टि की   एक सजगता के नीचे बस उस दिन
इन सारी स्थितियों ने उसके भीषण   अधःपात को अंकित करा लिया था,
जो इक देवत्व के महाप्लावन की   सीधी, बृहत्, भयानक इक छलाँग थी।
इस प्रकार यह जीवन 'महा शक्ति' के   बलिदान का अनूठा उदाहरण है,
यों निज बलिदान से 'जगत्-जननी ने
निज आत्मा को अरे हमारी स्थिति की   विविधाभासी काया में ढाला है;
दुख औ' अचेतना को स्वीकृत करके
अपनी महाभव्यता से च्युत होकर
अरे दिव्यता के इस अधःपात ने
हम जो कुछ हैं, उसकी स्थितिस्वरूप यह   नाना रूप धरातल एक बुना है।
है ही क्या और मर्त्यता यह अपनी,   आत्मा ने ही तो मूर्तत्व चुना है।
और हमारी भू उस मिश्र तत्त्व का   इक टुकड़ा है और एक तलछट है,
और महत्तर लोकों के सत्त्वों से   भरी पड़ी इसकी शक्ति ठसाठस है,
जो अपनी तमसावस्था के द्वारा   अस्पष्ट और धूमिल बनी हुई थी
वह उनके रंगों की सुदीप्तियों से   भीतर-बाहर डूबी, लदी पड़ी है।
उसके उन्नत जन्मों की पैतृकता   उसके रक्त-मांस में छिपी हुई है,
दबी पड़ी उनकी ही स्मृतियां उसकी   निद्रा को आलोकित कर जाती हैं,
क्योंकि वे गुमे-बिसरे धरातलों की,
जिनसे वे नीचे जड़ में कूदे थे   उनकी बार-बार याद धराती हैं।
और असन्तुष्ट शक्तियां सब उसकी   छाती में बस घूमा ही करती हैं।
वे शक्तियां महत्तर विकसनशीला   उसकी विधि की एकान्त सहचरी हैं,

और अमरता के पुनरावर्तन में उसकी सह-यात्री हैं, सह-भागी हैं।
उसके जन्म-मरण के विधि-लेखे को स्वीकृत करके निज भाग बँटाती हैं,
और 'अखिल' की आंशिक प्रदीप्तियों को उसमें फिर प्रज्वलित किए रहती हैं,
औ' उसकी अंधी श्रमरत आत्माको
उसी महत्तम 'समग्र' की इक नन्हीं मूर्ति बनाने को प्रेरित करती हैं।
वह उसका शांत और चिर ज्योतिर्मय
'अंतरंग' संगी उसके कार्यों को चुपचाप स्व-अनुमति देता रहता है,
औ' उस दृप्टिविहीन 'महान् शक्ति' का अविरत ही मार्गप्रदर्शन करता है।
औ' उस 'महान्' की सुविशाल योजना लघु श्रीगणेश को स्वीकृत करती है।
यह अपना जग-जीवन इक प्रयास है अर्ध-खचित-सा इक रेखाचित्रण है।
जिसकी रेखाओं को निगूढ़ार्थ पर अपने, संदेह ही बने रहते हैं,
जिसके चाप-वृत्त न कभी लक्ष्यीकृत चरम ध्येय से अपने जुड़ पाते हैं।
फिर भी महानता की इक प्रारंभिक मूर्ति वहां स्पंदित होती रहती है
औ' जब अनगिन अस्पष्ट अंग उसके विविध स्वरीय एकता से भेंटगे, —
जिसके हित अब तक बढ़ते आए हैं,
तब उस 'लीलाधर' का आनन्द अमर तर्कबुद्धि-नियमविधान पर हँसेगा।
प्रभु का दिव्य अभिप्राय और सहसा बाहर आकर साक्षात्, प्रकट होगा,
औ' यह उपसंहार हृदय-प्रेरण की निश्चित पद्धति को परिपुष्ट करेगा।
अनगिन जगत् जहां पर मिलते होंगे ऐसा विचित्र रेखाचित्र खिंचेगा,
वह देवों का मिलन-स्फटिक इक होगा औ' उन सबका घनपिंड एक होगा।
और 'प्रकृति' के निर्मन छद्मवेश के पीछे इक मन विचार करता होगा,
और पुरातन गूंगे अचित् 'व्योम' को एक सचेतन 'विराट्' फिर भर देगा।
आत्मा की अस्पष्ट और तरलायित आकृति जिसको मनुज पुकारा जाता,
यह विराट् 'काल' की सुपृष्ठभूमि पर शाश्वतता के ज्योतित लघु स्वरूप-सा,
सम्मुख आकर निर्भीक खड़ा होगा,

औ' नन्हा-सा एक नगण्य बिन्दु यह सारी अनन्तताओं को खोलेगा।
इस प्रकार इस जगती की यह सत्ता एक महा 'रहस्य' का विकासक्रम है।
पहले-पहल अनोखा और अनियमित आधार एक डाला यहां गया था,
यहां एक अभिगोपित 'समग्रता' का शून्य और इक रीतापन मिलता था,
जहां शून्य अपने पूर्ण योगफल में शाश्वतता को किए हुए धारण था,
'अस्ति'-'नास्ति' दोनों समान अर्थी थे
इक शाश्तव अभाव और सर्जनात्मक एक 'शून्य' में कुछ भी भेद नहीं था:
उसके रूपायन के भीतर ही तो 'दैवी शिशु' है सदा जनमता रहता,
जो 'प्रभु' की विराटताओं के भीतर सतत रूप से है बस जीता चलता।
इसी लिए एक मंद प्रत्यावर्ती महाक्रिया का बस आरंभ हो चला,

किसी अदृष्ट महान् 'अग्नि' से उठकर एक गैस का भभका फट-फूट पड़ा,
औ' उसके सघन अग्नि-वलयों में से अनगिन नक्षत्रों का सृजन हो गया,
बस पृथिवी की नव-जनमी मिट्टी पर 'प्रभु' की चापों का इक शब्द सुन पड़ा।
धरा के सघन अज्ञानता-धुएँ के पार एक 'मन' ने अब आंख उघारी,
आकारों के ऊपर दृष्टि पसारी

निश्चेतन की 'महारात्रि' के भीतर ज्ञान के लिए खोज मच गई भारी :
इक अंधी औ' वज्र पकड़ के भीतर 'शक्ति' ने शुरू निज योजना को किया,
अपनी निद्रावस्था में ही विस्तृत इस यांत्रिक जग का निर्माण कर लिया––
कि कभी यह अंधी 'जड़ता' भी अपनी अंतरात्मा में जाग्रत् हो पाए,
प्राणशक्ति की और व्यस्त धात्री यह
'अखिल' विश्व को धारण करनेवाले 'शून्य' का अरे प्रसव यहां करवाए।
क्योंकि यहां शाश्वत नेत्रों ने अपनी
शुद्ध दृष्टि की दीप्त समुज्ज्वलता को भू की अंध खाइयों पर डाला था,
और 'अचेतन' की असीम निद्रा में
अदृष्ट 'अज्ञेय' की प्रतिच्छाया को अविरत प्रतिबिंबित होते देखा था,
यों आत्मशोध के हित अरे सृष्टि का, मंथन औ' आलोड़न शुरू हुआ था।
अपरिपक्व विश्वावर्तन के भीतर इक आत्मा ने निज सपना सपनाया,
और प्राण-रस के सँग-सँग अनजाने 'मनः शक्ति' ने भी निज मार्ग बनाया,
'जड़ता' के स्तन ने दिव्य-'भावना' को बस फिर अपने पय का पान कराया।
और उस 'निरतिशयता' के इस अद्भुत चमत्कार ने था निज जन्म पा लिया,
असीमता ने इक सीमित आत्मा के चीवर को था धारण और कर लिया,
भ्रमती एक बूंद में महा सिंधुता ने था बस अपना आवास रच लिया,
और एक कालजात काया ने ही उस 'असीम' को निज में था बसा लिया।
जीवन में इस 'रहस्य' के जीने हित आत्माओं ने था काल को वर लिया।

अपने भीतर द्रष्टा एक छिपा है,
वह इन भंगुर पद-चापों के पीछे
जो सुव्यवस्थित परियोजना छिपी है, उसकी सब गतिविधियों से अवगत है,–
जो इस परम अगोचर ऊर्ध्व संचरण हित हमको प्रेरित करता अविरत है,
वैसे ही जैसे आरंभ में कभी
जीवन और जन्म लेने को उसने
अंध अचित् के गहन-गभीर गर्त में किया कूद पड़ने के हित प्रेरित था।
और 'काल-यात्री' के पास आज बस 'उसका' चिर आवाहन पहुँच चुका था,
सब से दूर अगम एकाकीपन में
स्वीय मौन औ' केवल शक्ति लिये वह बस निज यात्रा पर बढ़ता चला गया,

जग की इच्छा का अपने कंधों पर बोझ लिए सब चढ़ता ही चला गया।
आकारविहीन एक 'नीरवता' थी

संज्ञाविहीन औ' कोई 'प्रकाश' था, जो उसके अंतर को टेर रहा था।
उसके सिर पर धवल-अचल 'मयूख' थी औ' घेरे शाश्वत 'नीरवताएँ' थीं,
इस उन्नतशिखरी प्रयत्न में उसके काल-अवधि की कोई शर्त नहीं थी,
जग पर जग अपनी गुप्त शक्तियों को खोल सतत उसके सामने रहे थे,
स्वर्गों पर स्वर्ग और निज निगूढ़तम परमानँद को आज उँडेल रहे थे,
फिर भी कोई अदृष्ट 'चुम्बक-सत्ता' आत्मा को अपनी दिशि खींच रही थी।
अरे 'प्रकृति' की भीषण उँचाइयों पर इक केवल आकृति आज चढ़ रही थी,
सृष्ट जगत् की इक निःसंग शिखा पर अविवेच्य ध्येय की ओर बढ़ रही थी।

पर्व २, सर्ग २

सूक्ष्म जड़तत्त्व के लोक

स्थित है यह साम्राज्य हमारी नन्हीं
जिसे धरा की ठोस भीति ने अपनी,
किया प्रवेश अश्वपति ने अब उसकी
पाया वहां और इक जीवन ऐसा,
पाया एक प्रकाश, अभौतिक द्रव्यों
गुह्याश्चर्यों के उस श्रेणी-क्रम में
और चटक रँगवाले एक नभ तले
यह सूक्ष्म 'जड़तत्त्व' के साम्राज्य की
जो एक महा महिमा की समाधि औ'

यह प्रियतर आकारोंवाला जग इस
जहां धरा की विरूपकरी दृष्टि से
जहां सभी आकार चारुतर हैं औ'
एक अलौकिकता से विशद समुज्ज्वल
आंखें जहां कि कोई दिव्य बोध को
और सकल श्रुति इक संगीत थी मधुर,

धरा-प्रकृति के ज्योतित सदारंभ सब
वे परिपूर्ण योजनाएं हैं, जिनके
धरा-शक्ति जो प्रसव पीर सह बढ़ती
उसके सुदूर परिणाम एक निश्चित-
और वहां वे भावी ऐश्वर्य थे
जिनका यत्न यहां हम नाहक करते,

औ' उसकी भावी की प्रभुताओं के
जो इच्छा से अनुरेखायित बनकर
मन के गोरखधंधी कथानकों का

अंतरात्मा के अस्पर्श्य क्षेत्र में, —
भौतिक सत्ता के बृहत् आधार सम
कि दृष्टि से है रक्खा छिपा एकदम,
जादूई, इक स्वच्छ स्फटिक वायु में,
नहीं जिया जाता जो हाड़-मांस में,
को भी देखा जा सकता है जिसमें।
यह इक अति ही सुन्दर पदश्रेणी थी,

सारी परी-शिल्पसुषमा चित्रित थी,
कुहेलिका से कूदी-सी पड़ती थी,
निज अग्र भाग का सुठि अभिव्यंजक थी।
पार्थिव जग के निकट ही प्रतिष्ठित है,
छले गए बिन स्व-भूमिका पर स्थित है,
सभी वस्तुएँ जहां अमर्त्य, सत्य हैं।
उस सुप्रकाशित जगद्वृत्त के भीतर,
देनेवाला एक द्वार थीं सुन्दर,
सकल स्पर्श आकर्षण था, अभिनवतर,
भरता हृदय, शक्ति की श्वास गहनतर।
उस उच्च भूमिका पर सुप्रतिष्ठित हैं:
सांचों में उसके कार्य ढल रहे हैं,

विधि-ढांचे में विश्रमते रहते हैं।
देख रहा था जिन्हें अश्वपति अनथक
जिनपर अभी विजय है और निरर्थक,
उनके सब नक़शे थे वहां सुसज्जित,
सारे रूप और काल थे सुनिश्चित,
भव्याकृतियों में थे हुए उपस्थित।
स्वर्णिम परिणाम था वहां परिलक्षित,

औ' 'समृद्धियां' थीं जो जीवन द्वारा
नहीं जा सकीं थीं अब तक पायी औ' नहीं बन सकीं इस जीवन से वेष्टित,
वे उस अमला-धवला शुद्ध वायु में
मर्त्य-विचार-कालिमा से अपने को पंकिल किए बिना अपंक जीती थीं।
ये सब धुंधली जग-शुरुआतें उस थल पहले से ही प्रारंभ हो चुकी थीं,
औ' मध्यावस्थाएँ पूर्वदृष्ट उन रेखाओं में चित्रित बनी पड़ी थीं
औ' परिपूरित सब अंतावस्थाएँ पूर्वाभिज्ञाता-सी लिखी धरी थीं।
अवरोही भूमिका की हमारी वह उठी हुई बस एक दीप्त छत है जो,
दिव्य वायु के स्वर्गिक वरदानों को
सीधे आने से रोके रखती है,
औ' ऊर्ध्व श्वास के दबाव को नीचे आने हेतु तनिक ही पथ देती है,
या फिर कभी-कभी सुरभित वलयों को, स्वर्ण-जालियों से छनने देती है।
यह मृत्यु-रहित सूर्यों से औ' 'प्रभु' की सतत हो रही वर्षा की झड़ियों से
पार्थिव मन की छत की अरे हमारी ढाल बनी रक्षा करती रहती है,
फिर भी एक अलौकिक सतरँग आभा को रिसने की निज अनुमति देती है,
औ' देवों' के आकाशों से आकर कुछ दीप्त ओस-बूंदें चू जाती हैं।
यह पथ है उन 'महाशक्तियों' का जो, भू-जीवन को संचालित करती हैं,
यह इक सूक्ष्म लोक है जिसको अपनी स्थूल 'प्रकृति' की भित्ति छिपा रखती है,
'मन' और 'रूप' को गठियानेवाला सुकुमार शिल्प का विवाह-मंदिर है,
स्वप्न यवनिकाओं से अवगुण्ठित है।
और स्वर्ग की अर्थावलि चुपके से इसमें से हो ऐसे कढ़ आती है,
जैसे इक पट में से सर आती हो,
इसकी सूक्ष्म दृष्टि ही अपने सारे बाह्य दृश्य को बस साधे रहती है।
सुन्दरतर इसकी एक चेतना है जिसके पग सुखितर पथ पर बढ़ते हैं,
इसके पास और, इक स्पर्शबोध है जिसे न स्पर्श हमारे गह पाते हैं,
इसके बोधों में एक शुद्धता है जिसका हम न यहां अनुभव करते हैं;
अपनी शाश्वत 'किरण' को लिए, अविरत वह इक मध्यस्थता किया करती है,
जिससे, दैवी सुन्दरता औ' द्रव्यों के पूर्णाकारों को रचने के हित,
मर्त्य धरा के क्षणजीवी यत्नों को इक अमर प्रेरणा मिलती रहती है।
सुशक्ति के इस बाल दिव्यता-गृह में,
शाश्वत-'शिशु' की प्रारंभिक क्रीड़ा में,
उसके सुकल्पनापंखी विचार के सारे मूर्तित आकार बस यहां पर,
इसके पहले कि धरा-काल-सिंधु पर तिरने के हित लम्बी डुबकी मारें,
वे इक दीप्त सनातन आद्भुत्य के महिमामय रंगों में मज्जित होकर,
औ' स्वच्छ वायुमंडल की ध्वनियों की मधुर लोरियों पर अभिलोड़ित होकर

कालातीत वृक्षपर चारु पक्षियों सरिस बैठकर कुछ विराम करते हैं।
जिसका केवल भास यहां होता है, उसका सुन्दर रूप वहां मिलता है।
अंतर जो कुछ यहां विभावन करता, मस्तिष्क और जो कुछ भी रचता है,
वह सब कुछ, इक उन्नत औ' प्रारंभिक
अपनी सुन्दरता को वहां भूलकर,
बना वहां से निष्कासित इन पार्थिव रंगों को आ स्वीकृत कर लेता है।
जो कुछ यहां आंख को सुन्दर लगता औ' लावण्य, चारुता से है पूरित,
वह अपनी निर्दोष, अमर रेखाओं को है उस थल पर करता आसादित।
जो कुछ हमें यहां सुन्दर लगता है वही वहां है स्वीय दिव्यता-मंडित।
औ' आकार हैं वहां जिन्हें कभी भी नहीं मर्त्य इस मन ने सपनाया है;
शरीर हैं ऐसे बस जिनका पार्थिव प्रतिरूप नहीं यहां सिरज पाया है. —
वे सीधे अंतर्दृष्टि की सुज्योतित समाधि में, चीरते उतर आते हैं,
अंतर को अपनी स्वर्गिक आहट से हर्षातिरेक-विमुग्ध . बनवाते हैं,
औ' निज आश्चर्य जगत् में बसने हित उच्च स्वर्ग को आमंत्रित करते हैं।
नव भविष्य के चमत्कार सब उसकी गहन खाइयों में घूमा करते हैं,
और पुरानी तथा नई सब चीज़ें होतीं गहराइयों में सुसर्जित हैं:
आदर्श दृश्य के उस जादूतल में
सुन्दरता का मेला भीड़ लगाए उसकी धुर उंचाइयों पर शोभित है।
उसके सुठि एकान्तिक उपकक्षों में
जड़ता-आत्मा इक चैतन्य मिलन में, दोनों आकर इस प्रकार मिलते हैं
किसी अकेले गुप्त स्थान में जैसे दो प्रेमी आ चुपचाप भेंटते हैं:
औ' रागावेगी इक आलिंगन में, —— जो अब तक न अभागा बन पाया है, –
उसमें शक्ति, मधुरता औ' आनँद का वे अपना अद्भुत संगम करते हैं,
इस संगम से उन्नत औ' अवनत दो लोकों को जोड़ एक कर देते हैं।
आकारहीन उस 'अनन्त' से नीचे चीर-फाड़कर यहां उतरनेवाली,
सब तोड़-फोड़कर अपना साहस ले अचित्-राज्य में प्रवेश करनेवाली,
आत्मा, तनुता के प्रति छलाँग भरती प्रथम वहीं पर भूमि-स्पर्श करती है।
यद्यपि कोई पार्थिव आवरणों को नहीं अभी तक ग्रहण किए होती है,
फिर भी मृत्यु, जन्म को अतिक्रम करने- वाली इक चोली धारे होती है,
जो कि स्वर्ग के दिव्याकार में अरे भू को भी विश्वास धरा देती है।
यह उसकी अमर्त्यता की चोली है
जो धारणकर्ता की दीप्त कोटि तक उससे परिचित है, उससे समान है,
औ' 'परिवर्तन' तथा 'काल' के सारे घर्षण के सहने में शक्तिमान् है।
यह आत्मा के उस ज्योतित प्रकाश को
संकेतों से बोझिल बनी 'शक्ति' के जड़तत्त्व के साथ ही तो मिलवाकर

बना हुआ है बस इक तन्तुजाल वर,
पार्थिव मन के तुनुक वायुमंडल में इसकी नहीं कल्पना हो सकती है,–
जो एक मानसिक प्रकार से निर्मित एक काल्पनिक छायाभासी कृति है,
पर वह, लेता अनुभव, जिनका पार्थिव आकार नहीं अनुभव ले सकता है,
औ' वह अपने इन स्थूलाकारों से अधिक वास्तविक और सत्य होता है।
बस जब मर्त्य-काय-रूपी यह भारी कंचुक गिर उससे च्युत हो जाता है,
आरोहण में ऊपर बढ़ने के हित, उसका बोझा हलका हो जाता है।
और परिष्कृत होकर एक सूक्ष्मतर
वातावरणों के स्पर्श तक पहुंचकर
वह प्राचीन ढंग के घनतर तत्त्वों से निर्मित वस्त्र को फेंक देता है,
औ' अपनी निम्नाकर्षी पृथिवी के आकर्षण को व्यर्थ बना देता है,
औ' इस आत्मा को उच्च से उच्चतर लोकों में वह तब तक ले जाता है
जब तक ऊर्ध्व शिखा पर जा निर्वस्त्री आकाश तत्त्व में न पहुंच जाता है,
जहां कि आत्मा का अपना इक आर्जव ही केवलमात्र शेष रह जाता है,
अरे वही जो शाश्वत सत्ता का बस प्रथम पारदर्शी चीवर होता है।
पर जब उसको अपने मर्त्य भार को ढोने के हित फिर आना होता है,
और धरा-अनुभव की समग्रता के भारी बोझे को जब वह सहता है,
तब इसके प्रत्यावर्तन को फिर निज गुरु चीवर धारण करना पड़ता है।
इक आणविक 'शून्य' की निज शैली से
भू की कठिन उपरिपर्तों का भी जब नहीं स्थूल कंचुक तैय्यार हुआ था,
उसके बहुत पूर्व ही द्रव्य-निगूढ़ा
आत्मा के चहुं दिशि यह दीप्त आवरण
उसकी आत्म-निगोपनता के खातिर अति सुघराई से जा चुका बुना था।
उन दीप्तावरणों के द्वारा ही तो सूक्ष्म भूमिकाओं का सृजन हुआ है।
बस यह सारा आश्चर्य-जगत् अपनी
क्रांत-दृष्टि के औ' अविनाशी सुख के सारे ज्योतित वरदानों को लेकर,
रूप-पूर्णता औ' अभिव्यक्ति-कुशलता पर ही रखता है निज दृष्टि निरंतर;
जो शिखान्त में सुन्दर है औ' अपने निम्नस्तर में खतरों भरा भयंकर;
इसका प्रकाश 'प्रकृति' के पतन की इस किनार की दिशि आकर्षित होता है;
निम्न खाइयों के भय औ' खतरों को वह निज सुन्दरता प्रदान करता है,
और भयावह खतरनाक 'देवों' को आकर्षक मोहक आंखें देता है,
महान् दैत्यों औ' सर्पों को अपनी इक श्री-शोभा से शोभित करता है।
उसकी समाधि पृथिवी की अचित्ति पर अपना अध्यारोपण कर लेती है
वह अमर्त्य होकर भी यहां मर्त्यता का तमसिल, अमित आवरण बुनता है,
और मर्त्यता को स्वीकृति देता है।

यह इक माध्यम है जो एक महत्तर
औ' उसके गुप्त स्वायत्त शासन का
औ' 'जड़ता' के सारे ही लोकों की
उनके परिवर्तनशाली रूपों में
अपनी सृजनात्मक स्मृति की पर्तों में
मर्त्य वस्तुओं के इक अमर रूप को
इसकी निम्न शक्तियां ही तो अपनी
इसके विचार ही तर्कपूर्ण अपनी
इसके स्पर्शबोध अपनी शारीरिक
अब तक अप्रयुक्त औ' इक समृद्धतर
क्षण भर के हेतु भी प्राप्त, अन्तर की
ये सब उसके सुन्दर इंगित हैं जो
चित्रविचित्रित वैभवभरी हमारी
जो साधारण भू-द्रव्यों को अपने

जब तक न जड़ धरा की यह मिट्टी भी
और न धरा-पंक जब तक कि नभों के
आत्मा के, और पतन से उद्भूता
उसका अरे ज्ञान ही यहां हमारी
औ' उसकी सुन्दरता ही तो, जग की
पंकिल आवरणी की कुरूपता को
उसकी कलाकार शिवता ही जग की
यह रचनात्मक सत्यों के इक दिव को
संवादी सपनों की एक व्यवस्थित
बनने और बिगड़नेवाले रूपों
फिर तो अचित् नींव में यथा हमारी
उसके अरे पतन के द्वारा ही यह

'प्रभु' ने ही स्वीकृत कर महापात यह
गुप्त दिव्यता को हृदय में बसाए
औ' यह निपतित जगती ही, आत्माओं
जगकर फिर अर्थहीन महाशून्य में
विश्व-विशाल 'महा निश्चेतना' लगी
खिंच कर आई यों एक 'चेतना' बस
होता सब कुछ अरे यहां संचालित

चैत्य शक्ति का कार्य सिद्ध करता है,
इक आश्रय है, और वहनकर्ता है,
यह अति सूक्ष्म निगोपित एक नींव है,
यह परिवर्तन रहित और अविकृत है,

पूर्ण रूप से अभिरक्षित रखता है :
पतित शक्तियों की आधारशिला हैं,
मनुज अज्ञता के गुप्त रचयिता हैं,
प्रतिवर्तिनी क्रियाओं के स्रष्टा हैं।
महाशक्ति की आई श्वास गुह्यतर,
गूढ़ दृष्टि का अभिगोपित इक दिनकर,–

सुकल्पनाओं के अभिगुप्त स्रोत हैं,
रूपांतरकर रंगों से छूते हैं,
औ' तब तक ऐसा करते रहते हैं,
पनप-विकसकर समृद्धतर बन जाए,
नव वैभव औ' ऊष्मा से भर जाए,
महिमा न प्रकाशित करने लग जाए।
सारी त्रुटियों का प्रारंभबिन्दु है,

निज कोमल तन पर धारण करती है,
अशुभ-कथा को यहां शुरू करती है।
अपने ऊर्ध्व देश में लिए हुए है
संसृति को यह मध्य में बसाए है,
की दुरवस्था को नीचे साधे है,
इक छलाँग भरता औ' खो जाता है।
घन जड़-स्वरूप निर्मित हो जाता है।

इस प्रकार 'निशि' में छलाँग मारी है।

की पालनकर्त्री इक धाय बनी है।
एक 'महासत्ता' थी लगी पनपने,
जीवन औ' विचार की दिशि में बढ़ने,
मनविहीन उस महासुप्ति से बाहर।
है एक अचेतन संकल्प से प्रखर।

निपतित, अचैतन्य, कुण्ठित, घन, निष्क्रिय-
सी निष्प्राण अचल मूर्च्छा में पृथिवी   निद्रा की अनुचरी बनी रहती थी,
तभी अरे अवचेतन में इक आकुल   स्मृति के द्वारा सर्जन-विवश बन गई,
जो उस सुख की बची हुई संपति है, ––
जो कि धरा के यहां जन्म लेने से   पहले ही उससे विलग हो चुका था,
जो अब उसके अचित् वक्ष के भीतर   बचा अबूझ, अपरिचित चमत्कार था।
तो फिर बस इस जड़ कीचड़-काँदो को   सरसिज, गुलाब धारण करना ही है,
उसके और अनिच्छुक-अंध तत्त्व से
अधिक सुखी लोकों की इक सुषमा को   यहां विकचना और पनपना ही है।
यह भू की दृढ़ भावी है जो उसको   परंपरागत अधिकार में मिली है,
जैसे निहत देव, इक अंध शक्ति औ'
बन्दी अंतरात्मा के हित अपनी   स्वर्ण अमानत तजकर चला गया हो।
बस खोए-बिसरे टुकड़ों को लेकर
हमें अमर देव के मर्त्य-भागों से   पुनः पूर्ण आकार एक गढ़ना है।
और उसी दस्तावेज़ से पुराने   जो अन्यत्र लिखित औ' पूर्ण हुआ था,
उसके 'दिव्य नाम' के संदेह-ग्रसित   दावे को फिर शब्दबद्ध करना है।
फ़कत असल की तलछट उसे मिली है   इतनी ही उसकी मात्र वसीयत है,
औ' आकारहीन अपनी मिट्टीमें   वह सब कुछ को धारण किए हुए है।
बस भू की सुप्रचंड शक्ति यह सारी   क्षुद्र नगण्याकारों से जकड़ी है,
औ' अपनी शक्ति के मंद औ' धूमिल
एक प्रयोगात्मक प्रगति के पंथ पर
उसे एक भंगुर, गोठिल करणों की   ही थाती बस उपयोग को मिली है,
जिसको स्व-प्रकृति की आवश्यकता हित   ही उसने अबतक स्वीकार किया है,
औ' मानव को आकर अब अपना यह   भीषण बृहत् कार्य सब सौंप दिया है,
जिसके करने का महान् गुरुतम श्रम   देवों के भी लिए नहीं संभव है।
इक जीवन है, जो इस मृत्यु क्षेत्र में   बस मुश्किल से ही जीता चलता है,
उसका एक भाग है जो निज बिसरे   अमरत्व पर स्व-अधिकार चाहता है,
पशुतुल्य अर्धचैतन्य इक देह है   जो उसको उपकरण-स्वरूप मिली है,
औ' इक मन है जिसको अपने खोए   गुप्त ज्ञान की महाशोध करनी है, ––
जिसको विश्व-अचित् ने अपनी भारी   वज्र-मुष्टिका बीच जकड़ रक्खा है,
औ' अज्ञान के 'नियम' की इन अनगिन
दृढ़ गाँठों की इक माला को धारे
जकड़ी बंधी खड़ी इक आत्मा है रे!   वही 'प्रकृति' की महान् अधिराजा है।

उन्नत एक सजातीयता ही अरे   इस सकल साहसिकता का कारण है।

औ' वह सब कुछ, इस अपूर्ण जग में भी
वह 'काल'-व्याख्या के परे बराबर
लखता है बस. उस निरपेक्ष सृष्टि की

अरे क्षणिक इन आकारों के भीतर
कालजात द्रव्यों में उस शाश्वत के

उस स्वर्गीय रूपरेखा का फिर भी
और नहीं तो उन्नततर जीवन की
दिव्याह्लाद और महिमा-आभा की
फिर भी नगण्य मर्त्य परिस्थितियों में
इक अमोघ 'ज्वाला' के लिए बराबर

एक ऊर्ध्व आभा ज़ोर मारती है
और कभी क्षण भर को ये पृथिवी की
और हमारी आंखों पर से क्षण भर
तब हम विकस-पनपकर इक सृजनात्मक-

एक दिव्य विस्मय-उत्साह की लहर

औ' आनन्दभरी इक टीस हमारे
औ' अद्भुत सुन्दरता का इक सपना
और सनातन 'मन' से विचार आकर
उस 'अदृश्य' से भेजे गए सँदेसे
जगकर 'शाश्वतता' की निद्रा से बस
औ' 'तत्' के प्रतीक जो नहीं अभी तक
किन्तु शीघ्र ही हाड़-मांस का तन यह
आनँद का पावन उन्माद फिर सकल
अंतर-आवेशों की सब ज्वाला औ'
फिर भी भू को आश्चर्य-चकित करता

पर यह असल तत्त्व का इक नगण्य ही
धरा-दृष्टि आधा ही लख पाती है
उसकी अद्वितीय कार्यकुशलता सब

हम जो कुछ पाने के हित रढ़ते हैं,
आगे भावी में औ' पीछे गत में
दोषविहीना पटुता में इक अविकल,
अपने शुद्ध 'विभावन' के प्रति केवल,
औ' दृढ़, अक्षत शैली के प्रति उज्ज्वल।
उस केवल को ही लखना औ' धरना
स्पर्शबोध का ही मृदु अनुभव लेना,–
यही पूर्णता का है नियम यहां पर।
है इक टुकड़ा हम कर चुके हस्तगत,
आशा रह जाती आकाश-कुसुमवत्,
एक झलक भी रह जाती अलभ्यवत्।
बाह्याकारों के इस बन्दीघर में,
मस्तिष्क, स्नायु की स्थूल भित्तियों में
भासुर एक राह भेद ली गई है,
'महाशक्ति' इक फोड़ चली आती है,
मटियाली दीवारें हट जाती हैं,
उठा अचित् की मुद्रा ली जाती है,
महाशक्ति के वाहक बन जाते हैं,
उसके माध्यम, साधक बन जाते हैं।
सब जीवन में प्रसर बगर जाती है,
रहसिल गति आन्दोलित हो जाती है,
अंग-अंग में सिहर, लहर जाती है,
इस अंतर में नाच-नाच उठता है,
हमको बरबस आकर्षित करता है,

सीधे द्रुत उतरते चले आते हैं,
ले पाए हैं रूप बढ़े आते हैं।
उसमें आकर्षण महसूस न करता,
धीरे-धीरे डूबकर सिरा जाता,
शक्तिज्वार जैसे हमसे छिन जाता,
यदपि दीप्त आकार यहां बस जाता,
औ' इक कल्पित परात्पर रह जाता,
चिह्न यहां पर छोड़ अरे है पाता।
और शक्ति आधा सर्जन कर पाती,
स्वर्ग-कला की इक अनुकृति है होती।

औ' ऊर्ध्व प्रेरणायुत उसके कल्पन
उसके आकार हैं छिपाकर रखते
औ' उन स्वयंभूत आकारों में बस
जो जादू शाश्वत पलकों के नीचे
अति कठोर रे! इस अपूर्ण जगती में,
मानव के अज्ञानी अर्धप्रकाशित
औ' उसकी सारी स्वर्णिम प्रतिभा ही
और धरा की अनुकृतियों की अनुकृति
क्योंकि धरा-अतिक्रमणकारी द्रव्यों हित
तो वह शिल्पी पाता है,–– कि यंत्र ही
और तत्त्व जिससे रचना करनी है
बस फिर खून-पसीना सभी बहाकर
मुश्किल से उस 'दिव्य भावना' का इक
औ' 'अजन्म' हित काल-सराय का एक
सुदूर ऊर्ध्वस्मृतियों से यह अपनी
औ' वह उनके कालातीत आशयों
पार्थिव 'प्रकृति'-योजना के हित लेकिन
शाश्वत चमत्कार की ज्वाल हमारी
ये सब 'आत्मा' की इक अमर वायु में

एक गहन-आत्माकाश की और जो
केवल जब हम अपने अहंभाव के

जो सत्य और कालातीत से हमें
औ' फिर वह हम तक भी इक अनिवारी

औ' विचार जो कभी नहीं मरते हैं,
तब प्रकाश की इक तरंग औ' महिमा,
और 'काल' के इस नश्वर पथ पर नव
करते हुए अवतरण-यात्रा अपनी
जो मन में इक हठात् आगन्तुक सम,
औ' क्षण भर के हेतु हमारी नश्वर

उस स्वर्णिम पटुता की इक प्रदीप्ति को,
औ' नियमन की इक सुन्दरतम कृति को,
जिनका वे इक आवास फ़कत होते
अ-ग्राह्य जादू की इक अनुकृति करते,
ही जीता-जगता है सतत रूप से।
अचित् 'शक्तियों' का इक श्रम-रेढ़न है,
इस पड़ताली मन की इक भटकन है,
एक अचित् की मिट्टी से जनमी है
ही तो उसकी उत्तम कला बनी है।
जब वह कठिन यत्न करता होता है,
उसका गोठिल है, अनगढ़, कच्चा है
ग्राम्य है, असंस्कृत है औ' भद्दा है,

अपना भंगुर भवन बना पाता है,
अपना सुठि आकार रचा पाता है
सत्ता पुलकित, रोमांचित हो उठती,
को नीचे लाने की इच्छा करती,
वह सब बहुत दिव्य औ' असहनीय है,
स्पर्श-परिधि के बाहर अ-ग्रहणीय है।
विशुद्ध, पवित्र-सी अविरत जीती हैं,
अजन्म, अविकृत, शुद्ध-बुद्ध होती हैं,
अक्रिय 'काल'-जगत् में जो अमर्त्य हैं,
अविकल चिन्तनधारा में अक्षय हैं।
पार चले जाते हैं तब ही जाकर
हमें हमारे पथ के सम्मुख आकर
'परात्पर' की दिशा एक मिलती है,
आकर बस संबंधित कर जाती है;
मांत्रिक वाचा को उतार लाती है,
देव-कर्म को संभव बनवाती है,
यहां वास उनका भी सिरजाती है।
मस्तिष्क पर घुमड़ कर छा जाते हैं,

उतर शाश्वती के स्वरूप आते हैं।
अन्तर में प्रिय अतिथि सरिस आ जाते,
कालावधि से सुविवाहित बन जाते,

कभी-कभी ये अन्तर-दर्शन के उन
दुर्लभ मुक्तिदायिनी एक झलक में
यद्यपि यह सब इक प्रारंभ मात्र है
फिर भी तो ये टिमटिमाहटें इंगित
और हमारी इस पार्थिव भावी के
बस जो रूप वहां है अरे हमारा,—
वह सब कुछ एक गुप्त सुसंबंध औ'
किन्तु आज तक तो भू-अपूर्णता ही
औ' स्वभाव-दर्पण में यहां हमारे
वह महिमा अब भी अंतर के भीतर
और धरा की शंकापन्ना भावी,
बस वह 'दिव्य ज्योति' जो दूर दीखती
और 'महाशक्ति' जो झलक जाती है
और 'अनिर्वचनीय' यहां इक अपनी
मर्त्य काय को दिव्यावरण बनाता
'जड़ता'-पट के भीतर से 'अविनश्वर'
बस 'आत्मा' की यह सुविशाल महत्ता
और अवस्थित अन्तविहीन 'काल' में
इक विराट् 'अज्ञात' ही अरे हमको
और एक सक्रिय 'एकम्' में लिपटा
और एकता का सूक्ष्म सूत्र है, जो

औ' हम अचित् 'शक्ति' के संचालन औ'
उस सुदूर अव्यवहार्य 'निरतिशय' के
बीच झूलते, लटके और छुटे से
अपना जीवन आत्मा की गिरिमाला
और हमारी सत्ता अपने मन की

जहां हमारी धरती से ज्योतिततर

जहां कि 'सत्ता' निज गहराई में ही
औ' निज विशाल सक्रिय हृदय-केन्द्र में
अपनी अनाम, अनाकार, अजात उन
जो उस अरूप 'विराट्' के भीतर से
औ' 'अज्ञान' मृत्यु के पर अवर्ण्यतम

कोमल और सूक्ष्म आभासों द्वारा
एकाएकी पकड़ लिए भी जाते।
और प्राथमिक प्रयत्न ही हैं अपने,
करती हैं मनुज जन्म के रहस्य को,
उस अद्भुत औ' गोपित चमत्कार को।
जो कुछ भावी में कि यहां बनना है,
आवाहन पर चित्रित बना पड़ा है।
अपना कार्य-क्षेत्र बस बनी हुई है,
आत्मा की न हमारी छबि दिखती है,
पीछे छिपकर ही बस पड़ी हुई है।
निज पैतृकता को गोपित रखती है:
वह एक दिन यहां स्वाभाविक होगी,
वह अपनी साथी-संगिनी बनेगी,
छिपी हुई वाणी को तब पा लेगा,

झल-झल करता-सा प्रज्वलित बनेगा।
कालातीत स्रोत है अरे हमारा,
यही हमारा स्वर्णिम मुकुट बनेगा।
चहुँदिशि से घेरे है, अंतरस्थ है,
ही तो सकल वस्तुओं का स्वरूप है:
सारे जीवन को ही गुहे हुए है।
बस सारी सृष्टि एक ही माला है:

इक बन्द योजना में पड़े नहीं हैं।
की ही तो एक उठी शैलभुजा है,
दीवारों के उस पार झांकती है,
उन्नत लोकों से वार्ता करती है।
धरित्रियां हैं, विशालतर अम्बर हैं।
ऐसे उर्ध्व देश और महत्तर हैं,—
अन्तर-ध्यान-निमग्न बनी रहती है,

सब सामर्थ्यों का अनुभव करती है,—
अभिव्यंजन के लिए पुकार रही हैं:

उसके शाश्वत-'सत्य' की सुआकृतियां
स्व-निमग्न-अंतरात्मा के ही अपने
मानो अंतर-साक्षिदृष्टि के सम्मुख,
अपनी कालातीत विशाल हृदय की

अपनी विविधा, बहुला सुसामर्थ्य की

प्रकृतिजन्य इस जन्म-विलक्षणता में
अंतरात्माओं का गूढ़ तत्त्व यह
और वहीं पर जाकर तो मिलती है
औ' निज भावी की सब आशाओं के
और चेतना की सकल 'भूमिकाओं'

अरे 'अजन्मा' की सुपूर्णता की वह
औ' त्रिकालदर्शी 'प्रकाश' में दिखने-
और अमर उद्गाता की 'वाणी' के
और अमर सर्जक उस दिव्यानँद की
और अवर्णनीय इस 'सुन्दरता' के
लेकर, अंकित कर-कर देने के हित
अपने स्वाभाविक तौर-तरीकों से
अपनी जीवित-जाग्रत् भाषाओं से
जीवन का इक भाग ही बना लेने
वहां लोक-लोकान्तर हैं ऐसे जो
'महासत्य' के प्रति जिनके संवेदन
आत्मा जहां कि रूपाधीन नहीं है,
हृदय जहां पर कटु विभाजनोंद्वारा

प्रेम और अन्तर-माधुर्य ही जहां
इक कोमल तत्त्व ने सूक्ष्म ढांचे में
अपनी पृथिवी ने बस अब तक जिसका
आह्लाद के दौड़ते चरणों को भी
और सुदृढ़ बाधाएं, जिन्हें 'काल' ने

उस उन्नत सुख को, हम जिसकी इच्छा
एक 'प्रकृति' है, जो उसकी स्व-श्वास के

सुघर कक्ष से बाहर झांक रही हैं:
'आत्मा' निज दर्पणित 'स्व' औ' कार्यों को
महाशक्ति को औ' अंतरावेग को,
निराकार आनँद के आकारों को,
कभी न चुकनेवाली महिमाओं को,
सतत रूप से बस साधे रहती है।

अरे वहीं से तो सीधे आता है,
अपने सब कुछ की अपतित ऊँचाई,
कालातीत स्रोत की सब गहराई।
पर, वह अति पवित्र 'शक्ति' बन उपस्थित,
और अबोल सत्यताओं में दीक्षित,
प्रकाश-झलकों की मीठी सिहरन को,
वाले किसी सतत अंतर-दर्शन को,
किसी दूर संगीत के मधुर स्वन को,
एक अलौकिक स्फूर्ति और स्पन्दन को
किसी सु-आकार और परियोजन को
अति उन्नत सपने देखा करती है,

को सुकल्पनाएँ करती रहती है।
शुचि पूर्णता-प्रदेशों के समीप हैं,
बहुत तीव्र औ' निश्चिततर होते हैं,

कटे-फटे औ' रुद्ध नहीं होते हैं,
बस आनँद, सौंदर्य जहां बसते हैं,
जीवन का इक सतत विधान बने हैं।
वहां दिव्यता को आकार दिया है,
कभी-कदाच एक स्वप्न भर लिया है।
जिसकी शक्ति झपटकर धर लेती है,–
रोप दिया है, उनको सतत नांघकर,
सहज प्रेरणा का इक जाल तीव्रतर,
करते हैं, खींचकर पकड़ लेता है।
द्वारा अति ही उन्नत उठी हुई है,

सर्वरचयिता 'महा अग्नि' के सम्मुख नमनीय और सहिष्णु बनी हुई है,
और ज्वलित भगवत्ता के आकस्मिक स्पर्शों को जो प्रत्युत्तर देती है :
यों प्रत्युत्तर की मानव-जड़ता से वह अविरत मुक्त ही बनी रहती है,
वह, जिस वाणी के सुनने को पार्थिव हृदय बधिर है, उसको सुन लेती है,
अरे अमर नेत्रों की दृष्टि-विधा का ग्रहण वह सहज ही बस कर लेता है,
और रंग, रेखा-पथ का वह यात्री
शाश्वत सौंदर्य की अरे आत्मा का, उसके धाम तक अनुसरण करता है।
इस प्रकार हम उस 'सर्वाद्भुतवर' के प्रति धीरे-धीरे खिंचते जाते हैं,
एक दिशा-दर्शन औ' इंगन के सम
प्रत्येक वस्तु में उसके आनँद को अनुसरते अविराम बढ़े जाते हैं।
सुन्दरता तो 'उसका' चरण-चिह्न है,--
किस पथ से वह निकल गया है, हमको यह बतलानेवाला सुषमोदय है,
और प्रेम मानव के वक्षस्थल में उसके ही अंतर-धड़कन की लय है,
और सौख्य उसके पूजार्ह वदन की एक मनोहारी मुसकान सदय है।
वह आत्मिक सत्ताओं की विनिमयता, सर्जक 'सर्वव्याप्ति' का हृदय-देवता,
संसृति को अंतर-संबंधित करता,
वह सब द्रव्यों में सौंदर्यबोध का है चतुर्थ आयाम अदृष्ट, अछूता,
जहां कि हम सब कुछ में व्याप्त दीखते औ' सब कुछ है हममें व्याप्त दीखता,
औ' वैश्विक विशालता की रेखा पर फिर आत्माओं को अभिमुख कर देता।
प्रदीप्तिकारी इक आनँद बस आकर द्रष्टा और दृष्ट को एक बनाता,
औ' फिर शिल्प तथा शिल्पी दोनों ही भीतर से उग-पनप एक बन जाते,
अपनी एक समीपस्थ एकता के
जादू-स्पन्दन, रागोन्मादन द्वारा परम पूर्णता को अपनी वर लाते।
यहां जिसे टुकड़ा-टुकड़ा बटोर हम जोड़-जोड़ इक रूप खड़ा करते हैं,
या लंबा श्रम करके गिरते-पड़ते धीरे-धीरे कर विकसित करने हैं,
पर वह ही स्वीय शाश्वताधिकार से उस प्रदेश में स्वयंभूत होता है।
किन्तु हमारे भीतर भी तो अविरत इक प्रेरणा-'अग्नि' उठ जल सकती है,
क्रियाशील यह प्रतिनिधि-'ज्योति' हमारे हृदयों भीतर बन कुण्डलित पड़ी है,
स्वर्गीय भूमिकाएँ इसका गृह हैं :
और अवतरित होकर स्वयं यहां वह उन स्वर्गों को भू पर ला सकती है।
पर वह ज्वाल कभी-कदाच ही जलती, जलती औ' न देर तक रह सकती है,
औ' इक सुखाह्लाद, जिसका कि दिव्यतर उँचाइयों से आवाहन करती है,
वह अल्प-टिकाऊ-से अति शोभामय श्रीसमृद्ध संस्मरणों को लाता है,
औ' इक व्याख्याता विचार की उन्नत, भव्य, नव्य झलकों को झलकाता है,
किंतु पूर्ण दर्शन के औ' आनँद के साक्षात्कार को नहीं ला पाता है।

एक आवरण है जो पड़ा हुआ है,
कि सौंदर्य औ' आनन्द की बन्दिनी
औ' उस 'परात्पर' तक कहीं अभीप्सा
कुछ है जो गोपित रक्खा जाता है,–
ये आत्माएँ बढ़ना भूल न जाएँ,
करने का न हुलास सकल बिसराएँ।

उस सुन्दर औ' कोमल सूक्ष्म क्षेत्र में
आकार ही जहां पर सब कुछ हैं बस
एक प्रेरणादायी ऊर्ध्व ज्योति उन
दोषहीन और एक सुन्दरता है
औ' स्वतंत्रता जहां पूर्णता की ही
गो कि वहां पर यह ही एक कमी है,–
कि वहां पर एक 'पूर्ण मूर्ति' नहीं है,

फिर भी सब कुछ सम्मितीय मोहकता
और पूर्ण रेखाओं, नियमोंवाला
जहां कि सब कुछ निज निजता के भीतर
और साथ ही समग्रता ये भीतर
औ' इक छोटी सीमा के भीतर ही
औ' नितान्त नन्हीं एक वस्तु में भी
एक गुह्य आनँद नन्हें प्रदेश के
प्रत्येक लय, स्वीय वातावरणों के
एक-एक रेखा निज पूर्णता और
प्रत्येक वस्तु इक निर्दोष रूप में

अपनी स्वर्ग-प्रहर्षित, आत्म-प्रसन्ना
महामुक्ति में बस जैसे का तैसा
हस्ती में ही सुसंतुष्ट रहता है
यहां विफल, निःसार प्रयत्नों द्वारा
मुक्त यातनाओं औ' परीक्षणों से,
यह ऐसी एक निरापद जगती थी
अपनी भूल और हार के लिए तो
वहां दोष को कोई जगह नहीं थी
दैवी मौन 'विभावन' के इंगित पर
औ' लयवान् विचारों औ' कर्मों के
एक सुदृढ़ता और पूर्णता के सँग

जो इस जग के पीछे अभिगोपित है
भौतिक देव ही जहां पर अधिपति हैं।
सुन्दर सीमाओं में खेला करती;
'प्रकृति'-चारुता से आती कि उतरती,
पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी लेती :

वह देही, अवतारी 'वाक्' नहीं है,
वह केवल आत्मिक आनन्द नहीं है,
का जैसे इक जादू-आकर्षण है,
एक बड़ा ही अद्‌भुत परिकल्पन है।

परितोष का एक अनुभव करता है,
भव्य पूर्णता का अनुभव होता है,
चमत्कार जैसे उमड़ा पड़ता है,
भीतर रँगरेली करता फिरता है,
सँग इक समवाय में उठा करती है,
अनिवार्यता लिये अटूट होती है,
लावण्य के लिए ही रची गई है,
औ' उपयोग के लिए ही सिरजी है।
सब कुछ निज आत्मानँद पर विमुग्ध है।

स्व पूर्णता में बन निश्चित जीता है
नहीं और कुछ भी आवश्यकता है।
निराश, टूटा कोई हृदय नहीं था :
रिक्त विरोधों से था सब दुःखों से,–
जिसको कोई भय औ' शोक नहीं था।
नहीं वहां पर कोई छूट कहीं थी,
निष्फल होनेवाली शक्ति नहीं थी।
निज आकारों की गवेषणाओं को,
उत्पन्न हुए नवीन चमत्कार को,
रचे जीवनों की अपनी शैली को,

प्राणहीन आकारों वाले अपने
और हमारे सप्राण शरीरों-सम
आकंठ भरे इक आत्मानँद से ही
यों बस आनँद-प्रमत्त बनी इंद्रियों
उस दैवी, पर सजातीय से जग में
उसके सुचमत्कारिक आकारों को,—
जो इन आकारों के अति समीप हैं,
और मर्त्यता के प्रकार के भीतर
उनको इक सुन्दर प्रशस्ति से भरकर
यों अपनी सीमित, अनन्यतापेक्षी
श्रेणीनिबद्ध परम उच्चताएँ वे
इसके आगे क्या कुछ हो सकता था
वह पूर्णत्व और केवलत्व तो निज
बस उस सर्वोपरिता में, जो उसकी
सब कुछ ने निज अंतिम बिंदु पा लिया
अमेय औ' अमाप की छायाओं के
उस अगण्य के चमत्कार की खातिर
अपनी ही सुन्दरता औ' आनँद की
इक जादू-मंडल में घिरी हुई सी
औ' आत्मा उसके रचना-ढांचे के
निज विरचित रेखाओं की सूपूर्णता
एक नील क्षितिज ने अंतरात्मा को
औ' विचार उन दीप्त सुगमताओं में
बाह्यादर्शों की छिछली गहराई
शारीरिक कर्मों के लघु-लघु सुख में
संतुष्ट बनी प्राणशक्ति बस उसकी
औ' कोने में बंधे पड़े इक 'मन' को
सौंपी गई 'शक्ति' के स्वरूप में वह
बस अपने सीमित क्षेत्र की सुरक्षित
अपने नन्हें-नन्हें-से कार्यों को

और अधूरे पड़े महान् ध्येय को
अपनी प्रचंड औ' विराट् इच्छाओं
प्राप्त की हुई ऊंची उँचाइयां सब
इक दीप्त प्रसीता के घेरे में बस

बसे हुए इक सुन्दर जनसमूह को,
प्राणधारियों की सुन्दर महिमा को
उसने बरबस खींचकर निकाला था।
से अपनी अब आश्चर्य-चकित होकर
लगा अश्वपति इत-उत वहां विचरने,

फिर भी देव-खिलौनों-सरिस पूर्ण हैं,
रहकर भी जो अमरत्व को प्राप्त हैं,—
लगा सुचावभरी दृष्टि से निरखने।
सुपूर्णताओं में ही बस, ससीम की
सिंहासनारूढ़ बनकर बसती हैं।
इसका नहीं स्वप्न भी वह लेता है,
सीमा में ही बंधकर रह सकता है।
सुदृढ़ योजना में ही बंधी हुई है,
कोई भी विशालताएँ न शेष हैं
हित भी कि जहां कुछ अवकाश नहीं है,
और जहां कोई भी स्थान नहीं है,
बनी बन्दिनी मोहित 'महाशक्ति' वह
अपने निश्चित कार्य को सँवरती थी।
पीछे मिटी-गुमी-सी खड़ी हुई थी।
के प्रति आदर और प्रशंसा पाकर,
घेर-धारकर सीमित बना लिया था,
इक स्वाभाविक ढँग से विचर रहा था,
में ही वह बस तिर औ' प्रसर रहा था,

सीमाओं में प्रमुदित घूम रही थी।

पूर्ण समर्पित-सी बन पड़ी हुई थी,
कंगाली में ही वह लगी बंधी-सी
अति ही संतुष्ट बनी सँवर रही थी,
खेल रही थी, ले सुख नींद रही थी,
नहीं पूर्ण करने की उसे फ़िकर थी।
को तो अब वह जैसे बिसर गई थी,
अपनी उसको बिलकुल भूल गई थीं,
उसकी गति जैसे रूढ़ हो गई थी।

अंतरात्मा की इक सुन्दर काया
मोहक सूर्य-प्रकाशित कुंजों में से
अपने सुवर्णमय आनन्द-हिंडोले
और दिशाओं के आवाहन उसके
विशाल जोखिम उड़ान भरनेवाले
नभ-आपत् का न सामना करता था
वहां न लंबे रहसिल छायापथ थे
पिछली खोई-बिसरी अनन्तताओं
यह तो एक पूर्णता के ढांचे में
परी-कला का यह शिल्प, अश्वपति के
इसने तो क्षण भर के लिए सुखदतर
स्वल्पानँदकी आनन्दमत्तता में
पर सत्ता के सतही आनन्दों से
औ' आकारों की सब जादू-महिमा
बस वह गुप्त शक्तियों के औ' गहना
उसी भांति उसकी आत्मदृष्टि ने भी
उस सब कुछ के पार महत्तर कोई
बस अपनी आत्मा के आरोहण में

उसका विधि-विधान तो इक विशालतर

जैसे विश्राममग्न पड़ी हुई थी,
जैसे हँसी किसी की फूट रही थी,
में शिशु सरिस पड़ी वह झूल रही थी।
मोहक गृह तक पहुँच नहीं पाते थे,
महापंख वे उसके पास नहीं थे,
न पाताल-संकट का उसे पता था,
और न उन्नत स्वर्णिम महा स्वप्न थे,
के हेतु लालसा के नहीं भाव थे।
एक अशेष और परिपूर्ण चित्र था,
संकल्प को न रोके रह सकता था :
एक मुक्ति भर बस उसको अरपी थी,
इक निश्चित घड़ी बस बीत गई थी।
अपनी आत्मा तो उकता जाती है,
पीछे ही बस कहीं छूट जाती है,
स्थितियों के प्रति अभिमुख हो जाती है।

प्रकाश के हित जैसे अब चेष्टा की।

'शाश्वत दिवस-धाम' के उस प्रांगण को
सुन्दर जड़तत्त्व के महान् स्वर्ग को
तजकर वह आगे आज बढ़ चला था।
'आकाश' में कहीं और प्रतिष्ठित था।

पर्व २, सर्ग ३

प्राणशक्ति का ऐश्वर्य और पतन

एक असम औ' विशाल आरोहण ने
इक उच्चतर 'प्रकृति' के क्षुब्धावाहन
वह स्थूल और इक आकारी 'मन' की
और प्रवेश किया था उसने विस्तृत,
था सब कुछ शंकित, परिवर्तनशाली,

जैसे कोई 'अज्ञात' की मुखाकृति
यों, वह एक प्रश्नकर्ता था जिसको
और समस्या थी वह, जो न कभी भी
जहां चल रहा था, बस उसी भूमि पर
औ' नितान्त अस्थिर-से एक ध्येय के
इसी भांति चल इक डगमगी नींव पर
इक संदेहों बसे क्षेत्र में अब वह

सम्मुख देख रहा था इक सीमा को,
अनुभव होता था प्रत्येक चाप ज्यों
पर वह तो मायावी क्षितिजि-रेख थी
बस इक खानाबदोशियत छाई थी
वह इक अनगिन पंथों की यात्रा थी
उसके अंतर को संतोष दिलाने-
एक अथक भटकन कुछ ढूंढ़ रही थी
वह भूमि थी जहां पर प्राणशक्ति यह
क्षुब्ध सिंधुओं का इक आंदोलन था,
यह तो 'महाकाश' में चिदानन्द ने
यह तो फैली शाश्वत 'निश्चलता' में

वह मनमाने रूपों को धारण कर

उसके चरणों को आकृष्ट किया था।
को उसने प्रत्युत्तर आज दिया था,
सीमा तजकर आगे निकल गया था,
प्रच्छन्न औ' विवादग्रस्त क्षेत्रों में,
जहां उन अनिश्चित-जैसे देशों में,
वह इक शोध और श्रम की जगती थी,
जो न कभी विश्राम तनिक लेती थी।
के सम्मुख आ हठात् खड़ा हुआ हो,
उत्तर देनेवाला भी न वहां हो,
सुलझ सकी, — उससे आकर्षित होकर
एक अनिश्चय में ही आगे बढ़कर,
ही पीछे-पीछे बस चलते रहकर, —
और बदलती सीमाओं से होकर
अपनी यात्रा संपन्न कर रहा था,
जहां न कुछ भी निश्चित अरे कहीं था।
जिस तक न कभी भी कि पहुँच पाता था,
उसके निकट पहुँचता ही जाता था,
जो दूर-दूर ही जाती सरती थी।
जिसे न वहां मिला निज धाम कहीं था,
जिसका पाया जाता अंत नहीं था।
वाला उस क्षेत्र में नहीं कुछ भी था,
जो न कभी भी अरे कहीं रुकती थी।
अगण्य औ' अकल्प्य एक अभिव्यक्ति थी,

जोखिम भरी दीर्घ डुबकी मारी थी,
खलल मचानेवाली छेड़छाड़ थी,
'अनन्त' का आवेश तथा तरंग थी।

निश्चित रूपों के एक नियंत्रण को
परखे-परखाए औं' जाने-बूझे

पीछा करनेवाली 'नियति' से और
निज पथ के महान् विध्वंसों को बस,
दुःख-यातना की परवाह न करती,
'विश्वात्मा' के और अननुसंधानित
विस्तारों में वह ख़तरों औं' खोजों
जहां कि जीते रहना ही जीवन का
इक अन्वेषक अज्ञ-'शक्ति' की कि जहां
जो कि परीक्षण करती सब सत्यों का,
फिरती मारी-मारी असन्तुष्ट है,
बस इक अंतरमन ने जो देखा था,——
बस वह एक विचार से दूसरे तक,
एक दशा से औं' दूसरी दशा तक
स्वीय विभिन्न शक्तियों के द्वारा ही

या कि कभी अपनी ही स्वामिनी बनी

इक विशाल परिणामहीनता ही बस
यथा सकल गुप्त संभावनाओं की
और जहां आनन्द और पीड़ाएँ
दौड़ रहे वज्र-क्षुरी परिवर्तन की
अरे 'परिस्थिति' के विशाल क्षेत्रों में

अपनी चरम ऊँचाई से गहराई
और इस सतत 'कालचक्र' पर या तो
कितने दिन फिर नीरस इच्छाओं की
और 'प्रकृति'-कर्दम में कीटों के सँग
औं' फिर 'दानव'-कायाधारी बनकर

औं' तारक-किरीट धारण करने की
और गर्जना करते, एक शिखा से
लोकों के पूर्ण विजय औं' शासन को
फिर इक पागल आवेश के साथ वह

छोड़ कर पलायन आज कर चुकी थी,
सुरक्षित स्वरूपों को छोड़ चुकी थी।
और 'कालचारी' भय से अप्रशासित,
कूदे 'दैवयोग' से बनी भयरहित
इक साधारण ख़तरे-सम है लेती;
पाप, पतन से और बेख़बर रहती,

के सँग अविरत कुश्ती लड़ती रहती।
अन्तहीन लम्बा प्रयोग लगता है,
जोखिम पूरित एक साहसिकता है,–
पर न किसी को है सर्वोपरि पाती,
ध्येय नहीं अपना निश्चित कर पाती।
प्राणशक्ति ने वैसा रूप लिया है :

अविरत ही भागी-भागी फिरती है,
संपीड़ित बन, कभी गौरवान्वित बन,
कभी धन्य होकर औं' आनन्दित बन,
अपना एक खिलौना, या दासी बन
इत से उत भटकी-भटकी फिरती है।
उसके कर्मों का सुविधान बनी थी,
सब कसौटियां कस ली जाने को हों,
बस अंतर के बहलाने भर को हों।
अपनी भागी जाती चौकड़ियों से
उसने अपनी इक दौड़ है मचाई,
फिर जोखिम से भरे दीर्घ दोलन में
तक झोंके भर-भर है पैंग लगाई,
ऊर्ध्व उठ गई या कि टूट छितराई।
इक कठोर घिसटन में रही घिसटती,
एक कीट सम अहरह रही कढ़िलती,
सकल धरा को ही निज भोज्य समझती,
सागरवसना बनने को उमगाई,
थी दुर्लभ महान् अभिलाष जगाई,
पर्वत की दूसरी शिखा पर झपटी,
वह आक्रोशभरी बस इत-उत लपकी।
'महाशोक' के आनन्न पर बन मोहित,

कूद पड़ी बस निम्न गर्तताओं की महावेदना में होकर आकर्षित,
औं' दलदल में ही आनन्द मनाती बनी स्वीय दुख-दारिद्र्यों में लुंठित।
अपनी लुटी-चुकी 'मैं' के सँग उसने व्यथासिक्त निज आलापों के द्वारा
अबतक के खोए-बिसराए सारे लेखे-जोखे का आलेख कराया,
या फिर कभी, पुरातन मित्र, शोक के साथ बैठकर है कुछ समय बिताया।
औं' उग्रावेशों की धमाचौकड़ी उसकी बस शीघ्र ही समाप्त हो गई,
या कि अचानक, विधि में आए मोड़ों
तथा असल ध्येयों से बनी बेखबर, क्षुद्रोल्लासों से बस घिरी रह गई।
उसकी अगणित मनोदशाओं की इन
नाना अभिव्यक्तियों के लिए ही तो एक रंगशाला बस रची गई थी,
जहां कि प्रत्येक ही प्रकट होकर बस जीवन का इक विधान बन सकती थी,
जीवन का एक ढंग बन सकती थी,
पर कोई भी उसको विशुद्ध सुख की अनूभूति तो नहीं एक दे सकी थी,
वे सब अपने पीछे केवल चंचल एक स्वाद-क्षुद्रता छोड़ जाती थीं।
या अंत में थकाने और उबाने- वाली विकट वासना दे जाती थीं।
औं' अनगिनती तीव्र विविधताओं में कुछ था, जो रह जाता असन्तुष्ट था,
बार-बार बस ऐसा ही होता था,
सब नवीनता के पीछे बस बचती उसी पुरातन की इक मुख-मुद्रा थी,
प्रति आनेवाली घटिका बस जैसे पिछली घड़ियों को ही दुहराती थी,
प्रति परिवर्तित स्थिति फिर उसी पुरानी बेचैनी को वर्द्धित कर जाती थी।
उसकी निज आत्मशक्ति और ध्येय, ये दोनों ही तो उसे नहीं हैं निश्चित,
अतिसुख औं' आनँद से उकता जाती दुख-सुख दोनों ही हैं बस अंकुशवत्,
तथा यातना, बेचैनी के पार्थिव सहज स्वाद की है इक उसे जरूरत,
किसी ध्येय के लिए प्रयत्न-निरत है पर उसको कर सकती नहीं है विजित।
उसके प्यासे अधरों पर बस आकर विकृत स्वाद की इक गंध बस गई है:
औं' उन शोकों पर जिनको उसने ही चुना-बुना है फिर रोती-धोती है,
औं' उन भोगों हित कि जिन्होंने उसके
अंतर को घावों से छलनी कर-कर डाला है अब फिर-फिर तरस रही है;
यों स्वर्ग की अभीप्सा करते-करते वह नर्क की दिशा में है चल पड़ती।
'दैवयोग' को औं' खतरों को उसने, निज खेल-सखाओं के सरिस वरा है।
'विधि' के महा भयानक झूले को बस उसने अपना पलना करवाया है,
औं' इक स्थायी आसन बनवाया है।
फिर भी उसका जन्म विशुद्ध, दीप्त था औं' 'कालातीत' से यहां प्रकटा था,
कभी गुम चुका था जो विश्वानँद वह आंखों में उसकी बस रमा हुआ था,
उसकी अनगिन मनोदशाएँ तो बस 'अनन्त' की आनन-छवियां हैं प्यारी,

सौख्य और सौंदर्य तो अरे उसकी
औ' अनन्त आनँद तो शाश्वत घर है

ऐसी प्राण-शक्ति ने था अब खोला
बस शोक के हृदय में हठात् जैसे
जिससे सहने, इच्छा, आशा करने
और शांति से वंचित रहनेवाले
शोक तथा भय से आक्रान्त बने औ'
औ' जब नृप के चरण निपट असुरक्षित
अपनी शुद्ध दृष्टि से वहीं समुन्नत
पूत 'व्योम' की वास्तुकला के भीतर

जो आत्मा-काया के बीच साहजिक
लगती जो नभ के सम दूर-दूर थी
उस थल पर इक दुखविहीन जीवन की
औ' फिर उसके ठीक शीश के ऊपर
इक दिव्याकाशी-गुम्बद के भीतर,
जो मर्त्य लोचनों से दिखनेवाले

ज्वाल तथा हास्य के द्वीप-मंडल यों
नभ के ऊर्मिल सागर में ज्यों तारे
यथा उत्क्रमित वृत्त बने से स्तम्भित,–
एक विलक्षण सुख के ज्योतित गोलक,

न कष्ट-श्रम में वे भाग बँटाते थे
जीवन की यातना, कष्ट, शोकों से
जीवन के क्रोध, घृणा और खिन्नता
यों महान् दर्शन में सक्षम स्तर ये
निज कालातीत स्वाधिकार में पगे
नितांत अस्पर्श्य औ' अप्रभावित-से

निज अमरा-प्रसन्नता से अंतर में
स्व-आत्म महिमा निरत बने एकाकी
दूर-दूर जाज्वल्यमान वे तिरते

हैं स्वाभाविक ही एक अमलदारी,
उसका, वह है उसकी चिर अधिकारी।

आनंद का पुरातन अपना आनन,
सतत खुल पड़ा इक जादू-सम्मोहन,
का फिर जाग उठा उसमें आकर्षण,
इन परिवर्तनशाली लोकों में भी।
इस अस्थिर एक वायुमंडल में भी,
इस भूमि पर बढ़ रहे थे बस तब भी
सुखितर इक प्रदेश को उसने देखा।
घुमर-घुमर कर चढ़ते हुए निरंतर,
औ' सर्जन के उन्नततम शिखरों पर,
सुनील औ' गहन एक ऊँचाई पर,
विनिमय के हित कभी न बहुत उच्च थी,
पर विचार, आशा के सरिस निकट थी,
जगती, पड़ी झलकती उसे दिखाई।

सारे आकाशों से था विभिन्नतर,––
मानो देवों की इक तक्षित छत पर
तिरते-उतराते थे चले जा रहे
अलग-अलग तिरते हों चले आ रहे।
जीवंत रँगों के जादू-वर्तुल वे
दूर-दूर नभ में हर्षित औ' हँसते
प्रतीक-जग के समान तैर रहे थे।
न असुख में कि सहायी हो पाते थे,
वे नितान्त ही उदासीन रहते थे,
से वे इकदम ही बेदाग़ बने थे,

औ' अपने अविरत आनँद में डूबे
मुक्त बने नीचे को ताक रहे थे।
औ' निज सौंदर्य, संतोष में डूबे
विश्वस्त बने परितृप्त दीखते थे।

थे, अस्पष्ट प्रदीपित कुहेलिका में

शाश्वतता की ध्यानस्थितियों निर्मित
अपने मानव-विश्वास के लिये तो
और उपस्थित द्रव्यों के तत्त्वों से
ज्यों जादुई दूरवीक्षण शीशे से
दूर दृश्य से फेंकी आकृतियों-सम
जिन्हें मर्त्य पलकें न कभी धर सकतीं
हाँ, उत्सुक जिज्ञासु-हृदय की खातिर
औ' काया के आवेशी विचार को
तथा बोध को तो वे आनँद के औ'
अरे अप्राप्य सरीखे निकट देश में,—
वहां 'मृत्यु' 'काल' के कठिन पंजे से
बस शोक, कामना के शिकार से बच
वे एक तेजवान् और आकर्षक

सपने में, समाधि में और ध्यान में,
सूक्ष्म क्रांतदर्शन के और आन्तरिक
विशाल आनँद दृश्य, दृष्टि के आगे
इस प्रकार पूर्ण-राज्य की आकृतियां
औ' अपने पीछे स्मृति की अभिदीपित
वे कल्पित दृश्य, नित्य महालोक या
स्वप्नगृहीत या कि बोधस्पृष्ट बने,
दिखलाई पड़ते अवास्तविक पर वे
सुख से भी सुखितर औ' सत्य वस्तु से
औ' यदि उनको सपने ही कर मानें
तो भी भू की तुच्छ वास्तविकता को
अविनश्वर-'प्रकाश' के सम-चित्त गगन
इक सुतीव्र शाश्वत क्षण के भीतर बस
या आवाहित बने हुए-से अविरत
या नीलारुण शांति के प्रभासित त्रे
औ' जामनीवर्ण सूर्यों के नीचे
'दिव्य' हर्ष की सागर-सरिताएँ ये

यह जो कभी रही थी उसे दूर की
या फिर स्वप्न-लोक में हठात् देखे

इक स्वप्निल प्रकाश के सतताश्रय में,
सुर-महिमाओं की इक निहारिका में।
वे नितान्त अनहोनी एक वस्तु थे,
तो वे बने हुए न कभी लगते थे।
कोई विस्तारक अन्तर्दर्शन में,
वे रेखायित होकर झलक रहे थे,
वे इतने उन्नत थे औ' प्रसन्न थे।
तो वे समीप ही हैं और सत्य हैं,

कल्याण के सुगोपित साम्राज्य हैं।
जो फिर भी निज अनुभव में आता है,
बनकर नितान्त विमुक्त ही रहते हैं,

किसी सुरक्षित से परिसर में घिरकर
अनन्त आनन्द में मग्न रहते हैं।
जो इन आंखों सम्मुख फिर जाते हैं,
गहन क्षेत्र में कभी झलक जाते हैं,
से दौड़ते-भागते कढ़ जाते हैं,
सम्मुख से गुज़रती चली जाती हैं,
चिह्न-रेख को एक छोड़ जाती हैं।

निज गहराई से उर छू लेते हैं,
जीवन से अधिक वास्तविक होते हैं,
भी तो वे अधिक सत्य ही होते हैं
या गृहीत आकृतियां करके जानें,
स्वप्न-सत्य वे झूठ बना सकते हैं।

सुस्थित बने हुए इस थल रहते हैं,
व्यग्र चखों के सम्मुख आ जाते हैं,
प्रायद्वीप, विश्राम वहां करते हैं,

और विशोक महान् देश फैले हैं।

एक भावना, ज्योतित तारे के सम,
कल्पित धूमकेतु की सचल पुच्छ-सम,

उसने, उसके सम्मुख ठोस सत्य की
आज स्वप्न-सत्य और धरा-तथ्य के
और प्राण के अद्‌भुत लोकों का वह
अब वे जो कुछ सत्य उघार रहे थे
उस सबको उसके अंतर्दर्शन ने
उनके दृश्य तथा घटनाएँ सारी
औ' विशुद्ध सौंदर्य तथा आनँद से
आज यकायक अश्वसनीय शिखर पर
जिसकी सीमाएँ इक 'आत्म'-व्योम में
या फिर अपूर्व औ' इक सूक्ष्म तत्त्व में
'प्राणशक्ति' के परमानंद का सकल
इक आध्यात्मिक और निगुह्यशिखा पर

प्राणशक्ति को निराकार 'अनन्त' से
औ' कालातीत के विरुद्ध 'काल' को
लेकर आकाररहित उसी तत्त्व को
औ' उस 'शाश्वत' का वह अचल स्थैर्य ही
उस सक्रिय शान्ति के गभीर सिंधु से
ही 'विश्वशक्ति' के परिवर्तनशाली
औ' शाश्वत की उस निश्चलता से ही
'आत्मशिखा' को नीचे औंधाकर वह
औ' वह अपनी सनकों के सपनों को
उस 'एकम्' की नमनीय और कोमल
उसके लापरवाह पगों को उसका
औ' सुदृढ़ नींव पर उसके नर्तन को
उसके उस कालातीत और नीरव
प्राणशक्ति के इस अपार सर्जन के
और 'शून्य' की अंधी ऊर्जाओं से
एक ठोस जगती के दृश्य को सिरज,
उसके ही विचार को तो लेकर वह
औ' जगके अंधे कर्मों के भीतर
वह उसके सर्वज्ञानी 'प्रकाश' की
बस उसकी इच्छा पर ही अभेद्य वह
'अतिमानस' नीचे नमता है, केवल
जो कुछ अनुभव तो करती रहती है,

एक निकट आकृति अब धारण की थी।
बीच का महाखात समाप्त हुआ था,
अस्तित्व आज सपना न रह गया था,

सत्य समझ कर अपना बना लिया था:
उसके उर औ' नेत्रों बीच रमी थीं;
उनपर वे इक आघात कर रही थीं।
उसकी दृष्टि हुई बस आकर्षित थी,
प्रलंबायमान-सी दीख पड़ती थीं,
जाकर तल में डुबकी मार रही थीं।
एकत्रित सार यथा चमक रहा था।
बस एक अलौकिक जादुई समुन्नत
रूपान्तरकारी रेखा ने केवल
रहस्यमय ढँग से विलगा रक्खा था,
भले प्रकार सुरक्षित कर रक्खा था।
'काल' यहां आकारों को गढ़ता है;
विश्व-कर्म को बस साधे रहता है

आकारों ने जीवन-बल पाया है,
जिजीविषा का सुसंकल्प आया है।
जीवन की दिशि उसे घुमा देती है
कार्यरूप में परिणत कर लेने को,
स्वतंत्रताओं का व्यय कर लेती है,
प्रज्ञावाहन थिर कर-कर जाता है,
वह एकम् खुद ही साधे रहता है,
अविकारीपन को तो हर हालत में
चमत्कार को नियमबद्ध करना है।

जग की पगचापों को दृढ़ करती है,

झलकों मे ही बस कुछ लख सकती है।

उसकी अज्ञ शक्ति के संचालन को,–
पर जान-समझ पाती नहीं सत्य को,

उसके क्षुब्ध सिंधुओं पर 'उसकी' ही
शासनकर्त्री उस 'दिव्य भावना' को
फिर उसकी इच्छा और संकल्प पर
वह साहसी प्रयोगशील 'मन' है जो
होकर अस्पष्ट संभावनाओं में
इक अजान जग की दैववशी रचना
इस प्रकार मानव-अज्ञता हमारी
कि इसी भांति कभी यह 'निश्चेतनता'
पाशव सहजज्ञान परिवर्तित बनकर
औ' विचार अपने भीतर अचूक औ'
और 'प्रकृति' उस परमोच्च शिखर तक चढ़
वह 'विश्वाधिराज' जो स्वेच्छा से ही
वह ही उसकी सकल कल्पनाओं का
उसके सर्वशक्तिता-जल-निधियों को
औ' 'असीम' को उसने ही तो अपने
औ' उस 'अमर देव' ने उसके कार्यों
और मर्त्यता की चादर में छिपकर
उसके अज्ञानता-रचित कार्यों के
वह अपनी दिव्य कल्पना में जो कुछ
वे सब इक अदृश्य ऊंचाई पर ही
औ' फिर अपने कालातीत केंद्र से

क्योंकि पतन में भी एक विकृत सुख है,
उसको जिससे भी आनँद मिलता है
तो बस, फिर उठकर ये सब भी अपनी
आत्मा के निपात की अरे सज़ा को
हारी खोई हुई दिव्यता को औ'
बस फिर दिव्य-दृष्टि की इक कौंधन में
उसने उसके गर्व और महिमा के
नीचे पड़ी हुई निम्न गर्तताओं
ऊपर उस अपतित आत्मा का अपना
नीचे महाखात की इक धुंधुआती
जो एक अति विरोधी ध्रुव दिखता था
वहां प्राणशक्ति की परमताओं की

शक्ति-बृहत्ता सुनियंत्रण रखती है,
प्राणशक्ति चुप रहकर अनुसरती है ।
एक दीप्त 'सर्वव्याप्तता' से प्रेरित
अपने मार्ग को रचाता चलता है,

के भीतर नित बढ़ता ही रहता है ।
'सत्य' दिशा में सदैव बढ़ती रहती,
सर्वचेतना में जाए फिर बदली :
दिव्य विचारों का स्वरूप ले लेता,
एक अमोघ अमर दृष्टि को बसाता ।
निज 'प्रभु' के सँग पूर्ण ऐक्य पाती है,
यहां प्रकृति का इक लघु दास बना है,
बस पीछे रह संपादन करता है :
उसने धाराओं में काट दिया है,
नियमों से सीमा में बांध लिया है ।
की सुसिद्धि हित बंधन स्वीकारा है;
उसने ही तो केवल अपने ऊपर
करने का सब श्रम अंगीकारा है ।
आकृतियां रचती औ' जगत् बनाती
अपने मूलस्रोत को गुमा चुके थे :
कटकर सतत भटकते रहने पर भी,
विरूप बन आवृत हो जाने पर भी
शापित औ' निपतित हो जाने पर भी,–

उसमेंसे वह कुछ भी न छोड़ती है,
उच्च शिखा पर चढ़ने में समर्थ हैं,
निज प्रयत्न से समाप्त कर सकते हैं,
ये अपनी फिर से अपना सकते हैं ।
एकाएकी और अभिग्रसित बनकर
उन अभिजात प्रदेशों को अब देखा,
के धूमिल क्षेत्रों को भी अवलोका ।
उन्नत आधिपत्य चहुंमुख फैला था,
मूर्च्छावस्था का साम्राज्य बिछा था,—
इक विपरीती धुंधला और राज्य था ।
महिमा के विस्तार सभी फैले थे,

सभी सुरक्षित एक अमरता में निज
अंधकार के आने के पहले की,
दु:ख, शोक के उद्भव के पहले की,
'आत्मा' की शाश्वत बाल्यावस्था में
प्रमुदित हर्षित थे औ' विहँस रहे थे;

जहां सभी अपनी अनुपम विशेषता
के रख सकने में समर्थ होकर भी
स्व एकता को क़ायम रख सकते थे।

औ' 'प्रज्ञा', 'सत्य' के सुखी दिनकर के
नीचे इक निर्वसना 'स्वतंत्रता' में
वहां 'प्राण' के प्रहर्ष के औ' उसकी
उसके भीषण संघर्ष और श्रम के
जहां 'मृत्यु'-प्रेमी के वक्षस्थल पर
औ' उसकी निद्रा जैसे क्षणभर को
बस दो निपट विरोधी खट्टे-मीठे
इस प्राणशक्ति ने 'प्रभु' के प्रकाश को
जिनकी ध्वनि औ' रंगों ने मानव के
उसकी सत्ता का इक अजब नमूना
उसका जीवन 'काल'-प्रवह पर बढ़ता
औ' उसका स्वभाव जैसे इक अविरत
उसकी आत्मा इक चल-चित्र की सतत
एक व्यवस्था और अव्यवस्था इन
औ' वरतम जननी ने गुह्य स्पर्श से
अपने, इस सत्ता के आत्म-स्वप्न को
और गहन रहस्यमयता का इसकी

अमाप भोलेपन से खेल रही थी।
दारुण विडम्बना के भयद लोक थे,
तथा अश्रुओं के स्वाद के क्षेत्र थे।
निश्चित शीश उसका पड़ा हुआ था,
निर्वाणी शान्ति की नक़ल करती थी।
भिन्न ध्रुवों के स्वाद-परीक्षण के हित
उसके तम से विलगाकर रक्खा था।
अंतर में इक सतरंगापन रचकर
है तैयार किया बस परिवर्तन कर, –
ऊर्मित और बुद्बुदित इक सरिता है,
चलती रहती अचला गतिमत्ता है,
परिवर्तनशाली बस एक फ़िल्म है,
दोनों से उसका व्यक्तित्व बना है।

शक्ति और करुणा में है पलटाया,
एक केलि-क्रीड़ा-अभिनय विरचाया।

यहां प्राण की वे उच्च जगतियां थीं
वहां एक झीना 'पट' शेष बचा था
उन आकृतियों से, जो अब मानव के
इक दोषरहित धवला पवित्रता की

जो दिव के अधबिच में पहुंच गई थीं।
पर 'छाय'-भित्ति का कुछ चिह्न नहीं था,
गह सकने को ऐसी दूर नहीं थीं,
कोई रागमत्तता फूट पड़ी थी,
आदिम 'आनँद' की जो एक किरण थी।

अरे धरा भी जो पवित्र होती तो
दिव्यीकृत इन्द्रिय-बोध और अंतर
स्वाभाविक आनँद की दीप्त चरमता
और दिव्य प्रकृति की चरमताओं की
तो बस सकल शक्तियां धरा की कठिन
और दु:ख की निष्ठुरतम धारों का

स्वर्गानन्द सुलभ इसको भी होते।
भी ये अपने गए पहुंच, सब होते,

पुलकन — ये सब पहुंचे, उस थल होते,
गहों पर खेलती, विहँसती होतीं,
तीखापन अनुभव न कर रही होतीं।

सकल 'प्रेम' इक खेल खेल सकता था और 'प्रकृति' में लज्जा कहीं न होती।
किन्तु 'धरा' ने तो अपने सब सपने 'जड़ता' के हाते में बाँध धरे हैं
और आज भी उसके सब दरवाजे दिव्य वस्तुओं के हित बन्द पड़े हैं।
स्वीय शिखाओं पर 'भागवत' श्वास का ये प्राण-लोक अनुभव पा सकते थे,
और वहां वे 'परात्परी' क्षेत्र की एक कोर की झलकी ले सकते थे।
वहां दिखाई पड़ा, सनातन धवला नीरवताओं के उस पार कि जैसे
सशरीरी आनँद की अमराकृतियां शाश्वतता की निद्रा के समीप से
विशाल आकाशों को पार कर गईं।
और परम आनन्दमयी चुप्पी में विशुद्ध रहस्यमयी वाणियां जैसे
पूत 'प्रेम' की सुमधुरताओं के प्रति अपना एक निवेदन सुना रही थीं,
लोकों को पुलकित कर-कर देने को उसके मधुर स्पर्श को टेर रही थीं;
और 'प्रकृति'-अंगों के कस लेने को उसके आनँद-कर को बुला रही थीं,
औ' उसकी मीठी अति असहनशीला
संयोजनकारी धुर महाशक्ति को
सब जीवों को अपने रक्षक-कर में भर लेने के लिए पुकार रही थीं,
कि वह एक विद्रोही, इक अनाथ को भी निज दया-शरण में आवेष्टित कर
फिर से उनमें और वही सुख दे भर,
जिसको वे हैं अस्वीकार कर चुके।
बस उस अदृष्ट 'प्रभु' के प्रति उठता-सा एक सुहाग-गान अब हुआ अभिश्रवित,
शुद्ध कामना के जाज्वल्य काव्य ने किया हृदय को अमर गीत से स्पन्दित,
औ' औंघाती परमानँद की श्रुति को सतत कर दिया एकाएकी जाग्रत्।
तेजस्वितर, शुद्धतर एक बोध का
औ' जाज्वल्यमान एक प्रेरणा का,—
जिसे न पार्थिव अंग साध सकते हैं उनका उस थल पर अपना निवास था।
और वहां पर कोई हल्की-फुल्की दीर्घ औ' खुली श्वासें भर सकता था
हृदय एक के बाद दूसरी आनँद- श्वास तीव्र गति के साथ भर रहा था।
काल-नाद में भीतर से उठ-उठकर 'अमरानँद' का संगीत बह रहा था,
एक प्रेरणा थी, गीतात्मक स्वर था,
पंखों पर आनंदातिरेक ढोती मदमाती घड़ियां थीं चली आ रहीं।
सपनों की विशालताओं के भीतर अपनी सीमाओं से मुक्त बनी-सी
एक अकल्प्य अवर्णनीय सुन्दरता जो निरभ्र नभवत् थी, विचर रही थी।
औ' 'आद्भुत्य' 'खगों' के कलरव सुन्दर, कानों में मधु-मदिरा घोल रहे थे
अपने गगनों से 'प्रकाश'-पुलिनों के अमर्त्य निवासियों को टेर रहे थे।
बस 'प्रभु' के हाथों से सृष्टि छूटकर सुखावेग में सीधी कूद पड़ी थी।
चमत्कार औ' हर्षातिरेक तो बस राहों औ' गलियों में घूम रहे थे।

बस जीने में ही एक परम सुख था,
और प्राण ही बस अंतर-आत्मा का
साथ लिए अपने 'प्रेम' को मंत्रिवत्
और चेतना की ज्योतिर्मत्ता ने
और 'प्राण' की ये द्वंद्व-शक्तियां ही
उसकी अपनी और चरमताएं सब
कोमल पवित्रता के वशीभूत हो
प्रेम-देवता का निज मातृ-अंक में
कोई भी बलविहीन, दीन नहीं था,
अज्ञान की यथा इक झीनी छाया
और कल्पना भी इस 'परम सत्य' का
औ' 'प्रेयस्'-भावना बनी उन्नतमुख
ज्ञान-शक्ति और बनी अंतःप्रेरित
और सकल बलवत्ता शान्त, सुनीरव
स्वर्गानँद की छाती पर शिर रखकर

औ' प्रज्ञा के नीरव शान्त स्वशासन
औ' उसके पूत सूर्य के शासन में
ये 'परात्पर'-मयूख की ओजस्वी
के जाज्वल्यमान देव-तंत्र सारे
सुभव्यताओं का इक अंतर्दर्शन,
सूर्य प्रकाशित फैले साम्राज्यों में
शासक मंडलियां थीं औ' देवों की
संगमर्मरी संकल्प-पीठिका पर
प्राणशक्ति के बस देव औ' देवियां
उन्नत औ' प्रभावकारी शासन थे
बड़े पराक्रमशाली बलिष्ठ बल थे

सभी प्राणियों पर शक्ति-सामर्थ्य की
और वहां प्राकृत 'विधान' की उन्नत
उग्र स्वाभिमानी सरदार और इक
अन्तरात्मा की सब मुद्राओं ने
और प्रेम की आज्ञा पर नत होकर
हर्षोन्मत्त जुए में जुती हुई-सी

इक पुलकायमान औ' सुखी हास्य था,
'आनँद' ही केवल राजाधिराज था।
ही तो धारण किया शरीर वहां था।
आपस में प्रेमी थीं सहज मित्र थीं।
सुसंवादिता की सुतीक्ष्ण धारें थीं:
भोग-कामना स्नेह लिए उमड़ी थीं,
लेकर बस लालन-पालन करती थीं:
इसीलिए मिथ्यात्व न रह सकता था;
प्रकाश पर रक्षा-पट सरिस पड़ी थी,
स्वतंत्र-संकल्प ही बनी रहती थी,
स्वर्गानिल की यथा एक प्रार्थी थी,
दिव-सुन्दरता की इक उपासिका थी,
आत्मिक विधान की अनुचरी बनी थी,
'शक्ति' एक अतिसुख में पड़ी हुई थी।
शिखा-प्रतिष्ठित अचिंत्य शोभाएं थीं,
अपने स्वायत्त राज्य फैलाए थे,
उच्च अधीनस्थ राज्य बसे हुए थे, --
प्रदीप्ति में सब द्रष्टा अंतरात्मा
निज निज सिंहासन पर समासीन थे।
विशालताओं का इक सुन्दर सपना,
शाही अदा लिए रमता रहता था:
महा विधान-सभाएं खचाखच भरी,

आसीन बने निज राज्य कर रहे थे,
औ' स्वेच्छाकारी एकाधिपत्य थे,
शस्त्र-सुसज्जित आज्ञापक पौरुष थे।
सभी वस्तुएँ महान् औ' सुन्दर थीं;
इक राजकीय शाही छाप लगी थी।
वे सामन्तशाहियां सुप्रतिष्ठित थीं,
शान्त शिरोमणि की सेवा में नत थे:
अपने-अपने दिव्य रूप धारे थे।
चलने वाले एक प्रेम अंतर पर
आह्लादभरी एक प्रेम-काया पर,
स्वयं 'प्रेम' से अध्यारोपित बनकर,

वहां स्वामि-सुख और दासता-सुख की   तीव्र आपसी अभिन्नताएँ भेंटीं।
सब कुछ अपनी विभिन्न प्रभुताओं के   मिलन-संगमों का ही एक खेल था।
क्योंकि विनीत शक्ति को आराधक की   आराधना सतत उन्नीत बनाती,
उसकी आत्मा जिस देव को पूजती
उसी देव की महिमा औ' आनँद तक   पूजक को भी है उठवा ले जाती :
औ' शासक जिनपर शासन करता है   उनके साथ एक बन उस थल रहता,
बस वह जो मुक्त और सम-अंतर ले   सेवा में एकनिष्ठ है बन सकता,
उसके हित आज्ञापालन तो शाही   एक प्रशिक्षण-विद्या-मंदिर ही है,
उसके आभिजात्य का शीश-मुकुट तो   उसका एक विशेषाधिकार ही है,
उसकी विश्वास-अचलता तो उसके   उन्नत स्वभाव की इक भाषा ही है,
सेवा-सुश्रूषा का स्वभाव उसका   आध्यात्मिक गौरव है, आधिपत्य है।
ऐसे भी प्रदेश थे वहां, जहां पर
'शुद्ध ज्ञान' रचनात्मक 'महाशक्ति' से   उसके उन्नत स्व धांम में भेंटा था,
और उसे उसके घर में ही जाकर   पूर्ण रूप से अपना बना लिया था :
भेंट, 'भव्य ज्ञान-विप्र' ने उसके उन   दीप्तांगों पर अधिकार कर लिया था,
और उन्हें अपनी ज्ञान की किरण के   इक आवेश स्रोत में डुबा दिया था,
जब तक उसकी संपूर्ण देह-सत्ता   नहीं ज्योति का ही इक धाम बन गई,
और 'शक्ति-आत्मा' ज्ञानात्मा के ही   नहीं द्वितीय पक्ष में ही बदल गई।
बस प्रज्ञा के ज्योतित एक स्पर्श से   बनकर रूपांतरित और दिव्यीकृत,
उसके सारे दिवस और सब घड़ियां   इक जाज्वल्यमान बलिदान बन गईं;
उसकी सुखकर अन्तविहीन ज्वाल में   वे जैसे इक अमर पतंग बन गईं,
और ज्ञान की मीठी असह ज्वाल में   उसकी सारी सत्ता दग्ध हो गई।
और बन्दिनी 'प्राण-शक्ति' ने बस फिर   अपने विजयी को हो मुदित वर लिया,
औ' उसके विशाल आकाश में पुलक   अपने जग को नव रूप में रच लिया।
उसने मन के स्थिर चरणों के भीतर   यंत्र-यान की एक त्वरित गति भर दी,
औ' विचार में आत्मा के सपने को   जी लेने की आवश्कता रच दी,
औ' जीवन में जानने-देखने की   सतत प्रेरणा-अग्नि प्रज्वलित कर दी।
'प्रज्ञा'-शोभा ने उसको समा लिया   प्राण शक्ति ने निज में उसे भर लिया,
इस प्रकार शक्ति ने उस 'विभावन' को,
नीलारुण वस्त्र-सुसज्जित उस नृप को,   अपने किरीट-मंडित पुलक कर लिया।
सर्पाकार जादुई राज-दण्ड को   अपने 'विचार' के कर में धरा दिया,
औ' उसके अंतर्दर्शन की लय में   लहरित रूपों को आकार दे दिया,
औ' उसके संकल्प को निजी कर्मों   में शरीर देकर जीवंत कर दिया,
इक जाज्वल्यमान विद्युत् गर्जन-सम
इक सर्जक ज्वाल-दीप्ति की झलकन-सम

'उसका' विजय-'प्रकाश' स्व अमर शक्ति की
और शक्ति का वह नराश्व बस जैसे
महान् मन-सत्ता के साथ इस तरह

उस थल पर गुरु, गभीर औ' महान् इक
कर्म जहां कि स्वप्न से अभिरंजित थे
रागावेश स्व-इच्छापूर्ति हित ठहर
जब तक वह 'प्रभु' की मीठी पग-ध्वनि की
शैशव-मोद-प्रमोदों के औ' जग थे;
मन और हृदय की इक चिन्ता-मुक्ता
तरुणाई ने, आ जैसे काया में
और कामना के चहुँमुख इसने इक
इस दिव्यीकृत प्राणी के अंगों को

कि प्रेम औ' सौंदर्य तथा आनँद की
ज्योतिर्मय एक भूमि पर जो स्वर्गिक

जिसकी गति सीमा को नहीं जानती
वह थकना भी नहीं जानती, उसकी
उस भूमि पर कार्य भी एक खेल था,
और स्वर्ग के हित कार्य भी सारे
एक दिव्य आनँद की मधु मस्ती थी,
मर्त्याकारों के सम कहीं मंदता
जीवन क्या, आनँद की मनोदशाओं
नहीं बुढ़ापा आता और न मुख पर
औ' तारों की शान्ति औ' सुरक्षा पर
अमर शक्ति के प्रवेग और हास्य को
ये नग्न ईश-शिशु क्रीड़ा-क्षेत्रों में
पवनों को अभिघातित, ताड़ित करते
आंधी औ' तूफान तथा रवि तो बस
सागर की हहराती आती धवला

औ' अपने गति-चक्रों के नीचे बस
निज उमंग में उसको रौंद-रौंदकर

पीठ पर यथा आरोहण करता था,
एक महा देव का वहन करता था।
'प्राण शक्ति' यह सिंहासनासीन थी,
अधिराजद्वय का शासन चलता था।
सुख के महा लोक औ' लोकान्तर थे,
औ' हास्य, विचार से बना मंडित था,
तब तक उसकी राह जोह सकता था,
आहट को न कान से ही सुन लेता।

था स्वर्गिक एक उपकरण ही पाया,
स्वर्णाभा-मंडल ही था कि दिपाया,
भी इस हद तक था सुसमृद्ध बनाया
कि वे यहां तक मुक्त, स्वतंत्र हो सकें
दैवी लीला को अभिव्यक्त कर सकें।
स्मिति पर ही निज दृष्टि गड़ाए रहती
तीव्र प्राण-इच्छा इक दौड़ रही थी
औ' न कहीं रुकने की इच्छा करती :
आंसू-माला भी तो परम सुखी थी।
और खेल ही केवल एक कार्य था,
देवतुल्य सामर्थ्यों की क्रीड़ा थे :
जो कि सदा विशुद्ध ही बनी हुई थी,
से न कहीं उनकी गति रुकी हुई थी,
ही की बस फैली इक शाश्वतता थी :
चिन्ता से झुर्रियां कहीं पड़ती थीं।

सहजभाव में आरोपित करते-से
स्व भव्यता से और एक द्रुत गतिसे
इधर-उधर भागे-भागे फिरते थे;
उनके सखा, सुहृद् ही बने हुए थे,
अयालियों से वे क्रीड़ा करते थे,
दूरी का तो वध ही करवाया था,

बस मृत्यु के हाथ में सौंप दिया था,
निज शक्ति अखाड़ों में मल्ल किया था।

निज आभा में सूर्य सरिस गर्वीले
अपने अंगों की महिमा औ' शोभा
औ' इस जग तक फैले मानो कोई
अंतर में निर्वसन अमल आनँद का
स्व लावण्य-गौरव औ' प्रभुता को ले
मानो 'दिशा-दिशान्तर' की सड़कों पर
वहां भांव तो अंतरात्मा के ही
मन जैसे वाणी से खेल रहा था
कुछ जानने के लिए इन करणों से
ज्ञान 'प्रकृति' के एक काल-यापन हित
इक अम्लान हृदय की दीप्त किरण में
आदिम दैवी सहजज्ञान के थे वे
'काल'-सनातनता के अरे भूमिधर
निज आत्मा की अरुणिम तरुणाई में

आनँद के प्रति उनके सुसंकल्प की
अपनी इस जगती के ऊपर लेकर

उन्नत और सुरक्षित एक तोष की
प्रशान्त वातावरण बीच दिवसों की
इक सार्वभौम सुशान्ति और प्रेम की
बस निष्कलांत मधुरता की इक प्रभुता

एक विशाल आत्म-स्फूर्त व्यवस्था ने
रवि-सम स्पष्ट एक आत्म-उड्डयन को
बंधन-बाधा-मुक्त सुसहज कर्म की
औ' आग्नेय हृदय से प्रसृत होती

और सृष्टि को अपने निजी सत्य से
लूट और छल लेनेवाला कोई
सब कुछ सच्चाई से ओतप्रोत था
केवल स्वतंत्रता ही एक नियम थी
इस प्रकार ये लोक इक सुखी क्रम में
एक विलक्षण-से सौंदर्य के तथा

से स्वर्ग को प्रकाशित बना रहे थे,
दैवी दान-सरिस छोड़े लगते थे।
प्रवेश कर देनेवाले जादू थे,
वे इस भांति वहां पर शोभायित थे,
'प्राणशक्ति' की ध्वज-यात्रा बढ़ती हो।
बस देदीप्यमान इक सुहृद् सखा थे,
प्रदीप्त विचार-भाले फेंक रहा था,
श्रम करने का कुछ भी काम नहीं था,
इतर खेल के समान एक खेल था।
बने हुए अभिषिक्त और अभिज्योतित
इक बालक उत्तराधिकारी हर्षित,
अब भी प्रथम सृजन-आनँद से स्पंदित,
किए हुए थे जो सत्ता को मज्जित।
इक अतिता औ' उग्र निरंकुशता ने
प्राणवती, बलवती इक विवशता ने
एक छोर से अपर छोर तक, अपने
सुख के हँसते सोते बहा दिए थे।
श्वास वहां अपना शासन करती थी,
एक सुखी पग-गति सरती रहती थी,
बाढ़ जहां बस उमग-उमग बहती थी।
आमोद के एक संगीत की तरह
'देश-काल' के होठों पर जीती थी।
संकल्प को निपट मुक्त कर दिया था,
आनँद की दिशा में खोल दिया था,
इक विशालता ने और महत्ता को
एक तीव्रतम स्वर्णिम स्वतंत्रता को
आनन्द के लोक में डुबा दिया था।
आत्म-विभाजन का मिथ्यात्व नहीं था,

विचार औ' शब्द का विकार नहीं था,
सब कुछ स्वाभाविक शक्ति का प्रवह था।
औ' ऊंचे से ऊँचा इक विधान थी।
चढ़ते जाते या कूदे आते थे;
चमत्कार के उन महान् देशों में.

दानव-सम भीषण एक शक्ति के औ'
प्राणशक्ति अपनी विशाल इच्छाओं
यह प्राणशक्ति सहस-सहस औ' लक्षों

उसकी सुमहत्ता औ' सुसौंदर्य के
औ' स्वर्गीय विविधता के हित उसकी
अगणित आत्माओं के इक निनाद औ'

आशा और प्रेम पर भोलेपन से
अपने स्वभाव में इक 'अमर' शक्ति को
अपने वक्षस्थल में उस शाश्वत के
उसको स्वीय पथ-प्रदर्शन की खातिर
अपने भ्राजमान अंतर को तजकर
उसकी उन्नत, दैवी पग-चापों को
और विरोधी 'निशा' का न कोई बल
पथ से पराङ्मुख कर देनेवाले
उन्नत एक-एक कर्म क्योंकि उसका
तीव्र कल्पना की निज मनोदशाओं
औ' निज मन के वैभवशाली रंजित
अपने दिव्य तथा अति महत्त्वशाली
अगणित रूपों की जादूनिर्मात्री,
अपने सुसंकल्प पर ही मायावी,
दिव्य प्रहर्ष में बनी मत्त 'चंडिका'
रचनात्मक आनँद में डूबी 'रसिका'

सुठि महिमा के फैले उन क्षेत्रों में,
के सँग सहज भाव से खेल रही थी।
आनँद-उपवन हँस-हँस रच सकती थी,
बिना रुके इस प्रकार बढ़ सकती थी,
लिए नहीं कोई निश्चित सीमा थी,
न कहीं कोई बाधा थी, वल्गा थी।
इक कोलाहल-ध्वनि के साथ जागकर
एक गहन 'अनन्त'-अंतर से उठकर
इक अनजान बाल-सम बस मुसकाती,
रहने-बसने का इक धाम बनाती
'संकल्प' का अभिवहन करती आती;

और किसी की भी दरकार नहीं थी:
कोई पतन न मैला कर सकता था,
उसे कभी भी अंध बना सकता था।
घेरे, बाड़ों का उपयोग नहीं था,
एक पूर्णता थी, एक आनन्द था।

कोलाहल प्रति अर्पित बनी हुई-सी
सपनों की इक दीक्षित बनी हुई-सी
दैवी लय-तालों की अनुसंधात्री,
आश्चर्यभरे स्व नृत्य को बुनती थी,

निज सुख में नाची-नाची फिरती थी।

इस आनन्द-जगत् को उसने देखा
अनुभव किया एक आह्वान अनोखा
इस उल्लास-जगत् के भीतर उसने
इस चेतन खाई के पार उतरने
उसकी आत्मा तमसिल एक वायु से
जो अशान्त जीवन की रूप-रेख से
यद्यपि मन में इक महत् अभीप्सा थी
फिर भी तमसिल अनुभव से आकारित
चिन्ता, दुःखों औ' निद्रा के द्वारा
यह सब, दीप्त और इच्छित सपने के

पर जाने का कोई मार्ग न पाया,
को न गया था सेतु कहीं निरमाया।
पड़ी आज भी थी बस घिरी-घिराई,
पड़ी हुई थी अब भी बंधी बंधाई।
बोधों में इक महान् उत्सुकता थी,
शोकनिमग्न बने-से इक 'चिन्तन' को,
धूमिल बने हुए अंतर-दर्शन को,
समान ही बस दिखलाई पड़ता था,

जिसे धरा-दुःखों की इस छाया में
ही घूमने और फिरनेवाले इक
प्राणी के अंतर द्वारा इक उत्सुक
दूरी में बस धारण किया गया हो।
यद्यपि उसको एक बार 'शाश्वत' के
आलिंगन की अनुभूति मिल चुकी थी,
फिर भी उसकी प्रकृति दुखी औ' पीड़ित
इन लोकों के बहुत पास बसती थी,
और जहां पर जा वह खड़ा हुआ था

'निशा'-द्वार आरंभ वहां होते थे।
पर जग-चिंताओं से घिरे-घिराए
इस अपनी घन जड़ता के ढांचे का,
जिसमें हम सब ढाले-गढ़े गए हैं,
उसका केवल आनँद हित आनँद को
औ' केवल प्रकाश हित इक प्रकाश को
प्रत्युत्तर देना तो मुश्किल ही है।
क्योंकि प्रपीड़ित संकल्प अरे इसका

जीने औ' विचार करने हित, पहले
मिश्रित दुख-सुख के प्रति ही जागा था,
और आज भी अपनी उसी पुरानी
जन्म-प्रकृति का बना हुआ सेवक है,
जीने के हित अरे हमें यह भीषण
द्वंद्व-नियम ही मिला मार्ग केवल है।
मर्त्य जगत् के अनगढ़ आरंभों में
'प्राणशक्ति' का कोई पता नहीं था,
अंतर-इच्छा का नाम तक नहीं था
मन की क्रीड़ा का व्यापार नहीं था।
फैले विराट् अचित् 'शून्य' के भीतर
जब कि धरा का नव निर्माण हुआ था,
जड़तत्त्व के दृश्य को फ़क़त छोड़कर
चैतन्य सृष्टि का कुछ ज़िक्र नहीं था,
फिर समुद्र, नभ औ' पाहन के सँग-सँग
एकात्म बने-से पृथिवी के सारे
बाल देवगण अंतरात्माओं के
उद्बोधन के लिए अधीर हो उठे,—
जो द्रव्यों में सोई हुई पड़ी थीं,
अस्पष्ट औ' अचेतन बनी हुई थीं।

उस एकाकी वीरान भव्यता में
उस निर्वस्त्र प्रभासित सुन्दरता में,
और उपेक्षित बनी हुई ध्वनियों के
बीच उस निपट बधिरा नीरवता में,
बेदरकार बनी-सी उस जगती में,
कोई संवाहक बिन, संबंधी बिन
वह देवत्व-भार अति ही भारी था,
क्योंकि वहां कोई भी अनुभवकर्ता
और प्रतिग्रहणकर्ता कहीं नहीं था।
औ' यह घन भूमि-पिण्ड जिसमें न अभी
किसी बोध का स्पन्दन हो सकता था,
देवों की विशाल सर्जन-आकांक्षा
को न अभी वह धारण कर सकता था:
फिर विश्वात्मा 'जड़' के निज निश्चेतन
साम्य में न डूबी और रह सकी थी,
और जड़ सरिस सुविश्राम को अपने
छोड़-छाड़कर अब वह जाग पड़ी थी।
औ' उस हेतुहीन महती समाधि में
एक दृष्टि के लिए कि भटक रही थी,
और सचेत हृदय की गतियों के हित
सदैव आवेश में पगी फिरती थी,
वाचा और विचार तथा आनँद औ'
प्रेम के लिए आतुर-सी रहती थी,

गूंगी संवेदनहीन चक्रगति में
उत्कंठा, प्रत्युत्तर के स्पंदन के
पाकर स्पर्श एक बस सकल अचित् की
औ' एक नाम की लय पर बस जैसे
बस जड़ता के इस सारे ढांचे पर
अब इस 'प्राणशक्ति' को अपना सीधा
औ' इन पशुवत् अज्ञानी रूपों में
अपने अंतर का आग्रह ले-लेकर
बस इस गूँगे, भ्रमते भूगोलक पर
श्रुति-असमर्थ 'शून्य' के भीतर मानो
जहां न कुछ आहट थी अभी तक, वहां
लगा कि मृत, निष्प्राण गहनताओं में
जो निज चेतन अस्तित्व से विलग था,
उसने यों करवट बदली ज्यों कोई

अब वह अपनी परिगोपित औ' आवृत
अपनी भूली-बिसरी आत्मा को औ'
इक जानने औ' अभीप्सा करने की
आनँद अनुभव करने औ' जीने की
सुन उसका आवाहन 'प्राणशक्ति' बस
और उमगते तथा उमड़ते उसने
अपनी द्युतिमय भव्याभा जगती से

कटु, भू पर भी, कृपालु महापंख उस

और कभी इक सुन्दर नव जगती को
आनँद से भर देने की आशा में
जैसे मर्त्य मनुज के अंतस्तल में
औ' उसके दिवसों को अपने स्वर्गिक
वैसे ही वह भी नीचे उतरी थी,
क्षणभंगुर आकारों में ढल-ढलकर
बस उसने 'जड़ता' की आदि कोख में
और असंवेदनशील इस 'बृहत्' में
फिर निज मोहकता औ' सुन्दरता से

दिवस-रात्रि मारी-मारी फिरती थी,
लिए सदैव क्षुधातुर-सी लगती थी।
जैसे समाधि-स्थिरता भंग हुई थी,
वह सुसहज नीरवता काँप उठी थी,

एक सशक्त आक्रमण कर देने को
छिपी दिव्यता जाग्रत् कर लेने को,
सब अधीर देवगण पुकार उठे थे।
जैसे इक बाचा अब सुनी गई थी,
उच्छ्वास एक अब घगघगित हुई थी,
अब जैसे कोई श्वास भर रहा था:
कुछ था, जो अब तक अवरुद्ध पड़ा था,
औ' अपने आनँद को गँवा चुका था,
आदिकाल से पड़ा हुआ सोता हो,
जिसको अपना सकल चेत बिसरा हो।
उसी वास्तविकता में फिर से जगकर,
अपने अधिकार को, याद करके फिर

लगा प्रेरणा करने आतुर होकर।
चली छोड़ निज स्वाभाविक प्रकाश को।

अरे हमारी अनम्य कुण्डलिका पर,
मर्त्य देश के अ-व्यवस्थित विस्तर पर,
'देवदूत' ने निज महिमा, शोभा को,
अपनी सुमधुरता को औ' आनँद को,
लाकर था जैसे बस आज उँडेला,

था यह भीषण साहस अब फिर झेला।
इक देवी अवतरित यहां होती है,
आलिंगन से पूर-पूर देती है,
अबल धरित्री के अपना लेने को,
यहां धाम ही अपना रच लेने को।
थी उस 'अमर देव' की अग्नि जला दी,
विचार औ' आशा की ज्योति जगा दी,

इस हाड़-मांस औ' इस तन्तु-जाल पर
अपने, एक अमित आघात था किया,
और अचेतन काया पर पृथिवी के
आह्लाद का इक आरोप कर दिया।
बस लह-लह वृक्षों औ' जड़ी-बूटियों,
फूलों से जीवंत और आवृत बन,
भू की कपिश-वर्ण यह महती काया
लगी नभों को ताक-ताक मुसकाने,
सिंधु-हास्य के मिस जैसे नीलाभा
लगी नील आभा पर वारी जाने,
नए सचेतन प्राणी औ' जनमाकर
लगे अदृष्ट गहनताओं को भरने,
'प्राणशक्ति' का गौरव औ' इक द्रुतता
पाशव सुन्दरता में लगी दौड़ने,
मानव लगा सोचने, साहस करने;
और अंतरात्मा का लिए सहारा
लगा जगत् का डट मुकाबला करने।
पर जब यह जादूई श्वास थी सतत
निज यात्रा पर बढ़ती चली जा रही,
इसके पहले कि भव्य भेंटें उसकी
बन्दी उरों तक हमारे पहुँच सकें,
बस इक तमसिल, अस्पष्ट 'उपस्थिति' ने
सब कुछ के प्रति था इक प्रश्न उठाया।
वही गुप्त 'संकल्प-शक्ति' जो निज को
'महानिशा' से आवृत कर रखती है,
औ' आत्मा को सारे हाड़-मांस के
दुःखों की सौगात भेंट करती है,
उसने ही निज पर यह गूढ़ कंचुकी
मृत्यु और दुख की बस धारण की थी।
बनकर बन्दी अपने इन धीमे औ'
कष्ट-यातनाप्रद दिवसों, वर्षों में
अरे पक्षधारी अद्भुत वह पंथी
आकर बस अपना प्रवास लेती है,
अपनी सुखितर पूर्व अवस्था की फिर
नहीं कहीं इक स्मृति भी ले पाती है।
पर अब इस जड़ 'अचित्'-विधान की उसे
आज्ञा का पालन करना ही होगा,
जो इस जड़ की कि एक अचित नींव है,
जिस क्षेत्र में कि सुन्दरता के ऊपर
अंधी ये सीमाएँ खिंची हुई हैं,
जिस क्षेत्र में कि दुख-सुख ये दोनों ही
संघर्षरत सखाओं-सम जीते हैं,
उसके नियमों में बँध रहना होगा।
बस अब प्राणशक्ति के ऊपर धूमिल
और भयानक इक मौनता आ गिरी :
औ' उसकी वह सूक्ष्म, सशक्त आत्मा
तो बस जैसे थी अब मिट-मिटा चुकी,
बाल देव के सुख का वरदान सभी
था अब जैसे क्षत और हत हो गया,
औ' उसकी सारी महिमा औ' गौरव
एक क्षुद्रता में था पतित बन गया,
और मधुरता का वरदान सभी बस
पंगुल इच्छा में आकर बदल गया,
मृत्यु को स्व कार्यों से भोजन देना
उसके हत भाग्य का विधान बन गया।
बस उसका अमरत्व छिप गया ऐसे,
यथा अचेतन इन द्रव्यों के ऊपर
कि चेतना का अरोप कर रही थी
औ' इक शाश्वत मृत्यु पर कि वह जैसे
घटी एक घटना जैसी लगती थी
सत्ता की कि पुराण-कथा दिखती थी
जिसे अब सदा को चुक जाना ही था।
बस उसके इस परिवर्तन के पीछे
यह इक भारी अशुभ रहस्य छिपा था।

पर्व २, सर्ग ४

अल्पतर प्राणशक्ति के लोक

इन दो प्राणों के उद्विग्न मिलन औ'

जगती छूछेपन में प्रकटी, कि जहाँ
यह इक जीवित-सी तमसावस्था थी,
बस निज निजता के जानने-समझने
औ' सब द्रव्यों पर शासन करने को
जो न अचित् निद्रा से जाग सकी थी
जो इक अपनी सहज-ज्ञान-संचालित
दरिद्रता की वह उत्तराधिकारी
स्वर्णस्मृतियां जिसपर हमला करतीं
किन्तु शीघ्र उड़ जातीं और पकड़ने
जिसके अंतर में इक स्वर्णिम आशा
और सदा कुछ खोज रहे हाथों-सम
इस कष्टकर और ख़तरनाक खाई
जो कि धरा-दु:खों के औ' उस स्वर्गिक

यह जगती इक खोई गुमी वस्तु को
क्षिति न जिसे धरने में सफल हो सकी
इस जड़ और ठोस गोलक के ऊपर
एक शान्ति औ' सुख के जी सकने को

इसने अपनी महाबुभुक्षा को बस
और जीवनों को इस धरती तल के,
और हमारी आत्मावश्यकता को
इक 'प्रभाव' है जिसने बस इस नश्वर
इक छाया है जिसने कालोत्पन्ना
रक्त-स्रोत की इस विक्षुब्ध धार में
संवेदनमय नाड़ी-गति, और जहां

निम्न प्राण के ग्रहण से समुद्भूता
एक कंपिता, भयभीता, अनिश्चिता
उन्नत प्राण के चरण विचर चुके थे;
खोजभरी इक हलचल हड़बड़ान थी।

इक अधजगी शक्ति की छटपटान थी,

'अज्ञानता' से बंधी-सी चलती थी।
और बनी कंगाली की अधिकारी,

में जिनको रह जाती हारी-हारी,
अथक लगाती रहती अपने फेरी,
अन्धेपन से प्रयत्नरत रहती थी,
को भर देने की धुन में फिरती थी
आनँद के बीच हठात् बन गई थी;
जिससे 'प्राण-शक्ति' यह पतित हुई थी।
जैसे अविराम ढूंढ़ती फिरती है
उस आनँद का वह पीछा करती है,

इसकी असन्तुष्ट इक बेचैनी है
जो निज द्वारों से बहुत ही निकट है।
धरा-बुभुक्षा के सँग जोड़ लिया है,
एक सतत वासना-विधान दिया है,
एक अमापी खाई बना दिया है।
रात्रि-दिवस में यहां प्रवेश किया है,
जाति को अरे आच्छन्न कर लिया है,
जहां अंध अंतर-गति उछल रही है,
स्पर्श-बोध के भीतर जाग रही है,

जिसके द्वारा 'जड़' की तम-निद्रा को
वहां हृदय पुकार इक भटक आ गई
भू की शक्ति-परिधि के अरे, परे की
इक विराम-सुख, जो उसका ही होता
बस मानव के अंतर में धुंधली-सी
औ' सुखितर द्रव्यों के लिए रक्त में
और नहीं तो मानव धूप-ताप में
बालक समान दुख-पीड़ा को भूला
पादप-फूलों-सम संवेदन-बिन बन
'महाशक्ति' वह जो पृथिवी पर अपना
वह भू पर सकल यातना सहने औ'
बस बाल हास्य जो इस काल क्षेत्र में
जीवन का सीधा स्वाभाविक सुख सब
शोक, आपदा ही बस विहित भाग्य की
पशुओंवाला शोच-विचार-रहित सुख
चिन्ता औ' विचार ही दैनिक गति को
वह एक महत्ता बीच उठ गया है,

वह इक अतृप्त अन्वेषक है जिसको
जीवन के सतही कार्यों को उसने
पर सत्ता के गुह्य गुप्त क्षेत्रों की
वह एक मनोधारी बन जाता है

फिर अपनी इस भंगुर काया से ही
औ' उसके भीतर यह 'जड़ता' लंबी
उसके ही द्वारा 'देवत्व' को धरा
नेत्रविहीन 'शक्ति' यह एक जो कि बस

इस प्राण-शक्ति ने स्व-बीज को काया
वह जड़ता से अपनी जाग उठा है
औ' इक अंध 'शक्ति' ने स्पर्श बोध औ'
और शून्य के अपार श्रम के भीतर

अपने स्वप्नों द्वारा छेड़-छाड़ कर
महा बन्दिनी ने उस, निज कष्टों से

वह चेतन मन से कर विलग गई है,
जिसे न ज्ञान था कि वह क्यों आई है।
एक 'शक्ति' ने भू का स्पर्श किया है,
उससे सदा-सदा को बिछुड़ गया है,
ललक-भरी इक रागेच्छा जगती है,
उसके एक पुकार उठा करती है:
खुली भूमि में कहीं घूमता होता,
पशु-सम मन ले फिरता कहीं डोलता,
या जड़वत् आनँद में जीता होता।
शुभाशीष बरसाने को आई थी,
फ़क़त अभीप्सा करती-सी ठहर गई;
गूंज उठा था अब चुपचुपा गया है:
जैसे बिलकुल आच्छन्न बन गया है,
उसके, पालक धात्री यहां बनी है।
तो मानव से पीछे छूट गया है,
उसकी बोझिल बनवाते रहते हैं:
पीछे एक असन्तोष लग गया है,
वह उस 'अदृश्य' में आज जग गया है।
सब कुछ यहां सीखते ही रहना है:
तो अपने समाप्त ही कर डाला है,
छानबीन करना शेष रह गया है।
और आत्मधारी भी हो जाता है
औ' इक व्यक्तित्ववान् कहलाता है;
सकल 'प्रकृति' का स्वामी बन जाता है।
औ' धुंधली निज समाधि से जगती है,
अपने निकट बढ़ रहा नित लखती है।
नहीं ध्येय को ही है निज लख पाती,
'संकल्प' की शक्ति इक अशांत, भूखी,—
के तन्द्रिल ढांचे में आ बोया है;

अन्वेषण, अनुभव हित विवश किया है।
इस विराट् और महान् प्रक्रिया में,
निद्रालु विश्व के निर्जीव पिंड में

सतत मुक्ति के हित इक यत्न किया है।

और प्रेरणा से उसकी जाग्रत् बन
आवेश और आवश्यकता की इक
निश्चेतन द्रव्यों के गहन मौन में

वाचाविहीन इस जगती में वह तो
पथदर्शन विहीन इक बोध उसे बस
औ' विचार भी रुँधा पड़ा है पीछे
पर सारा अज्ञात उसे अनुभव के
और जन्म लेने को सतत अजन्मी
निस्पन्द प्राण की निज मुहर तोड़कर
चिन्तन-बिन और मौन आत्म-शक्तियुत
जिसने अपनी गहराई में जो कुछ
उसी तत्त्व में लखने और सोचने
औ' जंजीर जो उसे बांधे रखती
बस उस अंधी आवश्यकता को ही
पाशव अंध-प्रेरणा उसकी ही थी
इक प्रयत्न थी, औ' इक विकास-क्रम थी
काया में इच्छा, आशा जगवा कर
इस 'जड़ता' की मंद ग्रहण-क्षमता में

लाई एक खोज की अथक प्यास को
भटक रही स्व-अनिश्चित पग-गति को औ'
एक अनामी आनन्द की पुजारिन
हर्ष, मौज के इस तमसिल मन्दिर में
बौने मन्द देवताओं प्रति रहती
पर उसके अन्तहीन याग की क्रिया
और पुरोहित इक अज्ञानी पंडित!
जो वेदी की अरे योजना में बस
बस इक अशक्त औ' फीकी ज्वाला में
और क्षणिक से लाभों का इक बोझा
मुश्किल से ही उस बोझे को लेकर
पर घड़ियाँ उसको आवाहित करतीं
बस विचार से विचार और कामना
उसका उन्नततम विकास बस केवल
उसे अन्नमयता न तुष्ट कर पाती

ये जड़ कोष कि जैसे जाग उठे हैं,
लौ को बस उसमें जुगजुगा दिया है,
उसकी महान् श्रम-वाचा जागी है
द्वंद्व जगे अर्चन की लौ लागी है।
इक ढूंढ़ती, भटकती चेतनता है,
अपनी इस यात्रा के लिए मिला है,
उसको कुछ भी तो अब ज्ञात नहीं है,
और भेंट लेने के लिए मिला है।
द्रव्यों के दबाव को बस अनुसरती,
निकल पड़ी जैसे इक दिन आतुर-सी,
बस फिर अपने अनुपम एक तत्त्व में,
देखा है, कह सकता नहीं शब्द में,
की एक अज्ञ आवश्यकता जागी।

है उसने अपना साधन बनवाया;
जो कि 'सत्य' का ही इक कीट-कोष थी,
अविरत यत्न-निरत निश्चेतनता थी।
अचेतना पर चेतन को लदवाकर,
अपने खोये शाही हक़ की ख़ातिर,
व्यथातप्त अपने दावे को लाई,
अपने व्याकुल, व्यथित हृदय को लाई,
परिवर्तन की निज पुकार को लाई।

गुह्य धर्म-कृत्यों की भेंट चढ़ाती।
सारी अरे निरर्थक ही है जाती,

एक निरर्थक हेर-फेर करता है,
अंधी आशाएं होमा करता है।
उसकी पग-गति भारी करता रहता,
है उसका पग आगे को बढ़ सकता;
औ' आख़िर है वह बढ़ती ही जाती,
से अपर कामना की यात्रा करती;
एक गहन आवश्यकता ही होती।
बस वह 'मन' की दिशि अभिमुख बन जाती,

यह पृथिवी उसका ही निजी क्षेत्र है
औ' इस पर जब वह निज जय पा जाती तो दिव पर अपना अधिकार जनाती।
संवेदनहीन लड़खड़ाते-से युग उसके किए-धरे कार्य को नष्ट कर,
उसके श्रम को जाते निकल रौंद कर,
बस अब भी महान् रूपान्तरकारी प्रकाश नीचे नहीं उतर पाया है,
और पतन को उसके नहीं प्रकाशी कोई आनँद अब तक छू पाया है।
कभी-कभी बस एक चमक भर मन के आकाश को चीर कर है आ जाती,
जो इस अस्पष्ट-सी दीखती विधि को संगत औ' अनिवार्य सिद्ध करवाती,
जिसने कि निशाओं को आनेवाली अनजान उषाओं का मार्ग बनाया,
या फिर एक दिव्य स्थिति को पाने हित अंधा-सा एक सुराग़ है लगाया;
अरे निपट 'निश्चेतन' के भीतर ही उसका महत् कार्य प्रारम्भ है हुआ,
चली 'अज्ञता' में ही ढोती जाती अविरत अपने कार्यों का महा जुआ।
'ज्ञान' के लिए खोज कर रही है पर दिव-'प्रज्ञा' की मुख-श्री देख न पाती।
और अचेतन चरणों से अपने वह धीरे-धीरे चली जा रही बढ़ती
देवों के एक निराश्रित शिशु के सम है वह इत-उत यहां घूमती फिरती,
इक शिशु-आत्मा निकट 'नर्क' द्वारों के एकाकी जैसे छोड़ दी गई हो,
और 'स्वर्ग' की खोज कर रही-सी जो एक कुहासे में बस भटक रही हो।

मानव को इस धीमे आरोहण में
प्राण शक्ति के अस्पष्ट औ' मंद इक अवचेतनारंभ के साथ साथ ही
बस धीरे धीरे कर बढ़ना होगा,
इस प्रकार ही धरा अरे अन्तिमतम स्वीय मुक्ति तक कभी पहुंच सकती है।
यों ही मानव भी सब कुछ के आदिम और गुह्य कारण को लख सकता है
जो हमको पीछे रोके रखता है,
औ' बन्दी आत्मा की जेल-मुक्ति में जो 'प्रभु' को भी चकराये रहता है।
औ' फिर खतरनाक द्वारों में बढ़ता अपने तीव्र पतन के साथ-साथ ही
वह इक तमसिल अस्पष्टता में अचक जाकर जैसे अनजान आ गिरा था,—
जो निज निर्मन खातों के भीतर से नैसर्गिक बोधों को ले उमड़ रही,—
जो एक रूप ले लेने की खातिर,
औ' एक स्थान पा लेने की खातिर, बस अपना पूरा जोर मारती थी।
और वहाँ पर इस निम्न प्राण की बस 'मृत्यु', 'रात्रि' से इक अंतरंगता थी,
'मृत्यु' का दिया ही भोजन खाती थी, कि रह सके वह क्षण भर को तो जीती,
वह उनकी ही सगी बनी थी औ' वह उनके दत्तक प्राणी-सम जीती थी।
अवचेतन को स्वीकृत करके औ' इस
गूंगे अन्धकार के साम्राज्य में रहनेवाली वह एक प्रवासी थी,

वहाँ 'सत्य' औ' ज्योतिर्मय विचार से
दूर एक अपर किनारे पर उसने
सिंहासन-च्युत, विकृत यातना-ग्रसित
मिथ्यात्व का अभागा इक आनन ही

जिसे प्रकाश और सौन्दर्य से नहीं

निज पाशव कलंक का अभिमान लिये

और बहिष्कृत स्वर्ग तथा आशा से
वह प्रामाणिक इक प्रतिमा थी जिसको
वह अब नीचे गिर, अति पतित बनी थी,
कभी अर्ध देवी जो शक्ति रही थी,
अपनी पाशव इच्छाओं की जैसी
अपनी अज्ञानता की कि आकारी

अपने माटी के क्षुद्र घिरौंदे से
जहाँ न जाने कबसे बनी अचेतन
जहाँ अचित्-तंद्रा और संकीर्णता
'प्रकाश' से भी जो न मिट सके ऐसे
नहीं विमोचनकारी स्पर्श एक भी
ऊर्ध्व दृष्टि तो उसे विरोधी ही थी
और उसे अपनी पग-गति-का निर्भय
औ' उस शाहीपन औ' सुख-वैभव का
खतरनाक इस 'काल'-क्षेत्र के भीतर

लथड़-लथड़ कर मुश्किल से जीती थी।

बस खोज कर रहा-सा देशकाल की
किरणविहीन क्षेत्र था, ऐसा जिसको
वह इक अनाम, अकाय औ' अनिकेतन
परिधान से सुआवृत, कल्पना-रहित
जो निज आत्माभिव्यक्ति की खातिर इक
नहीं प्रार्थना यह स्वीकार हुई थी

आशा न और कुछ भी कर सकती थी।

आदिम पीठस्थान एक देखा था
दुखित 'शक्ति' का अलग जन्म निरखा था
अरे वहाँ पर बस इक मात्र सत्य था,
जो दिव्य जन्म का विपरीत भास था,
कुछ भी मतलब था, कुछ भी न काम था
छद्मावरण की न कुछ सहायता थी,
झूम झूम एक प्रदर्शन करती थी,
वह इकदम निर्दय थी और नग्न थी,
बने हुए अपने निष्कासित बल की
हस्ताक्षर औ' स्वीकृति मिली हुई थी,

पर अब निरीह और विनीत बनी थी,
शोभाहीन एक बस कंगाली थी,
निर्निमेष लखता-सा इक मुखड़ा थी
निज दरिद्रता की नंगी काया थी।
पहले पहल रेंग इस थल प्रकटी थी,
अनम्य और अशब्दा पड़ी हुई थी:
ने उसको आज भी जकड़ रक्खा था,
अंधकार ने उसे घेर रक्खा था।
उसके निकट अभी तक आ पाया था;

दैवी स्वभाव बिलकुल भूल गया था,
भी उससे अब विच्छेद हो गया था,
किया हुआ जो इक महान् साहस था:
उसका जीवन इकदम व्यर्थ बना था

एक विशाल औ' अशान्त कुहासा था,
अस्पष्टावरणों ने निगल लिया था,

आकारहीन मन प्रतीत होता था,
काया की कर अभ्यर्थना रहा था।
वह विचार को ढूंढ़-टटोल रहा था।

उसे न चिन्तन-शक्ति मिली अब तक थी
और दिखा इक विचित्र बौने जग से
और अभागे इस जादुई क्षेत्र का
अरे वहीं पर तो इक आदि स्रोत था।
बस योगी, उस धूमिल सीमा-थल में
अगृहीत प्रारंभों, लुप्तोद्देश्यों
वहीं पर अरे अब वह अर्द्धदृष्ट औ'
उस स्थल जीवन उत्पन्न तो हुआ पर
वहाँ न ऐसी कोई सुदृढ़ भूमि थी
कोई निर्मन 'संकल्प' की ज्वाल इक
खुद को ही खुद का कुछ पता नहीं था
मानो अस्तिके लिये 'नास्ति' ही सतत
वे अद्भुत और विचित्र क्षेत्र तो इक
प्रभुत्वशाली विचार कहीं नहीं था

एक गंवार शिशु-हृदय बस आनँद के
मन एक जुगजुगाता था जैसे बस
अनियत औ' आकार रहित ऊर्जाएं
जो एक-एक जुगनू को ही लेकर
बद्धचक्षु यह शक्ति अरे निज पथ पर
करती हुई याचना प्रकाश की बस
बस एक अचित्-'शक्ति' बराबर जैसे
जड़ता 'जड़ता' से ही अभिहत होकर
इक आवृत उपचेतन के प्रदेश से
उठ, अंधे संपर्क और मद्धिमगति-

इन्द्रिय स्पर्शों का इक अविरत क्रम था
यदपि 'प्रकृति' के बोधी आघातों को

इक झटका खाकर औ' छलांग लेकर
अनगढ़ और असंस्कृत भावना-सरित्
अपने को छोड़ कर न जिन्हें दूसरी
स्व अंधता में अंधतरा ऊर्जा की
औ' सुस्थिरा अराजकता के जग में
अस्तित्व की घनी आवश्यकता ने

जीने में भी मुश्किल से समर्थ था,
ही वह संबंधित था औ' निकला था,

'प्राण' और 'जड़' का जो मिलनस्थल था
द्वारा पछुआया औ' प्रेरित जैसा,
अध-कल्पित द्रव्यों में भटक रहा था।
जीने के पहले ही नष्ट हो गया।
और न कोई सतत प्रवाही गति थी;
थी जो निज संवेग लिये फिरती थी।
अर्द्ध-स्पष्ट, अर्द्धदृष्ट औ' तमसिल थी,
एक कशमकश के बीच में पड़ी थी।
जीवित सेन्द्रियता से भरे-पुरे थे,
और कहीं कारणका भान नहीं था,
और न सुगठित नियम-विधान कहीं था,
खेल-खिलौनों हित जैसे रोता था,
अ-व्यवस्थित बाल-दीप का प्रकाश था,
आकृतियाँ पाने को ललच रही थीं,
निज पथ-दर्शक भास्कर समझ रही थीं।
कोई विचारशील चरण न रख सकी,
तम के ही संकेत पर रही बढ़ती।
कि चेतना को ढूंढ़-टटोल रही थी,
स्पर्श-बोध में जैसे चमक उठी थी,

प्रतिक्रियाएं, जैसे सहज बोध की
चिनगारियां जुगजुगाती रहती थीं,
जो विचार का गूंगा स्थान लिये था,
इक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्तर देता था,
पर प्रत्युत्तर अभी यान्त्रिक ही था,
अरे 'प्रकृति' ज्यों सपने में चिहुंक उठी,
एक दूसरी में लड़-भाग रही थीं,
गति की कुछ परवाह और चिन्ता थी,
धाराओं से टक्कर मार रही थीं,
वे अपनी गतिविधि में निपट मुक्त थीं।
औ' जिजीविषा की इक सहजवृत्ति ने

तनावपूरित दैवाधीन घड़ी में आनेवाले अंतर-संकल्पों को
जैसे इकदम अभिमग्न कर दिया था,
जिसके फलस्वरूप भोजन के हित इक अंधी इच्छा ने बस जन्म लिया था।
और 'प्रकृति' के झंझा-झोंकों का ही उस थलपर एक बस नियम-विधान था,
शक्ति-शक्ति का युद्ध वहाँ होता था पर कोई फल शेष नहीं बचता था,
अचित्-बोध एक भले मिल जाता था बढ़ने का इक प्रेरण आ जाता था,
जिसमें कि भावनाएं औ' प्रवृत्तियाँ अपने सुकेन्द्र से अनभिज्ञ बनी थीं,
इन्द्रिय-सुख-दुख दोनों ही बस झटपट आते थे औ' झटपट खो जाते थे,
चिन्तनहीन प्राणियों की बस केवल इक पाशव गति मात्र देख पड़ती थी!
यह बस एक निरर्थक-सी जगती थी,
जिसकी जिजीविषा बस एक क्षुद्र औ' शोकपूर्ण परिणामों को लाई थी,
एक निरर्थक दुःख यातना को औ' तमपूरित बेचैनी को लाई थी।
जीने के श्रम का कुछ मूल्य नहीं था।

किन्तु अश्वपति योगी की आत्मा के
प्रबुद्ध, जाग्रत् बने हुए नेत्रों ने इस सबको समझा कुछ और रूप में,
परखा उच्चात्मा के स्वपरिवेश में।
जैसे एक अकेला साक्षी तारा 'रजनी' में चुपचाप चमकता रहता,
वह 'प्रकाश' के एक संतरी जैसा अलग और एकाकी जलता रहता,
डबाडब भरी निर्मन महारात्रि में औ' उसकी इक अर्थविहीन क्रिया में
वैसे ही वह अचल अकेला चिन्तक फिरता था उस ध्येयहीन से जग में
जो उसमें कोई 'प्रभु' की ऊषा के आगम की सुखमय बाट जोहता हो,
और 'काल' के व्यापारों के पीछे निश्चित उद्देश्य को निहार रहा हो।
लगा कि उस ध्येयहीनता में भी तो महाकार्य इक संपन्न हो गया था,
जो जादू संकल्प से सुगर्भित था जो दैवी परिवर्तन से सज्जित था।
यह तो स्रष्टा वैश्विक 'सर्प-शक्ति' की गुह्य कुण्डली की पहली ऐंठन थी,
जिसने 'जड़'-समाधि के रहस्य-कुण्डल से था अपने को बस मुक्त कराया,
जीवन के कुनकुने वायुमण्डल में था फिर बरबस अपना शीश उठाया।
किन्तु रात्रि की वज्र नींद का अब तक अपना खुमार छोड़ नहीं था पाया,
उसने अबतक मनः शक्ति के जादू-
बिन्दु तथा धारीवाले कंचुक को भी था धारण नहीं और कर पाया,
मंडित न आत्म-किरीट से बन पाया;
और आत्म-सूर्य के प्रखर प्रकाश में सीधा होकर खड़ा न था हो पाया।
बस अब तक इक दूषित कलुषितपन औ' अंधवेग ही देखा सुना गया था,
भोग-विलासों के उर्वर कीचड़ में तरह-तरह की औ' इंद्रिय मौजों में

होकर बस प्रकाश के हेतु चेतना
घनीभूत इस आत्मा की काया की
सतह तले अंधकार में इक मद्धिम
और 'प्रकृति' के आवेगी रूपांतर
जड़ता के कीचड़ में से आत्मा के
स्वर्गिक एक प्रक्रिया ने जैसे बस
पतिता अज्ञानता ने एक अपने

'अचिदावश्यकता' के छद्मवेश ने
'प्रभु' की महिमा को इस 'प्रकृति' पंक से
आकारी नेत्रों में भी आध्यात्मिक,
उसकी दृष्टि, एक धुँधले पर भ्राजित
जो इस परिवर्ती प्रवह के रहस्यों
जो इन गूंगे और ठोस कोषों में
काया के हाड़-मांस के विचार औ'
उसके संकल्प की सुतीव्र वासना
उस प्रवाह को भी वह उसकी गोपित
उसके कार्यों को एक चमत्कारी
उसने पाई वहां गूढ़ इक 'सन्निधि'

मृदु-तिक्त विरोधाभासी जीवन में
जो छाया-प्रकाश की इस क्रीड़ा का
जो आत्मा की अंतरंगताओं की
औ' नाड़ी-स्पंदन के तीव्र वेग से
प्रकाश, प्रेम के साथ सहसा उसकी
यह आत्मा की निद्रारत स्मृतियों को

औ' फिर सुखद सत्य की निज ज्वाला से
उनकी आंखें अति भारी होती हैं
वे भावों, इच्छाओं के बानक को
बाह्य चेतना के सागर तल पर उग
औ' निद्राचारी समुद्र-वेला-सी
यद्यपि प्राणशक्ति की आदि प्रगति यह
पर सदैव उसकी गभीरताओं में

की घिसटन कढ़िलन ही लखी गई थी,

क्रिया उग्रता से कार्य में लगी थी।
का पंकिल एक खमीर उठ रहा था
सर्जन का इक सिरका उफन रहा था।
धारण धुँधला छद्मावरण किया था,
गूंगे अशालीन कार्य की सिद्धि को
गूढ़ रात्रि में कठिन प्रयत्न किया था,

मुक्त कराने के हित कष्ट सहा था।

कुहरे में प्रवेशती चली गई थी
को थाह डालने में लगी हुई थी,—
एक स्फुरण औ' स्पन्दन भरता रहता
इच्छा का संचालन करता रहता
और बुभुक्षा को है प्रेरित करता।
धारा के संग खोजता चला गया,
आदि स्रोत तक अनुसरता चला गया।
जिसे न कोई खोज कभी सकता था,
औ' न नियंत्रण जिस पर हो सकता था,

आच्छन्न बना हुआ एक सर्जक है,
इस काया से ही आशा करता है,

यांत्रिक गति को जोड़-जोड़ रखता है।
काल-प्रवह के झागों के नीचे से
अवचेतन की गहरी गहराई से,
उठ जाने के हित टेर लगाता है;
विस्मृत बनी हुई-सी वे धाती हैं
मुश्किल से ही वे कुछ लख पाती हैं,
धरे हुए आच्छन्न बनी आती हैं,
क्षणभर घासपात-सम वे तिरती हैं,
कभी डूबती और कभी उठती हैं।
अशुद्ध है, धूमिल है औ' पतिता है,
दिव्य-सत्य इक ध्यान-निरत रहता है,–

निज निगूढ़तम अंगों में भी उसका
सर्जन के कार्यों में अनुभव होती

मृत्यु-जन्म की इन गूंगी मूलों में
जग की यह चेतनाहीन सुन्दरता
उस आनँद की यह स्मृति-मोहकता बस
वह समीर-श्वास के साथ बहती है
इसकी रंजित, विशाल आभा-शोभा
जब प्राण ने वनस्पति जग सर्जित कर
जो अनुभव करता औ' सहता तो है
तब इसने धीरे-धीरे कर पशु में
उनके अंतर स्पन्दन के द्वारा ही
इस विश्वानँद ने ही अचित्-शिराओं
औ' इक सुख की अभिलाषा करने को
और अल्प आनँद में ही प्रसन्नता
औ' दर्द से थर-थर कँप जाने को
औ' आनन्द के लिये ललचाने को
आज्ञापक-प्रकृति और वाचा-विरहित,
जो जा पड़ा दूर हो प्रकाश से पर
औ' शाश्वत 'परमानँद' से आकर जो
वह हृदय-मर्म औ' स्पन्दित नाड़ी को
इसकी आत्मान्वेषण की तीव्रेच्छा
इसका दंशन ही तो अरे हमारे
आत्मा की इच्छा, निज सहजरूप से
पर सच्चे आनँद से अज्ञ बनी-सी
इन भंगुर द्रव्यों का सुख पाने को
सकल 'प्रकृति' का ईप्साकुल अभिप्रेरण,
रक्त की प्रगति और सजीव बोध के

उस अनन्त का परमानन्द ही फ़क़त
वही तो हमारे अंतर में बसकर
नश्वर स्नेहों और वासनाओं का
एक जिगीषा और परिग्रह इच्छा

जीवन-प्रदेश का विस्तार बढ़ाना,

अग्नि-स्फुलिंग सतत जलता रहता है।
'प्रभु' के सुखस्पर्श की एक हिलोरन,
लुप्त हर्ष की आयी इक स्मृति-सिहरन,
अरे आज भी यहां छिपी रहती है,
'दिव्यानँद' को प्रतिबिंबित करती है।
कहां नहीं अवगुण्ठित बनी हुई है,
तरु के जीवन-रस में संचरती है,
पुष्पों-पातों के बीच विकचती है।
अपनी आधी निद्रा को तोड़ा था
किन्तु नहीं चल और बोल है पाता,
औ' पक्षी में तथा सजग मानव में,
निज छन्द की ताल-लय को साधा था;
को बस विवश बनाया था जगने को,
औ' दुख की इक टीस सहन करने को
और हंसी से पुलक-पुलक उठने को,

ही जगने हित प्रेरित करवाया था।
समझा जिसे न भली प्रकार गया हो,
सत्ता के अंतर से बहुत निकट हो
'काल' में विलक्षणता से जनमा हो,
सतत प्रभावित करता ही रहता है,
चीर-फाड़ डालती चेतना को है,
सुख-दुःखों का एक मूल कारण है;
यद्यपि इक आनँद से परिपूरित है,

बार-बार वह कूद-कूद पड़ती है।

साथ उछलता और कूदता आता,
जिसको कोई रोक नहीं है पाता।
सकल प्रकृति का एक आदि कारण है।

बस सीमित स्थान एक ले लेता है,–
तथा अपहरण औ' धारण-इच्छा बन
प्राणी के भीतर आ बस जाती है,–
स्व-लालसा में विविध क्षेत्र निरमाना,

युद्ध रचाना, फिर उसपर जय पाना
अपने सुख को अन्यों के सुख के सँग
और किसी पर अधिकार की भावना
स्वयं भोग करना, उपभोगित बनना
इन सब में वह उन्नत आनँद निज को
यह प्रदेश था जहां कि बस आनँद ने
उसके क्षणिक मोद का त्वरित ध्येय इक
जिसकी असफलता का मुद्रा-अंकन
औ' आज भी स्व-संस्कार को हमारे
बस निज तमसिल अशुभारंभ का अरे
वह छायाभास ही यहां सब कुछ में,——
जो हम सपनाते औ' करते उसमें
यद्यपि पृथिवी के ऊपर प्रस्थापित
औ' आदत की एक कार्यपद्धति है
औ' इस 'काल'-प्रवह के भीतर ज्यों इक
फिर भी संकल्प की जड़ों का निश्चय
ये रागावेग वे तत्त्व हैं जिनकी
बस जागरणशील इस जगती का यह
यह हमको चहुँमुख से चिपट गई है
यहां तक कि जब विचार स्व जन्म लेता
वह पशु सरीसृपों, चिन्तक मनु-पुत्रों

इसकी भी इक अति आवश्यकता थी

बस इक सान्त अज्ञ जग में आत्मा को
'अचेतना' की मुद्रित शाश्वतता से
उन नन्हें-नन्हें कंपित छिद्रों में

तब धीरे-धीरे यह समवायित बन
अरे यह 'प्रकृति' अपने मूल स्रोत से
और निरंतर निम्न शक्ति की जकड़न
और प्रकृति की सहज वृत्तियाँ सारी
और इस 'प्रकृति' का सारा ही जीवन
इसी नियम-विधान के भीतर रहकर

निज सुख-मोदों का सीमान्त बढ़ाना,
फिर पूर्णाधिकार हित कर लपकाना,
संयोजित करने की आशा करना,
तथा किसी से अधिकृत होकर रहना,
अनुभूति तथा जीने का सुख लहना,–
बस सीमित परिवर्तित बनवाता है।
स्व-संभूति का प्रथम प्रयास किया था,
प्राप्त इसी थल पर बस किया गया था,
यहां अज्ञ-जीवन पर छाया रहता।
कोष-कोष पर है आरोपित करता,

प्रेत सरिस है पीछे कि लगा रहता।
सुदृढ़ जीवनों की इक परंपरा है,
तथा नियम की एक बोध-धारा है,
पुनरावर्तन की गतिविधि निश्चित है,
जैसे का तैसा ही अचलायित है;
ही धातु से हुए हम सब विरचित हैं।
पहला-पहल प्रयत्न था, पुकार थी।
हृदय-देव को भी औ' धरा बाँध है।
औ' आत्मा आकार ग्रहण करती है,
में तब भी मौजूद अरे रहती है,
उनका जीवन-स्रोत बनी बहती है।
कि निरन्तर यह जीवन-गति पनप सके,
और प्रकृति का अपना तंत्र बढ़ सके।
अपनी इस बन्दिनी चेतना को जो

विवश बनी है फूट-फूट पड़ने को,
उसे अवश्य मुक्त करना होता है।
बस 'प्रकाश' की ओर ताकने लगती।
बँधी हुई है सदा-सदा ही जीती,
उसके ऊपर बनी हुई ही रहती,
उछल अचित् गहराई से ही आतीं;
निश्चेतन 'शून्य' का इक पड़ोसी है।
इस अज्ञान जगत् का सृजन हुआ था।

तमसावृत 'बृहतों' की प्रहेलिका में
'अनन्त' के उस महावेश में, उसकी महत् आत्म-बलि की भीषण घटना में,
जब वह सब कुछ ही अभिमग्न हो गया था एक अभावात्मक महा 'शून्य' में,
तब यदि सत् ने खुद इस अंधकार में
लेकर स्व आत्मबलि के त्रिविध क्रूस को, न 'अचित्' तम में डुबकी मारी होती,
तो न 'असत्'-रात्रि बचाई जा सकती।
कालातीत सत्य को अरे यहां पर इस निशि में ही अपनी आवाहित कर,
वह 'आनँद' दुख में परिवर्तित होकर और 'ज्ञान' वह अज्ञान में बदलकर,
प्रभु की तपः शक्ति ही इक शिशु के सम असहाय सी दशा में बस इक गिरकर
अपने महा त्याग से ला सकते हैं यहाँ स्वर्ग को बस नीचे उतारकर।
उसका एक विरोधी पक्ष है कि जो प्राण-शक्ति की नींव यहां रखता है,
उस शाश्वत, औ' दिव्य वास्तविकता ने
ही तो अपने संपूर्ण विरोधों को सम्मुख लाकर खुद ही किया खड़ा है;
सत् ने रूप 'असत्' का धार लिया है 'चित् तपस्' ही और बन अचित् गई है,
अज्ञ-'शक्ति' का इक क्षेत्र बन गई है,
और 'परम आनँद' ने ही तो जग के दुःखों की आकृति धारण कर ली है।
परम गुह्य भगवत्-विधान के भीतर
इक 'प्रज्ञा माता' जो सुदूरवर्ती उद्देश्यों का अभिसर्जन करती है
उसने ही युग-युगान्तरों की लीला- प्रारंभ हेतु यों योजना रची है।
अर्द्धदृष्ट 'प्रकृति' और उस गुप्त 'पुरुष' का बद्धचक्षु होकर एक खोज करना,
और कठिन मल्लयुद्ध में कि जूझना टटोल-टटोल कर और कुछ पकड़ना,—
यह सब द्राभा के एक झुटपुटे में है आँख-मिचौनी का खेल खेलना,
मन की शिशु-शाला के भीतर अपनी प्रेम-घृणा भय-आशा की क्रीड़ा में,
अरे स्वयंभू इन जोड़वों की अपनी
एक अति कठिन और असह्य विधा की धमा-चौकड़ी चलती ही रहती है।
आख़िर संघर्ष-निरत 'दिव्य शक्ति' वह बाहर आने में समर्थ बनती है,
औ' विशालतर क्षेत्रों में आ अपने वाणी रहित 'पुरुष' से आ मिलती है,
तब एक विशालतर चेतना में औ'
इक विशुद्धतर प्रकाश के भीतर हैं वे दोनों एक दूसरे को लखते,
एक दूसरे से हैं बातें करते, हृदय हृदय से और हैं मिला पाते,
अपने उस क्रीड़ा-मित्र के बदन को
अब और भी निकट से देख-परख कर वे दोनों भर अंक भेंट पाते हैं,
और जानने का प्रयत्न करते हैं।

यों आकाररहित व्यावर्तों में भी
वह आत्मा के शिशु-आन्दोलन के प्रति जड़ता के प्रत्युत्तर को लख पाया।

और 'प्रकृति' के भीतर इक प्रच्छन्ना
औ' उस भीषण 'महाशक्ति' का उसने
'देवत्व' के प्रयोगात्मक इक पग के
औ' एक महान् अजन्म 'भारती' के

धीरे-धीरे इस जागते प्राण में
औ' द्रव्यों की धुंधली प्रगर्तता से
तब प्रारंभिक चिन्तन-बोध लिए-सी
अर्ध-सत्य औ' अर्ध-स्वप्न अस्तित्वों
वहां जगा इक जीवन जिसको अपने
औ' जनमे प्राणी, फिर ऐसे जिनके
औ' घटनाओं के क्रम थे ऐसे जो
और कार्य उसके सब ऐसे थे जो
अन्वेषणनिरता इक 'दिव्य-शक्ति' ने
प्रेम तथा दुख-सुख के व्यंजक अपने
और 'प्राण' की मनोदशाओं के हित
कीट-पतँग के सुखवाद की लहर इक
रवि-दीप्त 'प्रकृति' के सतही स्पन्दन में
उड्डीय गोधिकाओं की मनमौजें

विशाल कवचयुक्त शक्तियों ने अबल
और शक्तिशाली जीवों ने अपने

भू के ऊपर आ-आकर बस निज लघु
और 'प्रकृति' ने मानवता की बौनी
इक प्रतिकृति में, अपने अभिप्राय की

और सूक्ष्म रूपों से महास्थूल तक

अपनी उन्नतियों औ' विकृतियों के
अपनी अर्द्ध-प्रबुद्ध चढ़ाई का यह
और 'काल' की निमिष-धड़कनों में बस
योगी के चहुंमुख पाशविक वृत्ति का

'आत्मा' का साक्षात् एक कर पाया,
था अब जैसे दुर्बल जन्म विलोका
रहस्य के पीछे था और चल रहा,
मंद-छंद की लय-ताल था सुन रहा।

तब अग्निलतर एक श्वास था आया,

नवल सृष्टियों ने निज शीश उठाया,
ने जैसे अब निज स्वरूप प्रकटाया।
रह सकने का भी विश्वास नहीं था :
न चिह्न का भी कहीं पता लगता था,
इस रूपहीन नाटक के स्व-अंग थे,
अंधी प्राणिक इच्छा से चलते थे।
आकार की दिशा एक खोज ली थी,
प्रकार तथा प्रणाली भी रच ली थी
विभिन्न प्रतीक-प्रतिमाएँ गढ़ ली थीं।
कहीं फड़फड़ा उठी, कहीं रेंगी थी,
आनन्द मनाया और केलि की थी,
और अजगरी दुःख तथा पीड़ाएँ,
कीचड़-कादोंमें इत-उत घिसटी थीं;
बाहर आ फिर बनी धूप-सेवी थीं।
कम्पायमान भू को हिला दिया था,
बौने औ' स्वल्प मस्तिष्क को लेकर,
निज नन्हीं ओछी नस्लों को लेकर,
जीवन-यात्रा का आरोप किया था।

एक सनक की उस चरमानुभूति को,
औ' अपने विशेष उद्देश्य-बिन्दु को,
लेकर यात्रा का आरंभ किया था
शरीर-आत्मा के सूक्ष्म संतुलन तक,
बौद्धिक लघुता की एक व्यवस्था तक,
बीच की नसेनी के पादों ऊपर
ज्योतिर्मय फल आरंभ कर दिया था।

साम्राज्य ही कि जैसे प्रकट हो गया,

जहां कर्म-व्यापार ही सभी कुछ है,
मन का बस आधा ही जन्म हुआ है,
औ' अंतर चुपचाप जहां इक गूंगे
औ' अदृष्ट शासन को अनुकरता है।
और 'शक्ति' जो 'अज्ञानता'-ज्योति से
संचालित हो, करती कार्य निरंतर,
निज जगत्-योजना में चेतन-जीवों
के विविध प्रकारों की भीड़ लगाकर
उसका पाशव प्रयोग शुरू हो गया;

पर वे उपरिबोध हित ही सचेत थे,
वे केवल स्पर्शों, सतही व्यापारों
को ही अपना प्रत्युत्तर देते थे,
आवश्यकता की एक चुभन को, जो
उनका जीवन संचालित करती थी,
उसके ही प्रति जागरूक होते थे।
इक काया जो निज में बसनेवाली
अंतरात्मा को ही नहीं चीन्हती,
वही वहां जीती थी, ईप्साती थी
जो बस कभी क्रोध करती थी या फिर
कभी मौज करती, शोक मनाती थी;
और वहां इक मन था, जो इस भौतिक
प्रत्यक्ष जगत् में बस यों आया था,
जैसे अपने ही द्वार पर कि कोई
एक अजनबी था औ' इक बैरी था:
इसके विचार संवेदन-आघातों
के द्वारा माँडे-मीजे जाते थे,
इसकी अ-प्रबुद्ध दृष्टि आकारों में
अभी नहीं आत्मा को लख पाती थी,
औ' जो कुछ भी यह लखता था उसके
अंतर तक न पहुंच औ' घुस पाता था,
और कर्म के पीछे कार्य कर रही
गुप्त शक्ति की खोज नहीं करता था,
औ' द्रव्यों के भीतर के अभिगोपित
अभिप्राय का न अध्ययन करता था,
इस सब कुछ में छिपे हुए अर्थों के
नहीं जानने का प्रयत्न करता था।
प्राणी थे ऐसे कि जिन्होंने उस थल
धारण मानव-आकार को किया था;
वे प्राकृतिक दृश्य के महावेश में
यद्यपि डूबे हुए सतत जीते थे,
पर जानते नहीं थे कि वे कौन हैं
क्या करने के लिए तथा जीते थे,
एक 'प्राकृतिक' आनन्द के अलावा
जीवन का न अन्य कोई मतलब था,
बाह्य वस्तुओं की प्रेरणा के सिवा
औ' उनके आनन्द-मौज को तजकर
उनके जीवन का कुछ ध्येय नहीं था।
दैहिक, दैनिक आवश्यकताओं की
संपूर्ति के लिए ही सकल कार्य थे
अन्य न कुछ लालसा और इच्छा थी,
फ़क़त श्वास भरने में, संवेदन में
तनिक कर्म में औ' इन्द्रियज्ञान में
ही बस सुसंतुष्ट होकर रहते थे

आत्मा के बाह्य खोल के सँग-सँग बस
एकाकार बने-से वे जीते थे।
औ' उनके भीतर का द्रष्टा उनकी
हृदय की गुफा से झाँका करता था,
उसने अपनी अन्तर्दृष्टि को अभी
अपने पर ध्यानस्थित नहीं किया था,
और न जग के कर्ता औ' स्रष्टा को
पाने, लहने हेतु बना अभिमुख था
वह तो फ़क़त नाटय को देख रहा था
और नाटयशाला में ही तन्मय था।

किसी गहनतर सूक्ष्म बोध में डूबे

उसके वरदानों को सभक्ति गहता,

और 'सत्य' की गहन अतलताओं में
फ़क़त प्रकृति के तथ्यों को ही लेकर
इक जीवंत सूत्र में संवेदन की
वह शिकार करता और भागता था
और अलस निद्रा में जड़वत् बनकर
या कि सुखद औ' बोझिल प्रकृति-गोद में
वह जग के बाह्याकर्षी संपर्कों
पर सतही आनन्द-बोध की खातिर
बस अपने बाह्य स्पर्श में जीवन का
औ' स्पर्शों के पीछे उस आत्मा के
और प्रकृति से आए खतरों से वे
और भोग करने औ' जीने की ही
उनके दिवसों का संकुचित क्षितिज बस
जो उनको सहाय भी कर सकते थे
बस उनके नन्हें व्यक्तित्व पर सदा
औ' अज्ञात विशाल जगत् में उनका
अपने चहुंमुख फैली 'महामृत्यु' से
निज लघु-जीवन रक्षा हेतु उन्होंने
इक विशाल जग-मोर्चे के विरोध में
वे इस जगती का शिकार करते थे
किन्तु विजय का और मुक्ति पाने का
'विश्व-शक्ति' के संकेतों औ' उसके
उसके वैभवशाली महागार से
वहां न सचेत नियमों का ढाँचा था
इक लघु-संघ की विचार-विधाओं ने
परंपरागत निज व्यवहार-नियम की
अपनी आत्मा से इक प्रेत के सिवा
यहां अपरिवर्ती जीवन-यांत्रिकता
और एक मामूली मंद बोध औ'

ध्यान-मनन की कोई फ़िक्र नहीं थी,
औ' चिन्तन का बोझ नहीं उपजा था;
मन अबोध दृष्टि से 'प्रकृति' को लखता,
उसके दानव-आघातों से डरता।
और प्रकृति के नियमों के जादू पर
न कभी विचारता औ' चिन्तन करता,
नहीं उतरने को लालायित होता,
निज खाते में दर्ज करा रक्खा था,
लड़ियों को बस जैसे पिरो लिया था:
पवनों को और सूंघता फिरता था,
सूर्य-ताप में मौज किया करता था,
पड़ा हुआ विश्राम लिया करता था:
में ही बस अंतर-रस ढूंढ़ा करता,
ही सब दौड़-धूप था करता रहता।
ये जीव एक स्पन्दन थे अनुभवते,
संवेदन से बने अछूते रहते।
फ़क़त स्वीय आकारों की रक्षा में,
चिन्ता में रहते अविरत निमग्न थे।
उन द्रव्यों, जीवों से भरा हुआ था,
और हानि का भी जिनसे खतरा था;
जगत्-मूल्य आश्रित होकर रहते थे।
जीवन रुँधा हुआ था, अलगाया था,

नन्हा रक्षा-कोटर निर्माया था:
स्वयं और जगत् का शिकार बने वे
नहीं कभी इक सपना भी लेते थे।
उन दृढ़ प्रतिबन्धों के अनुवर्ती थे,
खींच अल्प संपति ही ला पाते थे;
और न जीवन की एक योजना थी:

एक प्रथा ही निश्चित करवाई थी।
बस जैसे वे अनजान ही बने थे,
के सँग बंधे हुए हरदम चलते थे
उर के सतही संवेदन से सीमित

वे साधारण पाशव इच्छाओं की सीमाओं पर बस घूमा करते थे।
और पाहनी दीवारों के भीतर घिरे हुए वे सब कार्य सँवरते थे,
उसमें ही औ' युद्ध किया करते थे,
निज संघवृत्तिवाले अहंभाव से कुछ लघु कल्याण-कार्य कर लेते थे,
या तो फिर ये सतत, सचेतन जीवों का बस भीषण अहित किया करते थे,
औ' कटु-कठोर पीड़ाएं देते थे।
फिर भी यथा उन्होंने कुछ न किया हो इस प्रकार का भाव प्रकट करते थे।
सुख-समृद्धि से बसे घरों की जैसे हर लेने को शान्ति बने अति उत्सुक,
हत्या, लूट-बलात्कार, अग्निकाण्डों के जुल्म से भरे आकंठ भयानक,
इस प्रकार बस अरे मानवों को वे परवश एक शिकार बना लेते थे,
जहां बन्दियों की एक बारात थी जो दुख-संकट सहती थी जीवनभर,
जिनकी हँसी उड़ाते या कि बन्दियों के दुख-कष्टों पर अति हर्ष मनाकर,
अरे यंत्रणा को खेल बनाया था, या कि मनोरंजन एक बनाया था —
असुरों के समान औ' देवों के सम करते थे स्वीय प्रशंसा हँस-हँसकर,
अपने महिमामय महान् कार्यों के गुण-गायन गाते थे झूम-झूमकर,
जय जयकार मनाते स्व-प्रशंसाभर अद्वितीय निज बल का बखान कर-कर।
सहज वृत्तिगत स्व-यूथ का इक पशु यह बस प्राणशक्तियों से ही प्रेरित था,
दैनिक आवश्यकता से चालित था,
प्रत्येक ही जाति में अपनी, अपने अहंभाव के दर्पण को लखता था;
और सभी अपने संघ के कार्य औ' ध्येय पूर्ण करने में लगे हुए थे।
वे जो उसके ही समान बस उसके रक्त और आचारों में सगोत्र थे,
वे उसके अपने जीवन-संगी थे उसके ही संबंधित निजी स्वत्व थे,
उसकी सत्ता-नीहारिका के अरे अन्य सभी जन कि संघटक तारे थे
उसके सौर-'अहं' के स्व-उपग्रह थे।
निज जीवन वातावरण पर और यह अधिपति के समान शासन करता था,
झुंड-झुंड मानव-समूह के ऊपर एक नियंत्रक नेता बना हुआ था,
जैसे जोखिमभरी धरा से रक्षा के हेतु एक यूथ बना रक्खा था
अपने चहुंमुख बस सारे समाज को एकत्रित करके ऐसे रखता था,
जैसे वे सब नन्हें-नन्हें 'बल' हों,
जिन्हें जगत् से रक्षा करने के हित इक रक्षा की भित्ति सरिस जोड़ा हो,
या इस उदासीन भू पर अपने को दुर्बल और निपट एकाकी पाकर
स्व-अरक्षित अंतर के लिए तथा निज
शारीरिक और बाह्य जीवन के बस
एकाकीपन का अभाव भरने को, क़िले सरिस रक्खा उनको बटोरकर।
अपनी जाति के अलावा औरों में वह शत्रुभाव ही अनुभव करता था,

उन्हें घृणा करने, हतने के क़ाबिल
या फिर निपट अकेला यों जीता था
जो सबसे लड़ता-भिड़ता रहता औ'
अपने वर्तमान कार्यों में औ' इन
उनमें से कोई भी, काल-क्षणों के
हानि-लाभ के पार पहुंच पाने की
भू को न और सुन्दर स्थान बनाने
औ' न हृदय को चौंका देनेवाला
नश्वर क्षण में पाई इक प्रसन्नता,
एक सिद्ध कामना, और इक आनँद
क्रिया, त्वरित गति तथा शक्ति, यह सब कुछ
दैहिक इच्छाओंका भाग बंटाना,
रोना-धोना औ' सब हंसी-खुशी भी

बस युद्ध और इक प्रेमालिंगन में
जीवन आवश्यकताएं सीधे उठ
ये विभक्त एकता की महा जूझन
उस 'आत्मा' की, अज्ञानावस्था में –
उसपर अनजाने ही एक आपसी

बस इक आनन्द और इक आशा से
एक अर्द्ध-जाग्रत बस 'निश्चेतन' यों,
बाह्य वस्तुओं को छू-देखकर वहाँ
इस प्रकार इक पाशव सहजबुद्धि का
औ' स्मृति-संकुल निद्रा में अविरत यों
यथा अतल समुद्र की गहराई में
औ' अपने सजीव इन्द्रियस्पर्श को
इक अर्ध विचार में उलटकर वह फिर
चहुंमुख किसी सत्य के धर लेने को
औ' थोड़ा भी जो कुछ पा जाती थी
उसे पकड़कर अपने अवचेतन की
इस प्रकार प्राणलोक की इस हीना

इक भिन्न विदेशी शक्ति ही समझता था
उससे डरता और दूर रहता था
इक अजनबी विपक्षी-सम लेता था।
जैसे जीता इक जंगली निराला,
ढोता हो अपनी विधि बना अकेला।
भाग रहे दिवसों में खोया-खोया

सोच बात भी कभी नहीं पाता था,
की दिशि कोई सपना ले पाता था
कोई दिव्य स्पर्श ही छू पाता था।

औ' वह अनुभव जो प्राप्त हो चुका था,
काफ़ी आनँददायी बना हुआ था,
और लड़ाई-झगड़ा, खेल-कूद भी
प्रेम नामधारी आवश्यकता भी
इक व्यापार मौज का बना हुआ था।

'बृहत् प्राण'से सहज जोड़ देती थीं,

जो वास्तव में सदा एक होती है
शोक और सुखको बस थोप-थोप कर
भी उससे संबंधित हो लेती थीं।
शस्त्र-सुसज्जित कर स्वीय प्राणियों को

बना यत्नरत तनिक समझ लेनेको।
इस जगती में प्रारंभ हो गया था,

अतीत जीता ही जा रहा चला था :

कर फैलाकर जैसे भटक रही थी,
और झपटकर जो कुछ धर लेती थी
महा गुफा के बीच छिपा आती थी।
औ' धूमिल सत्ता को बढ़ना ही है,
औ' प्रकाश, शक्ति में पनपना ही है,

इस प्रकार आखिर स्व महत्तर भावी की दिशि धीरे-धीरे कर चढ़ना है,
ऊपर दृष्टि उठा 'प्रभु' को निहारना, चहुंमुख दृष्टि घुमा जग को लखना है,
असफलता से सदा सीखना ही है स्वीय पतन से और विकसना ही है,
वातावरण तथा निज अपभावी से सदा-सदा उसको लड़ते रहना है
सकल यातना सहकर ही तो अपनी गुह्यात्मा का अन्वेषण करना है,
औ' नन्हें इस स्वामित्व से विकसकर अपनी विराटता बीच पनपना है।
पर वह आधे पथ पर रुकी हुई थी, ऊपर से सब विश्वास खो चुकी थी।
और अभी तक मंज़िल न आ सकी थी, औ' यह सब कुछ शुभारंभ भर ही था।
फिर भी उसका शक्ति-वृत्त तो जैसे समाप्त हो आया-सा ही लगता था,
औ' बस यहां अज्ञता की चिनगारी को ही तो वह अरे छोड़ पाई थी,
प्राण-शक्ति ही बस विचार पाई थी, मन की शक्ति न चिन्तन कर पाई थी,
स्पर्श-बोध ही अनुभव ले पाये थे आत्मा कहाँ व्यक्त कुछ कर पाई थी,
यहाँ 'प्राण' की ही तो ज्वाला की कुछ थोड़ी सी ऊष्मा बस जग पाई थी,
एक भूति का हुलास था, सुखमाती कुछ बोध की छलाँगें लग पाई थीं।
और मिलाकर भी यह सारा कुछ बस अध जागृत एक 'शक्ति' का प्रवेग था,
घन-प्राणिक फेनों में इक चित् सत्ता कुप्रसार करती-सी डूब गई थी,
और एक धुंधली-सी आत्मा थी जो
द्रव्यों के आकार के पकड़ने को निज कर फैलाकर यत्न कर रही थी।
इन सारे दृश्यों के पार्श्व में यथा
'प्रभु'-अंगूरों की इक कच्ची मदिरा
इक धारणकर्ता आधार को यहाँ बस खोजती हुई-सी उमड़ रही थी,
कि उसे कोई सह और संभाल सके,
उस परमानँद' के उफान को, भू की माटी के ही भाजन में ढाल सके
औ' भ्रमिता अंतरात्मा औ' मन को उस घन मदिरा से मदमत्त बनाती,
जो अंधे अनगढ़ आनँद से अपने थी सिर चकरा-चकरा देनेवाली,
जो धुंधली थी और अभी आध्यात्मिक स्वरूप में निज नहीं गई थी ढाली,
जो जगती के अंध, मंद अंतर में इक आच्छन्न अतिथि-सी पड़ी हुई थी,
जो अजन्म भगवत्ता का अपना ही संकल्प थी, एक मौन कामना थी।

बस इस क्रम में अब एक तीसरे ही सर्जन ने अपना आनन खोला था।
इक प्रारंभिक, शारीरिक मन का बस सांचा जैसे तैयार हो गया था।
इक प्रकाश की कौंधन ने आकर इस मंद 'विश्व शक्ति' को जगमगाया था
इसने इस संचालित जगती को इक द्रष्टा 'विभावना' से दयजाया था,
'विचार' की इक सक्रिय तीक्ष्ण नोक के साथ कर्म को सज्जित करवाया था:
अब इक नन्हें-से चिंतक प्राणी ने 'काल'-कर्म पर निज निगाह डाली थी।

एक कठिन विकास-क्रम ने नीचे से
उठकर ऊपर की आवृता शक्ति को   स्व-दखल देने के हेतु पुकारा था
और नहीं तो महान् अंध अचित् इस
जगती ने न कभी इस गुप्त मनस् की   महाशक्ति को अपनी खोला होता,
क्यों न अँधेरी के भीतर ही हो पर
'दिव्य बुद्धि' जिसने इस जटिल विश्व की
महायोजना रची है, कभी क्या इस   मानव-पशु में निज कार्य किया होता,
पहले-पहले मंद और आच्छन्ना   इक मन: शक्ति को नृप ने अवलोका,
जो 'जड़ता' के औ' गूंगे जीवन के   नीचे-नीचे हो संचरित रही थी।
इक दुर्बल पतली धारा, जीवन के   विस्तृत प्रवाह में स्रवित हो रही थी :
अविरत चलायमान गगन के नीचे,
उठती हुई ऊर्मि में और जगमगे   उसके कम्पायमान प्रक्षालन में,
मचल उछलती और प्रवाहित होती
अपने स्पर्श-बोध की छपछपान औ'   संवेदन-लहरों में प्रकट हुई थी।
एक अचित् जगती के भीतर उसकी   अंतर-गहराई में एकत्रित बन,
उसकी स्व-चेतना की चंचल लहरें
और फेन, निज अनुभव-बोझिल गति से   पतली जल-ग्रीवा के भीतर होकर
बन संप्रेषित, घूर्णित दौड़ रहे थे।
वह एक समुन्नत प्रकाश में बढ़ता
उपचेतन-जन्म के गभीर कुण्ड से   उठकर अपनी उन्नत सत्ता की दिशि, —
जो है उससे अब भी निपट अपरिचित
जाने के हित बस बहता चलता था।
वहां न चिन्तनक्षम व्यक्तित्व था अभी   और ध्येय भी कोई वहां नहीं था :
इक बिन-पहचानी-सी द्रुत दबान थी   औ' अविरत इक धुंधला अन्वेषण था।
यह सब अस्थाई एक धरातल पर   था बस उठना अंतर-उद्वेगों का
और कामना-वारों का धारों का
रागावेगों की उछलन-कूदन थी   क्षणिक भावनाओं का और रुदन था,
स्थूल देहसत्ता सँग स्थूल देह का   घटित हुआ इक वार्तालाप मौन था,
इक उत्कंठित शब्दहीन अंतर के   प्रति उठनेवाली इक अंतरध्वनि थी,
यह तो अभी ज्ञान की टिमटिमान थी   विचार ने न जहाँ आकृति पाई थी
उपचेतन संकल्प का उपक्षेपण   था कि बुभुक्षा की ऍंचन-खेंचन थी।
इक फेनिल झर्झरित शीश के ऊपर   यह सब कुछ इक धुँधली सी जगमग थी :
और यहाँ 'काल' में, विशाल 'शक्ति' के   उस चेतना विहीन प्रवह के भीतर
सब चंचल-छाया-सत्ता के चहुँदिशि   घूम-घूमकर चक्कर काट रहा था।
तब एक नई द्रष्टा 'महाशक्ति' का   प्रभाव जैसे था ऊपर से आया,

जिसने नर्तित, पंकिल महापुंज में
जो इक केवल ज्योति-बिन्दु के चहुँमुख
जो प्राणशक्ति के जागरित क्षेत्र में
औ' उसके अन्तर में बसनेवाले
इसने उस अध-जाग्रत् से प्रवाह के
यहाँ तक कि उस महा प्रवह के भीतर
मानों इक समुद्र भी सुदृढ़ धरातल
एक पर्यवेक्षण-'शक्ति' ने विलक्षण
उस अविरत प्रवाह में इक सीमा का,
उसके सतत-स्रोत की खातिर उसने
आत्मा की आकाररहितता को भी
इसने पशु में और पक्षियों में इक
सरीसृपों औ' मीनों के भीतर इक
औ' आदिम मानव में आदिम ढँग के

इस विशाल 'काल' के गगन में उड़ती-
औ' सब 'निश्चेतन' में एक 'ज्ञान' का
और रूप के भीतर पृथगात्मा को
गो इसने अमरत्वाधिकार को तो
किन्तु मृत्यु के घेरे के विरोध में
और फँसा लेने को शाश्वतता के
'देशकाल' के भीतर चिन्तनशाली
बस इक नन्हीं और व्यवस्थित जगती
जहाँ कि प्राणी को एक कार्य करने
और देखने-सुनने के हित जैसे
चलने-फिरने को लघु फ़र्श मिला था

और बँधी जकड़ी-सी एक बुद्धि ने
अपनी सँकरी सीमाओं के भीतर
अपनी खोज को नियंत्रित, प्रतिबोधित
और उस 'अलख' के प्रत्यक्ष आगमन
के साहस को, और अंतरात्मा के
अ-ज्ञात अनन्तताओं में हो-होकर,
इसने विचार को लेकर इस जगकी
इसके सुसाहसिक इक स्वतः तर्क ने,

उस सब कुछ को अपनी ओर खिंचाया,
गया घूमने को था बस विवशाया,
सब सम्बन्धों का जैसे कि केन्द्र था,
इक एकात्मक 'प्रकाश' की आकृति था।
भावावेशों पर इक प्रकाश डाला
निश्चयता का इक धोखा दे डाला,
का एक काम देने में समर्थ हो।
निज दृष्टि का वहाँ आरोप कराया।
आकार का और इक बोध धराया,
निम्नस्थ और सँकरा तट निरमाया,
जालबद्ध करने का ढंग रचाया।
प्राणिक मन का था आरंभ कराया,
स्वाभाविक प्रत्युत्तर को जनमाया,
नवल विचारों का सर्जन करवाया।
बस 'अनन्त' की सान्त क्रिया यह सीधी
उड़ती अपने पथ पर आ पहुँची थी;
प्रवाह ही कि विचरता चला गया था,
जिसने कि सुरक्षित खूब कर दिया था।
अपने निश्चित औ' दृढ़ करवाया था,
उसके सम्मुख थी इक भीति उठाई,
जैसे उसने कँटिया इक फेंकवाई।
बस इक सत्ता थी अब प्रकट हो गई।
फूट और फटकर सामने आ गई;

एक जेल का छोटा कोष्ठ मिला था,
स्पष्ट किन्तु सीमित इक क्षेत्र मिला था।
एक करण-व्यक्तित्व यहाँ जन्मा था,

करने के हित अपनी स्वीकृति दी थी।

विचरण पर बस इक प्रतिबंध लगाकर
सब दृष्ट वस्तुओं से जोड़ दिया था।

'प्रकृति'-जन्य इक स्वभाव के दर्पण ने,
कुछ जान औ' समझ लेने को उसके

औ' एक खतरनाक तथा क्षणजीवी
औ' अपनी गति के इस अनिश्चयात्मक
विधि-प्रदत्त सीमाओं के भीतर रह
अरे काल के ही इस संदेहात्मक

बस इस प्राणी को जो गाँठ की तरह
औ' अपने वातावरण के ऊपरी
इसको क्षुद्र मौज औ' तुच्छ ज्ञान ने
जो कि अमाप 'दिशा' के सुविस्तार से
और 'काल' के विराट् सुविस्तार पर
यहाँ एक ऐसा विचार था जो निज

पर निज क्षणभंगुर द्रव्यों के ऊपर
छोटे-छोटे ध्येयों के भीतर ही
उसने अपने को कीचड़ कांदों का
जिसने कोई विशालतर विधान औ'
कोई उन्नत वातावरण के लिये
उसके पास न अंतरमुखी दृष्टि थी,
पिछड़ा हुआ तर्क का ज्यों विद्यार्थी

जिसने जग की इस बाह्याकृति को ही
साधारण-से और प्रकाशों को ही
शंकित नभ की इक तारक-पट्टी को
सत्ता के एक-एक पक्ष ने जहाँ
जहां आपसी आदान-प्रदानों के
क्षुद्र विचारों, कर्मों की और जहाँ
और वहाँ अविलम्ब-क्षयी इक जीवन
औ' काया का अनुचर बना एक मन

औ' नन्हें अहमों ने तुच्छ वासना
औ' क्षुद्रकामना की क्षणिक तुष्टि हित
मृत्यु-पिहित एक मार्ग को ही अपने

क्षेत्र को यहाँ निश्चित, स्थिर करने के
हित जीवन को ज्योतित अरे किया था.
अज्ञान की अल्पता को स्वीकृत कर
एक ध्येय के हित ही बढ़ते रहकर

दैवयोग से लाभान्वित होने को
ही तो जीवन पर प्रकाश डाला था।
अभी बँधा औ' बटुरा-सा रहता था,
एक शोथ पर मानों टँगा हुआ था,
ही संतुष्ट अभी तक कर रक्खा था,
काटा गया यथा इक वक्र चाप था,
जीवन की बस नन्हीं एक अवधि था।
नन्हीं-सी योजना बना लेता था,
इक संकल्प-अभीप्सा कर लेता था,
अपने अमाप श्रम को सतत लुटाता,
इक सीमित मर्यादा में रहता था।
ही एक जीव बस समझा-जाना था ;

नहीं अभी आग्रह अपना ठाना था;
और न कोई उन्नत अवलोकन था।
डाँवाडोल पीठिका पर कि उपस्थित,
भ्रांत ज्ञान द्वारा शिक्षित, अवबोधित,
'प्रभु' का आनन जान-समझ रक्खा था,
सूर्यों की महान् यात्रा समझा था,
जिसने कि आकाश ही समझ लिया था,
पूर्णत्व का स्वाँग ही रच रक्खा था।
हल्ले-गुल्ले की इक मची गूंज थी,
मची एक बाज़ारू-सी हलचल थी:

'प्रकृति' के सभी कार्यों के ऊपर बस
भासुर एक मुकुट के सम शोभित था,

जग को निज साधन बनवा रक्खा था,
जीवन का बस आदि-अंत लखता था,

जैसे यह इक रुंधी गली ही केवल जग की सकल सृष्टि का इक प्रतीक थी,
जैसे आत्म-सृजनशील एक जग के अद्भुत प्रदेश में औ' दिग्दिगन्त के
फैले सकल अवसरों में आत्मा ने इसके हित ही जीवन-इच्छा की थी।
और यह मनोमय प्राणी बस केवल
जिजीविषा के हित ही आवेशातुर बौने भाव, विचारों में जकड़ा था,
जिनमें कुछ भी न विशालता कहीं थी,
और फ़क़त काया आवश्यकताओं औ' दुख-सुखसे जकड़ा पड़ा हुआ था,
यह ज्वाला अपने ईंधन की ही बस मृत्यु से पनपती-बढ़ती रहती थी,
और जिसे वह पकड़-जकड़ लेती थी औ' जिसको अपना बनवा लेती थी
उसके द्वारा ही बढ़ती चलती थी :
यों वह संचित करता, बढ़ता चलता पर अपना न समर्पण वह करता था।
बस अपनी नन्हीं-सी एक गुफा में ही महान् बनने की आशा करता,
और शक्ति के सीमित क्षेत्रों में ही सुख और विजय की इच्छा करता था,
अपने औ' अपने कुटुम्ब के हित वह जीवन-स्थान प्राप्त करने में रत था,
वह ऐसा इक पशु था, जो बस अपनी खाद्य-परिधि के भीतर ही जीता था।
पर वह अंतर-गृह के 'अमर' निवासी से ही अपने परिचित नहीं बना था,
उसके जीने का जगती में कोई गहन महत्तर कारण अरे नहीं था।
सीमाओं में ही वह बलशाली था;
एक बाह्य उपयोग के लिये ही बस सत्य को पकड़ने हित वह आतुर था,
उसका ज्ञान देह का एक करण था
अपने बन्दीगृह के नन्हें-नन्हें कार्यों में ही बस खोया-खोया-सा
स्वार्थ-कामना के बस उसी वृत्त पर
उसी अपरिवर्ती बिंदु के चतुर्मुख बार-बार था चक्कर काटा करता,
पर निज को काराधीश ही समझता।
गो यह रचा कर्म के हेतु गया था और ज्ञानके लिये नहीं सिरजा था,
फिर भी विचार इसका शिखर-बिंदु था या कि प्रणाली का एक किनारा था :
उसने जग का उपरिरूप देखा था उसकी सतही आत्मा को देखा था,
इससे अधिक नहीं जाना-समझा था।
धीमी, भ्रमिता उलझी आत्मशोध से मन एक स्पष्टता की ओर बढ़ा था,
जो बस कटी-छँटी और सुनिश्चित थी,
इक पाषाण-अज्ञता में बंदी बन, बस प्रकाश की एक चमक रहती थी।
इस आबद्ध विचारशक्ति की अपनी इक सीमित, सकुचित नेतागीरी में,
माटी से ही बँधे हुए-से हरदम प्रेरित बनकर साधारण चीजों से,
आसंजित इक सीमित परिचित जग से
अपने अनगिन अभिप्रेत कथानकों

बदल रहे लाखों अभिनयकर्ताओं
यह जीवन बस बार-बार वैसा ही
आत्मा के विशाल दृश्य-परिसर का
अनजाने आनँद के आनेवाले
और विशाल मुक्ति के लंबे चौड़े
यह क्षुद्र अवस्था बस ठीक हमारे
पर यह एक अपरिवर्ती ढँग की-सी

जो 'काल' के बीच में से ही होकर
और अचित् के खातों के ऊपर बस
जो इक कुहेलिका के भीतर जैसे
जो 'आकार'-शून्यता के भीतर से

इस महान् अंधकार के भीतर बस
जिसको जीवन जान नहीं पाया था

इस सबके चारों दिशि लेकिन अब भी

औ' उसके इन नये-नये मुखड़ोंमें
रहनेवाला फ़क़त एक नाटक था।
विस्तार और प्रसार वहाँ नहीं था,
हठात् तीव्र आक्रमण वहाँ नहीं थे।
स्वर्णिम सुदूर प्रदेश वहाँ नहीं थे।
मानव दिवसों से मिलती-जुलती थी,
शाश्वतता के हित ही अचल बनी थी,
यह तो बस एक मुहूर्त्त की क्रिया थी,
जीने को विधि-विधान से दण्डित थी।
सत्ता जैसे सेतु-सरिस फैली थी,
अर्द्ध-प्रकाशित कोई एक भवन थी,
उठकर नेत्रों के सम्मुख प्रकटी थी,
औ' 'आत्म'-शून्यता में जा उभरी थी।
यह नन्हीं-सी एक ज्योति जन्मी थी
कि वह कहाँ तक फैली चली गयी थी,
और कहाँ से वह आ रही चली थी।
निश्चेतन कुहेलिका तैर रही थी।

पर्व २, सर्ग ५

अल्पतर प्राणशक्ति के देव-वृंद

योगी ने उस रूढ़ और अति सीमित,
अनम्य आकारोंवाली इक सत्ता, अल्प प्राण का साम्राज्य अवलोका,
शाश्वतता के विस्तृत महापटल पर एक अभागा, असुखी कोना देखा।
यह दिव्य 'विभावन' के एक कगारे पर अपना सब कुछ लेकर जीता था,
'अज्ञानता' से सुरक्षित होकर बस यथा खोल के भीतर इक रहता था।
बस इस क्षुद्र प्राण-लोक के रहस्यों को जान-समझ लेने की आशा से,
उसने दृष्ट-परिधि की उस तनु झालर के उस पार स्वदृष्टि उठा अवलोका
कि इस बाह्यतः स्पष्ट अनुज्ज्वलता से
वह उस 'प्राणशक्ति' को विलग कर सके, जो इसका चिर संचालन करती है
औ' उस 'विभावना' को अलग कर सके,–
जो 'अनन्तता' पर क्षुद्र तुच्छता का लाकर बस इक आरोपण करती है;
औ' इस सब लघुता पर शासन करने- वाली उस चिर आत्मा को निरख सके,
और इसे इक जीवन देनेवाले उस दैवी विधान को लख-परख सके,
और 'प्रकृति' पर भी उसके दावे को
तथा 'काल' में इसकी आवश्यकता के कारण को जान सके, समझ सके।
बस कुहरे के पड़े हुए घेरे में उसने थी अब अपनी दृष्टि गड़ा दी,
जिसने अधज्योतित और संकुचित-से महाद्वीप को रक्खा था सुजकड़कर
रक्खा था, जिसने अज्ञानता-नभों और सागरों से उसको घिरवा कर
फिर उस 'सत्य' 'आत्मा' औ' 'प्रकाश' से रक्खा था, सब विधि से और बचाकर।
जैसे इक प्रक्षेपण-प्रकाश 'निशि' के वक्षस्थल को चीर-फाड़ देता है,
वहां उपस्थित सभी वस्तुओं को औ' वृक्ष, प्राणियों को उघार देता है,
सहसा एक 'शून्य' के भीतर का सब एक आँख के नीचे खुल पड़ता है,
वैसे ही उस थल सब पड़ी वस्तुएं हटा आवरण अपना प्रकट हो गईं
उसके सूर्य-धवल दर्शन की व्यापक महाज्योति में पकड़ी-धरी थी गईं।
एक व्यस्त, चंचल, अभद्र जन-संकुल,
अपने धुंधले नगण्य अगिन प्राणियों में बस घुमड़-घुमड़ कर उमड़ रहा था।
इक रहस्यमय कुहरे के वेष्टन में जगत्-दृश्य को लपेट रखनेवाले,
औ' स्वर्ग की नियंत्रक आँखों से रह दूर-दूर निज कार्य सँवरनेवाले,

अरे 'काल' की निम्नस्तरी शक्तियों
नन्हें और हीन देवतागणों ने
जिन जीवों का वे संचालन करते,
यों इस क्षुद्र राज्य के लघु षड्यंत्रों

अल्प-अल्प आशाओं से औ' अपने
अंधकार में और धूल-माटी में
और रेंगनेवाले जीव-जन्तुओं

औ' जादुई विचित्र शिल्पकारों की
जो जीवन की नमनीय मृत्तिका से
जिसमें कि क्षुद्र जीवों के समूह थे
औ' उस अनभ्यस्त-सी चमक-दमक से
जैसे इक छाया में पूर्व-व्याप्त से

प्रेतोद्बोधक और कठिन वैतालिक,
और जिन्न थे जो कुछ सुन्दर तो थे

जो निज देव-अंश को गँवा चुके थे
और 'काल'-माटी के भीतर बन्दी
वे इक खतरनाक अज्ञ संकल्प थे,
अपनी मनोवृत्ति औ' आकारों में
इक अस्पष्ट वायुमंडल के धूसर-
पन से उनकी अव्यक्त फुसफुसानें,

जो मानव-मन में गुंजित विचार को
औ' अंतर की अनुमति को बस उनके
जो उस तुच्छ 'प्रकृति' के भीतर रहकर
औ' इसकी शक्तियों और जीवों को
इस प्रकार इसके आनन्द-बीज को
औ' उसकी अल्प ज्योति को वे अपनी
इसके सतही सत्यों को ले-लेकर
और खात या कीचड़-काँदों की दिशि

ही था यह निकृष्ट षड्यंत्र रचाया,
उनको इसका पता नहीं लग पाया,
ने उनका सुमनोरंजन करवाया,
औ' अपने लघु-लघु आविष्कारों से
ओछे, आतुर पगों, क्षुद्र ढंगों से
सरीसृपों की सरसरती घिसटन से,
की दुबकन से और कलंकितपन से
था उन देवों ने अद्भुत सुख पाया।
इक उद्वेगित पँचमेल बहुलता थी
अजीब गड़बड़ और अव्यवस्था थी,
विविध नमूने रचते लखे गए थे,
प्रारंभिक जातियों के नमूने थे।
आश्चर्य-चकित होकर और चौंककर,
कुरूप-कुबड़े भुतने जाग उठे थे,
पशु-अनुहारी आनन उमड़ पड़े थे,
लघु परियों के प्रकार प्रकट हुए थे,
पर भीतर से दरिद्र, आत्महीन थे,
और नितान्त पतित औ' निम्न जीव थे,

बने हुए औ' भटके हुए देव थे।
किंतु शक्ति से शस्त्रित बने हुए थे
वे आधे पशु, आधे देवतुल्य थे।

अरे बराबर हैं आती ही रहतीं,
अनभिव्यक्त इक ऊर्जा धाती रहती,
या इक वाणी को है उकसा जाती
आवेग-दंश तक घसीट है लाती,
सम्पन्न कार्य उनके ही करती है
अशान्ति, व्याकुलता से भर देती है।
वे शोक के फलों से शापित करते,
भूलभरी श्वासों से बुझवा देते
बदल झूठ के ध्येयों में देते हैं,
उसके क्षुद्र भाव प्रेरित करते हैं,
औ' रागावेग संचरित करते हैं:

और नहीं तो शुष्क कठोर वासना के अंकुश से वे छेदा करते हैं,
औ' इस बीच हमारी जीवन-गाड़ी
अज्ञानता से निकलने का कोई मार्ग बिना पाए बस सरती चलती,
जो न कहीं पहुंचाए ऐसे भ्रामक पथ पर चर्र-मर्र कर रेंगा करती।
शुभ और अशुभ इन दोनों के ही सँग खेल खेलना इक उनका विधान है।
इस प्रकार असफलता, व्यर्थ सफलता, के प्रति हमको ललचाते रहते हैं,
सभी नमूनों को विकृत करते हैं सकल उपायों को धोखा देते हैं,
और ज्ञान को गरल बना देते हैं, पुण्य को विजड़-प्रतिकृति बनवाते हैं,
और कामना के अंतहीन चक्रों का वे अविरत संचालन करते हैं,
जो शोक या कि सुख के दैवयोग के आभासों व प्रतीकों में से होकर
हमको अनिवारी-अनिष्ट भावी तक,- उसी मृत्युतक, घसीट ले जाते हैं।
उस थल पर बस उनके ही प्रभाव से सब अभिनय अभिनीत किए जाते हैं।
और वहीं भर उनका राज्य नहीं है, वहीं कार्य का उनके क्षेत्र नहीं हैं;
जहां कहीं भी आत्मा-विहीन मन है और पथप्रदर्शन-विहीन जीवन है,
और जहां लघु काय-अहंता में ही जो कुछ है वह ही महत्त्वशाली है,
जहां कहीं भी प्रेम-प्रकाश तथा वह विशालता, ये अनुपस्थित होते हैं,
वहां पहुंच कर ये सब खल-निर्माता अपना कार्य सिद्ध कर-कर लेते हैं।
यही नहीं सब, अध-जाग्रत लोकों तक ये अपने शासन को फैलाते हैं ।
औ' पृथिवी पर भी ये देवक अविरत मानव-अंतर को प्रेरित करते हैं,
मनुज-प्रकृति की द्वाभा में वे अपने छिपने का इक स्थान बना रखते हैं।
और यहां भी, यह तमसावृत आदिम
अंतर इक अभिगोपित 'मनःशक्ति' के अवगुण्ठित संकेतों पर चलता है,
जो इक भ्रामक प्रकाश से है हरदम ज्ञान का हमारे बस पीछा करती
तथा हमारे और हमारे रक्षक महासत्य के बीच खड़ी हो जाती
'अचित् रात्रि' की वाचाओं को लेकर हमसे वार्तालाप किया करती है :
और हमारे जीवन के इस तम को अतितम की दिशि संचालित करती है;
और हमारी गवेषणाएँ उसकी विपत्भरी आशाओं को सुनती हैं।
बस नेत्रविहीन से विचारों का यह तैयार एक ढांचा किया गया है,
औ' अविवेकी एक 'शक्ति' के द्वारा उपयोग तर्क का बस किया गया है।
यह धरती ही केवल अरे हमारी इक शिक्षिका और पालिका नहीं है;
सब लोकों की सकल शक्तियाँ आकर अविरत यहां प्रवेश किया करती हैं।
बस अपने-अपने क्षेत्रों में वे सब स्व-विधान-चक्र का पालन करती हैं,
औ' एक बँधी-नपी निज सुरक्षा का ही वे बस पालन-पोषण करती हैं,
औ' फिर जब वे इस पृथिवी पर,अपनी रूढ़ लीक-रट में फेंकी जाती हैं,
तब विधान उनका रक्षित रहता, पर उनकी चीजों के आकार-प्रकारों

वे एक सृजनशील अव्यवस्था में

किन्तु वहां वे इक 'दैवयोग' द्वारा
माना इस भू-स्वभाव की खातिर वे
पर पृथिवी के उन तौर-तरीकों को
भले विदेशी हों या कि विरोधी हों
वे कार्य-निरत रहती, औ' लड़ती हैं
कुछ मिलती हैं, तो कुछ अलगाती हैं
जबतक सभी न अपनी दिव्य साम्यता
और हमारा जीवन-मार्ग अनिश्चित
औ' मन का सारा अशांत अन्वेषण
जब तक वह सब, निज केंद्र में पहुंचकर
'कालातीत' ज्योति में न पहुँच जाता
'शाश्वत' के एकाकी एकमेव औ'
किन्तु अभी तो परम-'प्रकाश' दूर है :
चेतन जीवन अभी अचेतन के ही
और ये हमारे नादान हृदय बस
इक अस्पष्ट शक्ति से संचालित बन

यहां तक कि इस मन की सारी जीतें
औ' धीरे-धीरे बदलती व्यवस्था
बस जब तक आत्माएं मुक्त न हो लें

जो कि मनोमय आकाशों को फिर से
बस 'अनन्तता' पुनः सान्त कर्मों को
उस शाश्वत 'प्रकाश' के साम्राज्य में
तब जाकर इस निम्न प्राण-सत्ता के

इक पहेलिका के समान दिखती इस
जो कि यकायक इन आंखों के आगे
और वस्तुओं की 'गुप्तात्मा' का जो
औ' इस भ्रमते भित्ति-विहीन कक्ष में
जिसमें सर्वत्र तटस्थ भाव से 'प्रभु'
मानो अचित् गुह्यता-चमत्कार में

का इक निश्चित स्वरूप गुम जाता है।
लाकर यहां फेंक बस दी जाती हैं,
जहां वे व्यवस्था को पुकारती हैं,
ही बस संचालित होती रहती हैं।
एक अजनबी हैं और अपरिचित हैं,
उन्हें सीखना और समझना ही है,
उसके सँग बँधकर बस रहना ही है :
सहकर कष्ट सुलह भी कर लेती हैं :
फिर एक नई विधि से आ मिलती हैं।
में जाकर पुनः प्रतिष्ठित होती हैं।
चक्कर खाता हुआ है बढ़ा करता,
प्रकाश के हित ही है आतुर रहता;
बोध न है निज रहस्य का पा लेता,
दिशातीत धाम में न प्रवेश पाता,
आनन्द में न सुप्रतिष्ठित हो जाता।

नियमों पर है केवल बढ़ता रहता,

अज्ञ ध्येय की दिशि ही बढ़ते रहते;
अंध कामना में ही पलते रहते,
धारण करतीं इक भग्निल किरीट ही।
संकल्प को हमारे बाँधे रखती।
यह हत-भावी ही चलती रहती है।
तब एक शक्तिशाली 'कर' आता है
पीछे की दिशि बस लपेट देता है,
अपने हाथों बीच साध लेती है,
और 'प्रकृति' यह फिर प्रवेश करती है,
दुखद स्वप्न की घड़ी अरे चुकती है।

जगती के आदिम आरंभ काल में
जड़वत् विशाल एक यंत्र लगती है,
एक मंदगति अनावरण लगती है,

परिव्याप्त बन कण-कण समासीन है,

वह अपने से अजान बना हुआ औ'
फिर भी तो जो कुछ होता दिखता है

अनन्त ख़ालीख़म के मध्य यहाँ इस
'आत्मा' ने 'जड़ता' का रूप ले लिया,
मानो अब एक शरीर सो रहा था
और 'शून्य' की नीरवता पर आश्रित
गोचर आकारों का स्थूल दृश्य यह
बस एक बाह्य और अचेतन जग की
जिसे देखनेवाला वहां न कोई

इक रहस्यमय औ' प्रवीण, मायावी
जादूई परिणामों के हित नव-नव
और सृष्टि की आश्चर्यमय युक्ति को
उस गूंगी प्रज्ञा के संकेतों को
अविचार्य और अनिवार्य 'भावना' का
वह, 'प्रभु' की मेधा के ही कार्यों के
या कि एक परमातिपरम 'अनजाने'
तब भी 'प्रकृति'-कुक्षि के मध्य, चेतना
औ' जिस सुखोन्माद ने इन लोकों की

औ' वह 'सत्' तो बस एक जड़तत्त्व था

धारण करके औ' फिर एक अकल्पित
जिसके विशाल स्पन्दन औ' आँदोलन
औ' सच्चिदानन्द की आदि 'श्वास' पर
आधारित औ' उससे सधे हुए-से
महा 'शून्य' के भीतर एक स्पर्श को
एक सूक्ष्म ख़ाली खम में विरोध औ'
इस प्रसरणशाली जगत्के जनक ने
इक विघटक शक्ति की कुक्षि के भीतर
इसके अविरत व्यय-क्रम के द्वारा ही
'महाकाश' के अग्निकुंड के भीतर
जिसने लोकों को ऐसे छितराकर
यथा किसीने छितरा बीज दिए हों,

हमसे भी अदृष्ट बन, सर्वलीन है।
उसका ही सब कर्म और सब गति है,
औ' उसकी ही इक संकल्पशक्ति है।
घूर्णन और अव्यवस्थित विस्तरमें,
पड़ चुपचाप रही उस आवर्तन में,
रह न गया था चेतन, न बोध जिसमें।

प्रकट हुआ शाश्वत की 'चित् सत्ता' में,
प्रतीति होती थी जिसके लखने में।
था, और न अनुभव करनेवाला था,
फ़क़त चमत्कारी एक 'अचेतन' था,
अपने सृजन-कार्यमें और लग्न था।
तौर-तरीकों को बस रचता-गढ़ता,
बड़ी कुशलता से बस सँभालता-सा
इक यांत्रिक ढँग से अंकित करता-सा
अपने कार्यों के हित प्रयोग करता,
संपादन के सुठि कर्म में लगा था,
की इच्छा को परिपूर्ण कर रहा था।
यहां बराबर छिपकर पड़ी हुई थी,
अद्भुत परंपरा यह सपनाई थी,
वह 'आनँद' अनुभूत नहीं होता था।
जो कि 'शक्ति' से संचालित होता था।
बस एक सूक्ष्म 'आकाश' था आदि में,
समारंभ की सुप्रेरणा अपने में
गोल-गोल कर लगे लीक पर फिरने:

प्रसरण, संकोचन की गुह्य क्रिया ने
औ' घर्षण को था बस जन्म दे दिया,
परिरंभण का आह्वान था कर लिया:

इक अनन्त योग-राशि को बचा लिया।
जिसने इक सूक्ष्म 'अग्नि' को सचराया

इस प्रदीप्त उडु-क्रम को यहां भ्रमाया।

विद्युत्-'ऊर्जा' के इक महासिंधु ने
प्रमत्त अविरत नर्तन के द्वारा ही
अपने विचित्र तरंग-अणुओं का बस
आकाररहितता की एक विधा से
लघु अणुके भीतर विश्रमने के हित
हुआ और निर्माण पुंजताओं का,

औ' प्रकाश ने भा-अणुओं के तीव्रग,
औ' निज कौंधन की सूक्ष्मता यें यहाँ
चित्रित बनी हुई-सी बाह्याकारों-
इस प्रकार वास्तविक औ' असंभव-से
प्रत्यक्ष चमत्कार गया करवाया,
या कि साहसी 'मन' को ऐसा दिखता :
जो विचार को एक सत्य-न्यायी की
औ' व्यक्तिगत दृष्टि को निर्वैयक्तिक
और भूलधर्मी स्वबोध को औ' इस
पार्थिव प्रकृति-करण की चतुराई को
इस वस्तुपरक जगती के इक साक्षी
इस प्रकार संदिग्ध प्रकाश में उसे
जीवन की इस उलझी पहेलिका के
भूलों को लेकर उनके द्वारा ही
धीरे-धीरे कर इस आवरणी को
और नहीं तो, निज मन और बोध में
उसका ज्ञान, यहां एक अज्ञान का
औ' मानव इन सकल वस्तुओं में बस,
उनके भीतर, छलिया एक 'शक्ति' से
उसकी 'माया' की गाथा लखता है
वह अविरत गति जिसे 'काल' कहते हैं

यह विस्तृत, विशाल औ' सतत प्रवाही
जो अपने पुनरावर्ती स्पन्दन को
ये गोल-गोल फिरते कोल्हू-चक्कर
और इस सतत महा विश्व-नर्तन में
अचल-सरीखे दिखते सब पदार्थ ये

इस स्थूल योजना को रचनेवाले

था इक रहस्यमय आकार रचाया,
अपनी महा'शक्ति' को पिहित कराया;

तरह-तरह के गोचर आकारों का
स्वाँग रचाया गया कि बस इन सबका,
उद्घाटक, निज विस्फुलिंग को फेंका,

वाली इस जगती को बस प्रकटाया।
इस जगका अस्तित्व गया निरमाया,
प्रतीतिजन्य दृश्य इक गया दिखाया।

गद्दी पर ले जाकर बैठा देता,
एक सत्य सम है स्थित करवा देता,

और द्रष्टृवत् स्थापित करवा देता।

तार-तार को बस सुलझाना ही है,
उसको झपट 'सत्य' को धरना ही है,
उस आनन से बस विलगाना ही है।
बनकर श्रद्धा, विश्वास से विसर्जित,
शरीर ही तो है बस एक जगमगित,
जो इक विचित्र विधि से होतीं विरचित
किए गए कटु-मजाक को लखता है,
और शक्ति का चमत्कार लखता है।
उसके एक निगुह्य, रहस्यभरे-से
सदा अपरिवर्ती इक परिवर्तन में
गति, बस जैसे पकड़ी धरी गई थी,
फिर-फिर दुहराती, नवल बनाती है,
जो इक प्रवाह को रूढ़ बनाते हैं,

बस उस 'उर्जा' के ही स्वयमावर्ती सतत घूमनेवाले अरे चक्र हैं,
जो ध्यानमग्न 'महाशून्य' की आत्मा के द्वारा विस्तारित किए गए हैं
वे जीवन की, इन्द्रिय-बोधों की औ' इक जाग्रत् 'मन' की बाट जोहते हैं।
और 'स्वप्न-द्रष्टा' ने बस थोड़ी-सी थी अब अपनी पाहन-मुद्रा फेरी।
किन्तु 'अचित्' का अब इक सावधान अति महाकार्य यह था संपन्न हो गया,
और दृढ़ अपरिवर्ती नियमों द्वारा 'दैवयोग' को विवश दिया था गया,
तब जाकर 'प्रकृति' के सचित् नाटक के लिए दृश्य सुप्रतिष्ठित किया गया था।
तब जाकर 'आत्मा' की मौन औ' अचल निद्रा ने बस मानो करवट बदली,
छिपी 'शक्ति' इक फूटी मूक भाव से औ' धीरे-धीरे बस उमड़ बह चली।
बस इस विशाल 'जड़ता' के अंतर में जीवन का इक स्वप्न हुआ उद्बोधित
और 'अचित्' की माटी के भीतर अब जिजीविषा की हुई भूख इक जाग्रत्,
जीवन की एक सनक ने बस जगकर ख़ालीख़म 'काल' को और चौंकाया,
जो इस छूछी 'शाश्वतता' में जैसे थी एक-दिवस-जीवी बनकर आई,
इक मृत 'अनन्तता' के भीतर मानो अत्यल्प कण सरिस एक जुगजुगाई।
इक सूक्ष्मतर श्वास ने मृत 'जड़ता' के इन आकारों को जीवंत कराया।
जग की बँधी-नपी ताल इक सचेतन चीत्कार में कि जैसे बदल गई थी,
महान् 'सर्पशक्ति' वह एक अचेतन 'ऊर्जा' से जुड़वाँ सरिस जुड़ गई थी।
जीवित द्वीपों ने और कर दिया था जीवनहीन महाकाश को बिन्दुकित,
आकार-रहित एक वायुमंडल में जीवन के कीटाणु बने आकारित।
इक जीवन ऐसा जनमा बस जिसने था 'जड़' विधान का अब किया अनुसरण,
उसकी गति-विधि के सब उद्देश्यों से निपट अपरिचित और अजाने-से बन।
यह गति यद्यपि परिवर्तनशीला थी किन्तु जहां की तहां बनी रहती थी,
उसी विरोधाभास को यथा अपने बस फिर-फिर वह दुहराती चलती थी,
जिसने ही उसको बस जन्म दिया था:

उसकी अशान्त, अस्थिर सुस्थिरताएँ,
'काल' के महा प्रवाह में बस अविरत गति से अपनी लगीं कि फिर-फिर घटने,
और विचाररहित इन आकारों में सतत जग उठी सोद्देश्य क्रियाओं ने
अंतर में बन्दी दिव्य 'संकल्प' की उच्छ्वासों को प्रकट किया अनजाने।
निद्रा औ' जागृति एक दूसरे की पड़ी भुजाओं में थीं बन आलिंगित,
बस उस 'विश्वात्मा' के पहले-पहले मंद स्फुरणों में कंपित औ' सिहरित,
असहाय-से तथा अस्पष्ट-से बने दुख-सुख दोनों सँग-सँग हुए उपस्थित,
और प्राण की एक महान् शक्ति जो नहीं अभीतक चल औ' बोल सकी थी
फिर भी गभीर आनँद को इँगिताती वह इक सुन्दरता में फूट पड़ी थी:
और एक गूंगा, अबोल संवेदन,

ज्ञानरहित जगती के अंतर-स्पंदन, इक तंद्रिल मूर्च्छा में दौड़ पड़े थे,

इक अस्पष्ट अनिश्चित पुलकन, धड़कन
और भटकती एक ताल की थपकन
जागा उसमें एक मंद उन्मीलन,
इक प्रारंभिक अहम्-भावना जनमी
जगा एक देवत्व यहां वह लेकिन
यथा प्रकृति ने गृह के निज मुद्रांकित
इन अपनी पार्थिव मानव-आंखों में
या कर्मों को निरखा करती हैं पर
उनको जड़ समान दिखनेवाली उस
प्राणशक्ति ने अपने हृदय-स्पन्द में,
वहाँ चेतना को इक धरा छिपा कर,–
जिसमें अभी बोध के सारे स्पंदन
औ' इक मन को, जो बस दबा पड़ा था
औ' इक आत्मा को, जो बनी पड़ी जड़
पहले उसकी वाचा नहीं जगी थी

बस विश्व-शक्ति से परिपूरित बनकर
बस अपनी मूलों के साथ-साथ वह
किरणों औ' पवनों के आघातों पर
स्व कोंपलों की इच्छा-अंगुलियों को
यद्यपि उसकी शक्ति सूर्य के प्रति औ'
पर वह सुख-परिरंभण जिसने उसको

सुन्दरता और रँगों की आभा में
भीतर-ही-भीतर एकाग्र बनी-सी
आखिर उसी मोहिता 'अमित शक्ति' ने
इक उत्तेजित, स्पन्दित और बुभुक्षित,
तभी कँपा धीरे से स्पर्शबोध इक
और अनिच्छुक इस ढांचे को उसने
इक आद्भुत्य भरे से सचित् रूप का
समाधिमग्न पड़ा यह तरंग-सागर
औ' इन ज्योतित विलोड़नों ने फिर उठ

औ' इस पार्थिव शरीर के भीतर भी
अंतर-प्रेम और आत्मा के साक्षी

मानो उसमें से अब लहर उठी थी,
मानो गुप्त दृष्टि एक खुल गई थी।
और जनन-क्रम का बस जन्म हो लिया।
सपनाते अंगों में ही पड़ा रहा;
द्वार खोलने से इंकार कर दिया।
जो केवल आकार लखा करती हैं,
बन्दी 'ईश्वर' को न देख पाती हैं,

जहां विकास, शक्ति लुककर रहते थे

गूंगे थे औ' दबे हुए रहते थे,
जिसे न अभी भान भी था विचार का,
थी, बस जिसका अस्तित्व मात्र ही था।
और न थी उसने आवाज़ उठाई,
न किसी गति को और सहन कर पाई :
इक जीवंत शक्ति से प्रेरित होकर
रक्षित भू से ही चिपटी पड़ी रही।
मूक भाव से ही कँप और सिहरकर
उसने आज निकाला था औ' बाहर।
प्रकाश के प्रति लालायित रहती थी,
जीवन दिया और श्वासा अरपी थी,
उसका तो वह अनुभव न कर सकी थी;
बनी हुई अति संतुष्ट औ' प्रहर्षित
अपने सपने सपनाती रहती थी।
एक दिवस देखा बस जगकर बाहर :
लगी मनःशक्ति को खोजने सत्वर,
विचार ने शीश उठा बाहर झाँका,
जगने को विवशाते हुए कि ताका।
चमत्कार बस हुआ आज तक्षित था;
जीवंत प्रतिक्रिया-लय में लहराया,
मस्तिष्क, स्नायु को उद्‌बुद्ध बनाया,
'जड़ता' में आत्मा का भान जग उठा,

इक वीक्षण का जादू था उमग उठा।

अदृष्ट 'संकल्प' से समुत्प्रेरित बन
संभूति की इक असीम प्रेरणा के कण-कण जैसे चहुँदिशि फूट पड़े थे,
औं' निगूढ़ आत्मा की स्पष्ट झांकियों के दर्शन भी मिलने यहां लगे थे,
भावी में होनेवाले आकारों के संदेहशील बीज और उर्जा
द्रव्यों की एक अचेतन तंद्रा से उठकर बस झटपट जागने लगे थे।
शुरू हो गया पशु-पक्षी का सर्जन
धरा और आकाश बीच जैसे वह रेंगा, दौड़ा, उड़ा, निनाद गुंजाया,
और मृत्यु के पीछा करने पर भी जीवन की आशा को नहीं भुलाया
क्षण भर को भी अगर जी सका तो भी जीते रहने में इक मोद मनाया।
यों बस पशुता की आदि मूल से ही गया इस मनुजका सर्जन करवाया,
प्राणिक मनोदशा को उन्नत करने के हित बस इक चिन्तक मन था आया।
अस्पष्ट और मिश्रित एक 'प्रकृति' का यह जैसे एक तीक्ष्णधार यंत्र था
औं' वह बुद्धि शक्ति था, जो बस आधी साक्षी द्रष्टा थी, आधी मशीन थी।
उसके कार्य-चक्र का यह ऊपर से दिखलाई पड़नेवाला इक चालक,
उसकी गति का यह प्रोत्साहन-कारक,
और प्रवह का उसके लेखन-कर्ता,
उसकी चपल शक्तियों के ऊपर निज विधान को जो दृढ़ करके है रखता,
इक सूक्ष्म यंत्र की यह प्रमुख कमानी,
जिसने अपने उपभोक्ता प्राणी को उन्नीत बनाने की सुअभीप्सा की,
ध्यानमग्न कारीगर प्राणशक्ति के
अनगढ़-से इन प्रारंभिक चरणों को, उसकी हृदयवासिनी 'महाशक्ति' की
एक क्रांत दृष्टि तक परिष्कृत करके, संस्कृत करवाने की सुकामना की:
तभी अश्वपति ने निज दृष्टि उठाई;
और 'स्वर्ग' के प्रकाश ने बस उसको एक सुघर 'आनन' की छवि दिखलाई।
गुह्य नींद में किए हुए कार्यों पर अपने ही खुद जकित-चकित-सी होकर
लगी देखने उस जगती को जिसको रचा उसीने था तंद्रा के भीतर:
लिया फिर पकड़ महान् यांत्रिकता को जग की, अद्भुत आश्चर्य से उभर कर;
और रुकी वह कुछ अपनी आत्मा के, तथा ध्येय के, जान-समझ लेने को,
बनकर ध्याननिमग्न और फिर उसने
एक सचेत नियम-विधान पर चलकर स्वकार्य करने की निपुणाई सीखी,
औं' उसके लय से निबद्ध चापों को इक द्रष्टा-ताल ने कि पंथ-प्रगति दी
औं' विचार ने उसके सहजज्ञान को संकल्प-फ्रेम में बस एक कस दिया,
उसकी अंध-प्रेरणा को इक उज्ज्वल बोध ने प्रकाशित और था कर दिया।
अपने भावावेग के समूहों पर निज प्रत्यावर्ती स्वतः क्रियाओं पर,
'अचित्ति' की धकियाई, नीत प्रगति पर,

एक अचिंतित फिर भी पूर्ण व्यवस्थित
'आत्म-तत्त्व' के आभासी स्वरूप को
विकृत आत्मा की इक जीवित प्रतिमा
'जड़ता' के कर्मों के ऊपर उसने
रासायनिक सूक्ष्म कोषों के द्वारा
औ' हाँके जा रहे एक बल द्वारा
जो कुछ नहीं बन सकी थी अब तक, वह
कोई उन्नत 'अज्ञात' की ओर वह
और तभी बस नीचे भी थी उसने
उन्नत एक दृष्टि खुल पड़ी कि जिसने
रंग-बिरंगी छायाओं ने, औ' अब
मर्त्य भूमिका के ऊपर, अविनश्वर
द्रव्यों के इन क्षणभंगुर रूपों को,
और तीव्र स्वर्गीय एक कौंधन भी
अंतरात्मा की इक दीप्त किरण बस
औ' आदर्श-ज्योति के आभासों से
सतत छू दिया उस तत्त्व को, कि जिससे
बस जो न देर तक टिक सका यहां पर
देवदूत आत्मा के समुद्वहन हित
एक अल्प 'काल'-श्वास से बन निष्प्रभ
औ' वह आनँद जो नश्वरता को भी
यह विरला एक अतिथि जो आया पर
और घड़ी भर को आकर जो सारे
आशाएँ जो नीरस यथार्थताओं
रागवासनाएँ और चमकते ही
उन सबने साधारण पृथ्वी को था
किसी अजान 'शक्ति' से समुन्नीत बन
औ' इस मानव ने निज अल्प क्षेत्र पर

इक आत्मा जो शरीर और श्वास के
वह इक 'अनभिव्यक्त' की छाया के-सम
जो इन नन्हें-नन्हें-से वैयक्तिक
पर पार्थिव शरीर पर जिसने अपने
अरे 'प्रकृति' के लंबे और मंद गति

चापों की गति के अविरत रहस्य पर,
लाकर था अब आरोपित करा दिया
को लाकर अब स्थापित था करा दिया।
एक संचकित विधान को लदवाया,
एक विचारक काया को निरमाया
इक प्राणी के आकार को रचाया।
बनने को, आशा की ज्योति जग उठी;
निज सपने को लेकर घूम थी पड़ी;
उसी 'परम' की श्वास एक अनुभव की।
उन उच्च भूमिकाओं की दिशि ताका,

आकर मानो था कि उरेहा, आँका,
कभी-कभी थी जैसे वहां आ सकी,
अंतर औ' शरीर पर थी कि आ गिरी,

ही तो ये पार्थिव सपने सिरजे हैं।
वह मानव का क्षणिक प्रेम अब प्रकटा,
अहं-पतंगे का पक्ष-द्वय खुल पड़ा,
इक लघु दिन का सतही प्रकाश झलका;
क्षण भर के हित भूल गया था, आया,
प्रथम प्रहर में ही बस था चला गया,
द्रव्यों को था सुन्दरता अरप गया,
में परिवर्तित हो धूमिल बन जाती,
टूट-फूट मिट्टी में जो मिल जातीं,
अपनी क्षणिक ज्वाल से कि जगमगाया।
नन्हा, नगण्य प्राणी जग में आया,
टिकने-बसने और भोग करने को,
तथा यातना सहने औ' मरने को,
एक अथक श्रम का अभियान चलाया।
विनष्ट होनेपर भी नष्ट न होता,
वहां सदा-सर्वदा ही उपस्थित था,
आकारों के पीछे छिपा खड़ा था,
अधिकार नहीं घोषित कर पाया था।
श्रम को जैसे अपनी अनुमति देते

अपने अज्ञानता-रचित कार्यों को स्व तटस्थ दृष्टि से अविराम निरखते,
इक अस्पर्श्य और अज्ञात रूप से महान् 'साक्षी' अरे यहां बसता है,
औ' उसकी 'महिमा' जो यहां छिपी है उसको कोई नहीं खोल सकता है।
सर्वव्यापिका एक महा'प्रज्ञा' है जो कि गुह्य जगती का शासन करती,
एक महा 'नीरवता' है जो सारे 'प्राण जगत्' की हलचल सुनती रहती,
दौड़ रही घड़ियों के महा प्रवह के कोलाहल को देखा-परखा करती,—
जो सुदूर की एक किसी वेला की शान्त महत्ता की दिशि बढ़ा जा रहा।

चिन्तन निमग्न 'अचित्ति' की छाया में बिन जाने यह विशाल जग फिरता है;
गुमे हुए अंतरार्थों की चाबी को यह भीतर गोपित कर रखता है,
इक वाणी को जिसे न हम सुन पाते मानव उर में पिहित किए रहता है।
'आत्मा' का यह पहेली भरा श्रम है,
यह इक चौकस मशीन है बस, जिसका उपयोग नहीं कोई अरे जानता,
यह एक कला है इक प्रवीणता है जिसका कुछ भी अर्थ नहीं है दिखता,
यह सूक्ष्म, परिष्कृत और सुसंपादित
सहगायन में बँधा हुआ-सा जीवन
बस उद्देश्यरहित स्वर-संगतियों को अपनी सतत बजाया ही करता है।
सत्य की दिशा से निज पीठ फिराए मन बस सदा सीखता ही रहता है,
और असलियत जान नहीं पाता है;

औ' अपने सतही विचार से सतही जग-नियमों का सुअध्ययन करता है,
जीवन-चापों को परखा करता है, 'प्रकृति'-प्रक्रिया को निरखा करता है
पर किस लिए कार्य में वह निरता है
और किसलिए हम जीवन जीते हैं इसका पता न तनिक लगा पाता है;
औ' उसके उपयुक्त कल्पना-कौशल के अथक प्रयत्न को लखा करता है,
औ' उसके सकल सूक्ष्मविस्तारों में धैर्यशील सुजटिलता को लखता है,
उसके अविरत अंतहीन कार्यों के महान् लेकिन क्षुद्र पुंज के भीतर,
प्रवीण आत्मा के एक साहसी औ' इक कल्पक परियोजन को लखता है,
उसके निरुद्देश्य एक योगफल में सोद्देश्य अंक-राशि जोड़ देता है,
अपनी त्रिभुजाकार सुडौल मंज़िलों,

औ' अपने ही आप रची सुसँवारी
हुई सघनता से रक्षित नीवों पर, सतत ऊर्ध्वगामी आच्छादनी छतों
के ढेर को प्रतिष्ठित कर देता है,

औ' पौराणिक वातावरण में गढ़े, उठा कल्पना-दुर्गों को देता है,
या एक रहस्यात्मक गुह्य चन्द्र तक सपनों की सीढ़ी लेकर चढ़ता है:
उसके भंगुर सर्जन, नभ को इंगित करते हैं, उससे जा टकराते हैं:

औ' मन की अनिश्चिता मंद सतह पर
जगत्-कल्पना की एक योजना बस श्रम और पसीने से गढ़ी गई है,
या टुकड़ों को जोड़-जोड़ समग्रता की मंज़िल कष्टों से रची गई है।
अरे विराट् योजना यह, हम जिसके एक भाग हैं, मन के हित अगम्य है,
बुद्धि के लिए इक गोपित रहस्य है,
अरे हमारी आखों को बस लगते इसके संवाद सकल विसंवाद हैं,
क्योंकि जानते हैं हम नहीं कि ये किस महोद्देश्य को यहाँ सिद्ध करते हैं।
सभी कार्यकर्त्री शक्तियाँ विश्व की अज्ञेय रूपसे कार्य सँवरती हैं।
और विशाल ऊर्मि की एक कोर ही हम अपनी दृष्टि से देख पाते हैं,
और हमारे करणों के समीप तो वह उन्नततर महा प्रकाश नहीं है,
और हमारा संकल्प नहीं प्रभु के 'संकल्प' से सुसाम्य जोड़ पाता है,
तथा हमारा सीमित अंतर-दर्शन अंधा है औ' आवेग में पगा है।
और 'प्रकृति' के गुह्य कला-कौशल में भाग बंटाने में अति अशक्त होकर,
द्रव्यों के अंतर-सत्त्व और स्पन्दन की अनुभूति हेतु अति अयोग्य बनकर,
अरे हमारी बुद्धि नहीं जीवन के महासिंधु की थाह लगा सकती है,
खाली उसकी लहरों को गिनती है औ' फेनों की माप-जोख करती है,
वह यह भी जानती नहीं कि कहाँ से ये गतियाँ आ-आकर हमें छू रहीं,
क्यों छू-छूकर आगे बढ़ी जा रहीं,
और देखती नहीं कि तीव्र बाढ़ ये किस ओर अचक दौड़ी चली जा रही:
वह तो स्व शक्तियों को प्रणालियों में फ़क़त बहाने का प्रयत्न करती है,
औ' उनके बहाव को लेकर मानव –
उद्देश्यों की ओर घुमा देने की ही आशा में सदा लगी रहती है:
पर उसके सारे के सारे साधन 'अचित्' खजाने से ही तो आते हैं।
ये अस्पष्ट विशाल विश्व-ऊर्जाएं अदृष्ट रह निज कार्य किया करती हैं,
जिनका मंद क्षरण औ' धाराएँ ही फ़क़त हमारे हिस्से में आती हैं।
और वास्तविक 'प्रकाश' से सुदूर ही रहकर यह निज मन जीता जाता है,
शाश्वतता के इक नन्हें कोने में
'सत्य' के फ़क़त थोड़े से टुकड़ों को गहता और पकड़ता रह जाता है,
ये अपने जीवन उस सिन्धु-शक्ति की जीवित जाग्रत् सँकरी उपखाड़ी हैं।
अपनी सारी सचित् क्रियाओं के औ' मुद्रित बने पड़े बस आदिस्रोत हैं,
लेकिन उन छायाधिष्ठानों के सँग उनका वार्तालाप नहीं है होता;
और सखा-अवयवों को हमारे इन कोई अंतरबोध न गठिया पाता;
अरे हमारे सारे कर्म यथा हैं कोई गुप्त गुफा से निकला करते,
मन जिसकी कि उपेक्षा करता रहता।
और हमारी गहन अतलताएं सब अपने से ही अज्ञ बनी रहती हैं,

यहां तक कि यह काया भी तो अपनी रहस्यमय इक विक्रयशाला ही है:
यथा धरा की मूलें सभी हमारी यहीं धरा के नीचे छिपी पड़ी हैं
उसी प्रकार हमारे मनस्-प्राण की मूलें हमसे अदृष्ट बनी पड़ी हैं।
और हमारे स्रोत यहां समीप ही नीचे गोपित करके धरे गए हैं;
वे अपने अंतर में ही बसते हैं;

औ' उपचेतन की इस महाभित्ति के
पीछे कार्यनिमग्न शक्तियों द्वारा अंतरात्माएँ चालित होती हैं।
आत्मा की अवचेतन गहराई में इक 'सत्ता' जो सदा कार्य करती है,
पर उसका अर्थ जानने के हित जो कुछ भी चिंता नहीं किया करती है,
औ' विचार-बिन मानीटरों, मुंशियों का बस उपयोग कर लिया करती है,
यही हमारी सकल विचार-क्रिया का औ' अनुभव का एक मूल कारण है।
अवचेतन 'मन' के कन्दरा-निवासी
औ' हकलानेवाले ये अपशिक्षक अरे मंद व्याख्याकार ये असंस्कृत,
निज क्षुद्र कार्य-चक्रों से बस परिचित शरीर-कोषों के लेखे में आरत,
और गुह्य यांत्रिक रचना के भीतर
उपचेतन की रहस्यमयताओं में पड़े हुए जो रहते बनकर आवृत,
वे इक गुह्य अदृष्ट तारबर्क़ी की उस संकेत-'वाक्' को धर लेते हैं,
जिसके तालबद्ध छंदोमय गायन
'विश्वशक्ति' के महान् संदेशों को प्रतिपल संकेतित करते रहते हैं।
जीवन की इस अंतर श्रुति के भीतर इक कानाफूसी-सी सुन पड़ती है,
जो अवचेतनी गभीर कंदराओं से अविरत प्रतिध्वनित हुआ करती है,
और गिरा सिहर कर उछल पड़ती है विचार द्रुत आन्दोलित हो उठता है,
अंतर जैसे थिरक-थिरक उठता है उत्तर में संकल्प सजग बनता है,
औ' मानव की शिरा नसें-नाड़ी सब उस आवाहन का अनुपालन करते।
औ' इन निगुह्य घनिष्ठताओं को निज जीवन सतत अनूदित करते रहते।
बस इस जग में सब कुछ गुप्त 'शक्ति' का ही इक व्यापार है तथा विनिमय है।

बस अपना प्राणिक मन तो यह केवल विचारशील एक पुत्तलिका भर है:
उसका चुनाव तो फ़क़त आधिभौतिक इन्हीं शक्तियों द्वारा सृष्ट कार्य है,
जिन्हें जन्म का अपने पता नहीं है निज उद्देश्य और कारण न ज्ञात है,
औ' जिस बृहत् अभिप्राय की सिद्धि में लगी हैं न उसकी झलक भी प्राप्त है।
इस मंद-प्रगति, धूसर और कर्दमित मानव के निम्न औ' पतित जीवन में,
तिस पर भी इन लघु ओछी बातों का तीखापन है भरा हुआ बस जिसमें,
वह मानव की चेतन 'पुत्तलिका' फिर धकियाई जाती है शत-शत विधि से
जो धक्के का तो अनुभव करती है पर अजान है, उन अज्ञात करों से

जो उसको हैं अविरत हाँका करते।
क्योंकि नहीं लख सकता है कोई उस
अपनी ये सब आकारी सत्ताएँ
कर्म हमारे उनके कर-संचालित
औ' आवेगभरा संघर्ष हमारा
अपनी ही शक्ति के महान् स्रोत से
इस सामूहिक 'समग्रता'-नाटक में
बस प्रकाश की एक अनुसरणकारी
वे खुद तमसावृत आत्माएँ हैं औ'
और अनिच्छुकता से एक महत्तर
वे बस 'नियति' की नियन्ता इन्जिन हैं,
उस विशाल भीषण 'संकल्प' की यहाँ
वे उस 'अज्ञात' की उपकरण हैं, जो
और 'प्रकृति' के इस निम्न राज्य में वे
औ' इन कर्मों में जिनको यह नश्वर
मानव अपने ही कर्म समझता है
या 'काल' की प्रमादी एक सनक से
और इस असंगत पथभ्रष्ट खेल में
वे मानव-जीवन को एक हाथ से
उनकी आदिम धातु महान् 'सत्य' के
उनकी संकल्प-शक्ति फ़क़त 'दानवी'
औ' मानव-अंतर पर तो वे अपना
मानव-प्रकृति की सकल मुद्राओं में
और क्षुद्रता-निर्मित तुच्छ जीवनों

अनगढ़ मृण्मयता औ' तरह-तरह के
औ' मानव की भौतिक स्थूल शिरा से
वे आत्म-संकल्प की सभी हमारी

या वे आत्मा के सुन्दर मन्दिर को
अपने अहं-कारखानों, बाजारों
और क्षुद्रता के रूपों औ' रंगों
औ' जीवन-सुखान्त के चित्र-विचित्रित
या कि हमारे जीवन के दुखान्त के
और कर्म को संयोजित करती हैं

गोपित व्यंग्यपूर्ण नाट्यमंडली को,–
हैं बस काष्ठ पुतलियाँ जिसकी ही तो,
सतत घूमते अजान क्रिया-वलय हैं,
उनकी सुख-क्रीड़ा का एक दृश्य है।
अपने-आप स्वयं ही अज्ञ बनी-सी
वे अपना खेल खेलती रहती हैं।
तम की ही वे एक कार्यकर्त्री हैं,
तमावृतों को संचालित करती हैं,
'सत्ता' के कार्य को सिद्ध करती हैं।
'दैवयोग' की जो कि व्यवस्थापक हैं,
विकृत बनी-सी पतिता प्रणालियाँ हैं,
हमको निज उपकरण बना लेती हैं,
'महाशक्ति' से सज्जित बनी हुई हैं,

'नियति'-असंगतियों को ले आती हैं,
इक अनिष्ट भावी को जनमाती हैं।

बस दूसरे हाथ तक उछालती हैं।
साथ सतत विद्रोह किया करती है,
बल के सम्मुख अवनत बनी हुई है।
बस अति ही अधिकार किए रहती हैं,
वे बस अपना हाथ दिए रहती हैं।
को रचनेवाली नगण्य शिल्पी हैं,
स्वार्थ, कामना की इक अभियंता हैं,
निम्न कर्दमित रोमांचों के द्वारा,
निकली भद्दी प्रतिक्रियाओं द्वारा
कुसंकुलित इमारतों को रचती हैं
अर्ध प्रदीप्त विचार-महल गढ़ती हैं

से चहुँमुख बस घेर-घेर लेती हैं।
की सर्जक एक सूक्ष्म कलाकार हैं,
इन भूमितलों की इक गढ़नहार हैं,
नाटक की वे सुचतुर रचनहार हैं,
तथा परिस्थिति को संबंधित करतीं,

मनोदशाओं का नाना-आभरणी
औ' एक कल्पना-गायन हैं रचतीं।
मानव के अज्ञता भरे अंतर की
ये बुद्धिहीन औ' अज्ञानी प्रेरक,
और लड़खड़ाती-सी उसकी वाणी,
औ' उसके संकल्प की सतत शिक्षक,
तुच्छ वासना-आवेगों, क्रोधों की
और घृणा, ईर्ष्याओं की संचालक
परिवर्तनशील चल विचारों की औ'
क्षुद्र भावनाओं की ये आरंभक,
अपनी छद्म वेशभूषाओं द्वारा
ये अदनी और तुच्छ माया-सर्जक,
जो धूमिल-वर्णी एक रंगमंच की
सज्जा की हैं चित्रकार औ' रंजक
औ' मानव-जीवन के अभिनय की ये
पट परिवर्तन करनेवाली क्षिप्रग,
अर्ध-प्रकाशित-सी इस रंगभूमि में
वे अपने कार्यमें सदैव लगी हैं।
फिर बस हम निज भाग्य-रेख रचने में
असमर्थ औ' अयोग्य सिद्ध हैं होते
केवल अभिनेता-सम बोला करते
बड़े गर्व से अपना अभिनय करते,
जब तक जीवन नाट्य न पूरा कर लें
औ' ज्योतितर 'काल' में न बढ़ जाएँ
एक सूक्ष्मतर 'देश' को न अपनाएँ।

इस प्रकार वे इक बौने विधान को
हैं मानव के ऊपर थोपे रहतीं,
औ' मानव की ऊर्ध्व संचरण की इस
धीमी गति को भी हैं रोका करतीं,
औ' फिर उसकी इस अत्यल्प प्रगति को
अचक मृत्यु द्वारा समाप्त कर देतीं।

अरे यही तो क्षणभंगुर प्राणी के
दैनिक जीवन की इक करुण कथा है।
जब तक यह मानव प्राणी स्वामी है

जब तक यह जड़ निम्न प्रकृति आत्मा को
चारों दिक् से आवृत कर रखती है
और बुद्धि की बाह्य निमग्न दृष्टि यह
जब तक लौकिक हेतु सिद्ध करती है
औ' जैवी आनँद में रत रहती है,

तब तक एक असाध्य क्षुद्रता अविरत
मानव दिवसों का पीछा करती है।
बस जब से चेतना यहां जनमी है
तब से जीवन का एक ही तौर है,
कीट तथा पशु औ' मानव के भीतर
उसके स्तर में कोई फ़रक नहीं है,
उसका आदिम तत्त्व अपरिवर्ती है,
साधारण पथ को ही अनुसरती है।
माना नए नमूने तो आते हैं
सुठि-सुन्दर ब्योरे विकसित होते हैं,
तरह-तरह का विचार आ जुड़ जाता
और जटिल चिन्ताएँ बढ़ जाती हैं,
माना धीरे-धीरे कर प्रदीप्ततर
बाह्य रूप धारण करती रहती हैं,
फिर भी तो इस मानव तक में उसका
कथानक अभी तुच्छ औ' दरिद्री है।
एक स्थूल संतुष्टि है सतत उसकी
पतितावस्था को प्रसारती चलती।
उसकी अल्प सफलताएँ भी तो बस
आत्मा की असफलताएँ हैं होतीं,
सतत चल रही दुख, शोक की कथा पर
सुख आकर इक विराम चिह्न लगाता,
अपने जीने के अधिकार के लिए

कटुता, क्लेश क्लान्तता से अपनी वह
भारी क़ीमत को है चुकता करता,

बस इक तमसावस्था है जो कि अचित्
इक निद्रा, जो मृत्यु की नक़ल करती
स्रष्टा-शक्ति की एक बौनी महिमा
ही मानव के इन भंगुर कार्यों में
जो उन कार्यों के इस क्षर-स्रष्टा के
कभी-कभी देवों के अति हर्षों का
औ' इक 'वामाचारी' प्रमत्तता की
और अगर वह सुमधुर औ' आनँदमय
पागलपन, उसके जवाब देते-से

एक सिंह-धर्मा सुमहत्ता है जो
औ' ये तुच्छ मनोरंजन उसके बस
जीने और पनपने के हित पाई

उसकी लघु जीवन-घटिका बस लघु-लघु
और अल्प दिवसीय मित्रता उसकी

औ' इस उदासीन-सी भीड़भाड़ में
जीवन के नन्हें नक़्शे पर उसकी
यदि उसमें कुछ महत् भाव जगता है
तो निज आनँद के उन्नत तनाव को

औ' उसके विचार में उसकी अस्थिर
उड़ान को शाश्वत औ' अमर बनाने
और कला की दीप्त चमक भी उसकी
संगीती जादू वह स्पंदन है जो
बस वह अपने इक उत्पीड़ित श्रम में
अपनी विचार-संकुलता के भीतर
कभी-कभी बस अपने जीवन-दुःख के
घावों को भर-भर लेने की खातिर
निज पीड़ित मस्तक पर प्रकृति के महत्
उसकी नीरवता के द्वारा अपनी
'उसकी' शान्त और थिर सुन्दरता में
नव-जीवन का ऊषोदय होता है

अंतिम पारिश्रमिक मृत्यु है पाता।
मूर्च्छा में ही पगी-पगी रहती है,
वह ही उसकी निज विश्रांति बनी है।

सतत प्रेरणा इक भरती रहती है,
पीछे भी तो यहां बची रहती है।
है वह इक सपना भी देखा करता,
भाव-भंगिमा को बढ़ते है लखता,

अंगों से, मूर्छित हो रहे हृदय से
होता हुआ कदाच निकल जाए तो,
उसकी आत्मा को विदीर्ण कर देगी;

ऊर्जा को उत्तेजित कर जाते हैं,
उसका तथा अपव्यय करवाते हैं।
बातों में ही अरे बीत जाती है।
अनेक कलहों से पूरित होती है,
एक संकुचित प्रेम, घृणा औ' ईर्षा
मिली मित्रता की इक स्पर्श-ऊष्णता,
हृदय-योजना रेखायित करती है।

प्रकटाने में उसकी मन्द उड़ानें,
अति ही दुर्बल औ' अशक्त होती हैं,–

की वह महती शक्ति नहीं होती है।
आँखों का इक कौतुक बन आता है,
कुछ झनकार नाड़ियों को जाता है,
अपनी चिन्ताओं की व्याकुलता में
एक कशमकश-की भारी दबान में,

शान्त करों को खींच, स्पर्श-सुख लहता,
आत्म-यातना से है बच-बच जाता;
उसका विशुद्धतम आनँद बसता है।

फिर एक महान् चेतना की विस्तृत
इस प्रकार 'आत्मा' का सुश्वास उसको

क्योंकि उस महाशक्त अतिथि के धारण
सब कुछ बनकर रूढ़ि, विरस रह जाता
या भीषण एक उत्तेजना जगकर
और दिवस उसके कटु संघर्षों के
और वासना की इक ऊष्ण चौंध मे
आवेग, कामना के लोहित-रंगी
युद्ध और हत्या तो जैसे उसके
निज अंतर के प्रति अभिमुख बनने का,
अपने विलुप्त स्वत्व को खोजने का,
अपनी मृत आत्मा को औ' पाने का
उसके जीवन का गतिचक्र और बस
उड़ सकता है लंबे मार्ग पर नहीं,
और 'काल' की बोझिल गति से यदि वह
तो 'विधि' के मंद मार्ग पर बस अपने,
औ' अंतर जो कि भागता चलता है

या तो फिर वह चलता ही रहता है
अरे बहुत थोड़े-से ही जन हैं जो
उसका सब कुछ एक मंद्र सप्तक की
जानी-बूझी सी अपनी उड़ान के
उसका सारा ज्ञान 'अज्ञता' के ही
एक बार भी उसका बल फिर तो बस
और स्वर्ग के आनन्दातिरेक की
फिर आनँद जो द्रव्यों में सोता है
वह नन्हें जीवन-सुख के स्वर में बस
फिर यह अल्प कृपा का एक सहारा
औ' यह उसकी अगणित विपत्तियों के
औ' उसको उसके ही नन्हें जग के
बस इस साधारण सामान्य जाति से
भावी कल की आशाओं औ' अपने
और पुराने जाने-पहचाने मे

विराट्ताओं से बाहर लखता है।
कुछ क्षण के हित प्रेरित तो करता है,
किन्तु शीघ्र ही पीछे फिर जाता है;
करने को मानव-बल नहीं बना है।
सब कुछ इक दैनिक रेढ़न बन जाता,
रंगीन प्रमोदों को ले आती है :
रक्त वर्ण से रंजित हो उठते हैं,

दागों से बस दाग दिए जाते हैं;
वंश-स्वार्थ का एक मनोरंजन है।

उसके पास तनिक भी समय नहीं है।
अति ही लघु एक धुरे पर भ्रमता है,
बस केवल रेंगता हुआ चलता है,
अपने, अधीर हो-हो भी उठता है
इक शाही शीघ्रता किया करता है,
वह शीघ्र ही हाँफने फिर लगता है,
हारा-थका डूबने-सा लगता है;
और कभी भी अंत नहीं पाता है।
एक महत्तर जीवन तक चढ़ सकते।

सँग ही जैसे अपना साम्य मिलाता।
अरे भवन में तो है, निवास करता,
उस 'सर्वशक्तमत्' तक है न पहुँचता,
तो झांकी है मुश्किल से ले पाता।
और जागने का प्रयत्न करता है,
उसके भीतर से फट-फट पड़ता है,
उसका स्थिराधार ही बन जाता है,
बोझों को हल्का कर-कर देता है,
साथ-साथ सन्तुष्ट किए रहता है।
वह अपनी सुतृप्त बनकर जीता है,
विचार के प्राचीन उन्हीं चक्रों की,
उन्हीं स्वार्थों और कामनाओं की
मोटी, सीमित बाड़ बना रखता है,

यों बस उस 'अदृश्य' से वह इस अपने नन्हें जीवन का बचाव करता है,
अनन्तता के सँग औ' उसने अपनी सत्ता की उस सगी बन्धुता को तो
निज से दूर कहीं निज अंतरतम के भीतर बन्दी बना-बना रक्खा है,
अंतर निगुह्य 'प्रभु' की सुमहत्ता को एक बाड़ से दुरा दुरा रक्खा है।
क्षुद्र रंगशाला के इस नन्हें से ––
नाटक में बस इस नगण्य अभिनय हित उसकी सारी सत्ता रची गई थी,
'तारक-विशालता' की विराट् चितवन
के नीचे उसने इक लघु प्रदेश में अपना डेरा-खेमा खड़ा किया है।
औ' अब तक जो कुछ सम्पन्न हुआ है उस सब कुछ का वह ही शीश-मुकुट है।
इस प्रकार इस महान् सर्जन-श्रम का औचित्य यहाँ आकर सिद्ध हुआ है,
जग का अग्रिमतम परिणाम यही है, और पराकाष्ठा 'प्रकृति' की यही है
लेकिन, यदि इतना ही सब कुछ होता छिपा न तात्पर्य अन्य कोई होता
औ' जो कुछ दिखलाई पड़ता है बस यही समग्र और पूर्ण अर्थ होता,
औ' यदि यह एक पड़ाव भर नहीं था जिससे होकर हमें गुज़रना ही था,
'जड़ता' से लेकर शाश्वत 'आत्मा' तक,–
जिसने जगत् रचाया उस 'प्रकाश' तक, इन सब द्रव्यों के आदिम 'कारण' तक
की यात्रा का, बस ठहराव न होता,
तो फिर मन की सीमित दृष्टि की अरे रची व्यवस्था ठीक कही जायेगी, ––
यही कि सब सत्ता, 'काल' में हमारे घटी हुई एक अचानक घटना है,
या कि एक माया है, बाह्य दृश्य है और अचानक उठी कि एक सनक है,
इक सर्जक विचार का असद्भास है,
जो दो विरोधियों बीच घूमता है, ––
दो अवास्तविक ध्रुवों मध्य सरता है,
एक अचेतन 'बल' है, जो संवेदन औ' ज्ञान के लिए प्रयत्न करता है,
औ' जड़ जो 'मन' के द्वारा अपने को पढ़ने का संयोग एक पाता है,
औ अचेतना एक राक्षसी ढँग-से आत्मा को बस जन्म दिया करती है।
कभी-कभी तो सब कुछ इक अवास्तविक और दूर की-सी वस्तु दीखता है :
और विचारों की कल्पित जगती में अपनी, हम सब जीते-से लगते हैं
जो संवेदन के काल्पनिक यात्री की गाथा से योजित किए गए हैं,
ध्वनि अंकनकारी मस्तिष्क की कि या सबल फ़िल्म पर पकड़े धरे गए हैं,
अरे विश्व-निद्रा के ऊपर मानो एक कल्पना-सर्जन दौड़ रहा हो,
एक परिस्थिति का नाटक चलता हो।
और चन्द्रमा की आंखों के नीचे करता हो ज्यों निद्राचारी विचरण,
इक छायिक 'काल' के घड़ी-पल गिनती
अरे अहंता की बस एक मूर्ति ज्यों करती हो अज्ञ स्वप्न में पद-चारण।

कार्य और कारण के ही इक अपने
या विश्वास लिए इस विश्व-देश के
बस वह एक दृश्य से अपर दृश्य तक
उसे न अपने गन्तव्य का पता है,
सब कुछ सपनाया-सा ही है लगता
किन्तु स्वप्न-द्रष्टा वह अरे कौन है
इसका उसको कुछ भी भान नहीं है,
या लगता है कि जगत् तो यह सच है,
और महा समर्थ रंगमंच पर बस
इस अनात्म विश्व की अरे कक्षा के
प्रचंड महाचक्र के आर-पार बस
छितराए-से भ्रमते हुए पिण्ड के
बीच उदर में इक नन्हें, नगण्य औ'
औ' फिर खुद क्या है, यह सब कुछ क्या है,
फिर भी एक बन्दिनी सूक्ष्म दृष्टि के
प्रति, जो दृष्टिहीन 'जड़ता' से उगकर
उसमें कोई लघु आत्मा की अणु-भर
जो बस महा विश्व सत्ता की है बस
अर्ध प्रकाशित इस निम्न भूमिका में

औ' स्व-क्षेत्र की सतत शोधकर्ता इस
'विज्ञान' की महान् राक्षसी को बस
जैसे-जैसे स्व गहन सर्वेक्षण के
इस विशाल वाह्य जगत् को निज जैसे
उसे चित्र-पट दिखलाए जाने का
और 'तर्क' को भी तो गए दिखाए
जो अपने इन्द्रिय-ज्ञान के सुसीमित
या अपने 'विचार' की महा शक्ति के
विस्तृत स्पर्शातीत एक 'विनिमय' में
सूक्ष्म औ' विशाल परिकल्पनाओं की
इसके सिक्के बस इक महा शून्य में
और कौन से दृढ़ मूल्यों पर उसकी
बस केवल धर्म ही बीच में आकर
और हमारे अंतर को वह आकर
या 'परलोक' के नाम पर वह हमको

जोड़े-गाँठे मिथ्या परिदर्शन में
इक विशाल औ' विस्तृत रूपायन में,
अरे बराबर फिरता ही रहता है,
किस कल्पना-छोर पर जा निकला है?
या वह संदिग्ध रूप से जीता है,
और कहाँ से वह सब कुछ लखता है,
या छायिक अनुमान भर लगाता है।
हम सब ही अत्यल्प एक सत्ता हैं,
हम सब पाए गए निपट अयोग्य हैं।

पतली प्राण-वक्ररेख दौड़ती है,

गोलक से एक मन झांकने लगता,
आश्चर्य-चकित होकर देखा करता।

यहां अचानक ही है रूप धारती,
बिन्दुकता एक आकार पा जाती,
एक सुचेतन सुदृढ़ नींव बन जाती।
इसी तरह चलता जीवन नाटक है।
और यही 'जड़'-अनन्त का सूचक है,

अंकन, लेखन में वह निमग्न बनती
गणित-शास्त्र में बांध-बाँधकर रखती,
यही विविधता भरा महान् हेतु है,
अद्भुत महाचित्र का हेतु यही है,
लघु घेरे में बंधा-बंधा रहता है,

हाट में कि सट्टा करता रहता है,
गए निकाले-से इक रिक्त सार हैं,
नींव खड़ी है, हम जानते नहीं हैं।
इस दिवालिएपन को है कुछ भरता
संदिग्ध-सा खजाना अर्पित करता,
काट हुँडिया कुछ ऐसी देता है,

जिनके भुनने का न वहाँ प्रबन्ध है:
और फिर वहाँ अपनी यह कंगाली
पूरा-पूरा बदला पा जाएगी।
अपनी आत्माएं तो अनजाने-से
इक असित 'अज्ञात' में इस असार से
जीवन को तजकर वियुक्त हो जातीं
या कि मृत्यु का पार-पत्र लेकर बस
एक अमरता में हैं प्रवेश पातीं।

फिर भी यह अस्थिर एक योजना थी
सीमित इन्द्रिय बोधों के द्वारा बस
खींचा हुआ एक मिथ्या स्वरूप था,
मन की अपर्याप्त-सी आत्मशोध थी
एक प्रथम प्रयत्न औ' इक प्रयोग था।
और धरा-शिशु के बहला देने को
यह तो उसका एक खिलौना ही था;
पर इन सतही बाह्य शक्तियों में ही
अरे ज्ञान का अंत नहीं हो जाता,
जो बस उसकी एक कोर के ऊपर
निरी 'अज्ञता' में रहती-बसती हैं,
औ' जोखिमी गभीर गहनताओं में
न झांकने का भी साहस करती हैं,
और न ऊपर निज दृष्टि को जमाकर
उस 'अज्ञात' को थहा ही सकती हैं।
अंतर में गंभीर दृष्टि-दर्शन है
जो पाकर अवकाश जाग उठता है,
बस जब हम इस नन्हीं औ' सँकरी-सी
मन की सीमाओं को तज देते हैं,
तब 'आत्म'-दृष्टि की ज्योतित विशालता
के भीतर उन्नत शिखरों पर हम इक
अधिक महान् दृष्टि-दर्शन पाते हैं।
आखिरकार वहाँ बस अपने भीतर
इक साक्षी 'अंतरात्मा' जगती है
जो अदृष्ट सत्यों की दिशि लखती है
औ 'अज्ञेय' का परीक्षण करती है;
तब सब कुछ नव स्वरूप धारण करता,
और एक अद्भत रूप है सँवरता।
सारा जगत् और 'प्रभु' के 'प्रकाश' से
निज अंतर में सिहर-सिहर है उठता,
और 'काल' के गहन हृदय में उन्नत
ध्येय विचरते, रमते औ' बसते हैं,
जीवन की सीमाएँ गिर जाती हैं
जाकर अनन्तता से मिल जाती हैं।
यह विशाल और अव्यवस्थित, फिर भी
अनम्य सी योजना, अरे 'देवों' की
शोभन नाट्य-जटिलता बन जाती है,
और भव्य इक क्रीड़ा बन जाती है,
बहु-अर्थी दिव्य-कार्य बन जाती है।
अरे हमारे सारे ही अन्वेषण
इक शब्दहीन, दुर्ज्ञेय 'शक्ति' द्वारा
किए जा रहे क्षणजीवी प्रयोग हैं,
जो 'सत्य' और 'आनँद' की बस अपनी
अविरत ज्योतित आत्मा से मिलने को
अचित् 'रात्रि' से निकले निज परिणामों
का एक परीक्षण करती रहती है।
इसी बाहय आकार, रूप में होकर
आदि 'वास्तविकता' को आंका करती;
'अज्ञानता' के इन्हीं आकारों में,
शब्द तथा विचार के द्वारा खींचे
इन प्रतीक चित्रों औ' रेखाओं में,

उसी महान् 'सत्य' को ढूंढ़ा करती
जिसको ये छबियाँ इंगित करती हैं,
औ' यह अंदर-दर्शन का दीपक ले
उस 'ज्योति'-स्रोत को खोजा करती है;
सकल कर्म के कर्ता के पाने को,
अंतर की अननुभूत 'गुह्यात्मा' को
जो निज पथ-दर्शक है औ' नेता है,
औ' ऊपर की अज्ञात 'आत्मा' को,
जो हम सबका कि चरम-परम ध्येय है,
उसे पकड़ने का प्रयत्न करती है।
बस यह सब जो दिखलाई पड़ता है
अंध 'प्रकृति' का ही सब कार्य नहीं है:
एक महा 'वाचा' औ' दैवी 'प्रज्ञा'
ऊपर से इस पर निगाह रखती है,
इक 'साक्षी' है जो उसके कार्यों औ'
संकल्प को स्व अनुमति देता रहता,
एक अदृष्ट 'नेत्र' है जो दृष्टिरहित
इस विराट् के भीतर से लखता है,
औ' ऊपर से उतर रहे 'प्रकाश' का
अविरत इक 'प्रभाव' पड़ता रहता है
दूर-सुदूर के विचार यहाँ पर हैं,
मुद्रांकिता बनी शाश्वतताएं हैं:
इक गुह्य अभिप्राय ही यहाँ अविरत
सूर्य, सितारों को चालित करता है।
औ' उस बधिरा अज्ञ 'शक्ति' से लेकर
इस अधजगी यत्नशील चेतना तक,
और हमारी मानव-मर्त्य श्वास तक

की इस विकास-यात्रा में अविरत ही,
एक शक्तिशाली बस परा प्रकृति है
जो 'काल' में प्रतीक्षारत रहती है।
जग को हम जैसा देखते-सोचते
हैं अब, वह उससे एकदम भिन्न है,
जो कुछ हमने अब तक सपनाया है
जीवन उससे सुगहनतर रहस्य है।
'प्रभु'-चेतना तलक इस जग-धावन में
अपने मन ये प्रतियोगी धावक हैं,
औ' ये आत्माएं उस 'परम-चरम' की
ही नियुक्त की हुई अरे प्रतिनिधि हैं।
बस इस विराट् विश्व-क्षेत्र के ऊपर
नन्हीं औ' सँकरी गलियों में होकर
'ऐश्वर्य' के करों से प्राप्त तनिक-से
भिक्षा-कण के याचन से स्व उदर भर,
इक भिक्षार्थी के बानक में छिपकर
वह 'केवल' औ' 'एकम्' विचरा करता।
यहाँ तक कि इन सीमित स्व जीवनों की
अरे रंगशाला में भी तो कर्मों
के पीछे अभिगोपित एक मधुरता
सदा उपस्थित औ' स्पन्दित रहती है,
जो कि सूक्ष्म-रूप दिव्यता की ही इक
अनुप्रेरक औ' उत्तेजक होती है।
आत्मा के अभिगोपित आकाशों से
होकर 'प्रभु'-स्रोतों का काम-वेग वह
अरे यहाँ भी बहता ही रहता है;
इक वह बल जो सहायता करता है
दुखी धरा का इक आश्रय बनता है,
वह एक अदृष्ट-सी निकटता है औ'
अभिगोपित सी आनन्द-मग्नता है।
तथा यहां अन्तर की हास्य-गुंज के
दबे हुए-से स्पन्दन हैं, पुलकन हैं,
यहाँ गुह्य इक सुख का मीठा स्वन है

नींद-गहनता में इक आह्लादन है
दुख-जग में आनँद की उर-धड़कन है।
अरे 'प्रकृति' के गोपित वक्षस्थल पर
एक 'बाल-शिशु' का पालन होता है

औ' जादू-कुंजों के बीच अभी वह
औ' 'आत्मिक' स्रोतों के तीरे-तीरे
कब हम उसके आवाहन पर दौड़ें
बस इस मांसल जीवन की सज्जा में

वही कभी कर्दमित इस मलिन पट को
औ' इक ऐसी अग्नि प्रज्वलित करती,
और हमारे शरीर के कोषों में

औ' जड़ता के मांचे को ही लेकर
और हमारे लघुतम तन-भागों में
भी सुगहनतम आवश्यकताओं की

बाह्य व्यक्तिता की मृत्तिका-भीति में
औ' नीची डेहरी पर शीश झुकाकर
हर्षातिरेक औ' आत्मसमर्पण के
औ' सपनों की अन्तर-पवित्रता में
अरे देव-आकार के रचयिता वे
और अन्नमय उन कोषों के भीतर

समवेदना और कोमलता की भी
जो अंतर के एकाकी मंदिर से
इन गभीर नीरवताओं के भीतर
आत्मिक-बोध का चमत्कार, सुमहिमा,
सौन्दर्य के सनातन व्योम के बीच
जो जग-अनुभव को लेकर परिवर्तित
जो बस अपहुँच अस्पर्श्य गह्वरों की
'काल'-स्पन्दनों से लोरित शाश्वतता
मुद्रांकित-से अवात इक अंतर में
एक निगोपित बने हुए कोने में,
विकराल काल के इस बाह्य रूप के
यह चिर 'सत्ता' अपनी ही इस दैवी

यहां तक कि संशय-पीड़ित अज्ञानी

शिशु किलकारी भरता-सा फिरता है,
वह आनँद-वंशी अविराम बजाता,–
उस घटिका की है वह बाट जोहता।
जीवात्मा जो 'प्रभु' की चिनगारी है,
वह सब कुछ के पीछे बच रहती है,
चीर-फाड़कर बाहर आ जाती है,
जो हमको अर्ध दिव्य बनवाती है।
एक 'शक्ति' छिपकर बैठी रहती है,
जो उस अलख, अगोचर को लखती है,
शाश्वतता की सुयोजना गढ़ती है,

खातिर अविरत जगह बनी होती है,
स्वर्णिम 'दूत' वहाँ भी आ सकते हैं:
एक द्वार बस जैसे खुल जाता है;

देवदूत नाँघकर चले आते हैं,

आकर उस थल टिक औ' बस जाते हैं।
करुणा की भावना भी उपस्थित है,
अग्निलपंखी बलिदान भी वहाँ है,
झलकें वहाँ बराबर ही मिलती हैं
निज स्वर्ग-ज्योतियाँ फेंका करती हैं।
महा कार्य इक सम्पन्न हो चुका है,

छिटके हुए हास्य की फैली गरिमा,
उन्नत हर्ष में अरे कर जाती है,
रहस्यमयता में आ बस जाती है;
मानव-अंतर के भीतर सोती है।

पीछे इक अविचलित रूप से बसकर
सुख-क्षमतावाली विशाल जड़ता को
स्वर्गीय व्यापारवाले स्व राज्य को
बस भीतर तैयार किया करती है,

मन में भी फिर विशाल मुक्ति को लिए पूर्वज्ञान की दृष्टि चली आती है,
और हमारी संकल्पशक्ति उसके प्रति स्व मंद, सर्जक कर फैलाती है।
एक एक भाग हमारे भीतर का अपने चरम भाव की इच्छा करता :
अरे विचार हमारे उसी चिरंतन 'प्रकाश' के हित लालायित रहते हैं,
औ' अपने सारे बल, सर्वशक्त इक महा ओज से ही 'सुशक्ति' पाते हैं,
और चूंकि इक आवृत 'प्रभु'-आनँद के द्वारा ही ये सकल जगत् सिरजे हैं,
और चूंकि इक शाश्वत सुन्दरता ने ही आकारों के हित इच्छा की है,
तभी तो यहाँ भी, कि जहाँ पर सब कुछ उस सत् की फ़क़त धूल से सिरजा है,
इन मोहक रूपों के द्वारा अपने ये अंतर बन्दी बन रह जाते हैं,
और बोध ये केवल अंध की तरह बस आनँद को ही खोजा करते हैं।
और हमारी भ्रान्ति-भूल ही है जो उस 'सद् वस्तु' के यहाँ जनमाने को,
और दिव्य काया स्वीकृत करने को

सब कुछ सहने को, बस विवश बनाकर शूली पर उसको चढ़वा देती है,
मानव-तन में उसे अवतरित होने
अंगों-प्रत्यंगों में श्वासें भरने के हित बस मजबूर बना देती है, —
कि हम उसे भी अंगों में परख सकें भुजभर पूर्णालिंगन मध्य कस सकें,
औ' मजबूर बनाती है वह उसको,
उसके ज्ञानोद्घाटन को जिससे 'वह' कि चिर 'अज्ञता' से हमको छुटा सके,
उसके त्राता प्रकाश को भी, कि हमें 'वह' अज्ञ अचित् जग से मुक्त कर सके।
यों बस जब वह महान् 'परमा आत्मा'
इस भंगुर मूर्ति को पूर्ण कर देने, सिंधु समान हहर नीचे उतरेगी,
सब कुछ आनँद-बन्दी बन जाएगा, रूपान्तरित सभी कुछ हो जाएगा :
मन, प्राण औ' बोध सब स्वप्नातीता सुखानन्द की लहरों में लोटेंगे
औ' जिस प्रकाश को इस कठोर, सीमित मानव-दिवसों ने न कभी देखा हो
उस अद्भुत प्रकाश में हँसते होंगे,

औ' इस काया की प्रत्येक शिराएं दिव्य बनी-सी स्पन्दित होती होंगी,
इस तेजस्वी कायाकल्प को नवल कोष-अवलियाँ धारण कर कर लेंगी।
और 'काल' का यह नन्हा-सा प्राणी औ' यह केवल इक छायिक-सी आत्मा,
एक जीवधारी बौना औ' तमसिल आत्मा का नाम मात्र का यह नेता,
स्व क्षुद्र स्वप्नों के व्यापार को छोड़ निज उन्नत जीवन की ओर बढ़ेगा,
अपनी गाढ़ नींद से पुनः जगेगा।

इसके सीमित व्यक्तित्व का रूप यह और अहंता की एक उपरितलता,
नश्वर छद्मवेश से विमुक्त होकर एक नए ही आकार को ग्रहण कर
मिट्टी के लोंदे-सम जो गुंध-गुंध कर एक देव प्रतिमा के बीच निखर कर,
शाश्वत 'अतिथि' अग्नि का रूप धार कर एक नए ही सुस्वरूप में उभर कर

शुभ्र 'शक्ति माता', के वक्षस्थल में
औ' दिव्य स्पर्श से जाज्वल्यमान बन
इक मीठी औ' प्रेम भरी आध्यात्मिक
अपने अन्तहीन इस रूपान्तर के
हर्षातिरेक से वह सिहर उठेगा,
यथा विकृति के फैले इन्द्रजाल को
'महानिशा' के इस तमसिल जादू की
औ' अंध गर्त की परम दासता के
आखिरकार जान लेगा वह इकदिन
उसके हृदय-देश में कौन अदेखा
भक्त-हृदय के भीतर आश्चर्य से
सिंहासनासीन 'बाल देवता' के
इक लावण्य, प्रेम और आनँद पर

पर पहले हमको उस अतल गर्त से
उससे निकल आत्म-ऊर्ध्वारोहण को
आत्मा को इस रूपाकार के परे
मन की अर्धनींद को और त्यागकर
अपने हृदयों को औ' अपनी स्वर्गिक
औ' इस पशु को उसकी अंतरवासी
तभी यज्ञ की इस स्वर्णिम जिह्वा की
औ' एक दीप्त गोलार्द्ध की महत्तर
मर्त्य अवस्था की निज गिरी साख को
औ' सारी पतनावस्था को 'स्वर्गिक'
'परा किरण' के साथ सब अतलताओं
इक आध्यात्मिक 'अग्नि' को लिए तम के
एक बार जन्मदा उसी कुहरे में
खतरनाक अस्पष्ट धुँधुरके को औ'

उसके प्रैतिक देवों के उन धूमिल
और उस जगत् के अस्थिर भूतों की
उसकी प्रवाहशील शक्ति के डाले

यथा अपरिचित औ' अजान क्षेत्रों में
किस आशा से और किधर जाना है

उठकर वह आलिंगनबद्ध बनेगा।

करुणा की मोहक पाटल ज्वाला में
इक अरुणिम रागावेश की उमँग में
जागेगा, रोमांचित-पुलकित होगा,
आमूल-चूल ही बस उलट-पलट कर
जकड़-पकड़ से इकदम विमुक्त होकर
मारे वज्रपाश को छोड़-छाड़कर

बसता आता था चुपचाप आज तक,
उसके बस अभिभूत, अभिग्रसित होकर
अपने, सम्मुख आकर और चीन्हकर
रोम-रोम से पुलकायमान होकर
शीश झुका देगा अभिजाग्रत होकर।
जिससे अपनी मनुज-प्रकृति जनमी है
तो चिर दृढ़ता से लहना ही होगा।
ऊंची, शाही उड़ान भरनी होगी,
मनसातीत धुर शिखा चढ़नी होगी;
गुप्त शक्ति से प्रेरित करना होगा,
सुदिव्यता से विस्मित करना होगा।
उद्दीप्त शिखा को सुप्रज्वलित करते
सुशक्तियों को आतुर बन पुकारते
आज उसे इकदम तज देना होगा,
आरोहण का मार्ग बनाना होगा,
को अपनी परिचित करवाना होगा,
शासन में अब प्रवेश पाना होगा।
चला अश्वपति फिर से जोखिम खेता,
उस गर्भित हलचल को पीछे तजता,
नक्षत्रीय अव्यवस्था से होता,
वदनों के बीच से स्व मार्ग बनाता,
फुसफुसान के प्रश्नों से बाधित बन
जादू औ' टोनों से पर्यावृत बन,
था निज पथ पर दृढ़ रह बढ़ता जाता।
पथदर्शक विहीन कोई बढ़ता हो,
इसका उसको कुछ भी पता नहीं हो,

इक ऐसी भूमि पर चल चुका था वह
अचल शक्ति ले औ' इक यात्रारत था
उसकी पुच्छ-लीक उसके पीछे की
जो फैली, धुंधली विशालता पर बस
घायल बने हुए एक धुँधुँरके में
आकाररहित-सी इक ध्वनि अब उसके
जिसका अगतिशील अंतर बस उसके
जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता था
इक मृतवत औ' घूर रही आँखों ने
अपनी प्रतिरोधी एक स्थूलता को
फैली हुई घोर तमसिलता औ' बस
निज छायिक औ' भ्रामक आकारों से
बसी हुई मद्धिम प्रैतिक चकचौंधन
जो अस्पष्ट, विशाल और सुभयावह
उसकी आत्मा की इक ज्वाला ही बस
जो पाँव तले से खिसकी जाती है,
उस ध्येय की ओर, जो कि पलायी हो।
विलुप्यमान एक रेखा ही तो थी
टिमटिम संकेतों को झलका जाती,
प्रकाश के विरुद्ध सतत भुनभुनाती,
एक पक्ष से थी स्वन करती जाती।
पथ की एक विशाल गुरु रुकावट थी,
ईक्षणरत एक अपारदर्शिता ने
एक विरोधी भीड़ ही लगा दी थी।
बस घन से घनतर करता जाता था।
बुझती हुई टार्च-सी चमक रही थी।

उसके चारों दिशि बस चमक रही थी,
'अचित्' तमस् की फैली एक गुफा थी।
उसके लिए वहां पर एक ज्योति थी।

पर्व २, सर्ग ६

महत्तर प्राणशक्ति के लोक और उसके देव-वृंद

जैसे कोई धूमिल औ' खिसक रही दीवारों के बस बीच से गुज़रता
एक नवल प्रकाशकी आशा करता
चला जा रहा हो इक सुरंग-मुख की सुदूर भास्वरता की दिशि को बढ़ता;
समा गई हो इक मुक्त गति चरण में,
अनुभव हो कि श्वास लेनेवाला है बस अब एक खुले सुविशाल गगन में,
इस प्रकार ही नृप बचकर निकल गया उस धूमिल देश की अराजकता से।
और वहां से चल अब आ पहुँचा था एक प्रभावरहित से बृहत् भुवन में,
रुद्ध बना-सा पड़ा जन्म है जिस थल उस उद्देश्यविहीन निरर्थ देश में।
जहां कि सत् है भाग असत् से पहुँचा औ' हिम्मत की है उसने जीने की,
उसके पास पर अभी शक्ति नहीं थी बहुत देर तक टिक औ' बस सकने की।
जिसके ऊपर चिंतननिमग्न नभ का एक भाल बस जैसे चमक रहा था,
जिसको संदेही कुहरे की पाँखों ने त्रस्त बना और छाप रक्खा था,
जो भ्रमणक पवनों संग स्वर मिला इक जोखिम के खेने में लगी हुई थीं,
और शून्य में एक दिशा पाने को एक आर्त क्रन्दन-ध्वनि छोड़ रही थीं,
यथा अंध आत्माएँ अपने खोए असल अपनपौ के पाने को भटकें,
और अपरिचित लोकों की यात्रा में इधर-उधर खोजती फिरें औ' अटकें।
अस्पष्ट प्रश्नभरे पंख बस जैसे 'आकाश' की एक पृच्छा से भेंटे।
इस अस्वीकार के बाद और वहाँ इक संदिग्धाशा की ऊषा जागी,
यह आत्मा और रूप की, आशा औ' जीवन के हित, मिली एक आज्ञा थी,
औ' जो कुछ था कभी न जन्म ले सका उसके जनमाने का श्रीगणेश थी,
मन की जोखिम खेने की पुलकन थी, अंतर के चुनाव की इक हुलसन थी,
अज्ञात की ओर यह इक करुणा थी उठा चमत्कारी-सा एक हाथ थी।
और इन अनिश्चित द्रव्यों के भीतर निश्चित आनँद का इक स्पर्श-बोध थी,
अब उसकी यात्रा उस एक विलक्षण और अनिश्चित से पथ पर पहुँची थी,
जहां चेतना एक अचेतन सत्ता के साथ खेल अपना खेल रही थी,
और जन्म इक प्रयास-सम चलता था या कि कहें एक उपकथा चलती थी।
अब इक आकर्षण समीप आया था जो अपने जादू को रख न सका था,
आतुर 'शक्ति' समीप एक आई थी जो अपना पथ ढूंढ़ नहीं पाई थी

आया था इक दैवयोग औ' जिसने अद्भुत एक गणित बस अपनाई थी,
लेकिन उसके सँग निज गढ़े हुए उन रूपों को वह बाँध नहीं पाया था,
यह इक बहुसंख्या थी जो अपने ही न योगफल को अविकल रख पाई थी,
जो कि शून्य से भी न्यून रह गया था पूर्णांक से अधिक और बढ़ गया था,
पहुँच सुविस्तृत छायिक एक बोध पर,
चिन्ता करती नहीं कभी जो अपनी चंचल आशा को सुव्यक्त करने की,
उस 'प्राणशक्ति' ने निज भव्य, मनोहर औ' सुन्दर सूर्यों से बस विलगाकर
इक विचित्र काल्पनिक वायु में उस थल किया प्रयत्न अरे अपना जी भरकर।
जो न बन सके हों बस सत्य कभी भी,

ऐसे दूर कल्पना के लोकों में
और सृष्टि की नव किनार के ऊपर ठहरी हुई एक वह जगमगान थी,
ज्यों कोई हो भटका-भटका फिरता, नव-नव सपने को सपनाया करता,
उन्हें सिद्ध करने की फ़िक्र न करता,
क्योंकि सिद्धि प्राप्त हो गई होती तो विनष्ट यह जादू-'गगन' हुआ होता।
एक साँध्य कुहरे के भीतर कोई परी-लोक के यथा चमत्कारों ने,
नाना प्रकार से औ' निरुद्देश्यता से निरमाए हुए सुसौंदर्य ने,
कल्पित यथार्थताओं की तरंग ने,
ऊपर मुद्रांकित-सी पड़ी 'भव्यता' के ही धुंधले बने हुए चिह्नों ने,
दृष्टि-कामना के एक आवेश को था बस अब एकाएकी जगा दिया,
मोहित बने हुए विचार के ऊपर विश्वास को और लाकर जमा दिया,
औ' अंतर को आकर्षित करवाया,
पर उद्देश्य न कुछ सम्मुख रख पाया।
इक जादू था चलता यथा अनिश्चित- से रजतिम एक चित्रपट के ऊपर,
कोई चल दृश्य घूमते-फिरते हों,
इक विरले औ' सीमित-से प्रकाश में धुंधली स्वप्न-तूलिकाओं से रचकर
इक सूक्ष्म कला की शैली में अपनी
सीमित रेखाओंवाली उस चंचल कोमलता को रख लेते हों क्षणभर।
ऊषा-प्रकाश की आगम वेला में आकाश में राजती बालदीप्ति ने, —
जो गर्भायित ही है, जगी नहीं है उस पर्यावृत प्रखरा गुप्त ज्वाल ने
दिवागमन के उत्सुक संकेतों से वातावरण का पुलक लाड़ लड़ाया।
औ' पूर्ण तत्त्व से निर्मित प्राणी भी अपूर्णता की सुमोहिनी पर मोहित,
दीप्त ज्ञान के प्राणी होकर भी तो 'अज्ञानता'-पाश में बने अभिग्रसित,
निर्मित हो आकाशीय तत्त्व से भी शरीर-मोहकता पर बन आकर्षित
वे जीव, निज अलख पंख फड़फड़ाते उदयोन्मुख इस प्रदेश में खिंच आए,
और सान्त जीवन आनँद पर मानो एक बुभुक्षित के समान ललचाए,

वे अति ही दैवी थे, अति उन्नत थे।
अदेहधारी 'प्रदीप्ति' के वे बालक
अंतर-आत्मा के दैवी प्रदेश में

पीछा करते हुए अरे प्रेक्षण के
इक संकल्प बराबर जो बस अपनी

औ' जीवन क्या था, एक शोध ही थी
वहां न संतुष्ट कर सका था कुछ भी
द्रव्यों का अस्तित्व-भान होता था
शकलें ऐसी दिखलाई पड़ती थीं
औ' प्रतीक थे ऐसे, जिस अनुभव के
अभिव्यंजन की कि घोषणा करते थे
और स्वप्नद्रष्टा की आंखों में वे
आत्माएं आईं उस थल पर ऐसी,
जाल में फँसी छायात्माएँ ऐसी,
फिर भी जिस सत्य को धरे जीती थीं
सब कुछ उन आशाओं-सम धावित था
अरे वहाँपर कुछ भी ठोस नहीं था,
सब कुछ अरे वहां असुरक्षित ही था
वह तो ऐसे जीवों का प्रदेश था

उदित हुई तब फिर इक शोध महत्तर
शुरू हुई यात्रा ब्रह्मांडसेविका,

सर्वप्रथम वह एक शुक्रतारे के
जहां कि द्वाभा की अनुपम सुन्दरता
उसके नोकीले भाले के नीचे
इक विशालतर और 'जीवनोदय' का
तब धीरे-धीरे कर एक महत्तर
उसके प्रकाश से तब 'प्राणशक्ति' ने
उसके सारतत्त्व ने जैसे जगकर
फिर भी संतोष कर लिया टुकड़ों से,

लेकिन मृष्ट धरा पर पग धरने को,
मर्त्यों की विधि में भाग बँटाने को,

अनाकार एक विचार से अभिजनित,
अविनश्वर इच्छा से बन आखेटित,
प्रदेश को थे वे बस पार कर गए।
अनिरंतरता के कारण असफल था,
वही वहाँ पर निज कार्य में निरत था,
जहां न कोई प्राप्ति कभी पहुंची थी।
किन्तु सभी कुछ आकर्षित करता था,
जिनका पूर्णतया अस्तित्व नहीं था,
मानो जीवित-जाग्रत् कि कर्म ही थे,

उसको निज में छिपाए हुए ही थे।
धूमिल सपने भी सच ही लगते थे।
जो जन्म के लिए व्यर्थ श्रमनिरत थीं,
जो अविराम भटकती रह सकती थीं,
कभी भी नहीं थीं उसको पा सकतीं।
जो कि छिपे अवसर की ताक लगातीं,
पूरा हुआ नहीं कुछ भी लगता था,
औ' चामत्कारिक था, अर्ध सत्य था।
जिनका अपना आधार ही नहीं था।

प्रकटा सम्मुख एक गगन विशालतर,

'महाशक्ति' की गुरु पांखों के नीचे।
सुसाम्राज्य में था अब पहुँचा आकर,

काँप रही थी जैसे सिहरी थर-थर,
उसने अनुभव किया वहां स्पन्दन वर।
संदेहशील-सा एक सूर्य प्रकटा,
निज सत्ता से बस एक जगत् सिरजा।
अपनी गहन आत्मा को अब खोजा,
औ' उनसे जो उसने सम्मुख पाए,

जीवन औ' उन भागों से, जो सम्मुख
शायद इनको जोड़-जोड़कर इक दिन
जो कुछ हो, पर लगा कि इस थल पर तो
कम-से-कम अब जिजीविषा का बढ़ता
जीवन-विधि की पोथी और शक्ति के
कर्मों की एक पाँडुलिपि थी औ' बस
जो विचार की जकड़-पकड़ से बाहर
औ' जीवन की छन्दोमय पुकार के
वह अब जीवित द्रव्यों के अंतर में
सतत निगोपित 'आत्मा' की सुशक्ति के
'प्राण' और 'जड़ता' से हठात् उठते
अविनश्वर सुषमा का कोई आनन,
जिसने क्षण भर के हित यहां हर्ष को
गही जा सकी थी वाचा उन्नततम,
औ' जो आत्मा के इक संयोगवशी
'निरपेक्ष' सत्य की रंजित आभा इक
और पराज्ञान की एक महिमा थी
और 'प्रेम' के हर्षोन्मत्त हृदय का

आकाररहित एक 'निगुह्य सत्य' का
जो नेत्रों के हित अदृष्ट, आध्यात्मिक
इक 'संकल्प' था, कि जो बोधशक्ति को
सुख-अनुभव करने के हेतु, उसे है
'अकथनीय' की परम शान्ति का पथ बस
हृदय-कामना की औ' इक मुद्रांकित
जो इक 'गुह्यानँद' के वक्षस्थल से
आवृत पड़ी हुई औ' 'परमवस्तु' वह
औ' आत्मा मन के परिधान में यहां
पर वह इस आकारी जग के सच्चे

औ' अंतर की अवबोधी ज्वाला से
आत्मा के चेतन आकाशतत्त्व में
वह प्रतीक-जग की दिव्यता को यहाँ

यह प्रदेश है जो कि हमें विस्तृततर

'समग्र' का मिथ्याभास लिए आए,-
कि जा सके यह मिथ्या सत्य बनाया।
कुछ प्राप्त ही आज कर लिया गया था।
एक पुंज तो यहाँ पड़ा दिखलाई,
नक़शे की रेखाएँ गईं खिचाई,
चेतन आकारों का एक गीत था,
रहनेवाले अर्थों से बोझिल था,
अंतर-गुंजन से जो भरा हुआ था,
निज को अभिव्यंजित तनिक कर सका था।
इक उद्‌बोधन में औ' विस्फोटन में,
अन्तर-आनँद के इक प्रत्युत्तर में,
यहां धरा-पकड़ा तनिक जा सका था,–
एक अमरता का वरदान दिया था,
'सत्य' को कि जो मूर्तित कर सकती थी,
तनाव से बस फटकर निकल चली थी,
जो जीवन के ऊपर टपक पड़ी थी,
औ' अंतर की गहरी एक दृष्टि थी,
कोई रागावेश और पुलकन थी,
जो ऊपर से सहसा बरस पड़ी थी।
यह गूढ़ार्थोंवाला बीजाक्षर था,
इक पिधान के भीतर छिपा हुआ था,
इस अस्पर्श्य प्रकाश तथा आनँद का
उसकी सीमा के बाहर ले जाता;
जैसे आधा कि खोज लिया गया था,
सुमधुरता बस आधी विजित हुई थी,
सतत अभीप्सा करती ही रहती थी,
अभी जहां आधी अभिव्यक्त हुई थी।
लिपटी हुई पड़ी आवृता नहीं थी,
अर्थ की झलक भी इक पा सकती थी,
औ' विचार में क्रांत दृष्टि से ज्योतित,
बन प्रतिपल उन्नीत और उत्साहित,

धारण किए हुए भी रह सकती थी।

आशाओं से बस प्रेरित करता है।

इसकी ऊर्जाएँ आ-आकर औ' इस अपने भूगोलक पर हैं उतर पड़ीं,
इसके अपने संकेतों ने है बस
धरा-जीवनों के ऊपर स्व विधाओं और नमूनों की इक मुहर लगा दी;
अरे हमारी विधि को है वह अपनी एक शहंशाही गति प्रदान करता,
इसकी भटकी लहरें ही तो अपनी उन्नत जीवनोर्मि को प्रेरित करतीं।
वह सब जिसको हम ढूंढ़ा करते हैं अरे वहां पर पहले से चित्रित है,
वह भी और उपस्थित है उस थल पर जो न अभी हमको हो सका विदित है,
बना अभीतक और अनन्वेषित है,——
फिर भी वह इक दिन मानव-अंतर में निश्चित ही जनमेगा औ' पनपेगा,
जिससे 'कालातीत' सत्य वह इक दिन द्रव्यों में निज को परिपूर्ण करेगा।
होकर 'काल' के रहस्य में अवतरित, इक अ-पिहित-से 'अनन्त' में यह 'शाश्वत',
आरोहणशील अनन्त संभावना, निश्चूड़ स्वप्न-सीढ़ी पर बढ़ती है,
औ' 'सच्चिदानंद' की चित्-समाधि में ऊंची-ऊंची चढ़ती ही रहती है।
सब कुछ उस सीढ़ी को पकड़े पकड़े इक अदृष्ट ध्येय की ओर चढ़ता है,
और यह सनातन क्षणभंगुरता की इक 'ऊर्जा' ऊर्ध्व संचरण करती है,
जिससे न लौटने का कुछ निश्चय है,
'अज्ञात' की ओर ले जानेवाली यही 'प्रकृति' की अरे तीर्थ-यात्रा है।
जैसे अपने विस्मृत आदि स्रोत तक बढ़ने के इस आरोहण उपक्रम में
जो कुछ भी संभव था, उस सब कुछ के उन्मीलन की आशाकी हो उसने,
इस प्रकार उसकी यह उन्नत यात्रा एक अवस्था से दूसरी अवस्था
तक बस आगे चलती ही जाती है,
इक दर्शन से अपर महा दर्शन तक, विकास-गति कूदती बढ़ी चलती है,
एक रूप से अपर विशाल रूप के क्रम की परंपरा न अंत पाती है,
असीम, अपार 'विचार' और 'शक्ति' की अक्षय निर्मितियों का एक क़ाफ़िला
आगे-आगे बढ़ता ही जाता है।
उसकी कालातीता 'शक्ति' कि जो बस
आदि-अंतहीना 'शांति' की गोदमें एकदा पड़ी विश्राम कर रही थी
वही आज 'आत्मा' के अमरानँद से
कटकर उन सब आनन्दों के, जिनको गुमा चुकी है, प्रकार सिरजा करती,
औ' आकार ग्रहण करने की ख़ातिर
इस नश्वर तत्त्व को विवश कर-करके,
सृजनात्मक कर्म-विमोचन के द्वारा
कभी-कभी बस उस खाई को, जिसको वह न कभी भर और पूर सकती थी
फलाँग जाने की आशा है करती,
औ' बिछोहके इस घाव को कि क्षणभर के हित भरने की इच्छा करती है,

जिससे इस लघुता की 'काल'-जेल से
खण्ड-विखण्डित बने हुए-से अपने
अरे अनिश्चित-से इस काल-क्षेत्र में
'शाश्वत' की सुविशाल महत्ताओं से
यों वह उसके ढिग, जिसको न कभी भी
शाश्वतता को पल में पिहित कराती
औ' वह 'अचलायमान' उसके जादू-
औ' वह उस 'अमेय' के भीतर जाकर
फिर तो सब आकारों के भीतर वह
औ' चहुँमुख से शाश्वत के ही अद्‌भुत
उसका कार्य निरंतर चलता रहता,
पर अनाम 'संकल्प' से बनी प्रेरित,—
जो कि किसी अज्ञेय औ' अनाकारी

उस सीमाविहीन को अरे काल में
औ' आत्मा को इक भौतिक औ' कायिक

सतत 'अनभिव्यक्त' के प्रकट करने को
फिर भी उसकी बुद्धि-कुशलता द्वारा
वह निज उत्कृष्ट और तर्करहित-सी
'अनन्त' की नव कायाओं को पाने,
'अकल्प्य' की नव आकृतियों को गहने
के हित निज जादुई शिल्प की अपनी
औ' काल' की भुजाओं में बंधने हित
पर आज भी जानती नहीं कि उसने
क्योंकि सभी कुछ छलिया छद्मवेश के
यह वह पक्ष है कि जो इक माया के
औ' जो अपने नीचे छिपे हुए से
और काल-संचालित असत्यता का
अपने अतिथिराज के संग-संग ही
सतत बदलनेवाली इस काया में
इस परिवर्तनशील उपरि आत्मा का
उसके सारे साधन दीन-हीन हैं
आकाररहित एक चेतना के इस

किसी तरह कुछ क्षण के हेतु बच सके,

औ' जाकर बस एकाएक मिल सके ।
गह सकती थी, है जाकर नियराती,
लघु आत्मा को 'अनन्त' से भर जाती,
आवाहन पर बस नीचे झुकता है,
एक किनार पर खड़ी हो जाती है,
निराकार 'गृहपति' को लख पाती है,
आलिंगन का वह अनुभव करती है।
ध्येय नहीं कोई पर लह पाती है,

एक 'बृहत्' औ' 'विराट्' से आता है,
वह अविरत श्रम करती ही रहती है।
यहां जन्म के इस जाल में पकड़ना,
आकारों के भीतर अरे ढालना,
'अकथनीय' को वाचा, विचार देना,
उसका गुह्य, असंभव यही कार्य है।
ही वह अविरत धकियाई जाती है।
कर्म असंभव इक सिद्ध हो गया है:
महा योजना पर है चली जा रही,

सुयुक्तियों को गढ़ती चली जा रही।
उसने 'शाश्वत' को भी ललचाया है।
क्या कुछ अनजाने ही कर डाला है।
नीचे ही तो बस संपन्न हुआ है:
कौशल-आभास को पहन लेता है
उस गोपित सत्य से भिन्न होता है,
ही वह रचा हुआ बस एक ढोंग है,

बस यह असमाप्त-सा इक सृजन-क्रम है।
उसका महा कार्य पर अंतहीन है,
विस्तृत और महान् क्षेत्र के ऊपर

मन औ' संवेदन के नन्हें-नन्हें
एक अनन्त सत्य को अनन्तता के
और 'काल' में वह इक कालातीता
जिस महानता को उसने सपनाया,
उसका श्रम, आवेग और पीड़ा है,

फिर भी अपनी इच्छा से वह अपना

और कभी भी रुक जाने को उसका
बस जब तक है अस्तित्व इस जगत् का

एक बेवक़ूफ़ी औ' अवर्ण्य सुषमा
इक साहस औ' आनँद के प्रमाद को
उसके अस्तित्व का यही विधान है

पर वह निज भूखी संकल्पशक्ति को
और 'वस्तु तत्त्व' की सहस्रों लक्षों
बस मन भर कर सतत लुटाते रहने
उड़ते हुए 'सत्य' के चल अंचल से
इस संस्पृष्ट बने-से एक जगत् का
उसने जो ध्येय-स्वप्न सपनाया था
और सत्य की इक मूर्ति बनाई है,
यह जग तो पार्थिव मन के समान बस
बाह्य सत्य की स्थूल दिवारों में ही
अपितु जगाकर अपने में इक साहस

यद्यपि वह आध्यात्मिक सत्यों का इक
लेकिन बस विचार ही अभी किया था,

और कल्पना में ही तो बस उसने
अभी स्वर्ग के इक चित्रित पक्षी को
अरे महत्तर प्राणलोक यह गोपित
यह उन्नततम 'प्रकाश' को पुकारता
अनुभव कर सकता उस 'नीरवता' का

आघातों के द्वारा और निरंतर
साथ अरे वह प्रकटाती रहती है,
निगुह्यता को सिद्ध किया करती है।
उसे कार्य उसके न सिद्ध कर पाए,
हर्षातिरेक है वेदना-टीस है,
उसकी महिमा है और शाप भी है।
चुनाव करने में सुसमर्थ नहीं है,
श्रम करते रहने को ही परवश है।
समर्थ अंतर न गवाही देता है।
तब तक 'बुद्धि'-दृष्टि को चौंकाती-सी
तथा तर्क को बस व्यर्थ बनाती-सी
उसकी असफलता क़ायम रहती है।
जिजीविषा के पागलपन की अतिमा
लेकर अपने वह जीती रहती है।
और यही केवल उसका साधन है।
यद्यपि तृप्ति-तुष्टि न कभी आती है,
नानाकारी 'आत्म'-कल्पनाओं को
आकारों और प्रकारों की विधि को
में कि छकाकर तुष्ट किए रहती है।

यहां अरे उसने निर्माण किया है,
उसमें ही इक जग को ढाल गढ़ा है,
इक चेतन रहस्य का रूप दिया है।

परिवेष्टित-सा बना न पड़ा रह सका :
एक स्वप्नदर्शी मन पर पतियाया,
आत्मा पर भी औ' विश्वास जमाया।
पीछा करनेवाला सुशिकारी था,
अटकल से ही अपनी बस पकड़ा था,
औ' विश्वास से अभी फ़क़त भरा था,

पकड़ पींजड़े में औ' बन्द किया था।
उस 'अदृष्ट' पर मोहित है, न्योछावर है,
जो इसकी पहुँच, पकड़ से बाहर है,
जो आत्मा की अपमोचनकारी है।

इक रक्षा-स्पर्श को और लहता है,
सत्यं, शिवं, सुन्दरम् ये तीनों ही
पार्थिव आंखें जिन स्वर्गों को लखतीं
औ' जिस तम को जीवन सह सकता है

इक दिव्य किरण का अनुभव करता है :
उसके अपने उपास्य इष्टदेव हैं,
यह उनसे वरतर स्वर्ग के निकट है,
उससे सुघोरतर तम के समीप है।
देव तथा दानव का संबंधी है।

यह अपार अद्भुत उत्साह ही अरे
उन्नतियों के लिये यह तड़पता है
सत्य-वाक् का पीछा करता रहता
उन्नत-शिखरीय विचार पर लपकता
क्योंकि रूप के द्वारा ही तो रे वह
इसकी सब पूर्णता तथा अविकलता
एक स्वर्ग का ऐसा शिशु है जिसने
उसका हृदय-वेग एक बिन्दु पर ही
वह नियराता है उसको छूता है,
बस यह दीप्त परमता और चरमता
बस खोजना और फिर सर्जन करना

उसके अंतर को संचालित करता,
परात्पर के लिये ललकता रहता।
पूर्ण रूप पाने को है यह रढ़ता,
उन्नत-शिखरीय प्रकाश पर झपटता।
'रूपविहीन' निकट लाया जाता है,
उस 'निरपेक्ष', 'निरतिशय' की झालर है।
अपना निज गृह नहीं कभी देखा है,
उस शाश्वत के साथ अरे मिलता है :
पर वह पकड़ नहीं उसको पाता है,
की दिशि सश्रम प्रयत्न कर सकता है :
इसकी इतनी ही फ़क़त महत्ता है।

और इस महत्ता को सभी स्तरों पर
पृथिवी पर हो या स्वर्ग में, नर्क में
मृदु-कटु तरह-तरह के सब भाग्यों में
उसी अग्नि की यह इक संरक्षक है,
वह अपनी महिमाओं और शक्ति में
सब विरोध, बाधाएँ सहकर भी वह
वह आत्मतत्त्व है, जो असत् भूमिका
वह विश्व-शक्ति है, जो अरे विश्व के

अविरत अपना सर्जन करना ही है।
उसकी यह गति समान ही रहती है;
वह अपना महान् भाग बँटाती है।
जो सूर्यों को कि प्रज्वलित करती है,
एक विजय का सुख-मोद मनाती है :
'प्रभु' जन्मेच्छा का भार उठाती है :
के ऊपर केवल जीवित बचती है,
माया-मोचन के असह आघात में
भी टिक सकती, उसको सह सकती है :
जड़-सम होकर भी 'शक्ति' का स्रोत है।

गूंगी होकर भी वह 'सत्यवाक्' है
यहां पतित होकर और अज्ञता का
तथा मृत्यु का वह इक गुलाम बनकर
भी तो अमर्त्य द्रव्यों की सुअभीप्सा
यहां तक कि उस 'अज्ञेय' के जानने
निश्चेतन और शून्य होकर भी तो
जब वह इकदम अदृष्ट होती है तब
इक नन्हें अणु में जब छिप बसती है
तीव्र सृजन-आवेग न तब भी उसका

के हित प्रेरित, उत्तेजित रहती है,
को भी उत्सुक लालायित रहती है।
उसकी निद्रा जग-सर्जन करती है।
सर्वाधिक शक्ति से कार्य सरती है :
इक लोंदे में दबी-गड़ी होती है,
कहीं कभी भी बँधता औ' रुकता है।

अरे अचित् की महा जड़ावस्था तो
औ' इसकी वैश्विक मूर्छा तो कोई
काल जात बनकर भी तो वह अपने
और मृत्यु, शैया है, जिस पर लेटी
जिस 'प्रकाश' ने उसको जन्म दिया है
उसके स्व कार्य हित जो आवश्यक है
यहां तक कि जब उसके ज्योतित तारे

उसका दीर्घ कुम्भकर्णी विराम है,
बड़ी विलक्षण अद्‌भुत एक दशा है :
अमरत्व को छिपाए ही रखती है,
वह उठने की बाट लखा करती है।
उससे वह वंचित हो जाने पर भी,
ऐसी आशा के मर जाने पर भी,
'महा रात्रि' में थे बस लोप हो चुके,
तब भी कष्ट, यातना में पल-पुसकर

औ' पीड़ा को जो उसकी काया की
दासी है, नाइन है औ' धात्री है,
उसकी उत्पीड़ित औ' अदृश्य आत्मा,
यद्यपि तम में ही होकर बढ़ना है
यद्यपि दुःखों-कष्टों को सहना है
औ' क्रूशारोहित 'प्रभु' को वह अपने
अचेतन गहनताओं की हिमता में
अवरोधक एक 'शून्य' से बन्दी औ'

उसको नानाविध जीवन भर सहकर,
फिर भी पथ पर बढ़ी चली जाती है;
पर वह अतिश्रम करती ही रहती है,
पर वह सर्जन करती ही जाती है।
वक्षस्थल पर लिए हुए चलती है।
जहां हर्ष का कुछ भी पता नहीं है,
पीड़ित बनकर जहां न कुछ हिलता है,
औ' कुछ भी जन्म नहीं ले सकता है,
अरे वहां भी वह कुछ सुधियाती है,

औ' अद्‌भुत 'स्रष्टा' ने उसके भीतर
जन्म के समय ही जिस कला-चातुरी
औ' तंद्रिल आकारहीनता को वह
बस जिस स्थान पर न पहले था कुछ भी
और उन प्रदेशों में जो बस निचले

को डाला था उसको है पुकारती
रूप और आकार है दिए चलती,
वहां इक जगत् को है प्रकटा देती।
अर्द्ध अधोमंडल में ही सीमित हैं,
दुख, मृत्यु के क्षेत्र में पर्यावृत हैं,

और 'अज्ञता' की तम-शाश्वतता में
उनमें ही उस जड़तम अचित्-पुंज का
या कि 'शक्ति' के इन रूढ़ावर्तों में
वह बन्दिनी बनी-सी चुपचाप यहां
इस 'जड़ता' के अंधे दबाव द्वारा

ही जो बँधे हुए अविरत रहते हैं,
वह जैसे इक कंपन औ' दोलन है,

इक बधिरा और मूक मजबूरी में,
अडिग बनी इस निद्रा की माटी में,
पड़ी हुई विश्राम किया करती है।

तब फिर इस विद्रोही प्रजागरण के
दण्डस्वरूप यह कठोर और यांत्रिक
केवल घोर 'परिस्थिति' उसको उसके
मट्टी को लेकर वह देव-सरीखे

जादू-शिल्प की कला सरिस मिली है,
सुचमत्कारों को रचती, गढ़ती है;

औ' जीवन-रस के भीतर वह अपनी
जीवंत स्नायु को विचार करने में,
बंद बोध को अनुभव-सुख लेने में
दुर्बल ज्ञान-तन्तुओं द्वारा तीखे
बड़े चमत्कारी ढँग से इस मांसल
पशु-सम कायाओं को आत्मा देती है
वह अनगिनत प्राणियों, आकारों औ'
दृश्यों को, जो कि यहाँ 'दिशा-काल' में
उनको, जादूगर का दण्ड घुमाकर
बस यह जग तो महारात्रि से होकर
ये सूर्य चन्द्र औ' तारे तो उसका
बुद्धि हमारी उसके स्व विचारों का
और हमारे स्पर्श-बोध सब उसके
अर्द्ध सत्य औ' अर्द्ध झूठ द्रव्यों के

अपनी खोई हुई शाश्वती की उस

विशाल जगत्-अज्ञता बीच अरे बस
जबतक कि नहीं पट ही उठ जाता है,
दिन हो या कि रात हो, अरे बराबर
औ' 'काल', अन्तहीन तीर्थयात्रा है
इक महान् आवेश है कि जो उसके
उसका गोपित शाश्वत 'प्रेमी' ही बस
उसके हित ही अदृष्ट 'विराट्ताओं'
पूर्ण अचेतन जैसी इस जगती में,
औ' जग के कार्य-कलाप तो छिपे उस
उसकी मनोदशाओं को वह उर के
सुन्दरता के भीतर वह उसकी स्मिति-
अपनी सुसंपन्न वैश्विक दरिद्रता
उसकी प्रभुताओं को वह रिझा-रिझा
उसकी चितवन की और वफ़ादारी
उसके बृहत्-दृष्टि भटकते विचारों
को, निज लक्ष-लक्ष आवेशोंवाली

बस अपने आवृत साथी को प्रतिपल

गूंगी अमर प्रेरणा भर देती है,

वह अपनी सहायता पहुंचाती है,
संदेसों की लौ झलका जाती है,
अंतर द्वारा प्रेम किया करती है,
इक संकल्प तथा वाणी देती है।

उसकी शोभाओं के ज्योति-दूत हैं,
अपना, यहां उपस्थित कर लेती है।
चलती उसकी इक लंबी यात्रा है,
पथ दर्शानेवाले बस दीपक हैं,
इक विश्वासपात्र है, सुसहायक है,
जीवित-जाग्रत् से स्पन्दित साक्षी हैं।
द्वारा यहां प्रतीकों को निज रचकर,
अपने नव स्वप्नों को सतत सिद्ध कर
स्मृति को भर देने का श्रम करती है।

यह ही उसके कार्यों का व्योरा है;
और निशा का वध ही हो जाता है,
वह निज अथक खोज कायम रखती है,
जिस पर वह अविराम बढ़ी जाती है।
सब कार्यों को संचालित करता है।
उसके सकल कर्म का इक कारण है,
से नीचे उसने छलाँग मारी थी,
यहां, विचरने-भ्रमने की ठानी थी,
'अतिथि' के साथ उसका सुव्यापार है,
निज आवेशी संचक सरिस समझती,
के रवि-प्रकाश को है निधिया लेती।
के ऊपर मन-ही-मन लज्जित होकर
अपनी नगण्य भेंटों से लेती है,
को दृश्यों में धारण कर लेती है,

'महाशक्ति' के आकारों में बसने
हित, प्रणय-याचना करती रहती है।
अविरत आकर्षित करते रहने को,

औ' अपने जग-चीवर के भीतर ही   उसे हृदय के निकट बना रखने को,
कि कहीं वह उसके हाथों से छुटकर   स्व निराकारी शांति में न फिर जाए,
इसके हित ही, उसकी उर-गतिविधि है   औ' चिपटे रहने की सब चिन्ता है।
फिर भी जब वह अत्यंत निकट होता   वह उसको सुदूर अनुभव करती है।
क्योंकि इक विपर्यय औ' विसंवाद ही   उसके स्वभाव का बस इक विधान है।
यद्यपि वह सदैव उसमें बसती है   औ' 'वह' उसमें सदैव विद्यमान है
फिर भी शाश्वत बंधन से अजान-सी
बनी हुई उसकी संकल्प-शक्ति बस
अपने कार्यों के भीतर ही 'प्रभु' को   पिहित बनाने की इच्छा करती है,
औ' उसको अपने इक वांछित बन्दी   के समान जुगुति- से क़ैद रखती है,
जिससे न इस 'काल' में पुन: कभी भी   वे दोनों वियुक्त अब फिर हो पाएँ।
पहले-पहले 'आत्मा' की निद्रा का   उसने भव्य कक्ष निर्मित करवाया,
एक गुह्य-सा आन्तर कोष्ठ रचाया,
जहां कि वह झपकी लेता रहता है,   मानो भूला-बिसरा अतिथि पड़ा हो।
पर अब तो उस विस्मारक जादू के   भंजित करने को वह घूम पड़ी है,
औ' इस तक्षित शय्या के शायी को   वह अब धीरे-धीरे जगा रही है,
औ' आकार में 'उपस्थिति' का उसकी   वह अब अनुभव भी एक पा रही है,
औ' उसके सँग जो प्रकाश जगता है
उसके भीतर, इस आपा-धापी में   और 'काल' के इन बोझिल चरणों में
भी वह एक अर्थ को धर लेती है,
औ' इस जड़ मन में से होकर, जिसने   अंतरात्मा को था धरा छिपाकर
कौंध अदृष्ट देव-आभा जाती है।

वह आत्माकाश के एक अभिज्योतित
सपने के ऊपर बस जैसे अपनी
सृष्टि सृजन द्वारा यह चित्र-विचित्रित   एक इन्द्रधनु सेतु रचा देती है,
जिसकी रचना आदिम 'नीरवता' को   यहां महा 'शून्य' से मिला देती है।
बस गतिशील विश्व के द्वारा जैसे   एक जाल यह बीन दिया जाता है;
उस चैतन्य 'अनन्त' के लिए ही तो   इक माया-पाश को यहां बुनती है।
उसके भीतर एक ज्ञान बसता है   जो कि डगों को अपने ढक रखता है,
औ' वह गूंगी सर्वशक्ति के जैसा   इक 'अज्ञान' सरिस ही तो दिखता है।
उसके समीप एक शक्तिमत्ता है   जो आश्चर्यों को सच बनवाती है;
और वह अविश्वसनीय तथ्य ही तो   उसके साधारण सत्य का तत्त्व है।
उसके ध्येय और सब कार्यप्रणाली   जैसे पहेलियाँ ही बन जाती हैं,
और परीक्षण करने पर जो कुछ भी
वे पहले दिखती होती हैं उससे   कुछ और की और ही बन जाती हैं,

औ' जब उनकी व्याख्या की जाती हैं और भी अधिक अ-व्याख्य सी दिखती हैं।
यहां तक कि अपनी इस जगती में भी एक गुह्यता ही शासन करती है
जिसको पृथ्वी के साधारण आर्जव का कुशली पट मूंद-ढांक रखता है;
उसके सारे ही विशालतर स्तर तो जादूई एक शिल्प से निर्मित हैं।
वहाँ यह पहेली सुभव्य तिन पहलू- शीशे का वर्ण-वैचित्र्य दिखलाती
सामान्यता का गहन छद्मवेश औ' नहीं वहां पर पड़ा हुआ लगता है,
सारे अनुभव गुह्य बने आते हैं सब अनुभव गंभीर बने आते हैं,
विस्मय अविरत ही नवीन होता है चमत्कार सारा दैवी होता है।
पट के पीछे कोई सतत नाद है एक रहस्य भरा जादुई स्पर्श है,
छिपे बोध की औ' एक गुह्यता है।

यद्यपि उसके आनन ऊपर कोई माटी का पर्दा तो नहीं पड़ा है,
पर अपनी दृष्टि से सतत वह अपने भीतर की ही दिशि भागा करती है।
औ' उसके सारे आकार मात्र बस कोई आवृत विचार के प्रतीक हैं,
जिसका निगुह्य ध्येय हमारे मन की खोज-पकड़ से दूर छिपा रहता है,
फिर भी शाही परिणाम की हमारे वह तो एक पूर्व गर्भावस्था है।
प्रति विचार औ' प्रत्येक भावना तो उस थल पर जैसे बस एक कर्म है,
प्रति कर्म इक प्रतीक और इंगित है,

औ' प्रत्येक प्रतीक जहां अपने में इक जीवित-जाग्रत शक्ति छिपाए है।
सत्यों और पुराण-कल्पनाओं से वह इक जगती को निर्मित करती है,
पर जो उसके हित अति आवश्यक है उसकी रचना में वह शक्त नहीं है।
जो कुछ भी प्रकट में यहां दिखता है वह 'ऋत' का आकार और अनुकृति है,
पर 'सद्वस्तु' सदा ही उससे अपना रहस्यमय मुख छिपा-छिपा रखती है।
और सभी कुछ तो वह पा लेती है पर शाश्वतता को न प्राप्त कर पाती
सब कुछ को तो उसने ढूंढ़ लिया है पर 'अनन्तता' उससे छुट-छुट जाती।

इक उपरि 'सत्य' से प्रज्वलित चेतना, का अनुभव अब उसको वहां हुआ था,
जिसने प्रकाश को तो देख लिया था, पर साक्षात् 'सत्य' को नहीं लखा था:
दिव्य 'विभावन' को बस पकड़ लिया था उससे इक जग का निर्माण किया था;
औ' उसने इक 'मूर्ति' भी रचाई थी और उसे 'प्रभु' का नाम भी दिया था।
फिर भी कुछ तो सत्य और अंतर्मुख आकर वहां अरे निवस ही गया था।
और महत्तर प्राण-लोक के प्राणी

एक बृहत्तर वातावरण के और एक मुक्ततर आकाश के निवासी
वे कायाओं में न वहाँ जीते थे, आधार न बाह्य वस्तु का लेते थे,
अपितु गहनतर इक जीवनविधि उनकी आत्मा की एक पीठिका-सम स्थित है।
गहरी अभिन्नता के उस प्रदेश में सब चीजें आत्ममित्र-सम वसती हैं,

औ' काया के कर्म तो वहां पर बस
उस एक सूक्ष्म अक्षर-लिपि-सम हैं जो अंतर-जीवन को ऊपर लिखती है।
जिस थल सकल शक्तियाँ प्राणशक्ति की इक परिजन-मंडल ही बस होती हैं,
विचार औ' काया उसकी आज्ञा पर चेरी बाँदी के समान फिरती हैं।
और विश्व-व्यापी विशालताएँ सब उसको निज में सतत स्थान देती हैं:
वे अपने कर्मों के भीतर विस्तृत वैश्विक गति का इक अनुभव लेती हैं,
और 'प्राण' की विश्व-विशाल शक्ति का इस प्रकार इक साधन बनी हुई हैं।
या तो फिर अपनी इक आत्मा को ही बस अपनी जगती बनवा लेती हैं;
जो भी एक महत्तर 'प्राणलोक' तक अपने को उन्नत बनवा लेते हैं,
उनके कानों में अजन्म सत्त्वों की एक गिरा बस गूंज-गूंज जाती है;
उन्नत रवि-प्रकाश से भेंट चुकी सी
उनकी आंखों में, प्रेरणाशक्ति उस शीर्ष-मुकुट का चित्र दिखा जाती है:
बस उसके द्वारा अंतर में रोपित एक बीज की क्रियासिद्धि करने को
निज में उसकी शक्ति प्राप्त करने को

ये उसके प्राणी जीते रहते हैं।
प्रत्येक ही वहां एक महत्ता है जो शिखरों की दिशि है बढ़ी जा रही,
अपने हृदय-सिंधुओं से उठ-उठकर ऊपर को उमड़ाती चली जा रही;
औ' बस सम-केंद्रवती एक शक्ति की
वृत्ताकार घूमती चलोर्मियों में
वे सर्वसभक्षी प्राणी आकंठित अपने वातावरण को निगल लेते।
औ' फिर उस विशालता के भीतर भी वे कितने ही प्रकोष्ठ हैं रच देते,
औ' फिर उन सीमिततर विस्तारों में और रुँधी-सी संक्षिप्त बीथियों में
नन्हीं एक महत्ता को ही वरकर वे सन्तुष्ट बने हैं जीते रहते।
निज नन्हें राज्यों में शासन करना,
अपनी-अपनी एकाकी जगती में एक व्यक्तिता-विशेष बनकर रहना,
और सकल वातावरण के सुखों औ' दुःखों को अपना ही करके लेना,
अपनी जीवन-इच्छा और वृत्तियों को इसमें ही संतुष्ट बना रखना,
यही मिली उनको निज शक्ति के लिए इक काफ़ी चिन्ता औ' कार्य-भार है,
वह शक्ति 'दिव्य'-पुरुष की प्रबन्धक है औ' उसकी 'विधि' की सुकार्यकर्त्री है।
यह तो संक्रांति की सीम-रेखा थी औ' यह तो पहला आरंभ-बिंदु थी,
औ' स्वर्गिकता में प्रथम आव्रजन थी
औ' उनके हित जो निज छलाँग भर कर उस तेजस्वी मंडल में जाते हैं
उनके हित पहली-पहली सीढ़ी थी,
ये सब प्राणी तो इस भौम जाति के सजातीय हैं औ' इक संबंधी हैं,
औ' यह क्षेत्र हमारी मर्त्य दशा की इक सीमा बाँधता हुआ-सा स्थित है।

यह विशालतर जग है जो कि हमारी
इसकी सशक्त रचनाएँ हैं, जो निज
इसके प्राणी अरे हमारी अपनी
जिनकी हम शुरुआत यहां करते, उन
जो बनने का हम प्रयत्न करते हैं
भली भांति से सोचे और विचारे
जो समग्र हैं और जो हमारी विधि
विपरीत शक्ति-ज्वारों और प्रवाहों
वे अंतर के उस अदृष्ट 'नेता' का
उनके जीवन अन्तःप्रकृति के एक
वह थल महिमा-शोभा का आकर है,
वहां अंतरात्मा ही अपनी विधि की
और एक प्राणी भी तो बस उस थल
वे अपना पक्ष स्वयं ही चुनते हैं
वे जिस सुर का आराधन करते हैं
झूठ और सच के बीच इक समर का
औ' दिव्य 'प्रकाश' के लिए अपना इक
क्योंकि 'अज्ञता' भी तो अरे वहां पर
इक सुदूर तारे के प्रकाश के सँग
निद्रा के अंतरमें भी तो उस थल
और 'प्रकृति' भी उनके समीप चेतन
और एक आदर्श ही वहां उनका
सतत सूर्य के एकाधिपत्य के हित
वे अपने इक उन्नत शासन के हित
औ' निज कार्योंके भीतर बस उसके
उसकी प्रेरित वाणी को औ' अपने
औ' उसका जीवंत रूप पाने हित
जब तक न सूर्य-सुवर्ण भगवत्ता में
या तो 'अंधकार' के सत्य के लिए
'स्वर्ग' के लिए हो या 'नर्क' के लिए
वे शिवत्व' के महासूरमा बनकर
या कि 'अशिवता' के शूरवीर बनकर
क्योंकि पाप औ' पुण्य बराबर का ही
जहां कहीं ज्ञान है 'अज्ञता' अविरत,
अरे 'प्राण' की संपूर्ण शक्तियाँ ही

अरे महत्तर गतियों को देता है,
विकचमान आत्माओं को गढ़ती हैं,
जगती की सुदीप्ततर अनुकृतियाँ हैं,
आदर्शों को पूर्ण वहां वे करते,
निश्चित रूप से वे बने हुए हैं,
हुए कि जैसे वे शाश्वत चरित्र हैं,

द्वारा खींचे-झटके हुए नहीं हैं;
चुपचाप अनुकरण करते रहते हैं,
विधान का ही अनुपालन करते हैं।
और वीर नायक का सुठि संचक है,
इक चौकस औ' जागरूक सर्जक है,
जड़ औ' उदासीन के सरिस नहीं है,

उस सुर के वे दर्शन भी करते हैं।
आरंभ यहां पर बस हो जाता है,
तीर्थ-प्रयाण बस शुरू हो जाता है।
जिज्ञासा की एक अभीप्सा करती,
झिलमिल-झिल करती-सी और चमकती;
अरे एक ज्ञान उपस्थित रहता है,
एक शक्ति के समान ही आती है।
नेता होता है, राजा होता है:
एक अभीप्सा और प्रेरणा से भर
एक 'सत्य' का आवाहन करते हैं,
प्रत्यक्ष रूप को धारण करते हैं,
विचार में भरने हेतु ललकते हैं,
स्व जीवनों को तब तक गढ़ते रहते
उसकी, वे भी अपना भाग ले सकें।
वे अपनी सहमति, स्वीकृति देते हैं;
उन्हें समर इक लड़ना ही होता है:
एक दीप्त कारण की सेवा करते,
'पाप' के निपट सेवक बनकर रहते।
इक प्रभुता का अपना हक़ रखते हैं,
जुड़वाँ के सम उससे जुड़ी हुई है।
अपने देवत्व की ओर झुकती हैं,

उस वातावरण की बृहत्ता की औ'
सकल शक्तियाँ निज मंदिर निरमातीं

निज विधान के सौंदर्य और शोभा
की सुपुष्टि कर वह जीवन पर अपने
औ' जगती के सिंहासन पर अपना

औ' उसके ये पूजक उसके पावन
अरुणिम त्रिमुकुटधारी इक मिथ्या का,

जो बस मस्तिष्क को विकृत कर जाता,
जो 'आत्मा' का वध करवा जाती है।
प्रभुता-भरा हुआ एक पुण्य है जो
या इक दानव-आवेश है कि जो बस
बस 'प्रज्ञा' माता की इक वेदी के
या उनका जीवन एक 'शक्ति'-प्रतिमा
या 'सुन्दरता' उनके ऊपर भ्रमते

एक बड़ी व्याकुलता से वे उसके
'कला' और 'जीवन' में 'निखिल-सुन्दरी'
जिससे वे सारी जगती को अपना
साधारण आकार भी वहां जैसे
इक लावण्य औ' महत्ता जो छिपकर
वह उस आनन्द को जगा देती है,—
जो चुपचाप पड़ा सोता रहता है
चाहे उसकी एक महान् विजय हो,
स्वर्ग में किया प्राप्त कि सिंहासन हो
अरे उन्होंने वहां बराबर ही तो
अपनी आत्माओं को उसकी भीषण
फिर 'भाग्य' जहां भी उनको ले जाए,
कुछ तो कार्य उन्होंने यहां किया है,

'जड़त्व' आत्मा का परिणाम है वहाँ,
पार्थिव द्रव्यों के अभिनिहित सत्य के

नवल साहसिकता की दिशि मुड़ती हैं।
औ' अपने संप्रदाय को फैलातीं
वहां 'पाप' भी बस एक देवता है।

स्वाभाविक राज्य सरिस दावा करता,
आसन सह-अधिकार है जमा लेता,
या पुरोहिती चोग़ा धारण करता :
अधिकार की घोषणा करते रहते।
पोप सरिस सत्कार हैं किया करते,
कुटिल देव-छाया की पूजा करते,
तिमिर-'भाव' को इक अंगीकृत करते,
या हरजाई 'शक्ति'-सँग पड़े रहते,

आदर्श-भंगिमा को स्थिर कर जाता,
गर्वीली अशांति में ठेला करता :
वे राजा हैं या कि बस पुरोहित हैं,
पर सुसमर्पित, तर्पित एक यज्ञ है।
एक सितारे के सरिस चमकती है,
जो उनकी पहुँच से परे लगती है
प्रकाश का पीछा करते रहते हैं,
की एक किरण भर ही धर पाते हैं,
भ्राजमान कोषागार बनाते हैं।
चमत्कार से ही वस्त्रित दिखते हैं।
प्रत्येक घड़ी में हैं गुथे बराबर

यहां सृष्ट सारे द्रव्यों के भीतर।
या फिर उलटे एक महान् पतन हो,
या कि नर्क में पाया एक गर्त हो,
'द्वंद्व शक्ति' को ठहराया समुचित है,
मुद्रा से कर लिया कि मुद्रांकित है,
किन्तु कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर लिया है,
उनका कुछ तो निर्माण ही हुआ है,
और बराबर वे जीते जाते हैं।
वह आत्मा का कारण वहाँ नहीं है।
इक विपरीत संतुलन में अविरत ही

अरे स्थूल के लेखे-जोखे में तो
औ' अंतर के मूल्यों के ऊपर ही
जैसे अर्थपूर्ण वाणी बस अपने
आत्मा के आवेश में पगा जैसे
उसी तरह इस जग की सकल ऊपरी
किसी आन्तरिक शक्ति के लिए, पीछे
और एक 'मन' जो बाह्य इन्द्रियों से
उसने आत्मसूक्ष्मताओं को भी जो

और प्रणालीरहित जग-प्रभावों ने
और इस विदेह 'महाशक्ति' की प्रबल
जीवंत कार्य-विधियों की सारी गति
अरे यहां पर उपचेतनी शक्तियाँ
औ' घात की ताक में पड़ी भित्ति के
वे सब अपने आनन को उघारकर
उस थल गुह्य सत्त्व थे व्यक्त हो उठे,
और व्यक्त द्रव्यों ने गुह्य प्रकृति का
यों अपने कंधों के ऊपर उसने
औ' 'अदृष्ट' का भी अनुभव होता था
औ' दो मन जब आपस में मिलते थे
जहां न संभाषण-आवश्यकता थी,
दो हृदयों से और भावना ने उठ
दो हृदयों ने माँस, स्नायु-नाड़ी में
या एक-दूसरे में कि घुल-समाकर
जैसे जब दो घर जलते होते हैं
घृणा को घृणा ने कि दबोच लिया था
मन के अदृश्य प्रदेश के ऊपर बस
औरों के उद्वेग जहाँ लहरों-सम
औ' वे सूक्ष्म-देह की आकृतियों को
और क्रोध उनके पाशव हमले में
कँपती हुई भूमि पर जो कि खुरों की
एक दूसरे के दुख के हमलों को
और दूसरे का हर्ष भी रक्त को
और दूर से ही अंतर ज्यों खिंचकर
औ' वे स्वर जो कि विदेशी जलनिधियों

सूक्ष्म बराबर ही भारी होता है,
बाह्य जगत् सब आधारित रहता है।
विचार को लेकर स्पन्दित होती है,
कर्म सदुत्कंठा से भर जाता है,
और सचेतन रूप तथा रेखा यह
की दिशि स्फुरित बनी ताका करती है।
बँधा हुआ औ' सीमित बना नहीं है,
पकड़ी न जा सकें, आकार थे दिए,
थे कि रूप आकार प्रदान कर दिए,
सीधे आकर अपनी छाप लगा दी,

ठोस शरीरी स्पंदन में पलटा दी,
अलख बनी जो कार्य किया करती हैं,
पीछे दुबकी बाट लखा करती हैं,
अब एकदम सामने थीं प्रकटाई।

भी अपनी अनुपालन सतत किया था,
'अज्ञात' के भार का वहन किया था,
जो बाह्याकारों से टकराता था।
विचार विचार को हठात् लखता था,

था चुपचाप भावना से बस भेंटा,
अनुभव एक आपसी पुलक किया था,
धारण विशालता को एक किया था,
ज्वाल ज्वाल को लपक भेंट लेती है:
प्रेम, प्रेम के ऊपर बरस पड़ा था,
संकल्प, संकल्प से कि भिड़ गया था,
आ-आकर गुज़रते चले जाते थे,
कँपते रहने को कि छोड़ जाते थे,
उन्मत्त बने चौकड़ियां भरते थे
टापों का एक आक्रमण लगता था;
अपने अंतर पर अनुभव करता था,
पुलकित करता हुआ दौड़ जाता था,
आपस में अति समीप आ जाते थे,

के तीरों से आते थे, वे जैसे निकटस्थ बने ही जा सके सुने थे।
और एक जीवंत आपसी विनिमय का सुस्पन्दन वहाँ ध्वनित होता था,
अरे दूर होने पर भी अपने से प्राणी, प्राणी का अनुभव करता था,
चेतन, चेतन को उत्तर देता था।
फिर भी चरम एकता वहाँ नहीं थी।

और आत्मा का आत्मासे भी इक होता था अलगत्व यहाँ पर गोचर,
नीरवता की अन्तर-भित्ति एक थी रची जा सकी फिर भी उस प्रदेश पर,
इक चेतन शक्ति का कवच था जो बस रक्षा करता था और बचाता था,
औ' प्राणी अपने एकान्त में निपट होकर अलग बन्द भी रह सकता था,
बनकर वियुक्त, बस अपनी आत्मा में जी सकता, एकाकी रह सकता था;
फिर भी एक एकता वहाँ नहीं थी पूर्ण मिलन की और प्रशांति नहीं थी।
और सभी कुछ इस थल अपूर्ण ही था अर्धज्ञात और अर्ध-संपादित था,
नाँघा 'अचित्' चमत्कार जा सका था,
'पराचेतना' का पर चमत्कार तो अब भी अनजाना था, आत्मावृत था,
अननुभूत था औ' अज्ञेय बना था, पर उसने उन पर निगाह डाली थी,
अरे वही जो उनका आदि-स्रोत था, उसने ही नीचे स्वदृष्टि फेंकी थी।
वे उस 'अनन्त' निराकार का ही तो धर कर बस आकार एक प्रकटे थे,
एक अनामी 'शाश्वतता' की ही तो संज्ञाओं में अरे वहाँ जीते थे।
आदि-अंत दोनों ही वहाँ गुह्य थे,

इक निर्व्याख्या मध्यावस्था जैसे सहसा निज कार्य-निरत बनी हुई थी:
वे उन शब्दों के सम थे जो कि बृहत् शब्दहीन 'ऋत' से बातें करते थे,
वे इकाइयाँ थे जो भीड़ लगाकर उस असमाप्त योगफल पर छाए थे।
उनमें से सचमुच कोई भी निज को या कि जगत् को कुछ भी न जानता था,
अंतर मंदिरनिष्ठ बनी उस अपनी जीवित 'सद्वस्तु' से नहीं परिचित था:
उनको इतना ही बस फ़क़त ज्ञात था, ——
कि विश्व 'मन' ने उस निगुप्त 'अतिमानस' आगार से अरे जो कुछ पाया है,
उससे जगती को विरच बनाया है।

उनके नीचे इक अंधकार था औ' उनके ऊपर दीपित एक 'शून्य' था,
और महत् आरोहणशील व्योम में इक, वे संदिग्ध बने-से जीते थे,
और रहस्यों के द्वारा ही तो बस वे इक 'रहस्य' की व्याख्या करते थे,
जैसे द्रव्यों की पहेलिका से बस पहेली भरा इक उत्तर भेंटा हो।
इस संदिग्ध प्राणलोक के गगन में वह जैसे-जैसे बढ़ता जाता था,
वह अपने हित अपने आप ही अरे एक पहेली सरिस बना जाता था।
सब कुछ को इक प्रतीकवत् लखता था औ' उनके अर्थ की शोध करता था।

यहां मृत्यु के औ' जन्म के कूदते	तथा उछलते इन सब स्रोतों के पर,
और आत्म-परिवर्तन के प्रदेश की	परिवर्तन-शीला सीमाओं ऊपर
बढ़ते हुए सतत उस आखेटक ने	'परम-आत्मा' के सृजनात्मक पथ पर
औ' उस अंतविहीने खतरनाक इक	महान् जोखिम के बीच से गुजरकर,
पीछा करते हुए 'प्राण' के मुद्रित	उस दुर्जेय और दुर्धर्ष हर्ष का,
किया अनुसरण प्राणशक्ति की सुन्दर	औ' शक्तिशालिनी जीवन-लीकों का।
इस विशाल पग-गति में पहले-पहले	उसको कोई ध्येय नहीं दिखता था,
उसने यहाँ की फ़क़त सकल वस्तुओं	का विशाल केन्द्रस्थल एक लखा था,
जो उस पार कहीं अपने से भी इक	विशालतर केन्द्र को विलोक रहा था।
क्योंकि धरा की रीति-नीति से ज्यों-ज्यों	प्राण-शक्ति ने निज को अलगाया था
वैसे-वैसे 'अज्ञात' का दीर्घतर	खिंचाव उसको बस खींचने लगा था,
औ' इक मोचक विचार के उन्नततर	
प्रकरण ने एक चमत्कार के लिए	औ' खोज के लिए अग्रसर किया था;
बस क्षुद्र वस्तुओं की चिन्ता से छुट	उन्नत एक मुक्ति की श्वास मिली थी,
औ' समर्थतर एक कामना की औ'	आशा की एक मूर्ति वहाँ दिखी थी,
एक महत्तर सूत्र वहाँ आया था	एक महत्तर दृश्य वहाँ प्रकटा था।
दूर सुदूर के एक 'प्रकाश' के प्रति	वह चक्रित-वलयित थी बढ़ी जा रही,
हाँ, उसके इंगित जो कुछ प्रकटाते	उससे कहीं अधिक ढककर रखते थे;
अपनी इक तात्कालिक दृष्टि से तथा	इक तात्कालिक इच्छा से बँधे-बँधे
उपयोगिता की क्षणिक प्रसन्नता में	वे अपने स्व-ध्येय को गुमा चुके थे,
यहाँ तक कि अपने अनन्त आशय से	वे वंचित होकर और विलग होकर
अवास्तविक अर्थ से चमकते जैसे	एक शून्य के सम भासित होते थे।
प्राणशक्ति ने अपने इक जादूई	तथा शक्ति-उपसृष्ट धनुष से सज्जित
	बस ऐसे एक निशाने के ऊपर
जो उससे कि छिपाकर धरा गया था	अब जैसे अपना ध्यान जमाया था,
जिसको सदैव समझा दूर गया था	पर वह तो उसके अति समीप ही था।
जैसे अक्षर-अक्षर करके कोई	प्रदीप्त अक्षर-माला को पढ़ता हो,
जैसे जादूगर की जटिला पोथी	के कुंजी-सूत्रों को कि बाँचता हो,
उसी भांति योगी ने भी अब उसकी	
सूक्ष्म औ' जटिल तथा निपट मायावी	रूप-रेख का था अंदाज लगाया,
औ' पट से आवृत अति दुष्कर उसके	संकेतों के प्रमेय को पढ़ पाया।
और 'काल'-मरु की बीभत्स बालुका	
में उसके भीषण कार्यारंभों के	सतत सूत्र का था अब पता लगाया,
कुछ इंगित पाने हित उसने उसकी	कर्म-पहेली का अब किया निरीक्षण,
औ' उसके छाया-चित्रों के भीतर	'निषेध'-मुद्राओं का किया अध्ययन,

औ' उसकी लयकारी चल-धारा में
उसकी अनुक्रम परंपरा के चलते
जो उस छन्दोमय रहस्य की दिशि ही
और पलायनशील भूमि के ऊपर

उसकी आशाओं और विचारों के
उसकी अंतरंग इच्छाओं के बस
उसके सपनों के इक महापुंज से
असंबद्ध वृत्तों की सुजटिलता से
उन भागते हुए दृश्यों के भीतर
एक भटकते हुए अरे यात्री-सम
उसने उसके सकल इंगितों को ही
इक-इक व्यर्थानुमान के पीछे बस
भेंटा फिर-फिर सांकेतिक शब्दों से
एक सूर्य जो दृष्टि-नेत्र को अपने
ज्योतित पहेलिका के उसी प्रदीपित
इक पिधान ने, विचार-नभ के अति घन

औ' अस्पष्ट विशाल समाधि ने एक
मानो कोई खुली हुई खिड़की के
औ' झलकों के ऊपर पड़ती झलकों
गुमी हुई उस 'सद्वस्तु' के लिए जो
उसके आध्यात्मिक रोमांस के सतत
औ' पढ़ता था अब वह वहाँ बराबर
परमा-आत्मा के ही इक प्रामाणिक
मूँदे, बन्द पड़े सकल आशयों को

देख रहा था और अश्वपति उसकी
जो उसकी वांछनीय काया को बस

देख रहा था उसकी आवरणी पर
देख रहा था वस्तु-आत्माओं की
देख रहा था, प्राणशक्ति की झूठी
सिले हुए जैसे मूर्त कल्पनाओं

नर्तन के तरंग-उन्मद गीतों को,
अविरत भागे जाते हों, बस उनको
दौड़ रहे चरणों की एक दीप्ति को,
धर लेने का उसने किया इक जतन।
अरे ऐन्द्रजालिक एक नमूने में,
उन ऐकान्तिक जैसे उपमार्गों में,
उलझे-पुलझे पड़े हुए कोनों में,
कट-पिट गए हुए उसके वृत्तों में

उस विशृंखलता में गुमा दिया था,
असहाय सा बना वह भाग रहा था।
अजान बने हुए अपनी कुंजी से।
ही जैसे बस चकाचौंध करता था,——

जामन-वर्ण एक अवरोधक पट को
अपने प्रकाश से था जगमगा लिया:
निशि को उसके तारों से भेंटा दिया।
अवकाश के निकट अब वह बैठा था,
की इक विद्युत् चकाचौंध के द्वारा
आत्मा की चलती है खोज निरंतर,–
खुले हुए अध्यायों को पढ़ता था,

तथ्य से रची उसकी मनःसृष्टि को,
उसकी सनकों, मधुर कल्पनाओं को,
आवेशी अग्रहणीय तरंगों को,
और रहस्यमयी हृदय-रुझानों को।
गोपनीयता के भव्य वेष्टनों को,
अपनी पर्तों बीच छिपा देते हैं,
नेत्रों से देखने नहीं देते हैं,
बुने हुए महत्वपूर्णाकारों को,
अर्थभरी रचित रूप-रेखाओं को,
विचार-रँग की पारदर्शिताओं को,
के उन भव्य जरी के किमखाबों को,

औ' परिवर्तनशाली आवरणों को,
अरे 'सत्य' के धोखा देनेवाले
प्राणशक्ति के सहस-सहस वदनों ने
निज नानाविधि देहों से, अनजाने
औ' उन अनभिज्ञेय अशब्द मुखों ने
उसके छद्मवेश के रूपों में ही
या कि गुह्य महिमा से औ' उसके उन
पट-विन्यासों की सूक्ष्म भव्यता से
अज्ञात की टिमटिमानों में सहसा,

और निरर्थक लगते भाव वहाँ पर
और अदृष्ट उन प्रतीक्षक जगतों से
उन्होंने गुह्य 'आदिनाद' की काया

इक गुह्य 'विधान' के और जादूई
रेखा-चित्रों ने, कोई यथार्थ औ'
या कि 'काल' के अभिगोपित सत्त्वों की
एक अग्रदूत-पताका को फिर से

उसके हरे-भरे बीहड़ विजनों में

जोखिम जहाँ भेंटता है आनँद से,—
उसने उसकी गायक आशाओं की
यह इक नील-सुवर्ण और सिंदूरी
औ' दैवयोग-क्षेत्र-पथों की उसके

उसकी सर-सर करती सरिताओं पर
उसने उसके आनँद और हर्ष के
और स्वप्न औ' चिंतन के सुमनों की
जैसे आनन्द से हठात् हृदय के
यों ही बस उसके लोहित सूर्यों की

लौकिक पुष्प की एक अरुणाभा की
औ' उसके मध्याह्नों की निद्रारत
शोभा में इक आवृत्ति को निरंतर

छद्मवेशवाली चित्रित चिकनों को।

नेत्रों के द्वारा अब उसको देखा,

किया उच्चरित जैसे अपना लेखा,

बाहर आकर था कि उन्होंने झांका।
वे अवर्णनीय नाद औ' स्वर भी सब
सत्य प्रकटकर्ता और बन गए थे,
यथा सत्य को झलका सतत रहे थे।
जो भी स्वर और उतर कर थे आए,
को वस्त्रित करने हित 'अनभिव्यक्त' के
गुह्य अक्षरों को था किया उच्चरित,

अपठनीय साम्य को किया मुद्रांकित,

सुसंगठित औ' चिह्नित कर लेने को
रँग, औ' आकारों में किया प्रयोजित।
औ' उसकी प्रच्छन्न गहनताओं में,
उसके प्रमोद के उन तरु-गुल्मों में,

अभिगोपित पांखों की इक झलकी ली,
अग्नि-ज्वाल की जैसे एक झलक थी।
इक सीमा को निर्धारित करती-सी
उसकी छिपी हुई गुह्य बीथियों पर,
औ' उसकी सुशान्त झीलों के तट पर,
स्वर्ण-फलों की आभाओं को जोया,
आभा-सुषमा का इक दर्शन पाया।
रूपान्तर का जादू सिद्ध हुआ हो,
अपनी रससिद्ध एक मधुर दीप्ति में
आत्मिक प्रेम की महा-बलि के तरु पर
उसने इक उन्मादी विकचन देखी।

घटते यहां 'काल' में उसने देखा,—

देखा, रहस्य की सरिता के ऊपर
उड्डीय गोधिका-सम 'विचार'-नर्तन
पर उसकी कल-कल की सतत दौड़ का
और सुना, फिर उसने उसकी पाटल-
जो भाग रही थीं, ज्यों भागी जाती
सुनी, कल्पना-पायल के घुंघरूकी
अब वह प्राणशक्ति के निगुह्य जीवित
औ' उनको अब जैसे एक निकट के
उस जीवन में, जो मानव-जीवन के
अंतर्निहित सत्यता के अंतर की
जिसे हम यहां सोच-सोच रह जाते

जो उधार के बाह्याकार को यहां
उसकी सुशक्तिशाली उस एकलता
उसकी निष्ठुर उँचाइयों पर जाकर
अब वह प्राणशक्ति के सँग उन ऊँचे
जहां कि प्राण और सत्ता, ये दोनों

देखा उसने कि प्राण ने 'अनन्तता'
में, अर्थपूर्णता के आवृत गरुड़ों
'विचार' के उन संदेश-वाहकों को
आत्म-दृष्टियों औ' आत्मबोध के सँग
उतरा उसकी गहराइयों में और,
वह जो कुछ थी, या जो कुछ बनने को
उसके ही विचार सँग विचार करता
उसके श्वासों सँग जीता औ' उसके
कि कभी उसकी आत्मा के रहस्य को
वह ऐसा साक्षी था जिसको उसके
औ' प्राण की भव्य अग्रिम शोभा को

उसके नाजुक और सुसमृद्धिशाली

और नाद के इक आग्रह पर उसके
उसकी शक्ति के और मायाजालों
उसकी अप्रत्याशित औ' रहस्यमय

जो ऊपर-ऊपर तिरते तो रहते,
प्रेक्षण और परीक्षण कभी न करते,
सम इच्छाओं का इक हास्य मनोहर
हों निज चिर इच्छित हाथों से बचकर,
रुनझुन की मीठी गुंजार हृदयहर।
सुप्रतीकों में होकर घूम रहा था,
सत्याभासों-सम अनुभव करता था :
स्व जीवनों से भी अत्यधिक ठोस था,
धड़कन के सुस्पन्दन को सुनता था;
या अनुभव भर लेकर चुप हो जाते
वहां देह धरकर वह साक्षात् था,
धारण करता, वहां स्व-आकारित था।
के द्वारा वह स्वीकृत बना हुआ-सा,
'नीरवता'-साथी-सम खड़ा हुआ था,
ध्याननिरत शिखरों पर जाकर स्थित था,
उस पवित्र धार्मिक ग्रंथ के सरिस हैं
'परासत्य' पर जो भेंट चढ़ चुका है,

को निज, उड़ने के हित छोड़ दिया है,
'अज्ञेय'-अगमता में खोल दिया है।
वह इकदम तादात्म्य बन गया ऐसे
प्रविश रहा हो कोई घर में जैसे,
लालायित थी वह भी वही बन गया,
औ' चापों के सँग यात्रा करता था,
नेत्रों के सँग सब जगत् थहाता था,
वह भी जान सके और समझ पाए।
दृश्य ने कि था अभिभूत बना डाला,
उसने बनकर विमुग्ध खूब सराहा,
उसकी क्रीड़ा को औ' तड़क-भड़क को
सूक्ष्म शिल्प के अद्भुत चमत्कार को
प्रशंसाभरी निज दृष्टि से निहारा,
रोमांचित बन-बनकर सब कुछ वारा।
को आवेशित बन-बन सहा, सँभारा,

संकल्पशक्ति को बस उसने अपने
वक्षस्थल पर अनुभव किया कि जैसे
अनुभव की हाथों की उग्र पकड़ इक
एक स्पर्श को, जो सबको गति देता
और शक्तियों को उसकी जो आकर

किन्तु साथ ही उसने यह भी देखा,–
व्यर्थ बनी-सी उसकी शोधें अविरत,
उसकी आशाएँ, जिनकी गंभीरा
आवेश, कि जिसने उसके इच्छातुर
उसके आतुर वक्षस्थल के आनँद
देख रहा था उसके मन को, जो है
उसके अंतर को, जो निज एकाकी
सदा एक आवृत और शोधशीला
इक निष्कासित देवी जैसे अविरत
वह एक 'स्फिक्स' शक्ति थी कि बस जिसकी

सदा सदा ही वह अब प्राणशक्ति के
आकारों में उनकी आत्मा की इक
जिसकी अक्रिय एक उपस्थिति ही तो
जो कि यहाँ दिखलाई पड़नेवाली
यहां तक कि पृथिवी पर भी यह आत्मा
पर उसकी ठोस बाह्य आकृतियों में
औ' फिर उसके कार्यों में तो उसकी
गुमी हुई निज उँचाइयों प्रति उपजी
केवल कभी-कभी ही छायिक कोई
जो आवृता वास्तविकता के कोई
प्राणशक्ति ने अस्पष्ट तथा उलझी
स्व रूप-रेखाओं को लेकर जैसे

जिसे न आखें धारण कर सकती हैं,

पीछा करनेवाले नृप-नेत्रों से
जैसे वे अंशात्मक ही थे औ' बस
प्राणशक्ति की यह ऊपरी मुखाकृति

थी अनजाने एकाएक आ जमी
जो विधि को है माड़ा-मींजा करती

बलात् निज अधिकार जमा लेती हैं,
औ' फिर संचालित करने लगती हैं।
उसकी आत्मा जो भीतर रोती थी,
जो भागते सत्य को पकड़ रही थीं,
दृष्टि निराशाओं से भेंट रही थी,
अंगों पर निज अधिकार कर लिया था,
और दुःख,—इन सबको देख रहा था,
असन्तुष्ट बनकर श्रम करता रहता,
'प्रेमी' को न झपट कर है धर पाता।
'महाशक्ति' से वह मिलता चलता था,
नक़ली स्वर्गों को रचती जाती थी,
आँखें गुप्त सूर्य पर लगी हुई थीं।

समीपता अनुभव करता जाता था,
उसके स्वभाव की संपूर्ण शक्ति थी;
वस्तुमात्र का केवल एक सत्य है,
ही तो सारे जीवन की कुंजी है,
कहीं नहीं इसका एक चिह्न भी है।
मुहर ढूंढ़ना एक अशक्य कार्य है।
मनोवेदना उसका आवेदन है।
दिशा यहां पकड़ी धरी जाती है,
इंगित-सम हमको भासित होती है।

योगी नृप पर थी निज दृष्टि गड़ाई,
ऐसी इक तसवीर उसे पकड़ाई,—
ऐसी एक कहानी और सुनाई
न गई जो उस थल भी लिखी लिखाई।
उसके अर्थ यों पलायन करते थे
आधे गुमे हुए रेखा-चित्रण थे।

उसकी सच्ची औ' असली आत्मा को
उसका गुह्य बोध या तो बस भीतर
औ' विचार जो इसे अर्थ देता है
और अधूरे इस रेखा-चित्रण में,
चकरा देनेवाले संकेतों को
आधी कही गयी एक पहेली के
पूरे शब्दों के पाने की खातिर
केवल उसी महत्तर प्राणलोक में
कोई व्याख्याकारी और शब्द निज
जो भू की इस पौराणिक गाथा को
सत्य की तरह दिखनेवाली आखिर,
बड़ी साहसिक-सी रहस्यमयता के
वह दृष्टि जो देख औ' लख सकती है
उसने स्पष्ट धुंधरके के भीतर इक
औ' जिस जगती में वह घूम रहा था
उससे ही आश्चर्यचकित-सा बनकर
झाँकते हुए उसने आधी अंधी
फिर भी वह इक प्रकाश का सभान था
और विलक्षण सुदूर टिमटिमाहटों
सुदूरवासी वंशीधर की वंशी-

लक्ष-लक्ष बढ़ते उसके चापों की
इक पूर्ण तथा गहना अनन्तता प्रति
उसके इंगित-अरण्य ने चहुं मुख से
सहसा 'विचार'-शर-मोचन के द्वारा
जो अनुमान से कभी, या फिर ज्योतित
उनसे बदलते रँगोंवाले उसके,
और अनिश्चित त्वरित घटी घटना के

वह पढ़ता था उसके उन भड़कीले
और 'काल' के उलझे-पुलझे सुजटिल
वह अपने आगे को बढ़ने की औ'
पीछे हटने की उलझन में उसको
पर जब उसके अति समीप आ जाती

आँखों से बस छिपा-छिपा रखती है;
या उन्नत देशों में लिखा पड़ा है।
वह तो इससे बहुत परे बसता है,
वह तो नहीं दिखाई पड़ सकता है।
पढ़ने की हम व्यर्थ आश करते हैं,

या कि व्यर्थ हाथ-पाँव फटकाते हैं।
आकर गुह्य विचार एक मिलता है,
संकेत को यहां कुछ झलकाता है,
भी आकर बोधगम्य बनवाता है।
कोई वस्तु तो यहां लखी गई थी।
अर्धप्रकाशित एक वायुमंडल में
अंधकार में औ' इक अर्ध सत्य में,
था कोई प्रतिमा का रूप विलोका,

वहां सूक्ष्म रंगाभासी कुहरे में
औ' बन्दी एक दिव्यता को देखा
जो आत्मा को अभिप्रेरित करता था।
से जैसे वह बना हुआ आकर्षित,
ध्वनि के पीछे-पीछे बना अनुचरित,
उसने प्राणशक्ति के सतत हास्य में
औ' अविराम उठ रहे आवाहन में
इंगितकारी घोर अव्यवस्था में,
निज मार्ग को किया अविरत संधानित।
भीड़ लगाकर उसको घेर लिया था:

इक संयोग से, निशाना करते थे,
विभावना के उन मार्ग-दीपकों को,
उसके, उठे हुए तीव्र सिगनलों को,
वह स्पष्ट रूप से मानो पढ़ता था,
प्रतीक-दृश्यों की चित्रित भाषा को,
मार्गों के उसके सीमाचिह्नों को।

हर ओर खींचती औ' धकियाती है,
उसके आलिंगन से छुट जाती है;

सब मार्गों पर उसको ले चलती है,
उसके संगीतों से उठनेवाले
उसकी नाना मनोदशाओं की औ'
कभी कदाच मिले उसके दुख-सुख के
बस अपने को उसमें खो देता है,
उसे प्राणशक्ति के चखों में चंचल
वह सपनाता है उसकी सुन्दरता
वह सपनाता, उसके आधिपत्य को
वह सपनाता है, उसके आनँदमय
'प्रभु' के पवित्र, मौलिक आदि ग्रंथ के
उसके ही कल्पित अनुवाद को यहाँ
उसकी ही ज्योतित लिपि में वह अविरत
इक 'अद्‌भुत' 'शास्त्र' की तरह पढ़ने का
जो अज्ञात स्वर्ग-सुख की इक अनुपम
किन्तु 'प्राण' का 'पूर्ण शब्द' तो उसकी
और 'प्राण' के संगीत ने यहाँ पर
ध्वनि के घर में बन्दी बनी हुई-सी
बस अनदेखी-सी यह वैश्विक आत्मा
सहस स्वरों को लेकर उठनेवाले
इक जादूई नाज़ुक ताना-बाना
अखिल चमत्कार इक उसके रंगों
फिर भी वे एक क्षणिक-सी शोभा की
और 'काल'-भ्रमणक के द्वारा अविरत
जहाँ क्षणस्थायी और असंतोषी
या मन और बोध के बलात्कारों

एक अंध अंतर-पुलकन जो आंसू-
शिखरारोहण की औ' इक उत्कंठा

ये सब स्वर्ग-दिशा में प्राण शक्ति के
अतीत पीड़ा की वे सारी स्मृतियाँ
इक प्राचीन उदासी की ही मीठी
आँसू-लड़ियाँ इक हीरक दुख के ही
उसका शोक, वेदना सब संगीती
खींच निकाले सुख की मीठी घड़ियाँ

पर कोई भी मार्ग नहीं निश्चित है।
नाना-स्वरी चमत्कार पर विमोहित,
जादूगरी पर बना-सा आकर्षित,
स्पर्शों से बनकर वह और अभिद्रवित,
पर उसको फिर भी न विजित कर पाता
स्वर्ग दिखाई देता है मुसकाता।
को, कि सदैव बनाकर निजी धरेगा,
अरे 'प्राण' का अंग अंग ढोएगा,
वक्षस्थल का चमत्कार चाखेगा।

है जैसे बस विचार करता रहता,
है पूत और पावन एक कुंजिका।
ही लिपि के भीतर बस अभिगोपित है,
स्व-दिव्य स्वर को जैसे गुमा दिया है,

सपने की महिमा-शोभा में खोई
इस माया-गायन को सुनती रहती।
उसके अंतर को हर-हर लेता है,
और स्वरों को डुबा-डुबा देता है,
पुलकन को ही तनिक जगा पाते हैं;
भ्रमती कूच यह शुरू हो जाती है,
इक आनँद को वे आवाहित करते
के भोगों में हैं वे लोटा करते,
पर आत्मा का दीप्तोत्तर खो देते।
माला द्वारा आनन्द को पहुँचती,
जो न वहाँ तक कभी पहुँच है पाती,
अपूर्ण इच्छाओं की आनँद-थाती, —
अंतिम स्वरारोह का पीछा करते।

दौड़ रही लीक में बदल जाती हैं:
रत्नों में बस पलट-पलट जाती हैं।
सुचमत्कारी किरीट बन जाती हैं।
टिकती नहीं क्षणस्थायी होती हैं,

जो बस एक उपरितल को छूती है
और भाग जातीं फिर, मर जाती हैं;
उसकी गहराइयों बीच खोई स्मृति
इक, आ-आकर गूंज-गूंज जाती है,
उठती रहती, इक अमर लालसा है,
आवृत आत्मा का इक आवाहन है;
और मर्त्यता की सीमित जगती में
अरे चेतना बन्दी बनी हुई है,
जीवन से घायल बनकर वह अपने
अंतर ही अंतर में सुबक रही है:
पाली-पोसी हुई वेदना ही इक
उसके अंतर की गहरी पुकार है।
यथा निराशाजनक त्यक्त मार्गों पर
इक भ्रमणक-सम इत-उत घूम रही है,
औ' ध्वनि के इन पंथों के ऊपर बस
परित्यक्त इक स्वर सतत भटकता है,
जो इक बिसरे सुख को पुकारता है।
वह 'कामना'-कन्दरा की प्रतिध्वनि में
बस इत-उत भटकी-भरमी फिरती है,
औ' इक आत्मा की मृत आशाओं की
प्रेत-छाय की रखवाली करती है,
नष्ट हो चुके द्रव्यों की ध्वनियों को
बना-बना जीवित सयत्न रखती है,
या कि दुःख के अंतर में ही सुख का
इक शिकार करते रहने की ख़ातिर
भटकी और मधुर ध्वनियों के तीरे
ठहरी अटकी हुई पड़ी रहती है।
एक विधातृ हाथ ने विश्व-वीण के
तारों पर अपनी उँगली रख दी है,
और क्षुब्ध स्वर की यह छेड़छाड़ जो
अंतर के संगीत की सुअभिगोपित
मधुर कुंजिका को ढक-ढक रखती है,
अश्रुत बनी भी, उस लय से यह कुंजी
उपरि लयों को संचालित करती है।
फिर भी तो जीना औ' सर्जन करना
सतत एक आनँद का ही द्योतक है,
तथा प्रेम और परिश्रम करना भी
यहां एक सुख का ही आवाहक है,
गो, यह व्यर्थ सभी कुछ बन जाता है,
और शोध भी अद्भुत सुख लाती है
सब शोध-फल गो हमें छल जाता है,
आश्रय धर जिस पर झुकते, वह सब कुछ
विश्वास को हमारे छल जाता है;
फिर भी उसकी गहराई में कोई
तथ्य, दुःख-श्रम चुका-चुका जाता है,
आवेशापन्न एक स्मृति है जो बस
आनँद-अग्नि लिए घुस-घुस आती है।
यहाँ तक कि शोक भी जड़ों के नीचे
अपनी, छिपा शुद्ध सुख को रखता है:
क्योंकि रचा जो कुछ है उस 'एकम्' ने
असल अर्थ में व्यर्थ नहीं कुछ भी है,
औ' परास्त हृदयों में भी तो अपने
'प्रभु' की शक्ति एक जाती बच ही है,
और विजय का इक नक्षत्र हमारे
हताश पथ को ज्योतित करता रहता;
और मरण अपना नव-नव लोकों को
जाने का ही एक मार्ग बन आता।
अरे यही है जो 'प्राण' के गीत को
स्तुति की आवेश-लहर से भर जाता।
इस प्रकार सब कुछ को ही वह अपने
नाद की मधुर महिमा प्रदान करती;
सकल 'स्वर्ग'-उल्लास हृदय में उसके
एक मंद-सी खसुपुस कर जाते हैं,
दबे पाँव धर और चले जाते हैं,

और धरा की नश्वर उत्कंठाएँ	उसके ओठों से गुहार उठती हैं,
	औ गुहार कर बेदम हो जाती हैं।
बस 'प्रभु'-प्रदत्त स्तोम को फ़क़त उसकी	कला-चातुरी पकड़ नहीं पाती है,
जो उसके सँग-सँग उसके आध्यात्मिक	गृह से ही सीधे आया होता है;
पर वह इक आधे पथ पर रुक कर भी	और ध्येय में निज असफल होकर भी
ऐसा नीरव निनाद है, जो फिर भी	
प्रतीक्षानिरत लोकों के इक गहरे	विराम में अभिजाग्रत बना हुआ है।
और शाश्वती की चुप्पी के भीतर	रुकी और ठहरी-सी एक गूंज है।
किन्तु परात्पर-महाशान्ति से कोई	श्वास नहीं उसके समीप आता है:
यह सब इक शानदार विष्कंभक है	जिसकी ध्वनि कानों को छा लेती है
अंतर उसे ध्यान देकर सुनता है,	औ' आत्मा निज स्वीकृति दे देती है,
'काल'-शाश्वती को क्षणभंगुरता पर	
लुटाती हुई वह एक क्षणस्थायी	संगीत को बराबर दुहराती है।
अरे काल-नादों की विस्मृतिशीला	
ध्वनि-तरंग उच्च अभिप्रेत कथा को	हम से अविरत ढक-ढककर रखती है
जिसको यह स्वयमाकारित आत्मा आ	
'प्रकृति-शक्ति' की इस अद्भुत वीणा र	यहाँ बजाने को अवतरित हुई है।
शाश्वत 'शब्द' का एक सशक्त कल-वल	इधर-उधर है फ़क़त सुनाई पड़ता,
उन्मद् आनन्द का और कोई 'स्वर'	है इन कानों में आ रमता रहता;
या 'सुन्दरता' का इक स्पर्श, हृदय औ'	इन बोधों का रूपांतर करता-सा,
भ्रमणशील यह सारी शोभा-महिमा,	और एक क्रन्दन सुरहस्य भरा-सा,—
अरे सभी ये, कोई शक्ति-महत्ता	
और मधुरता, जो न सुनी अब जाती,	उसको चुपके से हैं सुधिया लेते।
और यहीं इक भारी अंतराल है	यहीं परम रुद्ध 'प्राण'-बल होता है,
	या कि दरी में एक डूब जाता है,
इस घाटे से जादूगर का कौशल	बस इकदम दिवालिया बन जाता है:
यही कमी एक, और सब कुछ को भी	दुर्बल और क्षीण कर-कर देती है,
	उसको और दरिद्र बना जाती है।
अर्द्ध दृष्टि ही इक उसके कार्यों की	क्षितिज-रेख को बस खींचा करती है:
पर वह जो करने आई है उसको	उसकी गहराई कुछ सुधियाती है,
लेकिन मन ने उसको भुला दिया है,	अंतर उसे अन्यथा ही समझा है,
और 'प्रकृति' की अंतविहीन दिशाओं	बीच कहीं गुमकर 'ईश' रह गया है।
फिर सर्वज्ञानता को यहीं खींचकर	एक ज्ञान के भीतर कस-कस धरना,
औ' उस महान् 'सर्वशक्ति' को लेकर	यहाँ कर्म के भीतर रोपित करना,

यों बस अपने 'स्रष्टा' को ही रचना
इस फैले वैश्विक रूपायन पर उस निरे 'ईश' को लेकर हमला करना
उसका यह ही हृदय-विकल्प एक है।

उस नीरव और सुदूर 'निरतिशय' को
यहाँ सर्व-परिपूर्णकरी प्रकाश के दिव्याविर्भाव में बदल देने को,
'अकथनीय' की शब्दाभिव्यक्ति में औ' संपूर्ण रूपांतरित कर लेने को,
अविरत घोर यत्न में निरत बनी है,

कि वह 'परमब्रह्म' की महान् शक्ति की महिमा को नीचे उतार लाएगी,
कि वह महाशक्ति को इक सृजन-लय के सुख-दोलन में बदल-बदल डालेगी,
उस स्थिर औ' शान्त प्रकाश के संग इस आनँद-सागर को परिणीत करेगी।
औ' एक अग्नि उठकर शाश्वतता को यहाँ 'काल' में आवाहित कर लेगी,
फिर शरीर के मोद-प्रमोदों को भी आत्म-मोद के सम ही निखार देगी,
और धरा को उन्नत उठाकर यहीं उसे स्वर्ग का निकटस्थ बना देगी,
वह प्रयत्नरत है जीवन को भी बस उस 'परमातिपरम' के समान कर दे,
'शाश्वत' के सँग पाताल का और फिर सामंजस्य कराकर मिलन करा दे।
परात्पर 'सत्य' के साथ जो उसका प्रयोगवाद एक है चलता रहता,
वह नीरवता को है बस देवों के नानाविध नादों से भर-भर देता,
पर इस कोलाहल के बीच यहाँ वह केवल 'वाणी' तो लुप्त हो गई है।
क्योंकि 'प्रकृति' की दृष्टि तो अरे उसके कर्मों के उस पार लाँघ जाती है।
वह स्वर्ग में एक दैवी जीवन को उन्नत दृष्टि किए है देखा करती,
औ' बानर से धीरे-धीरे करके पनप रहे अर्द्ध देव को निहारती,
इन नश्वर तत्त्वों के बीच अरे बस केवल इतना ही वह कर-धर सकती।
और यहाँ अर्द्ध देव, अर्द्ध असुर ही उसकी उन्नत चोटी है इक दिखती:
अरे इस प्रकार यह महत्तर जीवन धरा औ' गगन बीच झूलता रहता,
इक तीव्र विरोधाभास है यहाँ जो उसके सपनों को पछुआया करता:
उसकी आवृत ऊर्जा अज्ञ जगत् को
इक ऐसे आनँद के प्रति, फिर जिसको उसकी अपनी पकड़ स्थगित कर देती,
है बस अविरत प्रेरित करती रहती:

उसके आलिंगन में बँध तो जगती स्व स्रोत की ओर नहीं है मुड़ सकती।
असीम है उसका बल, अन्तहीन है कर्मों का यह विशाल यत्न निरंतर,
भटक गया है महान् महत्त्व उसका और रह गया है ज्यों विस्मृत होकर।
यद्यपि वह सारी जात वस्तुओं के विधान को औ' इस यात्रापर छूटी
उनकी सब वक्रिल चापों को, अपने निगुह्य वक्षस्थल में धारण करती,
फिर भी उसका ज्ञान आंशिक दिखता,
और ध्येय उसका नन्हा ही लगता;

बस उत्कंठा की धरती के ऊपर
पर 'विचार'-पंखों के ऊपर उस स्थल
अपने परिधान से शक्ति उसकी है
उसकी कार्य-प्रणाली, तथा पुरुष की
उसके सकल आधिपत्यों के भीतर
औ' संतोष तथा शान्ति का कहीं भी
क्योंकि अरे उसके सारे कार्यों की
गहना गहराई में, सुन्दरता में,

बस अब एक पुराना-सा धूमिल-सा
फिर तो योगी के हित उसका अद्‌भुत
क्योंकि अश्वपति की विशाल आत्मा थी
उसके उस गोरखधंधे से अब वह
पर न उसे श्रृंगों औ' गजदन्तों का
द्वार मिला और न उसने आध्यात्मिक-
उस स्वप्निल आकाश से उसे बचने
अरे 'काल' में होकर अपनी सत्ता
मृत्यु नहीं सहायता पहुँचाती है,
बस एक गुप्त 'संकल्पशक्ति' है जो
इस अपने जीवन का बस विराम तो
यह न समाप्त कहीं भी हो सकता हैं
और मृत्यु तो एक मार्ग भर है, वह
गहन पुरातन हृदयावेग एक है
इक गुप्त रज्जु है जिसके द्वारा निज
एक जन्म से बस, दूसरे जन्म तक,
एक लोक से बस दूसरे लोक तक,
औ' शरीर के च्युत हो जाने पर भी
यह यात्रा अविराम चला करती है
कोई नीरव शिखर नहीं मिलता है

कितनी दूर-दूर भी वह बढ़ता, पर
जिधर कहीं भी अपनी दृष्टि घुमाता

प्रत्येक बार और अधिक इक धंधा

उसकी शानदार घड़ियाँ हैं बढ़तीं।
गुरु 'निश्चेतनता' इक भार डालती,
अंतर पुरुष को दबाए-सी रहती,
अमर-दृष्टि को बना बन्दिनी रखती।
सीमा-बोध एक फेरी देता है
निश्चय कोई कभी नहीं होता है:

प्रज्ञा-अभाव एक खटकता रहता,
जो आत्मा को फ़क़त मुक्त कर सकता।
लावण्य भर वदन पर उसके दिखता।
औ' जीवंत ज्ञान बे मज़ा हो गया,
उससे भी गहरा आनन्द माँगती,
बचने की इक धुन में लगा हुआ था,

दृष्टि का पृष्ठद्वार ही कहीं पाया।
का कोई न निकास नज़र में आया।
के क़ाफ़िले को कि बढ़ना ही होगा:
समाप्त होने की भी आश व्यर्थ है;
सब सहने को मजबूर बनाती है।
उस 'अनन्तता' की ही सुअंक में है;
इसका अंत 'परम जीवन' में ही है।
निज यात्राका अंतिम ध्येय नहीं है:
जो अविरत बस श्रम करता रहता है:
आत्माएँ हैं सतत घसीटी जातीं,

इसी प्रकार बराबर चलती रहतीं,
कर्म सतत प्रसृत होते रहते हैं,
जैसे उसका कोई अंत नहीं हो।
जहाँ 'काल' इक विराम ले सकता हो।
बस यह एक चमत्कारिक सरिता थी
जो न सिंधु तक अपने पहुँच सकी थी।

कर्म-चक्र उसके सँग दौड़ रहे थे,
दौड़ में उसे पीछे छोड़ रहे थे;
करने का काम उसे बढ़ जाता था।

उस, प्रशांत जगती में सदा-सदा बस
एक कर्म की धड़कन और खोज की पुकार अविरत फूटी-सी पड़ती थी,
इक व्यस्त सी गुनगुनाहट होती थी जो 'काल' के हृदय को भरे हुए थी।
सब कुछ एक प्रकल्पन ही था औ' बस या कि अनवरत कोई आन्दोलन था।
जीवन की शत-शत प्रणालियाँ फिर भी तरह-तरह से परखी वहाँ गई थीं,
लेकिन वे सब बेकार हो गई थीं:
एक एकरूपता ने वहाँ जैसे सहस सहस आकारों को धारा था,
जो अपनी लम्बी इकरसता से बच भाग निकलने का प्रयास करती थी,
औ' ऐसे नव रूपों को गढ़ती थी
जो शीघ्र ही पुरावत् हो जाते थे।
यह एक विलक्षण, अनुपम सज्जा थी जो आखों को आकर्षित करती थी,
जो कि पुरानी विषयवस्तु को लेकर
और उसे ही घिस-घिस नवलीकृत कर नव महत्त्व को ले तैयार हुई थी,
जो नव परिवर्तन, आकर्षण देकर बस मन को अविरत छलती रहती थी।
जो इस वैश्विक धूमिल पृष्ठभूमि पर एक नए चित्र के सरिस दिखती थी
फिर भी होती तो वह वही-वही थी।
बस इस श्रमरत मन और इस हृदय को,
उन जीवों, उनके कर्मों, घटनाओं की एक दूसरी ही भूल भुलैया,
बन्दी आत्मा की व्यापार नगरिया
और सृष्टि की हाट तथा उसकी सब सामग्री, जैसे भेंट की गई थी।
एक पूर्णता के अनजान मार्ग पर,
चलने औ' विकास पथ पर बढ़ने को अग्रिम औ' शाश्वत कूच के नाम से,
यह एक वृत्त है ऐसा कि जहाँ से चला था वहीं आ समाप्त होता है।
उसका प्रति अंतिम प्रारूप और बस उसी योजना पर पहुँचा देता है।
फिर भी तो प्रत्येक नया प्रयाण बस अंतिम सरिस हमें प्रतीत होता है,
सकल 'काल' के अशुभ निवारण के हित, इक रामबाण का ज्ञापन करता-सा,
औ' विचार को अपनी एक आखिरी उन्नततम उड़ान तक ले चलता-सा
परम शोध की सुघोषणा करता-सा
इक उन्नत, प्रेरित मत सम होता है, किसी वाद की चरम शिखा लगता है।
प्रति नन्हीं भावना जो कि कोई भी नाशवान् ढांचे-सम रची गई है,
वह सब स्व प्रशासन की शाश्वतता को ही बस अविराम प्रकाशित करती है,
द्रव्यों के पूर्णाकारी होने के, सत्य की परम-चरमतम उँचाई के,
और 'काल' के स्वर्णिम महा श्रेय के दावे की एक घोषणा करती है।
फिर भी अनन्त मूल्योंवाली कोई वस्तु नहीं अब तक प्राप्त की गई है,
जगती है इक बनी सतत नवीन जो, किन्तु कभी भी पूरी नहीं हुई है,

जिसने लुप्त प्रयत्नों पर अविरत ही अर्द्ध प्रयत्नों के पुंजों को लादा,
इक टुकड़े को ही जिसने लेकर बस शाश्वत 'समग्रता' सम जाना-समझा।
और किए कार्यों के एक अनुक्रमिक बढ़ते सतत ध्येयहीन योगफल में
यह सारी सत्ता एक व्यर्थ की-सी आवश्यकता का कि कर्म है लगती,
प्रतिद्वंद्विता की एक घनिष्ठता से
जकड़े परिवेष्टन की जकड़-पकड़ में शाश्वत विरोधियों का मल्ल दीखती,
उपसंहाररहित और भावविरहित इक नाटक के समान प्रतीत होती,
उद्देश्यरहित-से और जीवनों की एक भूख-यात्रा-सी बस लगती है,
कि 'आकाश' के खाली श्याम पट्ट पर
आत्माओं के व्यर्थ और आवर्ती एक योगफल सरिस लिखी लगती है,
दम तोड़ चुकी-सी आशा लगती है,
अप्रकाशित रह गई विभा लगती है,
धूमिल शाश्वतता में कर्मनिबद्धा एक असिद्ध 'शक्ति' का श्रम लगती है।
इसका कोई अंत नहीं औ' अब भी कुछ न हमें दिखलाई पड़ सकता है:
गो कि पराजित है यह प्राणशक्ति पर संघर्षरत बराबर बढ़ती जाती;
अविरत इक शीर्ष मुकुट को निहारती किन्तु जिसे वह ग्रहण नहीं कर पाती;
अपनी पतितावस्था से सुदूर इक परालोक पर दृष्टि गड़ी है उसकी।
उसके अंतर के भीतर, पर अब भी
और हमारे हृदयों के भीतर भी इक महिमा-शोभा, जो कभी निजी थी,
जिसकी आज निशानी तलक नहीं है, — वह चुपचाप वहाँ है स्पन्दित रहती,
या, फिर भी इस पंगुलोक से अपहुँच,
असिद्ध परालोक से हमको कोई महत्ता वहां है अविरत पुकारती।
इस मर्त्य बोध के पीछे इक स्मृति में
इक विशालतर, सुखितर सपना अपना वातावरण लिए अचलाया रहता,
जो आनन्द, प्रेम के मुक्त अंतरों में ही बस अपनी श्वासें भर सकता,
जिसको हमने भुला दिया है, पर जो गुमे 'काल' में अमर बना रहता है।
इक आनँद का प्रेत आज भी उसकी सुगहनताओं में फेरा देता है,
यद्यपि अब वह बहुत दूर आ निकली
फिर भी वह अपने उस स्वर्ण-सौख्य के
और प्रसन्न कामना के स्वराज्य को रह रहकर जैसे सुधिया लेती है,
सुन्दरता, शक्ति और सुख के जग को
जो उसकी ज्योतित स्वर्ग-मधुरता में,
उसके अमरानँद के सुसाम्राज्य में, —
जो है बसा हुआ 'प्रभु'-नीरवता औ' तमसिल 'पाताल' लोक के अधबिच में,
जो कि रह चुका अरे कभी उसका ही, रह-रहकर उसकी स्मृति कर लेती है।

इस ज्ञान को गुप्त अंशों में अपने   हैं हम अरे सदैव छिपाकर रखते,
इक अस्पष्ट गुह्यता के आवेदन
पर हम जगकर फिर इक गहन अदेखी   परम 'सत्यता' से जाकर मिल जाते,
जो इस वर्तमान 'सत्य' के दिखाऊ   जग-आनन से अधिक सत्य होती है;
इक स्वत्व है हमारा पीछा करता   जिसकी स्मृति तो हमको बिसर गई है,
हम प्रेरित होते इक 'विश्वात्मा' से   जिसमें हमको इक दिन ढलना ही है,
जो स्व-राज्य को गुमा चुका हो, उसकी
भांति घूम कर हम पीछे स्व जन्म की   दिव्यावस्था को हैं निरखा करते,
जो इस अपूर्ण प्राणी से जो जग में   श्वासें भरता है, एकदम भिन्न है,
और यहाँ या एक दिव्यतर जग में,
'स्वर्ग' के धैर्यवान् सतत रक्षण से   वह सब पाने की आशा करते हैं
जिसको निज मन की विस्मरणशीलता   से हम आकर कि यहाँ भूल चुके हैं,
अपनी सत्ता के उस सहज सौख्य को   फिर पाने के हित इच्छुक रहते हैं,
उस आंतर आह्लाद को कि जिसको हम   शोक और पीड़ा में बदल चुके हैं,
औ' उस शारीरिक पुलकन-सिहरन को   जिससे दुःखों को मोल ले चुके हैं,
उस स्वर्गिक आनँद को जिसे हमारा   मर्त्य स्वभाव बिसूरा अविरत करता,
जैसे क्षुद्र पतंगा अविरत दीपक   की 'लौ' पर अपनी बलि देता रहता,
यों उसके पाने को आतुर रहते।

अरे हमारा जीवन इक यात्रा है,
जो कि उस विजय की दिशि बढ़ती रहती,   जिसको हम न कभी भी प्राप्त कर सके।
सत्ता की यह लहर हहर कर, जो है   आनँद के पाने को आतुर रहती,
औ यह असन्तुष्ट शक्तियों का अरे
सब आतुर कोलाहल, औ' ये अग्रिम   चली जा रही बढ़ती आशाओं की
लम्बी दूर-दूर तक फैली पातें,
श्रद्धा भरे हुए अपने नेत्रों को   उस नील 'शून्य' की ओर उठाती हैं,
जिसको हम नभ कहकर पुकारते हैं,
औ' निज शीश उठाकर उधर ताक कर   एक स्वर्ण 'हाथ' की प्रतीक्षा करतीं,
जो न अभी तक प्रकटा यहाँ कभी भी
वह सुखकारी शुभागमन बस जिसकी   सारी सृष्टि राह देखा है करती,
शाश्वतता, के उस सुन्दर मुखड़े की
जो अपने इस 'काल'-मार्ग के ऊपर   निश्चय ही एक दिन बस उदित होगा।
अपने विश्वास को जुगजुगा कर हम   फिर भी तो अपने से यह कहते हैं,—
"अह! निश्चय ही इक दिन निज पुकार पर   वह दौड़कर निकट अपने आएगा,
निश्चय ही इक दिन इन रूढ़ पुराने   स्वजीवनों को नव रीति में रचेगा,
जादूई शान्ति-सूत्र उच्चारेगा

द्रव्यों की इस रचना-सुयोजना में स्वपूर्णता को चुपचाप उतारेगा।
इक दिन वह जीवन और इस धरा पर आकर स्वयं अवतरित निश्चित होगा,
शाश्वत डेहरी की गोपनता को तज
उस जग में जो सहायता के हित बस उसको ही अविराम पुकार रहा है,
उसके आवेदन पर कान करेगा,

उस सत्य को साथ में ले आएगा जो आत्मा को मुक्त किया करता है,
औ' उस आनँद को उतार लाएगा जो आत्मा की एक धर्म-दीक्षा है,
उस शक्ति को उतार यहां लाएगा जो कि 'प्रेम' की प्रसृत एक भुजा है।
आएगा वह दिन जब निज सुन्दरता पर से वह फिर भीषण पट टारेगा,
जगती के धड़कते हुए अंतर पर आनँद का मधुमय आरोप करेगा,
और प्रकाश तथा आनँद की अपनी छिपी हुई काया को प्रकटाएगा।"
किन्तु अभी तो उस अनजान ध्येय तक जा सकने को हम संघर्ष कर रहे:
अभी तो खोज और जन्म जारी है उसका कोई अंत नहीं दिखता है,
और हमारे जीवन की इस भीषण आवागमनी का न पार मिलता है।
जीवन, यदि निज ध्येय प्राप्त कर लेता तो अधिक महान् ध्येय को बढ़ता है,
जीवन, यदि असफल होता मर जाता, तो उसको फिर से जीना पड़ता है,
बस जब तक अपने को पा न जाय वह तब तक नहीं बीच में रुक सकता है।
जीवन-मृत्यु बने जिस ध्येय के लिए उस सब को पूरा होना ही होगा।
पर कह सकता कौन है कि तब बिलकुल विश्राम चैन ही इक आ जाएगा?
या कि कहें विश्राम, कर्म ये दोनों
'प्रभु'-परमानँद के गभीर अंतर में एक वस्तु के समान ही होते हैं।
उस उच्चावस्था में कि जहाँ पर बस अज्ञानता का कहीं नाम नहीं है,
प्रत्येक गति, शान्ति की औ' आनँद की जैसे बहती हुई कि एक लहर है,
औ' विश्रान्ति, उस 'महाप्रभु' की केवल गतिविहीन स्त्रष्टा एक शक्ति ही है,
और कर्म, तो 'अनन्तता' में उठती और लहरती हुई कि एक ऊर्मि है,
और जन्म 'शाश्वतता' का इंगित है।

फिर भी रूपांतर का एक सूर्य तो अवसर पाकर ज्योतित हो सकता है,
औ' 'रजनी' अपने रहसिल प्रकाश के अंतर को भी बस उघार सकती है,
आत्मविलोपकरी और आत्म-पीड़क
महा विरोधाभास एक स्व-प्रकाशी रहस्य में फिर बदला जा सकता है,
उलझन की इस स्थिति को औ' आनँद के जादू में फिर पलटा जा सकता है।
तब 'प्रभु' यहाँ फिर प्रकट हो सकते हैं और यहाँ आकारित हो सकते हैं;
आत्मिक तादात्म्य प्रकट हो सकता है
औ' जीवन अपने सच्चे अमरानँद के आनन को फिर उघार सकता है।
किन्तु अभी तो अवधिहीन श्रम ही इक बस उसके भाग्य में बदा लगता है,

घटनाओं के पुनः-पुनः आवर्ती
एक दशमलव में जन्म औ' मरण ये
उसके स्पन्दनशील विन्दु लगते हैं।
और पुराना प्रश्नचिह्न है इक जो
बस प्रत्येक समाप्त पृष्ठ के ऊपर
उसकी प्रति प्रयत्न-इतिहास-जिल्द पर
एक उपान्त टिप्पणी बन जाता है।

अब भी इक पंगुल 'स्वीकार' है कि जो
इक शाश्वत 'नकार' के साथ-साथ ही
युग-युगान्तरों की यात्रा करता है,
सब कुछ और निरर्थक ही दिखता है,
अब भी यह खेल अन्त बिन लगता है।
सतत घूमता हुआ 'चक्र' यह जैसे
निर्-आवेग बना और घूमता है,
जीवन का कुछ मतलब नहीं दीखता,
मरण कभी भी मुक्ति नहीं लाता है।
सत्ता निज बन्दी बनकर है जीती
निज निस्सार अमरता को है ढोती
उसके हित निर्वाण निषेधित ही है
जो उसका केवल बचाव लगती है,
देवों की एक महा भूल ने अरे
ही मानों इस जगती को सिरजा है।
या फिर उदासीन 'शाश्वत' वह जैसे
यहाँ 'काल' को बस निरखा करता है।

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प २

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प २

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी-२

रूपांतरकर्त्री

'विद्यावती कोकिल'

© स्वत्वाधिकारी श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-२

१५ अगस्त १९६७

प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी-२

मुद्रक: श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२

Hindi — Savitri by Sri Aurobindo

(*Translated by Vidyawati 'Kokil'*)

Published by — Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry-2

Printed at — Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

'सावित्री'

(हिन्दी रूपांतर)

Blessings

अपने पाठकों से

जब कि देश-बिदेश में, अकालों, तूफानों, बाढ़ों और सैनिक विद्रोहों, प्रजा-विद्रोहों, सांघातिक विस्फोटों, रेल-दुर्घटनाओं, वायुयान और पोत दुर्घटनाओं के विनाशकारी संवादों ने, या फिर घरनों, सत्याग्रहों, हड़तालों, आमरण अनशनों और आत्मदाहों के हृदयविदारक समाचारों ने, स्वतंत्रता और रचनात्मकता, प्रकाश और ज्ञान, कला और सौंदर्य, आनंद और संयत जीवन की शांत, नीरव और सृजनात्मक क्षमताओं को जड़मूल से हिलाकर उखाड़ फेंकने का संकल्प कर लिया हो ऐसी जोखिमभरी घड़ी में सत्य, प्रकाश और आनंद की एकमात्र पताका को इंगित करनेवाले, मानव के संपूर्ण दुःखों और अज्ञानों को समूल उखाड़ फेंकने की क्षमता रखनेवाले और उसके गुप्त स्वत्वाधिकारको अनिवार्यता से सामने लानेवाले, द्रष्टा-कवि श्रीअरविंद के इस 'सावित्री' महाकाव्य को, हिंदी के रंगमंच पर अवतरित करने का श्रम मुझे असंभव ही प्रतीत हो रहा था। फिर मूल में ही जिसके पढ़ने-समझनेवालों की संख्या इनी-गिनी हो तो अनुवाद तो अनुवाद ही है, फिर मेरे जैसे पांडित्यहीन को उसके विषय में कहने का अधिकार ही क्या? मैंने अपनी अशक्यताओं, अयोग्यताओं और दुर्बलताओं को जानते हुए भी अनधिकार चेष्टा करके इस आधुनिक वेद—'सावित्री' को जब प्रेस की चौखट से बाहर आते देखा तो मेरी मनोदशा एक अद्‌भुत उल्लास और संकोच से मिश्रित थी, पर सर्वप्रथम माँ के अपार स्नेहभरे आशीर्वादों ने तथा वितरण के उपरांत मित्रों की शुभ कामनाओं और उनके संतोषों ने तथा गुरुजनों की अति उत्साहवर्धक ज्वलंत प्रेरणाओं ने, मेरे श्रम को अप्रत्याशित रूप से एक सफल साधना की ओर और मेरे संकोच को निराशा से आशा की दिशा में मोड़ दिया है। मर्मज्ञों ने इसके प्रकाशावेश में मेरी अभिव्यक्ति-शिथिलताओं पर ध्यान नहीं दिया, विद्वान् इसके अंतर्दर्शन के ज्योतित प्रवाह में व्याकरण तथा शब्दों की शिथिलता को भी झेल गए और साधारण पाठक ने भाषा की कुछ कठिनाई के होते हुए भी इसे बार-बार पढ़कर इसमें से अमृत दुहने का यत्न किया है। इससे मुझे बड़ा बल मिला है। इस सब कुछ को देखकर अब ऐसा विश्वास हो चला है कि मेरी यह अनधिकार चेष्टा एक पावन स्नेह की छाया में पलकर किसी दिन अपने प्राप्तव्य तक पहुँच जाये तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि पत्रों द्वारा मुझे पता चला है कि जिन लोगों ने हिम्मत हार कर अंग्रेजी मूल का पढ़ना छोड़ रक्खा था उन्होंने भी अब उसकी धूल झाड़कर, अपनी भाषा के सहारे उसे फिर पढ़ना आरंभ करने का संकल्प लिया है। नए लोग भी इस ओर आकृष्ट हुए हैं और अपनी यात्रा आरंभ कर

दी है। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसे भाषा के माध्यम से समझना प्रारंभ कर दिया है। विचारकों ने तुलनात्मक ढंग से, भक्तों ने श्रद्धा के ढंग से, और साधकों ने साधना के ढंग से। शीघ्र ही एक दिन आ सकता है जब भावना की धवल-प्रखरता में ये तीनों ही ढंग मिलकर एक हो जायं। वही दिन शायद हमारी सामूहिक सफलता का दिन होगा। बस अनेकों अपूर्णताओं के होते हुए भी यदि यह मूल 'सावित्री' महाकाव्य की आनन्दमयी रससिद्धि-में पहुंचानेवाला, मिट्टी का भी पुल बन सका तो मैं इतने से संतोष कर लूंगी। इतना तो यह बनकर रहेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। यह भी स्पष्ट है कि ऐसे कार्य मानव संकल्प से सिद्ध नहीं हुआ करते। इसमें अवश्य शारदा का संकेत और समय की माँग है। उसीको यह सब कुछ समर्पण करके यदि हम दोनों लिखते और पढ़ते चलें तो अवश्य ही असंभव भी संभव बन सकता है।

"जो ईश्वर का स्पर्श कहीं मिल जाए तो सब कुछ नव निर्मित हो सकता है।"

हां, पाठकों के मन में जो आरंभिक जिज्ञासाएँ उठ खड़ी हुई हैं उनका ठीक समाधान तो उन्हीं के भीतर छिपा है, पूर्णतः ध्यानस्थित होकर पढ़ने से 'सावित्री' निश्चय ही एक स्वर्ण-सोपान सिद्ध होगी। इसे बार-बार पढ़ने से ही चेतना, उस सबको, जो अभीतक नहीं देखा जा सकता है, देख सकेगी। एक ही बात ध्यान देने योग्य है कि जल्दी में प्रश्नों के उत्तर बुद्धि के माध्यम से खींच-खींच कर निकालने का ढंग इसके हृदयंगम करने में सहायक नहीं होगा। हमें याद रखना चाहिये कि यहां कल्पना की उड़ान कहीं भी नहीं भरी गई है। बस कल्पना के पंखों से इसकी थाह लेना एक ऋत-नभ को खण्डों में बाँट कर, खण्डों को ही पूर्णतम समझने के समान है। यह तो आर्ष ग्रंथ है, वेदवाणी है, आत्मदृष्टि है, स्वानुभूति है, समग्रता का दर्शन है, पूर्णता का आनंद है, विश्व की गाथा है, नव-सृष्टि-सृजन का आह्लाद है, पूर्णावतार का सुख है, सत्य के सूर्य का उदय है, आनंद, प्रेम और सौंदर्य का पूर्णाविर्भाव है जिसे आत्मा ही कह रही होती है और आत्मा की श्रुति ही सुन रही होती है। इसके सारे पात्र मानव होते हुए भी चेतना की विविध ध्यान भंगिमाओं का चित्रण हैं। वे एक अंतर्निष्ठ एकता, पूर्णता और केवलता के साथ रहकर आनंद की वारुणी के छिपे झरने को उत्स्रवित करते चलते हैं जिसमें कि पूर्ण रूप से अज्ञानता का नाश हो जाय और सत्य का शाश्वत सूर्य जगती में देदीप्यमान हो सके और स्वर्ग धरा पर उतर सके। यहां सत्यवान् उस साक्षात् दिव्य सत्य का स्वरूप है जो यहीं काल-कवलित बना पड़ा है, और सावित्री सत्य की वह सूक्ष्म-शक्ति है जिसके मिलन स्पर्श से ही यहां का सत्य पूर्ण चेतना को धारण कर सकता है और अश्वपति यहां उसी उद्देश्य के हेतु एक मूक और बलवती जगदिच्छा का स्वरूप है। वह ज्यों-ज्यों मानव के मूलगत दुःख, अज्ञान और भय की कुंजी ढूंढ़ता चलता है, अंतर्निष्ठ सूर्य प्रकट होकर त्यों-त्यों अज्ञान को प्रकाशित करता चलता है और हमारी जड़ मिट्टी चैतन्य होती चलती है तथा

धीरे-धीरे यहां रूपांतर सिद्ध होता चलता है। इसका एक-एक शब्द इसी पूर्ण सिद्धि की लय में बँधा है। हमारी पठन-क्रिया की गति भी इसी प्रकार चलनी चाहिये तो दिन-प्रतिदिन नए सामंजस्यों, समाधानों और आनंद-सागरों में हम नहाते और अपना तमस् धोते बढ़ते चलेंगे। यह आत्मदृष्टि समय पाकर कभी अपने-आप ही हमारे इन्हीं मन, प्राण और शरीरों को उपकरण बना इनमें बस जायेगी और ये सब अपनी परम पूर्णता को पा लेंगे। क्योंकि वही सच्चिदानंद तो जो ऊपर है वही तो अचित् के निम्नतम प्रदेशों में छिपकर पड़ा है। वही तो हमारे भीतर जगने की प्रेरणा भरा करता है। इसी प्रेरणा पर सृष्टि के विकास की क्रिया चल रही है।

वैज्ञानिकों की भांति श्रीअरविंद भी विकास की क्रिया को मानते हैं। हमारे जीवन-शास्त्रवेत्ता और नृविज्ञानवेत्ता जिसका अध्ययन और मंथन करके इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि जड़ पदार्थ से ही यह चमत्कार हुआ है, जड़ से प्राण अर्थात् वनस्पति-जगत्, कीट-पतंग और पशु-जगत् तथा प्राण से मन अर्थात् पशु और उसके पश्चात् मानव-जगत् की सृष्टि हुई है। बुद्धि से अधिक से अधिक इतना ही देखा जा सकता है, पर योगी अपनी अंतर्दृष्टि से इसके पहले क्या था और इसके भविष्य में क्या होगा तथा यह क्यों संभव बना, सब कुछ देख सकता है। श्रीअरविंद ने इसका जितना तर्कपूर्ण तथा विशद वर्णन उपस्थित किया है उतने जीवंत और वैज्ञानिक ढंग से इसका और कहीं भी मिलना दुर्लभ है।

हमें भारतीय हृदय और मन के आगे यहां योगदृष्टि की अकाट्यता आज सिद्ध नहीं करनी है। अतः श्रीअरविंद द्वारा 'लाइफ डिवाइन' में विस्तार से वर्णित सप्तभूमिकाओं की अनिवार्यता के महत्त्वको ठीक प्रकार हृदयंगम कर लेना होगा। सर्वचैतन्य आत्मा जब इस अचित् की महानिशा में कूदी थी उसी से इन सप्त भूमिकाओं का निर्माण हो पड़ा था :—सत्यम्, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः और भूः, बस फिर आत्मा के उद्विकास का भी यही क्रम होगा—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। हमारे उपनिषदों में भी 'नासदीय सूक्त' में इसका वर्णन है। महाअंधकार के भीतर से किस प्रकार अन्नमय चेतना का जन्म हुआ और उससे प्राणमय तथा उससे भी मनोमय भूमिका का। पर उनके आगेकी 'विज्ञानमय' और 'आनंदमय' भूमिकाओं का क्या होगा? जो कुछ अभिव्यक्ति अभीतक बन पड़ी है यह 'स्वः' तक ही पहुंच पाई है और यह सब उस कुल अभिव्यक्ति की जिसके प्रकट होने की संभावना इसमें छिपी है उसका एक चौथाई भाग ही है। तो फिर वह तीन चौथाई भूमिका अभी अभिव्यक्तीकरण की बाट जोह रही है। अभी 'विज्ञान' और 'आनन्द', या कहें 'महः' और 'जनः' की भूमिकाओं का यहां प्रकटीकरण होना ही चाहिए। श्रीअरविंद की भाषा में उसी 'विज्ञान' को 'अतिमानसिक' भूमिका कह सकते हैं। इस 'अतिमानसिक' भूमिका पर ही जाकर नीचे की तीनों—अन्नमय, प्राणमय और मनोमय

भूमिकाएँ और ऊपर की सच्चिदानंद की तीनों भूमिकाएँ मिलती हैं और वहीं से बहुलता में एकता के सामंजस्य के साथ जीवन धारण करने की सामर्थ्य आती है। अतः इसी भूमिका में पूर्णावतार की महाशक्ति की सामर्थ्य है और हमारी भिन्नता और अज्ञान का पूर्ण समाधान इसी भूमिका पर आकर संभव बनता है। बस वहां से जिन भूमिकाओं के द्वारा आत्मा यहां अवतरित हुई थी अर्थात् निवर्तन क्रिया (अंतर्वलन) (Involution) घटित हुई थी उसी श्रेणीक्रम से विवर्तन (उत्क्रमण) क्रिया (Evolution) को भी बढ़ना पड़ेगा। अतः इस उद्विकास क्रम में मानव इस विकास का चरम बिन्दु नहीं है। जैसे पशु से मानवका विकास संभव हुआ था उसी प्रकार मानव से मानवोत्तर प्राणी का विकास भी संभव बनेगा और तभी मानव की सारी समस्याओं का समाधान होगा। देवतागण धरा को इसी के योग्य बनाने के यत्न में लगे हैं। 'सावित्री' इसी सत्य दर्शन का जीवंत लेखा है। इन्हीं पंगु, मूक मानव करणों के द्वारा ब्रह्मानंद की चेतना पर आक्रमण कर देने की नई विधा है, पर यह विधा जो एक दृष्टि में पूरा दर्शन शास्त्र उपस्थित कर देती है यह पुराने योग के तरीकों से भिन्न दीखती है। वह इसलिए कि पुराने योग के तरीकों को श्रीअरविंद ने एक और भी ऊँची और अस्पर्श्य चोटी पर चढ़ कर भेंट लिया है, जहां वे जाकर अपने केंद्र में पूर्ण हो उठे हैं। फिर मानव चेतना के माध्यम से वह पूर्णतः एक नई प्रकाशित सैली का निर्माण करती है, और इस प्रकार अभीतक अनभिव्यक्त बनी मन के ऊपर की चेतना के अवतरण के लिए क्षेत्र तैयार करती है। फिर सच तो यह है कि हम जिस मानव चेतना में जीते हैं, इसकी सीमाओं को सर्वथा भेद कर ऊपर की दिव्य चेतना के प्रति इस चेतना का पूर्ण समर्पण करके एक नई चेतना का ही निर्माण कर लेना होगा। यही रूपांतर है, उद्विकास है, और इस कर्म की गुलामी से छुटकर अपनी उन्नततम विधि के साम्राज्य के शासन की प्राप्ति है। यही वह स्वर्णिम जादू कुंजी है जो हमारे अपने ही भीतर छिपी पड़ी है। जब तक वह न मिले परात्पर के द्वार कौन खोल सकता है। क्या 'आसन-प्राणायाम' और 'चित्तवृत्ति-निरोध' या 'धारणा-ध्यान' के प्राचीन योगों के द्वारा मानव मात्र का भाग्य परिवर्तन कभी संभव बन सकता है? इससे केवल व्यक्ति की आत्मा में एक ऊर्ध्व पलायन सिद्ध हो सकता है, आत्मा परमात्माभिमुख बनकर उसमें लीन होने की दिशा में बढ़ सकती है, पर श्रीअरविंद को ये योग पद्धतियाँ तुष्ट न कर सकीं क्योंकि वे तो मानव मात्र को अज्ञानमुक्त करना चाहते थे। जो कुछ वे चाहते थे वह तो अलग-अलग करके ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के द्वारा भी संपन्न न हो सका। इस शक्तिशाली त्रिमार्ग को भी जब तक आत्मा स्वयं जगकर इनका समन्वित रूप से नियंत्रण न करे उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता था। क्योंकि उनका उद्देश्य आत्मा का परमात्मा में मिल जाना और व्यक्तिगत पूर्णता भर प्राप्त करना नहीं

था, अपितु उस जगत्-नियंता को स्वयं ही इस अन्नमय जगत् में प्रकट करना भी था। जो समस्या बड़े-बड़े योगियों और दार्शनिकों की चेतना का केवल प्रश्न बन कर रह गई थी–कि यह संसार क्या है ? और इसका क्या रहस्य है ?–उसीके समाधान में उन्होंने संपूर्ण जीवन तपाया था। आखिरकार उनकी चेतना उन्नततम लोक तक पहुंच कर उसका समाधान ढूंढ़ ही लाई। केवल ढूंढ़ ही नहीं लाई उसे जीवन में चरितार्थ करा लेने के लिए अपनी तपस्या से संभव भी कर दिया। एक महामानव की शक्ति क्या कुछ संभव नहीं बना सकती। इसीसे यह धरा इतनी महान् और भाग्यशाली है जो ऐसे प्राणी को जन्म देने में सक्षम है। तीसरे पर्व का यही महिमामय विषय है। अब प्रश्न हो सकता है कि साधारण साधक के लिए उस तक पहुंचने का क्या उपाय हो सकता है। उसके उत्तर में श्री माताजी व श्रीअरविन्दने समर्पण पर बहुत बल दिया है। समर्पण जितनी ही समग्रता से होगा अभीप्सा उतनी ही तीव्र और विशाल होगी। एक-एक मिनट जगते रहकर, अपने घर से घुसे अनधिकारियों को एक-एक कर बाहर निकालते हुए बढ़ते जाना होगा। और एक दिन यह अभीप्सा हमें उठाकर अवश्य ही उन ऊर्ध्व लोकों से जोड़ देगी। अश्वपति ने जो किया है वही दिशा है। समर्पण में आज तक पाला पोसा सब प्राकृत स्वभाव एक बार झोंक देना होगा। अपने मानसिक आदर्शों, प्राणिक महत्वाकांक्षाओं और साधारण भौतिक वासनाओं की बाड़ों को तोड़ कर यह मानव-सीमा पार करनी होगी और सारी आशाएं छोड़, उसी के दर्शन की प्रतीक्षा में सब कुछ की बाज़ी लगाकर बैठना होगा। बस फिर अपने भीतर विराजमान राजाधिराज के प्रति एक दिन उसका साक्षात्कार और फिर तादात्म्य संभव हो जायगा। फिर हम उसमें बस कर तीनों लोकों के स्वामी बन सकेंगे। हमारी संपूर्ण महान् कामनाएं, महत्त्व-पूर्ण ऊर्ध्व इच्छाएं सब की सब उसी ओर तो उठी चली जा रही हैं, यहां तक कि अनजान में हमारी वासनाएं तक भी। यह अज्ञानता में किया जा रहा यज्ञ सदा ही अज्ञानता में गोल गोल चक्कर पर घूमता रह सकता है, जब तक कि पद-पद पर अज्ञान को सज्ञान करने की शर्त न लगा लें, और बस ये ही तो योग की श्रेणी पर बढ़ते पद हैं। यह विचार समग्रता और पूर्णताका होने के कारण इतना विशाल और महान् है कि मानव दृष्टि में सहसा उसका आना कठिन है। इसी लिए लोग कभी-कभी पूछ उठते हैं कि क्या यह सब संभव बन सकता है ? इसके उत्तर में मैं कुछ नहीं कहना चाहती। स्वयं श्रीअरविन्द के साहित्य के मनन और अध्ययन करनेवाले लाखों व्यक्ति ही इसका प्रमाण हैं। उनके मन में किस प्रकार ये सत्य लोहे की भांति ढल कर दृढ़ हो गए हैं। इतना ही कह सकती हूं कि इसको खाली और खुले मन से केवल पढ़ते-पढ़ाते रहने से ही, जब व्यक्ति का अपना सत्य-द्रष्टा जाग्रत् हो जायगा तब सब कुछ समझ में आ जायगा। इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। जिस प्रकार पूर्णत: अन्तरस्थ हो

उठने पर महा अंधकार के बीच भी सावित्री को एक जादू-कुंजी मिल गई थी उसी प्रकार अत्यन्त निराशा की जोखिम भरी घड़ी में किसी भागवत मुहूर्त्त में वह कुंजी किसी और को भी मिल सकती है :—

"सावित्री को जैसे अंधकार में हाथ लग गई थी इक जादू कुंजी
जो अविरत आवृत उस अकथनीय के अनन्त संकल्प को है चला जाती"

पर वह कुंजी है क्या ?

"वह तो है एक प्रार्थना औ' है इक सिद्ध कर्म औ' इक अधिपति विचार है,
जो मानव की शक्ति का परात्पर की 'शक्ति' से करा सकती लगनचार है।"

कभी किसी की समर्पणमयी प्रार्थना में ऐसा बल आ सकता है, कभी चुपचाप किसी अन्तः संबन्ध के जुड़ जाने से एक सामर्थ्यशाली सिद्ध कर्म जाग्रत हो सकता है जो जगत् की दिशा को ही बदल सकता हो, कभी कोई सम्राट्-विचार जगकर सारे संसार का शासन कर सकता है।

पर्व-प्रसादी

पाठकोंने यदि प्रथम पर्व पचा लिया है तो यही कहना होगा कि उनकी आध्यात्मिक पाचन क्रिया की परीक्षा हो गई। क्योंकि यह प्रथम पर्व तो सारे ग्रंथ की आधार-भूमि है। इसके सारे इंगितों, प्रतीकों, प्रतिबिंबों और उपमाओं के साथ श्वास लेना, विश्व-चेतना के साथ श्वास लेना है। इसके स्पर्शबोध चेतना की समग्रता के स्पर्शबोध हैं। वे निश्चय ही मन की साधारण पकड़ के परे हैं। यदि भगवत्कृपा से कोई इस दर्शन-भूमिका में पहुंच कर क्षण भर को भी उसमें प्रवेश कर गया तो बस उसकी सत्ता में समग्रता के प्रकाश का बीज-वपन हो गया।

हम पहले पाठकों के धैर्य के पुरस्कारस्वरूप यहां सरल, सुबोध व सुंदरतर तथा हृदयग्राही और आनंदतर, पर्व तीन व चार का अध्ययन उपस्थित करना चाहते हैं। इसके द्वारा सहज भाव से कथा के प्रसंग का आस्वाद लेते हुए उसकी उँगली पकड़े-पकड़े, हमारी जिज्ञासा इस चेतना के महाप्रांगण में चलना भी सीख जायगी। निश्चय ही यहां हम पर्व दो की विषय-वस्तु का कुछ परिचय प्राप्त कर लेंगे। और उसका अनुवाद हम पीछे देंगे।

पर्व दो, पर्व एक के अंतिम तीन सर्गों में, जो अश्वपति की आत्ममुक्ति के योग का वर्णन है, उसी का एक विस्तृत परिवर्द्धन उपस्थित करता है। यहांतक कि यह पर्व अकेले ही संपूर्ण पुस्तक का चौथाई भाग घेरे हुए है। प्रथम पर्व में अश्वपति ने अपनी आत्मा के अंतर में प्रवेश करके, उसे जब संसार से मुक्त कर लिया, तो उसने पाया कि जिस आत्मा के सूक्ष्म तत्त्व के दर्शन उसे हुए हैं उसके भीतर तो संपूर्ण विश्व का निवास है। बिना संपूर्ण विश्व का, उसके सब लोकों का साक्षात्कार हुए वह संसार के पूर्ण रहस्य को कैसे जान सकता है। आत्मा की जो मुक्ति उसे प्राप्त हुई है वह तो एकांगी है, वह पर्याप्त नहीं, उसे वह नहीं

चाहिए। उसे तो विश्व के महारहस्य का अर्थ जानना है। आखिर संसार के जीवन की, उसकी एक-एक वस्तु की, उसके कार्य व्यापारों की चरम परिणति क्या है? क्या संसार की यह लीला निरर्थक है? या उसके भीतर ही चेतना की चरम सार्थकता छिपी है? इस प्रकार यह मानव पुत्र मोक्ष के शाश्वत सुख को तिलांजलि देकर चेतना के एक महा-अद्रिपर चढ़ना प्रारंभ करता है। इसे ही 'जगत्-सोपान', देवताओं का 'अद्रि-रथ' तथा लोकों के 'महासागर' के नाम से पुकारा गया है। चेतना के इन लोकों का वर्णन प्रारंभ में श्रीअरविन्द ने भी सावित्री में नहीं जोड़ा था क्योंकि तबतक उनकी चेतना ने स्वयं उन सूक्ष्म और गुह्य लोकों की यात्रा नहीं सम्पन्न की थी। यह तो योगी और द्रष्टा श्रीअरविन्द का एक अभिनव साक्षात्कार है और योग के इतिहास में एक चमत्कारपूर्ण नया स्वर्ण पृष्ठ है। इसमें १५ सर्ग हैं जिनमें सूक्ष्म जड़तत्त्व के साम्राज्य से लेकर महत्तर प्राण के लोकों का वर्णन, और रात्रि के महाप्रदेश में भ्रमण, असत्य तथा अशुभों की माता और अन्धकार के पुत्र की खोज, लघुतर तथा महत्तर मन और आदर्श के लोक से मनोमय पुरुष के लोक और वहां से विश्व की अन्तरात्मा तथा महत्तर ज्ञान प्रदेशों तक की यात्रा है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि के रचना-तत्त्वों के साथ, उसकी चेतनाओं के साथ, एकता स्थापित करता है। यह अपनेमें एक महाशास्त्र बन गया है। उन लोकों का ऐसा विशद और विस्तृत दर्शन कहीं भी पहले नहीं देखा गया है। मानव चेतना की यह एक महान् और अभिनवतम विजय है।

पर्व तीन का सारांश

इसके बाद पर्व तीन आपके सम्मुख है। अश्वपति उपरोक्त चेतना की सोपानों के आरोहण और अवरोहण को आत्मसात् करके भी, विश्व-चेतना के गठन के रहस्य को भेदकर भी, और उसके साथ तदाकार बन कर भी, अभी संतुष्ट नहीं हुआ। क्योंकि वह देखता है कि अभी भी, इस विश्व-चेतना के भी ऊपर, कोई चेतना की और ऊँची चोटी है, जो उसे विजित करनी है, कोई परमसत्ता है जिसका साक्षात्कार हुए बिना उसका उद्देश्य सफल नहीं होगा। यद्यपि वह उसे बार-बार ललचा रही है पर दर्शन नहीं दे रही (सर्ग एक का विषय) सिद्धि की और भी उन्नतावस्था में उसने अनुभव किया कि एक महानीरवता ने, एक अवर्णनीय महाशक्ति ने, उसकी सम्पूर्ण व्यक्तिगत सत्ता को मानो निगल लिया है, और अब वह केवल एक नाम-रूपहीन अचिन्त्य सत्ता में ही वास करने लगा है। पर यह सब कुछ प्राप्त करके और विश्व के महारहस्य में गोता लेकर भी अभी उसे विश्व-रचयिता के साक्षात् दर्शन तो नहीं प्राप्त हुए हैं। विश्व में उनके पूर्ण-व्यक्तीकरण, प्रकाशीकरण की क्रिया तो अभी शेष ही रह गई है। और प्रभु का अंतिम चमत्कार तो अभी उसकी आंखों से ओझल ही बना हुआ है। यह सही है

कि उसने तम-यवनिका को उठा दिया है। पर इस ज्ञानके प्रकाश की यवनिका को तो अभीतक वह नहीं उठा पाया है और उस रहस्य-स्रष्टा के दर्शन तो नहीं प्राप्त कर सका है। बस इसी हृदयविदारक महाप्रश्न का उत्तर आप इस पर्व में पाएंगे जो बड़े ही कलापूर्ण, क्रमपूर्ण और स्वाभाविक तथा सुसंगठित रूप से सारगर्भित विश्वासोत्पादक शैली में दिया गया है। बस, जब उसकी सिद्धि इतनी तैयार हो जाती है और वह महा सत्य के दर्शन में केन्द्रित और अटल बनकर तटस्थ होकर बैठ जाता है और उसके भीतर नीचे की निम्नतम गर्तों और ऊपर की उन्नततम चोटियों में कोई विरोध नहीं उपस्थित होता, अपितु एक अन्तर-साम्य जुड़ जाता है और वह शाश्वतता व अनन्तता के साथ एक हो जाता है, तब जाकर उसकी दृष्टि नीचे पैठती हुई, बेधती हुई चली जाती है और वह इस महागुफा में प्रतिष्ठित एक परम सत्य, एक महानन्द, एक महाप्रकाश, एक महाशक्ति और एक ज्वाल-धवल प्रेम का जो हमारी गभीरताओं में छिपा पड़ा है साक्षात् अनुभव प्राप्त करता है। उस दर्शन के द्वारा वह एक महारूपान्तर को सिद्ध करता है और फिर वह प्रार्थना की चौथी पर अडिग अटल एक शिलामूर्त्ति की भांति साक्षात् उस जगज्जननी के जीवंत, जाज्वल्यमान दर्शनों के लिये स्थिर होकर बैठ जाता है।

पर्व चार का सारांश

बस फिर सर्ग चार आपके सामने है। अश्वपति के साथ साथ अपनी अन्तः-समाधि में निखिलेश्वरी, जगज्जननी के अलभ्य, पावन, विराट् दर्शनों का लाभ उठाइये। पर वे प्रकट होकर एक बार फिर अश्वपति की अधीरता को भारी धक्का देती हैं। उसकी प्रार्थना को आघात देकर एक विकट परीक्षा लेती हैं। वे एक महान् जोखिम की ओर आगाह करती हैं और कहती हैं कि तूने सब कुछ प्राप्त कर लिया है पर अभी अपनी संप्राप्ति से धीरे-धीरे पृथिवी की सहायता करता चल और समय को निकट आने दे, नहीं तो समय से पहले पूर्णावतार के आविर्भाव से धरती नष्ट-विनष्ट हो सकती है। पर इतना सुनकर अश्वपति की लालसा का बांध टूट जाता है। और फिर 'सावित्री' माता को स्वयं अपने अंश का पृथिवी पर अवतरण साधित करने के लिये, वरदान देना ही पड़ता है। यह सारा वर्णन पार्थिव चेतना के लिये आज तक अलभ्य एक अमृत-वर्षा है। इसे अपनी सत्ता के सारे द्वार खोलकर आप भीतर आने दीजिये और आनंद की भंवरों पर अपनेको निर्वसन छोड़ दीजिये। बस माता के आदेश की घोषणा (शब्दों की डिक्री) हो जाने के बाद उसकी क्रियान्विति जगतीतल पर प्रारम्भ हो जाती है। मानव क्या, पशु, पक्षी, वनस्पति और ऋतुएं भी किसी जीवंत अभिनव आशा के उत्साह में उमग-उमग उठती हैं और प्रकाश के मन में एक स्वप्न जगने लगता है, काल ने अपने सुखावेग से भरे कक्ष खोल दिये हैं, एक आशा और आह्लाद जाग उठा है, अंतरात्मा ने एक स्वर्गीय ऊंचाई पर दृष्टि डाली है और विचार ने एक

गुप्त ज्वाल को प्रज्वलित कर दिया है। ऋतुएं जैसे काल के गर्भ में किसी ज्वाल की पड़ताल कर रही हैं और आशा, उत्साह और चमत्कार के रंगों में डूबी पड़ी हैं। संपूर्ण प्रकृति एक भव्य सौंदर्य का महापर्व बन गयी है, मानव-जीवन की सारी गतिविधि इससे प्रभावित हो गई है। मनुष्य की कलायें, साहित्य, संगीत, शिल्प और साधारण कार्य — सब कुछ जैसे प्रकृति के रहस्यार्थ को खोलकर शाश्वत से सीधा संबंध स्थापित कर रहा है। जैसे तम का पट खसक गया है और उसमें से प्रभु की कंचन-काया प्रकट हो पड़ी हो।

आनन्द के ऐसे अद्भुत क्षण में, देश और काल में, मानों स्वयं 'अनिर्वचनीय' ही आकार धारण करके आ गया हो, और सावित्री की मानवरूपिणी प्रतिमा के मिस मानो यहां पंक में प्रकट होकर संसार को इस पंक से निकलना और इसे ही रूपान्तरित करना सिखा रहा हो। तो फिर सावित्री के बालक साथी संगी उसकी ऊंचाई तक कहां पहुंच सकते थे?

बस फिर शक्ति सौंदर्य और प्रकाश में ढली इस मोहनी प्रतिमा को अपना जीवन-संगी मिलना तो कठिन ही हो गया। शायद ऐसी महान् आत्माओं को अकेले ही जीना पड़ता है। अकेले ही सब करना पड़ता है।

आखिर एक दिवस आता है, जो अन्य दिवसों से एकदम भिन्न सा लगता है। उस दिन अश्वपति के ऊपर और उसके व्याज से संपूर्ण विश्व की चेतना के ऊपर एक जादू सा मार गया। मानों इन सारी वस्तुओं के पीछे छिपकर रहने वाला महा सत्य अपने आनन्द और प्रेम का आवेग लेकर वृक्षों में लहर उठा और कोयल की वाणी में कूक उठा। बस अश्वपति एक आनंद के बवंडर में उठा-उठा जैसे किसी दूसरे लोक में चला गया, और उसके आगे की सभी पार्थिव-भौतिक वस्तुओं का रूप बदल गया और तभी दर्शन के उसी प्रकाश में उसने अपने सम्मुख सावित्री को देखा। अब सावित्री उसके सम्मुख मात्र उसकी कन्या न रह गई थी, वह तो स्वर्ग की देवी थी जो अपने उद्देश्य पर यहां कुछ करने आई थी और जिस कार्य को उसे अपने जीवन-साथी के साथ पूर्ण करना था। बस, द्रष्टा अश्वपति के उस ज्योतित दर्शन में सावित्री के शारीरिक सौंदर्य का वर्णन भी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का भाषा में उपस्थित वह चमत्कार है जो कहीं भी साहित्य में दुर्लभ है। इस वर्णन को जितनी बार भी पढ़ा जाय थोड़ा है।

अश्वपति इस दर्शन से अभिभूत बना, प्राणों से भी प्यारी सावित्री को अपना जीवन-साथी चुनने के लिए स्वयं उसे घर छोड़ कर यात्रा पर जाने का आदेश देता है। दर्शन की वह अग्नि सावित्री का भी दर्शन बनती है और इस दिव्य मुहूर्त में दोनों की ही आत्माएँ आंखों में आकर एक दूसरे को निहारती हैं और एक अलिखित भाषा को पढ़ती हैं और प्रभु के मंतव्य को समझती हैं और अपने उद्देश्य को पहचानती हैं। बस सावित्री अपने विधि-विहित कार्य पर, अपने उद्दिष्ट साथी की खोज में निकल पड़ती है। वह फिर कैसे-कैसे और कहां-कहां होकर

अपनी स्वर्ण यात्रा पर बढ़ती है इसका काव्यपूर्ण वर्णन ही सर्ग चार का विषय है। इसके पश्चात् हम अग्रिम पुष्प में पर्व पांचको देने का विचार करते हैं। यह प्रेम पर्व अपनी भाव तीव्रता, सौंदर्य और माधुर्य में जागतिक वस्तुओं के द्वारा ही साक्षात् ब्रह्मानन्द को भेंट लेता है।

सावित्री

एक आख्यान और एक प्रतीक

भगवती माता का पर्व

पर्व ३, सर्ग १

अज्ञेय की खोज

कितना अपर्याप्त है वह सब कुछ भी
जितना दे सकती है सारी जगती :
उसकी शक्ति, ज्ञान,—ये दोनों ही तो
हैं सौगात 'काल' के ही बस कर की,
कभी बुझा सकते हैं फिर ये कैसे
पावन तृष्णा आत्मा के अंतर की।
यद्यपि महिमामय आकार सभी ये
उस 'एकमेव' से ही तो आते हैं,
उसकी ही करुणा की श्वास से अरे
हम निज जीवन जिए चले जाते हैं,
और निकटता की आत्मा से भी तो
अधिक निकट अपने उसको पाते हैं,
निरा सत्य है कोई वह जिससे हम
गढ़े, रचे और सँवारे जाते हैं।
लेकिन अपनी महत् योजनाओं से
ही वह छिपकर दूर-दूर लगता है,
परम अभेद्य, निगूढ़ और वाचा-बिन,
अस्पष्ट और अलख बना रहता है।
बस गुम गई 'उपस्थिति' तब वह जिससे
सकल वस्तुओं में इक आकर्षण है,
लुप्त हो गई 'महिमा' वह जिसका ही
सकल वस्तुएं धुंधला एक चिह्न हैं।
बस यह सारा जग अपने 'कारण' को
बिन जाने जीता जाता है ऐसे,—
'प्रेम' किए जाए कोई 'प्रेमी' से
उसके आनन को बिन देखे जैसे।
औ' फिर जिसे जानने का श्रम तो बस
मनका व्यर्थ हाथ पाँव पटकना है।
क्योंकि सकल ज्ञान तो अरे मन का बस
जाकर अज्ञेय में अंत पाता है,
फिर शासन करने का एक हौसला
'संकल्प' का निरर्थ गर्व करना है।
औ' फिर अपनी अल्प सफलताओं पर
'काल'-दृष्टि एक अवज्ञा भर हँसती,
और हमारी सकल शक्तियां जाकर
उस 'सर्वशक्त' में हैं लय हो जातीं।
तम की एक विशाल-कन्दरा है जो
शाश्वत प्रकाश पर निज पहरा देती।
बस छा गई एक नीरवता थी अब
योगी नृप के प्रयत्नरत अंतर पर,
जीवन की इच्छाओं के नानाविध
कोलाहल से अब छुटकारा पाकर,
घूम पड़ा सुनने को 'अकथनीय' का
आता काल-रहित आवाहन सुन्दर।
अब उसने निज में औ' इस सब कुछ में
इक नामविहीना 'सत्ता' अनुभव की,
जो है सभी-सजातीय अरे सबकी,

और विशाल आग्रही हर्षज्वार इक
जो अनुभव होती उसमें औ' सबमें,
जो आत्मा के कर से छू जाती हो,
औ' फिर किसी दूर के परालोक से
नियराकर जो दूर चली जाती है
क्योंकि हमें उस आनन्द के बिना फिर
उसकी अनुपस्थिति श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर
और उपस्थिति नन्हें से भी नन्हें
जब वह यहां उपस्थित थी तो अपने
लेकिन बिदा ले गयी ऊर्ध्वाकर्षी
गुमा दिया है ध्येय सकल संसृति ने
स्मरणातीत भूमिकाओं का अनुक्रम
अस्थायी दृश्यों की नींव बन गई
किंतु महासामर्थ्य कौन सी है, यह
यद्यपि अस्पर्श्य है स्वयं वह, फिर भी
कोटि-कोटि विश्वों का रूप रचाया,
सहस-सहस नामों औ' आकारों को
औ' फिर मानव-दृष्टि के लिए या तो
या गुह्यातिगुह्य इक सूक्ष्म तत्त्व बन
एक सुदूर महत्ता, यहां बनी है
एक निगुह्य निकटता, पड़ी हुई है
लगती है वह कभी कल्पना-सिरजन, .
और कभी लगती है खुद अपनी ही
या एक भयानक छाई शंका ने
उसकी एकाकी अमरात्मा को जो
उदासीन उस सर्वाधार सरीखे

तथा शांति, जो पकड़ी न जा सकी हो,
फिर भी बिना गही ही रह जाती हो,
छूते ही बस कर से खस जाती हो,
रहती उसे बराबर ललचाती हो।
और वहां से भी फिर सनकाती है,
कोई वस्तु न तोषित कर पाती है,
कार्यों को भी नीरस कर जाती है,
कार्यों में दैवी मधु भर लाती है।
अंतर का यह खात भरा पूरा था:
दैवी-'सत्ता' जब से अनजाने में,
डूबकर यहां इक 'निस्सारपने' में।
औ' करणोंकी देवों सरिस पूर्णता,
है अब जैसे अपनी सकल साम्यता।
अब तक जान नहीं योगी ने पाया।
जग को निज महिमा के बीच डुबाया,
जब जब चाहा उनको और मिटाया,
धारण किया और क्षण में बिसराया।
इक अज्ञेय 'बृहत्' का रूप धराया,
अंतरात्मा में निज वास बनाया:
जो आंखोंको बस विशाल औ' धूसर,
अंतर मिश्री सरिस संपुटित बनकर,
तन पर पड़े हुए कि एक चोगे-सम,
इक विशाल भीषण छाया का-सा भ्रम।
रोक दिया है बढ़ते चापों का क्रम।
पोषित करता रहता रीतेपन से
'महाशून्य' के उस पार से कि जैसे,
परम निगुह्य 'परात्पर' के इंगित से

खिंचा खिंचा-सा चला जा रहा था वह ।

रहस्य-भरी अनेक 'शक्तियों' द्वारा
कभी बना उद्वाहित, कभी निमज्जित,
रुका नहीं वह, अजेय अरे कहीं भी,
लक्षणविहीन इक धुंधली 'विशालता'
जो पहुंच से परे थी और जहां से
जो नश्वर द्रव्यों को असत् रूप औ'
अपनी अतुलनीयता को ले कर वह

सहायता लेकर औ' बलात् खिंच कर,
बढ़ता जाता था सतत अभीप्सा भर,
बढ़ता रहा वेग से एक प्रबलतर।
सतत रूप से जहां ध्यानमग्ना थी,
उत्तर की भी कुछ उम्मीद नहीं थी,
शून्य कोटि तक नगण्य ठहराती थी,
उसके सम्मुख इक भीति सम खड़ी थी।

तब उसके उस उन्नत आरोहण में
इक ऐसी घनघोर अवधि आई थी,
ऐसी ऊर्ध्वावस्था नियराई थी,
जहां न निर्मित एक वस्तु भी कोई
जी सकती और श्वास भर सकती थी,
ऐसी प्रगति की दिशा इक आई थी
जहां कि सब आशाओं औ' शोधों की
हलचल ठप औ' समाप्त हो जाती थी,
जो, कुछ भी बरदाश्त न करनेवाले
निर्वसन 'सत्य' से नियरा आई थी,
एक शून्य, जिसके गर्भ में अनन्तों
विकृतियों की संभावना भरी थी।
था वह छोर जहां सिर चकरा जाए
और विफल सब छद्मवेश हो जाए,
मानव मन को 'प्रकाश'-परवशता में
अपना तख्त छोड़ना ही पड़ जाए,
या तो शुद्ध 'सत्य' की नग्न-ज्वाल में
पड़ जाए बस मौत शलभ की मरना,
बना विवश सा खड़ा हुआ था, उसको
था अब भीषण वरण एक तो करना।
वह सब, जो कुछ अब तक कि बन चुका था,
जिस विकास-पथ पर और बढ़ चुका था,
यहां उसे वह सब कुछ तज देना था,
या फिर नामविहीन अरे उस 'तत्' की
आत्मा में ही अब परिवर्तित होकर
सब कुछ का रूपांतर कर लेना था।
वह ऐसी अग्राह्य 'शक्ति' के सम्मुख
जो न पकड़ने कुछ देती 'विचार' को,
अब आकर दृढ़ता से खड़ा हुआ था,
औ' उसकी आत्मा ने इस एकाकी
'अगम-शून्य' का खतरा मोल लिया था,
आकारी जगतों से नाता तोड़े
वह अपने यत्नों में लगा हुआ था।
एक फलवती विश्व-विशाल 'अज्ञता'
वहां पहुंच अपना दम तोड़ रही थी,
औ' चिंतन की कोल्हूरढ़नी लंबी
यात्रा स्वीय अंतको पहुंच रही थी।
और प्रभाव-रहित होकर अभिनेत्री-
संकल्पशक्ति आकर ठहर गई थी।
औ' सत्ता की प्रतीक-पद्धति अपनी
विधा लिए सब असहाय सी खड़ी थी,
और 'अचित्' की गढ़ी, रची रचना सब
ढहकर जैसे बेकार हो गई थी,
औ' विश्वात्मा तक जो सब साधे है,
वह भी अपनी नाकाफ़ी प्रदीप्ति में
और यहां पर निश्चेत हो गई थी।
निर्मित द्रव्यों के इस अधःपात में
सब नश्वर आधारों के पर जाकर
औ' अपने उस आदि महान्-स्रोत से
आखिरकार पुनः संयोजित होकर
सारी व्यक्ति-भिन्नता को इस थल पर
अब घुल-घुलकर मिट-मिट जाना होगा,
या मन-आकर्षण से ऊपर जाकर
'महासत्य' में फिर जनमाना होगा।
रची रूपरेखाओंकी सब महिमा,
छन्द-साम्य के स्वर की मोहक गरिमा,
साधारण संगीत के स्वरों के सम
आज बहिष्कृत जैसे कि हो गई थीं,
और पुरुष की नग्न, परुष नीरवता
के ऊपर से ज्यों ढरक बह गई थीं,
सुन्दर औ' इक आनन्दमय 'शून्य' में
यथा डूबकर लय को प्राप्त हुई थीं।

विविध 'विश्वकर्माओं' के नामों औ'
और सकल लोकों की सुयोजनाएँ
जिन्हें उन्होंने गढ़ा और सिरजा था,
एक-एक कर ज्यों इक महासिंधु में
और विश्व ने आंखों के सम्मुख से
औ' सजित द्रव्यों की बृहत् पहेली
के कल्पनातीत अंत पर पहुंच कर,
अभी दूर से ही जो लखी गई, उस
बस 'जीवन' की विशालतम पांखों पर
'सर्वशक्तिमान्' और वह एकाकी
अंतर्मुख, अस्पर्श्य, अभेद्य यथा हो
बन उस दुर्ग्राह्य दृष्टिसे आकर्षित,
ये युगचक्र पुनः अपने उन आदिम
कि उस अदृष्ट सिंधु से उठ-उठकर वे
और विश्व-'मन' के वीर्य से सुसर्जित
नहीं एक भी बीज कहीं अब उसकी
'काल-सनातनता' अपने रंगों को
औ' अब 'महाशून्य' पर किये गये से

जैसे एक 'असत्' के महासिंधु में
लय होने के पहले स्वप्न-विहग के
इस सब कुछ की आत्मा, जो कि अमर है,
'अज्ञेय' के हृदय से खिंचकर आयी
जिस 'अनजाने' से ही सब निकले हों,

लेकिन था क्या वह 'अज्ञेय' न जिसको
फ़क़त स्व-आत्मा का एक अनाकारी
इक व्यक्तित्व जी चुका हो जो पहले
लय पा रही ऊर्मि का ज्यों अनुभव हो,—

ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह
अवगत थी अपनी सिंधु-सिंधुता से
'दिग्बोध' से निपट उन्मुक्त बन जहां
जगत्-'काल'से औ' विच्छिन्न बनी सी
तथा विलक्षण, भव्य और अविकारी,

रूपों की पहचानें सकल मिट गईं,

वे सबकी सब जैसे लोप हो गईं,
ला-लाकर जैसे बस डुबा दी गईं।
यथा इन्द्रधनुषी अपना पट टारा,

समग्र 'भगवत्ता' ने रूप उघारा,
निज वज्रिल चरणों की नींव जमाकर,
'त्रिकालदर्शी' खड़ा हुआ था आकर,
निहारता निज हीरक-दृष्टि उठाकर।
आज भी बने असमाधेय प्रसरित
चिर स्रोतों को लौट रहे थे अविदित,
लग्न कार्य में फिर हो जाएं अविकृत।
सब इस प्रकाश में नष्ट हो चुका था।
महाकुक्षि में छिप शेष रह सका था।
बोर मिटा देने को उतावली थी,
अध्यासेप सरीखी दिख पड़ती थी,
और दिशाएं तो ऐसी लगती थीं
डूब समा जाने को बस तत्पर हों,
पांखों की इक फड़फड़ान आतुर हों।
औ' 'भगवत्ता' की व्यक्तिता सुन्यारी,
एक बिवर्धित सी गाथा थी सारी,
'जिसमें' ही सब बुला लिये जाते हों,
और जहां वे स्वीय अंत पाते हों।
दृष्टि, विचार एक भी कह सकता था,
'आकार' ही यहां पर शेष बचा था,
उसका सूक्ष्म प्रेत जैसा लगता था,
जब वह सागर में गिरती होती है
पूर्ण विलय का सुख लहती होती है,
अपने इस 'शून्य'के किनारे पर भी
जिससे कढ़कर कभी यहां आयी थी।
एक 'महा-भूमा' सुध्यानलीना थी,
एक 'सनातनता' पर्यासीना थी,

नीरव, मौन एक 'शांति' ने जहां पर
जगती और अंतरात्मा दोनों से
अपना सारा नाता तोड़ लिया था।
औ' फिर एक नग्न निस्संग 'सत्य' ने
अंतरात्मा की आवेगित-शोधों
को आखिर इक उत्तर दान किया था:
और राग-भावना-शून्य, वाचा-बिन,
अब अपनी अगाध चुप्पी में डूबा,
अपनी उस रहस्यमयता की पाटे
जिसमें कोई भी न प्रवेश कर सका,
आज अश्वपति के सम्मुख वह बरबस
इक गूंगी भीषण प्रशान्ति को धारे
सबसे अभेद्य औ' अग्राह्य बना सा,
निज ध्यानमग्नता में प्रकट हुआ था।

अपनी जगती से उसकी कोई भी
समता और सजातीयता नहीं थी
फैली हुई महा 'भूमा' में उसकी
कोई कार्य नहीं था, क्रिया नहीं थी
जीवन के प्रश्न और उठ-उठकर सब
उसकी नीरवता से जा टकराए,
औ' 'जीवन'-ओठों पर लौट सिराए,

अज्ञानापराध के अपराधी, बिन-
परात्पर 'प्रकाश' की आज्ञा पाए,
जग के सकल प्रयास रुके, शिथिलाए।

यहां जानने की इच्छा से आकुल,
अपने सा कोई मन कहीं नहीं था,
और प्रेम करने को अविरत व्याकुल
ऐसा कोई अंतर नहीं कहीं था।
उस नामहीनता में सभी मिट गये,
कहीं व्यष्टि का अस्तित्व ही नहीं था।
था वह निपट अकेला बिना दुसरिहा,
कोई जहां सुहृत्, मित्र भी नहीं था,
अपने लिये अकेला सत्य वही था।

इक विशुद्ध अस्तित्व व्याप्त था केवल,—
मुक्त विचार और भावना से बना,
अस्पर्श्य, और अमरानंद में डूबी,
परिव्याप्त थी अकेली एक चेतना,
अपनी उस एकाकी अनंतता में
जीता था वह सबसे दूर सुन्यारा,
'एकमेव' 'अद्वितीय' था एकाकी
जिसे जा सके वाणी से न उचारा।
'आदि पुरुष' वह जो आकारहीन औ'
रूपहीन, वाचाविहीन लगता था,
अपनी कालरहित आत्मा के द्वारा
ही जो निज स्वरूप का विज्ञाता था,
अपनी ही निस्तब्ध गहनता में जो
सदा-सदा सब कुछ का अभिज्ञाता था,
असृजनकर्ता था, अज था, अजात था,
'केवल' था जिसमें सब जग जीता था,
और किसी की न अपेक्षा रखता था,

जिसकी नाप-जोख कुछ भी न हो सके
ऐसी ज्योतिर्मय परम-गुह्यता जो
'अनभिव्यक्त' के महान्-पट के पीछे
बनी सुरक्षित छिपी हुई रहती हो,
औ' जग की इस मध्यावस्था से जो
अति ही उन्नत था औ' बहुत दूर था,
परमधाम था, इकरस और नित्य था,

इक निगुह्य, नीरव औ' अति अभेद्य था
इस सब कुछ का एक 'महाकारण' था,
वह शाश्वत था, अव्यय था, अक्षत था
अनंत था, एकाकी था, अचिन्त्य था।

पर्व ३, सर्ग २

भगवती माता की आराधना

आत्मा के इस विशुद्ध स्व-साक्षात् में
• एक निपट आदान-प्रदान-विहीना पूर्ण, केवला 'नीरवता' मिलती है,
नीरवता की एक महान् भित्ति है जो आत्मा को जग से अलगाती है,
उसकी एक महा खाई है जो सब इन्द्रिय बोधों को कि लील जाती है,
औ, अब तक मानव मन जो समझा था उस सबको वह झूठा ठहराती है,
तथा हमारी ये श्रमनिरत इन्द्रियां
खींच-खींच आकारी अवास्तविकता
से भावी में जो कुछ धुनें-बुनेंगी उस सब कुछ को व्यर्थ बना देती है।
आत्मा की विशाल आत्मिक नीरवता ही सर्वत्र यहां चहुँमुख फैली है,
केवल वह 'अचिंत्य' ही जहां बचा है,
केवल वही 'अनामी' है जिस थल पर देश-काल का नाम-निशान नहीं है :
जीवन की बोझीली आवश्यकता जहां कि सारी चुक औ' बीत चुकी है :
हमसे जहां विचार छूट जाते हैं, दुख-सुख से हम निजात पा जाते हैं,
और अहंता सारी मर जाती है, सुख सत्ता से विमुक्त बन जाते हैं—
औ' सब चिंताओं से छुट जाते हैं,
जीवन-मरण तथा कर्म और विधि के सारे बंधन विनष्ट हो जाते हैं।
किंतु पहुंच इस उच्चावस्था में अब प्रश्न अश्वपति के सम्मुख यह उभरा :
ओ आत्मा! आत्मा के विजयोत्सव की यह प्रसन्नता अभी जल्दबाजी है,
आवश्यकता से भी पहले की है।
पहुंच गयी हो माना तुम 'आत्मा' की नीरवता की असीम गहराई में,
कूद पड़ी हो और समय से पहले हर्ष-भरी इस दिव्य महा खाई में,
फेंक कहां आयी हो पर आत्मा का लक्ष्य और उसकी सब शक्तियां प्रखर?
'शाश्वत'-पथकी किस मृतवत् किनार पर?
वह 'केवल' ही था तेरे अंतर में जो आत्मा भी था, औ' जग भी सुन्दर,
तारों के भीतर बीजित उसके उस उद्देश्य का किया क्या है तूने पर?
नहीं पलायन तो लानेवाला है ताज, विजय की कोई भेंट अनोखी!
उस 'अज्ञेय' के यहां से रे! तू तो इस जग में कुछ करने को आयी थी,
हुआ नहीं कुछ भी तो कार्य अभी तक सारा जग है चला जा रहा यों ही,

क्योंकि अभी तक हो पाया है केवल 'ईश्वर' का विश्व-कार्य बस आधा ही।
अब तक, शाश्वत नकारात्मक बस इक अभाव ही तो आकर नियराया है,
घूर-घूर जिसने आंखों में तेरी तेरे अंतर का वध करवाया है;
पर 'प्रेमी' का वह श्रद्धा-अवगाहित अशंक औ' अविरम 'स्वीकार' कहां है,
छिपकर रहनेवाली और अमरता,— तेरे अंतर का श्रृंगार कहां है,
स्रष्टृ-'अग्नि' की स्तुति औ' उपासना में मंत्रोच्चार कर रही वाक् कहां है,
और प्रतीकात्मक वह 'ओम्' कहां है, 'ब्रह्म-शब्द' अनुमति-दातार कहां है,
इस आनंद और उस महा शान्ति का भव्य-सेतु संयोजनहार कहां है,
निखिला-सुषमा-'वधु' के उर की शाश्वत सुन्दरता औ' रागविहार कहां है?
कहां कक्ष वह जहां विरोधी द्वंद्वों के महान् वैरी चुंबन करते हैं,
कहां और वह रक्षक जादूई स्मिति,
द्रव्य-द्रव्य का स्वर्णिम शिखर कहां है जहां पहुंचकर सभी एक बनते हैं?
'जीवन' के आदिम-स्रोत पर पहुंचकर मिलनेवाला यह भी 'महा सत्य' है।
माना कि अविद्या के अंधकार का इक धूमिल-पट हमने हटा दिया है,
यों 'प्रभु' की विशाल-छाया का दर्शन इन आंखों ने बेशक प्राप्त किया है,
पर प्रकाश का पट किसने टारा है,
औ' किसने 'राजाधिराज' की काया की रूप-माधुरी का अमृत पिया है।
'प्रभु'के जन्म और कर्म की गुह्यतर गाथा पड़ी अभी और अधूरी है,
अंतिम अध्याय की और मुद्रा तो नहीं जा सकी अबतक चकचूरी है,
और अधूरी 'लीला'-पहेलिका की कड़ी पड़ी उलझी-पुलझी बिखरी है।
औ' देखो वह विश्व-'खिलाड़ी' अपने छद्मवेश के पीछे से हँसता है,
और आज भी इस जादूई अनुपम, 'आकारी' मानव-महिमा के नीचे
और 'नाम' के स्वर्ण-प्रेत के पीछे

अंतिम रहस्य पड़ा ढका मुंदा है
लंबी एक शुभ्र-रेखा ही अब तक बनकर पथ का ध्येय तनिक दमकी है,
पर उस पार अभी उस 'अकथनीय' के सूर्य-पथोंकी चकाचौंध बाकी है।
अब तक जो कुछ आदि-अंत देखा है वह केवल विशालतम इक गोपुर है,
शाश्वतता के मंदिर में जाने को उठा हुआ अंतिम रीता डग भर है।
कालातीत प्रदेश पर अरे यह तो अपनी मात्र दृष्टि एक उठ गयी है,
औ' अनंतता दिये हुए अपने सब आकारों को वापस माँग रही है,
औ' बस 'प्रभु'के घोर तिमिर के द्वारा,
चाहे उसकी नग्न-ज्योति के द्वारा,
उसकी लक्ष लक्ष किरणें फिर अपने 'सविता' में अब वापस लौट रही हैं।
यहां शून्य की एक शून्यता मिलती जो 'पुरुषोत्तम' का संकेत धराती,
'प्रकृति' यहां पर शांत और निर्वसना होकर अपने 'प्रभु' को है उघारती।

पर उसके इस महिमामय अभाव में छिपकर सब सामर्थ्य पड़ी रहती है:
और हमारी आंखों के सम्मुख से
जब 'प्रकृति' की कंचुकी टर जाती है,
तब आत्म-अज्ञान का वध हो जाता पर आत्मा पर आंच नहीं आती है।
अरे शून्यता यह इक अमरानन को ही ढक और मूंदकर बस रखती है।
बस यह महान् अंधा निषेध का स्वर ही तो 'प्रभु' का अंतिम सत्य नहीं है,
निर्वाणावस्था का सर्व-विलोपन ही तो 'प्रभु' का अंतिम शब्द नहीं है,
औ' जीवन का अंतिम बोध नहीं है औ' सत्ता के पथ का अंत नहीं है,
और रहस्यमयी महान् जगती का इतना ही बस अंतिम अर्थ नहीं है।
इस निरपेक्ष, निरतिशय नीरवता में एक केवला 'शक्ति' पड़ी सोती है,
औ' यह जगकर सतत समाधिनिबद्धा आत्मा को भी प्रबुद्ध कर सकती है,
और किरण के भीतर से तब उसके पितृ सूर्य को विवृत बना सकती है
औ' यह इस जग को निगुह्य-'आत्मा' की शक्ति का सदाधार बना सकती है,
फिर मिट्टी को ही लेकर यह 'प्रभु' के पूर्ण रूप की मूर्ति रचा सकती है।
बस अंतर-आत्मा की मुक्ति तो उठा ध्येय की ओर ज्योतित एक क़दम है;
यहां जगत् में स्वीय पूर्णता पाना 'प्रभु' की अभिलाषा का ध्येय चरम है।

इसी बीच जब खड़ा अश्वपति योगी था निज सत्ता के नग्न किनारे पर
जब आत्मा के रागावेग, शोध सब
उस लक्षणविहीन फैले 'विराट्' में अपना विलय देखने को थे तत्पर,
तब वह 'सन्निधि' जिसकी उसको अविरत
रटन लगी रहती थी, उसके सम्मुख हुई प्रकट साकार स्वयं ही आकर।
औ' फिर उस अंतिम अचला-'सुशांति' की फैली नीरवता के अपर-पार से,
'परात्परता' के अद्‌भुत अंतर से
विचित्र आश्चर्य और पराभासिता से निर्मित इक काया पड़ी दिखाई,
जैसे अपने अस्तित्व की कि नन्हीं गुह्य मधुर एक मूर्ति हो ढल आई,
खिंची-खिंची डोर में स्वीय 'आनंद' की, जिसकी स्मृति जाती हो नहीं भुलाई,
लगा कि 'शाश्वतता' में से उमड़ाकर इक धारा ही आ सम्मुख प्रतिमाई,
इक केवला, अनन्ता हो प्रकटाई।

ज्ञान, शक्ति औ' आनंद की वह देवी
आज 'प्रकृति' जग और अंतरात्मा को कंठ से लगा दुख-दर्द हर रही थी,
यथा स्वयं माता ही अपने शिशु को अब निज बाहों में खींच कस रही थी।
उस लक्षणविहीन औ' इंगितहीना महारिक्तता को एक दम भंग कर,
इक सूनेपन को, इक अभाव को औ' शब्दहीन चुप्पी को तोड़-फोड़कर,
औ' सीमाविहीन उस 'अनजाने' की सब रहस्यमयता को छेद-भेदकर

निश्चल गभीरता की स्वतंत्रता में
इक सौंदर्यमयी आनंदरूपिणी 'श्री-शोभा' चुपके से मानो उतरी,
और उतरकर इक आश्चर्य-किरण में मूर्तित हो दृष्टि के सामने लहरी,
और अश्वपति के सशक्त माध्यम से
तरस रहे सारे जीवित द्रव्यों में अपने कर का मधुरस्पर्श भर गई,
औ' सीधे उसके हृदय में उतरकर इक स्वर्णिम-पथ का निर्माण कर गयी।
'निखिला-सुषमा' की बस क्षणिक मधुरिमा
ने इस विश्व-पिंड के भ्रमण-चक्र की असारता को मिटा दिया था आकर,
और यकायक अचित्-जगत् के भीतर
ऐसा अनुभव हुआ कि एक 'प्रकृति' है, जिसमें स्फुरित हो रहा दैवी अंतर,
जिसने कोल्हूरढ़नी इन श्वासों को है जैसे इक सुखद-रहस्य बनाया,
जो दुख को हँसकर सह लेनेवाले एक प्रेम को धरती पर है लाया,
वही प्रेम तो है जिसने इस भू पर दुख-शूली को हँसकर अपनाया है,
जिसने जग की दुःख-यातनाओं को सुखवाद की लहर में बदलाया है,
लंबे औ' अंतहीन 'धरा-काल' के बोझे को सुखदायी बनवाया है,
'दिव्यानंद'-रहस्य का गुर पाया है।

छिपे हुए स्वर्गिक हर्षातिरेक का
जीवन में जिसने विश्वास जमाकर
आत्मा को उसके जादूई पथ पर ले जाकर जैसे आरूढ़ कराया,
क्षर-काल में अमर मूल्यों को लाकर सूर्यों के श्रम को सार्थक बनवाया।
क्योंकि परम सत्ता है यहाँ एक जो 'प्रभु' के पीछे सदा छिपी रहती है,
'मातृ-शक्ति' है जो ब्रह्मांड-अंड को शक्ति-तेज से सेया ही करती है।
उसी 'चेतना' ने यह जो कुछ भी है इस सब कुछ का जैसे अतिक्रमण कर,
बिना किसी का भी अस्वीकार किये खोल दिया सुचमत्कारी अपना द्वार,
नृप ने अनुभव की अविनश्वर सत्ता अधःपतित इन निज शीशों के ऊपर,
अनुभव की औ' इक आनंददायिनी सतत अस्खलनशीला 'शक्ति' महत्तर।
प्रकटी एक तितिक्षा-'शक्ति' धरा में, एक अमर्त्य 'सत्य' औ' सम्मुख आया,
जिससे यह सब कुछ है गया रचाया, जिसके ही द्वारा है गया मिटाया,
सब देवों औ' सब वीर्यों की 'जननी'
और विधात्री जिसने 'परात्पर' से इस भू का है गठबंधन करवाया।
प्रकृति-रात्रि पर शासन करनेवाली 'पहेलिका' का जैसे अंत हो गया,
सब ढक रखनेवाले 'निश्चेतन' का पट उघरा, उसका प्राणांत हो गया;
भूलों से ही अभिनिर्मित उसका मन वस्तु-वस्तु से अलग अ-तान हो गया,
विकृति-भरे संकल्पों की धुंधुआती मनोदशाओं का अवसान हो गया।
उसकी सर्वदर्शिका समस्वरता से होकर ये दोनों ज्यों सहज प्रकाशित,-

'ज्ञान' और 'अज्ञान' निजी पंथों पर
औ' दानव-द्वंद्वों के 'प्रतिकूलित बल',
जगत्-जुगुति के वे विपरीत ध्रुव-युगल
अपने दोहरे छद्मावरणों को अब
'माँ' के और हमारे बीच भीति-सम
दैवी 'प्रज्ञा' अब पास आ गयी थी
अज्ञानांध विश्व यह सारा, जिसकी
यह सारी सत्ता अब ध्येयविहीना

•

क्योंकि गुप्त 'ब्रह्म-शब्द' प्राप्त हुआ था,
और यहाँ आत्मा के जनमाने का
वह जड़ द्रव्यों की इस अचेतना में,

पड़ी हुई है बनकर क्यों परिसीमित,
विस्तृत, विशाल, सुनसान, दिशाओं में
लगा कि एक ज्वलंत 'प्रेम' ने अपने
शुभ्र आत्मिक स्रोतों से उठ-उठकर
अज्ञान की अपार अतलताओं से
औ' प्रज्ञा माता की चंद्रिम-स्मिति में
उस पार से और आकर इक 'जीवन'
गलती करते रहने की स्वाभाविक
क्योंकि प्रकाश, प्रेम परिव्याप्त हों जहां
यहां 'निराकारी', 'आकारी' दोनों
उठी एक चितवन औ' जग की भारी
इक श्री-मुख प्रकटा औ' नानाकारी
जग की अंध शक्तियां जिसको अबतक
उस असीम आनंद को अंग-अंग में
उसकी चंद्रिम सुषमामय काया ने
खड़ी हुई है वही यहां मानव के
अपनी धीमी गति से 'काल'-चक्र है
उसके ही कर ला सकते परिवर्तन
उस माता का ही रहस्य है जिसको
और कीमियागर अपनी आत्मा की
और स्वर्ग का स्वर्णिम सेतु वही है,

और नहीं रह पाए बने प्रयत्लित। •

नहीं दीठि पर आकर मढ़ सकते थे,
आकर नहीं खड़े अब हो सकते थे।
जो निज कार्यों से ही छिपी पड़ी है,
बना हुआ तमसिल छद्मावरणी है।
नहीं पतन की एक क्रिया लगती थी,
न निर्वाण ही केवल मुक्ति रही थी।
चिर-अन्वेषित गुर पा लिया गया था,
उसको अब सारा अर्थ खुल गया था,—
नश्वर जीवन की और तुच्छता में,
इस मानव तन-मन की अपूर्णता में,
इसका सब रहस्य आज खुल गया था।
एक धड़कता 'अंतर' दिया जनाई,

थी शोकों की परंपरा मिटवाई,
सकल यातना-कालिख गयी धुलाई।
ने 'मरण' पर हमारे थी जय पाई,
रह न गयी अब मन में कुछ शिथिलाई।
नहीं भूल का प्रवेश है संभावित।
बने हुए थे उसमें चिर एकायित।
विशालता का बस अतिक्रमण कर गयी,
अनंत की अंतर-सत्यता खुल गयी।
ढूंढ़ रही हैं बनी हुई चिर-यत्लित
अकथनीय ढंग से कर आज अवतरित,
आनंद-सिंधुओं को किया हिलोरित।
जन्म, परिश्रम औ' विधि,—सबके शिरपर,
घूम रहे केवल जिसके इंगित पर,
'काल'-सर्प-यति के उद्गम में जाकर।
अचित् की 'अमा-निशा' छिपा रखती है,
यह जादूगर-शक्ति भी उसी की है;
आदिम स्रष्ट्री अद्भुत -अग्नि वही है,
हीरक-अंतर 'अज्ञेय' का वही है,

'प्रभु' के अगाध सागर में तलियाई
'ऊर्जा'-स्रोत वही है, और वही है
और कठिन ऊर्ध्वारोहण की अपने
और वही प्रचंड 'सविता' है जिससे
वह 'प्रकाश' है जो कि स्वयं ही आकर
वह आनंद है कि जो निपट असंभव
वह सबकी 'आदिशक्ति' है जो अबतक
यह संपूर्ण 'प्रकृति' बस मूक भाव से
कि तड़कते पीड़ाकुल जीवन के व्रण
धूमिल अंतरात्माओं पर अंकित
औ' द्रव्यों के पिहित पड़े अंतर में

जग देखेगा अरे एक दिन सब कुछ
और विरोधी द्वंद्वों का यह जोड़ा
उसकी ही दिशि तो धीरे-धीरे कर

उसके ही जादूस्पंदन की लय में
उसके बाहुपाश में बँध हम अपने
उसके माध्यम से हम अपनी 'मैं' को
बना प्रमाणित उससे ही फिर जीवन,

भेंटेगा ऊपर से, रिलते नीरव-
नीचे से, उठकर दिव्यालिंगन के
एक 'दिव्य' विद्युत्-कौंधन के सँग ज्यों
शाश्वत-द्रव्यों के आनँद की लहरें
आनँद-विवश बने इंद्रिय-बोधों पर
औ' उसकी असहिष्णु ज्वाल से जैसे
एक बार के दर्शन से बस उसके
बस अनंत आनंद के लिए अविरत
उसमें ही अब सारे ध्येय खो गये,
उसका आधार सिमट एकोद्देशी—

बस यों अंतहीन 'काल' के हृदय में
फूट पड़ा था 'ब्रह्म-शब्द' इक झरझर,
देखा गया एक क्षण में था जो कुछ

नीरवता की अंतर-शक्ति वही है।
'ब्रह्म-शब्द' बस आदिभूत अनिवारी,
वही एक चुंबकता है अति न्यारी,
होते अपने सारे सूर्य प्रकाशित,
असिद्ध 'भूमाओं' से हुआ है नमित,
उच्च भूमिकाओं से देता इंगित,
हुई न उच्च लोक से कभी अवतरित।
केवल मात्र उसी को पुकारती है,—
उसके चरण-स्पर्श से भर-भर जाएं,
मुहर-बंदियां टूट-फूट झर जाएं,
उसकी ज्योति प्रज्वलित हो-हो जाए,
उसी शक्ति को इक मात्र टेरती है।
उसकी सुमधुरता का सदन बनेगा,
उसकी समस्वरता को यहां रचेगा।
सारी ज्ञान-पिपासा बढ़ी जा रही,
राग-भावनाएँ हैं टोह ले रही,
निस्संदेह हम सभी जीव जिएंगे,
सारे दुख चिर-पुलकन में बदलेंगे।
विश्वात्मा के सँग एक अनुभवेंगे।
क्योंकि पुनः बन रूपांतरित उसी में
अपने पूर्णोत्तर की सुसंप्राप्ति में,
परानंद के अविराम वर्षणों को,
आश्चर्यों के मौन रसोद्रेकों को।
सब सत्ता में यह अनुभूति छा गयी,
उमड़-घुमड़कर अंगों में समा गयीं।
'आश्चर्य' एक आकर यथा गिरा हो,
उसकी आत्मा को अब गया धरा हो।
अंतर पर 'उसका' ही राज्य छा गया।
एक बुभुक्षा का उन्माद रह गया।
उसमें ही उनको पा लिया भी गया,
धुर-संकेती मीनार था बन गया।

एक बीज अभिनव बो दिया गया था।
दिव्य 'प्रकाश' एक चमका, कौंधा था,

युगों-युगों ने उसे व्यक्त करने को
इस प्रकार 'कालातीत' से कौंधकर
इक शाश्वत क्षण से उद्भव पाकर यों
बस जो कुछ उसने आज तक किया था
नन्हीं सी उन शुरुआतों ने उसकी
क्योंकि उसे 'माँ' के आनँद को अपने
उसकी सुषमा, श्री औ' महानता का
वह जो कुछ अब तक था उस सब कुछ को

उसके अपने व्यक्तित्व के लिए अब
उसकी अंतर इच्छा और विकस कर
उसकी अपनी आत्म-मुक्ति भर उसको
आज धरा औ' मानव के हित उसने
पर पृथिवी पर अज्ञानांधकार औ'
महा मृत्यु की लगी हुई मुद्रा को
तोड़-फोड़ सकने में सब मानव का
उसकी स्व-प्रकृति की सामर्थ्य तो फ़क़त
उसकी फैली और उठी बाहों को
यह 'प्रकाश' तो भारी किसी यत्न से
मन की नीरवता में ही 'परात्पर'
औ' कोई सुशांत अंतर ही उसकी
एक विराट् समर्पण भर ही तो अब
आज 'शक्ति' वह जो ऊर्ध्व-वासिनी है
बंद पड़े जीवन-कक्षों में अपनी
और सांत द्रव्यों को आकर अपनी
अस्वीकार करे जो कुछ भी इसको
औ' उन इच्छाओं को जिनके कारण

अब तो और सभी माँगों का क्रन्दन
मन, अंतर औ' इस श्वास-कटघरे में
उसकी इक सन्निधि को और शक्ति को

कि दुख-ग्रसित जगती की अमा-निशा में

अविरत श्रम करने का बोझ लिया था।
लोकों ने थी जैसे छलाँग मारी,
चली वत्सरों की कढ़ सेना भारी।
वह नव-क्षेत्र बनाने जैसा भर था;
इक महान् परिणति को माँग लिया था,
भीतर टिका, बसा, अपना लेने को,
इस जीवन में वास बना लेने को,
उसे आज नव-निर्मित करना होगा,
धारण इक नव जीवन करना होगा।
उसकी अंतर-सत्ता अति विशाल थी,
असीम और अपरिमेय बन चुकी थी:
तृप्त और संतुष्ट न कर पाती थी,
'माँ' का आनँद और ज्योति चाही थी।

प्रेम और सब शक्ति निरर्थक ही थी,
शिशु बाहों की पकड़न ही लगती थी,
स्वर्ग-उँचाई ऊँची बहुत पड़ी थी।
औ' विचार से निकट नहीं आता है।
स्व-धर्म को संपन्न किया करता है,
अनुच्चरित वाक् को सुना करता है।
उसकी मात्र शक्ति एक रह गया था।
उसे ही उतर सक्रिय होना होगा,
'अमर'-वायु का श्वास बहाना होगा,
'अनंतता' से पूरित करना होगा।
उसको नष्ट-भ्रष्ट करवाना होगा,
हमने उस 'केवल' को यहां गँवाया,
जिसके ही हित जीवन जग में आया,
उन सबका अब वध करवाना होगा,
उनका जिद्दी शीश कुचलना होगा।
उसके अंतर में था मौन पड़ गया:

लाने का आतुर हौसला रह गया।
इतना ही उसका अभिलषित बन गया,—
उसके ही प्रेम-भरे अमृत-स्पर्श को

उसके ही सत्य को और आनँद को
करता रहे यहां नीचे आवाहित।
होकर मुक्त और आत्मा अब उसकी
पूर्ण रूप से उसमें बनी समर्पित।

पर्व ३, सर्ग ३

आत्मधाम और नई सृष्टि

अनुभव किया अश्वपति ने कि अभी तक
जो कुछ सिद्ध हो चुका है उससे भी
घूम पड़ा अब वह उस दिशि को मुख कर
ध्यान लगाया उसी मौन इंगित पर
जो परिचित है उस 'सत्य' से, बना जो
औ' सर्वदर्शिनी अपनी चितवन से
निज आत्मा की अगम्य नीरवता में
गंभीर, धीर, एकनिष्ठ, एकाकी
यथा प्रार्थना की चौकी पर अचला
लगा याचना करने उसी 'शक्ति' की
औ' सहायता माँगी उस 'सत्ता' से
औ' जिज्ञासा की उस 'सत्य'-'ज्योति' की,
और एक अनुमति मांगी थी उसने
पर उन्नततम उँचाइयों से नीचे
कालहीन पलकें बन्द ही पड़ी थीं,
उदासीन औ' असहाय शून्य फिर भी
अपनी मानवता के इक परिसीमित,

अपनी अचित् और चिर-अंध नींव की
'जीवन' की गभीरतम गहराई में
वस्तु-वस्तु के आदि मूल से उठती
उसने देखा अब भी तो छिप कर है
उसकी आंखों से अदृश्य बन उसके
उसके पार्थिव जीवन में अब भी तो
जिसने कि 'अचित्' से, जिससे निकली है,
बीते हुए भूत के साथ आज भी
छायान्वित एकता एक ऐसी है,
जो एक जागतिक ढाँचे के भीतर

अंतिमतम चोटी न गई नापी है,
एक महत्तर सिद्धि अभी बाकी है।
जहां से कि सब कुछ ने जन्म लिया था,
जो 'निगुह्यता' से एक आ रहा था,—
विचार के पीछे अलभ्य रहता है,
सकल सृष्टि की देख-भाल करता है।
इक स्तूप के सरिस दृढ़ औ' अचलाए,
बैठ गया, सधैर्य वह लगन लगाए,
मूर्तिमती आशा हो ध्यान जमाए।
जो न अभी जग का मुकुट बन सकी थी
जो मर्त्य संकल्प को अति महती थी,
अभी दूर से ही जो लखी गई थी,
सर्वशक्तिशाली निज 'महास्रोत' की।
अब तक कोई गिरा नहीं उतरी थी,
खुलने की कोई उम्मीद नहीं थी।
पड़ा दबोचे था इस धरा-काल को।
घिरे हुए से इस ताने-बाने में,
औ' अपनी गति में, अनुभव की उसने
गूंगी और एक सुविशाल रुकावट,
'अस्वीकृति' की हठी मौन पथराहट,
अज्ञानमय 'नहीं' की इक टकराहट।
'अचित् निशा' के सँग सहकार चल रहा,
ही भीतर उसका अस्तित्व पल रहा,
एक वस्तु आ बैठी है पथरा कर,
जोड़ी है निज गाँठ खूब सुदृढ़ाकर।

कोषायित सी बसती चली आ रही,

अब भी प्रबुद्ध मन से बिन देखी औ'   छिपी पड़ी-सी बचती चली आ रही,
अवचेतन की खुसपुस में, सपने में
मन औ' आत्मा के उन्नत चुनाव पर   चली भुनभुनाती जो सदा जा रही।
इसके दग़ाबाज सब तत्त्व अन्न के   दानों के सम बिछे हुए हैं ढनगन,
इस आशा से कि 'सत्य'-पग घुसते ही   लहैं डगमगाकर शीघ्र ही निज पतन,
और पुरातन आदर्श-सूक्त हैं जो   घूम-घूम ठंडी आहें भरते हैं,
और मर्त्यता की मृदु दुर्बलताओं,
पृथिवी की करुणामय अपूर्णताओं   पर दिव-कृपा की वकालत करते हैं।
'प्रभु' को धोखा देते रहनेवाले   अपने इन तत्त्वों को खोज-खोजकर,
जड़ मूल से निकाल फेंकने को ही   पूर्णरूप से हुआ आज वह तत्पर।
खोल दिए थे उसने और 'प्रकृति' के   सारे गुप्त-देश आवरण हटाकर,
अग्नि-ज्वाल से उसने खोज लिये थे   कोने-उपकोने औ' सारे गह्वर,
जहां स्वर्ग की झलमल अमल ज्वाल की
शुभ्रा पावनता के दृढ़ विरोध में,   अंधकार के इक आश्रय के भीतर,
शरणार्थी वृत्तियां और वे सारे   अनाकार विद्रोह पड़े थे छिपकर।
जो कुछ भी अदिव्य था अब वह सब कुछ   नष्ट हो गया-सा प्रतीत होता था:
फिर भी कुसंभावना बनी हुई थी
कि कहीं एक विरोधी-लघु से लघुतम   अंश ध्यान से बचकर रह सकता था,
औ' अंधी सत्ता का एक केन्द्र फिर   छिपा वहां पर क़ायम रह सकता था,
क्योंकि यह 'अचित्' भी तो अनंत ही है;
जितना ही उसके निगूढ़ गर्तों की   नाप-जोख का हम आग्रह करते हैं
उतना ही तो वे बढ़ते आते हैं,   औ' बढ़ते अंतहीन-से जाते हैं।
बस उसने इस लिए कि मानव-क्रन्दन
उठकर 'सत्य' को न फिर विकृत कर सके
सब रक्त-स्रावी-इच्छाओं को ले   खींच जड़ों से उनकी उधेड़ डाला,
औ' वह रीता स्थान पुन: देवों को   पूर्णतया सुसमर्पित था कर डाला।
बस इस प्रकार शुद्ध, अपापविद्ध उस   पूत स्पर्श को उसने सहा-सँभारा।
और यहां प्रकटी तब एक महत्तम   रूपांतर की अंतिम अजस्र-धारा।
औ' पूर्ण रूप से अब उसकी आत्मा   आगे आ सिंधु सरिस फैल गई थी,
जो उसके तन औ' मन दोनों को ही   निज लहरों में अभिमग्न कर रही थी,
औ' जीवन के उखड़े-उखड़े छन्दों   को विश्व-सुसाम्य के साथ लाने को,
औ' अन्त:परिव्याप्त 'दिव्यता' का ही   महाराज्य जीवन में फैलाने को,
भीतर बाहर से एकायित बनकर
अब उसकी सत्ता ने सारे जग को   कंठ लगाने हित बाहें फैलाई,
उसकी सारी सामर्थ्यें अपनाई।

अब इस महत्, सार्वभौम एकता में,
न फ़क़त आत्म-प्रकृति औ' मनोबोध ने
उसके, सबकी आत्माओं औ' मन को
अपितु मांस-मज्जा के जीवन का भी
और सकल जीवन के रक्त-मांस के
और दूसरों का सब सुख औ' आनँद
और दूसरों के दुःखों के बोझे
छिपे हुए उस 'परात्पर' के आनँद

उसकी विश्वव्याप्त करुणा ने एकल,
सत्ता के इस महायाग को अविरत
अनेकता के और विभाजन की यह
और विश्व-'आत्मा' की गुप्त एकता
संकल प्रकृति के अंतर में बस फिर से
आज न जीवात्मा औ' जीवात्मा के
और जगत् औ' 'प्रभु' के बीच न कोई
आकार और स्मृति की सब सीमित गति
आवृत रखनेवाले और मनस् की

हुई विलय यों, जिसकी भावी में मिट
इक निरपेक्ष 'चेतना' जिसने सारी
बस अब सारी सत्ता, एक स्वयंभू-
क्षुद्रात्मा का दकियानूसी घेरा
इक अंतिम रेखा तक मिटते-मिटते
सत्ता का सब भिन्नत्व मिट गया था,
'आत्मा' के विशाल एकत्व में डूब
इस प्रकार से विलुप्त आज हुआ था,
थाह लगाते हुए पैठकर अपनी,—
कि निखिल जग में केवल एक 'वही' है,
आज प्रकृति उसकी बस विशाल होकर
उसकी आत्मा अपने स्रोत को पहुंच
जो उस एकम् 'परमातिपरम' से ही
बस मानवता रूपी गणित-सूत्र यह
मनुष्य का अंतर अपने भीतर जो
उस 'अलंध्य' को निगुप्त कर रखता है,

अपने मन औ' आत्मा से भेंटा था,
आज महा रूपान्तर सिद्ध हुआ था,
सँग उसका शरीर भी एक बना था;
अब उसका अपना ही सुख-आनँद था,
को वह अपना करके ही ढोता था।
और शांति में पुलकायमान होकर,
सिंधु की तरह विशाल और बृहत्तर,
सकल सृष्टि का बोझ उठाया ऐसे,
यह धरती सहती आती है जैसे।
अंतहीन वेष्टनी समाप्त हो गई।
फिरसे अनेकता ले एक हो उठी,
वही एक आनँद की लय लहर चली।
बीच कहीं कुछ बरकाव रह गया था,
अब बाधा औ' बंधन शेष बचा था।
अब पूर्णतः पराजित यहां बनी थी,
शक्ति यहां पर पकड़ी धरी गई थी,
फाड़ फूड़ कर औ' फेंक दी गई थी;
हस्ती की भी संभावना गई थी,
सृष्टि रची है केवल दिख पड़ती थी;
ज्योति और शक्तिका प्रवाह बनी थी।
टूट-फूट अब पूरी तरह गया था,
पूर्ण रीति से नष्ट-विनष्ट हुआ था।
कहीं न उसका अनुभव शेष बचा था,

कि उसे निज का भी भान मिट गया था।

'निखिल सृष्टि' की ही इक क्रिया बन गई,
'निखिल सृष्टि' की प्रतिनिधि बनी हुई थी
संयोजित होने को घूम पड़ी थी।
उसके द्वारा अब अतिक्रमित बना था,

उसमें आज देवता के अंतर का इक उन्नत स्पंदन जागरित हुआ था,
ज्ञानदीप्त 'सत्य' में पहुँच जिज्ञासा- रत मन का सब यत्न समाप्त हुआ था,
उसके जीवन का प्रवाह् अब सारा जग-जीवन का सबल प्रवाह् बना था।
औ' फिर वह् पूर्णत: इस धरा के पर आरोहण की समुद प्रतीक्षा करता,
या फिर जग की रक्षा करने के हित सशक्त 'अवरोहण' की बाट जोहता,
सब प्रकार बनकर सम्पन्न जगत् की उन्नततम सीमा पर खड़ा हुआ था।
एक दिव्य-'महिमा' ने औ' 'प्रतीक' ने भेंट लिया पृथिवी को यथा घुमड़कर,
सुशांत आविर्भावों ने अवलोका, पूत विराटों ने घेर लिया आकर,
तेजस्वी दूरियाँ यहां झुक आईं,
सजातीय बन गईं और नियराईं।

उस ज्योति की अपार चकाचौंधन में सारे इंद्रिय-बोध पड़ गए झूठे,
क्षणभंगुर परिनादों के हित उसके श्रवण बने थे आज नितान्त अनूठे,
सशक्त दिव्य-'विचार' आज यह् उसका पूर्व-विचारों सम महान्, श्रीविरहित,
एक थके देवता सरिस अब रहसिल महासिंधु में होता था न निमज्जित।
नश्वर चिंतन की सारी कंचुकियाँ आज रह् गईं थीं जैसे कि उतरकर,
उसका ज्ञान आज निरपेक्ष दृष्टि के सम्मुख था रह् गया नितांत उघरकर,
और नियति-चरवाहे का संचालन समाप्त हो कर था अब ठप्प हो गया;
और बढ़ाते रहने हेतु 'प्रकृति' का अनिद्र अंकुश-प्रेरण बंद हो गया,
'सर्वशक्तिमान्' की अडोल शांति में
संकल्प-मल्ल की व्यायामिक श्वासों का और सब हाँफना बंद हो गया।
प्राणशक्ति अब उसके अंग-उपांगों में बनकर विशाल औ' मौन पड़ी थी,
जो कि 'अमरता' की सुविशाल दृष्टि को
निर्वस्त्र, निर्भित्ति औ' निर्भय बन कर अपने ऊपर धारण किए हुए थी।
अंतिम क्रिया जहां बंद हो गई बस, सब कुछ एकाएकी ठप्प हो गया।
उसने अपने अंगों पर दबान का एक अनोखा अनुभव आज था किया,—
यह् तो अदृष्ट 'परात्पर' का कर था,
जो उनपर आत्मा की मापविहीना कोई मुद्रा को अब लगा रहा था,
औ' 'अनन्तता' ने उसको निस्सीमित, कूलरहित समाधि में निगल लिया था।

उसकी अंतरात्मा अब इस अंधे तारों भरे क्षेत्र को छोड़ चुकी थी,
'देशत्व' से और मुख मोड़ चुकी थी,
ज्यों रहस्यमय कूलों तक जाने के निश्चय में कोई निज पोत खोल दे,
औ' 'प्रभु' की श्वास-वायु में बढ़ने हित महासागरों में बस उसे छोड़ दे,
नीचे जहां अमापी गहराई थी, और दिशाएँ 'अज्ञात' से घिरी थीं।
जो कुछ इस परिमित जग को रचता है, वह् उससे सुदूर ही थी चली गई,

गुप्त शाश्वतताओं के सागर में
मन के फेनोद्वाही सतही तल से
सर्वज्ञा सुषुप्ति के भीतर जैसे
वाचाविहीन अंतर के देशों की
मनसा-वाचा की कमज़ोर पकड़ से
दृष्टि से परे, आकारों के अंतिम
परात्पर 'प्रकाश' के महासिंधु की
या फिर रीती आकार-बिन 'शून्यता'
लीक-रहित उस अगम्य अपरिमेय में
या तो पिछली अनात्मवत्ता में, औ'
आत्मा में, आत्मातीतावस्था में
चित् मन के स्वप्न-तटों को उलाँघकर
आखिरकार आज वह जाकर अपने
दु:खरहित उस चोटी पर क्रन्दन स्वर

अस्पर्श्य और परिशुद्ध इक वायु में
जहां न कहीं आदि है औ' न अंत है;
एक अचल अक्रिय बस अविरत बल है
युग का श्रमिक और निज परिभ्रमण से
चाबी भरी हुई-सी वहां सृष्टि की
औ' आत्मा इस भीषण यांत्रिकता का
विधि-संचालित भीषण मशीन की गति
और वहां पर एक हृदय के भीतर
और प्रेम-आलिंगन के भरते ही
औ' जीवन-प्रयोग का खतरनाक दुख,
उसके परिणाम में इक 'अहेतुकता'

उदासीन देवों की बदी बाज़ियों
और भावना के अविराम बदलते-
रहनेवाले प्रकाश औ' छाया का
मौन साक्षी आत्मा के सपने में
इक अधदेखी, अधजानी जगती की
जहां ज्ञान को तो निज शोध में लगा

गोता लेकर जैसे बिदा ले गई,
पीछे बहुत दूर थी ज्यों निकल गई,

'भूमाओं' में जाकर थी गुमा गई।
अब वह रहकर दूर दूर औ' ऊपर,
आधार से एकदम बाहर जाकर,
धाराओंमें अभिमग्न हो गया था;
में करता-करता यात्रा रह तत्पर,
निपट अकेले प्रतिपल बढ़ते रहकर

इस यात्रा पर बढ़कर और निरंतर

शाश्वत मूल स्रोत में पहुंच गया था।
जहां पहुंच सकता है नहीं मार पर,
इस नश्वर-लीला से ऊपर जाकर,
फैला आत्मशांति का राज्य था सुथिर।

जो सब जग का संचालन करता है,
अरे जहां पर विश्राम ले रहा है।
गुड़िया नहीं शून्य में घूम रही थी,
चुपचाप बन निरीक्षण न कर रही थी,
नहीं किरकिराती न चरचराती थी,
शुभ और अशुभ दोनों का आ जुड़ना
दु:खों सँग इक लड़ना और झगड़ना,

औ' इक 'दैवयोग' भर का बस मिलना,
मनस्-च्यूत के उन कष्टों का सहना, —
अब इन सबका कोई हेतु नहीं था,
के दाँव पर जीवनों का रख देना,

इस सतही चेतस् के ऊपर गिरना,

भूलों की रचना का होते रहना,
इक अज्ञान ही चाहिए बस कहना, —
उस थल पर इनका कुछ काम नहीं था।

'जीवन'-चापों की और लड़खड़ानें
जिनकी कोई उपयुक्तता नहीं है,
औ' एक घुणाक्षरन्यायी पद्धति का
उसका स्वरूप, जिसमें तर्क नहीं है,
उसके सत्य और मिथ्या दोनों का
साथ साथ इक बराबरी से चलना, —
उस निश्चल औ' अविकारी प्रदेश में
इन चीजों की कोई पहुंच नहीं है,
इनके होने का कुछ हेतु नहीं है,
इनको जीने का अधिकार नहीं है :
'आत्मा' की इक अक्रिय अचल शक्ति है,
जो नीरव निस्तब्ध, शाश्वती द्वारा,
औ' उसकी सर्वशक्त, सर्वव्यापिता
चहुंदिशि फैली महाशान्ति के द्वारा,
अपने में ही लीन बनी-सी स्थित-चित्
वही वहां पर फ़क़त राज्य करती है
जहां कि विचार का विचार से कोई
औ' सत्य का सत्य से युद्ध नहीं है,
अधिकार से विरोधी अधिकारों की
जहां कि, आपस में दुश्मनी नहीं है,
जहां लड़खड़ाते ही रहनेवाले
और अर्धदर्शी ये जीव नहीं हैं, —
जो एक से दूसरे अप्रत्याशित
दैवयोग तक बढ़ते ही रहते हैं,
'अचित्' से गढ़े हुए जड़ शरीरों में
कोई भी अंतर-वेदना और दुख
नहीं तपकने को परवश बनते हैं।
वहां शाश्वती के महान् रक्षकगण
मुक्त, गुह्य औ' अशमनशील 'ज्वाल' से
बने हुए से अविरत शस्त्र-सुरक्षित
अपने नियम चलाया ही करते हैं,
अवधिहीन औ' भव्य भवन में उसके
सदा-सदा को अडिग और अचलायित
'महासत्य' की बृहत् नींव पर दृढ़-स्थित,
रहकर निज शासन करते रहते हैं।
वहां 'प्रकृति' बस अपनी महामूक उस
आध्यात्मिक शय्या के बीच भव्यतर
अविकारी रूप से परात्पर स्तर पर
आदि स्रोत से रहती जाग्रत् बनकर,
औ' अखण्ड शान्ति में बनी अचलायित
अगणित विश्वों की भारी हलचल को
करती रहती चुप रहकर संचालित।
औ' इक 'साक्षी' है, निज अडिग संतुलन
से बैठा जो सब निरखा करता है,
जो सबका कारण है, व आधार है
औ' सब कुछ से दूर बना रहता है,
एक विशाल 'नेत्र' है जो जगती की
सब चीजों को होते देख रहा है।
अब वह सबसे अलग और सर्जन की
सब हलचल से दूर, शान्ति में स्थितचित्
खोया हुआ शाश्वती के शिखरों में
अपने कूलविहीने आत्म-धाम में
आकर निवस गया था बन अभिरक्षित,
फ़क़त सर्वद्रष्टा उस 'एकमेव' के
साथ बना था सहवासित, सुसहचरित।
अब वह इक महान् 'मन' था ऐसा जो
'विचार' के बंधन से बहुत दूर था,

एक महान् 'प्राण' था, जो कि दिशा में लीला के हित अब अति ही असीम था,
इक 'आत्मा' था, कूल-किनार विहीना नहीं 'काल' जिसको फुसला सकता था,
जग के लम्बे दुख दर्दों से उसने आज मुक्तिका अनुभव सुखद किया था,
और आज वह कभी न मरनेवाली सतत अजन्मा 'आत्मा' बना हुआ था,
और संसदों में जाकर 'अनंतता' की साक्षात् उपस्थित आज हुआ था।
आज विश्व की कल-कल ध्वनि के ऊपर इक आदिम एकाकीपन छाया था,
कालजात द्रव्यों के द्वारा सिरजा संबंध आज विच्छिन्न हो गया था,
और 'प्रकृति' का महा समाज-संगठन अर्थहीन बनकर रिक्त हो गया था।
सभी वस्तुएं निज आकारविहीना बीजरूपता में फिर पहुंच गयी थीं,
औ' जगती युग-चक्र शुरू होने के पहले की चुप्पी में पड़ी हुई थी।
यद्यपि संपीड़ित, भयत्रस्त 'प्रकृति' यह उससे पीछे ही छोड़ दी गयी थी,
फिर भी उसके चरणों के नीचे निज अगणित क्षेत्रों का पोषण करती थी,
पर उसका भीषण कर्म ठप हुआ था, — सुदूर में ज्यों स्वर मंद हो गया हो,
जैसे कोई आत्म-विहीन स्वप्न था जिसका क्रम आखिरकार रुक गया हो।
फिर भी उन उन्नत नीरवताओं से नीचे उतर न वाचा कोई आयी,
निबिड़, निसंग और उन एकांतों से नहीं किसी का उत्तर पड़ा सुनायी।
इक निवृत्ति की शान्ति विराज रही थी,
देवों के जन्म के पूर्व की कोई सुविशाल अमर चुप्पी राज रही थी,
इक 'विश्व-शक्ति' आवृत 'परात्पर' की
अब अंतिम आज्ञा के लिये समुत्सुक, आतुर, चुपचाप प्रतीक्षा करती थी।

तभी यकायक उसकी दृष्टि उठी औ' चली गयी गहरी दूर पैठती-सी
यथा सिंधु अपने ही अतल-तलों की हो लेने लग गया अथाह थाह-सी,
एक सजीव 'एकता' ने अब अपने अंतरतम से विशाल बनकर जैसे
जोड़ दिया था उसको अगणित फैली नाना-आकारी अनेकताओं से।
इक 'आनँद' 'प्रकाश' औ' एक 'शक्ति' ने तथा शुभ्रज्वाला सम एक 'प्रेम' ने
जकड़ लिया था सब कुछ को, अब अपने एकाकी विशाल भुज-आलिंगन में,
सकल विश्व-सत्ता ने पाया अपने परम सत्य को 'एकत्व' के वक्ष में
अब प्रत्येक, बहुलता की आत्मा था
और बहुल की ही एक व्योमता था।
जगती के महान् छंदों की लय थी एकमेव 'आत्मा' की अंतर-धड़कन,
अनुभव था 'प्रभु' के साक्षात्कार के ज्वालामय रहस्य का इक उद्घाटन,
मन-मात्र वीण था अनगिन तारों की,
जीवन-मात्र महान् रागिनी था इक प्राणि-मिलन के उठते झंकारों की,

क्योंकि लोक लोकान्तर अगणित हैं पर
'आत्मा' तो है केवल एक सभी की।
इस प्रकार यह ज्ञान विश्व-माटी का
बीज बन गया था आज एक सुन्दर,
जो बीज आज 'प्रकाश' में रक्षित था
उसको 'अज्ञानता'-खोल की कुछ भी
रही न थी आवश्यकता रक्षाकर।
तब उस महाश्लेष की चित्-समाधि से,
उस एकाकी 'अंतर' के स्पंदन से
औं' विशुद्ध 'आत्मा' के विजय-ह्लाद से
महान् प्रारंभ हो पड़ा अब फिर से।

एक चमत्कारिक नवीन सर्जन का
झर-झर बहती अगणित अनंतताएँ
इक अपार सुख से अट्टहास करतीं
बहुत्व की स्व-एकता में जीती थीं।
और जहां सत्ता विमुक्त, विस्तृत है
उन लोकों ने एक अचिंत्य विधा से
अनहं 'आत्मा' को देहें अरपी थीं,
औं' आनंद दायिनी ऊर्जाओं के
सुख स्पंदन ने 'कालातीत' को सुघर
जोड़ दिया था जहां 'काल' से लाकर,
जोड़ दिया था इसविधि अरे एक ही
आनँद के इन युगल-ध्रुवों को भास्वर;
और शुभ्र-विस्तार देख पड़ते थे,
जिनमें सब कुछ लिपटा हुआ पड़ा है
अपने में ही अरे सुखद औं' सुन्दर।
जहां विरोधी द्वंद्वों का न पता था
औं' न विभाजित बने हुए टुकड़े थे,
औं' आध्यात्मिक एक सूत्र के द्वारा
सभी भाग सबके सँग जुड़े हुए थे,
और सभी इक अक्षरपन के द्वारा
परम-चरम 'एकम्' से बंधे हुए थे:
हरेक इक अनन्यता लिये हुए था
लेकिन वह सारे अन्य जीवनों को
अपना करके ही अनुभव करता था,
वह 'अनंत' के अगिन विभिन्न स्वरों के
साथ साथ ही चलता औं' अलापता,
सब जग को निजमें अनुभव करता था।
अनंतता के भ्रमते महाचक्र का
प्रत्येक ही बना भव्य केन्द्र था वर,
जो निज चरम उँचाई तक औं' अपने
अंतिम विस्तारों तक ठेला जाकर
आत्मानँद की स्व-दिव्यता का ही बस
अपने भीतर मृदु अनुभव पाता हो,
जो अपनी ही अन्य अगिन आत्माओं
में बार बार दुहराया जाता हो।
औं' जैसे इक दैवी-गणना क्रम से,
आनँद-वर्द्धक एक गुणा की विधि से,
शाश्वतता के आवर्ती दशमलवों
को आगे आगे वर्द्धित करते-से,
उसने स्वीय क्षेत्र में 'निर्वैयक्तिक'
के व्यक्तित्वों, आकारों को लेकर,
अकथ्यता से लिया हृदय में था भर।
अलग न था कोई, और नहीं कोई
अपने लिए आप में बस जीता था।
प्रत्येक जहां निज के औं' इस सबके
भीतर के 'प्रभु' में श्वासें भरता था।
प्रति एकलता अनिर्वाच्य ढँग से इक
अपनी सब समग्रता को साधे थी।
और जहां 'एकता' न कोई सीमित
इकरसता के भीतर बंधी हुई थी,

वह तो अपने सहस-सहस रूपों को
और पहलुओं को व्यक्त कर रही थी,
उसकी द्योतित अविकारी अविचलता
सतत गुलामी के हित विवश बनी-सी
और सुरक्षित निज नींवों पर स्थित-सी,
सतत-विकारी अपूर्वज्ञात पगों को,
और पूर्णता की अपनी लीला में,
बड़ी-बड़ी शक्तियों से सुसंचालित
यहां अव्यवस्थित दिखनेवाली इस
वैश्विक नर्तन की सूक्ष्म योजना को,
अब अपने ऊपर धारण करती थी।

इस जग रूपायन ने पीछे फिरकर
स्वीय गुप्त सत्य का किया अवलोकन,
सकल विभिन्नत्व को बना डाला फिर
एक 'एकता' का ज्यों लीला-प्रहसन;
औ' उसने जगके सकल प्राणियों को
देखा उस 'अनन्य' के अंशों-सम ही,
उस पर भी तो अलग-अलग ये सब थे
सत्ता की बस गुह्य पूर्णताएँ ही।
बदल गयी कशमकश सकल जीवन की
एक प्रेम की मीठी, मधुर राह में,
और सुनिश्चित सुखकर आलिंगन के
सामञ्जस्यपूर्ण इक बाहु-हार में।
तादात्म्य के साम्यताकारी सुख ने
विभिन्नता को दी स्वीय सुरक्षा वर।
सभी खतरनाक चरमताओं में जा
मिलनेवाली अंतिमतम सीमा पर,
उस थल खेलों का वह 'खेल' गया है
खेला अपनी परम-कोटि में जाकर,
जहां कि प्रभु के आत्म-लोप के द्वारा
अपनी आत्मप्राप्ति के शीर्ष शिखर पर,
फूट पड़ी है परम एकता की इक
उन्नत से उन्नत आनंद-मत्तता,
जिसकी सुखी अभिन्न-मधुरता, करती
अनुभव 'केवल' की जनसाधारणता।
कहीं दुःख की सुबकन यहां नहीं थी,
औ' अनुभव, प्रहर्ष के एक बिन्दु से
अपर बिन्दु तक प्रमत्त दौड़ रहा था
औ' आनंद वस्तु-वस्तु के अंतर का
कभी न मरनेवाला शुद्ध सत्य था।
सारी 'प्रकृति'-मात्र औ' जैसे 'प्रभु' का
अपने एक सचेतन पुरोभाग थी;
इक प्रज्ञा सब कुछ में कार्यलग्न थी
जो कि आत्म-चालित, आत्म-सुनिश्चित थी
असीम-'प्रकाश' की एक पूर्णता थी,
बोधी-'सत्य' की प्रमाणसिद्धता थी,
सृजन 'शक्ति' की एक राग-रसता औ'
एक महा महिमा कार्य-सुलग्ना थी।
शाश्वतता से चले कूदते आते

अमोघ, एक घड़ी भर के विचार ने
बहते कर्मों में सुअभीप्सा भर दी,
एक दिव्य वाणी औ' एक हास्यध्वनि
'नीरवता' के उर से फूट बह चली
और 'व्योम' की महाशान्ति में से उठ
'सौंदर्य'-लय तरंगित एक हो उठी।
'काल'-हृदय की अमाप गहराई से
एक 'ज्ञान' की धारा थी उमड़ पड़ी।
सबकुछ, सबकुछ के प्रति घूम पड़ा था
सब दुराव का आवर्त खुल चुका था :
इक अद्वितीय हर्षोन्माद निरंतर
अप्रतिहत रूप से बहा करता था,
इस स्वप्रकाशित विशालतम जीवन के

स्पन्दनशील हृदय में प्रेम अनोखा आज निकट की ही एक एकता था,
जिसका उर पुलकायमान रहता था।

एक विश्व-दर्शन था जो सबकुछ को एक एकता में बांधे रखता था,
नाड़ी और नसों का संवेदन अब उसकी नाड़ी-नस में पहुंच रहा था,
अंतर-श्रुति थी ऐसी जो विचार के अंतस्तल की वाणी को सुनती थी,
और हृदय के छन्दोमय अर्थों के पीछे खुद ही दौड़ पहुंच जाती थी,
एक स्पर्श था जिसको छूने, गहने के हित हाथों की दरकार नहीं थी,
वही बना था इक-मात्र चेतना का आदाता और प्रदाता उस थल पर,
उसने आत्मा-आत्मा के संबंधों को था ऊंचा उठा दिया घनिष्ठकर।
आध्यात्मिक सुशक्तियों के इक अद्‌भुत और भव्यतामय समूहवादन ने,
और आत्माओं के एक आपसी विनिमय के होते ध्वनि-परिगुंजन ने
अब गंभीर, अनापी एक एकता को था और समन्वित यहां कर दिया।
इन लोकों में परिवर्द्धित बनकर वह विश्व-दृष्टि का आंशिक मान बन गया,
सर्वव्यापी एक प्रकाश के सतत आश्रय औ' विराम का स्थान बन गया,
एकाकी शान्ति के सिंधु में उठने- वाली एक तरंग महान् बन गया।
वार्ता के हित उत्सुक अगिन-मनों को उसका मन दे रहा आज उत्तर था,
उसके मुख से निकला हुआ नाद अब एक विश्व-वाणी का ही अक्षर था।
उसका अपना जीवन और विश्व की इस विराट् हलचल का एक क्षेत्र था।
उसके उर में लक्ष-लक्ष संकल्पों के चापों की ध्वनियाँ सुन पड़ती थीं
जो एक ही लक्ष्य की ओर अनवरत चली मिलाए निज चरण जा रही थीं।
एक स्रोत जो कभी नहीं मरता है
सदा सदा जो नवजन्मा रहता है
वह अब अपनी सहस-सहस हहराती धाराओं में औ' पुलकित-अविनश्वर-
अमर-मधुरता के भंवरावर्तों में, पकड़ा भरा गया था आज यहां पर,
औ' वह अब अपने इस अवधिविहीने परम हर्ष के सुशांत संचरणों को
और जो यथार्थ में एक ही हैं उन लक्ष-लक्ष रूपों के आनंदों को,—
घुमड़-घुमड़ जैसे वे गुजर रहे थे, उन भंवरों को अंगों पर सहता था।

और पूर्णता के उन्नत विधान के इस विशाल-विस्फोट में महाविस्तृत,
उसकी अविचलता को फिर द्रव्यों के प्रवाह के ऊपर करके आरोपित,
उसने ज्योतित विविध भूमिकाओं की थी इक फैली परंपरा अवलोकी,
जो इस दैवी स्थिति के साम्राज्य को मिली हुई जागीरों के समान थी।
निज निज उचित धर्म को लेकर लेकिन,
एक 'सत्य' की सेवा में ही रत बन
प्रत्येक ही प्रकाश-सरणि की अपनी प्रसन्नता को आश्रय दिए हुए थी,

प्रत्येक स्व-सुषमा में एकाकी थी, अपनी आत्म-विधा में परिपूर्णा थी,
औ' इक गहन-'सत्य' की केवलता से फेंकी हुई विशेष एक छाया थी,
हरेक सुखद भिन्नता में सबके सँग अंतर-संबंधित थी, जुड़ी हुई थी।
प्रत्येक, पड़ोसी के दायित्वों की सहायता को थी निज शक्ति दे रही,
पर इन भेटों के कारण अपने में किसी कमी का अनुभव थी न कर रही,
यह इक रहस्यमय विनिमय था जिससे दोनों को लाभ ही सदा होता था,
जो कुछ भी वे लेती या देती थीं दोनों से उनका वर्द्धन होता था।
अपने से अतिरिक्त सभी अन्यों को वे अपना परिपूरक ही लखती थी,
और बहुलता के सामर्थ्य-मोद को धरे-समेटे वे सब एकमेव थीं।
उस सुसंतुलन में भी जहां 'एकता'
निज विभिन्न आत्माओं के आनँद का
एकान्त में बैठकर रस लेने को पीछे खिंच सबसे अलगा जाती है,
उस 'केवल' एकाकीपन में भी वह निज 'समष्टि' के हित आतुर रहती है,
और 'बहुलता' 'एकम्'की दिशि पीछे फिरकर स्वीय सत्य को निहारती है।
सर्वोद्‌घाटी, सर्वरचयिता 'आनँद'
ने चिर-सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए अभिनव आकारों की इच्छा लेकर,
'वाचातीत' की प्रतीक-ज्योतियों को
उनकी अर्थ-भरी इक रहस्यता में आज दिया था मानो पंक्तिबद्ध कर,
जो 'साक्षी-आत्मा' की अमला-धवला पवित्रता पर थीं अब ऐसे चमकीं,
जैसे रीते रंगविहीन व्योम पर इन्द्रधनुष की आभाएं हों दमकीं।
ये विचित्र मोहक रँग 'परमेष्ठी' के तिन-पहलू बिल्लौरी शीशे ही हैं,
उसकी सुषमा, शक्ति और आनँद हैं, कारण जो सृष्टि का बने उसकी हैं।
विस्तृत 'ऋत-चित्' ने इन सभी इंगितों
को लेकर इक दैवी-शिशु के 'अंतर'
में जैसे अब प्रवेश करा दिया था,
औ' उस शिशु ने उनको प्रसन्नता औ' आनन्द-वेग से भरकर देखा था,
औ' इन परात्पर के प्रतिरूपों को रहा निरखता मन मोद में डुबाए,
जो थे उन सत्यों-सम जीवित, सच्चे— जिनको अपने में वे थे कि बसाए।
'आत्मा' की शुभ्र तटस्थता बन गयी थी अब क्रीड़ा-स्थल एक चमत्कारी,
निगुह्य 'कालरहित' की गुप्त शक्तियों का जो मिलन-स्थल था रहस्यकारी:
इसने बना दिया था अरे.व्योम को 'प्रभु' का एक चमत्कारी जादूघर,
और 'काल' में बहा दिया था उसके 'कालातीत' वीर्य के कर्मों को चिर,
बस उसके 'प्रेम' औ 'ओज' का अनुपम इक सौंदर्य और आद्‌भुत्य गहन जो
खुलकर सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया था, जैसे इक अति मोहक मृदु-आनन हो।
फिर वह शाश्वत-'देवी' जैसे अपने विश्व-सदन में हिली और डोली हो,

औ' ज्यों 'माता' शिशु के सँग खेले, यों 'प्रभु' के सँग की हँसी औ' ठठोली हो :
उसके लिए सकल विश्व यह प्रेम से भरा हुआ इक माँ का वक्षस्थल था,
उसके खेल-खिलौनों का यह जमघट अमर वास्तविकताओं का दंगल था।
जो कुछ कि यहां आत्म-विलुप्त बना है निज-निज दिव्य-स्थान वहां धारे था।
वे 'शक्तियाँ' यहां जो निज अंतर को धोखा देतीं औ' भूलें करती हैं
वहां सत्य में, बनी सुसम्राज्ञी थीं परिपूर्ण औ' हर्ष में बनी हुई थीं,
दोष-विहीन-सृष्टि की सुस्वामिनी थीं निज अनन्तता की धारणकर्त्री थीं।
'मन' तो उस थल पर इक क्रांत दृष्टि की किरणोंवाला देदीप्यमान रवि था,
जिसने निजी विचारों की महिमा से ही पदार्थ को स्वरूप दे डाला था,
औ' निज सपनों की आभा-शोभा में जो रमने और घूमनेवाला था।
कल्पन के महान जादू-डंडे के वश में हो 'अज्ञात' तक वहां आया,
जिसने उसको भवन दिया बसवाया,
स्वर्णिम-नभ में बड़े अलंकृत ढंग से
बस 'सत्य' के इन्द्रधनुषी रँगवाले सुकल्पना पंखों को था फैलाया,
या हर्ष के सहजबोधी अंतर में 'अद्‌भुत' के स्वप्न-स्वरों को यों गाया,
कि 'परम तत्त्व' वह यहां नियरा आया,
इसकी 'शक्ति', और जिसने सुदूरतम अज्ञेय को पास ला सत्य बनाया,
आदर्श के महामंदिर के भीतर उस 'एकम्' को प्रस्थापित करवाया :
औ' फिर जिसने विचार को, मन को औ' प्रसन्न बोधों को आबाद कर दिया,—
प्रभु की सामर्थ्यों के दीप्त पहलुओं से था पूर्णापूरित उन्हें कर दिया,
औ' उस केवल 'परमातिपरम' के ही जीवित व्यक्तित्वों से गया बसाया,—
अकथनीय की व्यंजक इक वाणी से,
अदृष्ट सन्निधियों की साक्षात्करी किरण ज्योति से, जो था गया भराया,
औ' अक्षत-आकारों से, जिनसे वह 'निराकार' है अपनी झलक दिखाता,
औ' 'वाचा' वह जिससे दैवी अनुभव है अपनी अभिव्यक्ति साहजिक पाता,
और 'भावनाओं' का एक सतत क्रम, जो 'अनन्तता' को कस-कस भर जाता,—
इन सबसे था उनको गया लदाया।
वहां विचार और सत्य के बीच में नहीं रह गई अब कोई खाई थी,
पक्षी की पक्षी के लिए जवाबी- सी कल-कूजन, कुहकन सुन पड़ती थी,
संकल्प, विचार का अनुसरण करता, औ' कर्म संकल्प का अनुकर्ता था,
अंतरात्मा का अंतरात्मा से बुना एकता का सुसाम्य रहता था।
और शाश्वत के इक गठबंधनसे 'मर्त्यकाल' भी दैवी बना हुआ था।
इक 'प्राण' था, थकेबिन जो खेलों से, बिना रुके आगे बढ़ता जाता था,
अंतर में जिसके चिर हर्ष भरा था, ओठों पर जिसके हास्य खेलता था,
दैवयोग रूपी प्रभु की क्रीड़ा के सुतीव्र जोखिम को सहता चलता था।

औ' निज मन-मौजके कुशल हुलास में,
इक रूपान्तरकारी सितोल्लास में,

इसने था इस काल-वक्ष के ऊपर
अपनी मन-मोहिनी कूट-लीला की
घटनाओं का इक नक्शा खिंचवाया,
जगती के चढ़ाव और उतारों के
प्रत्येक मोड़ पर आकर्षित करके
कभी न रुकनेवाली आत्मशोध हित
तरह तरह से बार-बार ललचाया।
संकल्प के सामने भंजन के हित
कठिन बंधनों को लाकर ठढ़िआया,
औ' विचार को चौंका देने के हित
सतत नवीन सर्जनों को करवाया,
अंतर के सहने के हित रागात्मक
नए-नए जोखिम को था न्योताया,
जिनमें अप्रत्याशित एक मुखाकृति
लेकर सदा सत्य ही तो आता था,
या कि छन्द के सुखद पदान्त की तरह
वही पुराना परिचित आनँद फिर-फिर
उसके द्वारा दुहराया जाता था।
'प्रज्ञा' माता के वक्षस्थल पर जो
लुका-छिपी का मौजी रमणहार है,
अपने विश्व-विभावन की मस्ती में
भरा छलाछल वह इक कलाकार है,
जिसके अनगिनत विचार के खज़ाने
कभी भी नहीं परिसमाप्त हैं होते,
विचार में आकार ग्रहण करने से
जिसके विस्तृत जोखिम कभी न रुकते,
नयी-नयी जीवन-विधि के सपनों के
नहीं परीक्षण, आकर्षण हैं चुकते।
कभी नहीं थकता जो इकरसता से,
कभी नहीं थकता जो परिवर्तन से,
अपने प्रगतिशील कर्मों की झांकी
रहता जो फैलाता अनन्तपन से;
यह रहस्य-नाटक है दिव-हर्षों का,
जीवित काव्य है जगत्-आनन्दों का,

अर्थ-भरे आकारों की चित्रावलि,
विकसित-दृश्यों की वेष्टित दृश्यावलि,
आत्मोन्मेषी-आकारों की अपनी
पीछा करनेवाली अद्भुत शैली,
अन्तरात्मा की अंतरात्मा को
पाने हेतु गई हो मृगया खेली,
लुका छिपी की हो ज्यों देव-ठठोली।

'जड़तत्त्व' है वहां 'आत्मा' की घनता,
औ' प्रसन्न आत्म-बहिर्मुखता की ही
है इक शिल्पकारिता, कलाकारिता,
है कोषालय स्थायी आकारों का,
इन्द्रियबोध जहां पर रच सकता है
एक जगत् विशुद्धतम आनन्दों का;
औ' वह एक निरंतर हर्ष-भवन है,
औ' 'उसने' इक रमणीक पथिकशाला
के समान 'काल' को बसा रक्खा है।
जिस थल पर ये इन्द्रियबोध तक सकल
आत्मा की ही अभिव्यक्ति के द्वार थे,
मन के लघु से लघुतम शिशु विचार भी

जहां कि उन्नत से उन्नत चीजों के एक स्पर्श को मूर्तित करनहार थे।
और जहां पर मूल पदार्थ-मात्र तक आत्मा की गुंजायमान वीणा था,
या वह इक जाली थी जिससे अविरत आत्माका प्रकाश झलमल झरता था।
प्रेम-गहनता की इक चुम्बकीयता, जिसके अभीप्सा-भरे इक स्पन्दन ने,
औ' श्रद्धासे आपूरित क्रन्दन ने
'प्रभु' की समीपता को निकट ला दिया,
उसके चमत्कार और मधुरता का था अब अलबेला परिचय करा दिया।
उसकी घनता में स्वर्गीय ढंग की एक पुंजता की रचना मिलती थी,
'उसकी' दृढ़ निश्चलता ने औ' उसकी
मोहकता की मधुर नित्यता ने इक, सुखहित दीप्त पीठिका बनवाई थी।
'उसकी' कायाएँ इक दिव्य बोध के ताने-बाने से थीं गई बुनाई,
आत्मा से आत्मा के आलिंगन की गई निकटता इक अनुपम बढ़वाई,
जिसकी बाह्य दृष्टि की और स्पर्श की
क्रीड़ा की मधुर उष्णता के द्वारा
अंतर के आनँद की मीठी पुलकन और दीप्ति की झलक गई झलकाई,
मन के ऊर्ध्वारोही, सतत प्रदीपित शुद्ध विचारों की आभा चमकाई,
आत्मा की आनन्द-ज्योति लौकाई;
और 'प्राण' के हर्षोन्मेष ने जहां
अपनी अंतर-ज्वाला और नाद को सदा-सदा रखने की क्षमता पाई।
औ' बस, यह सब कुछ जो आज घट रहा
वह आत्मज्योति के प्रति नमनीय बना
'जड़ता' के इक सामंजस्य में और उसकी राजसीय इक सुन्दरतामें,
वहां जी चुका था एक अमरता में।
उसके सुव्यवस्थित काल ने जहां पर शाश्वत-'विधान' का उद्घोष किया था,
और क्रांतदर्शन ने अमराकारों की सलामती में विश्राम लिया था,
'काल' जहां पर अरे 'शाश्वतता' की एक पारदर्शक कंचुकी बना था ।
वह आत्मा की जीवित महाशिला का गढ़नेवाला शिल्पी एक निपुण था,
'अनन्तता' के समुद्र के कूलों पर
बाह्य दृश्य का यह फैला परिदर्शन, रचा 'वास्तविकता' का केलि-भवन था।
आत्मिक महिमा के इन विस्तृत राज्यों से एक निपट उलटी विमुख दिशा में,
उनके समानान्तर किंतु विरोधी, जग थे, जो तैर रहे, झूल रहे थे।
ग्रहण-ग्रसे या छायाके समान थे,
पांडुवर्ण औ' अहरह कंपित जैसे संदेह से बने इक तत्त्वमान थे:
इस दूसरी निपट विपरीत योजना के भीतर बस दो निषेध मिलते थे।

इक जगती, जो अपने भीतर बसने- वाली 'आत्मा' से ही अनजानी थी,
जो इसके कारण को, और जन्म की
आवश्यकता को जानने के लिए सदा-सदा ही श्रम करती रहती थी;
और एक आत्मा थी, जो अपने ही रचे जगत् से अनभिज्ञ सी बनी थी ,
छिपी हुई जो 'जड़तत्त्व' में पड़ी थी,
छली हुई इक 'प्राणिक' विडम्बना से
जो यत्न कर रही अविरत उठने का थी, औ' अपने को विमुक्त करने का,
ज्ञान प्राप्ति का, औ' शासन करने का;
यद्यपि बंधे हुए हैं ये दोनों ही घनिष्ठता से भारी विसंसाद में,
फिर भी उनकी भटकी-सी रेखाएँ कभी नहीं मिल पातीं एक साथ में।
तर्करहित से कोई पथ पर जैसे, तीन 'शक्तियाँ' बस शासन करती हैं,–
आरंभ में अजानी एक 'शक्ति' है,
और मध्य में एक शरीरधारिणी अविरत प्रयत्नरत इक जीवात्मा है,
और अंत में जीवन की सत्ता को अस्वीकृत करती नीरव-आत्मा है।
एक अनाकर्षक और अमंगलमय यह नाटक की मध्य-कथा बढ़ती-सी,
जो मजबूर बनी उस 'अज्ञ-शक्ति' से, अपने अभिनय को पूरा करती-सी,
और अधूरी इक गाथा का 'उसकी' जो पूरा लेखा-जोखा रखती-सी,
प्रश्नाकुल 'मन' के आगे द्विविधामय इन अपूर्ण सत्योंको उघारती है,
औ' उस 'अज्ञ शक्ति' की अचित्-योजना के फैले इस निगुह्यतम रहस्य को,
इक 'आवश्यकता' औ' 'दैवयोग' के
गठबंधन से 'महानिशा' में जनमी इक सत्ता की अद्भुत पहेलिका को,
उसके सम्मुख खोल प्रकट करती है।
अज्ञानांधकार का यही आवरण यहां स्वर्ण-भावी को ढक रखता है।
यह महान् औ' महिमापूर्ण सत्य के भव्य-कीट की कोशस्थ अवस्था है,
जिसने पंखिल औ' अद्भुत पतंग को आवरणी से मूंद-ढांक रक्खा है,
जिससे वह 'जड़ता' के बन्दी घर से जगकर औ' अवसर पा भाग न जाए,
औ' अपनी सुन्दरता को ले जाकर
अनाकार 'भूमा' में व्यर्थ लुटाकर 'अज्ञेय'-रहस्य में न लय हो जाए,
इस प्रकार जगती की जादूई-विधि अपूर्ण और अधूरी ही रह जाए।
पर अब एक नया सर्जन जो अब तक
उस उन्नत-आत्मा के द्वारा देखा अपना एक स्वप्न-भर ही लगता था,
या श्रम से श्लथ-विश्लथ मन को तापित करनेवाला इक गोरखधंधा था,
वह अब उसी पुरातन से सुपनपकर जीवन के तल पर ऊपर आएगा,
एक 'ज्ञान' जो अब तक मूक बना था वह अपनी ऋत-वाचा को पाएगा,
सौंदर्य जो कि निगूढ़, दबा पड़ा था स्वर्गीय नन्दनों में खिल जाएगा,

दुख-सुख गोता ले गहरा, उस केवल-
जिह्वा-विहीन इक 'वाणी' फूटेगी,
इक दिन विकसित होते-होते भू पर
औ' 'शाश्वत' सुचमत्कारों का जादू
पर इक आत्मलीन औ' मूक बने से

औ' अर्थहीन-से इस समारोह को
जैसे उसकी आंखों के सम्मुख से
औ' वह इक आशान्वित अंत के लिए
अब भावी में आनेवाले जग से
यह उसके दर्शन-स्पर्शन से ज्यादह
बहुत दूर पर जो कि चेतना के इक
औ' अब घूम रहा-सा नन्हा, धूमिल,-
औ' उसके ऊपर स्थित उसकी काया,
खोए हुई स्वप्न के एक व्यर्थ-से
जो आत्म-कोश की भंगुर अनुकृति-सम
एक विदेशी मूर्ति सरिस लगती थी

वह धूमिल औ' दूरस्थित-सी जगती

इक स्मृति भी तब प्रयत्नशील स्तरों से
पाली और दुलारी इन द्रव्यों से,

उठते हुए और फिर उस क्रन्दन को
ज्यों अपने ही खोए कि आह्वान को,

क्योंकि यहां तल में भी तो निस्सीमा

बस चुपचाप पड़ी जीती है अपने

छिपकर पड़ी हुई है इस 'जड़ता' की
यह आत्म-बीज अनियत, 'अनिर्दिष्ट' के
निज 'वीर्य' की सर्वसामर्थ्य छिपाकर,

आनँद में डुबकियां लगा जाएगा।
आखिर वह भी क्षण इक दिन आएगा,
'अतिमानस' चैतन्य जाग जाएगा,
आकर 'काल'-नृत्य से जुड़ जाएगा।
दर्शक के हित, यह सब कुछ ही जैसे
भ्रामक एक 'शक्ति' के वशीभूत-से,
एक उमड़ते 'विराट्'-सा लगता था,
वह लापरवाही से देख रहा था,
इक काफ़िला विलक्षण गुज़र रहा हो,
बैठा बाट जोह चुपचाप रहा हो।
देख रहा था वह आज के जगत् को।
भावी की इक साक्षात् दृष्टि ही थी,
चक्रवृत्त पर सम्पन्न हो रही थी,
यह अचिरस्थायी भूगोलक नश्वर,

आकार के सरिस होती थी गोचर,
थी रह गयी रहस-नींद में बटुरकर।
इक पौराणिक छाया का-सा अनुहर।

उसको आज विदेशी-सी लगती थी,
आत्मा औ' शाश्वतता ही सच्ची थी।

उठती हुई एक क्रन्दन-ध्वनि लेकर
पहुंच रही थी बस उस तक जा-जाकर,

एक किरण अब 'परात्पर' से आकर
देने लगी और अपना प्रति-उत्तर,
'महाएकता' का है निज गोपित घर।
यह निज आंखों में ही बनी अपरिचित,
ही अंध-सागरों में और निमज्जित,
ले जग की मूर्छित एक 'एकता' को,-
अचित्-बहुलता के अभ्यंतर में जो।
एक क्षेत्र में जैसे बोया जाकर,

निज 'आत्म'-सर्वज्ञता को विलीन कर,

निज परात्पर 'संकल्प' का सुप्रतिनिधि,
भूल, आपदा, मृत्यु और पीड़ा को
फिर करके स्वीकार, अज्ञ-'रजनी' के
यों भर-भरकर मूल्य, 'प्रकृति' को उसके
अब जाना उसने निज को औ' जाना
है भू की आवेगित तमसिलता में,
'महाशक्ति' का, जो कि विभाजन से ही
अब वह अपने भीतर प्रकट रूप से

और दूसरी बद्ध, प्रयत्न पगी औ'
जिनमें जुड़ जाए संबंध तो यहीं,
किन्तु वहां मद्धिम प्रतिउत्तर ही था
क्योंकि इस महा-निस्सीमा चुप्पी में
उसके नीचे सुदूर गहराई में

मानो महा-निशा की खोह में कहीं

रागपगी संकल्पशक्ति की अपनी

अब उसका अभिजीवित, पूर्ण-सर्मपित,
तथा निवेदित बना हुआ-सा अंतर
सुदूर अपने प्रकाश और प्रेम के
फिर उसके प्रभाव की दीप्त-शान्ति में
देखा उसने था उन उँचाइयों को,
औ' फिर करने लगा अभीप्सा अपनी
उन उत्कंठित निम्न-गहनताओं से
औ' अब अपनी विस्तृत औ' विराट् इस
जो उसकी उन्नत विमुक्त सत्ता के

जो उपरिस्थ 'ईश' के शाश्वत-दिन औ'
उसमें ही, करके स्वीकृत श्रद्धा को,
करके औ' स्वीकार फ़क़त आनंद को
औ' उस निसंग वैरागी प्रहर्ष को

है अपनी दैवी महिमा खो देता,
अचित्-सिंधु में डुबा ज्ञान को देता;

जुर्माने को अदा किया करता है,
अध:पात से मुक्ति दिया करता है।
क्यों उसकी आत्मा अब जाकर पैठी,
हाथ बटाने को, उस भटकी भ्रमती
'एकम्' को पाने की आशा करती।
दो सत्ताओं का अनुभव करता था,
एक महा स्वतंत्र, विस्तृत ऊपर की,
उत्कट, जो उसका ही अंश यहां थी।
दो लोकों का सेतु बना सकती थीं,
औ' सुदूर की ही श्वास आ रही थी
सब हलचल तो नहीं समाप्त हुई थी,
उसका अंतर प्रबुद्ध बना हुआ-सा,
बस जैसे एकाकी पड़ा हुआ था,
एक अकेले दीपक सम जलता था,
औ' वह एकाकी अविनश्वर बनकर,
अतिशयता से अचलायमान होकर
बिलकुल त्यक्त बना सा पड़ा हुआ था।

इक रहसिल श्रद्धा से पगा हुआ-सा,
आदि स्रोत की दिशि को घूम पड़ा था,

जिनको वह देख भी न कभी सका था,

जिनको वह छोड़ भी नहीं सकता था।
भाग्याधीना-समाधि के 'सुकेन्द्र' में,
औ' इस निम्नस्था पतिता सत्ता के,
दोनों के ही मध्यमें, प्रतिष्ठित था,
इस मर्त्य-निशा का मध्यस्थ बना था
अपने पथ के इक निश्चित-विधान सम,
सब द्रव्यों के एक चरम कारण सम,
जिसमें न दूसरा भाग बँटा पाए,
उससे अब निज को नितान्त अलगाए,

और शांति हित केवल जीनेवाली
धूम पड़ा वह उस मातृशक्ति की दिशि

अपने एकान्तिक स्वप्न के राग में
पगा हुआ वह पड़ा हुआ था जैसे,
और अंकप अकेली एक किरण से

उस शान्तिदायिनी फैली नीरवता
एक महाचुप्पी में उसकी सत्ता
पर उस पार महान् सत्य बसता है,
और दूसरे करण सभी सत्ता के
वे इस सोद्दिष्ट और मंद 'शक्ति' को
जो जगती की भूलों, मुसीबतों को
औ' इस वैश्विक लम्बी, धीमी गति को
धैर्यपूर्वक और अनन्तकाल तक
उस मातृ आगमन की, जिसको वे सब
पर उसका यह अग्निल-भाग तुरत ही
उस एकाकी-अग्नि को कभी भी रे
उसकी उठी हुई बस इक चितवन ने
मन औ' संकल्पशक्ति, इन दोनों के
अब विचार मर गया, औ' वहां 'उसका'

आनँद की इक सहज स्फूर्ति से शस्त्रित,
चला जा रहा था वह वहां, जगत् के
छूछे-इनकारों के साम्राज्य में
अपनी वाचाहीन प्रार्थनाओं को
और शून्य की विशालता में होकर
उनकी लौटती हुई आशाओं की
इस प्रकार उसका उत्सुक अन्तरतम
करने लगा प्रतीक्षा 'ब्रह्म शब्द' के
फ़रमान की कि जो प्रशान्त आत्मा के

शांति से सदा निज संबंध कटाए,
जिसके हित जीने की इच्छा की थी,
जिसके हित उसकी सत्ता जनमी थी।

बन्द, रवविहीन एक देवस्थल हो,
संस्कारित, सत्य-फ़र्श निद्रारत हो,
औ' एक अलख 'सन्निधि' वन्दन-नत हो।
के उस गभीर वक्षस्थल के ऊपर
का और सभीकुछ तो सुसन्तुष्ट था,
यह उसके उर को ही मात्र विदित था।
तो मूक बने थे केन्द्रित निद्रा में,
खुशी-खुशी अपनी अनुमति देते थे,
बिना कुछ कहे सहती चली आ रही,
है जो अनुमति देती चली जा रही,——
जो रह सकती थी बस राह देखती,
भू औ' मानव के हित पुकारते थे,
था उसको पुकारता, यहां चाहता।
निर्वाण तो न बुझा, सिरा था सकता।

इस छूछे अभाव को पूर दिया था,
विकार-रहित ओज आ निवस गया था,
और दिनोंदिन बढ़ औ' पनप रहा था।
इक प्रेरित-शान्ति बनी जहां कुंचिका,

जीवन की विशाल रिक्तता चीरता।
उसने 'अज्ञात' के निकट पहुंचाया,

पगचापों में अपना, ध्यान लगाया।

माध्यम से 'परात्पर' से हो आया।

पर्व ३, सर्ग ४

दर्शन और वरदान

तभी सुन पड़ा महान् औ' मनभावन
वहां यकायक एक संचरण पावन।
आत्मा के श्रुति-तत्पर आकाशों में,
अ-प्राण 'महाशून्य' की नीरवता में,
उस एकान्त में और विशालता में,
होता कंपित इक स्वर पड़ा सुनाई,
जैसे प्रिय-पग-गति की आहट आई;
एक स्पर्श ने उसकी काय-शिराओं
में आनँद से उथल-पुथल मचवाई।
इक अद्भुत-प्रभाव अब उतर-उतरकर
जैसे मर्त्य क्षेत्र में पहुँच रहा था,
उसके आतुर अंतर के समीप ही
निस्सीम एक 'अंतर' धड़क रहा था,
एक 'रहस्याकार' और अब बरबस
उसके पार्थिव तन को भेंट रहा था।
बस होते ही इस संस्पर्श के मधुर
सब कुछ के ऊपर से जैसे वज्रिल-
नीरवता की मुद्रा टूट गयी थी,
आत्मा औ' काया पुलकित औ' स्पन्दित
तदाकार बन, अकथनीय आनँद के
आलिंगन में खुलकर भेंट गई थीं;
मन औ' अंग-उपांग तथा जीवन-गति
स्वर्गिक सुखोल्लास में डूब गई थी।
बना प्रमत्त, सुधा-वर्षण से जैसे
उसके स्वभाव के आवेशी प्रसरण
विद्युत्-सम कौंधते हुए, मदमाते
होकर, इक ज्योतित स्वर्ग-वारुणी-से,
'माँ' की ही दिशि होने लगे प्रवाहित।
उसकी सब सत्ता ज्यों अगम सिंधु-सम
थी हो उठी 'सोम' की दिशि आकर्षित।
दिव्यीकृत करते से एक स्रोत ने
उसकी स्व-शिराओं को जकड़ लिया था,
एक-एक कोष और उसके तन का
उसके आत्मबोध में जाग उठा था,
एक-एक नाड़ी-नस उसके तन की
आह्लाद का प्रज्वलित सूत्र बनी थी :
तन्तुजाल औ' मांसपेशियाँ सारी
आनंद में बंटा खुद भाग रही थीं।
अवचेतन की अनाप गहन गुफाएँ
थीं प्रकाश से ज्यों आकंठ भर उठीं,
जन्म-जन्म की निज वांछित पग-चापों
के पूर्व-भान से ज्यों स्फुरित हो उठीं,
तथा चमकते हुए मस्तकों से औ'
वन्दन-लीन आननों से उमड़ उठीं।
आज नींद में खोई, मूक, अचेतन

उसकी अपनी स्थूल विजड़ काया भी
वह जिस 'केवल' की पूजा करता था,
ज्वाल-पूत, मेघ-श्री-केश विमंडित

अक्षि-पटल, प्रज्ञा-कपाट-जोड़ी थी
चिन्तन के इक पुंजीभूत-शिला घन -
संगममंरी शोभन स्मारक के सम
दृष्टि-गुफा सम, ज्यों' सागर की चितवन
उन्नत स्वर्गदिशा में ताक रही हो,
ऐसी असीम-विचारयुत दो आंखों

'मनस्'-चेतना की डेहरी के ऊपर
अंतर के एकाकी कक्ष मध्य बस
प्रज्ञामयी 'केवला-वाणी' का औ'
" 'शक्ति-पुत्र' हे! सृजन-शिखर पर चढ़ते,
नहीं है अरे तेरी साथी कोई
शाश्वत के द्वारों पर एक अकेला
जीत चुका तू जो कुछ, वह तेरा है,
ओ' 'आत्मा'! इस अज्ञानी शरीर से
अचित् और अज्ञानी इस जगती से
किस प्रकार उस मानव के हित जिसका
कैसे तू अंधी भू को, आत्मा की
और अचित् इस भूगोलक का बोझा

जहां कि इस मन की कुछ पहुंच नहीं है,
और अनवरत भ्रमते इन सूर्यों के
मेरी पावकता, मेरी सुमधुरता
मेरे पाने का खतरा औ' आनँद

'काल' विरोधी के सम्मुख इस मेरे
क्योंकि बहुत ही दुर्बल है यह मानव
आविर्भाव सत्य का, पूर्व समय से,
छोड़ सर्वदर्शिनी-'शक्ति' पर ही दे
औ' निज महान एकाकी दिवसों से
सहायता करता तू सकल जगत् की

महाशक्ति के प्रति ऊर्ध्वाकर्षित थी।
अब उसके अंतर में ही बसती थी:
सर्व-समर्थ एक 'आननश्री' प्रकटी —
हिले ओष्ठदल अमरा वाचा फूटी,
आनन्द-गोलकों पर थी जो ओटकी।

उसका शुभ्रिल, ज्योतित ललाट चमका,

ने था अब मानव आंखों में टोहा,
औ' उनमें देव-आगमन को जोहा।
स्वरूपका उतरा मनमोहक डोला,

झरने लगा बोल जैसे अनमोला;
बढ़ते हुए सतत आरोहण-तत्पर!
आत्मा प्रकाशयुक्त इस धरातल पर,
तू ही अब बस खड़ा हुआ है आकर।
पर इससे आगे की चर्चा मत कर।
करने वाले तीव्र अभीप्सा अविरत,
उठती हुई अरे ओ 'वाचा'! उन्नत,
हृदय मूक है, तू याचन कर सकता,
क्रान्त-दृष्टि का है घर बनवा सकता,
बोल न कैसे है हलका कर सकता?
मैं तो इक ऐसा अद्भुत 'रहस्य' हूँ

सारे श्रम के तप का असल ध्येय हूं,
ही तो जग के जीवन का कारण है।
भी अति ही विशाल है, अति भीषण है।
अतः अमेय अवतरण को न जगा तू,
गूढ़ नाम को मुख पर भी मत ला तू;
'अनन्त' का भार वहन कर पाने को,
कर सकता है नष्ट अपूर्ण धरा को।
निर्माण कार्य को पथ के श्रेयस्कर,

अपनी इस अद्वितीय विराट् जय में
पर मैं कहती नहीं ज्वलंत हृदय को
तुझसे उस 'अचलायमान' के विस्तृत
कहती नहीं काल-गति से इस निष्फल,
अन्तहीन से जग के दारुण श्रम को
औ' जग के सब जीवों से अलगाकर
तुही बता जब तक इस जगतीतल पर
बना हुआ है क्षेत्र 'काल' का जब तक
तब तक कैसे तेरी समर्थ आत्मा
भाराक्रान्त-'शक्ति' का बोझ बँटाने
पालन कर स्व-प्रकृति की आज्ञा को तू,
कर स्वीकार, सकल जीवन-कष्टों को
और मन्द गति उस सर्वज्ञ-हेतु के
क्योंकि मनुष्यजाति के साथ ही अरे
इक विद्युत्-प्रकाश है जो ऊपर से

पर उसकी लीकें विलुप्त हो जातीं,
फ़क़त यहां पर यह मानव ही है जो
जो वैश्विक-स्वप्न के बदल देने को
इक अर्धदीप्त 'परालोक' से आया,
इन निर्मन-भूमाओं में प्रवेश कर
अनन्तताओं की गति के बहाव पर
सदा बदलते जानेवाले घर में
और 'दिशा' के मरु में जिसने अपना
और 'प्रकृति' के महाभवन में उतरे
और 'विचारों' के चंचल-कूलों में
अज्ञात और रमणीक 'शक्तियों' का
सुदूर में गूढ़स्थित इक 'प्रकाश' हित
विस्तृत औ' विराट् पंथों के ऊपर
एक स्वर्ग की निश्चल दृष्टि बराबर
उसकी आत्मा के विरुद्ध सब कुछ ने
औ' इक 'आसुर'-प्रभाव उसको 'प्रभु' की
इक क्रूर 'शून्य' है उसके चारों दिशि
शाश्वत 'अंधकार' है इक जो उसको
दुरवगाह्य औ' अभेद्य 'ऊर्जाएं' हैं

रहकर दूर-दूर ही बस शासन कर।

उदासीन आनंद में खो देने को,
अपना आनन मोड़-मोड़ लेने को,
बीच धार में यों ही तज देने को,
उस 'एकमेव' में लय हो जाने को।
बनी हुई है यह मृत्यु निपट अविजित,
दुःख यातना का ही देश विभाजित,
हो सकती है चिर विश्राम में लयित ?
को ही तो तेरी आत्मा है जनमी,
ढोता चल और भाग्य की सब होनी,
औ' देवोपम-प्रवृत्ति, भार-वाहिनी
लिए अभी खेता चल जीवन-तरणी।
उस गूढ़ 'पहेली' की गांठ है बँधी।
है विचार गढ़ता, योजना बनाता,
जीवन के क्षेत्र को जोत है जाता,

अचित्-जगत में है जगता रह पाता,
विफल अभीप्सा करता है रह जाता।

एक अजनबी के समान रमता है;

इक विचित्र यात्री के सम रहता है,
जीवन तंबू गाड़-गाड़ रक्खा है।
हुए अतिथि इक, इस विप्लवकारी को
यात्रा करनेवाले इस यात्री को,
शिकार करनेवाले सुशिकारी को
बंजारे-सम सतत भ्रमणचारी को,
उड़ती 'प्रभु' की नन्हीं चिनगारी को,
ऊपर से इकटक निरखा करती है।
जैसे भारी संघ बना रक्खा है,
दिशि बढ़ने से रोक-टोक रखता है।
जो कि क्षुधा से लालायित रहता है,
अपने कर फैलाकर ढूंढ़ रहा है,
जो उसका जीवन संचालित करतीं,

औ विशाल अप्रशम्य सत्ताएं हैं
इक जड़वत् दिखती 'अंतरात्मा' ने
प्राण तथा विचार से विरहित जैसे
और महातम की नींव का 'व्याल' वह
'दैवयोग' और 'मृत्यु' के विधान को
तिस पर 'काल' औ' 'परिस्थिति' के लम्बे
तो धूसर-रँग 'स्फनिक'—प्रेत इक सम्मुख
भक्षक मरु में भीषण पंजे खोले
जो आत्मविघाती वाणी से शस्त्रित
तिस पर भी उसके पथ के ऊपर इक
इस शाश्वत-'काल' के सतत प्रवाह में
औ' वह बनकर जीता है बस जैसे
वह पृथिवी पर रहता सतत आक्रमित,
ऐसा परम अभागा, पर महान् यह
जो इस पशु में औ' उस अर्ध-देव में
जो जानता नहीं अपनी महानता
भूल गया है कि यहां क्यों आया है,
उसकी अपनी आत्मा में औ' उसके
उसकी अपनी ऊंचाई भी उठकर

और पाशविक कर्दम में ही उसकी
उसकी प्रकृति का नियम आश्चर्यजनक
विपर्ययों की भीषण एक पहेली,
अरे चाहता तो है स्वतंत्रता पर
तम की आवश्यकता है, जिससे वह
दुःख ज़रूरी हैं उसको थोड़े से
मृत्यु उसे आवश्यक है वह जिससे
सभी पहलुओं को वह खखोलता है,

जिसे पकड़ वह पथ पर सतत बढ़ सके;
इस प्रकार मानव का सारा जीवन
अपने को ही वह ढूंढ़ा करता है
जो मिल भी जाता है यह अपने को
रचता-गढ़ता अरे सतत कुछ रहता

घूम-घूमकर उसको छलती रहतीं,
जो पग-पग पर उसका विरोध करतीं।
औ' निद्राचर एक 'शक्ति' ने मिलकर
जग को एक दिया उत्पन्न यहां कर,

रखता है निश्चल कर और पकड़कर।
पथ पर है जब मानव बढ़ता होता,
आकर है पहेलिका एक बुझाता,

उसके इन्तज़ार में है लगा हुआ
'अमा-निशा' का डेरा है पड़ा हुआ।
उसका दिन इकक्षण है पलक मार-सा,
इन्हीं घड़ी-घंटों के इक शिकार-सा।
स्वर्ग से न कुछ आश्वासन पाता है,
प्राणी आकर इस भू पर उतरा है,
इक संबंध-सूत्रता को बुनता है,
और न वह अपना ध्येय जानता है।
भूल गया है कि कहां से आया है;
करणों में एक युद्ध छिड़ा हुआ है।
उन्नत नभ तक पहुंच नहीं पाती है,
नीचे ही छिन्न-भिन्न हो जाती है,
स्थूल पुंजता दफ़ना दी जाती है।
एक विरोधाभास सरिस लगता है।
यही तो उसे जीवन-क्षेत्र मिला है:
बंधन की उसको आवश्यकता है,
स्पर्श तनिक प्रकाश का प्राप्त कर सके,
जिससे अनुभव आनन्द का ले सके,
कि उच्चतर इक जीवन प्राप्त कर सके।
सभी पुकारों पर होता आकर्षित,
पर न ज्योति पाता है कोई निश्चित,

इक आँख-मिचौनी है, लुका-छिपी है,
पर भागा फिरता अपने से ही है;
तो निज को ही अन्य समझ लेता है।
पर स्थायी आधार नहीं मिलता है,

यात्रा तो हर दम करता रहता है
सारी दुनिया का नेता बनता है
आत्मा की तो रक्षा कर ले जाता
प्रकाश जो उसकी आत्मा लाई थी
जो कुछ सीखा था, लगता है सब कुछ
पहले तो एक सूर्य तक है उसको
फिर वह विचार भी छाया बन जाता
किन्तु 'अजाने' जो कुछ भी वह करता
'अज्ञानता'-क्षेत्रमें इस, 'यथार्थ' के
लिए मर्त्य-भूलों के स्वीय यान को
'प्रज्ञा' निज नक़ली द्योतित-चेहरों से
पर उसको उसके पीछे की मोहक
एक दानवी 'अज्ञानता' और बस
जड़-जगती के इस गूंगे स्वरूप में
विश्व के महारहस्य के पाने को
किन्तु प्रवेश पत्र उसका झूठा है
जो कुछ उसका असली रूप नहीं है
जिस पर कि वह राज्य करने आया था
आत्मा की पूर्ण तृप्ति पाने को बस
निम्न-वृत्ति पशु और कीट के द्वारा

औ' वह भारी थाती के बोझे की
बस उसका मन खोया, गुमा हुआ औ'
बस विचार करने के हित उसने निज
औ' थोड़ा-सा अनुभव करने के हित
अस्थिर-तर्क-अग्नि का लिए सहारा
वह अपने संशयशील, मंदगामी
कि कभी निज विचार औ' संकल्पन से
जिसमें होकर जगती के इस तम में
और प्रेम अपना सिंहासन लेकर
जग की दुख-पीड़ा के और घृणा के
स्वर्ग-धरा का मेल करा पाने को
औ' 'जड़ता' की अज्ञ-अंधता के सँग
औ' अपने को इक चैतन्य-देव तक

पर न ध्येय पर कभी पहुंच पाता है;
पर निज पथ न प्रकाशित कर पाता है;
पर जीवन को बचा नहीं पाता है।
उसके मन ने उसको गुमा दिया है;
जैसे कि संदेह में बदल गया है;
निज विचार की ही छाया-सा लगता,
औ' कुछ भी फिर सत्य नहीं है दिखता;
या जिस ओर घूमता है औ' मुड़ता,
'इंगित' को ही रहता रचता, गढ़ता।
'सत्यम्' ध्रुव तारे की दिशि ही बढ़ता।
उसको आकर्षित करती रहती है,
आनन-श्री न देखने को मिलती है:
घेरे उसकी विद्या को रहती है।

किया प्रकृति ने है उसको सुनियोजित,
और वाह्य व्यक्तित्व भी नहीं है ऋत,
वह बनने को हुआ है यहां बाधित।
उसी 'अचित्' के शासन में है चलता,
वह 'जड़ता' में डूबा-डूबा फिरता।
'वसुंधरा माता' ने तम से जगकर,
अपनी सभी शक्तियों को सहेज कर,
उसके ही हाथों में ला सौंपा है,
बड़े कष्ट से निगरानी करता है;
पथहारा सा इक मशाल-धर्ता है।
श्वासों का दीप टिमटिमा रक्खा है,
जीवन-रस एक जुगजुगा रक्खा है,

मस्तिष्क से श्रम किया ही करता है, –
वह इक जादूई द्वार बना पाए,
ज्ञानज्योति इक आ प्रवेश पा जाए,

इस क्षेत्र पर निजी शासन फैलाए।
मानव-मन निःशक्त ही ठहरता है,
तरह-तरह से बंधा हुआ रहता है,
उन्नत करने का प्रयत्न करता है।

फिर भी जब प्रज्ञा की कोई महिमा
उसके ललाट पर किरीट पहनाती,
जब नर-नारी की इस वीर्य-देन को
जीवाणु औ' गैसे से सिरजे अनुपम
उस 'कीमियागार' के चमत्कार को
ऊंचा और महान् बनाने के हित
उसका मन औ' आत्मा दोनों ही मिल
भव्य किरण की एक ज्योति छिटकातीं,
औ' जब वह जो पशु और कीट के सँग
दौड़ा है, रेंगा है औ' घिसटा है,
निज मानव-विचार के क़द को उठवा
अमर्त्य ऊंचाई तक ले जाता है,
तब भी उसका साधारण यह जीवन
मध्य-मार्ग का पथिक बना रहता है,
औ' 'जड़त्व' को यों ही छोड़ते हुए,
क्योंकि उसे वह अति भारी पड़ता है,
वह अपने शरीर को मृत्यु, दुःख के
हाथों में ही अर्पित कर देता है।
वह तो चमत्कार में अविश्वास भर
है शंका करनेवाला जादूगर,
या इक आत्मा है जो पड़ी हुई है
गूढ़ शक्तियों से निज बंध्या बनकर,
यों सर्वथा अविश्वासी मन लेकर
और सर्वविश्वासी अंतर लेकर
वहीं छोड़ देता समाप्त होने को
चला जहां से था यह जगत् उमँगकर:
कार्य अधूरा ही है उसका लेकिन
उसे चाहिए स्वर्गिक पुरस्कार वर।
इस प्रकार उसने सृष्टि के महत्तम
उस निरपेक्ष सत्य को भुला दिया है।
अपने भाग्य सितारे को औ' उसने
अर्द्ध-मार्गपर लाकर रोक दिया है:
बस यह जग का जीवन जो विशाल औ'
व्यर्थ गया सा इक लम्बा प्रयोग है,
इक अपसेवित उन्नत महादर्श जो
शंकित मन का किया गया सँजोग है,
वह अपने ध्येय को बिना देखे बस
गिरता-पड़ता बढ़ा चला जाता है,—
पूर्व-टेव को अपनी दुहराता सा,
अनजानी और ख़तरनाक दिशा में
टेढ़ा-मेढ़ा गतियाता जाता है,
दूर-दूर तक वह आगे बढ़-बढ़कर
फिर-फिर पीछे लौट-लौट आता-सा,
और अनिश्चित से अंतिम फलवाली
निज दुर्जेय विजय को यों वरता सा
परिणामहीन एक खेल के द्वारा
ठगा, लुभाया अविरत ही रहता है।
या तन के हित अनुपयुक्त बेढंगे
वृहदाकारी एक वस्त्र के भीतर,
अबतक छिपा रह गया जिसका आनन
ऐसा कोई उद्देश्य है महत्तर,
या लँगड़ाती हुई अंधता है जो
फिर भी आशा लिए बढ़ी जाती है,
जो 'दैवयोग' रूपी बस चमकीले
उपहारों के मिले सहारे पर ही
अपने बल को पुष्ट किया करती है।
विफल हो गया करण क्योंकि मानव का,
तभी हारकर वह 'भगवत्ता' मानो
निज बीजरूपता में ही सोती है,
औ' आत्मा अपने विरचित रूपों में
खुद ही पकड़ी-जकड़ी पड़ी हुई है।
जिसका पथ 'प्रभु' स्वयं प्रदर्शित करते
उसकी कोई अविजय अजय नहीं है।

और प्रकृति की मंद, निगूढ़, कूच के
साथ-साथ ही वह बढ़ता जाता है:
क्योंकि एक अक्षर-'सत्ता' ने ही तो
इस अपनी क्षर-जगती को सिरजा है,
स्वयंसिद्ध इक विश्वातीत परात्पर
ही तो मानव के पथ पर बढ़ता है;
उसके पथ पर चलनेवाला गोपित
अंतरात्मा का निगुह्य सारथि जो
रखता प्रतिचाप की जानकारी है,
उसका पथ निश्चित है, अनिवारी है,
उसका भला अंत निष्फल जा सकता
जिसका 'ईश' पथ-प्रदर्शकारी है?
मानव मन चाहे जितना थक जाए,
रक्त-मांस कितना धोखा दे जाए,
है परिव्याप्त एक संकल्प सदा जो
मानव-चुनाव को है रद्द कराता:
उसका ध्येय सरकता पीछे जाता,
एक अनंत-विराट् पुकार लगाकर
पीछे लौट कहीं सुदूर में जाकर
अमेय 'अज्ञेय' में लुप्त हो जाता।
इस प्रकार इस भीषण जग-प्रयाण का
मिलता ओर-छोर कोई न कहीं है,
और देहधारी अंतर-आत्मा को
मिलता बस कुछ भी विश्राम नहीं है।
पर उसको तो जीते ही जाना है,
और 'काल'-गति के सारे मोड़ों का
विस्तृत चित्रण करते ही रहना है।
पिहितद्वारी 'परालोक'से आकर
इक 'प्रवाह' मानव को ठेल रहा है,
जो उसको पार्थिव विश्राम, चैन में
जीने से बस जैसे रोक रहा है,
बस जब तक वह पा न स्वयं को जाए
नहीं किसी के रोके रुक सकता है।
एक 'ज्योति' है बस नेतृत्व कर रही,
एक 'शक्ति' है सतत सहाय कर रही;
बिन जाने औ' बिन अनुभव में आए
उसके अंतर से है झाँक लख रही,
उसके कार्यों द्वारा कार्य कर रही:
वह अज्ञानी है पर निज अंतर की
गभीर गहराई में अनजाने ही
है 'सर्व चैतन्य' को गढ़ता रहता,
मानव होकर भी वह 'परात्पर' की
उँचाइयों पर दृष्टि लगाए रहता,
'परा-प्रकृति' के सुवर्ण का ऋण लेकर
तत्पर रहकर मानवता के पथ को
अमरत्व की दिशा में रचता चलता।
और ऊर्ध्ववासी ये अरे देवगण
मानव पर निज दृष्टि लगाए रहते,
और सदा अवसर की बाट जोहते,
फिर भावी के दृढ़ आधार के लिए
आज के असंभव को झट चुन लेते।
बस 'शाश्वत' के महा स्पर्श के नीचे
उसकी नश्वरता कँप-कँप उठती है,
'अनंतता' की चरण-चाप के नीचे
उसकी चौहद्दें गिर-गिर जाती हैं;
औ' माते 'अमरों' के समूह उसके
जीवन में प्रवेश कर-कर जाते हैं:
औ' 'अदृष्ट' के दुर्लभ 'दूत'-गण उतर
उसके ढिग नियरा-नियरा आते हैं।

मर्त्य वायु से मलिन बना 'दिव-गौरव',
'प्रेम-देवता' आ, उसके अंतर के कक्षों से बस जाता एकदा गुज़र,
भ्रमणक अतिथि चला जाए ज्यों आकर,

इक जादू-क्षण में 'शुचि-सौंदर्य' की शोभा उसको घेर-घेर लेती है,
इक विशाल ज्ञान-प्रकाशक आनँद की लहरें उसको भेंट-भेंट लेती हैं,
विशालता की अनुभूति एक क्षण को अदने व्यक्तित्व से छुड़ा देती है,
और सदा सामने दीखनेवाली इक शोभा से उसको आकर्षित कर
अमर्त्य माधुर्य की अरे आशाएँ, उसको ललचाती रहती हैं धर-धर
और चली जाती हैं युँही छोड़कर।

विचित्र शोधक अग्नि-शिखाएं उसके मनस्-राज-पंथ से गुज़र जाती हैं,
औ' अति दुर्लभ संदेशों की लड़ियाँ
विवश लड़खड़ाती वाक् को उठाकर
क्षण भर उसको शाश्वत की 'वाणी' का सजातीय, संबंधी बनवाती हैं।
उसके मस्तिष्क में और होकर फिर प्रज्ञा का एक स्वांग घूमा करता,
जो अपनी अर्द्धदिव्य-सी झलकों से रह-रह उसको विचलित करता रहता।
कभी-कभी अपने से ही वह निज कर 'अज्ञात' पर अचानक रख देता है।
कभी-कभी वह हठात् 'शाश्वतता' के साथ वार्तालाप किया करता है।
उसका जन्म जीव-इतिहास में घटा इक अद्भुत प्रतीक था महिमाकारी
अरे आज यह दुखिया दिखनेवाला जीव है अमरता का सत्-अधिकारी,
आत्मधामका है इक विचरणचारी,

शुद्ध-पूर्णता औ' निश्छाय हर्ष है उसके भाग्य की महान् अमलदारी।
यह 'धरती-माता' उसके भीतर, उस परिवर्तन को आते निकट देखती,
पड़ा हुआ जो अभी छिपा है उसकी
इक गूंगी औ' अग्निल गहराई में,
औ' निज रूपान्तरित हुए अंगों में आते वह भगवत्ता को निहारती,
तथा 'प्रकृति'-नींव को बदलनेवाली हुई एक 'स्वार्गीय'-कीमिया लखती।
चली आ रही अटूट और स्वयंभू
परंपरा के अरे सिद्ध औ' योगी! मरने मत दे, यों ही उस प्रकाश को,—
जिसे युगों ने धारण किया, बढ़ाया,
सब सहाय पहुंचाता चल तू अब भी मानव के अंधे, पीड़ित जीवन को:
यों पालन करता चल निज 'आत्मा' की विशाल औ' सर्वसमर्थ प्रेरणा को।
'प्रभु' औ' अचित्-निशा' के बीच जो कभी हुई महावार्ता के इक साक्षीवत्,
उतरी थी नीचे, करुणाकर अपनी अमर शान्ति के गृह से होकर विच्युत,
औ' अंतर में बसा लिया इच्छा को,— छिपी वही सब कुछ में दु:ख-बीजवत्।
तो फिर तू निज आत्मा के उस उन्नत निर्णय को ही ठहर अभी पालन कर,

रोक न अपनी ज्ञान की पिपासा को,
औ' पार्थिव सीमा से बांध रोककर
और 'काल' के अन्तविहीने लम्बे
निर्जन, शाश्वत शिखरों के ओ' यात्री !
अत्यन्त कठिन इस तिथिविहीन पथ पर
इन युग-चक्रों को लेकर उस पथ की
दुष्कर वक्ररेख से जोड़ते हुए,
जिसे आदि-'देवों' ने मानव के हित
मम प्रकाश ही तुझमें ज्योतित होगा
बस अधीर 'दानव' को अरे न अपने,
औ' अपूर्ण परिणाम की न इच्छा कर,
बस निज आत्मा का प्रेरक, उन्नायक
मानव-जाति के विकासक, उत्थापक
अंध नियति और विरुद्ध शक्तियों के
ऊपर एक अडिग और अपरिवर्ती
अपने सारे कार्यकलाप छोड़ दे
'प्रभु' की रूपान्तरकारी घटिका में

इस प्रकार यह श्री-शोभामय मधुरिम
महान् वाणी श्रुति में तनिक गूंजकर
विस्तृत ध्यानमग्न व्योम में सब कहीं
और श्रवण-तत्परा सृष्टि में अविचल
औ' 'शाश्वत' की प्रशान्ति अपनी मौनिल-
किन्तु अश्वपति के अग्निल-अंतर की
'विराट्' की नीरवता भेद-छेदकर
"पर मैं मरणशील मानव दिवसों औ'
जग-द्रव्यों की मद्धिम, सीमित गति से
पर मैं जिसने विश्व स्वाँग के पीछे
तव मुख-श्री की सुषमा निहार ली है,
बड़ा कठिन है अनिष्ट-विधि का बंधन
पर हम जो अमर्त्य-'शक्ति' के पात्र हैं,
और मनुष्यजाति को भगवत्ता में
उन आत्माओं को अब कब तक करना
कब तक सहनी होगी अरे पराजय,

सर्जन कर, औ' सब कुछ अभी सहन कर।
विशालतम बनने दे अपने श्रम को,
कहीं भी न रख अपने असीम बल को,
प्रयत्न सरिस, बना ले स्वीय कार्य को।

तू धीरे-धीरे आज भी चला चल,

धरा माप कर, उसको धरे बढ़ा चल।
मेरा बल ही तेरी शक्ति बनेगा।
अंतर का संचालन-भार सौंप तू,
आंशिक पुरस्कार पर औ' न रीझ तू।
माँग आज एक ही वर फ़क़त चुनकर,
बस एक आनन्द की ही इच्छा कर।

'संकल्प' खड़ा है निश्चलतम बनकर,
बस उसकी ही सर्वशक्तिमत्ता पर।
सब कुछ बदल स्वयं ही जाएगा फिर।

महा मौन-चुप्पी में विलय पा गई।
सारी गति औ' धड़कन चुपचुपा गई :
दौड़ महानीरवता इक समा गई,
विशालता लेकर चहुं ओर छा गई।
जिज्ञासा तो मौन नहीं रह पाई,-
दी एक आर्त वाणी और सुनाई :

होकर तोषित कैसे रह सकता हूं,

कैसे अब सन्तुष्ट विचर सकता हूं ?
जिसमें तू निज पुत्रों को कसती है;

गढ़नेवाले इक पटु शिल्पकार हैं,—
होगा 'महारात्रि' से युद्ध बराबर ?
औ' ढोनी होगी 'मृत्यु' की कँधावर ?

औ' यदि यह तेरा ही निजी कार्य है जिसको हूं मैं नीचे सिद्ध कर रहा,
औ' मानव के अर्द्ध-जागरित मन की
अस्पष्ट ज्योति में तव-इंगित पर ही
भूल, गलतियों-भरे जगत् में मानव- जीवन का यह करकट सतत ढो रहा,
तो सुदूर के ही सौंदर्य में सही, तेरी शोभा क्यों न फूट पड़ती है!
शताब्दियां औ' अनगिन सहस्राब्दियाँ चली जा रहीं बस व्यर्थ गुजरती हैं;
धूसर पड़ी दिशाओं के मार्गों पर तवागमन की उगती किरण कहां है?
और गर्जना करते हुए विजय के पंखों की वह गरुड़-उड़ान कहां है?
केवल पास से गुजरते देवों की इक हलकी-सी पग-ध्वनि सुन पड़ती है।
निगुह्य शाश्वत-'मन' की एक योजना का नक्शा जैसा कुछ बना हुआ है,
वह भूत काल में पीछे, भविष्य में
आगे लखनेवाले—द्रष्टा की उन आंखों में पूरा-पूरा उतरा है,
जिसमें युग-युगान्त दुहराया करते बस परिवर्तनविहीन आवर्तों को,
काल-चक्र करते हैं सब रचनाएं, बढ़ते हैं ले सदा अभीप्साओं को।
पर जो कुछ हम पहले कर आए हैं करना हमें वही रहता है फिर भी।
गो सब कुछ टूटता-फूटता है औ' होता-रहता नव-निर्मित किन्तु वही।
औ' जीवन की महाक्रान्तियां अपने निष्फल एक चक्र पर घूमा करतीं,
नए युगों की औ' सृष्टियां पुरावत् बस नाश को प्राप्त हैं होती-रहतीं,
जैसे यह दुखभरी 'पहेली' अपना अधिकार तब तलक रखती जाएगी,
जब तक इस नाटक के चरम ध्येय की सारी क्रिया न पूरी हो जाएगी।
बहुत तनिक है शक्ति अरे वह सब जो मनुज-जन्म से अब तक मिल पाई है,
और बहुत धूमिल है ज्योति, 'प्रकृति' के पलक-द्वार से जो छन आ पाई है,
बहुत तनिक है हर्ष, प्रकृति यह जिससे जीवन-दुःखों का सौदा करती है।
और इस अचित्-जग में, जिसको अपनी अस्ति का स्वयं ही कुछ ज्ञान नहीं है,
हम सब जन्मचक्र के ऊपर अपने बने विचार-झिझोरे जीते जाते,
रहते बने करण उन आवेगों के जो वास्तव में नहीं हमारे होते,
हृदय-रक्त से अपने मूल्य चुकाकर, हम पाने के हित हैं दौड़े फिरते
एक ज्ञान को जो आधा ही होता,
एक सृजन को, जो अपूर्ण ही होता, ये हैं हमको उबा-उबा फिर देते।
नाशवान् अंगों की क़ैद में पड़ी,
निष्फल गई हुई अमरा आत्मा-सम
होकर सतत पराजित औ' अभिमर्दित हम बढ़ते जाते, श्रम करते जाते,
इकदम मिटकर, निराश होकर, चुककर भी तो हैं हम आगे जीते जाते।
श्रम करते रहते दुख-पीड़ा में भी कि कभी हममें से इक ज्योति जग सके,
कि यहां हममें से उदारचेता औ' विशाल-दृष्टि एक मानव जनम सके,

औ' 'सत्य' को अवतरित करनेवाला स्वर्णाधार कि विरचित एक हो सके,
औ' जग में प्रभु के पार्थिव-शरीर को
धारण करने में फिर समर्थ बनकर दिव्य प्रयत्नों को चरितार्थ कर सके,
इस प्रकार एक स्वर्ग का सहकारी 'द्रष्टा', 'प्रेमी', 'राजा' और बन सके।
मुझे पता है तेरा रचा जगत् यह नहीं कभी भी निष्फल जा सकता है।
क्योंकि मर्त्य चिंतन के कुहरे में भी तेरी रहस्यमय चापें अमोघ हैं,
यद्यपि मुझे पता है 'आवश्यकता' 'दैवयोग'-परिधान पहन आती है,
अंध भाग्य के फेर-फार के सँग पर
छिपकर 'अनन्तता' की तर्क-सरणियों के उस धीमे पग को अनुसरती है,
औ' उसके संकल्प के अनुल्लंघित दुर्धर्ष अनुक्रम को अनुहरती है।
जीवन में निज उन्नति का विकास क्रम बंधा-टंका है औ' इकदम निश्चित है,
और सृष्टि में उत्क्रांति का 'नियम' इक वज्र की तरह दृढ़ औ' अचलायित है,
यहां तक कि अथ में ही इति की सारी तैयारी का पूर्व-चित्र अंकित है।
विचित्र विवेकशून्य अरे यह प्राणी माटी औ' कर्दम की निपट उपज यह,
पशु-'देव' के बीच का समझौता यह
ही तो तेरी चमत्कारिणी जगती का केवल बस शीर्ष-किरीट नहीं है,
और महा रहस्य को खुलना ही है।
मुझे ज्ञात है कि इन अचित्-कोषों को एक चेतना प्राणित, स्फुरित करेगी,
अपने भीतर आकाश को समाए
सब कुछ आनन्द में डुबाती-सी जो अदृष्ट स्रोतों से नीचे उतरेगी,
जो नीचे तो प्रकृति से और ऊपर स्वर्ग-उँचाई से संबंधित होगी,
यों देव-शक्ति एक अवतरित होगी जो स्व-पतन से अधिक महान् बनेगी।
पर नींद की कोठरी से उठ मेरी एक शक्ति चुपचाप आज है जागी।
जो अपने जीवन के मंद-काल की निर्बल लड़खड़ान को छोड़-छाड़कर,
मनुज-दृष्टि के अपने अरे विकारी औ' चंचल-निमेष को आज त्यागकर
पहुंच गई है वहां जहां कि 'मनीषी' सोता रहता निज अतिशय-प्रकाश में
एकाकी सर्व-निरीक्षिका 'आँख' वह जलती जहाँ कि निज असहिष्णु ज्वाल में,
वह 'शाश्वतता' के अन्तहीन क्षण में
'नीरवता' के गुह्यांतर से उठती 'विधि-विधान' की वाणी वहां सुन चुकी
उस कालातीत से महा-परिवीक्षण सकल 'काल'-रचना का प्राप्त कर चुकी।
'मन' के लौह नियम के सब सूत्रों पर हैं पूर्ण रूपसे हम विजित हो चुके,
मर्त्य 'देश-काल' की और बाधाओं पर पूरे अपने अधिकार हो चुके,
प्रकट हुई इक 'मूर्ति' रहस्योन्मोची जिसने भावी रूप उघार थे दिए।
'महारुद्र' का भीषण तांडव-नर्तन, चीर-फाड़ जिसने कि भूत को डाला,
सुनी 'वज्र'-गर्जना कि टूट-टूटकर पतित हो रही हो लोकों की माला,

उठी धरा रौंद ज्वाल-फूत्कारों से
गरज-गरज जगत् के लील लेने को
बस 'विनाश' के वज्र सरिस पंखों का
और 'राक्षसी' महायुद्ध का निर्दय
शस्त्र-सुसज्जित 'अमानिशा' को भीषण
तब मैंने देखा उस स्वर्ग-मोड़ पर
जो जीवन की ओर घूम पड़ता है,
'सर्वशक्त प्रभु' के जाज्वल्यमान वे
अपने जन्मों के हित निर्मित, अंबर-
चले आ रहे थे ये आगे आगे
और भोर के तारे के पथ से हो
मैंने उनको इक युग की द्वाभा को
देखा है, उस चमत्कारिणी ऊषा
और शान्ति के शुभ्र, विशाल-मस्तकी

विधि के संग उसके संकल्प-अखाड़ों

और अमरता के भव्य शिल्पियों को
वे देवदूत गण अब उतर स्वर्ग से
उतरीं वे मुख-छबियां, नहीं जिन्होंने
औ' वाचाएँ, रहतीं जो कि यहां भी
और कलेवर, 'आत्मा' के प्रकाश में
उतरे वे लेकर जादूई वाणी
आए और यहां इक 'दैवी आनँद'
चली आ रही थीं बस निकट हमारे
और ओष्ठ, जिनसे अज्ञात गिरा झर
सुन पड़ती थीं ध्वनियां पग-चापों की
वे ऋत्विग् थे प्रज्ञा और मधुरता,
अन्वेषक थे, यहां स्वर्ग-सुन्दरता
दिव्य-'प्रेम' के खल-खल कल-कल हँसते
हर्षातिरेक के स्वर्णिम द्वारों के
उनकी पग-चापों का स्पर्श एक दिन
और 'प्रकृति'-आनन के इस प्रकाश के
यद्यपि 'ऊर्ध्व-भूमिका' में यह अपनी

और 'मृत्यु' के भीषण हुंकारों से, —
रची गई हो उसकी भूख कि जैसे।
तुमुलनाद इक अविरत उमड़ रहा था;
रव मेरे कानों में घुमड़ रहा था,
खतरे औ' शोर ने झकोर दिया था।

अगुआगण हैं भीड़ वहां लगा रहे,
सोपानों पर उतरे चले आ रहे;
दैवी समष्टि के, जो रही थी उतर,
उतरे लघु जीवन-कक्ष के द्वार पर।
करते हुए पार आंखों देखा है,
के तेजोमय सूर्य-नयन शिशुओं को,
नव-जग-सर्जक महान स्रष्टाओं को,
भीष्म-बली भव-अवरोध-भंजकों को
में कुश्ती लड़ते उन योद्धाओं को,
और सुरों की खानों के खनकों को,
सुदूर 'अकथनीय' के उन दूतों को,
मैंने भू से नियराते देखा है।
पतित मनुज-लोक में हमारे आए,
यहां भी 'अमरता' के तेज गँवाए
'ईश'-विचारों से संबंध बनाए,
जिनके सौंदर्य गए हों निरमाए,
औ' इक स्रष्टा गूढ़ अग्नि को लेकर,
से पूरित मादक प्याले को भरकर,
ज्योतित आंखें कि दिव्यतर मानव की,
आत्मा के विजयस्तोम थी गा रही,
'काल' के सुरुचि छाय-पथों में जिनकी।
दिव्य सुसामर्थ्य के और आनँद के,
के सूर्य-प्रकाशित अनुपम मार्गों के,
अग्नि-प्लावनों के वे संतारक थे,
भीतर के वे मदमाते नर्तक थे,
उत्पीड़ित अवनि को बदल डालेगा,
औचित्य को यहां अब सिद्ध करेगा।
'नियति' रुकी रहती औ' करती देरी,

औ' वह कार्य गया निष्फल लगता है
फिर भी विश्वास है मुझे सब पूरा
जैसे विकास-क्रम में पशु के पीछे
उसी तरह मानव की अपर्याप्त इस
मर्त्य चाप के पीछे-पीछे, उन्नत
व्यर्थ गए सब श्रम-स्वेद, रक्त-आंसू
और वही उसको समझेगा, जिसको
करेगा वही उस कार्य को, कि जिसको
मनुज-काल की सब श्रम-परंपरा का
वह अपने कंधों पर संभाल लेगा
और स्वर्ग की दिव्य ज्योति सब आकर
औ' स्वर्ग की सुशक्ति धरा-हृदयों पर
तब मानवातीत उस ऊंचाई का
तब पार्थिव दृष्टि के क्षितिज विशाल बन
पर अपूर्ण भू आज भी अपरिवर्ती
और 'काल' की भव्य-दिव्य तरुणाई
औ' मानव-श्रम की गिनती को ये सब
और अंतरात्मा पर मानव की वह

अपने प्रच्छन्न ज्ञान के भास्कर में
और सत्य की ज्योतित गहराई के

ध्यानस्थित महान् वाचा पश्यन्ती !
कलाविज्ञ शाश्वत-वधु ! और विधात्री !
निज चिंतामणि-कर का सुखस्पर्श भर,
जैसे कि 'काल' सह न सका हो उसको,
अपने रचे जगत् से भी अभिमुक्ते !
जगदानँद की हे अभिदीप्त निर्झरी
तब छिपकर अंतर में रहनेवाली
हे रहस्यमयि ! हे सरस्वती ! अपनी
स्व-शक्ति के तीव्र-प्रेम के प्रवाह को
भू पर इक जीवंत रूप को अपने
इक पल में, निज शाश्वतता छलका दे !
औ' ज्योति-सिंधुओं की रेल-पेल में
'विश्व-प्रेम' की औ' केवल धड़कन को

जिसपर अन्तर शक्ति लगी थी सारी,
होगा जिस हित सहे दुःख हैं भारी।
कभी आदि-मानव जग में जनमा था,

स्वर्गोत्तराधिकारी यह आयेगा,
के पीछे अपने चरण बढ़ाएगा,
नश्वर-मानव अब तक सोच न पाया,
इस नश्वर का हृदय नहीं सह पाया।
होकर भी पूरा उतराधिकारी
भार देवताओं का दुर्भर, भारी;
अपने धरा-विचारों से भेंटेगी,
आकर एक क़िलाबन्दी कर लेगी;
अपने धरा-कर्म सुस्पर्श करेंगे,
अनन्तता में प्रसरें औ' फैलेंगे।
स्वीय भार से भाराक्रांत बनी है,
बीत गई सब आशा चली गई है;
वर्षावलियां भारी हैं, लम्बी हैं
मुहर-छाप ज्यों की त्यों लगी पड़ी है,
और 'पुरातन मातु' क्लांत लगती है।
रक्षित रहने वाली हे ऋतेश्वरी !
भीतर अभिमुख बनी हुई द्रव्यों पर,
अबतक बन्द पड़े स्वर्गों के भीतर,
हे प्रज्ञा-शोभा ! हे त्रिभुवनेश्वरी !
एक बार 'काल' की सुनहली छड़ पर
लौट न जा सब कुछ को व्यर्थ बनाकर,
खोल न पाया हो 'प्रभु' पर निज अंतर।
अप्राप्य ऊर्ध्व लोकों में भी तो हे !
जगती तुझे ढूंढ़ती जब बाहर हो
हे आनन्दस्वरूपिणि ! सुखनन्दिनि हे !
प्रतीकात्मक शुभ्र-वेदवाचा ले
अब मूर्तित होने दे वरदायिनि हे !
कर तू अब सुनियोजित भव-तारिणि हे !
इक तन में, जीने निज अनन्तता दे !
इक मनस् को 'पूर्ण-ज्ञान' में डुबा दे।
इक मानव-अंतर के बीच जगा दे।

हे अमरे! नश्वर चरणों के द्वारा
इस धरती पर रमती और विचरती
सकल स्वर्ग के सौंदर्यों को लेकर
तू मानव-अंगों के बीच पूर दे।
सर्वशक्तिमयि! 'प्रभु' की महाशक्ति से
नश्वर संकल्प की हरेक प्रगति को,
हर घटिका को सुमेखलायित कर दे!
एक मानवी क्षण को तू 'शाश्वत' की
सुसामर्थ्य से अरे ठसाठस भर दे।
स्वर्णिम एक भावभंगी से अपनी
सकल 'काल'-भावी को आज बदल दे।
औ' अपने उन्नत शिखरों से अब तू
महासत्य का शब्द उच्चरित कर दे।
एक सत्य कर्म के इशारे पर बस
वज्र-नियति-द्वारों को आज खोल दे!"

विरोधकारी अचित्-'निशा' के भीतर
लगा प्रार्थना उसकी डूब गई थी,
शत-सहस्र अस्वीकृति-भरी शक्तियों
के बीच दबदबा कर कि खो गई थी,
यथा 'परात्पर' की उन उँचाइयों पर
चढ़ने में वह अशक्त सिद्ध हुई थी,
लेकिन पड़ी सुनाई तभी यहां पर
इक अनुमतिदात्री वाणी अद्भुततम,
व्यक्त हो पड़ी सुन्दरता की आत्मा
लिए हुए जैसे मृदु स्वर का माध्यम
प्रकटी चमत्करी एक 'दृष्टि' जिसके
मस्तक पर प्रकाश झलमला रहा था,
औ' जिसके ओष्ठों में बस अमरों का
आनँद मूर्तिमान बन आ बैठा था।
"अहो, शक्तिशाली अग्रदूत! मैंने
सुनी आर्त औ' कातर वाणी तेरी।
निश्चय ही भू पर उतरेगी 'कोई',
जो इन वज्रिल-नियमों को तोड़ेगी,
एक अकेली निज आत्मा के बल से
'प्रकृति' की अशुभ भावी को बदलेगी।
उतरेगा इक असीम 'मन' जगती में
जो धारण निज में विश्व को करेगा,
उतरेगा इक मधुर-चंड अंतर जो
आतुर प्रशांतियों से पूरित होगा,
औ' देवों के रागावेश से, द्रवित
बना हुआ जो इस भू पर उतरेगा।
सकल शक्तियां और महताएँ सब
उस एक अकेली में आ भेंटेंगी;
औ' स्वर्गिक सुन्दरता पृथिवी पर आ
इक सहज-स्वभाविक ढँग से विचरेगी,
मेघश्री-सुठि-केश जाल के भीतर
रमता आनँद सुख की निद्रा लेगा,
और 'अमर्त्य-प्रेम' उसकी काया में
स्व-नीड़गर्भी-वृक्ष पर बैठकर ज्यों
निज महिमामय पंख फड़फड़ाएगा।
शोकरहित द्रव्यों का सुसंगीत उठ
उसकी मोहकता की लय गूंथेगा,
'पूर्णसिद्ध' के सितार के स्वर कढ़कर
उसकी वाणी के सँग स्वरित बनेंगे,
और 'स्वर्ग' के स्रोत हँसी में उसकी
खल-खल झर-झर करके बहते होंगे
अमृत-भरे उसके अरुणाभ अधर-पुट
'प्रभु' के ही मधुकोष अव्ययी होंगे,
उसके अंग-अंग उसके आनँद की
स्वर्ण-कलशियों सम उद्भासित होंगे,
उसके उरोज आनँद की मस्ती भर
'पारिजात' पुष्पों के सम विकसेंगे।
वाणीविहीन उसकी समर्थ छाती
'सत्-प्रज्ञा' का दृढ़ आधार बनेगी,

उसकी शक्ति और उसके भीतर इक विजयी की तलवार सरिस निवसेगी,
उसके नयन-गवाक्षों से इक आतुर 'शाश्वत' की आनन्दश्री चितएगी।
और 'मृत्यु' की भीषण भयद घड़ी के बीच एक बीज बो दिया जाएगा,
तभी मानवी इस मिट्टी में लाकर स्वर्गिक पौदा रोप दिया जाएगा।
और 'प्रकृति' तब अपनी नश्वर चापों के उस पार फलांग पहुंच जाएगी,
जिसके निर्विकार संकल्प से एक बदल नियति की गतिविधि ही जाएगी।"

होकर प्रकट यथा इक ज्योतिशिखा बस अनन्त-'प्रकाश' में विलीन हो जाए,
और अमर्त्य भाव से जाकर अपने आदि-स्रोत में घुलमिल लय पा जाए,
उसी प्रकार खो गई सारी महिमा औ' वह वाणी उठकर मौन हो गई;
उसके पीछे आनंद की प्रतिध्वनि
जो कि कभी इन कानों के समीप थी, ––
वह संगीत-मधुरता, इक सुदूर की अनजानी चुप्पी में पुनः फिर गयी।
और अश्वपति की समाधि-श्रुति में अब वह संगीत मृदु-मधुर लुप्त हो गया
दूर मूर्च्छनाओं के द्वारा जैसे बुला लिया हो इस मूर्च्छना को गया,
औ' आलापों में स्वर खेलकर यथा मौन पड़ गया, निज ठांव में खो गया।
उसके आकार का सकल सम्मोहन ललक रही इस भू से लौट था गया,
त्यक्त इन्द्रियों की सुनिकटता को जो
अल्प काल के लिए प्राप्त होकर बस अपने अप्राप्य धाम को चला गया।
औ' अंतर-चेतना क्षेत्र अब सारा एकाकी, प्रदीप्त, पर रिक्त पड़ा था,
औ' सब कुछ खाली होकर अनन्त-सम महा आत्म-विस्तर में बदल गया था,
दीप्त शान्ति की एक दूर सीमा 'पर लगा कि दौड़ गई हो कोई रेखा,
ऊष्मा-ओष्ठी और सचेतन, कोमल पार्थिवता-ऊर्मि को नृपति ने देखा
जो थी नाना ध्वनियों-भरे, तीव्रगति हास्य-रुदन के भंडारों को लाई,
और नाद के श्वेत-शुभ्र चरणों से सरक रही सी इस सीमा में आई।
'नीरवता' के अंतर की उस गहना - महिमा का ताला आज खुल गया था,
बस निरपेक्ष और निश्चल प्रशांति ने
निज को आज मर्त्यता की श्वासों पर अर्पित और समुत्सर्ग कर दिया था,
औ' अनन्तपन से समाधि-स्वर्गों को
द्रवित बनाते हुए प्रबुद्ध मनस् पर वह आकर एकाएक गिर पड़ी थी।
जग की दृष्टि से कहीं बहुत दूर पर
स्वरविहीन निद्रा-रहस्य के पीछे
'शाश्वतता' ने स्व-एकान्त पर अपनी अव्यवहार्य पलक-पांखें मूंदी थीं।
मिला हुआ वह भव्य चैन औ' सुख सब, और विशाल मुक्ति सब विफल हो गई।
पीछे सरक रहे लोकों की आभा के आगे से नृप की स्वीय चेतना

एक झर रहे तारे के समान ही उस सब कुछ से स्खलित हुई जाती थी,

और 'काल'-विरचित निज मानव गृह के भरने को विवशायित उसकी आत्मा
रची हुई द्रव्यों के महा विस्तरित
व्यवहार के वेग में औ' हलचल में फिर से नीचे खिंची चली आती थी।
स्वर्गों के सुचमत्कारों का वाहन
विस्तृततलीय अग्निलचक्री रथ सम देवों को हो जो कि वहन कर सकता,
इस प्रकार इक जलती ज्योति के सरिस आध्यात्मिक द्वारों के बीच गुज़रता,
वह एक वेग में खिंचता चला गया।
और मर्त्य हलचल ने अब स्वदेश में उसका स्वागत औ' सत्कार था किया।
एक बार वह फिर से यहां उतरकर इन पार्थिव दृश्यों में विचर रहा था,
ऊपर से आनेवाले संदेशों से वह अब भी उन्नत उठा हुआ था,
स्रष्टा-मस्तिष्क के सुविश्रामों में उन सुविचारों का स्पर्श कर रहा था,
जो कि 'प्रकृति' की इन अगाध लहरों को
छू-छूकर फिरसे अपने अभिगोपित सुदूर छोरों को वापस जाते हैं।
यों एक सनातन शोधक गृहीत बन आज काल के दबाव से अनिवारी,
पुनः बन उठा समर्थतर, करने के हित निज महान् कार्यों को द्रुतचारी।
अब वह 'महारात्रि' के निज अज्ञानी गुम्बद के नीचे भी जगा हुआ था,
औ' अनगिनती तारा-निवासियों को अब अपनी आंखों से निरख रहा था,
और असन्तुष्ट बाढ़ के प्रश्नों की झड़ियों को निज कानों से सुनता था,
और रूप-सर्जक मानदंड-शिल्पी 'विश्व-मनस्' के ही सँग-सँग श्रमरत था।
निगुह्य और अदृष्ट सूर्य-लोकों से नीचे आकर एक परिव्राजक ने,
अपनी पृथिवी के भंगुर द्रव्यों की विधि की सार्थकता के इस प्रापक ने
इक उन्नत पशु की आकृति को धारण करके आए हुए एक नायक ने,
विजय-तेज-ज्योतित निज मस्तक को अब साधिकार सुरपुर की ओर उठाया,
और यहां 'जड़ता' पर औ' उसकी इस
चारों दिशि से घिरी हुई जगती पर प्रस्थापित आत्म-साम्राज्य कराया,
जैसे एक अनन्त सिंधु के भीतर अचल-शिलाओं पर हो उसे रचाया।
और अनिश्चित से इस भूगोलक के
लघु-प्रदेश में इस जीवन-'स्वामी' ने
फिर से अपने समर्थ, महिमाशाली पथ-चक्रों का अब आरंभ कराया।

जन्म तथा खोज का पर्व

पर्व ४, सर्ग १

अग्निशिखा का जन्म तथा उसकी बाल्यावस्था

उस 'प्रकाश' के चहुंदिशि जिसको छूने का भी साहस कभी न कर सकती थी,
सतत कामना युगचक्रों पर अपने मत्त सुरा-देवी-सम नाच रही थी,
किसी सुदूर और अनजाने ऐसे ध्येय की ओर अविरम दौड़ रही-सी
यह 'पृथिवी-देवी' यों अन्तविहीना अपनी रवि-यात्रा पर घूम रही थी।
'महाशून्य' की उस हिंडोलन गति में आधे जागे हुए एक मानस ने,—
अज्ञ 'अचित्' की छाती के ऊपर अब सपनाया इक जीवन के सपने को,
'अनन्त' की फैली निश्चल-समाधि पर विचार और कर्म के सान्त जगत् को,
धारण और कर लिया स्व अस्तित्वमें।
'पृथिवी देवी' के साथ-साथ ही इक अविकारी नीरवता दौड़ रही थी——
रत्नजटित इक महाचक्र पर भ्रमती बनी तीव्र गति की जैसे बन्दी थी।
वह इन अगम 'दिशाओं' के रहस्यमय अंतर से वार्तालाप कर रही थी।
संदेहशील तारों की चुप्पी में
वह इक अनजानी औ' अनदेखी-सी घटना की ओर जा रही बढ़ती थी,
उसकी लय उठकर उस दीर्घ-'काल' के घूर्णन की जैसे माप ले रही थी।
महाचक्र के नीलारुण घेरे पर एक अनवरत भागी जाती गति में
दौड़ रहे थे दिन यों आगे-पीछे
जैसे विधि-विधि के रंगों से रंजित पहिए के सुठि-आरे घूम रहे हों:
परिवर्तित वातावरण के रँगों की बदल रही नानाविधि सुदीप्तियों में,
ये ऋतुएं हाथों में हाथ मिलाए रहसिल अर्थपूर्ण स्वीय नर्तनों में,
खिंची हुई-सी यों बढ़ती जाती थीं,
यथा बदलते हुए वर्ष का फिर-फिर निगूढ़ इक प्रतीक-उत्सव चलता हो।
तभी भूमि के दाह-भरे प्रमाद में झपट 'ग्रीष्म ऋतु' ने स्व-प्रवेश किया था
और चिलचिलाते प्रकाश की जलती निष्ठुरता से उसको दाग दिया था।
और चमकते स्वर्ण-गगन की अपनी नील मुहर से अंकित करा दिया था।
फिर उसकी उमसन की बेहोशी से, जमी हुई उसकी गांठ से फूटकर
मानसून के बादल लगे बरसने ऊष्मा की उन चिरी हुई पांखों पर,
और वायु की बेचैन, क्लांत तंद्रा को विद्युत् से चौंकाकर जगा दिया,
औ' जीवनदायी वर्षा-झड़ियों से प्रमाद-पगी भूमि को झोर दिया था।

शोर-शराबे की भभकन-फफकन ले
निशिके झंझापंखी अंधकार से
स्वर्ग-अलस-निद्रा के तारा-रक्षित द्वारों को अब ढक औ' मूंद था लिया,
इधर धरा के बादामी आनन को
उसके रवि-प्रेमी के स्वर्ण-नेत्र से सघन मेघ-पट द्वारा विमुख कर दिया।
औ' विद्रोही सेना ने अब जैसे काल-क्षेत्र में हमला बोल दिया था,
औ' मेघों की अंतविहीन कूच ने बस सारी जगती को घेर लिया था,
तूफ़ानों की और घोषणाओं ने नभ में अपना डंका बजा दिया था,
औ' विद्युत्-गर्जन ने ज्यों देवों के संग्राम का बिगुल अब गुंजा दिया था।
और अशांत, निकट पारावारों से मानसून यात्री थे बढ़े आ रहे,
सघन अयाली हहराते-घहराते धरा-काल पर चढ़ते चले जा रहे,
धारा-दूतों के भालों की कोंचन सघन से सघनतर होती जाती थी,
औ' विद्युत्पात ने क्षितिज की कोरें तोड़-फोड़कर छिन्न-भिन्न कर दी थीं,
यथा दौड़ निज मोर्चे के डेरों से सैनिक दल ने हमला बोल दिया हो,
इसी भांति नभ की ढालू निर्वसना,
अंधकारमय खुली हुई किनार को जोड़ धरा से बस एक कर दिया हो,
एक छनछनाहट, इक ऊर्मि-विलोड़न और मूसलाधार एक अतिवर्षण,
लम्बे, सीधे करकापात भयंकर, पंखिल झंझा-आक्रमणों का गर्जन,
मरुत्-मुखाकृतियों के चंचल-संकुल और वायु के द्रुत चापों की झपटन,—
ये सब पिटे पड़े मैदानों पर से सर-सर करती सी झटपट निकल गई,
आकाश से हहरती जल-धाराएँ
डूबी पड़ी धरा के ऊपर से बस नटती और ढनँगती सी चली गई।
और सब कहीं गति ही गति व्यापी थी सी-सी सन-सन की भगदौड़ मची थी,
झंझा-झकझोरों का मचा शोर, या जल-संपातों की हर-हर होती थी।
दिन की मटियारी सतहों के ऊपर अँधियारी जैसे झुक-झुक आई थी।
जिसका धूसर आंचल प्रसृत होकर प्रातः को संध्या से जोड़ रहा था,
कीचड़, बौछारों से आलोड़ित बन जो काले मेघों में जा बदला था।
औ' दिन ने अर्ध-तमस् के मटियाले चीवर को अपने तन पर धारा था।
अब प्रकाश ने ऊषा के मटमैले दर्पण में मानो हो झुककर झांका,
अर्धप्रकाशित रजनी के सँग सँग अब जोड़वा बना हुआ-सा निज मुख ताका :
रिमझिम की टिपटिप औ' रिसरिसान की असित घटाओं का शासन छाया था,
जिसने सूखी ज़मीन को बस कीचड़ औ' गन्दे कांदों में बदल दिया था :
भू पर चहुँमुख इक दलदल फैला था और गगन तम का इक पिण्ड बना था।
भीगी- सराबोर-सी बनी ज्योति की
बाती से होकर तम-अंधकूप में पड़े सूर्य का नहीं पता चलता था।

औ' जब निरुल्लास एक विश्राम के

या कि कहें जब पुनरावर्ती आंसू-
लड़ियों के पर्दे में उदास-स्मिति-सम
रोते मेघों में से इक धुंधली-सी
तब भी क्षणभर के भीतर ही सारी

या कि तिरस्कृत बन क्षणजीवी आशा
तब इक अंतिम जल-प्लावन ने आकर
औ' फिर धीमी पड़ इक खुसपुसान ने
अब उस जल-प्रवाह् की धीमी, मैली
इधर-उधर इक खुसपुस औ' वृक्षों की
आज समाँ ही बदल गया था भू का,
घड़ियां अपनी धीमी औ' संतोषी
शांत सुविस्तृत वातावरण को यथा
और धरा फिर से जैसे अब अपने
इक नीरवता नियराती आती थी,
ध्यानस्थित समाधि की एक ज्योति ने
इक तादात्म्य और हृर्षातिरेक ने
यहां ध्यान के एकाकी अंतर को
और 'दिशा' के गूंगे पड़े मनस् में
और 'काल' ने अपने सुख-आनँद के
जिसमें एक उमंगभरी आशा ने
अंतरतम से एक चेतना ने उठ
अंतरतम से एक विचार ने उभर
औ' अंतर्दृष्टि में अदृष्ट सूर्य के
चटकीली चापों को धरती तीनों
प्रत्येक यथा उन गर्भायित घड़ियों
औ' दीप्त गहनता के छिपे गर्भ में
भावी महाजन्म के इन्तज़ार में
और तभी निज कलाधरों की महिमा
औ' अपने सरसीरुह-सरोवरों के
फिर 'ओसिल' हेमन्त, शिशिर ने आकर
अर्धनींद में नीरव 'प्रकृति'-वक्ष पर
अस्त हो रहे से वर्ष के सुठि, गहन

फैले वातावरण में न कोई भी
अशांति आकर खलल मचा सकती थी,

किरण वहां पर झलकी औ' चमकी थी,
प्रतिज्ञात आभा हो गई तिरोहित,
क्षण भर में ही और बन गई वर्जित,
के सम जल्दी ही मृत्यु पा गई थी।
मृत कीचड़ को भी हलहला दिया था,
छा, सब कुछ को चुपचाप कर दिया था,
इक रेंगन ही जैसे शेष बची थी,
सरसरान ही केवल सुन पड़ती थी।
वह इक प्रशांत विश्राम में पड़ी थी,
चापों से जातीं चुपचाप बढ़ी थीं:
याद आज एक शांति की आई थी,
सुखी सूर्य की संगिनि बनी हुई थी।
मानो 'भगवत्-'स्पर्श चला आता हो,
ज्योतित धरा-गगन को और किया हो।

अपनी मादकता से पूर दिया था ।
एक स्वप्न जुगजुग ने कि लग गया था
सौभाग्य निकेतों को खोल दिया था,
औ' हर्षोल्लास ने प्रवेश किया था:
अब स्वर्गिक उँचाइयों पर ताका था,
इक प्रच्छन्न ज्वाल को जगा दिया था,
प्रति इक श्रद्धा का प्रकाश उमगा था।
चिंतनिमग्न ऋतुएँ गुज़र गई थीं,
के भीतर कुछ पड़ताल कर रही थीं,
इक बाल-ज्वाल की खोज में लगी थीं,
एक सजगता थी, जगहर होती थी।
को दर्शाती शुभ्र शरद् ऋतु आई,
शोभादीप्त वैभवों में सपनाई।

शांत सुशीतल निज हैम-कर रख दिया,

सुसौंदर्य को अपने ढीले-ढाले
औ' कोमल विश्राम की छटाओं से
और अधिक गंभीर गहन बना दिया।
बस इस थिरता में 'वसंत' ढुर आया,

आतुर प्रेमी-सम कूदता,उछलता
पातों में अपना उन्माद भर दिया,
और धरा-वधु को अपनी आवेगी
औ' अतिव्यग्र भुजाओं बीच कस लिया।
उसका अरे अवतरण चित्र-विचित्रित
कनीनिकारंगी इक अग्नि-ज्वाल थी,
उसके भुज-आलिंगन का परिवेष्टन
आनन्द-आगमन की कुंडलिका थी।
औ' उसकी वाचा 'परात्परता' के
ऊर्ध्व-लोक का उन्नत आवाहन थी,
जिसका गुप्त-स्पर्श मर्त्य जीवन में

उस स्फूर्ति को सदा जीवित रक्खे है,
जिसने है इस जगती की रचना की,
जो आदि मधुरता के ही द्वारा बस
नव-नव आकारों को गढ़वाता है,
मृत्यु-'काल' से बना खुद अपरिवर्तित,
'प्रकृति'-मोहिनी की दिशि खुले हमारे

अंतर से आते सुसहज उत्तर पर
अविकृतपन से निगरानी रखता है,
औ' उस स्पंदन को जो सतत भाव से
उसी आदि-आनंद को जगाता है,
जो सुन्दरता औ' हर्षातिरेक को
औ' जिजीविषा-सुख को उकसाता है,
उसे बनाए सदा नवल रहता है,
जो होकर भी नवल, वही होता है।

उसका शुभागमन इक जादू लाया
औ' सब कुछ पर इक टोना करवाया,
पाकर उसका मधुर स्पर्श जीवन का
श्रांतं-क्लांत अंतर फिरसे हरिआया,
औ' नवीन तरुणाई से भर आया।

औ' जीवन की छाती में आनँद को
उसने स्वेच्छित बन्दी था बनवाया।
उसके आलिंगन ने भू-अंगों को
छू इक युवा देव-स्पर्श से लिया था,
उसके दैवी उद्गारों के माते
आवेश ने धरा को बदल दिया था,
अपने चुम्बन से उसकी काया को
एक नया सौंदर्य प्रदान किया था।
इक आनँद के लिये अधीर बने-से
कोयल के मृदु स्वर की गूंज गुंजाते,
आया, निज मयूररंगी पगड़ी को
वृक्षों ऊपर इधर-उधर कढ़िलाते।
उसका श्वास हर्ष का आवाहन था,

कामातुर घन नीले नभ-सम उसका
उठा हुआ एक प्रेम-अभिवीक्षण था।
प्रभु के अद्भुत ऐन्द्रिय आनन्दों के
सहजज्ञान से सम्पन्न, पूर्ण होकर

इक कोमल स्वर्गीय प्रेरणा ने जग
तन के रुधिरचार को चौंकाया था।
सौंदर्यों के रूप में प्रकट होकर
सर्वत्र मृदु रागिनी इक छाई थी
जिसने जीवन के आनँद-स्पन्दों पर
आग्रह-भरी ताल निज ठनकाई थी:
तीव्र भागती हुई काल-घड़ियों पर

एक अनश्वर, शाश्वत गति ने आकर
अपने स्पर्श की छाप लगवाई थी।
देवोपम बोधों को ही स्वाभाविक,
ठसाठस-भरी इक गूढ़ गहनता ने
श्वासों की साधारण गति को भी अब
इक रागात्मक सुख से था भरवाया,
सकल दृष्टियों को औ' कंठ-स्वरों को
उस एकल जादू में था पगवाया।
मुग्ध बने भूगोलक का औ' जीवन
माधुर्य तथा प्रकाश और गीत के
एक उमड़ते तूफ़ान-सा बन गया,
रंगों और उमंगों का जैसे बस
एक होलिकोत्सव उन्मत्त बन गया,
किरणों का इक ऋचा-गान होता था,
नादों का इक स्तोत्र-गान चलता था :
मानो पंडित-मंडल का सामूहिक
इक प्रार्थना गीत गुंजार रहा था,
फूलों-भरी और वृक्षों की डालें
हिल-हिल कर ज्यों धूपदान करती थीं,
परिमल का इक अग्नि-होत्र चलता था
औ' सुगन्धि से घड़ियां लदी हुई थीं।
औ' ज्वाला के लाल-लाल अंगारों
में अशोक वन जैसे फूट पड़े थे।
एक निष्कलंक, पवित्र-कामना की
आती-जाती भोली शुद्ध श्वास-सम
मंत्र-मुग्ध उस वायु में चमेली की
सुमनावलियां जैसे लहर रही थीं,
बौराए आम्रों की पाण्डुर कुंजें
प्रेम-मत्त कोकिल के मधुर कंठ में
अपनी अमृत वारुणी घोल रही थीं,
और सुगन्धित वातावरण मध्य इस,
मधु-मक्खियां अनवरत, मधु-कलियों में
अपनी धुन में कुछ गुनगुना रही थीं।
दिनकर का प्रकाश एक देवता की
मधुर स्वर्ग-मुसकान-सरिस फैला था,
औ' जीवन-व्यापार 'प्रकृति' का सारा
सौंदर्य के महोत्सव में डूबा था।

इसी ऊर्ध्व-संकेती दैवी क्षण में
यथा धरा की आनँद के प्रति सारी
ललक औ' अभीप्सा को उत्तर देती,
अपर लोक की इक महानता उतरी।
भू-द्रव्यों के इक कोलाहल में ही
इक नीरवता ने बस अविकृतपन से,
गुप्त 'ब्रह्म-वाचा' को फिर प्रकटाया,
इक समर्थतर ऊर्जा का प्रवाह अब
इस विस्मारक माटी में प्रविशाया :
इक दीपक की लौ प्रज्वलित हो गई,
औ' इक पुनीत-प्रतिमा प्रकट हो गई।

इक मध्यस्थ मयूख ने यथा आकर
मानव मन औ' 'प्रभु' के मनस् मध्य की
खाई पर इक पुल-सा निर्मित करते
अपनी पृथिवी का संस्पर्श कर लिया
मानव के ही भंगुर आकारों में

करते हुए अनूदित और स्वर्ग को
उसकी ज्योतिर्मयता ने जनमाकर
और एक आतमा जो अपने स्वर्गिक

और मर्त्यता में गिरकर भी आंसू
औ' इस फैली महासृष्टि पर डाली
जैसे परात्पर लोकों से कोई

जो प्राचीन काल से ही कि हमारे
उसने आकर फिर अपूर्ण कार्यों का
यद्यपि युग पर युग बीतते गए हैं

वह 'काल' के मोर्चे के सम्मुख अब
और पुरानी खोई हुई निकटता
और 'काल' के प्रवाह में आ जिसका
अपने नवाकार में पुनः जुड़ा था,
धरा-स्वर्गकी एक सहोदरता को
अब श्रम-श्लथ उसके मानव-अंशी के
औ' अब तक इस अजन्म बनी हुई औ'
सीमारहिता-सी अगाध-'सत्ता' के,
फिर से एक रहस्यात्मक, गभीरतम,
और विश्व-लीला में एक साहसिक
क्योंकि अरे जब से इस अंधे भ्रमते
भूगोलक पर भू का जीवाणु यहां
पहले पहले एक प्रकाशित मन के
और 'अचित्' में संवेदन के जाग्रत
जब इस पार्थिव आवरणी के ऊपर
औ' जब से 'अनन्तता' की नीरवता
तब से ही तो छिपी 'प्रकृति'-छाती में
यहां कामना-श्रम के अंतर में निज
जीवन की लँगड़ाती ऊर्जाओं में
और चेतना के अंधे गर्तों पर
औ' मूक 'अचेतन' को उसमें गोपित

माना, पतित हुए ये अपने मन हैं

जोड़ मर्त्यता को 'अज्ञात' से दिया।
दिव्य केंद्र की अंतर-जागरूक थी,
इस अपूर्ण भू के ढांचे में उतरी,
बहा न कोई श्वास दुःख की सचरी,
शांत, विशद निज दृष्टि विशालताभरी।
फिर इस देश में कि वापस आया हो
मर्त्य श्वास का सब बोझ उठाया हो,
तम, दुःखों से संघर्षरत रहा हो;
सारा उत्तरदायित्व सँभाला था :
औ' जारी है यह मृत्यु-क्रम निरन्तर
उसमें से भी बचकर एक बार फिर
अतल हृदय ले अपना खड़ी हुई थी।
जिसे धरा के पट ने मूंद लिया था,
गुप्त सुसंबंध यहां टूट गया था,
औ' सम्मुख आ फिर से प्रकट हुआ था,
फिर से लाकर जोड़ा आज गया था,

बीच का महा-अंतर पूर गया था।
गुह्य प्रयत्न आज था शुरू हो गया,
बाजी का फिर शुभ आरंभ हो गया,

साथ प्रस्फुरित औ' धगधगित हुआ था,
करने हित उसको दुःख, ताप देकर
जीवन ने अपना आक्रमण किया था,
में इक वाणी का अभ्युदय हुआ था,
इक 'प्रज्ञा-माता' है काम कर रही;
आनंद औ' आह्लाद लुटा देने को,
स्व-परिपूर्णता के भर-भर देने को,
इक स्वर्गिक बोध का स्पर्श देने को,
उसके 'प्रभु' से परिचित कर देने को,
वह 'माता' है अविरत शक्ति भर रही।
ऊपर चढ़नेकी बान भूल जाते,

माना, मानव-तत्त्व हमारे हरदम विरोध उपजाते, टूट-फूट जाते,
पर 'वह' स्वसंकल्प को अडिग बनाए
इस माटी को दिव्य बनाने के हित आशा लिए हुए अविराम बढ़ रही।
असफलताएँ दबा नहीं हैं सकती, पराजयें हैं उसे न उखाड़ सकती;
'काल' नहीं है थका औ' हिला सकता
हरा, दबा औ' 'शून्य' है नहीं सकता,
युग-युगान्तरों की और निराशा भी उसके उत्साह को न मंद कर सकी,
'मृत्यु' और 'विधि' की तो जय न कभी भी अपने ऊपर वह स्वीकार कर सकी;
और अनवरत ही वह आत्माओं को नए प्रयोगों की दिशि है बढ़ा रही।
और सदा उसकी मोहक अनन्तता
इन जड़, भद्दे पार्थिव तत्त्वों को बस करती नित्य अभीप्सानिरत जा रही।
यथा किसी के पास लुटा देने को पूरी अनन्तता की अनन्तता हो,
उसी तरह वह निज 'शाश्वत'—ओजों के
बीजों को लेकर इस आधे चेतन
औ' टूटे-फूटे सांचे के भीतर लाकर इधर-उधर छितरा देती है,
और स्वर्ग-आनँद को ला अंतर के
रागावेशित कर्दम औ' माटी में दृढ़ता से आरोपित कर देती है;
और निरे इस पशु-आकार में यहां
देवत्व के शोध की एक लालसा और कामनाओं को भर देती है;
और मृत्यु के छद्मवेश के भीतर अमरत्व को छिपा कर ला धरती है।
उस 'संकल्पशक्ति' ने ही तो अब फिर आकर पार्थिव आकृति धारण की थी।
इक 'मन' था जिसको 'सत्य' की अविकृत आदि पीठिका से सब शक्ति मिली थी,
बड़ी सावधानी से और जिसे इक क्रांत-दृष्टि के लायक़ गढ़ा गया था,
जिसको कर्मों में उतार सकता था।
औ' जिसका सारा इन्द्रिय-प्रजाल ही ऐसे शाही ढँग से रचा गया था,
जो पार्थिव संकेतों को ही लेकर
एक गुप्त और निगूढ़ दिव्यता को यहां व्यक्त और प्रकट कर सकता था,
इस दिव्य-अवतरण के नव-दबाव से अभिरेखायित औ' अभिविरचित होकर
निर्मित हुआ यहां एक तन रुचिरतर,
जिसे धरा ने न अभी तक जाना था।
जो अब तक इक भविष्यवाणी भर थी कल्पित किया हुआ-सा या इंगित था,
चारु, अदृष्ट, पूर्णता-दीप्त वृत्त वह आज मर्त्य जीवन के नभ में चमका,
अंश-कलाधर स्वर्ण-चन्द्रमा के सम
दमदम करता-सा, अर्ध-दीप्त धूमिल संध्या के आंगन में फिर से लौटा।
पहले तो आकार-रहित विचार-सम चुपचाप बनी इक तेज में दमकती,

वाचाविहीन निद्रा के आश्रय में
वह निष्क्रिय-सी बनी हुई रहती थी,
'जड़ता' की भीषण समाधि के भीतर
लिपटी औ' डूबी-सी पड़ी हुई थी;
गहन-कन्दरायित जगत् योजना का
बाल-हृदय जैसे दैवी अचेतना
के पलने में सोया हो सुखसेवित,
सूर्यों के वैश्विक हर्षोल्लास का
आनँद जिसको करता हो हिंडोलित।
कोई उद्देशित-सी धुर-'सत्ता' ने
यहां अर्ध जाग्रत एक आकार में
परात्पर जन्म के मूक, महिमामय
बीज का किया शुचि पालन-पोषण था,
जिसके ही हित तो इस जीवित-जाग्रत्
अनुपम तन का सर्जन यहां हुआ था।
किंतु शीघ्र ही काया औ' आत्मा का
संबंध यहां निश्चित, सुदृढ़ बना था।
धूमिल तमस्-गुफा अब हौले-हौले
इक चैतन्य-ज्योति में थी उमड़ चली,
और बीजता बढ़कर सुचमत्कारी
इक कलिका में फट औ' फूट थी पड़ी,
कलिका भी अब इक महान् औ' स्वर्गिक
मुकुलन और प्रस्फुटन में थी उमगी।
और लगा पृथिवी पर इक समर्थतर
पराजाति की उन्नत नींव पड़ गई।
औ' संदेहशील-से तथा अजनबी
इस पार्थिव भूगोलक पर आकर भी
उस बाला को अपने सुदूर गृह की
भीतर-भीतर हरदम याद बनी थी,
औ' वह निज आत्मा के दीप्त कक्ष में
बनी सुरक्षित एकाकी रहती थी,
इस मानव-समूह के बीच अकेली
अपने दैवी रँग-ढँग में जीती थी।
उसकी शैशव मतिविधि में भी सुसहज
प्रकाश का नैकट्य एक मिलता था,
जो भू से अबतक दूर ही बना था,
अनुभूतियां थीं कि जिनमें शाश्वतता
ही केवल बस भाग बँटा सकती थी,
और विचार-सरणि, जो देवों के हित
ही स्वाभाविक थी और स्वदेशी थी।
अपनी ऊर्ध्व उड़ानों में अभिमग्ना
और जगत् से कुछ भी न चाहती-सी,
उसकी प्रकृति निज निराले, अलगाए
सशक्त वातावरण मध्य जीती थी,
भव्य रंग-रंजित इक विशाल-वक्षी
जैसे कोई नव, परदेशी पक्षी
गुप्तफलभृता एक डाल पर आकर
कानन की मरकत मोहक शोभा पर
कुछ मुहूर्त्त के लिए ठहर रम जाए,
औ' जब मन चाहे फिर अपने दैवी
अगम्य, उन्नत शिखरों पर उड़ जाए।
उसने इक सामंजस्यपूर्ण ढँग में
धरा को प्रभावित स्वर्ग से किया था।
एक शुद्ध आनँद की लयवत्ता के
साथ बने रेखायित और सुछंदित,
अपने में ही गायन-लीन बने-से
बीत रहे थे उसके दिन सुख-नन्दित।
एक-एक पल जैसे बस सुषमा के
अंतर की हर्षमत्त इक धड़कन थी,
औ' घड़ियां उसके मधुरिम संगीती
'अंतर-पदार्थ' सँग सम-स्वरित बनी थीं,
जो न किसी से कुछ भी चाह रहा था,

बस जीवन ने जो कुछ उसे दिया था शाही ढँग से अपना उसे रहा था,
ज्यों स्वाभाविक इक जन्माधिकार हो।
उसकी आत्मा स्वीय पितृ-'सविता' से संबंधित थी और निकट रहती थी,
उसकी उन्नत 'श्वास' हृदय के भीतर शाश्वत आनंद में पगी रहती थी।
पृथिवी का पहला निर्मल जीवन जो
'प्रकृति'-तमस्-मूर्छा को फोड़-फाड़कर
निज हर्षातिरेक के पैंग में उमग लपक नभों की ओर बढ़ा चलता है,
औ' अपने ही सुखमय द्रुतावेग में डूबा-डूबा सा प्रतिपल जीता है,
अपने में जो स्व-पर्याप्त होता है फिर भी सबकी दिशि अभिमुख होता है।
अपने बाह्य जगत्के सँग उसका कुछ दृष्ट और जाना संबंध नहीं है,
इस फैली प्रदर्शनी के सँग उसका जग-जाहिर-सा कुछ संपर्क नहीं है।
छिपी यहां पर एकात्मता एक है जो स्वाभाविक है, स्वीय है, गुह्य है,
जिसे न करणों की आवश्यकता है और न खुद आकार खड़ा करती है;
यह सब जग के साथ एक अपने ही अंतर-एकत्व में पनपती बढ़ती,
औ' अपनी अंतर-समाधि में सारे संपर्कों, स्पर्शों को धारण करती,
हास्योद्वेलित हो-होकर पवनों के चुम्बन को अपनी अनुमति देती है,
रवि के औ' समीर के आघातों का रूपांतर करके धारण करती है,
इक आनन्ददायिनी उत्कंठा है उसके पातों में रँगरेली करती,
और बहारों में उसकी जादूई रागमत्तता एक सिहरती रहती,
औ' उसकी डालें एक शान्त सुख में रहतीं ऊर्ध्व संचरण हेतु ललकती।
एक गुह्य देवत्व-शक्ति इस सारी सुन्दरता का एकमात्र कारण है,
और वही इस फैली मोहकता की आत्मा है औ' इक आत्मीय अतिथि है,
इस सारे माधुर्य की पुजारिन है औ' इस दिवा-स्वप्न की सरस्वती है।
इन्द्रिय-बोधों से अलखतया रक्षित
वह 'वनदेवी' किसी गहन मयूख में डूबी-सी बस सराबोर रहती है,
झंझाओं और शांतियों के अपने अनुपम वातावरणों में पलती है,
भीतर-भीतर वह रहस्य-मेघों की वर्षा-झड़ियों से कांपा करती है।
वही 'शक्ति' इक स्वर्गिक ऊंचाई पर सावित्री के अंतर में बसती थी।
यहां तक कि जब भू के प्रेम में ललक निज ऊंचाई से नीचे झुकती थी,
तब भी उसकी आत्मा निज देवोपम ऊंचे क़द को क़ायम ही रखती थी।
वह नीचे झुकती थी, किन्तु न झुककर 'जड़ता' के शासन में खो जाती थी।
उसकी भ्राजमान वह मनस्-शक्ति तो रूपांतरित एक नव-जगती ही थी,
जिसमें ज्योत्सना-शोभित चमत्कार में डूबी दीप्त कल्पना की लहरें थीं,
जो निज स्वप्नों के आध्यात्मिक, पौष्टिक पदार्थ की अमर-शक्ति पर पलती थीं
इस प्रकार यह आदर्श महादेवी अपने स्वर्णिम निवास में रहती थी।

उसमें बसनेवाली एक 'शक्ति' में,
जो जागरूक थी उन आकारों से
जिन्हें हमारी आंखें न देख सकतीं,
और प्रबुद्ध उन निकटताओं से थी
जिनका न इन्द्रियां अनुभव ले सकतीं,
उसने उसके गढ़े जा रहे बोधों
को अभिनव ढँग से आकार दिया था,
औ' उनको पृथिवी के सतही-ढंगों
से इक भिन्न-रीति में ढाल दिया था।
एक अदृष्ट रवि-प्रकाश आज उसकी
नाड़ी और नसों में सचर रहा था,
इक स्वर्गिक आभा-शोभा से उसके
मस्तिष्क को ओत-प्रोत कर रहा था,
उसने उस विशाल दृष्टि को जगाया
जिसे न भू ने अबतक लखा सुना था।
उस मयूख की निर्मलता में चित्रित,
उसके उठते सरल विचार पूर्णतः
उसकी आत्मा के गंभीर सत्य के
दीप्त प्रकारों में अब बदल गए थे,
औ' अपने चहुंमुख फैली चीजों पर
उसके नेत्र मनुज की अज्ञ-दृष्टि से
उन्नततर एक दृष्टि डाल रहे थे।
सारे जग के पदार्थ बस उसके हित
आकार जीवितात्माओं के ही थे,
और बाहरी सकल वस्तुओं के ही
प्रबुद्ध औ' पावन स्पर्शों के भीतर
वह स्वदेश का सुसंदेश सुनती थी।
अर्धपरिचिता अनन्तताओं के औ'
अविरत भ्रमणशील इस आवर्तन में
प्रत्येक वस्तु एक प्रतीक-शक्ति थी,
जीवित-जाग्रत् सच्ची एक झलक थी,
कुछ भी न निष्प्राण और विदेशी था
नहीं निरर्थक, निराहूत कुछ भी था।
क्योंकि महत्तर एक 'प्रकृति' से उसका
जुड़ा हुआ रहता ऐकात्म्य सतत था।
जैसे कीचड़, मिट्टी के भीतर से
डालों, फूलों में महिमा जगती है,
जैसे पशुता से ही विकस-पनपकर
चिन्तक-मानव की गरिमा फलती है,
उसी तरह उसमें भी अतिमानव का
एक समुन्नत आविर्भाव हुआ था।
प्रकटा एक प्रकाशित ज्योतिर्मय-मन,
लयवान शक्ति को धारे इक जीवन,
गुप्त दिव्यता से परिपूरित काया;
अपनी इस पृथिवी पर ही सिरजी थी,
इस प्रकार आनेवाले सुरत्व की
एक मूर्ति ढाली औ' रची गयी थी।
औ' जब विस्तार पा रहे नव-वत्सर
बढ़ते थे धीमी गति से इक लय में
सुठि अन्त्यानुप्रासों को बैठाते,
और दिवस माते बढ़ते थे ऐसे
ज्यों नव मधुकोषों की खोजों में हों
मधु-मक्षिक-संकुल गुंजार मचाते,
इन्द्रिय-बोध कसे मधु से जाते थे
अंग भरे मोहकता से थे आते,
औ' जब शशि-मंडल के जैसी सुषमा
से उसको अभिभूषित थे कर जाते
तब भी स्व-शक्ति की प्रशांति से रक्षित

उसकी वह महानता औ' विशालता
औ' उसके भीतर देवत्व उभरकर
बाल्यावस्था की नीहारिका बीच
सुनील, एकाकी नभ में भास्कर ज्यों
फिर ऊपर आकर पार्थिव दृश्यों के
औ' उस 'अतिथिराज' ने आज घूमकर
बस एक मधुरतर आत्मिक प्रकाश की
जिससे उसकी चिन्तनरत चितवन में
स्वर्गिक-पार्थिव, गभीर-ऊष्मिल कोई

जैसे कि किसी रहस्यमय मंदिर में
औ' उन स्फटिक-गवाक्षों में से होकर
जो इस जीवन को ही गहन-गभीरा
उसके खुले हुए औ' निष्कलंक से

ज्ञान-ज्योति में से इक 'प्रज्ञा'-सत्ता
प्रहरी-स्तम्भ में विजय-अग्रदूत-सी

इक मौन औ' शान्त योद्धा ने आकर
'महासत्य' के हीरक सिंहासन की
रक्षा के हित अजेय, अनुल्लंघ्य से
एक अमृतमय, प्रभामंडलित शशि-सम
सबको करता प्रेम, नहीं पर कुछ भी
भीतर की आनँदमत्त गुह्यता को
जैसे कोई हर्षभरा औ' उत्सुक,
बस फिर दौड़ी-हहराती गर्वीली

कितने उच्च देवतागण आ-आकर
फिर भी प्रकृति-वृत्त उसका न कहीं से

तरह तरह की ध्वनियों को धारण कर
इक विशाल जगती के समान ही वह
औ' शरीर जो इस सारी महानता
वह स्वर्ग के पारदर्शी प्रकाश की
उसकी लावण्यता सूक्ष्मदर्शन में

एकाकी होकर भी अल्प नहीं थी।
और उकसकर था यों बाहर आया,

इक सम्राट् के सरिस हो उग आया।
संचालन का पूरा भार उठाया:
उसके स्व-क्षेत्र की दिशि दृष्टि उठाई,
ज्योति भाल पर उसके थी छहराई,
और भी गहनता, मृदुता भर आई।
औंघाती ज्वाला आंखों में दमकी,
विशाल, महिमामय पलकों में चमकी,
पावन एक यज्ञ-वेदी हो जलती।
संकल्प-तेज इक झलझला रहा था,
एक अर्थवत्ता अब अरप रहा था।
मस्तक-प्रदेश को ज्यों निज में साधे,
शिक्षार्थी उस भ्रू-कमान के पीछे
इन भंगुर-द्रव्यों को निरख रही थी।
उसकी उच्च अभीप्सा ने मानव की
उस उन्नत भावी को यहां पुकारा,

अपने शक्ति-नगर में था पग धारा।
रागावेग से भरा उसका अंतर
इंगित करता, उच्चारा कोई स्वर।
पर वह सबसे ढाक-मूंद रखती थी,
द्रवित और वाचाविहीन हो जग ही।
हर्ष-प्रमत्त एक जीवन की सुलहर,
दौड़ी 'स्वर्ग'स्रोत-सम उसके भीतर।
बसते थे इस शुभ-निकेत में सुन्दर;
अलगाया था और नहीं विदीर्ण था,
अपनी समग्रता को लिए पूर्ण था
मंत्र-सरिस संवादी, सुपरिपूर्ण था,
विविध और बहुरंगी, चिर, अ-जीर्ण था।
को साधे था धारण किए हुए था,
ढाली-सी जगमग प्रतिमा लगता था।
देखी चीजों की याद दिलाती थी,—

अप्सर-देशीय एक जलप्लावन के   पार उतरने का ज्यों सेतु बनी थी,
निर्मल झील के किनारे एकाकी   इक चन्द्रिका निमज्जित ताल-वृक्ष थी,
एक विशाल झिलमिलाती प्रशान्ति का   जैसे कोई हेती थी, साथी थी,
गुज़र रहे देवों की पग गति से चल   सुर-वन के पत्रों का इक मर्मर थी,
कि निद्रालु शैलों के ऊपर सहसा   उगा एक अप्सर-आभामंडल थी,
या तो महारात्रि में विचित्र, केवल   तारामंडित शशि-सरिस लगती थी।

पर्व ४, सर्ग २

अग्निशिखा का विकास

एक शैल-शोभी औ' सूर्य-प्रताड़ित
जहां महा सरिताएं हर-हर करतीं

जहां कि नीरवता जीवन-कर्मों को
द्रुत परात्पर चिंतन की दिशि बढ़ते
औ' 'प्रभु'-मानव के इक प्रतिभाशाली,
सशक्त दिवास्वप्न से औ' समाधि से

सुन्दरता, सुषमा और भव्यता सब
उसी तीर्थ ने, इस अवतारी 'ज्वाला'
युगों-युगों की सुशक्तियां अब 'उसकी'
भव्य भूत के गहन देवताओं ने
औ' भविष्य में आनेवाले दुर्लभ
ज्यों इस चुम्बक सत्ता ने निज में हों
उसके शान्त, सुथिर अंतर से भू की
औ' देवों से मिलने हित अब चढ़ते
विश्व-विराटों में कूदने के लिए
एक कूदनेवाले तख्ते के सम
चिन्तक औ' द्रष्टा के आप्त 'ज्ञान' ने

अनन्तता में प्रवेश कर जाने को
बस मनुष्य के कर्मों को जैसे इक
औ' मानव के अंतरतम से उठकर
'प्रकृति' और आत्मा की उदात्तता में
मानव की नैतिकता ने अब मानो
सुसम्पन्न इक संस्कृति के थाटों की
समस्वरता ने इन इन्द्रिय-बोधों को

मैदानोंवाले शाद्वल-प्रदेश ने,–
विराट् सागर की दिशि भाग रही थीं,
आत्मशांति औ' सर्जन के उस 'थल' ने,–
अतल-गहनता में लीन कर रही थी,
स्वर्ग-छलांगें भरते इस प्रदेश ने,
महान् कौशल-कार्यों से परिपूरित,
बनी हुई ध्यानलीन इस जगती ने,–
जहां 'प्रकृति' 'प्रभु' का सपना लगती थी
जिसको अपना ही घर समझ रही थीं
की बाल्यावस्था को वास दे दिया।
रक्षा के हित बनी हुई थीं प्रहरी,
उसके ऊपर अब एक दृष्टि छोड़ी,
महत् देवताओं की राह अगोरी,
उनकी अलख शक्तियां खींच बटोरी।
ध्यानलीन प्रज्ञा वार्ता करती थी।
हुए मनस् के अंतिमतम शिखरों से

चढ़कर ज्योतिष्मान् भू-विचारों से
उस अदृष्ट को अब आंखों से देखा,
एक अचिन्त्य विषय को था अब सोचा,
अज्ञात के महा द्वारों को खोला,
मानव के सीमित क्षितिजों को तोड़ा।
तटविहीन लहरों की बाढ़ मिली थी,
कला और सुन्दरता उमड़ पड़ी थीं,
बस इक होड़ा-होड़ी मची हुई थी।
स्वर्ग-राग से निज स्वर-साम्य मिलाया,

आज सुसंस्कृत, वर्द्धित और कराया,

जिससे वे अश्रुत को यहां सुन सकें,
औ' अदृष्ट के दर्शन यहां कर सकें
औ' जीवन में अपनी सीमाओं को
अमरों के अदृष्ट जग में जाने की
अंतरात्मा को परिचित द्रव्यों के
मनस्-'शक्ति' की औ' सुसाहसी पाखें
भू की स्वीय सुरक्षित सीमा तजकर
रौंदे, कुचले इन विचार-क्षेत्रों से
'परालोक' के रहस्य भरे सिंधुओं
के सब विस्तारों को नांघते हुए
उन्नत गरुड़-उड़ानों पर जीने को
'सत्य-सूर्य' के निकट सदा रहने को
यह वह थल था जहां कि प्रज्ञा शाश्वत
सावित्री के सब जीवन-परिवर्तन

उसने तो सत्य की सिद्धि पाई थी
तथा 'प्रकृति' के विद्यालय में उसने
जग में रची हुई चीजों, आकारों

अपने अंतर की गभीर वाणी के
था अर्पण करवाया और लुटाया,
उसके जीवन के क्षण, उस शाश्वत के

उसका शब्द-शब्द, उन्नत लोकों की

जो बन्दी-आत्मा की मुक्ति के लिए
उसके गोपित मित्र-देवताओं के
या फिर जीवन-अंतर के भीतर जो
उसको नव-नव आकारों, रंगों में
नव-सजधज से व्यक्त करा देने को
कोई एक पुरातन-'आत्मा' है जो
जो उस 'अज्ञात' की सतत शोधक है
जो उस 'अनिर्वाच्य' से प्रकाश लेकर
अंतिमतम रहस्य के इस पर्दे को

उन्नत उठवाकर औ' तोड़-फोड़कर,
महान् औ' उदात्त एक अभीप्सा भर,
उस पार उड्डयन के योग्य बनाया।

उसको लेकर ऊपर आज उड़ गई,

ऊपर-ऊपर उठती ही चली गई।
सिंहासन पर समासीन रहती है।
उन प्रतीक-द्वारों की दिशि जाते थे,
जो गुप्त-शक्तियों के निज निवास थे,—
जो उसकी अपनी ही सजातीय थीं।
औ' आनँद की दीक्षा वर लाई थी,
सिद्ध पुजारिन की शिक्षा पाई थी,
के सब चमत्कार से सचेत होकर,
उसने उस 'अद्भुतवर' की वेदी पर
सारे गुप्त रहस्यों को ले-लेकर

मंदिर की पावन पूजा-गरिमा थे,
और कर्म, आहुति की सुभंगिमा थे।
लय के साथ-साथ समस्वर रहता था,
वह पुरोहिती माध्यम बना हुआ था,—

सँग-सँग उसका विनिमय करवाता था।
अब भी है अपनी अभिव्यक्ति ढूंढ़ता,

उसकी सहायता में लगा हुआ था,—
वस्तु-वस्तु औ' मानव बीच व्याप्त है,
और उस 'अजन्मे' की अन्वेषक है,
सब बाधाओं में हो बढ़ी जा रही,
छेद-भेद देने को चली आ रही।

जिसके ही फलस्वरूप तो अबतक है सब धरती के गंभीर दर्शनों ने
पृथिवी को स्वर्ग की ओर लखने के लिए उदात्त एक इंगित करवाया,
या तो फिर विश्व-देश और काल-सम किन्हीं विशाल और अभिनव नींवों पर
पार्थिव मन को लेकर अतिमानव की अति महान् ऊंचाई तक उठवाया।
फिर लांघते हुए उन रेखाओं को, जो बाह्य-दृष्टियों को खुश करती हैं,
किन्तु छिपा उस सूक्ष्म-दृष्टि को रखतीं जो अपने भीतर निवास करती है,
मूर्तिकला औ' चित्रकला दोनों ने
इक अंतर दर्शन की अचल-कोर पर,
करा दिया था बोधों को ध्यानस्थित,
औ' अदृश्य का रूप किया सुप्रकाशित,
और 'प्रकृति' के सारे अंतरार्थ को आकार में गया था जहां उघारा,
या था. पकड़ा गया एक काया में गुप्त 'दिव्यता' का स्वरूप अब प्यारा।
खोज लिया 'अनन्त' की वास्तुकला ने जहां स्व-चिन्तन-निलीन आकारों को,
उड्डीयमान पाहन-विशालताओं में था बन्दी किया गया बस जिनको,
संगीत ने, स्वर्ग-उत्कंठाओं को इस मानव-अंतर के बीच भर दिया,
और निमज्जित, लयित मनुज अंतर को
हर्षोन्मत्त गहनताओं के भीतर रख गायन से स्व-करों बीच कस लिया,
औ' फिर मानव अंतर की पुकार को विश्व-पुकार से जोड़ एक कर दिया,
जग-व्याख्याकारी 'लीला-नर्तन' की
पग-थिरकन के वेग ने भावना औ' मनोदशा को लय-दोलित बना दिया,
मुद्राओं को इक गति में बहा दिया,
और सूक्ष्म रेखाओं के द्वारा इक
बारीकी से रचकर जहां शिल्प ने
इक विद्युत-वेगी क्षण की स्मृति को भी इसी काल में 'शाश्वत' था करा दिया,
या तक्षण की आवेगशीलता में
अदृष्ट के अंतर्हित प्रारूपों को उरेह कलशी के आकार में दिया।
औ' कविताएं क्या थीं, भिन्न-भिन्न ज्यों ढाले गए विशाल-चल-जगत् ही थे,
और छन्द क्या थे, हहराती आती सागर लहरों के उन्मत्त नाद थे,
जो कि 'प्रकृति'-उर की गुप्त भव्यताओं के ही इक सुन्दर गीतानुवाद थे,
औ' अब वाणी-महिमा की विविधा में इन संगीत-स्वरों में फेंकी जाकर,
'उसके' गोपित आकारों की सुषमा और महत्ता प्रकट हुई थी बाहर,
उसके मुग्ध क्षणों औ' मनोदशाओं
के रागावेग, मत्त-आवेशों से इस मानव-वाचा को ऊर्ध्व उठाकर
दैवी वाचा के निकट ला रहे थे।
मानव की भी दृष्टि आज विस्तृत बन अन्तर के देशों को देख सकी थी,

उसकी ओर परीक्षण-दृष्टि विकसकर
तारा-गति को विन्यस्त कर चुकी थी,
दृश्य जगत् की सकल रूपरेखा का

मन और प्राण के विकास का
पर सावित्री ने इस सकल सत्य को
औ' उसकी विशाल 'आत्मा' के थल को
मानव-शोध जो कि निज परिणामों में
सीमित ही है औ' परिपूर्ण नहीं है,
वे सब तो उसकी इक बाल-शोधिका

जिसने अपने स्वाभाविक प्रकाश के
बस नाना-परीक्षणों की दस्तक दे
या 'ऋत' मन की मापनी शलाका की
जिसमें बाह्य-विकास की यहां अनगिन
पर विशालतम आत्मदृष्टि की जिनमें
औ' न अभी तक उसका वह विस्तृततम,
तथा 'देवताओं' की प्रज्ञा का औ'
एक अपार ज्ञान जो मानव के इस
एक सुखानुभूति जो इस अंतर औ'

सावित्री ने अपने भीतर उसका

औ' याचन करती थी उन द्रव्योंका,
अभिलाषा करती थी उन जीवों की
जो उसके स्वाभाविक शाहीपन की
श्री-शोभा से विमुख हुए बिन क्षण भर
औ' उसकी महानता को, मृदुता को,
सब कुछ पर उसकी अधिकार शक्ति को,

इस प्रकार भू ने इक स्वर्ग-विजय की
औ' आत्मा ने आंखें उठा गगन की
और वह चले 'अज्ञेय' से आ रहे
और परात्पर के इक कर्मक्षेत्र के

संख्या के नियमों को खोज चुकी थी,

औ' विधान का नक्शा एक खिंचाया,
मानव विचार-क्रम पर प्रश्न उठाया,
उसने इक सैद्धान्तिक रेखाचित्र बनाया।
अपने प्राकृत-पोषण सम स्वीकारा,
भर न सका था मिलकर भी यह सारा।

सुचेतना के प्रथम महान् चाप थे,
जो उसके साहस की एक माप थे,
दिन न अभी तक यहां देख पाए थे;
बार-बार जग-द्वार खटखटाया था,
खोजों में अपना कर फैलाया था,
विविध-विधाएं थीं और दिशाएं थीं,
न कहीं मिलती कुछ विशालताएं थीं।
सीधा औ' अपरोक्ष-स्पर्श आया था,
पूर्णकला का बोध न जग पाया था।
विचार से बाहर है, विशालतर है,
स्पर्शबोध के लिए समुन्नततर है,-
जो जगत् में पिहित बन पड़ी हुई है,
बाट मुक्त होने की जोह रही है,
पावन अद्भुत-अनुभव प्राप्त किया था;
वह रूप-ग्रहण को आतुर बैठी थी,
जिनके चहुँमुख वह बढ़ औ' पनप सके,

साहस के संग धारण उसे कर सकें,
उसके आनन्दालोड़ित स्वभाव को,
और प्रेम करने की सुसामर्थ्य को
बिना विरोध किए स्वीकार कर सकें:
पहली सीढ़ी पर निज चरण धरा था,
सीमित सीमाओं के पार लखा था,
एक महत्तर प्रकाश से भेंटी थी,
लिए यहां सपनाने कि लग गई थी।

सबमें बसती उस 'विश्वात्मा' की ही
अन्तर-जागरूक बनकर अब सारे
जीवित हृदयों की दिशि घूम पड़ी थी,
मानव-आकारों को निरख रही थी
जो उसकी ही आत्म-प्रतिच्छाया थे,
उसकी ही आत्मा के संपूरक थे,
औ' जो उसकी ही प्रतिमूर्ति-सरिस थे,

उसकी ही सत्ता के बहिर्भाग थे
जो देह और मन की दीवारों के
द्वारा बनकर यहां विभक्त पड़े थे,
लेकिन फिर भी जो उसकी आत्मा के
साथ दिव्य-सूत्रों से बंधे हुए थे।
और आज इस छिपी अदृश्य बाड़ को
और छद्मवेशी रक्षा-दिवार को,
औ' आत्मा से आत्मा को विलगाकर
रखनेवाले उस एकाकीपन को,
नांघते हुए अब उसने इच्छा की
सबको महाश्लेष में भर लेने की,
सबको एकाश्रयी बना देने की,

जिसमें कि विभाजन की सघन दरी से
द्रष्टा प्रकाश तक सहसा उठे हुए,
सब जीवित, प्रेरणा-पगे, द्रव्यों को
वह उस निकेत के भीतर बसा सके,
उनको 'प्रभु' के, जगती के, औ' अपने
सँग-सँग उठवा कर अब एक कर सके।
किंतु बहुत थोड़े ही जन बस उसके
आवाहन पर उद्बुद्ध हो सके थे,
उनसे भी सु-अल्पतर थे जो उसकी
आवृत दिव्य-शक्ति को देख सके थे,
औ' उसकी ऊर्ध्वस्थिति के सँग अपनी
किसी साम्यता का अनुभव कर-करके,
जो उसके दिव्यत्व से जोड़ देने
हित स्व-दिव्यताओं को ललक रहे थे।
औ' निज सूक्ष्मदृष्टि से ऊपर उठकर
ज्योतित निगुह्यताओं में प्रवेश कर,
या सुनिगोपित उच्च भव्यताओं से
जागरूक होकर औ' परिचित बनकर
जो इक उन्नत क्षण की विद्युत्-कौंधन
के प्रकाश में सावित्री को भरसक
ढूंढ़ समझ लेने हित कूद पड़े थे,
जिस कौंधन से वे स्वर्गिक भूमा में
दीप्त एक आभा को देख रहे थे,
पर उस दर्शन और शक्ति को अपने
भीतर ठहरा-बसा न रख सकते थे,
औ' जीवन की धूमिल औ' साधारण
ध्वनि में आकर फिर-फिर गिर पड़ते थे।
वे अब स्पष्ट रूप से निरख रहे थे,——
स्वर्गिक प्रयोग की एक धृष्टता में
लगा हुआ इक साहसवाला मन है,
किन्हीं अजानी-विशालताओं की दिशि
जो अविरत बढ़-पनप रहा प्रतिदिन है,
उसको वे समीप अनुभव करते थे,

यद्यपि वे उत्सुक स्पर्शों से अपने
इस अज्ञात'-छोर को परख रहे थे,
पर वे अब भी जड़ मानव स्वभाव की
निज जेलों में बन्दी बने हुए थे:
उसकी उन श्रमविरहित द्रुत चापों के
साथ-साथ तो भाग नहीं सकते थे;
उसके विशालगति-संकल्प के लिए
उनकी पगचापें अति ही धीमी थीं,
अपनी उत्सुकता में अति ऊनी थीं,

आज तक अजन्मी उस 'अनन्त' चितवन
के सँग लख सकने को उनकी चितवन अति ही दुर्बल थी, अति ही नन्हीं थी,
और महान् वस्तुओं के बोझे से उनकी प्रकृति हारकर थक जाती थी।
क्योंकि अति निकट रहनेवाले उसके साथी भी जो उसके सहचिंतक थे,
औ' जो उसकी किरण-ज्योति के सबसे निकट पहुंच कर चलते रह सकते थे,
वे भी उसके भीतर अनुभव होने-
वाले प्रकाश और शक्ति की केवल पूजा औ' श्रद्धा में लगे हुए थे,
औ' उसकी आत्मा की ऊंचाई की सरवरि तक ऊँचे न पहुंच सकते थे।
यद्यपि वह उनकी परम हितैषी थी फिर भी उनके हित इतनी महान् थी
कि उसे न पूर्णतया समझ सकते थे,
उनके अंतर औ' आत्मा की खातिर वह उनकी अगुआ थी, साम्राज्ञी थी,
औ' वह उनके अपने वक्षस्थल से सबसे अधिक निकट थी औ' अभिन्न थी,
फिर भी परम दिव्य, और अस्पर्श्य थी।
उसकी तीव्र और दृढ़-चापों को वे आश्चर्य औ' प्रशंसा भर लखते थे,
जो देवों के आवेग औ' छलांगों
से उन्नत शिखरों की दिशि बढ़ने में सतत निज प्रयत्नों में लगी हुई थीं,
जो उनके मानव क़द से अगम्य थीं,
या तो उसके पग धीमे, महान् इक सतत, बहुमुखी श्रम में लगे हुए थे,
जो ऐसे ध्येय की ओर बढ़ते थे जिसको वे सब सोच नहीं सकते थे।
फिर भी तो वे उस महान् सविता का एक उपग्रह बनने को परवश थे,
औ' उसके प्रकाश में घूम रहे थे क्योंकि उसे त्याग भी नहीं सकते थे।
और ललकते हुए अंतरों से बस
अपने उत्सुक हाथों को फैलाए उसको पकड़े-जकड़े ही रहते थे,
गिरते-पड़ते उसके निर्मित पथ पर या उसके पीछे-पीछे चलते थे।
निज प्राण और शरीर की सत्ता से ही कुछ सतत प्राप्त करते रहने को,
औ' अपना अंतर-पोषण पाने को
औ' करुणा की सहायता लहने को, उससे चिपटे-लिपटे ही रहते थे :
सावित्री के बाक़ी स्वरूप को तो दृश्य ज्योति में देख नहीं सकते थे,
औ' उसके भीतर की महानता को बिन समझे ही वे ढोते रहते थे।
या इन्द्रिय-सीमाओं से सीमित बन और कामनाभरे हृदय को लेकर,
एक कर्दमित मनुज-प्रेम से अपने उसकी पूजा, श्रद्धा औ' आदर कर,
उसकी महा चेतना को वे अपने नन्हें कर से पकड़ नहीं पाते थे,
और निकट रहकर भी उसके, उसके
समान बन सकने के महा यत्न में अपने को बदल भी नहीं पाते थे।
कुछ ऐसे थे जो उसको निज आत्मा के सँग एकाकार बना लखते थे,

एक महत्ता उन्हें निकट लगती थी
उसके दर्शन क्या थे जैसे उसकी
उन्नत सुसान्निध्य क्या था कि मिली ज्यों
इस प्रकार मानव पूजा करता है
औ' जो इस सीमित मानवाकार के
बस वे इक 'सन्निधि' को अनुभवते हैं
एक प्रेम की भक्ति किया करते हैं,
जिसके आनन्दातिवेग से उनके
विशाल, उन्नत करते रहनेवाले
जिससे उनके अंतर-स्पंदन कोई
मानव की श्वास के लिए फिर बरबस
और मुक्ततर सुखितर कोई उन्नत
फिर 'परमा-आत्मा' औ' 'प्रकाश' के प्रति
सावित्री के दिव्य अंश आत्मा की
वह उसका अंतर्दर्शन लहती थी,
वह उसका अंतर-अनुभव करती थी,
उनके साधारण मानव कर्मों पर
उसके अंतर की अक्षय्य मधुरता
वे इक एसी सत्ता से कर्षित थे
छू पाते थे नहीं महत्ता उसकी
सविता के प्रति इक पुष्प-निवेदन-सम
उसके ऊपर सब न्योछावर करते
उनके सम्मुख वह अति ही महान् थी
उनके दृष्टि-क्षेत्र को अति विशाल थी
उनके मानस उसे न परख सके थे,
उसके जीवन को उन सबके जीवन

इक दिव्य शक्ति का अनुभव करते थे,
उसका नेतृत्व स्वीकार करते थे,
उनके जीवन औ' उनके स्वभाव सब
उसके जीवन औ' स्वभाव से जैसे
ऐसा लगता था जैसे उनके ही
विशालतर स्वत्वों के महा सत्य ने
आनँद से उत्तोलित कर देने को

औ' वे उसके सँग पुलकित रहते थे;
पर वह तो मन की पकड़ के परे थी;
भक्ति के लिए आई इक पुकार थी,
दैवी संपर्क-शक्ति इक अपार थी।
इक सुर की, जो उससे बहुत बड़ा है,
लिए बहुत विशाल है औ' ऊंचा है;
औ' इक महाशक्ति को अनुकरते हैं,

अन्तर-गढ़ आक्रमित बने रहते हैं;
एक महाविधान को अनुसरते हैं,
दिव्यावेग से उमड़ते चलते हैं।
दिव्य वायुमंडल इक खुल जाता है,
जग उसके सम्मुख आ प्रकटाता है,
चढ़ते उदग्र चरणों को पाता है।
राजभक्ति को आवाहित करते थे,

उसकी दिव्य-शक्ति से जागरूक थी।
उसकी इच्छा-शक्ति बनी हावी थी,
उनके अंतर आकर्षित करती थी,
जो उनकी सीमाओं के बाहर थी,
फिर भी उसका स्पर्श सहन करते थे,
उसे सहज इक प्रत्युत्तर देते थे।
रहते और न कुछ भी चाह रहे थे।

समग्रता से उसे न समझ सके थे,
निज-निज ढँग से प्रति-उत्तर देते थे,
वाणी के संकेतों पर चलते थे:
बस इक आवाहन को अनुकरते थे,
जग में उसके ही कार्य सँवरते थे।

विवश बने से संप्रेरित रहते थे,

उनकी भू से ऊंचा उन्हें उठाकर
किया दिव्यता स्वरूप इक धारण हो।

उन्हें लगा उनकी पग-गति से आकर
अधिक विशाल भविष्य एक भेंटा हो।

वह उनके कर को साधे रहती थी
उनके हित नव-मार्गों को चुनती थी:
उसके द्वारा वे महान् अनजाने ध्येयों की ओर अग्रसर रहते थे,
श्रद्धा से आकर्षित बने हुए थे,
और उसे अपना जानने-समझने में इक आनँद का अनुभव करते थे,
बस जैसे वे उसमें ही बसते थे उसके नेत्रों से जग को लखते थे।
यही नहीं कुछ जन तो निज स्वभाव के विरुद्ध हठात् उसकी तरफ झुके थे;
इक ओर थे प्रभावित चमत्कार से, दूजी दिशि इक विद्रोह से भरे थे,
उसकी मोहिनियों पर आकर्षित थे, उसके दृढ़-संकल्पों से शासित थे,
उसके द्वारा अधिकृत थे, पर उसको अपनी कर लेने को अभियत्नित थे
ये जन सदा अधीर बने रहते थे,
औ' उनके बन्दी-कामना-पगे उर उन्हीं बंधनों से चिपके रहते थे,
जिनका गिला, शिकायत करते रहते,
उसी जुए के बोझ से बिदक जाते जिसे छोड़ने में भी रोते-धोते,
सावित्री के श्री-प्रेम का जुआ यह जिसको त्याग न थे वे जी भी सकते:
औ' कुछ थे जो निज जीवन की अंधी इच्छाएं ले उसका पीछा करते,
औ' उसके विशाल-सबकुछ पर जैसे केवल अपना अधिकार थे चाहते,
और विश्व-हित सिरजी सुमधुरता पर स्व-स्वामित्व के ही हित दौड़ लगाते।
जैसे पृथिवी अपनी अलग, अकेली
आवश्यकता के हित बस प्रकाश पर एकाधिपत्य की है इच्छा करती,
उसी भांति उन सबने भी बस उसको
अपने ईर्ष्यालु और निपट निराले आलिंगन में भरने की इच्छा की,
औ' उसकी गति और प्रगति को अपनी गति-सम इच्छा की सीमित लखने की,
औ' अपनी छोटी नगण्य बातों के प्रति वैसा ही प्रति-उत्तर लहने की।
या वे उससे खिन्न बने रहते थे
कि वह तोड़कर उनकी जकड़न-पकड़न है हठात् बस क्यों बाहर निकल गई,
औ' अपनी इच्छाओं की डोरी से फिर कस रखने की उसको आशा की।
उस स्पर्श को जिसे बरबस मांगा था सहने में जब निज को अशक्त पाते,
खुद ही चाहे हुए जुल्म का फिर वे उसको ही थे बस दोषी ठहराते,
जैसे अति तीव्र सूर्य के प्रकाश के
आगे कोई तेजहीन रह जाए,
वैसे ही उसके सम्मुख आकर वे भी संकुचित, तेजहत रह जाते थे,
लेकिन फिर उस शोभा औ' सुषमा को

जिससे निज मुख मोड़-मोड़ लेते थे उसके हित लालायित हो जाते थे।
उसकी प्रेमभरी मृदु-मयूख पर वे रूठ-रूठ कर भी वारी जाते थे,
क्योंकि स्वीय पार्थिवता की अति दुर्बल धरती पर न उसे ठहरा पाते थे।
वे लालायित तो थे पर निज वांछित स्पर्श प्राप्त कर चीख-चीख उठते थे
और दिव्यता को इतने समीप से गले भेंट सकने में वे अशक्त थे,
उस 'शक्ति' के धरण में वे अक्षम थे, बसा न जिसको निज गृह बीच सके थे।
कुछ जन उसके प्रभुत्व के प्रभाव पर अरे अनिच्छा से भी आकर्षित थे,
एक मधुर किंतु विदेशी जादू-सम चुपचाप बने बस उसको सहते थे,
उसकी महानता की ऊंचाई तक चढ़ने में तो बस वे अशक्त ही थे,
अपने भू-स्तर तक उसको घसीटकर लाने को ही लालायित रहते थे।
या फिर केंद्र बनाकर उसके चहुँदिशि
रागावेग भरे ये अपने जीवन लेकर फिरने को मजबूर बने थे,
वे उसके सब महिमा-आकर्षण को,
जिसने उनकी आत्माओं को अपनी मोहिनियों के जाल में फँसाया था,
अपने अंतर की निर्मित मनचाही
मानव-आवश्यकता के ही सँग-सँग बांधे रखनेकी आशा करते थे।

पर इस जग के उन सकल मर्मियों में जो उसके आवाहन को सुनते थे,
खड़ा न उनमें कोई साथ रह सका उसका जोड़ीदार बना रहने को,
उसका जीवन साथी बन सकने को।

बस निज शुभ्रा ऊँचाई को लेकर
अरे व्यर्थ ही उन्हें उठाने के हित वह इतने नीचे उतरी, निहुरी थी,
नन्हीं आत्माओं के मर्त्य-श्वसन को उस क्षेत्र की वायु अति ही पावन थी।
अपनी इन सहवासी आत्माओं को
अपनी विशाल-श्वास तक उठाने की उस देवी ने इच्छा, अभिलाषा की,
और उन्हें अपने अपार ओजों से भर-भर देने की उसने आशा की,
जिससे जीवन में अब एक 'दिव्यतर' 'शक्ति' उतरकर यहां प्रवेश कर सके,
'भगवत्ता' की और श्वास आकर इक अवनि-काल को भी उन्नत बना सके।
यद्यपि वह उनकी लघुता तक आकर नीचे, उनके निकट यहां निहुरी थी,
और प्रेम-माते निज दृढ़ हाथों से उनके जीवन को ढाके रहती थी,
उनकी आवश्यकता, इच्छाओं को अंतर-सहवेदन को समझ रही थी,
औ' उसने उनके जीवन की छिछली ऊर्मि अतलताओं में डुबकी ली थी,
उनकी सुख-दुख की हृदय-धड़कनों से भेंटी थी, उनमें भाग ले रही थी,
यही नहीं शोक, गर्व के घावों को भरने के हित नीचे झुकी हुई थी,
फिर भी स्व-सामर्थ्य को जो उसकी थी अपने विजन शिखर पर लुटा रही थी

जिससे कि अभीप्सा के आर्त्तनाद को

औ' यद्यपि वह उनकी आत्माओं को
औ' निज गभीरता की नीरवता से
जैसे महान् 'जननी' निज छाती में
निज आत्मज को है चिपटा कर रखती,
फिर भी उसकी सतही पार्थिवता ही
और वही अपने पावक को उनकी
और महत्तर उसकी आत्मा तो निज

अक्सर इस मूक 'प्रकृति' के कोलाहल
और शांति के भीतर छिपे हुए इक
प्रसन्न-गंभीर सुनिगुह्य 'केवल' के
औ' उसके भीतर की 'महाशक्ति' अब
मानव से निम्न चेतनावाले पशु

तीक्ष्ण रँगोंवाले सुठि, शोभाकारी
अपनी आत्मा की विशालता से औ'
सीधे-सरल हृदय से वे सब अपने,
लेकिन धुंधला अशांतिकारी कोई
इसे ज्ञान है सब, पर यह अपना मुख
और पतन की तमस्-अज्ञता में ही
बस उन सकल प्राणियों में भी तो, जो
उनमें, स्व-महाकार्यों के संपादक,
औ' अपने अंतरतम के साक्षी के
औ' अपनी ही उस दूजी आत्मा के
जो 'पुरुष' औ' प्रकृति' की भांति अभिन्ना,

कुछ थे जो उसके समीप आए थे
सावित्री के संकल्प की अग्नि से

क्योंकि मांग उसकी अति ही महान् थी
उसकी शक्ति पवित्र, निरी अ-म्लान थी।

उनके, उठवाया जा सके वहां तक,
निर्मित किया जा सके सेतु यहां तक,
निज अंतर-विशालता में खींचे थी,
चहुँदिशि एक बाड़ सम दृढ़ घेरे थी,

उसी भांति उनकी रक्षा में रत थी,
उनके गुरु-भार का वहन करती थी,
नश्वरता के सँग संयुक्त किए थी:
एकलता में ही, भीतर जीती थी,
न किसी से हो सकी और अधिकृत थी।

सान्निध्य का भव्य अनुभव करती थी।

और पक्षियों को कर्षित करती थी
इन पशु-पक्षी, पुष्पों औ' तरुओं को,—
इन सुन्दर, भव्यता-कलित जीवों को,
उसके मुक्तानँद से जोड़ रही थी।
उसके कार्यों को उत्तर देते थे।
तत्त्व है कि जो मानव में बसता है,
'दिव्य-ज्योति' से विमुख किये रहता है,
रस लेता, उसको पसंद करता है।
थे आकर्षित बन उससे नियराए,
सहगामी के कहीं न दर्शन पाए,

उसके साथ-साथ ही रची गई हो,
और साथ ही यहां कार्य करती हो,
उसके न दरस-परस कहीं मिल पाए।
और उन्हें उसका स्पर्श भी मिला था,
उनका दुकूल भी अब धरा गया था,
फिर भी उसके साथ न वे चल पाए
बने रहे असफल ही औ' विवशाए।

बस फिर इक रवि के समान तेजस्वी चहुँदिशि भू पर प्रकाश छिटकाती थी,
फिर भी अंतर-नभ की नीरवता में एकाकी व निराला एक वृत्त थी,
औ' जो उसके बहुत निकट थे उनसे भी इक दूरी द्वारा अलग बनी थी।
जैसे बने देव आवृत रहते हैं
वैसे ही उसकी बलशाली आत्मा हमसे पृथक् बनी निवास करती थी।

अबतक बाहर की विस्तृत जगती से उसका कुछ परिचय, संबंध नहीं था,
तरुण और उत्सुक अंतरवाले बस कुछ आतुर मनुजों के मंडल से ही
उसकी अंतर-सत्ता की प्रारंभिक, घिरी हुई औ' बंधी हुई शाला थी,
जीवन-क्षेत्र की यही बस सीमा थी।

पार्थिव जीवन के इन व्यापारों में बनी हुई वह इक नौसिखिया जैसी,
अपने स्वर्गिक स्वर को उसके स्पर्शों के सहने का अभ्यस्त कर रही थी,
औ' अपनी इस छोटी-सी दुनिया में भी संतुष्ट बनी-सी विचर रही थी,
जैसे देवों के इक लघु-उपवन में

खिला फूल हो अति सुन्दर एकाकी, आवागमन-रहित से किसी विजन में।
और बाहरी जग को भी इस अपनी अतिथि-ज्वाल की कुछ पहचान नहीं थी,
फिर भी कोई वस्तु हिली अंतर में फैली मंद खबर भी इक परिचय की।
एक नई गति का संचार हो पड़ा व्यापा इक आवाहन रागावेगी,
उगा इन्द्रधनुषी इक सपना, छाई एक स्वर्ण-परिवर्तन की आशा भी।
इक प्रत्याशा के आवृत पंखों ने भरीं फड़फड़ानें अपनी अब जैसे
एक निराले तथा नवीन तत्त्व की
और एक अनुपम सुषमा की चर्चा
धीरे-धीरे आज 'काल'-अंतर में चली गई फैलती और चुपके से।
उसके विषय में और कानों-कानों खुसपुसान थी दौड़ धरा पर छाई,
औ' इक छिपी हुई आवश्यकता की चिर अभिलाषित श्वास धरा को आई,
आत्मा ही थी जिसको कि परख पाई।

बस इस महान् जगती की आंखों ने सावित्री को आखिर ढूंढ़ लिया था
और एक आश्चर्य ने यकायक जग अपना चारण-वन्दन शुरू किया था।
उसका नाम एक कुंजी थी जिसने
अब तक सत्ता के मर्म में निगोपित प्रकाश को बस जैसे खोल दिया था,
या सूर्य-गिरा था, जिसने कि पुराने रहस्यार्थ को अब प्रकट कर दिया था।
मानव के ओठों पर जैसे उसके मधुर नाम का इक जाप चल रहा था,
ज्यों जनश्रुति की महा-काव्य-वीणा से
बहता प्रेरित मधुर पद्यरचना-सम उत्तोलनकारी उद्‌गीथ-गान हो,
या कि 'कीर्ति'-कवि के द्वारा बस उसके विचार-मंत्रों का पाठ हो रहा हो।

पर उसकी श्रद्धा का संप्रदाय यह,
पवित्र प्रतीक वाला संप्रदाय था।
और बहु-प्रशंसित वह ईप्सा-विरहित,
औ' मानव की पकड़ के लिए वर्जित
उसकी जाज्वल्य शक्ति औ' सुन्दरता
अभी दूर से ही बस लखी गई थी,
अस्त हो रहे दिन के सँग-सँग विद्युत्
नभ में दूर-दूर ज्यों खेला करती,
बस इक महिमा इतनी दिव्य थी जिसे
मानव-शक्ति नहीं छू भी है सकती।
उसके अंतर से निज मेल मिलाने
कोई अंतर नहीं सामने आया,
कोई पार्थिव मर्त्य-प्रेम आ उसकी
सुशांति पर आक्रमण नहीं कर पाया,
और न कोई रागोन्माद, साहसी
उसे पकड़ सकने का था बल लाया;
उसकी प्रत्युत्तरकारी आंखों को
नहीं किसी की आँखों ने वर पाया।
उसके अंतर की एक 'शक्ति' ने था
मानव के इस अपूर्ण रक्त-मांस को
श्रद्धा-विस्मय से अभिभूत कराया,
और हमारी इस भौतिक माटी की
आत्म-रक्षिका एक सहज मेधा ने
इतना परख लिया था,—यह देवी है,
नारी-रूप किया धारण है जिसने,
और स्पर्श पा उसका परे हट गई
क्योंकि उसे तो पाया था अपने से
एक उच्चतर महाजाति का उसने,
अरे बँधा-जकड़ा पार्थिव स्वभाव है
ऐन्द्रिय जीवन के सँकरे सांचे में।
और मनुज के अंतर बस अपनी ही
माटी के संबंधी और प्रेमियों
के प्रेम में पड़े-जकड़े रहते हैं,
और न सह सकते हैं उन अति उन्नत
सत्त्वों को जो एकाकी बसते हैं,
जो स्वीय मृत्युहीन भूमिकाओं से
निज अग्निल संदेशों को लाते हैं,
जो उन आत्मभृतों से अति विशाल हैं,
जो न दिव्यता से मिलने आते हैं।
जो ऐसा महान् है, बस उसको तो
अरे अकेले बन कर जीना होगा,
पूजित, श्रद्धायित होकर समर्थ इस
एकान्त में विचरना, रमना होगा।
अरे व्यर्थ ही है उसका सारा श्रम
अपने जैसों को पैदा करने का,
उसके भीतर का बस एक 'महाबल'
ही होता केवल सँग-साथी उसका,
बस सावित्री के साथ भी यहां पर
कुछ काल को रहा घटता ऐसा ही,
पूजा, श्रद्धा होती रही ग़जब की
पर रख सका न निज कहकर कोई भी
अपनी स्वर्णिम किरणें बरसाता-सा
उसका मन इक गिरि पर समासीन था,
उसका अंतर हरदम भरापुरा-सा
रहनेवाला आनँद का मंदिर था।
अरे पूर्णता के इक रंगमहरल में
एक अकेला ही दीप जल रहा था,
पावन, दीप्त मूर्ति थी इक मंदिर में
जहां पुजारी, अर्चक का न पता था,
जब तक न वह विधि-विहित वेला आए
अपने में ही अलग बनी जीती थी,
यों प्रेमी संबंधी-जनों से घिरी
मौन, शांत उसकी आत्मा बसती थी।

पर्व ४, सर्ग ३

खोज के लिए : अंतर पुकार

उगी 'उषा' इक, मानो नयी सृष्टि की
जगमगती कोई अग्रिम सीमा हो,
जो एक उच्चतर दिनकर-प्रकाश को,
और सुखीतर एक विशाल-व्योम को
लेकर अपने साथ-साथ आई हो,
द्रव्यों के अविकारी आदि-स्रोत से
इक संवेदन-चल औ' निपट-निराली
सुन्दरता से लदी छटा लाई हो।
एक सनातन, आदि अभीप्सा की बस
नई पौद ज्यों फिर से अँखुआई हो।
और भोर के भव्य वायुमंडल ने
बस अपूर्ण रह गई कामना का फिर
गहरे घूंट कंठ तक पान किया हो।
भ्रमणक पवन के उमगते झोंकों से
ऊंची वृक्ष-अवलियां लगीं लहरने,
यथा हर्ष की मत्त-लहर को छूकर
अंतरात्माएं जग लगें सिहरने।
और हरित-गोपनता के अंतर में,
पातों के जगमग-चंचल झुरमुट से
अपने प्रेम-स्वरों की उसी रटन को
बिना थके दुहराती रहनेवाली
एक गायिका कोयल लगी कूकने।
ऐसे मुहूर्त्त में जब पार्थिव हलचल
में क्षणिक पुकारें, औ' उनके उत्तर
दोनों स्व-प्रवाह को मिला देते हैं,
खड़ा अश्वपति हुआ दूर हट उससे,
सुनने लगा सतत प्रकाश से होकर
आती हुई पार की ध्वनियों को, जो
ऐन्द्रिय श्रवणों के हित हैं अति दुष्कर।
इस जीवन को घेरे रहनेवाले
सूक्ष्म-व्योम में, बस अंतश्चेतन के
समाधि-पिहित द्वार आज खुल गए थे :
और 'प्रकृति' में कर्ण-अगोचर जैसे
स्वर भी आज सुनाई पड़ सकते थे;
चले आ रहे इस आतुर जीवन की
युगयुगीन इन चापों में से होकर
वर्तमान-चिन्ताओं की इस गहरी
अपरिहार्यता को ज्यों भेद-चीरकर
उस 'अकथनीय प्रभु' के प्रति उठती-सी,
वैश्विक 'महाशून्य' के आतुर उर से
भू की निःशब्द ऋचा पड़ी सुनाई।
अजन्म-'सत्ताओं' की दबी पड़ी-सी
वाणी अब कानों को सुन पड़ती थी,
जो द्योतित 'काल' की शलाकाओं के
पीछे से गूँजती सदा रहती थी।
महाशक्तिशाली एक प्रेरणा ने
फिर से था अब निज ज्वाल को उठाया,
जा सकता था नहीं जिसे झुठलाया,-

जो मानव हित एक पूर्ण जीवन को भू पर उतारने की चाह पालती,
जो इस संशयशाली मन के भीतर दृढ़तांकुर के लिए प्रार्थना करती,
जो घायल, संपीड़ित हृदय के लिए उस तमविरहित आनन्द को टेरती,
अज्ञ-जगत् में और जन्म लेने को इक आकारित 'सत्य' को बुलाती है,
अमर बनाने को मर्त्यकारों के, दिव्य-शक्ति का आवाहन करती है।
दूर-सुदूर के विचार-व्योम से फिर कूदी इक वाचा बस नीचे आकर,
पगड़ीधारी इक आदाता-लिपिकर मन के द्वारा भीतर प्रवेश पाकर,
उसके मस्तिष्क के प्रतिध्वनित, गुंजित संपंथों को भिदुराती चली गई
लेखा रखनेवाले मन-कोशों पर अपना मुद्रा-अंकन छोड़ती गई।
"हे 'शक्ति'-विवश और दैव-संचालित, धरा-जात एक नगण्य जातिवालो!
फैले एक 'अनन्त' जगत् में अपने नन्हें साहस-कार्य सँवरनेवालो!
औ' इस वामन-मानवता के भीतर विवश बने से बन्दी रहनेवालो!
अपनी नगण्य सत्ता के चहुंफेरे और तुच्छ द्रव्यों को घेरे-घेरे,
कब तक मन के गोल-गोल चक्कर पर तुम फिरते जाओगे मारे-मारे!
तुम केवल इस जड़ और अपरिवर्ती- लघुता के हित नहीं यहां जन्मे हो,
निष्फल, कोल्हूरढ़नी गतियों के हित केवल यहां नहीं तुम रचे गए हो,
अरे बावरे! तुम तो 'अमर' तत्त्व के द्वारा ही सिरजे औ' गढ़े गए हो।
कर्म तुम्हारे तो सत्य के प्रकाशक- सोपान के चरण-क्रम बन सकते हैं,
और तुम्हारे जीवन विविधता भरे
विकसनशाली बाल-देवताओं के अभिराम दीप्त, सांचे बन सकते हैं।
यहीं एक 'द्रष्टा' औ' सशक्त 'स्रष्टा' अरे तुम्हारे भीतर छिपा हुआ है,
और विशुद्ध, अपंकविद्ध, वह 'शोभा' तव नश्वर-दिवसों पर ध्यानस्थित है,
और 'प्रकृति' के ही कोशों के भीतर सर्वशक्त सारी शक्तियां पिहित हैं।
और तुम्हारे सम्मुख ही महान् वह नियति तुम्हारा इन्तजार करती है:
बस यदि यह भंगुर औ' पार्थिव सत्ता
चाहे तो अपने कर्म को उठाकर
परात्पर की सुविशाल योजना के साथ-साथ ला उसे जोड़ सकती है।
वह जो अपने अज्ञानी नेत्रों से बार-बार इस जग को घूर रहा है,-
जो मुश्किल से ही उठ अब तक अपनी 'अचित्'-महारजनी से जाग सका है;
जो केवल रूपों को देख रहा है और 'सत्य' को पकड़ नहीं पाता है,
वह यदि चाहे तो निज अमर दृष्टि से उनके पूर्ण वृत्त को भर सकता है।
तिस पर भी देवत्व तुम्हारे उर में धीरे-धीरे जगता ही जाएगा,
औ' आत्मा का वातावरण तुम्हारे लिए बराबर खुलता ही जाएगा,
औ' तुम मर्त्य-मनस् की दीवारों का ढहना औ' गिरना महसूस करोगे,
जिसके अभाव में जीवन का अंतर गूंगा था उस संदेश को सुनोगे,

रवि के निहारनेवाली पलकों से अरे प्रकृति के अंतर को देखोगे,
औ' 'शाश्वत' के महाद्वार पर जाकर फिर तुम अपना शंख-निनाद करोगे।
उन्नत भू-रूपांतर के हे स्रष्टा!
खतरनाक आत्मा के आकाशों के
पार उतरने का दुःसाध्य कार्य यह तुमको ही तो सौंपा यहां गया है,
पूर्णरूप से जाग्रत् 'सशक्त'-माँ के
जाज्वल्य स्पर्श को धारण करने के
औ' इस दुर्बल रक्त-मांस के घर में उस 'सर्वशक्त' के दर्शन करने के,
जीवन में सहस्र-कायावाले उस 'एकम्' के जीवन का रस लेने के
हेतु तुम्हें बस नियुक्त किया गया है।

यह पृथिवी जिस पर चलते-फिरते हो, स्वर्ग-तिरोहित पड़ा इक किनारा है,
औ' जीवन यह जिसको तुम जीते हो,
ढक रखता इस प्रकाश को जो तुम हो, अपना रक्खा, नहीं जो तुम्हारा है।
अमर 'शक्तियाँ' तव द्वारों से होकर लपलप करती हुई निकल जाती हैं,
औ' जब विचार-भेरी तुम्हें तुम्हारी
'मैं' के तजने को उकसाती होती
दूर तुम्हारी चेतना-शिखाओं पर देव-ऋचाएं गूंज रही होती हैं,
जिन्हें बहुत थोड़े ही सुन पाते हैं,
औ' उससे भी थोड़े महाभाग हैं जो साहस बांध अभीप्सा करते हैं,
जो हर्षातिरेक के दीवाने हैं, जो अविरत ज्वाला के मदमाते हैं।
आशा और निराशा का एक महा- काव्य 'धरा' के उर को चूर रहा है,
उसके बल और संकल्प का पलड़ा
उसकी विधि औ' आकार को नांघकर उससे नीचे को ही झुका हुआ है।
वह इक देवी है जो अचित् के महा अज्ञ-जाल में पकड़ी, धरी गई है,
मृत्यु-चरागाहों में आत्मबद्ध बन वह जीवन का सपना सपनाती है,
औ' दुख की शूली पर खुद चढ़कर भी नित आनंद के लिए अभीप्साती है,
और निराशा की स्वीय वेदियों की आशा के ही हित रचना करती है।
उसे ज्ञात है कि एक महाचाप ही इस सब कुछ से मुक्त करा सकती है,
हजार दुःख-निराशाएं सहकर भी
वह अपने पुत्रों में महानता के लिए प्रतीक्षा अथक किया करती है।
मानव-अंतर में आरोहण-ज्वाला लेकिन धूमिल बनकर पड़ी हुई है,
और अगोचर-'महिमा' अंतर में ही पड़ी अश्रद्ध, अनर्च्य बनी रहती है।
मानव तो उस 'उन्नततम' सत्ता को सीमित आकार में घेर रखता है,
वह एक 'व्यक्तिता' के दर्शन करता और एक 'नाम' का श्रवण करता है।
फिर नगण्य सिद्धियों हेतु अज्ञानी सत्ताओं की ओर घूम पड़ता है,

औ' अपनी वेदी के सब प्रकाश को असुरों के सम्मुख अर्पित करता है,
अपने दुख का पोषण करनेवाली अज्ञ-बुद्धि को कंठ लगा रखता है।
उसकी शानदार सब सामर्थ्यों को वशीकरण इक आकर छा लेता है।
और विचारों की पथदर्शक अपनी अंतर-वाणी को वह खो देता है,
औ' चेतनात्रयी की भविष्यवक्ता
स्वर्ण-तिपाई को ढक और मूंदकर
अद्‌भुत मंदिर में इक सत्याभासी, भड़कीली मूर्ति प्रतिष्ठित करता है।
फिर उसको इक भारी 'माया' का पट अपनी पर्तों में लपेट लेता है,
बस आत्मा के गभीर संदेशों का यहां आगमन व्यर्थ सिद्ध होता है,
ऋषियों, द्रष्टाओं का इक अटूट-क्रम चला अरे बस निष्फल ही जाता है:
फिर मुनिजन इक झूठे औ' अवास्तविक प्रकाश में हैं अपना ध्यान जमाते,
कवि के भाव बाहरी सपनों को ही हैं निज वाणी के द्वारा प्रकटाते,
गृहहीन अग्नि के कुछ स्फुलिंग, पीरों औ' नबियों को हैं प्रेरित कर जाते।
एक झलझलाती 'स्वर्ग'-ज्योति आती और वहीं फिर लौट चली जाती है,
वह देदीपित 'सहज-दृष्टि' बस आकर हमसे नियराकर वापस जाती है;
'शाश्वतता' कुछ उच्चारण करती है, नहीं समझ में पर वह भाषा आती,
नियति नितान्त, अनिच्छुक बनी हुई है और 'गर्तता' कुछ लेना न चाहती
तथा मनविहीन अचित् के सागर की
लहरें उमड़-घुमड़ सब किए-धरे को आगे बढ़ने से हैं रोके रखतीं।
बस अब तक 'मनस्-चेतना' का यह पट थोड़ा-सा ही ऊपर उठ पाया है।
वह 'पंडित', जो ज्ञानी है सब कुछ का आंशिक एक 'सत्य' ही लख पाया है,
वह जो महाशक्त समझा जाता है, मुश्किल से निम्न-शिखर चढ़ पाया है,
और अभीप्सारत हृदयों को, केवल
ज्वाला में जीने और प्रेम करने को नन्हा ही मुहूर्त्त मिल पाया है,
उसकी गाथा अर्द्ध-गीत है, आवृत- 'चारण' बस हकलाता रह जाता है।
मानव के स्वरूप में देव-जाति का दर्शन मुश्किल से ही हो पाता है।"
लौट गई वाचा निज आकाशों में बस इतने वचनों का उच्चारण कर,
लेकिन इक देवों से प्राप्त हुए-से उत्तर के सम एक ज्योति अगुआई,
सूर्यप्रकाशित आकाशों से होकर जैसे सावित्री अब सम्मुख आई।
गगनस्तंभी वृक्षों की छाया में,
विविधरँगी-जगमगी वेशभूषा में
चली आ रही थी सावित्री जैसे शाश्वत के प्रति अर्पित कि आरती हो,
नैवेद्य और धूप दीप की झिलमिल संवेदन-चल ज्वाल-शिखा जलती हो,
जिसको नभ-छाजित भू-मंदिर-तल पर
खड़ा एक यात्री अपने हाथों पर अदृश्य देवायतन में उठाए हो।

बस एक सत्य-उन्मेषी घटिका का
लखा अश्वपति ने इक गहन-दृष्टि से
जो पार्थिव-काया की मंद-दृष्टि से
उसने अब शोध के विमल-गुम्बद के
प्रकट हुई जग-आनन्द की सूचना,
तृषित देवताओं के अमृत-चषक के

स्वर्णिम अग्नि-सूत्रों से बीने इक
होकर रूपांतरित और अब उसका
मानो एक गहनतर 'दिव्य-प्रकृति' के
पवित्र-जन्मों की क्रम परंपरा को
जग-जीवन में से होकर अभितक्षित
उसका विशाल-भाल निरभ्र औ' अमल
एक अचंचल सित-ध्यान पीठिका था,
चिंतनमग्न-'दिगन्तर' का स्व-कक्ष था
उसकी चिंतन-रेखाएं अनन्तता
अलकावलि के मेघवृन्द के नीचे
'रजनी' के विशाल-पंखों के नीचे
औ' उस स्वर्णिम शशि-मस्तक की विस्तृत
चन्द्रछटा के नीचे एक प्रेम के

जीवन और धरा को आश्चर्य से
देखते हुए कहीं सुदूर-छोर के
एक अमर्त्य अर्थवत्ता से उसके
एक स्वर्ण-कलश की तीव्र रेखा सम,—
पृथिवी की मौन पर मुखर श्रद्धा के
इक छन्दोमय आनँद की सिसकन को
औ' शाश्वत-द्रव्यों की एक पूर्णता
की दिशि जीवित-आकारी सुषमा की
और पिता के अमल-क्रांत-दर्शन में
सावित्री का भंगुर देह-आभरण
और अर्थपूर्ण देव को इक, उसके
सतही दृष्टि और मर्त्य इन्द्रियों में
और देह-गढ़ना की उसकी अद्भुत
गूढ़ार्थ से भरी औ' निपट निराली

था सम्मुख अमूल्य उपहार मिल गया;
जो सब कुछ की व्याख्या कर सकती है,
घिरी हुई औ' सीमित नहीं बनी है,
नीचे देखा सावित्री को ऐसे,—
दैवी 'कलाकार' की अद्भुत रचना,
समान ढाली, गढ़ी हुई इक गढ़ना,
'शाश्वत' के आनन्द-शास्त्र की प्रतिमा,
माधुर्य-पाश की हो अनुपम गरिमा।
आनन स्वर्गिक एक प्रतीक बन गया,
आत्मोन्मीलन का सुठि चिह्न बन गया,
कहनेवाला स्वर्णिम-पृष्ठ बन गया,
महत्वशाली विश्व-प्रतीक बन गया।
आकाशों की इक सुन्दर-अनुकृति था,
संवेदन-चल रक्षा की सुभित्ति था,
औ' उसकी अमला-धवला इक स्मिति था,
के प्रतीक का वक्रिल-चाप बन गईं।
उसके दीर्घ-नेत्र शोभायमान थे,
दो जागृति-प्रहरी आच्छाद्यमान थे,

औ' विचार के सिंधु सरिस शोभित थे,
जो संपूर्ण जगत् को ही साधे थे,

सत्यों पर सहज टकटकी बांधे थे।
मर्त्य-अंग ठसठस कर कसे हुए थे;
स्वर्ग की दिशा में आतुर उठते-से

स्व-भंगिमा-रेखा में भरे हुए थे,

इक पुकार में अभिव्यक्त कर रहे थे।

निरा पारदर्शक था आज बन गया,
सम्मुख था उद्घाटित आज कर दिया।
कभी न आनेवाली मधुर साम्यता,
आकर्षणकारी संगीतात्मकता,
थी इक महाशक्ति की मूर्ति बन गई,

जो अपने अभेद्य अवतरण को यहां
स्व-कार्य के उपयुक्त एक मानव की
जो जीवन के सुसाहसी और विषम

गढ़ी गई इक भव्य देव-प्रतिमा जो
काल-क्षणों के द्रुतवाही प्रवाह पर
ज्यों 'जड़ता' की अद्रि-गुफा में धुंधले

क्षणिक मनस्-मूल्यों का अन्त हो गया,
औ' काया के बोधों ने अब अपनी
दोनों की दृष्टियां मिलीं अब ऐसे
अब वह जीवन के दैनिक संबंधों
बाह्याकारों के छद्मवेश से था
अब परिचित, लालित-पालित अंगों से
होकर उसने पुत्री के मिस जन्मी
तब इक सागर-अंतरदृष्टि से जगे
विचार, एक आशु वाणी सम, जिनको
फिर उन अति विशाल औ' चिंतनमग्ना
'प्रेम' जहां से उसको देख रहा था
लगा बोलने बन अश्वपति प्रभावित

दैवयोग से निकला एक वचन भी
क्योंकि हमारी वाणी की अनुप्रेरक
मानव के अचेत-अधरों के द्वारा
क्षण की मनोवृत्ति के सूत्र-वाक्य में
"अरे शाश्वती की यात्री! हे आत्मा!
तू निज जीवन का एक भव्य-जोखिम

अपने जयकारी चरणों को रखने
औ' ज्योति-चक्र में बन्द चन्द्र अपने
एक शक्तिशाली महान् 'सन्निधि' है
शायद किसी महान् आत्मा के हित
तेरा भाग्य और तेरा कार्य सकल
नीचे आई हुई आत्मा तेरी
अरी प्रेम-सुषमा की अभिजीवित लिपि!

फिर दुहराते हुए अभिनवल ढंग से
समर्थ-रचनाकृति के बीच भर गई,
इक मानचित्र में इस विकसनशीला
जगती की माटी पर आ खड़ी हुई;
विचार की प्राचीर पर प्रतिष्ठित हो,
जो हो रही ऊर्ध्व से प्रतिबिंबित हो,
देव भवन की रचना हुई रुचिर हो,
यथा कन्दरा में तक्षित मंदिर हो।

पार्थिव स्थूल-दृष्टि का त्याग कर दिया,
'अमर' ने अमर को ज्यों भेंट हो लिया।
की जादूई निद्रा से था जागा,
जिसने आत्मा के सत्यों को ढाका,

महान् अनजानी आत्मा को देखा।

निज व्यापकता का भी पता नहीं था।
गभीरताओं की दिशि अभिमुख बनकर
मन-मार्गों के पार से खड़ा सुन्दर,
'चैत्य शिखर' से प्रवहमान वाक्यों में
बनकर इक आधार दिव्य-हाथों में।
जीवन को परिवर्तित कर सकता है।
ये प्रच्छन्न शक्तियां कभी-कभी बस

'विधि' के शब्दों को ला रख देती हैं।

खेने के साहस से सज्जित होकर,
इस 'काल' और 'दैवयोग' के ऊपर
अमर-प्रदेशों से नीचे उतरी है।
तेरी ही विधि सपनाता रहता है।
जो अब भी तेरी रक्षा करती है।
अम्बर तेरी रखवाली करता है,
तुझको कहीं सुदूर में बुलाता है,
नहीं दीप्त यह एकाकी तारा है।

निज स्वर्णिम कौमार्य में किए अंकित जीवन-भर की सुप्रार्थना-पोथी-सम,
स्वर्ग-शक्ति औ' आनँद का जो कुछ भी स्वर्ण संदेसा वहां लिखा है अनुपम,
'शाश्वत' की रवि-अमल-धवल भाषा में
उसे एक दिन कोई खोज पढ़ेगा औ' अपने जीवन को धन्य करेगा,
जिसके सम्मुख सहज-भाव से तेरे अंतर का सब रत्निल-स्रोत खुलेगा।
नीरवता-माणिक-ओष्ठी सावित्री! जिनमें से मृदु-मंद-हास्य झरता है,
जिनमें से प्रशांति-गायन बहता है,
ओ तारा-प्रदीप्त-नयने! इक मीठी विशाल रजनी में हैं जो अभिजाग्रत,
अक्षर-अक्षर सुगठित-कविता-अंगी। स्वर्ण पदों में छन्दित और अभिध्वनित,
कलाविधायक देवों ने है जिनकी वक्ररेख-लयता में सुठि रचना की,
तू जा, जहां प्रतीक्षा में आतुर हैं प्रेम और विधि तेरे सुलावण्य की।
गहन-गभीर जगत् के बीच उतरकर निज साथी के पाने का साहस कर,
क्योंकि धरा के आतुर वक्षस्थल पर,
तेरा अनजाना प्रेमी, अनजानी तुझको पाने हेतु प्रतीक्षा करता,
तेरी अंतरात्मा पूर्ण सज्ज है औ' उस 'केवल' को जो दिपता रहता
अन्तर-निहित शक्तियों में है तेरी,
उसे छोड़कर तुझको किसी दूसरे मार्गप्रदर्शक की दरकार नहीं है।
वह तव द्वितीय आत्मा, जीवन-संगी
जिसको तेरी अंतर-प्रकृति ढूंढ़ती
तेरे पहुंच रहे चापों से मिलने आकृष्ट बना उनके ढिग आएगा,
तेरे पार्थिव-जीवन की समाप्ति तक साथ-साथ रहनेवाला सहकारी,
तुझसे निकट, बंधा तेरे चरणों के सँग-सँग चलनेवाला, अश्रांत-यात्री,
तेरी आत्मा के सबसे अभिन्न औ' अंतरंग तारों को झनकाएगा,
तेरे अंतर में जो मौन पड़ा है, यह वादक उसको वाणी अरपेगा।
तब तू सामंजस्यमयी, संवादी वीणाओं में झंकृत, लरज उठेगी,
वैभिन्य और आनँद की तालों पर 'एक' बनी सी लय में गूंज उठेगी,
तब दिव्यता और समता की तानों पर हुलसती हुई तू नाच उठेगी,
इस प्रकार शाश्वत-संगीत में एक नए स्वरों की दुर्लभ-खोज करेगी।
औ' इस महत् कार्य में एक निगूढ़ा सत्ता तेरी संचालिका बनेगी,
एक महाज्योति और तेरे चहुंमुख होगी, औ' तेरे अंतर में होगी,
एक शक्तिशाली कर में कर डाले
'स्वर्ग' से मिले गूढ़ प्रश्न—जगजीवन, का तू दृढ़ता से अब मुक़ाबिला कर,
औ' इस भीषण छद्मवेशता से जो
महायातना उपजी है उस सबको आज चुनौती दे, तू आगे बढ़कर।
और 'प्रकृति' से उठ आज दिव्यता के उन्नत से उन्नत शिखरों पर चढ़ चल,

आनन्द के मुकुट से मंडित होकर,
फिर आकर उस 'देवत्व' से महत्तर,
यह वह वाणी थी जो आनेवाली
आकर 'महिमा' से पूरित इक कर ने

जिनके करने को ही उसके भीतर
जैसे जब 'योग' के कर्ण-कुहरों में
अंधे मस्तिष्क को झंझोरता हुआ
औ' उसके अज्ञान-मंद-कोशों में
सुननेवाला पहले फ़क़त शब्द के
औ' विचार के इंगित पर ही पहले
वह श्रमकर्त्ता मन के द्वारा अपने
फिर भी ज्योतित इंगित-भर पाता है
फिर पूर्ण रूप से जानने, समझने

तू आजमा सुरों के सब बल-कौशल,
अपनी कालातीता आत्मा से मिल।"
बस सारी गाथा का बीज बन गई।
उसके उर के बन्द-कपाट उघारे,
और दिखाए महाकार्य वे न्यारे,
जनमी है शक्ति लिए संबल सारे।
आकर कोई मंत्र समा जाता है,
उसका सँदेश प्रवेश पा जाता है,
अपना गुंजन छोड़ चला जाता है;
बाह्य रूप को ही पकड़े चलता है,
ध्यान जमाता और मनन करता है;
उसको पढ़ने का प्रयत्न करता है,
अंतर-सत्य नहीं पकड़े मिलता है;
के हित नीरवता में स्थित होता है,
गभीरतर अंतःश्रुति से मिलता है:
'शब्द' का लयित स्वर पुनः गूंजता है:

फिर अंतर्दृष्टि, विचार औ' भावना
इन्द्रिय-स्पर्शन और शरीर-आत्मा,-
उसका सब कुछ हिले-डुले बिन जड़-सा
इक आनन्द-वेग उनमें भर जाता
अनुभव इक 'विशालता' को पाता है
सारा ज्ञान उमड़कर उसके उर में
अमल-धवल अध्यात्म-किरण के द्वारा
होकर रूपांतरित शांति औ' आनँद
सम्मुख प्रकटा 'प्रभु'-आनन लखता है
सावित्री के भीतर भी ऐसी ही
इस परिचित दृश्य और जीवन की इक
नव-नव उंचाइयों औ' परी-इंगितों
औ' अपनी परिचित शक्तियों बीच वह
अब उन विशालताओं के प्रति जिनसे
अनजाने माधुर्यों के प्रति उसका
औ' अदृष्ट जगत् के रहस्यों का इक
ऊषा का डोला एक मुसकराते
नभ की नीलाभ-समाधि की शिखा से
फेंका जाकर दिवस यहां संध्या की

पकड़ा, धरा ग्रसा-सा रह जाता है,
एक अमर-परिवर्तन छा जाता है,
औ' इक महा'शक्ति' को अपनाता है,
एक सिंधु के सरिस दौड़ जाता है:

के स्वर्गों में वह अविरत रमता है,
औ' परात्पर वाचा को सुनता है:
इक महानता हुई आज बीजित थी,
परिसमाप्ति की वेला आ पहुंची थी।
के स्पर्श से आज वह विसुध बनी थी,
ध्यानमग्न मुद्रा में टहल रही सी,
अभी न परिचित थी वह घूम पड़ी थी,
उर आकर्षित बना हिलोर रहा था,
गुर जैसे उसके पास आ गया था।
मध्याह्न-गगन के ऊपर पहुंचा था,

जलती स्वर्णिमता में आ डूबा था,

औ' नभ-सागर पर शशि तैर रहा था
ज्यों अनाथ इक दीप्त-कोश तिरता हो
एक स्वप्न की धूमिल रेखा पर जा वह भी अब अपना अस्त पा गया था।
औ' निशि ने शाश्वतता-प्रहरी तारों को अपने एकाकी जला धरा था।
पीछे सब कुछ मन की गहन-गुफा के भीतर जाकर ज्यों लुप्त हो गया था।
और स्वर्ग-विहगी के पंखों पर अब अंधकार था एक यथा झुक आया,
बाह्य-बोध को कुछ भी न देख सकने के हित जैसे मुद्रांकन करवाया,
औ' निद्रा की विशाल गहराई को इक अविरतता से सम्मुख खुलवाया।

बस फिर जब 'रजनी' के छायिक पहरे
के भीतर से हो पीली ऊषा का डोला धीरे धीरे ऊपर आया,
तब सावित्री के प्रफुल्ल आनन की इच्छा करना ही व्यर्थ हो गया था,
राजमहल अब सूना पड़ा हुआ था;
औ' अब उसके प्रतिदिन के आनँद का राजा दूर महल से चला गया था
उसके चमचम तल को नहीं स्व-चंचल शशि-किरणी पग से रंजित करता था,
हरण हो गई सुषमा और दिव्यता उसका शोभा-आकर उजड़ गया था।
औ' वह आनँद तो अब विशाल जग में किसी महान् खोज को उतर चुका था।

पर्व ४, सर्ग ४

खोज

आज जगत् के सारे मार्ग अदेखे सावित्री के सम्मुख खुले पड़े थे,
पहले तो जग के जगमग दृश्यों ने
अपने एक निरालेपन से उसके मन को आकर्षित कर पूर दिया था,
औ' उसकी काया की बाह्य-दृष्टि को अपनी मोहिनियों से मोह लिया था।
पर जैसे-जैसे वह चित्र-विचित्रित धरती पर थी आगे बढ़ती जाती,
वैसे-वैसे गहरी एक चेतना उसके अंतर से थी जगती आती,
जो अनगिन दृश्यों और प्रदेशों की नगर-निवासी बन पूर्व, रह चुकी थी,
औ' प्रत्येक क्षेत्र में और देश में जो अपना घर बनवा कभी चुकी थी,
बस वह उन सारी जातियों, प्राणियों को अपनाती रही हृदय में तब तक,
सारे जग-जीवन की भावी को निज भावी बना न डाले अब वह जब तक,
और मार्ग में आनेवाले सारे देश-विदेश जो अजाने से ही थे,
वे सब अंतर-परिचित ही थे, उसके सूक्ष्म-बोध के और पड़ोसी ही थे,
सब प्राकृतिक दृश्य यों गुजर रहे थे
यथा कभी पहले के देखे, बिसरे,— क्षेत्र सामने से गुजरे जाते हों,
शहरों, नदियों को औ' मैदानों को
उसके चख अब ऐसे देख रहे थे
जैसे द्रव्यों को सामने देखकर धीरे-धीरे स्मृति जगती आती हो,
औ' छिटके तारे ऐसे लगते थे,— उसके पिछले तेजस्वी साथी हों,
पवन गुनगुनाता ऐसा आता था
जैसे वह कोई प्राचीन वस्तुओं की याद-सी धराता इठलाता हो,
और बहुत कितने अनाम साथी थे जिन्हें प्यार उसके एकदा सुलभ थे,
यह सब कुछ तो बीते व्यक्तित्वों के उसके भूले-बिसरे एक अंश थे।
कभी-कभी अस्पष्ट कभी ज्वाला-लौ से इक इंगित को सहसा झलकाते,
उसके कार्य विगत की एक शक्ति की परंपरा की ही थे याद दिलाते,
यहां तक कि उसकी इस यात्रा का भी उद्देश्य अजाना औ' नया नहीं था,
बस पूर्व सुनिश्चित महान् घटना का
यह यात्री , अब निज सुधियाती साक्षी- आत्मा के सम्मुख ऐसा लगता था,—
अक्सर चली हुई अपनी यात्रा पर कोई यात्री फिर से निकल हो पड़ा।

उसके गूंगे औ' गतिरत चक्रों का जैसे कोई संचालन करता था,
औ' उनकी उस वेगवती काया की
उत्सुकता के साथ-साथ ही जैसे
अस्पष्ट, छद्मवेशी औ' आवृत बन सुर-समाज इक आरोहण करता था,–
जो मानव में चुपचाप अचलपन से उसके जन्मकाल से जुड़े हुए हैं,
जो उसके अंतर का और बाह्य का दोनों का स्व-धर्म धारण करते हैं,
एक साथ ही वे उसकी आत्मा के संकल्प के एक प्रतिनिधि होते हैं,
औ' उसकी विधि के साक्षी होते हैं औ' उसका संपादन भी करते हैं।
अपने सौंपे हुए महान्-कार्य को विश्वास-अडिगता से पालन करते,
मनुज-प्रकृति की औ' क्रम-परंपरा को वे अपनी निगरानी में हैं रखते,
पूर्व-जीवनों के सूत्र को अखण्डित वे निज हाथों से पकड़े रहते हैं।
उसकी भावी की तौली-नापी-सी गति की वे खुद देख-भाल करते हैं,
उसने जिन आनंदों को जीता है,
औ' जिन दुःखों को उसने न्यौता है, उनकी ओर उसे प्रेरित करते हैं।
उसके साधारण-से उठे चरण के भीतर भी निज दखल दिए रहते हैं।
बस फिर हम सब जो कुछ भी करते हैं
जो कुछ भी सोचते और मथते हैं कुछ भी व्यर्थ और शून्य-भर नहीं है,
प्रत्येक कार्य छूटी एक शक्ति है, जो कस कर अपने पथ को पकड़े है,
अरे हमारे अमर्त्य भूतकाल के वे इक छायावी-धारणकर्ता हैं,
जो कि नियति के नाम पर हमारे ही कर्मों के शिशु की रचना करते हैं,
औ' संकल्प-शक्ति से जोती-बोई
अपनी रची, सँवारी इन लीकों से
अपने भूले-बिसरे कर्मों के ही फल हैं, जिनको हम काटा करते हैं।
बस जब तक इस फल को धारण करने वाला वृक्ष अदृष्ट बना है हमसे,
जब तक हम जीते हैं वर्तमान में,– जो उत्पन्न हुआ है भूतकाल से,
तब तक भू के नियम औ' विधानों से

बँधे हुए अपने इस यांत्रिक मन को
वे सब इन अपनी आंखों के सम्मुख इक यांत्रिक 'शक्ति' के अंश लगते हैं।
फिर भी वे 'परात्पर सुसंकल्प' के एक अनोखे माध्यम ही होते हैं;
सर्वनिरीक्षक एक प्रशांत 'नेत्र' के द्वारा ऊपर से रक्षित रहते हैं ।
जो 'विधि' 'दैवयोग' का एक पूर्वविद्
शिल्पी है, जो पूर्वदृष्ट नक्शों पर जग-जीवनों को सिरजता, गढ़ता है;
वह सब कुछ के अर्थों का ज्ञाता है, वह प्रति पग का परिणाम जानता है,
और लड़खड़ाती निम्न शक्तियों पर पूरी-पूरी निगरानी रखता है।
बस अपनी उन नीरव ऊँचाइयों पर

सावित्री अपने भीतर भी जैसे
जो उसके मस्तक ऊपर सुप्रतिष्ठित
जिसने कि ध्येय को सीधे देखा था,
जिसने सदुपयोग उसकी काया का
विचलित रहनेवाले चख अब थिर बन
और हाथ जो रासों को साधे थे
यह सब जो कुछ अब हो रहा था, उसी
एक अचूक 'पथ-प्रदर्शक' के द्वारा
इस प्रकार वह विस्तृत दुपहरियों औ'
जगमगती संध्याओं में से होकर
कहीं 'प्रकृति' औ' कहीं मानवाकारों

अब अंतरतम से संचालित होकर
ज्योतित हृदय-गुफा में मौन बनी-सी
द्योतित दिन के ऊपर एक चमकते
प्रारंभ में महान् यात्रा उसकी

मानव के कोलाहलपूर्ण कर्म के
उसके तक्षित रथ के चित्र-विचित्रित

विविध चित्र और मूर्तियों से सज्जित
और स्वप्न को तक्षित कर साकारी
औ' नीलकांत-नभ के नीचे लटके
शस्त्रित बने प्रहरियों से अभिरक्षित
उच्चस्तंभोंवाले सभा-निकेतों

बढ़ लघु देवालयों से, जहां एकल
औ' परितक्षित महामंदिरों से हो,–

अक्सर स्वर्णिम संध्याओं से लेकर
रजतमयी झलमलती ऊषाओं तक,
जहां भित्तिचित्रों पर रत्न-दीपकों
जालीदार पाहनी भवन-भित्तियां
औ' कान लगा सुनती उस अलसमना

एक 'महासन्निधि' से जागरूक थी,
सिंहासन पर आसीना रहती थी,
प्रति विधि-निर्णायक रेख को चुना था,
इक पीठस्थान के समान किया था;
मार्ग-प्रदर्शक गगन-मशाल बन गए,
उसके चेतन-करण विशाल बन गए;
प्राचीन योजना का संपादन था,
किया गया बस एक मार्गदर्शन था।

निज पथ पर गुजरती चली जाती थी,
से मिलती और भेंटती, बढ़ती थी,
जग की अगिन-वाणियों को सुनती थी।
लंबे पथ पर बढ़ती चली जा रही,

मेघ खण्ड सम तिरती चली जा रही।
घने जनपदों में हो, शुरू हुई थी;
बस राज्यों की सिंह-दृष्टि में होकर,
महा-क्षेत्र के ठीक बीच में धंसकर,
चक्र, मुखर हाटों से चले गुजरते,
प्रहरी-बुर्जों, दुर्गों से हो बढ़ते
प्राचीन महाद्वारों में प्रवेश कर,
कर लेनेवाले गोपुर से होकर,
अभिराम उपवनों के बीच चीरते,

के सम्मुख से एक मधुर-स्वन करते,
जाते थे निज निश्चित पथ पर बढ़ते,
मूर्ति मनुज-जीवन को निरख रही थी,
जहां कि मानो निष्कासित सुरगण थे
खोई शाश्वतता की नकल कर रहे,–
वहां चक्रगति श्रमहीन बढ़ रही थी।

की ज्वालाएँ झिलमिल झिलमिल करतीं,
चन्द्रदीप्त डालों को घूर रही थीं,
रजनी के विषय में अर्द्धजाग्रत-सी,

राजाओं-महराजाओं के निद्रित महलों में कुछ क्षण को विश्रमती-सी,
निद्रा के दो तटों मध्य सावित्री अस्पष्ट बनी हो अग्रसर रही थी।
ग्राम और पुरवे उस विधित यान को सम्मुख से बस जाते निरख रहे थे,
जीवन के अधिवास अचानक अपनी रथ से जुती भूमि पर ललक झुक पड़े,
अपने बहे जा रहे क्षणिक दिनों के आधार के लिए वे यथा हों बढ़े;
वही क्षणिक जीवन जो अरे पुरातन आवर्तन को निज कायम रखता है,
और गगन के महावृत्त के भीतर
जो इस श्रमरत मर्त्य जगत् के ऊपर
अविकारी और अपरिवर्ती रहता, उसके नीचे बदले बिन चलता है।
इस विचार-प्राणी की बोझिल घड़ियों से अब वह जैसे दूर आ चुकी थी,
औ' अब किन्हीं मुक्त और शोकविरहित- से आकाशों की दिशि घूम पड़ी थी,
जो कि अभीतक मानव के उल्लासों और भयों से विचलित नहीं बने थे,
उनमें उसके रथचक्र बढ़ रहे थे।
यह थल था कि जहां पर आदि-धरा की निज भोली बाल्यावस्था बीती थी,
जहां सुविशाल, प्रसन्न और शांतिमय कालातीत ध्यानमयता छाई थी,
और अभी तक जीव जहां पर सारे चिंता के भारों से मुक्त बने थे,
शाश्वत बीज वपनकर्ता के जैसे ये अपने फैले शाही प्रदेश थे,
लहराते तृण-प्रदेश यथा सूर्य के प्रकाश में निज पलकें मार रहे थे,
या तो अरण्य की हरित ध्यानिता में कर्कशमस्तकीय और पर्वतों में,
कुंजों से आते मधु-ममाखियों के प्रचण्डरवोय उठते गुंजारों में,
या तो रजतिम स्रोतों की हरहर में, मानों अपने सपनों के भीतर से
आशा प्रसार पाती जाती हो, यों स्वर्णिम कन्या का रथ भाग रहा था।
अब मानव विरहित विशाल औ' विस्तृत
पूर्वेतिहास के उस भूतकाल से भूले-बिसरे मार्गों की गत स्मृतियां,
गणनारहित काल की चिह्नावलियां
फिरने लगीं मनस्-पट पर आ-आकर
औ' आदि-प्रदेश के प्रशांत राज्य पर सहज-समर्पित बने प्रकाश-क्षेत्र में
उस थल के हित नितान्त अनभ्यस्त-सी अश्वों की टापों का श्रवण था किया,
जग की छूत-छात से विमुक्त, विस्तृत आपस में उलझी नीरवताओं ने
सावित्री को अपनी जगमग, मरकत रहस्यमयताओं में था डुबा लिया,
और कल्पना-नन्दन के जादूई मंद-मूक, कुसुमित-फुल्लित जालों ने
उसके चक्रों को रंगों के मोहक वातावरणों के पाश में कस दिया।
इन एकाकी पंथों पर सशक्त औ'
कर्कश, हठी 'काल' की भीषण चापें मंद पड़ गईं, कोमल और बन गईं,
और सर्वनाशी अपने चक्रों को औ' आसुरी डगों को भूल थीं गईं।

अंतर-श्रवणशक्ति जो एकान्तों को सुनने की अद्भुत क्षमता है रखती,
वह निर्बाध रूप से आत्मानंद में पगी हुई, झुककर औ' कान लगाकर
निःशब्द 'विचारों' की गुह्य, गहनतर

लय को ध्याननिमग्ना बनी सुन सकी,
जो जीवन-हलचल के पीछे नीरव तल में एकत्रित होती है रहती,
और धरा की मंद, मधुर अनुच्चरित
वाचा अब निज रवि-चुंबित समाधि के महान् रागावेगों को ले-लेकर
सतत अभीप्साकुल निज मंद्र-स्वरों में ऊपर के लोकों में सतत चढ़ गई।
आवश्यकताओं के कोलाहलमय भद्दे, नीरस स्वरों से दूर जाकर,
एक सर्वदर्शी मानव-मन अब निज चंचलता से शांत और थिर होकर,
स्वीय अंध, अज्ञानी संकल्पों की क्षुद्र बहिर्मुखता से विराम पाकर
भू के मूक सहिष्णु-प्रेम के विस्तृत आलिंगन का अनुभव कर सकता था,
जहां श्रांति का कोई पता नहीं था,
और एक चेतना का, कि जो रूपों की जननी है, परिचय पा सकता था।
और मनुज-आत्मा जो स्पर्शबोध के बीच लड़खड़ाती बढ़ती चलती है,
और जीव यह काल के उलूखल में जिसकी गति पिसती-घिसती बढ़ती है,
यह अब पृथिवी पर मुक्ति के सुविस्तृत शांत प्रदेशों की खोज कर सका था।
और समय था यह जब जग-चिंताओं, शंकाओं का शिकार नहीं बना था।
औ' धरती माता ने अभी हमारी
हमारे लिए निज छाती के भीतर तपःपूत अपने कठोर क्षेत्रों को,
अपनी ध्याननिमग्न गहनताओं को,
एकाकी और प्रेरणामय अपने व्यक्तयविकार-रहित विशाल देशों को,
आनंद-अभिसार की महत्ताओं को, हमारे लिए अभी छिपा रक्खा था।
वह कविता-ओष्ठी स्व-प्रतीक-रहस्यों को लोरी गा-गाकर सुला रही थी,
निज आनंदमय-पर्वत-पयोधरों के मध्य प्रतिष्ठित घाटी की दरियों पर,
घटनेवाले पूतदृष्टि-संस्कारों पर अपना दृढ़-संरक्षण रखती थी,
और उषा की ज्वलंत ज्वालाओं हित उच्च पर्वतों की पूत वेदियों पर,
सिंधु जहां विश्राम-मग्न हैं ऐसे आनन्द-विहार के मत्त पुलिनों पर,
औ' अपने भविष्यवक्ता सुअरण्यों के भीषण औ' विशाल सामगान पर,
सारे फैले पावन विधि-विधान पर पूरी पूरी निगरानी रखती थी।
ऐकान्तिक-विराम के वहां क्षेत्र थे
प्रकाश-आश्लेष में कसे हों ऐसे शांत औ' सुखी समतल महादेश थे,
भोले पक्षि-कलरवों में एकाकी रंग-बिरंगे पुष्पों की आभा थी,
शशि से ज्योतित बनी जहां विस्मय की भीषण वीरानियां अगम छाई थीं,
तपःपूत धुंधली ऋषि-संध्याएं, जो जगर-मगर तारों बीच कर रही थीं,

औ' अनाप निशि की अनन्तताओं के भीतर इक धुंधली गति सचर रही थी।
जहां कि अपने 'स्रष्टा' की आंखों में
हर्ष-भरी औ' भव्य प्रकृति माता ने
पृथिवी के इस निगुह्य वक्षस्थल में 'प्रभु' के साथ एकता अनुभव की थी,
आवृत-'प्रकाश' के सँग और आज भी इक संबंध-सूत्रता स्थापित की थी,
परालोकवासी 'शाश्वतता' के सँग अब भी स्वसंपर्कता क़ायम की थी,
पर अपनी विशद शान्ति में होते इस
सम्पर्क में भाग लेने हित उसने
अत्यन्त अल्प औ' उपयुक्त वासियों को ही बस आमंत्रित वहां किया था,
जहां उच्चता, विशालताओं में ही उनका अपना स्वाभाविक निवास था।
बड़े शक्तिशाली नृप-योगी आकर निज जीवन-कार्य-श्रमों को समाप्त कर,
अपने कर्तव्यों की शूरवीरता के बोझिल भारों से विमुक्त होकर,
इन वन्य प्रदेशों में उसकी गहना शान्त-संसदों में थे हुए उपस्थित;
जीवन की कशमकश समाप्त हुई थी, फैला विश्राम, चैन ही था विस्तृत।
वे अब पशु-पक्षी औ' फूलों के सँग एक बने सुख से दिन बिता रहे थे,
छहरे सूर्यप्रकाश और पातों की सरसर में अब आनँद मना रहे थे,
कभी रात्रि में कानन की द्रुत, भ्रमणक पवनों का प्रेरक-रव सुनते रहते,
कभी सितारों की अविचल-पातों के साथ ध्यान में अभिमग्न बने रहते,
और प्रभातों में यों शोभित होते ज्यों निरभ्र नभ-तम्बू में हों बसते,
मध्याह्नों की प्रताप-गरिमाओं से एकात्म बने जीवन यापन करते।
और अन्य कुछ गहरे डूब गए थे; जीवन की बाह्य जकड़नों से छुटकर,
अग्निल-एकान्त का इशारा पाकर,
निज आत्मा की निगुह्य औ' अनाक्रमित ताराश्वेत गुफा में उतर गए थे,
इक अक्षत 'आनँद' बीच बस गए थे,
निज हर्षमत्तता में और शान्ति में सुन गंभीर एक 'वाक्' को रहे थे,
लख सर्वप्रकाशक 'ज्योति' को रहे थे।
कालजात सब विभिन्नता, मतभेदों पर एक विजय अब प्राप्त कर चुके थे;
जगरूपी पट उनके अंतर के ही सूत्रों से बस जैसे बुना गया था,
वे उस अंतर से आकृष्ट बने थे जो सकल अंतरों में धड़क रहा था,
और एक निःसीम प्रेम के द्वारा एकात्मता को यहां प्राप्त किया था।
'नीरवता' में अपना राग मिलाकर,
औ' जग-तुक के सँग निज तुक बैठाकर,
बन्दी बने हुए इस परवश मन की सकल बंधी गांठों को खोल दिया था,
दुख-अविचल उस विशाल साक्षि-दृष्टि की अनुभूति को उन्होंने प्राप्त किया था,
और 'प्रकृति' के आध्यात्मिक महान् उस नेत्र को आज निर्मुद्र कर लिया था।

उनकी दैनिक साधारण स्थिति को भी
उन्नत से उन्नत उंचाइयों ऊपर
चढ़ने का अब अभ्यास हो गया था:
औ' 'ऋत' परमातिपरम स्वीय क्षेत्र से
नीचे आ उनके पास झुक गया था।
और शाश्वती के निगुह्य रवि तपने
आज लगे थे उनके ठीक शीश पर।
अनिकेत औ' अनामी रूक्ष, तापसी
सकल क्रिया, इच्छा औ' वाचा तजकर,
एकाकीपन में आत्मलीन होकर

सब जीवों से अलग बने बैठे थे;
आत्मा की उन प्रशांत-उंचाइयों पर,
और ध्यान की ज्योतित वाचाहीना
उच्च शिखाओं पर वे अक्षत बनकर
ये सब कुछ के त्यागी औ' संन्यासी
सिर पर रूखे जटाजूट को धारे,
रागावेग-विहीन और पर्वत-सम,
जिनसे रहते घिरे कि साँझ-सकारे,
वे जगनग्न बने औ' सर्वस वारे

हुए वहां एकत्रित थे, ज्यों विस्तृत-
विराट्-मनोदशावाले विचार हों,
जो निज सत्ता के समाप्त करने को
'अनन्तता' की आज्ञा जोह रहे हों।
और वहां द्रष्टा थे, जो उस वैश्विक
'संकल्प' से एक होकर बसते थे,
जो इन रूपों, आकारों के पीछे--
से मुस्कानेवाले सर्वव्यापी
उस 'प्रभु' से ही तुष्ट बने रहते थे,
वे दिवसों के आग्रह और हठों से
विचलित हुए बिना ध्यान में लगे थे,
और पर्वतों को चारों दिशि से ज्यों
हरे-भरे पादप-तरु घेरे रहते,
उसी भांति तरुण और जिज्ञासाकुल
शिष्य-समूह उन्हें घेरे थे बसते,
उनके स्पर्शों से विकसते-सँवरते

सीधे, ऋजु-कार्यों की शिक्षा पाकर
औ' चेतन-वाणी का सुअभ्यास कर
अंतर में महान् बन, विकसित होकर
उनकी उंचाइयों को परस रहे थे।
'शाश्वत'-पथ के दूर-सुदूर रमन्ता,
सत्-जिज्ञासा हित सब-अर्पणकर्ता

इस शान्ति के स्रोत और एकान्त में
निज उन्नत आत्मपिपासा को लाए,
औ' इक नीरव क्षण के भव्य कोष के
उपभोग के महाआनंद थे पाए,
औ' एक चारु कोमल दृष्टिपात के
पवित्र वातावरणों बीच नहाए,
जो अनाग्रही था, औ' स्वीय शान्ति से
करता रहता शासन उनके ऊपर,
औ' जिसके प्रभाव से प्राप्त कर लिए
मार्ग शान्ति के सुन्दर और स्वास्थ्यकर।
औ' सारी दुनिया भर के महानतम
एकाधिपत्य के लघु 'राजकुँवर' ये,
भावी के धीर-वीर नेतावर ये,

ये राजपुत्र उस विशाल औ' विस्तृत
वातावरण मध्य पोषण पाते थे,
सिंहों के समान नभ के नीचे औ'
सूर्यज्योति में केलिमग्न रहते थे,
औ' इस अर्द्धचेतनावस्था में ही
देव-तुल्य मुद्रा धारण करते थे:

जिन भव्य और ऊंचे आदर्शों को गानमत्त होकर गाया करते थे,
उनमें ही जीवन ढलते रहते थे,
जिसमें मनोवृत्ति की एक विशाला उदात्तता को अपनाते चलते थे,
जो मानव को उन्नत उठवाती है,
औ' वैश्विक प्रेरणा, कामना के सँग उनको भी सहयोगी बनवाती है,
अब वे अपने नन्हें और विभाजित, सीमित, व्यक्तित्व-बंधनों से छुटकर,
औ' उस शाश्वत कर के नीचे पलकर, दृढ़ रहकर भी नमनीयता ग्रहण कर,
आज 'प्रकृति' के सँग अंतर-साहस भर, एक मित्रता में पगकर भेंटे थे,
औ' उसकी अंतरवासिनी 'शक्ति' जो
उसके कार्यों को सब गति देती है, उसकी सेवा में अभिनिरत बने थे।
सब कुछ के सँग वे एकात्म बने से निज संकीर्ण वृत्त से मुक्ति प्राप्त कर
समता के इक अनासक्त आनँद में
उष्ण रविप्रकाश में खुले विशाल इक महाद्वीप के समान विस्तृत बनकर,
ये ज्ञानी महात्मा वस्तु-वस्तु में
निहित 'भगवदानँद' के महान् रस का श्वास-श्वास में कर उपभोग रहे थे।
और देवताओं के मंद अवतरण में निज यत्नों से सहाय पहुंचाते,
अमर महान् विचारों का औ' अपने नन्हें तरुण-उरों में वपन कराते,
वे निर्द्वन्द्व बने थे दिवस बिताते,
औ' 'आदि-सत्य' की शिक्षा देते थे,
जिस तक तो मनुष्य को उठना ही है,
या तो कुछ थोड़े जिज्ञासु जनों हित महामुक्ति के शुभ द्वार खोलते थे,
इस प्रकार उस दुष्कर 'प्रकाश' को इस संघर्षरत धरा पर बांट रहे से,
स्वयं 'काल' के मंद जुए से छूटी आत्माओं के समान ही जीते थे।
वैश्विक 'महाशक्ति' के वे साथी थे, आधार-सम उसे धारण करते थे,
सूर्य की तरह नैसर्गिक प्रभुत्व का उसके, मुक्त प्रयोग किया करते थे
क्या अपनी वाणी औ' क्या नीरवता! दोनों से भू-सहायता करते थे।
उनके स्पर्श मात्र से इक जादूई सुख का झरना बस झर-झर बहता था
और उस तपोवन की महाशक्ति में परम एकता का साम्राज्य व्याप्त था,
कानन के पशु भी अपने शिकार के प्रति मैत्री का स्नेह-भाव रखते थे,
और एक माता की छाती से झर बहता जो प्रेम वहां पर रहता था
उसने उनके हृदयों के द्वारा बह
जड़ सी पड़ी हुई घायल धरती के सारे दर्द तथा घाव भर दिए थे।
और दूसरे थे जो विचार-जेलों से भाग समुन्नत बन निकल गए थे,
जहां कि 'मन' निश्चल बन सो जाता है
'प्रकाश' के जन्म की बाट लखता है,

वहां से लिए एक अनाम-'वेग' वे स्फुरते और सिहरते लौट रहे थे,
तन के कोष-कोष इक बिज्जु-स्पर्श की मादक मदिरा से माते लगते थे।
औ' उनकी वाणी में सहजज्ञान इक कूदता-उछलता था चला आ रहा।
स्वर्गों को भी ढक रखनेवाली उस सूक्ष्म गिरा को निज श्रुति से सुनते से,
सूर्यों को भी ज्योतित करनेवाली महान महिमा को धारण करते से,
वे इन गतिरत लोकों को प्रतिबिंबित
कर देनेवाले छंदों, रागों में 'अनन्तता' के मृदु नाम जप रहे थे,
अमर शक्तियों का भजन कर रहे थे,

और दृष्टि की नाद-लहरियाँ जैसे
अंतरात्मा की भव्य अतलता से फूट-फूटकर ऊपर उमड़ रही थीं।
कुछ थे, निर्वैयक्तिक 'महाशक्ति' के
अविचल एक सिंधु में स्व व्यक्तित्व को और विचारों को अविराम डुबाकर
अति विशाल औ' विस्तृत बने हुए-से 'अनन्त' 'प्रकाश' के दर्शन करते थे,
और सतत 'संकल्प' के सहज साथी,
जो भूत औ' भविष्यत् में सब फैली 'काल'-योजना के सूक्ष्म निरीक्षक थे।
औ' कुछ ऐसे भी थे जो विहगों-सम
इक वैश्विक सागर से ऊपर उठकर दीप्त अरूप-'बृहत्' में लीन हुए थे:
कुछ थे जो नीरव औ' मौन बने से इस वैश्विक नर्तन को देख रहे थे,
या जग-उदासीनता को धारण कर जग को निज सहायता अरप रहे थे।
कुछ एकाकी-'आत्मा' में सुलीन थे और नहीं अब कुछ भी देख रहे थे,
औ' उस समाधि में जिससे न लौटकर कोई भी आता है, डूब गए थे,
जग की सकल गुह्य धाराएं उनके लिए सदा को अब बन्द हो गई थीं,
जन्म और व्यक्तित्व ग्रहण की सारी परंपराएँ उनसे छूट गई थीं
औ' कुछ थे जो निसंग एकाकी ही 'अकथनीय' के गृह में पहुंच गए थे।

जैसे सूर्य-किरण परछाईं में से चली खिसकती आती है उमगाई,
निज रथ पर आसीन स्वर्ण-कन्या वह
उसी भांति उस अविचल, शांत-ध्यान के पीठस्थान पर सरकती सी आई।
औ' अब वहां पहुंचकर सावित्री ने उसी भांति से तपोवनी कुंजों के
शांत-स्निग्ध वातावरण में प्रविशकर
फैली क्षीर-शांत ध्यानमग्नता औ' उत्साह प्रेरणापूर्ण प्रार्थना के
सुखद आवरण को बस ओढ़ लिया था,
और ठहरकर कुछ विश्राम किया था,
जैसे कोलाहलपूर्ण दिन क्षितिज पर जब नीचे जा कहीं डूब जाता है,
संध्या में तब अक्सर लौटते हुए

गो-समूह से उठी धूलि के द्वारा
रजपट से और ढक दिया जाता है।
या सिंह गर्जना करती पीताभा
अयालियोंवाली सरिता के तट पर
तथा प्रार्थनारत-कूल पर संवारे
पूजानत वृक्षों के निकट बुलाकर
नभगुंबदीय, देवालयी सुपावन-
विश्रांति की प्रहर्षित मनोदशा ने
उसके भाग रहे चक्रों को कुछ क्षण
विश्राम के लिए संकेत किया हो।
औ' पुण्य-स्थल की उस गभीरता में
जो आदि मौनताओं को सुधियाती,
इक मानस जैसी प्रतीत होती हो,
जहां हृदय में भूली भूतकाल की
महत् वाणियां आवाहित करती हों
औ' ध्याननिष्ठ महान् द्रष्टाओं की
विस्तृत स्वतंत्रता ने शुचि-आत्मा के
दर्शन की इक अमिट छाप छोड़ी हो,
जो इस थल की निरभ्र ऊषाओं की
और चन्द्रिका-स्नात अंधकारों की
इक सुशान्ति में सदा जगी रहती हो,
ऐसे स्थल के नीरव स्पर्शों ने अब
'अर्चिस्'-पुत्री को आकृष्ट किया था,
औ' उस मौन महामहिमा-आभा को
उसने प्रशान्त पलकों बीच पिया था
औ' शाश्वत-प्रशान्ति के साथ एकता
का इक अनुपम अनुभव प्राप्त किया था।
पर शीघ्र ही प्रात ने आकर उसकी
सतत-खोज से उसे सभान बनाया,
झट ग्रामीण-तल्प औ' तृण-शैय्या को
त्याग अधूरे पथ पर प्रेरित होकर
उसने रथ-चक्रों को पुनः घुमाया,
औ' जीवन के अपने भाग्यचक्र पर
वशीभूत बन अपना चरण बढ़ाया,
यथा कामना इक नीरव देवों के
सम्मुख पहले तो इक प्रश्न उठाए,
फिर तारे के समान इक अभिज्योतित
'परालोक' में चुपचाप उतर जाए।
और वहां से चलकर वह एकाकी
मार्गों की दिशि अब अग्रसर हुई थी,
जहां मानवी हलचल की दिशि जाता
मानव एक मार्ग का पथिक मात्र था,
या कि 'प्रकृति'-विशालता में एकाकी
संघर्षरत बना जीता रहता था
औ' सहाय के लिए अदृश्य-आत्मिक
'सत्ताओं' का आवाहन करता था,
औ' अपनी जगती की अमेयता से
बेचारा अभिभूत बना रहता था
निज अनन्तता से परिचित न बना था।

और धरा ने सावित्री के सम्मुख
अविरत बदल रहे निज आनन के इक
स्वरूप को था जैसे गुणित कराया,
औ' गंभीर, दूर की तथा अनामी
वाचाओं से आवाहित करवाया।
जहां विशाल महीधर अपने तापस
एकान्त में मौन बन खड़े हुए थे,
कानन, विधि-विधि के सामगायनों से
बन्द दिव्यता के द्वार खोलते थे।
सपनाते मैदानों की सतहों पर
और प्रमादी विशाल विस्तारों में,
पीली, धूमिल आकर्षक संध्या का
मृत्यु-तल्प के वातावरण गहन में,
और क्षितिज के नीचे ढल चले गए
मौन गगन के दमक रहे आंचल में,

वह अब निष्क्रिय बनकर पड़ी हुई थी
मानों पहुंच गई हो इक युगान्तमें,
या आतुर अचलों की गम्फित-माला
जो एक शिकारी की भांति तनी-सी
गगन-माँद की दिशि निज शीश उठाए,
खड़ी हुई थी जैसे ध्यान लगाए,
उसे पार करती थी चली जा रही,
या कि निराले और अजनबी-से उस
सुनसान स्थान से थी बढ़ी जा रही.
जहां कि एकल पर्वत शिखरों ने थे
धरातीत नभ में निज डेरे डाले,
और सरकते शशि की शान्त छटा में
खड़े संतरी बन थे पहरेवाले,
या झींगुर-झनकारों औ' मर्मर के
रवाकीर्ण एकाकी भीषण-वन में
भटकती-सरकती सी बढ़ी जा रही,
या अविचल-प्रकाश-अंक में सुनिश्चित
खेतों और गोचरों से हो-होकर
सर्पाकार चमकते लम्बे पथ से
बनी सुआकर्षित थी खिंची जा रही,
या इक मरुभूमि की वन्य सुन्दरता
के बीच वह अचानक पहुंच गई थी,
जहां न लांगल-फल ने स्पर्श किया था
न कभी पशुओं ने तृण-अशन किया था,
वहां भयानक वन-पशुओंवाली उस
'महारात्रि' से आर्कषित बनकर वह
निपट उघारे औ' प्यासे मरु-थल में
झपकी ले-लेने को बाध्य बनी थी,
किन्तु आज भी तो उसकी विधि-अंकित
महा-खोज वह पूरी नहीं हुई थी,
पूर्वविहित उस मुखश्री की मृदु आभा
नहीं देखने को आज तक मिली थी,
जिसको ही उसकी आत्मा इन मानव-
तरुणों के बीच खोजने निकली थी।
महिमामयी एक नीरवता ने बस
शाही दिन को आवृत कर रक्खा था।
अब रवि के अन्तरावेग को जैसे
दिनों-महीनों ने पुष्ट कर दिया था,
औ' फिर उसकी जलती श्वास ने उबल
धरती पर अपना आक्रमण किया था।
उष्ण-दाह ने इक खूंख्वार व्याघ्र-सम
मूर्छित पड़ी धरा के वक्षस्थल पर
दबे पांव से फिरना शुरू किया था,
और लपलपाती ऊष्मा-जिह्वा ले
सब कुछ को जैसे बस चाट लिया था।
अब न बसन्त-वायु का कहीं पता था;
आकाश ताम्रता से मढ़ा हुआ था।

मूल्य रु. ४.००

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ३

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ३

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी-२

रूपांतरकर्त्री

विद्यावती 'कोकिल'

© स्वत्वाधिकारी: श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-२

१५ अगस्त १९६८

प्रकाशक: श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-२
मुद्रक: श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२

Hindi— Savitri by Sri Aurobindo
(*Translated by Vidyavati 'Kokil'*)
Published by Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry-2
Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

'सावित्री'

(हिन्दी रूपांतर)

Blessings

नम्र-निवेदन

प्रभु का स्पर्श कहीं यदि मिल जाये तो
सब कुछ सच औ' संभव बन सकता है।

(सावित्री)

आइये सबसे पहले तो मैं भगवान् का धन्यवाद इसलिये दूं कि इस वेदगर्भी अग्निल महाकाव्य को उसके अनुवाद के रूप में भी जिसे मूल का अन्त्राभास ही कहा जा सकता है, उसके पढ़नेवाले हिन्दी भाषी भी अच्छी संख्या में निकल आये। अतः मैं अपने ग्राहक बन्धुओं का पहले अभिनन्दन करती हूं जिन्होंने एक अपरिचित व्यक्ति के पागलपन पर और उसकी सनक पर विश्वास करके अपने को सावित्री पढ़ने-समझने और आत्मसात् करने के महा जोखिम में डाल दिया है। हां इतना कह सकती हूं कि वे लोग जिन्होंने इस दुर्लभ महाकाव्य को समझने का बोझा उठाया है वे व्यवहारू भाषा में विद्वान् कहे जानेवाले हों या साधारण पढ़े-लिखे, भौतिक दृष्टि से वे बहुत सम्पन्न हों या सामान्य कोटि के, पर निश्चय ही वे लोग अपने मानव-जीवन को इसी जगती-तल पर सफल बना सकेंगे। जीवन के अन्तर्निहित वैभव को ऊपरी सतह पर लाकर वे उस प्रमाणपत्र को प्राप्त करेंगे जो बहुतों को सम्पन्न होने पर भी नहीं मिलता। क्योंकि सावित्री तो कोई परलोक भर सम्हालनेवाला धर्म-ग्रन्थ नहीं है। वह तो इस लोक पर ही उस छिपे स्वर्ग को जो यहां प्रकट होने का प्रयत्न कर रहा है उसको सहायता देकर अनुकूलता प्रदान करनेवाला आनन्द-काव्य है। यह तो हमारे मन, प्राण और काया की जड़ता-कुण्ठित हथकड़ी-बेड़ी को काट-काट कर हमपर लगे अभाग्य के एक-एक शाप को वरदान बनाकर अज्ञानता में, मोह में, गिर-गिर पड़ने की एक-एक दुर्बलता को चुमकार कर, हमारी भूलों और नासमझियों के बसे घरों को पूरी तौर से ढहा कर हमारी श्वासों को पाटल और सरसिज की श्वासों में परिवर्तित करके हमारे इसी कीचड़ भरे जीवन का रूपान्तर कर देनेवाला ग्रन्थ है। इसे पढ़ने-समझने का थोड़ा प्रयत्न भी व्यर्थ जानेवाला नहीं।

निश्चय ही यह एक अपूर्व-दृष्ट चेतना-निधि है जो हमें ठीक हमारे सर्वनाश के और पूर्ण निराशा के क्षणों के कुछ ही पूर्व हठात् मिल गयी है। एकदम अभागे को उन्होंने पूर्ण रूपेण भाग्यवान् बना दिया है। तो फिर, सहसा इस भाग्य पर विश्वास नहीं जमता। भला पथ के भिखारी को, कचरे से कांच ढूंढ़-

ढूंढ़ कर निकालने वाले अभागे को, यदि कहीं किसी दिन कचरे में कोई बड़ा-सा हीरा हाथ लग जाय तो वह सहसा उसपर विश्वास ही कैसे करेगा? या तो कहें कि वह उसका मूल्य ही नहीं समझेगा। वैसे ही कभी पाठक संशयग्रस्त बना या तो (यदि वह अपनी विद्वत्ता पर गर्व करता है) अपने आप अपने मन से ही तरह-तरह के प्रश्न करेगा, अपने विचारों का पिष्टपेषण करेगा, अपनी मान्यताओं को उलट-पुलट कर उचित ठहरायेगा, या वह यदि अपने को साधारणमति ही समझता है तो अन्य किन्हीं माने-जाने पंडितों से अपनी शंका के समाधान करने का प्रयत्न करेगा। पर एक न एक दिन सत्य स्वयं ही उसे पकड़ लेता है। कभी यह भी संभव बन सकता है कि भागवत कृपा से मन या प्राण या शरीर के द्वार से कोई सीधी शुभ्र ज्ञान की किरण ही उसके अंतर में अनजाने प्रवेश कर जाये और उसके प्रश्न किसी अन्तर्निष्ठ महाशक्ति के द्वारा ऐसे लग जाया करें जैसे घने अन्धकार में भटके यात्री को सर्चलाइट चमककर दिशादर्शन करा जाती है। पर इस स्थिति को प्राप्त करनेवाले भाग्यवान् कम हैं, बहुत कम। निश्चय ही मूल हो या अनुवाद, सावित्री के पाठक कमोबेश इन्हीं साहसी और भाग्यवान व्यक्तियों में आते हैं। अनुवाद के पाठक और भी अधिक उत्साही कहे जायेंगे। क्योंकि मूल की ताज़ी-टटकी किरणीली वाणी को सह-संभार सकनेवाले और आत्मसात् करनेवाले द्रष्टा विद्वानों की संख्या ही इतनी इनी-गिनी है तो फिर अनुवाद की क्या बात, वह तो कितना ही सटीक और मूल की सच्ची अनुछाया क्यों न हो, बासी ही हो जाता है। फिर हम, मानसिक दुनिया के कवि, कलाकार और साहित्यिक, भला उस अतिमानसिक वस्तु को स्पष्ट, व्यक्त और चित्रित कर देने का साहस कैसे कर सकते हैं? समर्थ लेखक उन्नत, सुन्दर और उपयुक्त भाषा का उपयोग कर सकता है पर सरलता और सुगमता का दावा वह भी नहीं कर सकता। वह तो हमें मूल में भी अलभ्य है। हां केवल वे जिनके पास वह दृष्टि है और जो अपने सम्पूर्ण पूर्वाग्रहों, संकुचित आदर्शों को बराबर समर्पित करते रहने में, जैसे समुद्र में लहरें समर्पित होती रहती हैं — समर्थ हैं, वे ही कुछ ग्रहण करते चल सकते हैं क्योंकि उसके भीतर का जो सूक्ष्म दर्शन है, जो योगियों को भी दुर्लभ है, जो आज की नहीं भावी की वस्तु है और एक नयी सृष्टि की उषा है, वह हमारी मानव बुद्धि में सहज-सरल भाव से सहसा कैसे अंकित हो जायगी? उसकी अन्तर्दृष्टि के समझने के लिये तो भगवत् कृपा को भी अभी बहुत दिन श्रम करना होगा और हमें भी बहुत तपस्या करनी पड़ेगी। वह तपस्या यही होगी कि हम निश्छल भाव से पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अपनी संपूर्ण सत्ता को उस निर्मात्री माता सावित्री के हाथ में विकसने-पनपने के लिये ऐसे छोड़ दें जैसे सूखी, उजड़ी सुनसान धरा वर्षा में अपने को उसके आर्द्र प्रभाव के नीचे खुला

छोड़ देती है। बस फिर जहां जिस अभाव को भरना होता है वह भर जाता है और उसके रोम-रोम में वसन्त लहरा उठता है।

हम, जो भी हों अनुवादक हों या पाठक, 'सावित्री' के मनन, अध्ययन और आत्मसात्करण के लिये यह आवश्यक है कि एक बार अपना सारा मानव-ज्ञान, आदर्श और सम्पत्ति को लेकर 'सावित्री' के प्रकाश, आनन्द और प्रेम के समुद्र में निःसंकोच बहने के लिये छोड़ दें, और तब हम देखेंगे कि हमारी सामर्थ्य हमें कितनी गुनी होकर मिलती है।

साहित्य को यदि हम तीन भागों में बांटे (१) लौकिक (२) पारलौकिक या धार्मिक और (३) आध्यात्मिक, तो हम कह सकते हैं कि ये तीन धाराएं एक दूसरे से एकदम विभिन्न हैं। पर भारत में हमारे प्राचीन वाङ्मय ने इन तीनों को एक सीढ़ी के समान माना था, या तो प्रत्येक में एक दूसरे की छटा को मिलाने और साम्य में लाने का प्रयत्न किया था। वैसे हम कालिदास को लौकिक साहित्य का अधिराजा कह सकते हैं। उनका साहित्य भारतीय संस्कृति और जीवन के आदर्शों का दर्पण है। धार्मिक या पारलौकिक साहित्य में भारतीय भाषाओं के भक्ति काव्य का एक विशाल समूह आता है। आध्यात्मिक साहित्य में वेदों-उपनिषदों को छोड़ बहुत थोड़ा-सा ही साहित्य मिलता है। भाषा में केवल उसकी यत्र-तत्र अस्पष्ट झलकें ही हैं, उसकी पूर्ण काया तो कहीं भी नहीं मिलती फिर भी भारतीय जीवन और साहित्य का छिपा आधार आध्यात्मिकता ही रही है। पर आज के आधुनिक साहित्य ने जो प्राचीन के सब कुछ का अधःपात प्रारम्भ किया है उसमें आध्यात्मिकता की नींव भी चली गयी है; पर इस अधःपात की चिन्ता हमें तनिक भी नहीं है। यदि भावी के स्रष्टाओं को कोई चिरस्थायी आधार-शिला बनानी है तो वह शिला आध्यात्मिकता के अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती। यह हमारे आधुनिक साहित्य की परिभाषा से एकदम भिन्न होगी। लौकिक साहित्य ने हमें जिन कल्पित आदर्शों, माधुर्यों और सौन्दर्योंको ला पकड़ाया है वे सत्य की भूमि पर कभी नहीं उतर सके हैं। नतीजा यह हुआ है कि धार्मिक या पारलौकिक साहित्य ने हमें संसार छोड़ने के लिये बाध्य किया है। बस, इस प्रकार हमने यदि प्रभु की इस काया को (अर्थात् संसार को) अपनाया है तो उसकी आत्मा का परित्याग किया है और आत्मा को अपनाया है तो शरीर का। सावित्री के अवतरण ने इस अभाव को सर्वांगिकता से पूर्ण किया है। आज तक हमारी प्राप्ति जो अधूरी रह गयी थी, उसे पूरा किया है, सृष्टि-निर्माण के तात्पर्य को जीवन में स्पन्दित किया है। हमें तो काया में ही आत्मा को आलिंगित करना है। ऊपर के सच्चिदानन्द को यहां जड़तत्त्व में छिपे सच्चिदानन्द से

भेंटना है। सावित्री को सत्यवान् से मिलना है। अन्यथा पृथिवी पर स्वर्ग कैसे उतरेगा या जीवन पूर्ण सत्य का धाम कैसे बनेगा ?

'सावित्री' महाकाव्य भावी का वही वेद है जो इसे संभव बनाने के लिये आया है। श्रीअरविन्द और माताजी ने इसी को कार्य में सत्य करके दिखाया है। यह सब जो कुछ हो रहा है, पृथ्वी के लिये असंभव सा कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। इस आर्ष ग्रन्थ को, इसकी आर्षशैली और भाषा को, हमें एक आर्ष-दृष्टि से ही पढ़ना पड़ेगा। और जब तक हमारे अन्दर वह आर्ष-ज्योति प्रज्वलित न हो जाये तब तक अभीप्सा करते रहना होगा। अतः सावित्री को हमें एकान्त, ध्यान और धैर्य से पढ़ना चाहिये जब तक उसके प्रतीक अपने आप खुल-खुल कर अपने पूरे परिवेश के साथ हमें विश्व-दर्शन न कराने लग जायें। हमारे साहित्य ने अभीतक, अधिकतर एक गाढ़ी या हल्की मदिरा का काम ही मानों चेतना पर किया है। पर यह तो विशुद्ध अमृत है या कहें विशुद्ध प्रेम और आनन्द की मदिरा है।

पर्व प्रसादी

पर्व पांच

पर्व पांच तो संपूर्ण ग्रन्थ का हृदय-केंद्र है और ग्रन्थ के मध्य में उसी प्रकार स्थित है जैसे हृदय, जहां से नाड़ियों का जाल सारे शरीर में रक्त संचार करके उसे गति देता रहता है। सम्पूर्ण आख्यान का यह मर्मस्थल होते हुए भी अत्यन्त संक्षिप्त है। जिस प्रकार कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में जहां दुष्यन्त शकुन्तला को पहचानने में असमर्थता प्रकट करता है उस समय शकुन्तला के क्रोध को थोड़े से शब्दों में व्यक्त करके उन्नत कला का सुन्दर परिचय दिया है, उसी प्रकार इस पर्व पांच में युग-युगान्तरों का परिचय अन्तर में छिपाये सावित्री-सत्यवान् जहां मिलते हैं, और जब कि पाठक अनुभव करता है कि यह पर्व खूब लम्बा हुआ होता, शब्दों की मितता का चमत्कार वहीं देखने में आता है। पाठक देखेंगे कि इस मुख्य मन्तव्य को अन्तर के सारे रागावेश को, कुशल कलाकार ने कैसे थोड़े से मर्मस्पर्शी शब्दों में बड़ी कुशलता से रख दिया है। यह वही स्थान है जहां मर्त्यलोक में आकर प्रेम पहले-पहले अपना पूर्ण-अवतार लेता है और किसी कल्पना-लोक में नहीं सावित्री के मानवी मांसल हृदय में वह अपना पूर्ण धाम रचता है। इस प्रकार मर्त्य लोक में भी इस भाग्यशाली पृथ्वी पर एक नयी सृष्टि की नींव पड़ती है। यह सम्पूर्ण व्यापार पल मारते एक

अन्तर-दर्शन की पुनीत छाया के नीचे सम्पन्न होता है। एक अन्तर-दर्शन के ही प्रभाव में, पर्व चार में, पिता-पुत्री को एक दिन साथ ही किसी महान् उद्देश्य का का इंगित मिला था और किसी प्रेरणा के अन्तर्गत अश्वपति ने अपने प्राणों से भी प्यारी पुत्री को अपना वर चुनने के लिए यात्रा पर प्रयाण करने का अनुरोध किया था। क्योंकि यह देख लिया गया था कि उसके जन्म का वह स्वर्णिम उद्देश्य उसके अभिन्न, चिर साथी के साथ ही पूरा होनेवाला है। अपनी अन्तर-दृष्टि की ज्वाल में पगी, देश-विदेश की यात्रा में तत्पर सावित्री को सौंदर्यशाली राजकुमार, वैभवशाली कुबेर और तपस्वी युवक और विद्वान् युवराज तथा ओजस्वी तरुण योगी अपना सब कुछ अर्पण करने को तत्पर हुए थे, पर उसकी दृष्टि कहीं नहीं रुकी, कहीं नहीं ठहरी। यात्रा के अन्त में वह एकाकी सुनसान में जा निकलती है, जहां कि वीरानी, शीश के ऊपर का प्रभात, शिखरों का नभ में खो जानेवाला रागोन्माद, कुंजों से ताकती कुसुमावलि की आंखें, ऊँचे-ऊँचे सर-सर करते वृक्ष, उनकी चोटियों पर दौड़ रहे पवन, पक्षियों की रह-रहकर कल-कूजन — पता नहीं उसके कानों में कौनसी दिव्य कानाफूसी कर जाती थीं, कौन-सा संदेश दे जाती थीं, आत्मा में कौन-सी पुकार जगा जाती थीं। पाठक देखेंगे कि सावित्री के जीवन का यह सबसे आवश्यक क्षण ही कैसे मानवीय वातावरण के साथ उपस्थित किया गया है। यहां लेखक ने कहीं भी सावित्री को राम और कृष्ण की भांति प्रारंभ से ही दिव्य बनाकर हमारे जीवन से दूर नहीं कर दिया है। वह अवतारों की भांति कोई चमत्कार करके चली नहीं जाती। अपितु ऐसे विलक्षण क्षण में भी पहले साधारण मन और प्राण की जो क्रिया होती है उसीका वर्णन वहां है। पर वह इस साधारण जाति के स्वभाव का अनुकरण करती रहने को नहीं आई थी। वह इस पतित जाति का उद्धार करने आई थी। जो भी उद्धारक होगा उसे निम्न से निम्न जीवन-गति में स्वयं प्रवेश करना होगा और सारे तम को उसके गढ़ में ही पहुँचकर प्रकाशित करना होगा।

सावित्री की दृष्टि एक पतली पगडण्डी पर जाकर यकायक ठिठक गई। जहां मानव-पग-निपात की कोई आशा भी नहीं थी वहां वह एक मानव मूर्ति को प्रकृति-के चौखटे में सहज भाव से जड़ी-सी खड़ी देखती है। फिर भी वह शायद प्रकृति-की अनुपम निधि को अपने कोष में निधियाती सी आगे बढ़ जाती, पर अचानक ही उसके भीतर किसी शक्ति ने,—जो भूत, भविष्य, वर्तमान सबपर निगाह रखती है, उसने उसके अंतर में एक प्रेम-सागर को हिला दिया। और इस प्रकाश-में उसकी दृष्टि ने वह सब कुछ देख लिया जिसे विचार वर्षों में भी प्रयत्न करके नहीं देख सकता। बस, वनान्त पर खड़े सीधे-सादे युवक सत्यवान् का यह वर्णन दुनिया के सौन्दर्य साहित्य में अछूता ही है, जिसे ध्यान में डूबकर पाठक स्वयं

ही पढ़ लें। मैं कुछ कहकर उसे सीमित नहीं बनाना चाहती। लोग कहते हैं श्रीअरविंद तो योगी थे उन्हें भला प्रेम की क्या अनुभूति और मानव के दुःख-सुख से क्या नाता? लोगों को यह भी कहते सुना जाता है कि उनकी कविता तो अध्यात्म है, काव्य नहीं। उन लोगों से प्रार्थना है कि वे पहले सावित्री का पांचवां और छठा पर्व पढ़ें और देखें कि अध्यात्म में प्रेम, और प्रेम में अध्यात्म मिलकर, कैसे अपनी एकाकी स्थिति से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। और देखें यह प्रेम और आनन्द जिससे सृष्टिका जन्म हुआ है वह अध्यात्म से अलग नहीं है? प्रेम के सर्वालिंगन-कारी भौतिक स्पर्श के लिए ही समष्टि व्यष्टि का रूप धरकर आती है। हमने प्रथम दृष्टि के प्रेम की चर्चा बहुत सुनी है पर यहां हम प्रथम दृष्टि के विवाह के दर्शन करते हैं। इस विवाह को स्वयं प्रेम की दैवी शक्ति ही संपन्न कराती है। अतः यहां शंका और संदेह के लिये कोई स्थान नहीं। यहां कोई राज-कुमारी किसी राजकुमार से नहीं मिल रही होती। यहां तो इस अंधकार में छिपे पड़े प्रभु अपना आवरण हटाकर स्वयं अपनी चित्-शक्ति से ही मिल रहे होते हैं। इस मिलन के साथ अचित् की सारी सृष्टि ही अनावरित होकर मंत्र-मुग्ध-सी बनी नाच रही होती है।

"पूत विवाह-अग्नि सविता के आगे,
शुभ मुहूर्त्त के और पुरोहित द्वारा
जब कि बने थे अंतर-बंधन पागे,
तभी दिवस के ऊँचे और प्रकाशित
पावन मंदिर के तोरणी शृंग पर,
ऊषा-मंडल के सूत्रों को लेकर
विधि ने किया पूर्ण उनका गठबंधन
मनुज रूप में शाश्वत 'वर' औ' 'वधु' का
हुआ भूमि पर फिर विवाह-संपादन।"

क्षणभर के लिए हम सावित्री-सत्यवान् के प्रेम की बात भूलकर अपने साधा-रण प्रेम को ही लें। वह भी क्षणभर को हमें अनन्तता की झलक देता है। उसमें भी जब दो तरुण-तरुणी प्रथम प्रेम में एक-दूसरे के साथ बंधते हैं तब उनके हृदय में भी दुःख-पीड़ा का अनुभव संसार से खो जाता है। कोई ऐसी अप्रिय घटना या तो असत्य लगती है या उसपर भी जैसे हँसने को जी होता है, सारा संसार, प्रेम और आनन्द का ही धाम लगता है। नभ में उषा का उदय, उप-वन में वृक्षों की सरसरान, पवनों का खिलवार, फूलों की हँसी सब कुछ उन्हें एक प्रेम-संदेश उचारते से लगते हैं। सारी सृष्टि एक समूहगान-सा करती ही लगती है। जैसे हम उस समय सारे विश्व को अपनी भुजाओं में भेंट लेने में समर्थ हो उठते हैं। पर हमारी दृष्टि में योगबल कहां होता है? उसका तो कण-कण केवल एक क्षणिक भोग से ही सना होता है। बस वह झट नीचे गिर पड़ता है। उसमें शुद्ध प्रेम के सामने ठहर पाने की सामर्थ्य कहां? बस वह

मनोदशा तो एक नशे की तरह, एक खुमार की तरह आती है। फिर दोस्तों और रिश्तेदारों के तानों और टिप्पणियों और यथार्थता की मारों और दुख-सुखों-की झंझाओं से प्रेम तो क्षण में न जाने कहां विलीन हो जाता है। उसके स्थान-पर भोग-विलास के आनन्दों और स्वार्थों से घिरा हुआ प्रेम का एक प्रेत रह जाता है। बस उसी से हम जीवन भर अपना मन बहलाते रहते हैं। यदि कोई शंका भी उठती है तो अज्ञानताभरे तर्कों से उसे संतुष्ट कर लिया जाता है। पर सावित्री तो हमारी तरह लाचार बनकर नहीं रह सकती थी। वह तो संसार-में कीचड़ से लथपथ पड़े प्रेम को निकालकर यहां पूर्ण प्रेम का मन्दिर प्रतिष्ठित करने आई थी। अतः उसे तो अकेले ही सारी दुर्बलताओं, भयों और रूढ़ियों तथा अज्ञानताओं से मोर्चा लेना था। यही नहीं कि अपनी अलौकिक अंतर-शक्ति से ही वह सारे विरोधों से लड़ रही थी अपितु उसने तो इन्हीं दुख-पीड़ाओं को पवित्र करके विरोधी शक्तियों के नाश के लिए एक अचूक असि का निर्माण किया था। फिर भला उसके इस कार्य में दूसरा कौन सहायता कर सकता था। मनुष्य क्या देवता भी इस काम में सहायता नहीं दे सकते थे।

पर्व छः

प्रेम के सागर में डूबकर अपनी विशाल आंतर सत्ता के साथ तादात्म्य जोड़-कर सावित्री तो एकदम रूपांतरित हो उठी थी। उसके अंगोपांग जो विश्व-शक्तियों के केंद्र ही बन गये थे वे अपनी सत्ताओं की विशालताओं की थाह ले रहे थे। संपूर्ण प्रकृति एकता का ऋचा-गायन गा रही थी। ऐसी अवस्था में विभोर, सावित्री अपने रथपर पुनः सवार होकर एक बार फिर अपने पिता के घर की ओर, अपने नव सौभाग्य की सूचना देने और उनकी आज्ञा लेने के लिए चल पड़ी।

उधर अश्वपति के रत्नखचित महल में, दिव्य पुरुष नारद ठीक समय देखकर मृत्युलोक की यात्रा करने के लिए पधारे। नारद स्वर्गलोक से किसी जादू के विमान पर चढ़कर नहीं आये थे। यहां कहीं भी कल्पना की उड़ान नहीं भरी गई है। कल्पना-लोक के ऊपर जाकर एक अंतर्दर्शन में डूब जाइये तो आप देखेंगे कि मृत्युलोक से बराबर एक ऐसी अभीप्सा उठा करती है जो देवों को सतत आवाहित करती रहती है। देवता-गण स्वयं भी कभी यहां आने की कृपा करते हैं और जो उनसे बातें कर सकते हैं ऐसे द्रष्टाओं को दर्शन भी देते हैं। हां, हम जैसे साधारण लोग भी क्या कभी स्वप्न में ऐसे प्राणियों के दर्शन नहीं कर लेते? वे स्वप्न भी सच ही होते हैं। वे स्वप्न में इसलिये आते हैं कि साधारण

मन जागृति में एकाग्रता नहीं रख पाता। वह बाह्य चेतना से चिपका रहता है और एक पर्दा पड़ा रहता है। स्वप्न में अन्तश्चेतना को जागने का अवसर मिलता है। नारद आत्मलोक से मनस् लोक, और मनस् लोक से प्राणलोक और प्राणलोक से जड़ लोक में कैसे उतरते हैं, और कैसे अपनी सार्वभौम चेतना-को छोड़ थोड़ी देर के लिए इस मर्त्य लोक में अपना वीणा-गायन आरंभ करते हैं, इसका मोहक वर्णन आप स्वयं पढ़ लें। अब वे अपना स्वर्ग का गायन नहीं गाते अपितु अज्ञानता का ही गायन प्रारंभ करते हैं। और धीरे-धीरे अज्ञानता में छिपे आनन्द, प्रकाश और सौंदर्य को प्रकट करते चलते हैं। अन्त में उस आनन्द की ध्वनि में विह्वल होकर देव-दानव सभी रोने लगते हैं क्योंकि उन्हें भी आज अपने कठिन कार्य से मुक्ति मिल जाने का आश्वासन हो जाता है। ऋषि नारद सदा ही कसौटी के समय पर दर्शन देते आये हैं।

नारद अश्वपति के महल में कुछ अध्यात्म-चर्चा कर ही रहे होते हैं कि सावित्री वहां उपस्थित हो जाती है, और उसके चम्पक-गुल्लाला चरणों से फ़र्श पर एक अद्‌भुत आभा फैल जाती है और उसका आनंद-रंजित अंतर अपनी भाव-भंगियों से मर्त्य लोक के वातावरण को स्वर्गिक रंगों से अभिरंजित कर देता है। देवर्षि सब कुछ जानकर भी अनजान बने-से उसके विषय में पूछते हैं:

"कौन आ रही है यह नवल वधू-सी शिखाजात-सी एक सुगन्धि-छटा-सी,"

उनके प्रश्न का उत्तर अश्वपति एक पिता और योगी की भाषा में देता है:

"हे मृत्युंजय, हे ऋषि, सर्वज्ञानी, ..."

यहां पर उन दोनों के द्वारा उपस्थित किया हुआ सावित्री का भौतिक वर्णन भी सौन्दर्य की सारी उपमाओं का अतिक्रमण कर गया है। वे सशक्त, जीवंत और अलौकिक उपमाओं की झड़ी लगा देते हैं। अद्‌भत सौंदर्य की वर्षा में हृदय का रक्त एक चकाचौंध से स्तब्ध रह जाता है। मन चमत्कृत होकर कुछ सोचने में असमर्थ हो जाता है। सावित्री के इस प्रकार के वर्णन चार स्थान पर तो विशेष पठनीय हो गये हैं। (१) चौथे पर्व के अंत में, पिता और योगी अश्वपति के के द्वारा (२) पर्व पांच में सत्यवान् के द्वारा (३) पर्व छः में अश्वपति के द्वारा तथा (४) पर्व छः में ही नारद के द्वारा सावित्री का भौतिक वर्णन भी पठनीय है।

नारद के पूछने पर अश्वपति सावित्री से, अपने वर के चुनाव के विषय में बताने का आग्रह करते हैं। सावित्री बड़े ही सीमित शब्दों में उसका उत्तर दे जाती है। नारद बड़ी चतुराई से बहुत नपे-तुले और सधे हुए शब्दों में सत्य-वान् के वर्णन के साथ ही उस अनिष्ट भावी का भी इंगित कर जाते हैं। अश्व-पति भी योगी है। वह भी सत्यवान् के नाम के पीछे एक काली छाया को देखता है रानी ज्ञानवान् होते हुए भी एक मां है, वह कुछ सन्देह में पड़ जाती है,

कुछ सार समझ नहीं पाती या सह नहीं पाती और बेचैन हो उठती है। वह मुनि से सत्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने के लिए बार-बार अनुरोध करती है। सारा संदर्भ बड़ा मानवी और स्वाभाविक है। मां की करुण अवस्था को देखकर नारद को सावित्री की विधि का रहस्य खोलना ही पड़ता है पर यह सब काम वे इतनी पटुता से करते हैं कि यहां काव्य अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है।

सावित्री की माता का हृदय तो उसकी अनिष्ट भावी की अर्थात् एक वर्ष के बाद सत्यवान् की मृत्यु की बात सुनकर विदीर्ण हो जाता है। रानी तो मानव मां है, यद्यपि ज्ञानी है पर मानसिक ज्ञान की चोटियों में आपस में साम्य कहां है? और बस फिर क्या था, उसके हृदय से पृथ्वी की सारी पीड़ा, यातना और अज्ञान का भयानक हाहाकार फट पड़ा। पाठक नारद के सामने उच्चरित उसके एक-एक शब्द को देखें जिसके द्वारा श्रीअरविंद ने मानव-मन से उपजने वाले सारे संशयों और प्रश्नों को लाकर खड़ा कर दिया है। जिसके भीतर उन सारे दर्शन-शास्त्रों के सिद्धांत जिन्होंने मनुष्य को कर्मों के बन्धनों से जकड़-कर, पाप-पुण्य के हौवे से डरा कर और उसके बाल-हृदय को विधि की चक्की के नीचे पीसकर या तो बैल की तरह दुख ढोते रहने के लिए मजबूर किया है या तो उसे दुःख का पूजक ही बना दिया है। और नहीं तो फिर वह भग-वान् को, दुनिया को, सारे वैभवों और सुखों को कोसता हुआ चीख-चीखकर अपनी जान ही दे देता है। मानवता का कारवां आज एक बड़ी ही ख़तरनाक और अभागी खाई में गिरने जा रहा है। पाठकों से मैं इतना जरूर चाहूंगी कि इन दोनों पर्वों को बार-बार ग़ौर से पढ़कर वे इस तथ्य को निकाल लाने में सफल हो जायं कि यह आधुनिक विधि का विधान जिसे ब्रह्मा ने हमारे लिए रचा है और जिसमें हमें पिसना ही पड़ता है यह कोई अंतिम फैसला नहीं है। ब्रह्मा ने अपने चित् संकल्प से जिसे बनाया है हम अपने-आप उस चित् संकल्प तक पहुंचने पर और उसका भेद पढ़ लेने पर उसे बदल भी सकते हैं।

यहां मूल में 'फेट' (विधि), 'डेस्टिनी' (भवितव्यता या भावी) और 'डूम' (अनिष्टभावी) — ये तीन शब्द आते हैं। विधि तो ब्रह्मा के द्वारा रचा हुआ वह मार्ग है, सृष्टिक्रम में जिसका पालन करना आवश्यक ही है। हमें इस अचित् से रची जगती में जड़ता से आत्मा तक ले जाने का यही तरीका है, क्योंकि जहां से हम आये हैं वहां पहुंचकर ही इस चेतना की यात्रा का अंत होना है। बीच में रुक रहने की भूल करने से ही हमारी यह दुर्गति हुई है। दुःख और पीड़ा का यह विकराल हाहाकार मानव चेतना में आकर ही सबसे अधिक असाध्य बना है। यह सारी यातना और पीड़ा केवल हमारी यात्रा में विविधता,

विजय की महानता और सुख की गहनता को अनन्तगुना बढ़ा देने के लिये ही जन्मी है। यह हमारा अन्त नहीं है, यह तो विकासक्रम में बढ़ने का एकमात्र उपाय है। अज्ञानता का राज्य जहां हो, वहां दुःख और पीड़ा को तो उसकी जड़ निद्रा को तोड़ने के लिए आना ही पड़ता है।

"अज्ञान का निवास हो जहां आना वहां यातनाओं का अनिवारी है,
अरे शोक तो प्रकाश में चढ़ने हित तम की इक गुहार है, तैयारी है।"

....

"सतत चाहने औ' रोते रहने को यदि मानव-अन्तर मजबूर न बनता,
सुख से बना तुष्ट तो अचित् गर्त में कहीं पड़ा बस आत्म-हंस यह होता।"

इस प्रकार यह विधि का विधान जो विश्व-शक्ति का, जड़ से आत्मा की ओर ले जाने वला एक आवश्यक नियम है, हमारे विकास के लिये ही बना है। पर विकास-क्रम ने जब मन के द्वारा चेतना की एक किरण को प्राप्त कर लिया है तो वह चाहे तो पूर्ण चेतना पर अधिकार पाने की दिशा में बढ़कर ब्रह्मा के संकल्प के साथ अपने संकल्पको जोड़कर स्वयं अपनी भावी की दिशा को देख समझ सकता है और उसे मोड़ दे सकता है। बस हमारे कर्मों के बंधन का भीषण भय और विधि के कोल्हू की सारी पिसन के द्वारा खड़ी की गई काली दीवार ढह सकती है।

और फिर (२) भवितव्यता जो विधि के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य के लिये चुना हुआ एक मार्ग होता है उसे भी मनुष्य मोड़ दे सकता है। फिर (३) अपनी अनिष्ट भावी के द्वारा भी किसी महा इष्ट को साध सकता है। पर यह सब तो अत्यंत कठिन कार्य है। यह सही है कि एकाएक तो मानव यह सब करने में समर्थ नहीं हो सकता। पर इतना विश्वास, कि यह काली भय की दीवार सत्य नहीं झूठ है, इस सत्य का ज्ञानभर क्या कम है। इस प्रकार हम सबके ठीक दिशा में सोचने भर से विश्व शक्तियों का विधान कमजोर बन सकता है। सावित्री की दस पंक्तियां भी पूरे ग्रंथ में किसी की समझ में आती हैं, तो बस हो गया। उसका श्रम सार्थक है। उसकी सत्ता के हिस्से का जितना भी प्राप्य सत्य है वह उसे मिल जायगा, क्योंकि सावित्री की प्रत्येक पंक्ति परम सत्य के साथ अभिन्नरूप से जुड़ी है और नव सृष्टि का बीज है। अंतर में पड़ा वह बीज किसी के भीतर समय पाकर वट-वृक्ष में पनप सकता है।

— विद्यावती 'कोकिल'

सावित्री

एक आख्यान और एक प्रतीक

प्रेम पर्व

पर्व ५, सर्ग १

विधि-निर्दिष्ट अभिसार

पर अब सावित्री का विधि-निर्धारित संगम-स्थल औ' वेला थी नियराई।
अपने निर्नाम-ध्येय तक अनजाने थी धीरे-धीरे अब वह खिच आई।
यद्यपि अंध, अकारण अकस्मात् का
एक आवरण है, जो सर्वज्ञानमय 'विधि' के सब कार्यों को ढक रखता है,
किन्तु हमारा इक-इक कार्य उस अलख,
सर्व-समर्थ और सर्वज्ञ 'शक्ति' की भाषा की ही परिव्याख्या करता है,—
जो प्रत्येक वस्तु के भीतर उसका दुर्निवार मूल-तत्त्व बन बसती है,
बस भव-लीला की सारी घटनाएं
अपने नियत काल पर ही औ' अपने पूर्वदृष्ट स्थल पर ही जा घटती हैं।
वह अब ऐसी सुकुमार और कोमल मोहक मधु-वनस्थली में पहुंची थी,
जो तरुणाई, मोद और हर्षों का इक पावन, अभिराम तीर्थ लगती थी,
मुक्त और हरितोल्लास से भरी जो अधित्यका की उन्नत एक भूमि थी,
जहां अलस भाव से मौज में अपनी गलबहियां दे झगड़-झगड़ हंस-हंसकर,
स्नेह-विवाद चलाते-से इक सुखकर,
वसंत और ग्रीष्म दोनों लेटे थे और रहे थे प्रमुदित इक प्रयत्न कर,—
देखें कल पाता है कौन राज्य कर।
ऐसे में प्रत्याशा खोल अचानक अपने विशाल पर फड़फड़ा उठी थी,
जैसे पृथिवी के आनन से कोई अंतरात्मा ही बाहर झांकी थी,
बस पृथिवी के भीतर के सब कुछ ने अनुभव किया एक नव परिवर्तन वर,
औ' बाहर के अपने सब हर्षों को औ' साधारण सपनों को बिसराकर
अब 'समयाह्वान' और 'आत्म-नियति' की आज्ञा पर उसने निज चाप बढ़ाया,
परम शांत औ' सकल विकार-रहित इक सौंदर्य से गया ऊर्ध्व में उठाया,—
जो शाश्वत नयनों के नीचे ही तो है बस आज तक जिया और जिलाया।
पर्वतीय-शीशों की एक भीड़ थी चढ़ती चली जा रही नभ के ऊपर
बढ़ी जा रही, गगन के निकट पहुंचे स्व प्रतिस्पर्द्धी कंधों को धकियाकर,

कवच-सुसज्जित लौह-पंक्ति के मानो
उन पाषाणी दृढ़-चरणों के नीचे
नीचे, घाटी में बन विनत झुका था
चमक रहे सीमान्त, निपट एकाकी
पांडुवर्ण चंचल जलधार शोभती,—
सुखकारी पत्रों के बीच-बीच में
शीतल और सुगन्धित मत्त समीरण,
सुधि भूली-सी और लड़खड़ाती-सी
इक चटकीली औ' अडोल धारी-सम
मुग्ध शुकों औ' मोरों से वन-धरणी
पारावत के मृदुल, मदिर अभिकूजन
और अग्नि-पक्षी-कलहंस अरण्यज
निपट अकेली, निधरक धरा पड़ी थी
निज संगी के अरुणिम नील-नयन के
औ' सुख के आनन्द-भोग में डूबी
तरह-तरह के कलकंठों के द्वारा
विकचन और स्फुटन के रागावेगी
उन्मद पर्व-क्षणों में सुध-बुध खोए
चिल्ल-पुकारों, कूद-छलांगों की ज्यों
अपनी घात-ताक में जहां शिकारी-
उसके रत्नप्रभ नराश्व-प्राणी की
चमक, उष्णता के वे स्वर्ण-नीलमी
भू के सुख-उन्मादों का जादूगर,
मुदित चित्त, विषयानन्दी, बेफ़िकरा
उसके विविध-रूप आनन्द-थलों में
पीछे तपस्-निमग्ना 'प्रकृति'-जननि की
आदि-शांति का साम्राज्य छाया था
जो निज सुस्थिर, अविक्षुब्ध अंतर में

चिंतक भाल जहां यह मानव-शिल्पी
सुखी, अचित् इन द्रव्यों में दुनिया के
कहीं विचार नहीं था, बुद्धि नहीं थी,
श्रम की कठोर चौकस दृष्टि नहीं थी,
नायक बन थे चले जा रहे आगे,
धरा पड़ी थी सीधी चित-अनुरागे।
विजन, सघन, मरकत वन का इक सपना,
ज्यों छाया हो राज्य, नींद का अपना,
झिलमिल मुक्ता-मालाओं का सरना।
इक उसांस भूली-भटकी मँडराती,
सुख-बोझिल चरणों से मृदु-मंदाती
मुग्ध फूल कलियों से थी लुड़ियाती।
धवल, अचल बकुलों की पांत खड़ी थी,
औ' वृक्षावलि, रत्नों सरिस जड़ी थी,
मुग्ध गगन को नवल विभव से भरते,
रजत जलाशय में थे इत-उत तिरते।
अपने महान् प्रेमी 'दिव' के आगे
नीचे लेटी मुक्त, आवरण त्यागे।

अपना प्रेम-गीत थी समुद गुंजाती,
रूपों की अपार माधुरी लुटाती,
सुगन्धि औ' रंगों की कीच मचाती।
आपाधापी थी बस चहुँमुख छाई,
जीवों की चापें फिरती थीं धाई,
दमक रही थीं झबरी हरित-सटाएं,
कोष यहां उसने चहुं ओर लुटाए।

सुखी 'विश्व-प्राण' था उमड़ता फिरता,
बहा जा रहा कहीं, कहीं लुक रहता,
फैली थी इक भव्य, दिव्य निश्चलता।

पशु-पक्षी के सब कलहों को खींचे
लिए पड़ी थी सब कुछ आंखें मीचे।
नहीं पदार्पण अपना कर पाया था,
नहीं डाल वह अपना कर पाया था,
राई-रत्ती तौल तौलनेवाली,
हानि-लाभ की माप मापनेवाली,

निज ध्येयों के सँग बेसुर होने की 'प्राण' ने नहीं थी निज आदत डाली।
'महामातु' लेटी थी अँग ढीले कर निश्चित बनी अपने पांव पसारे,
प्रथम योजना उसकी पूर्ण सफल थी ठीक-ठीक कार्य चल रहे थे सारे।
विश्वात्मा की आनन्देच्छा के वश
तरुवर अपने हरितोल्लास में मुदित कानन में फूले-फूले फिरते थे,
औ' आज़ाद जंगली शावक दुख पर कभी बैठकर सोच नहीं करते थे।
इस सबके पीछे विश्राम-मग्न-सा एक मार्ग था, अति दुर्गम औ' भीषण,
गहराइयां जहां अस्पष्ट, जटिल थीं प्रश्नेच्छुक गम्भीर खड़े पर्वतगण,
शिखारावलियां थीं जैसे आत्मा ही हो कर रही कठोर तपस्या अनुक्षण,—
सुदूर और कवच-रक्षित-सी लगतीं एकाकीपन में ही गौरवशाली,
ज्यों 'नट-नागर' के लीला-नर्तन की
आनँद-निमग्न मोहक स्मिति के पीछे
'विचार' से आवृत अनन्तताएं बस फैली चली गईं हों अगम निराली।
यथा जटाधर विपिन-शीश ने उठकर गगन -चढ़ाई करने को हो ताका,
मानो शैल-निबद्ध गुफा से अपनी
नीलकंठ कोई योगी ने बाहर
जग की अल्प-टिकाऊ हलचल पर निज दृष्टि उठाकर तनिक-एक था झांका,
औ' पीछे दूर-दूर तक छाया था गुरु प्रभाव उसकी विशुद्ध आत्मा का।
भीषण एकान्तवास से उठ-उठ कर एक शक्तिशाली रव का अभिगुंजन,
श्रवणों पर छाया जाता था जैसे अन्तविहीन उदास एक आवाहन,
मानो कोई आत्मा जग-हलचल से लेकर विदा चली जाती हो उन्मन।
ऐसा था वह दृश्य जहां कुछ सुखकर
समय बिताने की ख़ातिर रहस्यमय- 'जग-जननी' ने स्थान विशेष चुना था,
और परम एकाकी इस निर्जन में
जग से दूर, मनुज के ही सुख-दुख में अपने अभिनय का आरंभ किया था,
सावित्री के अंतर्मन के सम्मुख वहां रहस्यों के प्रांगण प्रकटे थे,
गुह्य चमत्कार और सुन्दरता के छिपे द्वार पर द्वार वहां उघरे थे,
एक सुवर्ण-भवन में औ' पक्षों के शक्ति-निनाद को वहां सुना गया था,
एक मधुरता का मंदिर औ' अग्निल परिक्रमा-पथ देखा वहां गया था।
दुख-दारिद्रय-भरे इस 'काल'-पंथ पर जैसे एक अजनबी अचक भेंटाए,
नियति-मृत्यु के महा जुए के नीचे जाकर कोई अमर खड़ा हो जाए,—
इस प्रकार वह सकल लोक-लोकान्तर दुख औ' आनन्दों का शुचि आहुतिकर
प्रेम, मिला था आकर 'सावित्री' को भीषण अरण्य-निर्जनता में भुजभर

पर्व ५, सर्ग २

सत्यवान्

इस विधि-विहित दिवस ने सावित्री को

वह पथ, जिसने घन वन-गभीरता में
अपितु मोड़ मुख मानव-आवासों की
वह वीरानी, जो अपनी इकस्वरता
और शीश पर वह ऊषा, जो नभ में
शिखरों का रागोन्माद, जो उठकर
औ' अनन्त वन का इक भीषण गुंजन,
जहां कि रवि-किरणों से गही गई-सी
इक अनजानी जगती की सीमा पर

जो निस्वन-सूचन, जादू-इंगन के
जहां कि कुंजों से अद्‌भुत कुसुमावलि
यथा खुले, फैले आकाश को, उभर
खुसपुस-खुसपुस करके तरु-शाखाएँ
आवृत, अस्पष्ट एक सुख-वैभव को
मरकतता औ' सुवर्णता से शोभित
दौड़ी चंचल, मृदुल वायु इक धीरे
एकाकीपन के वन-वक्षस्थल में
मुग्ध अदेखी इच्छाओं-सम मीठी
धीमे, अनुरोधी एक के नाद पर
उसके पीछे सोए हुए पड़े थे
रागान्वित एक 'प्रकृति' के आश्रय-थल
बस केवल 'उसकी' ही निज में खोई
यहां धरा इस सुन्दर औ' मनभावन

मानो था अतीत का स्मरण धराया,
उसने सब जाना-पहचाना पाया,—
था जाने का ख़तरा नहीं उठाया,
इक जीवन-कुनकुनी दिशा में धाया;
में भी लगती महाशक्तिशाली थी,
सतेज द्रष्टा-सम शोभाशाली थी;
अपार नभ में खोया-सा जाता था,
जो दिग्-दिगन्त में छाया जाता था।
धनुषाकार एक पतली पगडंडी,
विश्राम कर रही-सी पड़ी हुई थी,
मानो वह सँकरा-सा एक द्वार थी,
जो आनन्द-देश को ले जाता हो,
आकर्षण से चहुंदिशि घिरा हुआ हो,—
परियों की आंखों-सी ताक रही थीं,
अपनी निगुह्यता से झांक रही थीं,
प्रकाश-निश्चलता से बतियाती-सी,
झिलमिल आंचल के भीतर ढांके थीं,
झपकी लेती तृणस्थली के ऊपर,
जैसे दौड़ें सुख की सांसें मंथर।
गोपित पत्रों से तरु-निवासियों की
कल कूजन रह-रहकर गूंज रही थी
अपर कर रहा था कूजन अनुनादी।
सुदूर मरकत देश मूक औ' नश्वर,
आवृत औ' नयनों को चरम अगोचर,
निर्जन क्रांतदृष्टि को थे इक गोचर।
शरणस्थल में चिन्ताविमुक्त बनकर

सुना रही थी शान्ति, शक्ति के गायन
आत्मा को तन्मय औ' विभोर होकर।
इस भीषण निर्जनता में मानव के
पद-निपात की थी बस एक निशानी
थी केवल इक पतली-सी पंथानी,

जो विराट् औ' गुह्य पड़े जीवन की
इस मूंदी छाती को चली गई थी
तीर सरिस चीरती हुई सन्नानी,
उसके एकाकीपन के विशाल इक
सपने को छेदती हुई मस्तानी।
इस अनिश्चिता, शंकाग्रसिता भू पर,
यहां इसी पथ पर, बस पहले-पहले
आकर सावित्री उससे भेंटी थी,
जिसके लिए एक उत्कंठित उर ले
उसने अबतक की यह यात्रा की थी।
जैसे 'महाप्रकृति' की पृष्ठभूमि पर
जीवन की आतुर श्वास से सुसर्जित
चित्रलिखित-सी कोई आत्मा आकर
हो जाय खड़ी स्वप्न-भवन में क्षणभर,

उसी तरह वन के सीमान्त पर सुघर
वह हरिताभ प्रकृति औ' स्वर्ण-किरण की
चित्रपटी में जैसे जड़ा हुआ-सा
पड़ा दिखाई उसको खड़ा वहां पर।
जैसे इक जीवित 'प्रकाश' का आयुध
जो सीधा औ' उन्नत खड़ा हुआ था।
मानो 'प्रभु' का भाला उठा हुआ था,
जिसका स्वरूप ऊषा की सुषमा औ'
सुश्री का अगुआ साक्षात् बना था,
विशाल और शांत आकाशों के सम
अभिजात औ' विशद उसका मस्तक था,
उदीयमान ज्ञान का लेख-फलक था।
और मुक्ति की प्रभुतामय सुन्दरता
ने सुठि अंगों की बागडोर ली थी
औ' उसके उन्मुक्त अमल आनन पर
जीवन-आनँद की आभा झलकी थी।
उसकी चितवन का उन्मीलन जैसे
देवों का इक विशाल सूर्योदय था,
उसका शीश युवक-'ऋषि' के सुशीश-सम
सतत ज्योति-चैतन्य बना रहता था,
शरीर, इक प्रेमी का, नरेश का था,

औ' स्वशक्ति के सतेज अरुणोदय में
चलती-फिरती आनंद की मूर्ति सम,
निज काया से जैसे विपिन-पृष्ठ के
छोरों को रखता था करके दमदम।
और युगों के ज्ञानहीन उत्कंठित
लम्बे, भारी श्रम से बाहर आकर,
कोलाहल से भरे हुए मानव के
उस विशाल जीवन-नाटक को तजकर,
एक दूसरी महान् उन्नत विधि की
प्रज्ञा के पीछे उसके इंगित पर,
आया था मिलने निज 'आदि मातु' से
उसकी ही रहस्य कुंजों में खिंचकर।
'उसके' दैवी साहचर्य में पनपा
एकान्त और सुन्दरता के द्वारा
पोषित शिशु, स्वाभाविक सुषमाचारी,

एकाकी प्रज्ञावानों की स्वर्णिम
शताब्दियों का सुठि उत्तराधिकारी,
रवि-प्रकाश का और गगन का ज्ञाता,
गहन अतलताओं औ' सीमाओं से
बतियानेवाला पर्यटक, रमन्ता।
अलिखित पुस्तक का इक 'वेदज्ञानी'
जिसने आकारों की लिपि में उसके
गुह्य शास्त्र थे पढ़े और पहिचाने,
लिखे पड़े गूढ़ार्थ और सब उसके
एक मंत्रवित्-सम अपने उर आने,
औ' गोलकाकार फैली सब उसकी
बृहत् कल्पनाओं के सब गुर जाने।
जिसने पढ़ा पाठ है अरे बराकर
स्रोतों और वनों की महानता से,
दिनकर, तारक और अग्नि-वाचा से,
डालों पर बैठे जादुई गायकों
के स्वतंत्र बहनेवाले गीतों से,
चतुष्पदों के मौनिल उपदेशों से।
'उसके' मंथर, महान् हाथों की निज
विश्वस्त पगों से सहायता करता
'उसके' प्रभाव के प्रति नमित बना यों
वर्षा के नीचे ज्यों पुष्प विकचता,
औ' 'उसके' सर्जक-क्षण के स्पर्शों से
चलता विस्तृत से विस्तृततर बनता,
जैसे फूल और पादप दिन पर दिन
चलता बढ़ता, फलता और फूलता।
मुक्त प्रकृतिवाले उच्च प्राणियों का
प्रभुत्व, उसका स्वभाव बना हुआ था,
औ' उसके आनन्द तथा प्रशांति का
स्वाधिकार उसको भी मिला हुआ था,
अखिल सृष्टि में व्याप्त एक 'आत्मा' के
सँग रहता अपना तादात्म्य बनाए,
'भगवत्ता' के अग्निल-चरणों पर ही
रहता अपने अनुभव सदा चढ़ाए,
'उसके' अनन्त-मन के सम्मुख उसके
मन की संपूरण गति खुली हुई थी,
औ' उसकी आदिशक्ति के छंदों सँग
उसके कर्मों की रागिनी मिली थी,
उसकी मर्त्य-विचार सरणियां सारी
'उसके' विचार के प्रति सुसमर्पित थीं।
उस दिन निज दैनिक अभ्यस्त पथों से
इसी ओर को हठात् घूम पड़ा था।
क्योंकि 'वही' सत्ता जो हर इक क्षण पर
लदे हुए भार को देख पाती है
'वह' ही सचेत और अचेत हमारी
उठी चाप को संचालित करती है,
उसने ही जैसे भावी के जादू
से उसके पांवों को आ जकड़ा था,
और खींचकर वन की कुसुमाच्छादित
इस सीमा पर लाकर खड़ा किया था।
पहले तो सावित्री की चितवन ने
इस ज्योतित छंदोमय प्रकृति-दृश्य पर
तनिक ठिठक कर दृष्टि-अश्व ठहराए–
जिसने जीवन के बहु-आकारों से,
नभ औ' पर्वत, फूलों औ' तारों से
बिना चुनाव किए निष्पक्ष भाव से,
थे बस अपने कोषागार भराए।
देखी उसने निद्रालु तृण-स्थली की
हरित स्वर्णआभा सम्मुख फैली थी,

मंद समीरण के पद-निक्षेपण से स्पन्दित बनी तृणावलि सिहर रही थी,
वन-विहगों के मुखरित आवाहन से तरुओं की शाखाएँ गूंज रही थीं।
जाग्रत् बनी 'प्रकृति' अभिवीक्षण के प्रति पर जीवन के प्रति आज भी अजाग्रत्,
इस धरती पर उत्कंठित बंदी सम 'अनन्तता' से आई एक नवागत,
अमर्त्यता से आकर नश्वरता में एक मल्ल-सम रहती जो कि युद्धरत,
जिसकी स्वाभिमानता, शक्तिशीलता, रागात्मकता थी 'सुर'-सम प्रयत्नरत,
देखी उसने खड़ी मूर्ति वह सम्मुख ज्यों प्रच्छन्न देवता की प्रतिमा हो,
देखा धरा-जीव, उस विचार-पति को तारों की सुषमा के अन्तिम फल को
पर यह सब देखा, ज्यों देख रहा हो कोई इक सुन्दर सामान्य रूप को,
जिसको कलाकार की आत्मा झटपट अरथाना आवश्यक न समझती हो,
और उसे स्मृति के छाया-कक्षों में फ़क़त छिपा कर अपने ला रखती हो।
पर एक दृष्टि, एक मोड़, क्षण भर में
दिशा-विदिशा भटकते हुए भाग्य की एक दिशा निर्धारित कर देता है।
बस उस मूल्यवान् वेला में जिसके ऊपर था उसका सब कुछ आधारित
घूम रही लापरवाह भेदिए-सी
थी वह चितवन मंडपिता पलकों के नीचे, मंद उपरिमन से अप्रबोधित,
उसने निरपेक्ष एक सुन्दरता को देखा खड़ा सामने और सराहा,
पर निज तन की आत्मा को उसके ही
राजा के सम्मुख आज देखकर भी नहीं जगाने का उत्साह उमाहा।
दैवयोग की उस अनजान राह से बस संभव था चली गुज़रती जाती,
और 'स्वर्ग' के आवाहन को तजकर वह निज जीवन का उद्देश्य गँवाती,
पर गूढ़स्थ देव ने ठीक समय से उसकी चित्-आत्मा को चेत धराया।
रुकी दृष्टि, रह गई और बन्दी बन सब कुछ में बस इक परिवर्तन आया।
उसका मन पहले तो जाकर ठहरा उन आदर्शी स्वप्नों में मनहारी,
जो इन पार्थिव औ' बाह्य इंगितों के हैं इक अति अभिन्न रूपान्तरकारी,
जो इक जाने-पहचाने रूपों को
अनजाने, अनपहचाने लोकों का बनवा देते हैं संकेतनकारी,
उस मन ने देखा अब उसके भीतर स्थानीय देव का स्वरूप सुखकारी,
जो पार्थिव दृश्यों के बीच खड़ा था महिमाशाली इक प्रतीक-प्रतिमा-सम,
प्राकृत कोमलता की पृष्ठभूमि पर खड़ा हुआ था जीवन के राजा-सम।
पर यह सब तो क्षण-भर का सपना था
क्योंकि यकायक अब उसके अंतर ने सीधे बस सत्यवान् को देखा था,
और खुल पड़ी प्रेम-दृष्टि वह जिसकी सरवरि विचार कभी न कर सकता था,

जिसने अपने अन्तर-तारों से भी
बस सब कुछ एक घड़ी के भीतर ही
वह सब कुछ जो अब तक अचेतना के
या कि कल्पना की रंजित पलकों के
वह सब कुछ स्वप्न के विशाल दर्पणी
फूट पड़ा था, पुनः सृष्टि करने को
उस ज्वाला में वह फिर से जन्मी थी
औ' इक रहस्यमय कोलाहल जैसे
सुख-सपने में पड़ा हुआ ज्यों कोई
उसी तरह इन्द्रिय के द्वार-द्वार से
दौड पड़ी बस उसकी प्राणशक्ति सब-
चन्द्रिका-कुहासित स्वप्निल गगनों में
नई सृष्टि ले रही जन्म हो जैसे
स्वर्ण-देवताओं से बने आक्रमित;
अंतर-नभ के कोलाहल से होकर
आश्चर्य-अध्वर्यु के एक मंत्र पर
नव्य-भव्य उस सविता के आगे अब
हुई रसायन की इक क्रियासिद्धि औ'
उसके दैव-नियोजित मुख पर मानो
निकट आ रही उसकी दो आंखों की
नाम-विहीन ज्योति में सावित्री को
अपने जीवन का इक द्रुत आकस्मिक,
जिसने निपट अपरिचित लोकों के शुचि-
इक गुह्याघात से कांप तब उसका

निकट डाल पर बैठे निज संगी का
टाप-टाप करती अश्वों की टापें
रुके सभी, सहसा रथ खड़ा हो गया,
सत्यवान् ने अपनी दीठि उठाकर
और भर उठी उसकी अन्तर-श्रुति अब
पूर दिया जिसने उसके यौवन के
पूर्णानन के औ' अनुपम जादू को
उसके एक अनोखे कुसुमित मुख के

उसको अब समीपतर ही समझा था।
अब हठात् बस पकड़ा-धरा गया था,
पुलक वेग में लिपटा पड़ा हुआ था,
नीचे मूंदा और ढका रहता था,
वातावरण में अरे पकड़ा जाकर ,
नव जग की, इक ज्वाल-माल में फटकर
निपट नए जीवन मूल्यों को लेकर।
उसके अंतर से आया था कि उभर;
सुन अभिनन्दनचार खड़ा हो जाए,

कुछ लखने को अपनी दृष्टि उठाए:
अब ये विचार प्रसन्न और धूसरित,
यों सुख-सर्जननिरत भाव ये पुलकित,

निकल पड़े, वेग से बने आन्दोलित।
आत्मा ने जागरण-साज सब साजे,
खोल दिए सब बन्द पड़े दरवाज़े।
रूपांतर का चमत्कार अब चमका,
'प्रभु' की मंत्र-शक्ति का प्रभाव दमका।

विधि-निर्धारित मोड़ पड़ा दिखलाई,
प्रकाश की दिशि थी निज राह बनाई।
हृदय, वक्ष में स्फुरित हुआ, उमगाया,
औ' मुख से इक चीत्कार कढ़ आया,
किसी खगी ने हो कि बोल सुन पाया।
औ' रथ-चक्र घूमते गन-गन करके,—
यथा पवन रह जाए बन्दी बनके।
देखा अपनी आत्मा के दुआर से,
किसी आर्द्र-वाचा के मृदु गुंजार से,
रक्त-नील मंडल को निज खुमार से,
सहा, सकल सत्ता के तार-तार से।
मधु से बनकर विवश और अनुशासित,

उसके ललाट के परिवेश के खुले
उस दर्शन पर ऐसे मुड़ा कि जैसे
इस अभिनव सौन्दर्य और परिवर्तन
और मर्त्य मानव-शिर के ऊपर ही
और फिर इन्हीं साधारण द्रव्यों में
और ढह पड़ी स्वनिबद्ध प्रकृति उसकी,
औ' उसका जीवन जैसे कि दूसरे
उसके मन की भव्य और एकाकी
निज दीप्त पर्याप्तियों में नीचे ढह
यथा स्पर्श पाकर नव अनन्तता का
अपने से भी बढ़कर किसी दिव्यता
प्रभुता भरी अजान शक्ति थी उसको
स्वर्णिम दूर्वा पर आश्चर्य-चकित-सा
निकट दीठि से भेंटी दीठि, रह गई
बस फिर एक उदात्त, महान्, शांत, थिर
मानो चिंतन के आभामंडल में
ध्यान-निमग्न-ज्योति की सेतु-वितति थी
या कोई प्रच्छन्न प्रभा-मंडल था
उसका अंतर-दर्शन निज स्मृति में जग
जो उसके सारे पिछले अतीत के
निरख लिया था, आंखों को जो उसकी
युग-युग की साथी वे शाही आंखें,
जनम-जनम के चीन्हें अक्षि-पटल वे
सत्यवान् ने भी उसकी चितवन में
और अनुभवी उसमें भावी प्रतिश्रुति
देखी, ढली हुई इक जीवित प्रतिमा
वह आनन्द-रहस्य जिसे पाने को
जनम-जनम से मानव प्रयत्न-रत है,
वही स्थूल तन का आकार लिए अब
यह सुवर्ण-प्रतिमा जो आज गई है
उसने है अपनी छाती में उसकी
आई जादू-सम है, मर्त्य धरा पर
क्षण-भंगुर विचार को और उठाकर

आत्माकाशों से होकर आकर्षित,
शशि के प्रति हो उठे सिंधु उत्कर्षित,
के स्वप्नों को सहा और अँगिआया,
इक स्वर्णिम आभा-किरीट को पाया,
नई दिव्यता के प्रति शीश नवाया।
जैसे अग्नि-ज्वाल में कि गिर पड़ी हो,
के जीवन से अधिकृत किया गया हो।
गढ़ी-गढ़ाई प्रतिमाएं अब तक की,
यथा साष्टांग दण्डवत् करती थीं,

के पूजने के लिए विनत बनी थीं।
सावित्री के पास खींचती लाती।
खिंचा आ रहा मांत्रिक मोहन में
और चिपटकर दर्शन-आलिंगन में।
आनन अब सावित्री के सम्मुख था,
घिरा हुआ-सा सम्मुख उदित हुआ था,
या कि गई थी इक मेहराब उठाई,
अभी पड़ रहा जो आधा दिखलाई,
अब भी इक ललाट को चीन्ह रहा था,
स्वर्ण-मुकुट को स्व-शीश पर धारे था,
चली आ रहीं बनकर शाश्वत तारे,
उसकी आत्मा का अधिकार सँभारे,
सुदीर्घ प्रेम-फलक सौन्दर्य सँवारे।
अपने भविष्य की ताकन अवलोकी,
एक दिव्य सन्निधि, इक ज्वाल, विलोकी
अपने युग-युग के सारे सपनों की,

अल्प टिकाऊ भी इस पृथिवी-तल पर,
आया है उसका अपना ही बनकर।
बरबस उसके हाथों में पकड़ाई,
सारे ध्येयों की कुंजिका छिपाई,
अब दैवी आनंद के ले आने को,
आकाशीय सत्य से गठियाने को,

इन पार्थिव हृदयों का रूपांतर कर
इन महान् अवतारी आत्माओं में
'प्रेम' आज लाया है शाश्वतता से
इस जीवन के भीतर ही रचने को
उसका रागावेग स्रोत के सम बस
और उछल आ पहुंचा इस पृथिवी पर
किन्तु रहा पकड़े निज अनन्तता के
यद्यपि इस विस्मरणशील भूगोलक
की गूंगी छाती पर हम सब प्राणी
पर ये प्राणी नहीं पराए होते
न किसी कारणरहित शक्ति के द्वारा
अरे, इस विभाजनशील 'काल' पर भी
सकती है आत्मा पहचान सहज में
और अचानक जीवन के मार्गों पर

औ' बस इक परिचित शोभा-महिमा को
तभी क्षिप्र प्रेम की उठी उँगली से

जिसने ही तो क्रीड़ा के वश होकर
अपने भीतर एक शक्ति ऐसी है
क्योंकि महत्तर हैं हम निज विचार से,
और कभी कुछ ऐसा बन पड़ता है,
जीते रहना और प्रेम करना तो
अरे 'प्रेम' तो शाश्वत के लोकों से
नाम-रूप और आनन्द को ही बस
निम्न शक्तियों ने है उसे कर दिया
किन्तु आज भी वह एक 'दिव्यता' है
जग पड़ता है एक रहस्य कभी बस
और जन्म ले उठता है इक आनँद
प्रेम, अनखिले फूल सरिस रहता है
रहता है जो बैठा अंतरात्मा
या कि विचारों और वस्तुओं में है
शिशु-प्रेम देवता इक खेल-खेलता

'शाश्वत' रवि-प्रकाश तक पहुंचाने को।

एक महान् शक्ति नीचे उतार कर,
अपनी इक नव नींव आज अविनश्वर।
फूटा कोई निस्तल गहराई से,
एक सुदूर विस्मृता ऊंचाई से,
स्वभाव को वह पूरी दृढ़ताई से।

बिन जाने-पहचाने से मिलते हैं,
और न अजनबियों-सम आ जुड़ते हैं,
ही एक दूसरे के प्रति खिंचते हैं।

प्रत्युत्तरदात्री आत्मा को अपनी,
यह ध्यानमग्न और विसुध-सी यात्री
बरबस कभी घूम उसकी दिशि पड़ती,
एक अपरिचित आनन पर सुधियाती,
अन्तर-एकाग्र बनी-सी जग जाती,
अमरानंद-प्रेरणा से भर जाती,
है नश्वर मानव-काया धारण की।
जो मानवी ज्ञान से अधिक जानती,

कि धरा उस दृष्टि को यहां उधारती,
है अनन्त द्रव्यों की एक निशानी
उतरी इक विभूति है अनपहचानी।
उसके केवल करके जगमें अपहृत,
धूल-धूसरित, विकृत औ' उपहासित,
जो कर सकती है सब कुछ परिवर्तित।
इन्हीं अचेतन तत्त्वों बीच निनारे,
रच सकता जो जीवन बहुरि हमारे।
छिपा हमारे ही अंतरागार में,
के इक द्रुत मुहूर्त्त के इन्तजार में,
घूमा करता जादूई खुमार में।
औ' निज को ढूंढ़ा करता है सबमें,

रहता बाट जोहता इक सूचन की,

तब वह इक स्वर पर, इक उठी दृष्टि पर
एक स्पर्श, इक मुख-श्री के आशय पर,
उसका साधन मंद शरीरी मन है
वह बाह्याकर्षण के इक इंगन पर
जो अनगिनती 'प्रकृति'-सूचनों की इस
औ' इन पार्थिव-रूपों में से ही वह
औ' केवल 'भगवत्ता' की ही ख़ातिर
औ' आकारों की अमर्त्यताओं को
औ' फिर इस पार्थिव काया को ढाली
प्रेमाराधन आत्मिक-द्रष्टावत् है,
पार्थिवता के और अक्षरों में ही

अगिन मनों, हृदयों जीवित रूपों में
जिसे देखते ही ले चीन्ह कि क्षण में,
औ' जब वह उसके सम्मुख आता है

बस इक अंधभाव से जग जाता है।
जिसने अब दिव्य बोध हैं बिसराए,
एकाएकी कभी झपट पड़ता है,
भीड़ में उसे पथ दिखला जाता है,
शाश्वत स्वर्गिक सत्यों को पढ़ता है,
किसी मूर्ति की आकांक्षा करता है,
वह उनके भीतर खोजा करता है,
गढ़ी हुई बस आत्मा ही लखता है।
जो दर्शन में अदृश्य को लखता है,
'ईश्वरीय' अर्थों को पढ़ सकता है;

पर मस्तिष्क फ़कत विचार करता है,
इतना ही सोचता और कहता है:—

"देखो उसको जिसके हित मम जीवन
देखो, देखो, मम जीवन-स्वामी को
हृदय-हृदय का वेदन अनुभव करता
औ' सारी सत्ता का सब कुछ उठकर
उसी असल अपनी एकता को यहां
'प्रभु' से दूर बस पड़ा हुआ 'प्रेम' यह
जीवन अंधा, सभी करण छलते हैं,
और शक्तियां हैं जो किए-धरे को
फिर भी उसे सत्य-दर्शन होता है
दुर्लभ है उपयुक्त पात्र पर जिसमें
ऐसा दुर्लभ जैसे 'देव'-जन्म का
सहस-सहस वर्षों में कोई आत्मा
जो परात्पर के 'अवतरण' के लिए
सदा-सदा के परिचित हैं ये प्राणी

और प्राण, मन सदा बदलते आए
पर अब इन देहों ने किया समाहित

भूखा-प्यासा बाट जोहता धाया
स्वयं अचानक आज सामने आया।"
अंग प्रतिस्पन्दी अँग को पुकारता

सुसंचरित करने को ज़ोर मारता।
है निज चरम सत्य को ढूंढ़ा करता,

सदा पंक-मंडित ही करती रहतीं,
आनन्द की झांकियां हैं मिल सकतीं।
प्रेम की अमृत-मदिरा ढाली जाए,
असह भार कोई आधार उठाए।
कभी, कहीं इस लायक़ बन पाती है,
बन जीवित आधार एक सकती है।
यद्यपि शरीर से हैं अनपहचाने,
यद्यपि हैं दीठि के लिए अनजाने,
नव-नव जीवन के नव अर्थ लगाने,
सारे अनगिन जनमों की धारा को,

उस आनँद से ही अब चकित बने-से
अपनी-अपनी अलग डगर के राही
अनन्त 'काल'-मार्ग पर चलते यात्री
पिछले मानवीय भूतकाल के सब
अपनी विधि-आदेशित यात्राओं पर
भावी आनँद के निज क्षिप्रस्पन्दी
आंखों को दुर्लभ इस अप्रत्याशित
एक दृष्टि की व्यंजक महानता में
जाग उठी उसकी आत्मा की स्मृति सब
युगल जीवनों के बीच का कुहासा
खुला सहज सावित्री का अन्तर-पट
और उसे पाने को सत्यवान् के
नभ में उडु से उडु ज्यों हैं आकर्षित
वैसे ही एक-दूसरे से दोनों
बिनने लगे एकता का निज ताना-
बीत गया अब वह क्षण जो था केवल
शुरू हुई बेला, अब अभिनव जो थी

किंतु वही थी आत्मा हित आत्मा तो।
जिसकी कब से राह देखते आए,
दो प्रेमी थे आकर आज भेंटाए,

एकान्तों में अपने आत्म-निमीलित,
चले आ रहे साथ-साथ आकर्षित,
सुख सपनों के प्रति बढ़ते जाने को,
वर्तमान का पुरस्कार पाने को।
आकारी शोभा से अभिहित होकर,
उसके इन्द्रिय-बोधों में अब सत्वर।
कटा-फटा, जीवन-दूरियां नसाईं,

अंतर ने अब अपनी दीठि घुमाई।

होकर आश्चर्य-चकित और उल्लसित,
बाना मूक दृष्टियों से अभिमोहित।
शाश्वतता की एक मयूख अकेली,
एक विधात्री, भावी नए 'काल' की।

पर्व ५, सर्ग ३

सत्यवान् और सावित्री

भूतकाल की नीरव वाग्विहीना,
भूले-बिसरे पिछले संबंधों से
अनजान बने-से इस वर्तमान में
फिर भी उनकी गुप्त चिदात्माओं ने

सुसाहजिक ढँग से अंतर-जाग्रत् बन
यथा स्थूल इन्द्रिय-पट के पीछे से
जग, गहरी तलविहीन गहराई में,
औ' मर्मोन्मेषी अभिव्यक्ति के लिए,
अंतरतम का आशय प्रकटाने हित
लेकिन मनस्-अज्ञता आगे आकर
औ' फिर भू-निर्मित व्यवधानों से छन,
यों इस भाग्य-विधायक, महत्त्वशाली
फिर स्मृति से सब मोहक रंग उड़ गए,
कुछ क्षण बीते सत्यवान् ही पहले
"यदपि 'काल'-नीरवताओं से कढ़कर
किन्तु तुम्हारी गिरा ने अजाने इक
हो यह अमर, या कि नश्वर, इस काया
क्योंकि धरा से उन्नततर संदेसा
और धरा से पर, एक वायुमंडल
किन शब्दों में जाता तुम्हें पुकारा,
ओ अरुणाभे! एक स्वर्ण-कन्या-सी
मेरे प्रखर-ग्रीष्म से भी प्रदीप्ततर,
मेरी आत्मा के दिवसों को भरती

मुझे विदित तो है कि धरा से गुपचुप

इक मौन गुह्यता से बाहर आकर,

भेंटी दो आत्माएँ 'काल'-मार्ग पर,
हर्षोन्मत्त गिरा के प्रथम शब्द पर,
विधिनिर्णीत वदन के दर्शन भर कर
एक-दूसरे को तत्क्षण पहचाना।

प्राणी इक प्राणी को गुहारता है,
गाढ़ यत्न करता ज़ोर मारता है,
रस-सुसिक्त शब्द की खोज करता है,
अंतर-दर्शन तुरत छिपा जाती है,
इक छाया ही सम्मुख आ पाती है,—
वेला में वे दोनों अचक भेंटाए,
एक बने छिन भर को, फिर बिलगाए
मौन तोड़ता सावित्री से बोला:—
ही तुम मेरे सम्मुख हो प्रकटाई,
आनन्द में हृदय-बीन है जगाई,
से ही मुझ को दी है आज सुनाई,
एक सुनाया है तव अंतरतम ने,
में घेरा है मुझको इस चितवन ने,
हो, किन धन्यों की जाया, मर्त्यों में?
ढाली गढ़ी हुई किस दिशि से आई?
मेरे अरण्य-सुमनों से भी भास्वर,
मम जीवन के इन सुनसान तटों पर
कौन लोक से ऊषा-सी प्रकटाई?
रखते हैं महान् देवता मिताई।

ऊषा-संध्या की अरुणाभ निराली
प्रतिदिन के जाने-चीन्हें द्रव्यों के
रहा घूमता बहुत दिनों तक हूं, इस
छिपा रख सकी धरा न किन्तु शक्तियां,

और प्रति दिवस की परिचित, साधारण
इन जग-आकारों से अंध बने-बिन
और सुपरिचित इन्हीं बाह्य दृश्यों से
नभ के ज्योतिष्पट से परम-लजीली
आनँद से भर प्रातः की पद-चापों
अलसे और उनींदे प्राच्य तटों पर
या चीरते हुए महिमा औ' ज्वाला
का विशाल बंजर, भास्कर-प्रकाश के
निशि के और अनिश्चित-विस्तारों पर
गगन में, चकित बने, तैरते, शशि से
औ' अभिभेदी नोकीले भालों से
चीरते चले जाते जो अनन्त को
उन उडु-प्रहरीगण के दीर्घ पथों पर
यों प्रातः-संध्या ने मेरे आगे
आई हैं आकारित बनी शक्तियां
निरखा है प्रसन्न मुख-मुद्राओं ने,
आकाशीय ऊर्मियों के सागर पर
किन्नर-प्राणी की विस्मयकर तानें
स्नान कर रही अमलकाय-विधुवदनी
चल पत्रों के पीछे मुग्ध झांकती
वायु ने दिखाए निज पवन-देवता
देखे सहस-स्तम्भ-ज्योतिर्भवनों में
अरे इसी से मन में सपने आते
कि तुम सुरों के इस विस्तृत विहान में
भू से पर, इक अपर वायुमंडल से
अचक चली आती हो हय दौड़ाती
यदपि स्पष्ट है इतना कि तुम्हारी यह
फिर भी यह जानकर सुखी होगा मन

रंगबिरंगी तड़क-भड़क में जीकर,
चमत्कार से आकर्षित हो-होकर,
तीरथ यात्री आत्मा के सँग इत-उत
रखती है जिनको सबसे कर आवृत :
बस भू-दृश्यों में घूमते हुए भी,
पार्थिव-चीजों के उपरि-तलों पर भी,
देखा है सीधे अंतर-नेत्रों ने;
मुझको भी निरखा है 'भगवत्ता' ने।
लग्न-मंगला उषा-कुमारी निरखीं,
के सँग सँग मैंने भी होड़ा-होड़ी
गमन किया है बन उनका सहचारी,

स्वर्ण-मरुस्थल को मैंने लांघा है,

मेरे प्राणों ने आलाप किया है,

उनकी महाकूच सँग गमन किया है,–
निगुप्त-रूपों का वैभव खोला है।
मेरे पास अदृष्ट गुप्त छोरों से,
मुझको ज्वालाओं से औ' किरणों से।
तिरती अद्भुत-ध्वनियां सुनी-गुनी हैं,
कानों को कर झंकृत और गई हैं।
'अप्सरियां' हैं सर-जल-मग्न निहारी
वन-देवियां लखी हैं मैंने न्यारी;
हैं, निर्भयता से पद-मर्दनचारी,
हैं ज्वलन्त 'रवि'-कुमार आभाकारी।
तथा बना है अंतर शंकाकारी

उठकर निज शैय्या से सुचमत्कारी,
कोई 'इन्द्रलोक' से विद्युत्चारी।
सुन्दरता सुरपुर से संबंधित है,

कि मर्त्य-सुमधुरता भर इन ओठों में सकती दौड़ एक मुसकान सुखित है?
और किसी मानव-चितवन से द्रवकर यह अंतर हो सकता उद्वेलित है?
और तुम्हारा किरणीला अंतर क्या इक चितवन में स्पन्दित हो सकता है?
औ' उसका आवेग सुसहजभाव से मनुज गिरा को उत्तर दे सकता है?
काल-प्रपीड़ित कोमल स्नेह हमारा जो तव अंतर को अभिद्रवित बनावे,
दुनिया की इन सहज, सरल द्रव्यों की सुख-समृद्धि तुमको संतोष धरावै,
इस भू की मिट्टी पर यदि यह चितवन रहकर तुष्ट औ' सुखी विचर सके तो,
स्वर्गानन्द-सार-सी कंचन काया
इस भौमिकता पर जिन-चरण चापती
और कृपा बरसाती, कहीं हमारे इस भू-श्रम के सँग हँस विहर सके तो,
तब तक पार्थिव भोजन के मीठे ये क्षीण, क्षणिक स्वाद रोकते, रुक जाओ,
और उछलते स्रोतों की मदिराएँ तुम्हें टोकती हैं, कुछ क्षण विरमाओ।
यात्रा तोड़ो और उतर कर ऊंचे वाहन से अब निकट हमारे आओ।
यहीं निकट ही रची पिता ने मेरे पर्णकुटी इक, बेलें जिसको घेरे,
ढके हुए हैं जिसको ये उन्नत औ' कुलीन तरुओं के अधिपति चहुँ फेरे,
विविध-रंग-वसनित गायक-दल जिनको रहते गान सुनाते हैं रस-बोरे,
जो निज रागों में दोहराया करते स्वर-लिपिबद्ध अनुलिखित पड़े घनेरे
डालों के ये राग-रंग-रंजित स्वर,
औ' निज मृदु-ध्वनियों से भरते रहते हैं घड़ियों को, सुख-मद से बिन प्रेरे।
अलियों के मादक गुंजन-स्वागत में उतरो हे सुभगे तुम सहज सरसती,
औ' मधु से सिंचित इस नन्दन-वन के सुसाम्राज्य पर पुलक आक्रमण करती।

हो मुझको आज्ञा तो राह दिखाऊँ
भरा-पुरा वन का जीवन दरशाऊँ।

यह शाल्व वन-कुटी का जीवन यों तो है अनलंकृत, सादा, साधन-परिमित,
किन्तु रत्नगर्भा के रत्नों से है वह विधिवत् अभिभूषित औ' श्रृंगारित।
दौड़ रहे हैं मत्त पवन-अभ्यागत विटप-शिखाओं पर झूमती, गहबरी,
जो कि शांत-दिवसों में हैं सुविश्रमित जैसे हों स्वर्ग की सुशांत संतरी,
नील गगन-चादर पर विरमाती हैं,
और ताकतीं चुप रहकर नीचे की विभवमयी गोपनता, खामोशी को,
उसके भीतर घिरे हुए उन मोहक
खल-खल, झर-झरकर बहते सोतों की विवाहोत्सवी कल-जल-स्वर-लहरी को।
विविधाकार, प्रतापी, कर्णजपी, इन
उन्नत वन-देवों ने ली भर है निज बाहों में मानवी घड़ी यह प्यारी,

इस अभ्यागत की ही सदियों से ये
और हुए हैं प्रातः हरे-सुनहरे
धूप-छांह मिलकर करती रहती हैं
अति उपयुक्त विरमने को कि तुम्हारे
कुछ क्षण रही ठगी-सी खड़ी यथा हो
नहीं चाहती हो मानों उस छाए
फिर विचार-मग्ना-सी धीरे-धीरे
"मैं सावित्री 'माद्र'-राजकन्या हूं
पृथिवी पर मानव समाज के सम्मुख

में सौभाग्यवान् सोतों से सिंचकर
क्यों इस मार्गहीन सुनसान विपिन में
क्यों युवकोचित उन्नत गौरवशाली
कर्मों की मांगों के बृहत्-क्षेत्र से
जहां निवसते हैं केवल सन्यासी
जहां घिरे इस विशाल नीरवता से
और 'प्रकृति'-शाद्वलता के इस निर्जन
अपने-आप बने-से अपने साक्षी
तब उत्तर में सत्यवान् यों बोला :—
"है यह उन दिवसों की बात पुरानी,
जब नृप 'द्युमत्सेन' की दृष्टि खुली थी
राज किया इस विशाल शाल्व देश पर,
हरियाली के आनन्दों में सीझा
लखते हुए घूम पीछे दखिनांचल ,
जो यात्री पवनों से निज विश्वासी
और विचार-निमग्न पर्वतों पर हो
पर समदृष्टि नियति ने इक दिन खींचे
घेर लिया उन लौह-पुरुष का पथ बस
ओजस्वी देवों ने उदारता से
औ' निरीह नेत्रों से उनके प्यारे
बस हर्षद, जीवन के मात्र सहारे,
पार्श्व-भाग में बैठी चपला लक्ष्मी
तब से बाह्य ज्योति के साम्राज्य से

करते आए भड़कीली तैयारी।
सुठि वस्त्रों में अपने यहां सुसज्जित,
जहां सुन्यारे भित्ति-चित्र-पट निर्मित,
शुभ विश्रामागार हुए हैं विरचित।"
सुनती सत्यवान् की गुंजित वाणी,
जादू की अद्भुत मोहनी टारनी,
निज सुमधुर शब्दों में इतना बोली :—
कौन आप, क्या नाम गीत-लयकारी?
कौन नाम आखर सम्बोधन हारी?
कौन राजकुल है जिसकी फुलवारी-
फूली आखिर एक डाल मनहारी
चुना गया यह ठांव, बने बनचारी?

दूर-दूर इस निर्जन वन में बसते,
या भू के जंगली यूथगण रहते?
आदि अचंचलता के अंधे-स्वन में,
अमानुषी बीहड़ एकाकीपन में,
मौन विचरते, अलख, सघन कानन में?"

पढ़ सकते थे जीवन को नेत्रों से
जो जाता इन शिखरों के पीछे से,
कभी बिताता था दिन मद-डूबे-से,

वार्तामग्न घूम पड़ता है सत्वर,
बढ़ता है अपना इक पक्ष झुकाकर।
उनके ऊपर से अपने रक्षक कर,
इक जीवित औ' भयद रात्रि ने बढ़कर,
जो वरदान दिए थे सब लौटाए,

बचे ज्योति-उपहार तलक खिंचवाए,
के सँग सब सौभाग्य बिदा करवाए।
भी होकर वे अपने निपट वियोजित,

अपने सुप्रिय भाग्यशाली, सब साथी- सलोचनों से भी बन कर असहचरित,
यात्री हैं अब दोहरी नीरवता के :—
एक भीतरी और दूसरी वन की है जो गभीर मर्मर-ध्वनि से पूरित।
उनका ही आत्मज मैं सत्यवान् हूं, बना हुआ इस जीवन से ही तोषित,
क्योंकि अभी तक तुम से रहा अपरिचित,
बना तुष्ट था अबतक मैं आत्मा की उन्नत जनीकृता इक निर्जनता में
औ' आरण्यक इस प्राणिक गुंजन के सँग अनुभव होती इक अभिन्नता में,
क्योंकि मुझे पाला है अनन्तता ने औ' निज शिष्य बनाया नीरवता ने।
अपना खोया शिशु पाया था फिर से 'महा प्रकृति' ने आकर जैसे मुझमें।
मनुष्य-कर से जड़ अस्पष्ट भूमि पर जा सकता है जैसा राज्य रचाया,
मैंने उससे उन्नत साम्राज्य के शासन को जीवन में यहां चलाया,
भेंटा, निश्छलता से आदि-धरा की, बाल-ईश मैत्री का मोद मनाया।
'उसके' महाराज्य के चित्रपट-खचित- सुअलंकृत-कक्षों में मैं निवसा हूं,
विश्व-जननि की आंचल-गरमाहट में,
बन स्वतंत्र उसके असीम प्रासादों में होकर निःशंक सदा विलसा हूं,
अपने इन स्वाभाविक भ्राताओं सँग
'उसके' घर में पलकर सरल प्रेम से
अंत-विहीन खुले मृदु आलिंगन में कसा गगन के नीचे पड़ा रहा हूं,
सूर्य-प्रभा की ज्योतिजगमगी आशिष ने मेरे ललाट को मुद लपटाया,
और निशा में शशि-किरणों के रजतिम
आनंदातिरेक ने धूमिल पलकों को है चूम-चूम कर सदा सुलाया।
जगती के सारे प्रभात मेरे थे
औ' हरीतिमा-भूषित घड़ियों में मैं
धीमी हर-हर सर-सर ध्वनि पर मोहित, डूबा-डूबा-सा बन में घूमा हूं
जल औ' समीर की उन्मद ध्वनियों के प्रति मैं सीधा सुसहज खुला रहा हूं,
सूर्याह्लाद का बना हूं सहभागी औ' विश्व-गिरा को सुनता आया हूं :
सतत तुष्ट आत्मा लखती आयी है, ईश-तुल्य अपने जन्माधिकार को,
वैभव-लदे हुए औ' निज जीवन को,
यह सारी पृथिवी औ' सकल गगन यह जिसके लिये कि अपनी जायदाद हो।
इसके पहले कि नियति के द्वारा मैं गया मरकती इस जग में पहुँचाया,
उर के छायाभासी एक स्पर्श से गया एक अंतर-ज्ञान था जगाया,
इस प्रारंभिक पूर्व-ज्ञान ने मन में
पृथिवी की अबोल, गूंगी, उस पाशव सरल-चेतना के सँग योग कराया,

कि सभी पिछले भड़कीले जीवन की
इस अस्पष्ट सुविशाल गौरवशाली
जिसने कि धरा की इस दृश्यावलि को
एक गुह्य दर्शन औ' स्पर्शन से है
इक अंतर-दर्शन का जादू मेरे
सकल वस्तुएँ जिनको इन आंखों ने
मेरे व्याख्याता मन ने उन सबको
और सभी आकारों में आत्मा को
इक आदिम बालदेवता ने आकर
जिसने इस जिज्ञासा-स्फुरित स्पर्श से
पकड़ा था उन ज्योतित रँग-रूपों को
वे जो पृष्ठ, पाहनों पर चित्रित हो
औ' उन्नत 'सौन्दर्यों' के संदर्शक
भाग रही उस चंचल प्राणशक्ति का
वायु-अयाली, जो दौड़ा करता है
मेरी द्रष्टा-मनोदशा में रचता
पंक्ति-बद्ध धावित-कर्बुरित मृगों को
कि आत्म-नीरवता के प्रति वन्दन-रत
मत्स्य-भक्षि-काकली झपट अंधियारे
तब मुझको लगता ज्यों शाश्वत के ही
नील-झील पर रजताभा छितराता
लगता जादूई धवलता विनिर्मित
चल पत्रों के दल अहरह समीर के
और घुमक्कड़ नभचर पक्षों के दल
मम अंतर-दर्शन के खुले पटल पर
उन्नत तरु-पर्वत यों खड़े दीखते
चटकीली, चपला तितलियां, यथा हों
चमकीली, लम्बी चोचोंवाले ये
औ' उन्मत्त पवन में मोरों के दल
ये सब रहते स्मृति में यों चित्रांकित-
काष्ठ और पाहन में से भी मैंने
परम शब्द की प्रतिध्वनियां पकड़ी हैं
जो अब मुझसे है इतनी नियराई
हैं मैंने अब तड़क-भड़क बिसराई,
मर्मर में जीने की धुन अपनाई।
आत्मा के गभीर देश में उठाया,
मेरे भीतर नव-जागरण कराया।
बचपन से ही सँग-सँग लगा रहा है:
उनकी रंजित रेखा में देखा है,
एक नए ही ढँग से अवलोका है,
गहने का ही सतत प्रयत्न किया है।
खुद ही जैसे मेरा हाथ धरा था,
उसके प्रेरित औ' संचालित होकर
जो उसकी आंखों से गुज़र रहे थे;
मानव से कुछ रहस्य कह जाते थे।
बने रहे हैं मम संगी अभिन्नतर।
हिहिनाता आता वह गर्व, रूप-धर,—
तृण-क्षेत्रों में अरे हमारे सर-सर,—
जाता द्रुतता-आकारों को सत्वर;
देख सांध्य नभ के नीचे यों लगता,
सांध्य-गीत आता हो सतत उमड़ता।
जलाशयों पर जब बिज्जु-सम उतरते,
नेत्र चले आते हों निधरक बढ़ते;
श्वेत-हंस जो धीरे-धीरे बढ़ता—
आकार स्वप्न पर आता हो तिरता।
भावावेशों के सँग विसुध डोलते,
अनन्त से आते हों यथा उतरते,
आकर जैसे हैं चुपचाप विरमते।
ज्यों 'प्रभु' के ढिग से हों विचार आए
चेत जगे-से पवन-फूल उड़नारे,
खग, विधि-विधि से निज परिधान सँवारे,
फिरते अपनी पर-चन्द्रिका पसारे,—
जैसे चित्रित भित्ति-चित्र हों प्यारे।
गढ़े, रचे हैं अंतर दर्शन न्यारे।

अनन्तता की सारी लय-तालों को एक साम्य में छन्दोबद्ध किया है,
संगीत की और ध्वनि में कानों ने शाश्वत 'वाणी' का रस प्राप्त किया है।
अनुभव इक निगूढ़ बोध का किया है और एक निश्चित आह्वान सुना है,
पर निज सशरीरी 'भगवान्' आज तक नहीं भेंटने को भर बाहु मिला है,
'जगज्जननि' के औ' पावन-चरणों को नहीं पुलक हाथों ने अभी भरा है।
भेंटा हूँ मनुजों से जो 'आत्मा' की अद्भुत अंश-कला-सम गए सँवारे,
अंश-सत्य की ही खोज में जिन्होंने अपने सारे जीवन हैं जी डारे :
जिनमें से प्रत्येक जिए अपने में जिए और बस अपने लिए निनारे,
और अन्य लोगों के सँग उड़ते-से हैं व्यवहार आपसी फ़कत निभाए;
सतही सुख-दुख पर रागावेशित बन
जीते रहे और 'शाश्वत' को उसके निगुह्य गृह में कभी नहीं लख पाए।
पर मैंने जीवन इक भिन्न जिया है, और 'प्रकृति' से वार्तालाप किया है
अज्ञ 'निशा' में अविरत जलनेवाले
'ईश्वर' की प्रहरी अग्नि के सरिस इन अविकारी तारों सँग ध्यान किया है,
औ' 'उसके' महान् आनन पर पड़ती
'शाश्वत'-भास्कर की उस भविष्यवक्ता मयूख को इन आंखों से निरखा है।
समाधिस्थ ऋषियों के सँग अरण्य के, मैं बनकर एकात्म उठा-बैठा हूँ,
हीरक-ज्योति-जगे बहते सोतों को निज नेत्रों से अवलोकता रहा हूं,
उस 'केवल' की सन्निधि की ही झांकी मैं इस सब कुछ में लेता आया हूं।
किन्तु परात्पर की धुर-सत्ता फिर भी मेरे जग से थी अब तक अनुपस्थित,
और आज भी 'जड़' सत्ता सोती थी अपने 'प्रभु' से रीती और वियोजित।
आत्मा बनी सुरक्षित थी एकाकी, पर शरीरता खोई, वाचा-विरहित,
फिर भी जीती साथ 'मृत्यु' के ही थी आदि-आदि 'अज्ञान'-चीर-परिवेष्टित,
'अंध-अचेतन' ही बस उसकी जड़ थी औ' विधि उसकी थी 'शून्य' में पल्लवित
लेकिन अब तुमने निज चरण धरे हैं निश्चित ही सब कुछ होगा परिवर्तित :
आज तुम्हारे दीप्त-स्वर्ण-अंगों में
साक्षात् जगत्-जननी से भेंटूंगा,
और तुम्हारी पूत गिरा में उसके अतुल-ज्ञान का चिर-संदेश सुनूंगा।
तुम देखोगी शून्य-जात शिशु फिर से अपनी 'भगवत्ता' में जनमाएगा,
'निश्चेतन'-समाधि से यह मेरा 'जड़' मंत्र-प्रबुद्ध बना-सा छुट जाएगा,
मेरी आत्मा के समान ही मेरा यह तन भी अब स्वतंत्र हो जाएगा;
औ' 'अज्ञान', 'मृत्यु'-चालित शासन के पंजे से हो मुक्त निकल जाएगा।"
लेकिन अब भी अंतर-ध्यान-निमग्ना, सावित्री अटपट वाचा में बोली :

"बोले जाओ सत्यवान् तुम मुझ-से और अभी कुछ यों ही बोले जाओ।
बोले जाओ, अपने बारे में औ' भीतर से जो कुछ है खोले जाओ!
कि मैं चीन्ह लूं तुमको, क्या सचमुच ही
हम दोनों आत्माओं की कक्षा में साथ-साथ हैं अविरत बसते आए?
बोले जाओ बस जब तक न हृदय में ज्योति एक प्रज्वलित सहज हो जाए,
औ' इस राग-द्रवित मन में भी नश्वर,
मेरी मृत्युरहित भीतर की सत्ता,
जो कुछ अपने भीतर अनुभव करती जब तक न वह बोध ऊपर जग जाए।
समझ रहा है यह मन कि तुम वही हो जिसको अब तक आत्मा ने खोजा है,
जीवन के स्वर्ण-प्रदेशों के ऊपर
कितनी मुख-छबियों में, आकारों में इस भारी भीड़-भाड़ में ढूंढ़ा है।"
सतत-आग्रही वंशी-आवाहन पर निज वीणा-ध्वनि में प्रत्युत्तरकारी
उसके सुसहज प्रश्नों के उत्तर में सत्यवान् के वचन कढ़े अनुहारी,
जिनको खोल दिया उर-स्रोत गिरा की विविधरँगी लहरों में स्वतंत्र-चारी:
"स्वर्ण-कुँवरि हे पूर्णात्मा सावित्री,
सभी कहूँगा, उससे अधिक कहूँगा जो कुछ सकती गिरा उचार विचारी,
अनजाने, मेरे अंतर में उभरा शिवे! तुम्हारा जो महत्त्व है भारी,
सभी कहूंगा, प्रेम-विद्युदाभा में जो कुछ झलक उठा है महिमाकारी।
आज उषर्बुध देवों की इस केवल- अनावरण की अति महान् घटिका में—
क्षण भर को ही मिली इस निकटता ने ढाल दिया मम जीवन नई दिशा में,
क्योंकि आज जाना मेरा सब जीवन जो कुछ था औ' जैसे गया जिया है
सब-कुछ ने अंतर के पुनर्जन्म के इस मुहूर्त्त हित ही सुप्रयाण किया है।
पीछे मुड़कर अब मैं अपने सारे बीते जीवनका अर्थ लगाता हूं,
तो भू की इस माटी के ऊपर बस
इस आत्मा को एक तुम्हारी खातिर तैयार की गई केवल पाता हूं।
यद्यपि इतर जनों की भांति कभी हैं मैंने भी निज जीवन-दिवस बिताए-
कुछ विचारना तनिक कर्म कर लेना,
करना मौज और बस जीते रहना,
नश्वर आशाओं ने बस इतने ही विस्तृत और समुन्नत स्तर थे पाए:
पर मुझको फिर भी अंतर सत्ता की कुछ झलकें थीं दिखलाई दे जाती,
जो जीवन के पीछे रहती हैं औ'
जो जीवन के कार्यों के द्वारा ही स्व-मंच-अभिनय को साधित करवातीं।
अनुभव किया सत्य है, जो अपने को मन के परदे से है आवृत रखता,

और महत्ता को, जो कार्य-निरत है,

इक धूमिल तत्त्व को लखा है मैंने
जो बन सका न अंग कभी जीवन का
'विचार' का दीपक लेकर 'रहस्य' के
इसकी टिमटिमाहटों ने मुझको निज
भूमि दिखाई अर्द्ध-प्रकाशित जिसपर
औ' 'आत्मा', 'परमात्मा' के विधान का
किन्तु जी सका उस सत्य को नहीं मैं
और बाह्य आकारों में सीधे ही
तथा मर्त्य मन से भी उसके नियमों
और यहां इक विश्व-नियम का अपना

अटकल पर चल-चलकर, बाह्य 'सत्य' का

इस प्रकाश ने एक अननुसंधानित
उघारने के बदले आदि-गुह्यता
पड़े हुए इस विश्व-आवरण का, यह
और 'चमत्कारी' अद्भुत कर्ता के
जादूई-योजना-प्रक्रिया का इस,
तब डूबा मैं अन्तर्दर्शी मन में
निगुप्त नियमों और इन्द्रजालों को,
धरा जिन्होंने है सारी 'जड़ता' को
खुला न फिर भी गूढ़ रहस्य वह अपितु
फिर भटका कि 'कला', 'सौंदर्याकृति' ही
यह सामर्थ्य कहां पर 'आकारों' में,
वे तो प्रतीक द्वारा ही अंतर पर
बस इस सबने इतना ही कर पाया-
मानव स्पर्श-बोध के पीछे गोपित
ध्यान-निमग्ना उस व्यापक महिमा के
जीता आया यों इक किरण-ज्योति में
बस इस दुनिया को ही देखा समझा

जिसका गुप्त ध्येय पर ही बल रहता,
बस सतही भूमिज आकारों में ही

पर भावी में है उसको बनना ही।
अन्वेषण में हूं भटका भरमाया।
अस्पष्टादेशों से पथ दर्शाया,
बीता-बीता करके चरण बढ़ाया,
जिसने अपना नक्शा एक बनाया।
जिसको उसने कहा और समझाया।
सत्यग्रहण का इक स्वभाव अपनाया,
को थिर करने की इक आशा लेकर,
सीमित तथा संकुचित ढांचा रचकर,
'अनन्त' की स्वतंत्रता पर लदवाया,
सुदृढ़, कठोर एक ढांचा निर्मित कर,
इक यांत्रिक 'शक्ति' की योजना गढ़कर
उस असीम को सीमा में बँधवाया।
तम को ही पर अधिक-अधिक प्रकटाया,
को जिसने और भी निगूढ़ बनाया।
कभी उचित विश्लेषण नहीं कर सका,
छिपे हाथ का पता न इसे लग सका,
उसको कुछ भी सुराग़ नहीं मिल सका।
देखा औ' समझा सब वहां डूबकर,

मन का इक संभ्रमित ग़ुलाम बनाकर।
खड़ा हो गया और अधिक गहराकर।
मेरे आगे कुछ संकेत उभारें,
कि स्वीय अंतर्निहिता 'शक्ति' उघारें,
फ़कत फेंक सकती हैं कुछ अनुहारें।
आत्मा का इक वातावरण बनाया,

प्रति जैसे कोई संकेत धराया,
किन्तु 'सूर्य' को अपने देख न पाया।
औ' आत्मा का रूप नहीं लख पाया,

और कभी जो 'आत्मा' को पाया तो
अपर अंतरात्माओं को खोया औ'
वह काया जिसने ही तो ससीम से
जिसने जगरूपायन और 'सत्य' के

जिसके लिये गया यह जगत् रचाया,
पावन चरणों के मिस किन्तु तुम्हारे
उदित तुम्हारी इस मुख-श्री ने मुझपर
अब तो उच्च अनोखा एक धरातल
एक दिव्यतर स्वर मेरे कानों को
और तुम्हारी चितवन में इक अद्भुत
अनजाने आकाशों से ज्यों कोई
और तुम्हारे सँग लोकों के उर की

अब तो हर्षोन्मत्त एक द्रष्टा में
आनंद-ऊर्मियों से चले आ रहे
मदमत्त किसी फेनोत्फालन ने अब
अंतर क्या, आसपास की सब भू को
आज तुम्हारे शुभागमन ने सब कुछ
मिट्टी ने, समीर ने औ' स्रोतों ने
तव स्वागत के उपयुक्त ही सजी है
रवि-प्रकाश है बनकर आज रह गया
क्योंकि दृष्टि से आज तुम्हारी मेरे
क्यों न उतरकर अपने ज्योतिर् रथ से
उतरो सुठि दूर्वादल वनस्थली पर,
गुप्त वनस्थलियां हैं यहां मनोहर,
औ' मरकत-कुंजें इस प्रियाकार के
क्या मर्त्य-जगत् के इस आनंद को तुम

हे 'सुखदे', 'सुभगे' आओ, अपने शुभ
इन भूमि-तलों को जिसकी निद्रा पर

फिर मैंने इस दुनिया को बिसराया,
'प्रभु-काया' का सब सौंदर्य गँवाया,—
'असीम' तक हमको इक सूत्र सधाया,
बीच सेतु है इक साकार बनाया,
चरम रहस्य, इष्ट है जो दुनिया का,
जो मानवीय बोध है 'अमरता' का।
गया वही स्वर्ण-सूत्र मुझ तक लाया,
स्वर्ण-'भागवत'-भास्कर ही प्रकटाया।
मुझे तुम्हारे निकट खींचता लाता,
आ-आकर है और पूरता जाता,
विश्व तैरता है अब मुझतक आता,
आता हो नक्षत्र चला नियराता।
उठी हर्ष-ध्वनि बढ़ती चली आ रही,
ज्योतिर्मय देवों के विजय-गान-भी।
इक समृद्धतर श्वास आज भरता हूँ,
ज्वलंततर काल-कूच में बढ़ता हूँ।
मेरा मन हो रूपांतरित उठा है।

मेरे अंतर को ही बदल दिया है,
कुछ और से और ही बना दिया है,
के रीतेपन को ही पूर दिया है।

अब नव-वधु की एक अनूठी चूनर
तव-स्वर्णाभा की इक परछाहीं भर,
अंतर का हो गया सतत रूपांतर।
और भी निकट आज हमारे आओ,
और भूमि को न हमारी निदराओ।
निर्मित जो कि तुम्हारे लिये हुई हैं।
जहां छिपा लेने को ललच रही हैं।
अपनाकर न आज भी धन्य करोगी ?
नश्वर सुखको आज न स्वयं वरोगी ?
चन्द्रिम-स्वर्णिम चरणों से अब उतरो !
हम सब बसते हैं समृद्धता वितरो !

भ्राजित सुन्दरता की राजकुमारी
मम-आनँद औ' निज सुख से बन परवश
इस अपने मंदिर औ' देवालय-सम
आकर जहां आत्माएँ मिलती हैं
नीरव-शान्ति पगी मम इच्छाओं की
सर-सर करती घटाटोप मेहराबों
शाश्वत द्रव्यों की अंतर-धड़कन के
अपनी अंतर-धड़कन को फिर मेरी
जब तक इन पुष्पों की गंध से खिंची
जिसे बिसूरे एक-एक मर्मर-ध्वनि

आओ, ओ मेरी सावित्री आओ !

मेरे जीवन में आओ प्रविशाओ !
परम शान्ति के उस अखण्ड शासन में,
अनुगामिनि बनकर मेरे कानन में,
को निज कोमल काया पर झुकने दो,
साथ बनी एकात्म-सी यहां विहरो,
धड़कन के सँग-सँग मिलकर चलने दो,
कूदे वह मनमोहन वेला वन में
और बिसूरें पक्षी निज कलरव में।

राग पगे शब्दों से मोहित होकर

'सावित्री' की तल-विहीन आत्मा अब
औ' उसकी आंखों से लगी ताकने
फिर अनजान उमग ओठों से उसके

आ बैठी थी पलकों में उमड़ाकर,
सत्यवान् को इक शाश्वत परिचय भर,
बही तरल वाणी में पुलक फूटकर।

वह केवल इतने ही आखर बोली,
औ' अंतर की सारी थाती खोली।

"सत्यवान् ओ, मैंने बोल तुम्हारे
कि तुम वही हो, केवल तुम ही वह हो,
और तभी वह सुघर कलाकृति अपने

सुने-गुने औ' ठीक-ठीक पहचाना,
मेरे रोम-रोम ने है यह जाना।"
ऊंचे समलंकृत वाहन से शाही,
अटपट, मधुर त्वरा में नीचे आई,

फिर प्रकाश में झिलमिल-झिल लहराकर
उसकी भव्य, विविध रँग-रंजित भूषा,
उसकी गात-किरण की आभा के सँग,
औ' फिर एक सुथिर पंखी पक्षी-सम
चंपक-गुल्लाला-मिश्रित पद-आभा
भू पर विचर रही अरुणिम किरणों की
औ' उसकी अनकही कामना कोई
जो भूतल पर उसके क्षणिक संचरण
फिर सूर्य-प्रकाशित उस वन-प्रान्तर की
वसंत-ऋतु औ' पवनों के प्रिय साथी-
रत्न-मुखीय, पुष्प-गुच्छक वृन्दों के
जुग-जुग करते हुए करों से साधा।

पवन विकंपित दूर्वादल पर क्षणभर
चम-चम सर-सर करती-सी फहराई,
तनिक फड़फड़ाकर हो पुनः थिराई।
सोन-मरकती तृण-प्रान्तर पर पड़ती,
स्मृति जाती थी जैसे एक बगरती,
जाती थी कोमल चापों से दबती,
के हित कबसे आती थी कि तरसती।
उमंग में फूली तरु-शाखाओं से,

सुखद भार को, अपने उन जुगनू से

सरल और स्वाभाविक आकारों में
सीधे सहज-भाव से माल बनाकर,
उसको अपने द्रुत-अंगुलि-चालन से
जिसमें विवाह-गीतों की मलार थी
सुगंधियों से मह-मह रँग में डूबे
फूलों ने निज हृदय-अभीप्सा रंजित
फिर पावनता औ' रागातिरेक के
एक अमूल्य कोष-सम स्वीय करों में

और उन्नमित उत्सुक हाथों से फिर
निकट निकटता से ईषत् कंपित थे,

स्व-प्रेम द्वारा इच्छित और अभिलषित
औ' फिर एक वरद, करुणार्द्र देवता
से जैसे कि प्रभावित आकर्षित बन
सुन्दरता से भर-भर देने के हित

उसके चरणों पर झुककर फिर उसने
औ' अपने जीवन को उसके रमने
औ' उसके आनन्द-मोद की खातिर
और धड़कते अंतर को इक आनँद
वह भी उसकी ओर झुका था अब औ'
दोनों की अभिग्रंथित आकांक्षा को

जैसे वैभवभरी पूर्ण जगती ही
और विवाहित होकर उस सब कुछ से
जो कुछ अबतक बन, रहता आया था
बस फिर कभी न चुकनेवाले आनँद
और पूर्ण सावित्री, जीवित ऋत-श्री
सावित्री को चहुँ दिशि घेरे उसके
इन धीमे अभिन्न वर्षों के भीतर
भावी में आनेवाले आनँद का

एक पुष्प-गायन की रीति सिखाई,
थे उठते अंतरे और अस्थाई।

इन संकेतों को एक में मिलाया,
परिस्फुटन को लेकर एक कराया।
आनँद के पावन इस अनुष्ठान को,
अर्पित जीवन के पुष्पिल प्रतीक को,
लेकर अब वह उसके सम्मुख आई,
जो आत्मा की चाही और मनाई
उनसे एक मधुरता के बंधन सम
औ' निज दीप्त मिलन के पूत चिह्नसम
उस पावन वक्षस्थल पर पहनाई।

जो अपने आराधक की घड़ियों को,
अपनी महानता के घन-कोहरे को
चीर-फाड़कर रवि-सम हो प्रकटाया,
श्रद्धाबद्ध करों से शीश झुकाया;
के हित था एक रम्य जगत् बनाया,
तन को उसका लीला-क्षेत्र कराया,
का जीवंत एक स्मारक बनवाया।

जुड़वां आशाओं के उस स्वरूप को
धारण कर निज सत्ता में सँवर लिया।
हो हठात् उसके कब्जे में आई,

उसने अपनी असल व्यक्तितता पाई,
पर केवल उसका अधिकार हो गया,
को अपनी बांहों के बीच कस लिया।
बाहु-वलय को लख इक चित्र फिर गया,
बंद निकटता का इक चिह्न बन गया,
यह पहला संक्षिप्त स्वरूप बन गया,

या उनके सारे लंबे जीवन की
सघन अल्पता का इक रूप बन गया।
उस विशाल घटिका में जहां कि आकर
दो आत्माएँ आपस में मिलती हैं,
उसमें लगा कि उसकी सब सत्ता अब
सत्यवान्-प्रति लहर बनी बहती है,
एक नदी जैसे हर-हर करती बस
किसी महासागर में जा गिरती है।
जैसे कि सदा 'प्रभु' में ही जीने को,
'उसकी' ही आनन्द-सुधा पीने को,
कोई आत्मा अपने परम-ब्रह्म में
सीझी औ' डूबी अविरत जाती हो,
यों ही सावित्री की सकल चेतना
केवल सत्यवान् की लहर बन गई
उसकी सारी सत्ता सत्यवान् की
सत्ता में ऊब-डूब कर समा गई।
जैसे तारों भरे अपार गगन ने
सुखी धरा को घेरा है घेरे में,
वैसे ही उसने भी 'उसको' निज में
घेर लिया आनन्द-वलय फेरे में;
औ' फिर सारे जग को बन्द कर लिया
था बस जैसे उसमें औ' अपने में।
सीमाविहीन इक एकाकीपन ने
दोनों को कर दिया आज एकायित।
उसने भी अब अनुभव किया कि जैसे
वह भी उसे कर रही है आवेष्टित,
होने दिया और अपनी आत्मा को
भी उसके द्वारा छेदित, अभिभेदित,
जैसे कोई जगती नव जगती की
आत्मा से ही परिपूरित हो जाए,
जैसे यह नश्वरता प्रबुद्ध होकर
हठात् निज 'शाश्वतता' में मिल जाए,
जैसे यह ससीमता ऊपर खुलकर
निज 'असीमता' की उन्मुख बन जाए।
बस कुछ क्षण दोनों एक-दूसरे में
यों ही रहे कि खोए और गुमाए,
फिर परमानँद की लंबी समाधि से
मन को तनिक खींचकर बाहर लाए,
तब पाया निज व्यक्तित्व दूसरा ही
दोनों ही इक नए जगत् में आए।
एक दूसरे के पूर्ण ऐक्य का अब
थे वे अनिवार्य अंश औ' बँटवारा।
औ' उनकी जुड़वां आत्मोपलब्धि का
ही जग था इक फैला हुआ नज़ारा,
दोनों की या कि सम्मिलित-सत्ता का
था इक विशालतर प्रदेश अति न्यारा।
पूत विवाह-अग्नि, सविता के आगे
शुभ-मुहूर्त्त के और पुरोहित द्वारा
जब कि बने थे अन्तर-बंधन-पागे,
तभी दिवस के ऊँचे और प्रकाशित
परम मनोहर इक गुम्बद के नीचे
ऊषा-मंडल के सूत्रों को लेकर
'विधि' ने किया सज्ज उनका गठबंधन,
मनुज रूप में शाश्वत 'वर' औ' वधु' का
हुआ भूमिपर फिर विवाह-संपादन,
दुनिया के नाटक में एक नए ही
अंक का और करके अब उद्घाटन,
अपने तादात्म्य से यहां 'दोनों' ने
किया महत्तर युग का बीजारोपण।
उस मरकती-जगत् की नीरवता औ'
कल ध्वनियों के उठते मृदु-गुँजार में
उन पुरोहिती पवनों के हहराते
पावन औ' उदात्त मंत्रोच्चार में

पत्रों की मृदु सर-सर, खस-खस ध्वनि के
सहगायन से उठते शुभाचार में
गई प्रेम-जोड़ी उनकी गठियाई,
दो अस्तित्वों की बन गई इकाई।
एक बार स्वाभाविक चमत्कार यों
गया इस धरा पर फिर से करवाया:
और निर्विकारी, आदर्श-जगत् में
इक मानव-क्षण शाश्वत गया बनाया।
तब उस थल से, था वह जहां भेंटाया,
नीचे ले जाकर इक पगडंडी से
सत्यवान् ने भरा-पुरा एकाकी,
उसको उसका भावी जगत् दिखाया,
उसके पूत-प्रेम का वह आश्रय-थल
सुखद-शांति का इक कोना इँगिताया।
'सावित्री' ने अब वृक्ष-पंक्तियों के
हरित-झरोखों से पथान्त पर देखा,
पुंजीभूता और पर्णकुटियों की
रम्य अवलियों का वैभव अवलोका,
औ' देखा पहले-पहले अब उसने
निज अंतर के भावी चारु भवन को,
देखा उस प्रिय छाजन को जिसने है
ढक रक्खा 'सत्यवान्' के जीवन को।
घिरी लता-वल्लरियों से औ' अरुणिम
ऊर्ध्वारोही फूलों से मनभाती,
बादामी तन में अपने औंघाती,
एक वन्य-सुन्दरता हरित-शांतिमय
निज एकांत वक्ष में सपनाती सी
चहुँदिशि अलकें फैलाए लेटी थी।
वन की वानप्रस्थी मनोदशा का
चारों ओर जहां इक साम्राज्य था,
जो अपने एकाकीपन की ही इक
गभीरता में खोया-गुमा पड़ा था।
उसे देख वह डूबी सुख-सागर में
औ' उसकी वाणी जैसे ठगिआई,
इने-गिने शब्दों के मिस फिर कांपी
तनिक एक जैसे उसकी गहराई:
सत्यवान् को तरलित गद्गद् स्वर में
पड़ा एक अंतर-उद्गार सुनाई।
"जब तक बिछुड़ रही हूं तबतक मेरा
अन्तर इस बन के सीमान्त-दृश्य में
इन्हीं पर्णकुटियों के पास रहेगा,
आगे पुनः भटकने औ' भ्रमने की
आवश्यकता मुझे न शेष रह गई।
फिर भी मुझे लौट इक बार शीघ्र ही
अपने मातृ-सदन को जाना होगा –
जो अब निज अभ्यस्त मधुर पग-ध्वनि को
भावी में कानों से सुन न सकेगा,–
कभी रह चुकी जो उसकी अति प्यारी
और दुलारी उस वाणी को फिर से
सुनने का अब सब श्रम व्यर्थ बनेगा।
क्योंकि शीघ्र लौटूंगी, औ' जाने का
होगा नहीं प्रश्न ही पुनः उपस्थित,
जिससे दुष्करता से प्राप्त की गई
हो न लब्ध आनन्द-एकता खण्डित,
जब तक जीवन का अधिकार मिला है
भाग्य कर सके हमें न पुनः वियोजित।"

बस उस प्रचण्ड अग्निल दुपहरिया में,
जो थी उसके विचार औ' सपनों की शोभा के आगे भासती मंदतर,
खींच चपल घोड़ों की रासें कसकर चल दी तीव्र-धड़कते उर से सत्वर,
फिर भी निज दर्शन के अंतर-जग की फैली शांत विशाल विशदताओं में,
शीतल और सुगंधित कानन-श्री की वैभव से परिपूर्ण एक आभा में,
दुहुंदिशि पंक्तिबद्ध खुरदरी जड़ों के बीच चले जाते छायाच्छद पथ पर
थिर औ' शांत खुले से प्रांतर की दिशि, देखा सत्यवान् को जाते मंथर।
देखा नाभि-चक्र-सम इक तरु-झुरमुट छाए था जो उस कुटीर छाजन को,
देखा अपने जीवन-सुख के मूंदे- ढके हुए उस गभीर अभिनव थल को,
समझा स्वर्गलोक से भी बढ़कर अब आत्मा के उस मंदिर को, निज घर को।
उसके चित में वह सब चित्र गड़ गया,
कभी न टरनेवाला दृश्य बन गया।

नियति पर्व

पर्व ६, सर्ग १

विधि की वाणी

तिरते हुए प्रदीप्त शांति का सागर
उतरे 'दिव' से स्वर्गलोकवासी मुनि
नीरवता की सीमाओं के भीतर
चले आ रहे थे मुनि अबाध गति से
खिंचे हुए ग्रीष्मप्रभ स्वर्ण-धरा से,
जो उनके नीचे चमचमित कटोरे
महामेज़ पर और 'देवताओं' की
औ' अपने नन्हें से किरणाकर से
घूम रही थी जैसे इक अनजाने
होकर अमरों की सुखप्रद राहों से

आए उन्नत-आनत जीवन-मरणी
आत्मदेश की असंस्पर्श्य सीमा को
और वहां से उतर पड़े जड़ता के
'अचिदात्मा' के इन आविष्कारों में
औ' अंधी निद्राचारिणी-'शक्ति' के
फिर मुनि ने लक्ष-लक्ष भ्रमते सूर्यों
चले आ रहे थे आकाश-सिंधु की
इक 'आदिवायु' ने था दिया उन्हें अब
और निगोपित पड़ी हुई 'आत्मा' को

सर्जन-रूपकरण हित किया प्रदर्शित,—
सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊर्मिल अग्नि-कणों के
अपनी नैहारिक इकाइयों के इस
सर्जन की महान् जादुई नींव को,

एक विशाल वायुमंडल में होकर,
नारद, मर्त्यलोक के उपरि क्षितिज पर,
मृदु गायन करते अपनी वीणापर।

के समान अब लगती थी औंधाई,
थी जो उनको तिरछी पड़ी दिखाई,
लेते रहने को प्रकाश, गरमाई,
कर से कि जा रही हो सतत घुमाई।
आए मुनि जगती में श्रम, शोधों की,
नानाविध संतापों, आशाओं की,
झूलों वाले अपने क्रीड़-अजिर में;
नांघ पुनः पहुंचे 'मानस' प्रांतर में,
इस नाना आकारी गढ़न-शिविर में,

महा कार्यकौशल के जादूघर में।
को देखा अब अधःप्रज्ज्वलित होते:
भँवरों को मुनि अपने तन पर सहते,
अनुभव प्रथम स्पर्श का इक सुखदाई,
एक महान् समर्थ श्वास अब आई।
बृहत् पिंड के आकुंचन-प्रसरण से
सृजन-अग्नि की आवृत महा शक्ति ने
सर्जक अग्नित्रयी के उस रहस्य को,
जग-ताना-बाना बुनते नर्तन को,
मूलाधार रूप और पिंडता को
इक जगती के परिपूर्ण नमूने को,

तारों के प्रकाश में बिखर, फूटकर
मुनि की नाड़ी-नसों ने किया अनुभव
और ठोस जड़ के घन-संगम में औ'
डूबते हुए मुनि ने अब इक गूंगी

औ' नापा नेत्रों से आकाशों को,
अपने अंतर-दर्शन से अवगाहा
निरखा 'देवगणों' के शाश्वत-श्रम को,
बस दैवी गायक की मनोदशा पर
एक नवल आनन्द और करुणा ने
बस फिर कभी न बुझनेवाले शाश्वत
शुद्ध-सनातन आनन्द-एकता का
और प्रेम के मृत्युंजयी हृदय का
अब गाया, 'अज्ञान-गीत' औ' निष्ठुर
गाया, जादूई नाम को 'विष्णु' के,
औ' गाया, इस निगुह्यतम जगती के
आनन्द को और रागभावना को
गाया, कि बने कैसे सूर्य-सितारे
कैसे मूकवत् पड़े जड़ देशों में
गाया निपट 'अचेतन' को औ' गाया

बिना विचार, ज्ञान और संकल्प के
गाया फिर दृष्टिहीन और त्रुटि-रहित
उसके अंधकार को, जो उत्सुक है
औ' गाया इस अलख गर्त के भीतर
जो कि राह लखता है दीठि गड़ाए
गाया और मृत्यु को, बढ़ी जा रही
गाया चरम 'सत्य' को जो कि 'रात्रि' की
गाया 'प्रज्ञा' 'माता' का स्तुतिगायन
गाया दिव्य 'विभावन' को जो उसकी
औ' उसके रूपांतरकारी कर के
गाया प्राणशक्ति को, ऊँघ रही जो

अपनी ऊर्जा के रचने-गढ़ने को,
इकरस जीवन का, एक रस मरण का,
उसके आकारों के गुप्त ऐक्य में,
आत्म-एकता के सँग भाग बंटाया।
फिर देखा कार्य-निरत 'विश्व-पुरुष' को,
थाहा और गभीर अतलताओंको,
अंतरात्मा की प्रगति-क्रियाओं को,
पशुओं औ' 'मनुजों' के जीवन-क्रम को।
अब था भारी परिवर्तन घहराया,
अब उनकी वाणी को द्रवित बनाया।
प्रकाश का न उन्होंने गायन गाया,
वह दैवी स्वर नहीं पुनः दुहराया,
नहीं चिर-पुरातन संगीत सुनाया,
मानव 'विधि'-विधान का चित्र खिंचाया।
औ' जग के उद्भव-रहस्य को गाया,

कैसे यह जीवन हस्ती में आया,
अंतरात्मा का कंपन लहराया।
उसकी अपनी एक निगुह्य प्रकृति को,
उसकी सर्व-समर्थ शक्ति को, जिसको
अपने कर्मों का कुछ ज्ञान नहीं है,
जो सब कुछ को रूप दिया करती है,
उसके परम निगोपित चिर रहस्य को,
पल-पल शाश्वत–'प्रकाश' के गहने को,
पड़े हुए ध्यान-मग्न 'अमर-प्रेम' को,
मनुज-हृदय से कुछ उत्तर पाने को,
जो अमरत्व-शिखर तक चढ़ जाने को।
अंध-गहनताओं से उठ पुकारता,
'प्रकृति'–हृदय में जो है चिर-निगोपिता,
सबल मूकता द्वारा ही सब करता,
चमत्कार को, जो सब रचता चलता,
एक ओर रवि, एक ओर पाहन में,

गाया उस मन को, जो जगा नहीं है	दबा पड़ा है निर्मन प्राणशक्ति में,
और चेतना को जो जाग रही है	धीरे-धीरे पशु में, औ' मानव में,
गाया उस महिमा को, आश्चर्य को,	अब तक है जो शेष जन्म पाने को,
उस 'मानवता' को, जो निखर रही है	आखिर चीर आवरण आप बुने को,
औ' तनुओं को, जो हैं दिव्य बन चुके,	आनँद-रूप बना जो, उस जीवन को,
गाया उस अविनश्वर सुमधुरता को,	भेंट रही जो अपनी अमर-शक्ति को,
गाया उस अंतर को जिसे दूसरों	के अंतर का होता तुरत ज्ञान है,
औ' विचार को जो अन्य के विचारों	का कर लेता इक प्रत्यक्ष भान है,
	गाया उस उन्नत आनन्द-दशा को,
जिसमें बाधा-बंधन सभी गिर चुके,	औ' रूपान्तर को, हर्षातिरेक को।
बस जैसे-जैसे गायन उमड़ चला	सुखाधिक्य से लगे असुर सब रोने,
क्योंकि लख लिया था पूर्व-दृष्टि से निज	दीर्घ, भयानक श्रम का अंत सबों ने,
जिस हार की कि पहले सारी आशा	व्यर्थ गई, था पाया उसे उन्होंने,
देखी होती हुई मुक्ति अब खुद ही	चुने गए अपने ही विषम-भाग्य से
तथा देख ली अपनी पुनः वापसी	उस 'एकम्' में, आए कभी जहां से।
बस जिसने जीती अमरों की गद्दी	उतरा वह देव-'पुरुष' इस धरती पर,
	धरे चरण मानव की इस बस्ती पर।
लगा कि उतर रही हो विद्युत्-रेखा	चला आ रहा तेज एक अनदेखा,
आया वह नियराता ही, इतने में	
ज्योतिर्घन से मुनि के आनन्द-चषक	नेत्र खुले औ' था अब बाहर झांका,
फिर आदिम-आनँद की सुठि नक़ाब-सम	एक अलौकिक विधि से चित्र-आलिखित
आनन, प्रकाश की इक चित्रपटी पर,	उतरा और सामने हुआ प्रतिष्ठित,
	जहां अश्वपति राजा का उन्नत अति,
	नाजुक-रत्न-पाहनों की रचनाकृति,
गगन-स्पर्शी महल मद्र-नगरी में	खड़ा हुआ था खिले फूल-सा विकसित।
वहां मनीषी औ' राजर्षि नृपति ने	मुनि का विधिवत् स्वागत साज सजाया,
और एक कोमल, सुन्दर आवेगी	
औ' ज्ञानवान् इक सहप्राणी ने भी,	यज्ञज्वाल-सम अविरत उन्नतगामी,–
जो प्रदीप्त वायु के साथ रहती है	धरती से उठ-उठकर नभ की कामी,
	उसके सम श्रद्धा-नैवेद्य चढ़ाया,

वह थी सावित्री की मानव-जननी
राज-ललाट-शोभिनी, आभा-वदनी।

बस कुछ क्षण रहकर अस्पर्श्य धरा की महा-जेल से, मुनि के संग बिताए:

जब तक नपे-तुले स्वर-संधानों में
मानव-श्रम औ' इस सब कुछ को भू पर
जिसके हित हैं तरस रहे सुरगण भी
इस दुख के रहस्य औ' चमत्कार के
पीछे अविरत स्पन्दित, स्फुरित हो रहे
तब तक, साधारण जीवन-चिंता से
रहकर दूर समुन्नत, प्रेरित गीतों
प्रेम-पद्म-अंतर को उसकी द्योतित
ढका हुआ-सा जो बाह्याकारों से,
स्पर्श-स्पर्श पर कांप-कांप उठता है,
जो अनिवार्यतया एक दिन सुनेगा
उस शाश्वत-'वधु' के अन्तर-उपवन में
जब खोज लिया गया उसी के द्वारा
बस फिर महा-शक्तिशाली कंपन से
महा-सृष्टि के गहरे हृदय-विवर में
'जड़ता' की मूर्च्छा से बाहर आकर,
जगी प्रकृति औ' 'प्रभु' की दीप्त, अनावृत
औ' फिर ज्यों-ज्यों गायन की आनँद-लय
बढ़कर भेंट लिया औ' लपक गगन को,
धड़कते हुए अंतर से अपने द्रुत,
और फ़र्श पर आभामय चापों से
अब उसकी अगाध चितवन में जैसे
और प्रेम के तेजोमंडल में वह
आनँद की जगमगती कुहेलिका के
जैसे अपने अंतर के गौरवमय

औ' जो अपने सहज प्रेम की खातिर

एकाकी निज समर्थशील पिता के
औ' अंतर के जादूई प्रकाश में
अपने खोजे हुए भूमि-अंचल पर
देखा श्रद्धा-भरी दृष्टि से उसने

स्वर्गिक ऋषि ने यह संगीत सुनाया,

उसे गीत द्वारा साकार बनाया,

परमानँद को, वाणी में झलकाया,

में कुछ क्षण सब डूबे और डुबाए।
सत्य की सहस-कलियों के सँग गाया,
स्पन्दित, दोलित बन रहता है सोया।
अकुलाता है जाग-जाग पड़ने को,
आनन्दद्रव वाणी के झरने को,
निश्चित ही इक दिन असँभार खिलेगा,
उसका प्रिय उसको वन्दिनी करेगा।
आनँद-कुंडलिनी जैसे खुल-खुलकर,
लगी सरकने, रमने रेंग-रेंग कर।
औ' अपने मन के सपनों को तजकर
मुख-सुषमा पर दीठि रह गई गड़कर।
उठकर व्यापती गई धरा-काल में,
तभी वहां टापों की ध्वनि के सँग में,
दी सावित्री अब सम्मुख दिखलाई,
अरुणीली, किरणीली द्युति छिटकाई।
सुखमय चमत्कार इक दिया दिखाई,
इकदम बदली हुई-सी गई पाई।
वैभव से दमकती हुई वे आंखें,—
एक महान् ध्येय को पूरा करके,
आ एक स्वर्ग की दूतिका रही हो,
औ' उसकी भास्वर शाश्वतता के हित,
लेकर स्वर्ग-देवताओं की स्वीकृति,
सिंहासन के सम्मुख खड़ी हुई हो,
होकर रूपांतरित और नवलीकृत,
उस सुषमा के पाने को लालायित,
'स्वर्ग-पुत्र' की अग्निल सुमधुरता को,
मानो आद्भुत्य का पारिजात हो।

मुनि ने भी तब अपनी विराट्, अमरा
औ' उनकी उज्ज्वल अन्तर-चितवन ने
तथा धरीं खींचकर ज्ञान की रासें
फिर आश्चर्य-चकित-से सहसा बोले —
"कौन आ रही है यह नवल वधू-सी
जिसके ज्योतिष्मान् शीश के चहुँमुख
लुटा रहीं वैवाहिक श्री-शोभाएँ
उठकर किन वन-गुल्मों की वीथी से,
या कि सिंधु के इक अर्द्धदृष्ट तट से,
भर लाई हैं मंत्रमुग्ध ये चकिता
हैं इस धरती पर स्वर्णाभ विस्तरण,
जो अपने सपनाते छायाभासी
औ' वन के एकान्त-शांत-आनँद के

औ' इकटक उन्नत दृष्टिमग्न निर्झर
हरीतिमा-आवृत ये आनन्दित तट,
औ' इस शुद्ध, अमल पूर्णालिंगन के
शीतोष्ठी झर-झर निनाद में भूले
अविरत-कंपित वेतस के कानन की
ये सारी रहस्यमय सन्निधियां हैं
जिनमें रमकर औ' बसकर आत्मा के
औ' ये सब मिलकर मानव के भूमिज
हृदय को किसी दैवी आनँद के प्रति
क्या ठहरी हो तुम ऐसे ठांवों में,
और हर्ष-आश्चर्यचकित आंखों से
और कान ने कोई गिरा सुनी है
स्व-शृण्वती आत्मा द्वारा आनँद के
या कि तुम्हारी इस झिलमिल चितवन पर
तो इतना कहना ही होगा तुमने
अपितु रमण कर रही थीं किन्हीं रहसिल
घिरी हुई थीं वहां जादुई अभिनव

दृष्टि तनिक फेंकी फिर सावित्री पर,
रक्खा निज प्रकाश में उसे घेरकर,
निज अमर्त्य ओठों के पीछे कसकर,

शिखा-जात-सी, एक सुगन्धि-घटा-सी,
घूम-घूमकर प्रमुदित बिज्जु-छटा-सी
उसकी, निज आभाओं को विसुधा-सी ?
रमती-सी इक ओसिल-नीरवता में,
छलिया शशि ने दिया उधार हो जिसे,
आंखें इक दिव्य-ज्योति को चुपके से ?
हरे-भरे गिरि, शीतलता बगराते—
शीशों को हैं रजनी में पगियाते,
द्वारा बने हुए अविराम सुरक्षित,
एक वक्र-कर-भंगी बीच अभिग्रसित,
के बुद्-बुद् रागावेश से सुछंदित,
जो हैं सुख-वैभव में डूबे जाते :

गोदी में अपना अपनत्व गँवाते।

अमरानँद की इक छवि मिल जाती है,

सहज खोल फुसला कर ले जाती हैं।

सहा किसी अनजाने अवलोकन को,
जिसने किया बाध्य है तव जीवन को
रिसा-रिसा, टपका-टपका लेने को ?
पतियाएँ कुछ भी विचार मेरे ये,
पिया नहीं है घूंट धरा-प्याले से,
प्रातः की नीलाभ यवनिकाओं में,
किन्हीं उच्च औ' अभिज्योतित देशों में,—
अशक्त हैं भू-नेत्र जिन्हें सहने में,
बन आनन्द-गिरा-सैन्य से आक्रमित,

और परी-वन में रवि-प्रकाश-झिलमिल
गंधमादनी चमकीले ढालों पर

कीं अंगों ने उस थल सुख-क्रीड़ाएँ
और देवताओं के रमण-थलों में
देव-गिरा को सुनकर यथा तुम्हारे
इक अज्ञात 'वाक्' को उत्तर देने
कौन देवताओं की पद-चापें, किन
स्वर ने पूर लिया है सब सत्ता को,
जो पास-दूर से आता कि उमड़ता
अन्तःश्रुति में अब भी चकी-जकी सी
जिसने कि तुम्हारी उर-नीरवता को
इक अद्भुत उन्माद-आसवी, अरुणिम
औ' तुमने आनंद के रजतिम, चंद्रिम
ओ प्रकाश पंखी ! बोलो कि कौन से
हरियाली-गुंफित भूमि के भाग से
वसंत-कोकिल की कुहुक-सी लहरती
हाथों के ये रीते मृदु गुलाब हैं

चमक रहा है पूरित स्वर्ण-कलश-सम
भरा लबालब अभी गया जो ताज़ी,
हुआ नहीं है वार्तालाप तुम्हारा
जीवन के जोखिम-स्वर अभी तुम्हारे
या एक तीव्रवाही, महिमाशाली
या शिखरों से झरझर करते आते
या उन्चासों पवनों का हहराता
निज अंतर के आनन्द-आकाश में
दीप्त स्वप्न-कलियों औ' प्रवाल-फूलों

पात-पात में होकर चली आ रहीं
ओ मानक-नयनी ! हिम-पंख-कपोती !
आत्मा की अन-आहत सुन्दरता से,
भले तुम्हारी धरतीवालों के हित

डालों के जादू से बनकर अधिकृत,
किया किसी के पगचाप का अनुसरण,
रमती जहां अप्सराएँ हैं मोहन,
जिनका न कर सका कोई अवलोकन,
भटके चाप तुम्हारे बने बेखबर,
अंतर में जागा हो कंपन सुखकर,
के हित आत्मा बनी हठात् हो मुखर।
स्वर्ग-वेणुओं के उन्मादनकारी
आकर चारों दिशि से अरे तुम्हारी,
सुकुमार वायुमंडल से मनहारी,
ओनक रहीं जिसकी मीठी ओनकारी ?

फल से है पोषित, विकसित करवाया,
शिखरों पर है अपना चरण बढ़ाया।

अपने रथ पर तुम उड़ती आती हो,
जगमगाभ काया में मदमाती हो ?
भरे हुए अपनी ही सुन्दरता से
इक परिरंभण-स्मृति की पुलकितता से,
मधुमय-अंतर अपनी गभीरता से।
मीठी और अमृतमय सुर-मदिरा से।
अब तक शोक दुःख के राजाओं से ।
कानों को सुदूर-संगीत बने हैं
'किन्नर'-गीतों-सम मोहित करते हैं,
झरनों का-सा कोमल स्वर लगते हैं,
महाशक्तिशाली गायन लगते हैं।
जगमग एक चन्द्र-सम हो तुम जीती।
की कुंजों के बीच से सरसती-सी,
चली आ रहीं एक रजत-हिरनी-सी,
एक पवन-देवी-सम या उड़ती-सी,
चली आ रहीं या कि डोलती-फिरती
शुचि कामना झाड़ियों बीच फुदकती।
ये सब चीजें केवल आकृतियां हैं,

पर इनका सच्चा सत्य तो तुम्हारे भीतर है, जो पड़ा हुआ सोता है।
क्योंकि तुम्हारी आत्मा ऐसी ही है जो अमरों की ही अनुजा लगती है,
औ' मनहर यह पार्थिव काया बरबस इन आंखों को आकर्षित करती है,
और स्वर्ग-पुत्रों के साथ तुम्हारे आनँद की बस समता हो सकती है
अरे आ पड़ी हो तुम जो इस महती और भयानक ख़तरनाक दुनिया में
देखा है बस उसको अब तक तुमने अपने सपनों की मोहक-महिमा में;
कठिनाई से रक्षित रह सकते हैं जिसमें प्रेम और सुन्दरता दोनों,
पर तुम तो एक अति विकट प्राणी हो जिसकी गरिमा खतरों भरी पड़ी हो,
औ' विचार के ऊँचे स्वर्ण-महल में निपट अकेली पड़ी एक आत्मा हो,
जो कि तुम्हारी स्वप्निल-रत्न-दिवारों में ही बनकर रक्षित अभी रही हो।
यदि सुख की धुरतम सीमा पर स्थित रहकर, हृदय तुम्हारा हत-भावी को,
जो मानव के अचित् जीवनों का बस

घूम-घूमकर शिकार करती रहती, यों ही सोता हुआ छोड़ बढ़ सकता,
औ' आदर्श की एक स्वर्णिमता के भीतर घिरा हुआ ही यदि रह सकता;
तो जागरण भी तुम्हारा उतना ही उन्नत और सुखी होकर रह सकता !
काश ! तुम्हारी अदृष्ट-भावी यों ही अविरत सोती हुई पड़ी रह सकती !"

मुनि इतना बोले तो किंतु ज्ञान को रहे छिपाए पीछे ही शब्दों से।
खेला करता तड़ित्वान् है जैसे तड़ित्प्रभा के चटकीले हासों से
औ' उसकी वज्र-ध्वनि को अपने ही अंतर में रखता है लेकिन रोके,
उसी भांति मुनि ने भी दिये निकलने फ़क़त चित्र कुछ चमकीले-दमकीले।
चटकीले संगीत की तरह ही बस

छिपा लिया था मुनि ने स्व-विचारों को अपनी मीठी मनहारी वाणी से,
औ' बोले फिर इस नश्वर प्राणी पर भरकर इक करुणा से और दया से,
बस इस मानव के हित बोले ऐसे,—

जैसे जीवित सुन्दरता को लेकर औ' वर्तमान के आनँद से भरकर,
गर्मी के असह्य मौसम को शीतल पवन लुभावन कर जाती है आकर,
यों ही सर्वज्ञानी मन के पीछे रक्खे रहे शेष सत्य को छिपाकर।
किंतु जिन्होंने ऋषि की दिव्य गिरा को अपनी अंतरश्रुति से हो सुन पाया,
अरे, उन्होंने करुणा के इस पट पर जो भावी दुख पर था गया ओढ़ाया,
'अमरों' की इस स्वीकृति पर, निज मन में था इक अन्तहीन आनन्द मनाया।
पर अब राजा ने निज गिरा उचारी

क्योंकि आज श्रुति-संविद् उसके मन ने उस अस्पष्ट अंत को बांच लिया था,

उनके शब्दों के पीछे अपशकुनी छाया की हड़कन को भांप लिया था।
फिर भी इस पार्थिव जीवन में उभरे पग-पग जोखिम भरे हुए खाके पर,
रहकर धीर, शांत ज्यों कोई 'विधि' से बैठ जाय मोर्चा लेने को तत्पर,
इस प्रकार मुनि के आवृत विचार को नाप-तोलकर अरपा अपना उत्तर :
"हे मृत्युंजय ऋषि, हे सर्वज्ञानी !
इन प्रतीक-चित्रों से रची ढाल पर
जिन्हें स्वर्ग-मन के आगे निज तुमने है चुन-चुनकर खोदा और उरेहा,
यदि निज इच्छा-किरण सहारे उनमें मैं पढ़ पाया हूं कुछ गुह्य इशारा
तो उनमें लख सकता हूं चरणांकन एक नए जनमें दैवी प्राणी के
औ' अपने शुभ समारंभ को लेकर पृथिवी पर उतरी ज्योतिर्नयनी के,–
जो उस 'अज्ञेय' और इस 'अदृष्ट' के
बीच यहां इन दो अद्भुत लोकों की सीमा-रेखा पर आ जनमाई है,
जिसने 'अनन्त' के अभिनिहित प्रतीकों की लौ इस जगती में लौकाई है,
औ' अंतर-सूर्यों के निज प्रकाश में जीने की अभिनव रीति रचाई है।
और अभीप्सा के निगुह्य लोकों की गोपनता में बस वह प्रविशाई है।
क्योंकि पढ़ लिया प्रतीकार्थ है उसने, गोपित मुद्राओं को तोड़ दिया है,
'अमरानंद' के तलविहीन स्रोतों का गाढ़ा अमृत अघाकर पान किया है,
तथा स्वर्ग की रत्न-शलाकाओं के उस पार तक सभी कुछ झांक लिया है
और अभीप्साकारक इक 'रहस्यमय' गोपनता के बीच प्रवेश किया है,
वह अपनी पृथिवी के इन साधारण ऐहिक द्रव्यों के उस पार देखती,
सृष्टि-विधात्री सभी 'शक्तियों' के सँग है तब तक गुपचुप संभाषण करती
जबतक कि वैदूर्य औ' मुक्ताओं की नगरी के अभिदीप्त महाद्वारों से
उसकी राहों से, उसकी गलियों से
होकर, गौरवमय उन्नत कर्मों की
दैवी सेनाओं की इक परंपरा कूच करे आकर न ऊर्ध्व लोकों से।
यद्यपि इस जीवन के सुविरामों में
हैं कुछ घड़ियां पूर्ण, अल्प, औ' जिनको धरती मानवहित रक्षित रखती है,
जिनमें कि 'काल' की इक अचित्-चाप भी शाश्वत क्षण का अनुभव भर देती है,
जो मृत्युंजय अमरों की थाती है,
फिर भी इस नश्वर धरती पर विरले ही उस स्पर्श की झलक आ पाती है :
औ' नक्षत्रों की इस महा भयंकर और कठिन-गति में बस मुश्किल से ही
इस जगती में आकर कोई आत्मा औ' इक काया है ऐसी जनमाती,
जिसकी जीवनगति भू पर उस स्वर्गिक– स्वर को ज्यों का त्यों पवित्र रख पाती,

जिसकी लय उस विविध-स्वरीय गीत की मृदुता को चलती हो नित दुहराती,
जो आनन्द-वायुमण्डल में अविरत अथक भाव से स्पन्दित होती रहती,
औ' जो गीतों में पकड़ी जाकर है स्वर्ग-अप्सरा-अंगों को थिरकाती
जब वह प्रकाश-जलद-खण्ड-सी चम-चम
सुरपुर के चन्द्र-पाहनी फ़र्शों पर आनँद की लहरी-सी तिरती आती।
देखो, इस सुन्दरता की प्रतिमा को प्रेम, प्रकाश से हुई जो अभिनिर्मित,
देवों की भाव-उमँग में प्लावित पद, पूर्ण कुशलता से छन्दित, अनुप्रासित,
स्वर्ण-तरंगे बन जाएं ज्यों स्तम्भित।

आकंठित आनँद-घट-सी इक काया,
स्वर्ण-आभ कसकुटी धातु से जिसको इक अपूर्व महिमा से गया गढ़ाया,
जिसे छिपे आनँद के धरा-सत्य को गह लेने के हित हो गया रचाया।
सपनों निर्मित एक दीप्त दर्पण-सी हैं उसकी आंखें सुठि आभा-मंडित,
निद्रालस चमकीली औ' 'रहस्यमय' काली पलक-झालरों से परिधानित,
और अतलता में निज किए हुए हैं स्वर्ग की प्रतिच्छायाओं को प्रतिधृत।
औ' जैसी उसकी काया है वैसी ही वह अंतर से भी है अति पावन,
स्वर्ग की सुज्योतित ऊषाओं का हो ज्यों महिमा शोभामय पुनरावर्तन,
रजत-पृष्ठ पर शोभित अग्नि-बिन्दुसम,
बालसुलभ उत्साह बीच जीकर भी रही अश्रुओं से अस्पर्श्य एकदम।
उसकी स्फटिकात्मा पर, उसकी क्वारी
आद्भुत्य-भावना की सरल दृष्टि में सारे सुन्दर पदार्थ शाश्वत लगते,
सब सुन्दर पदार्थ चिर अभिनव लगते।
और अपरिवर्ती नभ उसके सम्मुख स्वीय विशाल विचारों को उघारता,
विस्मय-डूबे आकाशों में तिरता शशि उसको आद्भुत्य से भरा लगता,
धरा-पुष्प विकसते और खिलते हैं काल तथा मृत्यु पर यथा हँसते है,
मोहक जीवन के जादू परिवर्तन एक एक यों दौड़ चले जाते हैं
यथा उल्लसित औ' प्रसन्नमन शिशु-गण हँसती घड़ियों से गुज़रे जाते हों।
काश! कहीं यह आनँद ही टिक पाता, उसके जीवन में दुख पास न आता!
और सुछन्दित उसके सुठि दिवसों में
औ' उसके जीवन के मधुर गीत में वह अपना कर्कश स्वर लगा न पाता!
देखो, देखो हे दैवी गायक! अब देखो निज पूर्वविद् दृष्टि से देखो,
औ' अपने कल्याणी मंगल-गीतों से अ.शीष की झड़ी लग जाने दो,
कि यह अबोध तथा कोमल सुन्दर शिशु
अपने चहुंदिशि निर्मल प्रेम हृदय से शोक-रहित जीवन का अमृत बहाए,

थके हुए भू-अंतर के घावों को
निज आनंद की मिठास से पुराए
औ' सुख की सुषमा को उसके ऊपर
इक सुमधुर जाल की तरह फेंकवाए।
ज्यों महान् स्वर्णिम एक मुक्तदानी
वृक्ष, अलकनन्दा की मुद हरहरती
लहरों के पावन तट पर उगता है,
दिन-दिन फूल और फलकर बढ़ता है,

जहां कि प्रातः की महिमा के सम्मुख
छल-छल, कल-कल करती जलधाराएं
निज जादूई गति से दौड़ रही हैं,
और स्वर्ग-कन्याएँ उसके तट पर
शशिसम स्वर्णिम अंगों, जलद-कचों से
मुक्ताभा जल-बूंदें चुवा रही हैं,
उनके शुभ्र जानुओं से जा-जाकर
वे गीत-हास्यभरी लिपट जाती हैं,—
उसी भांति उसकी जीवन-ऊषाएँ
रत्नजटित प्रकाश के पत्रों-सी हैं।
इसी भांति वह सदा मनुष्यों पर निज
अनमोली सुख-सुहाग बरसाती है।
औ' जगमग सुख-ज्वाला-सी जनमी है,
निश्चय ही वह ज्वाला इस पृथ्वी को
पूर्ण-प्रकाश-प्रतिष्ठित यहां करेगी,
अनिष्ट विधि गुज़रते उसे देखेगी,
और नहीं एक शब्द भी बोलेगी,

पर अक्सर लापरवाह जगत्-जननी
अपने वरित लाड़ले को ही 'विधि' के
ईर्ष्यालु करों बीच छोड़ देती है,
औ' प्रभु की वीणा चुप हो जाती है,

बस धरती के दुखिया चीत्कारों में
उसका हर्षावाहन निराश होकर
असफल और निरर्थक हो जाता है,
मोहक 'आनंद' के तारों की ध्वनियां
फिर कानों को नहीं सुनाई पड़तीं,
या मानव के अंतर के भीतर वे
शीघ्र मौन हो जातीं, औ' खो जातीं।
दुःखों का गायन तो बहुत सुना है:
एक बार ऐसी भी आशिष दो पर,
कि दुखविहीन, प्रसन्न दिवस ये उसके
यहीं गुंजाएँ अरे स्वर्ग को लाकर।
या कि अग्नि इन महान् आत्माओं की
लिया सदा एक परीक्षा ही करती?
अरे देवताओं के महा भयावह
एक-सेतु-पथ से जानेवाले को,
विश्वास, प्रेम औ' पावन आनंद से
कवच-सुरक्षित बन 'शाश्वत'-गृह की दिशि
अविरत बढ़ते हुए एक यात्री को
और एक मानवी मर्त्य जीवन को
आहत हुए बिना ही बढ़ जाने दो।"
किन्तु नहीं नारद उत्तर में बोले,
बैठे रहे अडोल और चुप होकर,
यह जानकर कि वाणी यहां व्यर्थ है,
'विधि' ही बैठी है अब अधिपति बनकर,
दर्शन-समर्थ पुनः दृष्टि को अपनी
खोल अगम अदृष्ट के बीच निहारा,

फिर खेलते हुए मनुज-अज्ञता से,
निपट अबोध अजाने-से बनकर बस
"किस उन्नत ध्येय के लिए निकला था
चली आ रही अरे कहां से है यह

भेंटी कौन 'देवता' से हठात् औ'
इतना सुन फिर नृप उत्तर में बोले :–
"रक्तवर्ण यह अशोक तरु साक्षी है

इक दिन बस जाज्वल्यमान अरुणोदय
एक चपल औ' चटक पक्षि-सम चल दी
चल दी थी यह मृदुता पंथ चीरती
अपने अंतर अधिराज की खोज में,
क्योंकि मिल सका नहीं अभी तक था वह
दौड़ पड़ीं अटपटी उड़ानें सत्वर

एक सुखभरी विश्रांति जिसे इसकी
औ' मंत्रमुग्ध ओठों के ये प्रहरी
कुमारिके ! हो चली कहां से आतीं,
हृदय धड़कनें जिसको दुहराती हैं,
तुमने जिसे चुना है कौन सु-भागी
उत्तर में सावित्री के सुशांततर
अपनी 'विधि' की आंखों के नीचे बस
"मेरे पिता और हे अधिपति मैंने
जिसे खोजती थी अबतक मैं उसका
निज अंतर की आज्ञा पालन कर ली,
दूर शाल्व के उन अति उच्च पर्वती
सपनाती वीरानी के उपांत पर,
जो हैं अब निर्वासित, अंध, बहिष्कृत
द्युमत्सेन के आत्मज सत्यवान् से
उस निर्जन वन के एकाकीपन में
मेरे पिता, उन्हींका वरण कर लिया,

एक प्रश्न-मुद्रा में वचन उचारा :
तीव्र दौड़ता यह उसका रथ सुन्दर ?
अंतर में अपने अद्भुत महिमा भर,
और स्वर्ग को आंखों में उतारकर
देखी है आनन-छबि कौन महत्तर ?"

गृह तजकर उस यात्रा के प्रयाण का,
आज वही साक्षी है सुआगमन का।
की वेला में जैसे यों ही उठकर,
थी अपनी सुनसान डाल से थककर,
द्रुत पंख-फड़फड़ानों पर निज उड़कर,

इससे, इसकी इस पृथिवी पर आकर;
इक दूरावाहन पर यथा उमगती,
बढ़ीं ग्रीष्म ऊषाओं को कि पिरोती,
सूर्य-प्रकाशित प्रांतों की गठियाती–
भारी बरौनियां समुद हैं छिपाए,
अब भी जिसको भीतर हैं निधिआए।
अतुलनीय हर्ष से पूर्णतर बनकर,
बोलो हैं कौन नाम-आखर सुन्दर ?
इस मानवजातिका राज-राजेश्वर ?
परिमित आखर मुख में ऐसे डोले,
होकर खड़ा कि जैसे कोई बोले :
आज कर लिया तव इच्छा का पालन,
इक दूर प्रांत में कर लिया है वरण,
उसके ही इंगित का किया अनुसरण।
वन-खण्डों में सुनसान औ' गहनतर,
द्युमत्सेन रहते हैं पर्णकुटी कर,
किंतु कभी थे सुप्रतापी राजेश्वर।

है मेरा इक दिन साक्षात् हो गया,
और मम मनोरथ परिपूर्ण हो गया।"

सुनकर सभी चकित औ' स्तम्भित से बन होकर मौन रह गए ज्यों क्षण भर को।
पर अंतर्मुख होकर नृप ने देखा उस नामपर तैरती अपछाया को,
औ' देखा उनका भी पीछा करते इक विशाल ज्योति की स्वर्ण-काया को।
देखा पितु ने पुत्री की आंखों में फिर निज मन में दृढ़ता भरकर बोले:
"जो कुछ किया पुत्रि! सब कुछ है उत्तम,
मैं उसको अपनी स्वीकृति देता हूं,
और कहीं यदि इतना ही सब कुछ है तो निश्चय ही यह सब कुछ है वरतम,
कहीं और यदि कुछ होना बाक़ी है तो जो कुछ होगा, होगा सर्वोत्तम।
मानव नादान की अरे आंखों को दिखे अरे शुभ या कि महान् अशुभ यह,
किन्तु भले के लिए ही सदा जग के है निगुह्य 'संकल्प' कार्यरत अहरह।
मानव की भावी इस दारुण जग में लिखी हुई है बस दोहरे अर्थों में,
'प्रकृति' के इन्हीं विपरीती द्वंद्वों से खिंचे पहुँच जाते हम प्रभु चरणोंमें,
जाते तम से बढ़े सदा किरणों में।
मृत्यु तो हमारा इक पथ है जिसको पकड़ पहुंचना है पूर्ण अमरत्व में।
जग के निराश स्वर विलाप करते हैं दुख से मानव त्राहि-त्राहि करता है
फिर भी आख़िरकार अंत में इक दिन शाश्वत 'शिव' ही जयी यहां होता है।"

यह सुनकर नारद ही बोले होते किन्तु फूट राजा ही तुरत फिर पड़े
मुनि के ख़तरनाक शब्दों के छूटे शर को बीच राह में यथा रोकते:
"हे स्वर-स्वामी, ब्रह्मानँद के गायक!
माना जन्मजात अधिकार से निजी तुम सब साक्षात् दृष्टिसे लखते हो,
ख़तरनाक है पर यह मानव के हित, अंधों को यह दिव्य-दृष्टि मत अरपो।
पूर्वज्ञान से दिखनेवाली अपनी कठिन औ' असह घोर यातनाओं को
इस कंपित नश्वर उर पर मत लादो,
भगवत्ता के उन्नत तौर-तरीकों की मानव कर्मों से आश न साधो।
यहां कहां सुखदायी शिखरावलियां फिरती रहतीं जहां स्वर्ग की परियां
और न कैलाशों औ' बैकुंठों की यहां मिलेंगी तारा-खचित सीढ़ियां
यहां तो विषम तीक्ष्णधार पर्वत हैं चढ़ सकतीं बस जहां महा विभूतियां,
एक आध ही कहीं सोच पाते हैं चढ़ने को ऐसी ऊंची चढ़ाइयां।
फिर घूर्णित तीखी चट्टानों पर से मोहक ध्वनियां नीचे को पुकारतीं,
हिम-विजड़ित हैं चिकने ढालू पथ भी।
मानव की भंगुर जाति के लिए तो किए सुरों ने भी निज उर पत्थर हैं,
औ' अपने विशाल स्वर्गों में सुख से विधि से मुक्त बने वे रहे विचर हैं,

औ' इस मानव के घायल पांवों की तपकन को वे भूल-बिसर हैं जाते —
औ' उसके उन अंगों को, जो दुख के कोड़े खाकर सुन्न, शिथिल पड़ जाते,
औ' उस अंतर को, जो सुनता रहता कान लगाए काल, मृत्यु की चापें।
बस भविष्य का पथ उसकी आंखों से बना हमेशा है ओझल ही रहता :
औ' वह एक निगुह्य तथा आवृत-से आनन की दिशि रहता अविरत बढ़ता।
सम्मुख का इक पग ज्योतित कर लेने भर को लगी हुई सब आशाएं हैं,
छिपे भाग्य की अपनी गहन पहेली
के रहस्य का मुक़ाबला करने को,
थोड़े-से बल की संप्राप्ति के लिए होती उसकी सकल प्रार्थनाएं हैं।
इक अधदेखी औ' अस्पष्ट शक्ति है जो उसकी गुप्त प्रतीक्षा करती है,
और अनिश्चित घड़ियों के प्रति अपनी मानव-मति शंकित-शंकित रहती है,
और टिमटिमाती निज साधों को वह उसकी श्वास से बचाकर रखती है।
उसको भान नहीं वह भीषण पंजा कब उसके नज़दीक चला आएगा,
और जकड़ लेगा घिर तथा घहर कर, जिसे न कोई यहां छुड़ा पाएगा।
हां यदि उस फ़ौलादी जकड़न को तुम ढीला कर सकते हो तो मुनि बोलो,
शायद उससे कुछ बचाव संभव हो तो करुणाकर उस रहस्य को खोलो :
बस अपने ही उच्चारित शब्दों से हमें हमारा मन है छलता रहता,
और हमारे ही इक चुनाव को बस अनिष्ट-भावी की संज्ञा दे देता।
शायद अपनी संकल्प-अंधता को ही 'विधि' के नाम से पुकारा जाता।"
यों राजा बोले, पर मुनि ने साधी मौन, पड़ी वाणी उनकी न सुनाई,
पर अब शंका-ग्रसिता औ' भयभीता रानी ने अपनी आवाज़ उठाई।
"हे द्रष्टा ! एक सुखी जीवन की इस
मंगलमय घटिका में यहां तुम्हारा बड़े समय से हुआ यह शुभागम तो,
दुःखरहित लोकों की कृपा बरसती
अपनी वाणी से इस सुसंबंध के पक्का करने में अपनी अनुमति दो,
औ' अपनी स्वर्गिक वाचा से उसके जीवन को सुख औ' सुहाग का वर दो।
और हमारे मानव विचार के इस खतरे को न हमारे सम्मुख खींचो,
तथा हमारे अज्ञानी शब्दों को,
जिससे वे डरते हैं उस भावी की अनिष्ट रचना का मत अरे समय दो।
डरने का कुछ कारण यहां नहीं है,
दुख को अपशकुनी शिर उठा प्रेम पर आज घूरने का अवकाश नहीं है :
इस जन-संकुल में यह केवल-आत्मा,
सत्यवान् ही सारी मनुज जाति में इस धरती पर परम भाग्यशाली है,

जिसे चुना सावित्री ने निज संगी जब सब दुनिया ढूंढ़-छान डाली है,
और भाग्यशाली है वन-कुटीर वह जहां राजमहलों का विभव छोड़कर
और राजसिंहासन को तृणवत् तज सारे सुख-सुहाग से वदन मोड़कर
अब मेरी सावित्री वास करेगी, वहां स्वर्ग आएगा स्वयं उतरकर।
इनके जीवन-दिवसों से अपशकुनी इस छाया को हे मुनि! दूर हटाकर
इन तेजस्वी होनहार जीवों के इस अबोध औ' अकलुष सुख-सुहाग पर
अपने आशिष को अब अमरोंवाली मुहर लगाने दो भयविमुक्त होकर।
मानव के अंतर पर इस 'छाया' का बोझा अरे बहुत भारी हो जाता,
बहुत दिनों तक नहीं धरा के ऊपर बहुत सुखी होने का साहस करता।
अति जीवन्त हर्ष का पीछा करने– वाले आघात से कि रहता डरता,
'विधि' के फैले कर के एक अचानक कोड़े के पड़ने से शंकित रहता,
प्रतिक्षण सुख की ऊंची गौरवशाली,
पराकोटियों के निगुह्य खतरों से भीतर ही भीतर है कांपा करता,
जीवन की मोहासक्त एक स्मिति में छिपे निठुर व्यंग से भीत हो उठता,
और देवताओं के सहज हास्य से उसका अंतर धक-धक करने लगता।
औ' यदि सत्यानाशी विधि का चीता कहीं दुबककर घात लगाए ही हो,
और 'अशुभ' के पंख कहीं उस घर को कुमंत्रणा से सेते बैठे ही हों,
तो भी बोलो जिससे हम पथ से हट अपर दिशा में मुड़कर कतरा जाएँ,
औ' पथ पर उत्पन्न हुए ख़तरे से स्व-जीवनों की रक्षा कर ले जाएँ,
वाम नियति के और अचानक डाले दैवयोग के फंदे से बच जाएँ।''

रानी के इन प्रश्नों के उत्तर में नारद मुनि फिर बोले धीरे-धीरे :–
''जो लिख गया, लेखनी से ब्रह्मा की उसके पूर्वज्ञान से राहत क्या है?
रक्षा-द्वारा निकट ही खुल पुकारते पर हतभागी गुज़र चले जाते हैं।
पूर्व-भविष्यज्ञान इक दुःखवरण है,
'नियति'-रचित उस गुरु नाटक पर वह तो पड़नेवाला निष्फल इक प्रकाश है,
दुःख-मंत्रणा का इक महापाश है।

वह शाश्वत कविसम्राट् 'विश्वमन' बस
एक-एक शाही कार्य की दिशा को भली भांति पृष्ठांकित कर रखता है,
उस महान् अभिनेता की चापों को पर कोई भी देख नहीं सकता है,
बस यह मानव इक गुप्त खिलाड़ी के नक़ली चेहरे-सम जीता चलता है।
उसके अधर कहां कब क्या बोलेंगे इतना भी तो है वह नहीं जानता।
क्योंकि रहस्यमयी एक 'शक्ति' है जो उसकी चापों को मजबूर बनाती,

और अभी उसकी कंपित आत्मा से
उस दृढ़तम 'शक्ति' के अभिलषित को बस
अब तो निज उन्नत ध्येय पर ही अरे
कोई क्रन्दन और प्रार्थना उसको
अब तो छोड़ चुकी है कस प्रत्यंचा
यह उनकी वाणी थी जो इस जग में
औ' जो अपने परम शान्त इक मन से

बस विदीर्ण हो उठा हृदय रानी का
मां ने लखा कि उस पुराण पीड़ा ने
जिसकी सुमधुरता के लिए और ही
किंतु मिली थी अरे यहां तो उसको
यद्यपि उन्नत देव-प्रकृति की ख़ातिर
उसका मन रहता था प्रमाण-कवचित
ज्ञान-ढाल के पीछे पूर्णरूप से
इस प्रकार ज्ञान के शांत स्वर्गों तक
यद्यपि पूर्ण शांत औ' ज्ञानवान् थी
फिर भी वह मानव ही थी, औ' दुख के
बस उस संगमर्मरी भगवत्ता के
अनम्य 'विधान' की पाहनी दृष्टि के
किया न आवाहन उस शक्ति का जिसे
जो 'विश्व-शक्ति' के सम्मुख आकर हैं
अब उसके अंतर ने उस निष्पक्षी
औ' उस निर्वैयक्तिक 'एकम्' को ही
उसने अपनी शांत अंतरात्मा को
औ' जैसे कोई साधारण प्राणी
अपने ही बोझे के नीचे दबकर
संज्ञा-शून्य और दुख से हो कातर,
अज्ञानभरा आलाप किया करता,
यों ही उदासीन 'विश्व-संकल्प' पर
"अंध-विपिन के अरे कुपित अंतर में

प्राणशक्ति ही है ज़्यादा बलवंती।
नहीं अनिच्छा टाल किसी की सकती,
लगी हुई है दृष्टि फ़क़त बस उसकी,
रोक नहीं सकती है उसके पथ से,
एक तीर वह 'प्रभु' के गाण्डीव से।"
दुख-कातर बनने को विवश नहीं हैं,
इन दोलित-गति जीवन के पहियों को,
भंगुर द्रव्यों की चिर अस्थिरता को,
अशांत जग के आवेगों, दुःखों को
सहायता का बल अरपा करते हैं।

उसके शिशु पर ही कर दिया आक्रमण,
नियति चाहिए थी इक उज्ज्वल अनुपम,
फ़क़त अश्रु-पूंजी ही एक अधिकतम।
रहती थी वह राज्ञी अभीप्सानिरत,
उन्नत भव्य विचारों से परिरक्षित,
औ' उसकी संकल्प शक्ति थी विरमित,
उन्नत उठी हुई स्थिति में रहती थी,
औ' राजर्षि अश्वपति की रानी थी,
लिए द्वार अपने उघार बैठी थी।

अन्याय को आज दोषी ठहराया,
परम अभाग्य-दिवस उनके हित लाते,
सीधे तनकर अचल खड़े हो जाते।
न्यायी के विरोध में इक अपील की,
सकल विकृतियों का ठहराया दोषी।
तो सहायता के हित नहीं जगाया,

तरह तरह से महदपराध लगाया :
होकर प्रकट कौन यह विधि, अनिष्टकर,

कौन कुवस्तु खड़ी हो गई सामने
शाल्व कुँवर के स्वरूप में मुसकाती
शायद पिछले जन्मों का वैरी था
जो आया था उसके पूर्व-जन्म के
जो था अपने से तो अनजाना ही
उफ़, काल के संकटाकीर्ण मार्ग पर
हम अंध-यात्रियों को प्रेम, घृणा ये,---
और हमारे दिवस अमंगलकारी
गफ़लत बीच उठाए किसी क़दम में
अनपहचानी प्राचीन निठुरताएँ
औ' भूले-बिसरे मानव-कर्मों का
जब कटु-विधान का निर्माण हो चुका
और हमारे मन ही तो बस अपने
क्योंकि नया कुछ सीखा नहीं है और
मानव अपने तथा दूसरों के सब

और प्रेम यह नीचे गिरते-गिरते
आकाशीय तत्त्व से हीन सुरों की
दारुण स्वर्गदूत यह परवशता में
सहता रहता उन मीठे घातों को
जिसे अशस्त्र कर दिया निज चितवन से
औ' निज दुख-दर्दों को लेकर मिलता
और विवश करता चिपके रहने को
यथा प्रेम हो गया उसे हो अपने
जग की एक यही भारी आफ़त है,
औ' जीवन के हित शोक ने रचे हैं
औरों के सँग समवेदना भाव भी
निस्संदेह मिली कुछ शक्ति है हमें

ताड़ित बने और असहाय प्राणियों
किसी के सजल नयनों को निहार फिर

आई रेंग हमारे अलख मार्ग पर,

सुन्दरता का अमल रूप धारण कर?

अपराधों से शस्त्र-सुसज्जित होकर,
इसको भी अनजान धर लिया आकर।

भीषणता से गुंथे हुए मिलते हैं।
एक श्रृंखला की ही तो कड़िएँ हैं,---
आवश्यकता बदला ले लेती है,
बस, फिर अपने पास चली आती हैं
देव-शक्तियां प्रयोग करवाती हैं।
तो है कुछ कहना-सोचना निरर्थक,
कुभाग्य के होते हैं इक अनुमोदक।

उन्हीं रूढ़ कुप्रयोगों को रह-रहकर
है दुहराया करता यहां निरंतर,

आत्माओं तक जाता पहुँच निम्नतर।
कुपित हुआ करता है धरा-सुखों पर,
और नहीं रह सकता उन्हें छोड़कर,
रहता बनकर निठुर उसी आत्मा पर,
है हठात् अपने कंपित शिकार से,
मोहित बन, बंधन की एक मार से,
एक वेदना के ही मृदु खुमार से।

तरह-तरह के फिर दूसरे पाश भी।
बन जाता संताप यहां अपना ही।
जिससे स्वयातना को सह लेते हैं,
और उचित भी उसे मान लेते हैं,
पर कष्टों से आकुल बनी धरा पर,
के दुख पीड़ाओं से आहत होकर,
अक्सर ही हम संज्ञा खो देते हैं।

मुनि ! हम तो उन देवों तुल्य नहीं हैं
जो इस कष्टों से संतप्त जगत् पर
शान्त भाव से टुकुर-टुकुर लखते हैं
मर्त्य हृदय का छेदन करनेवाले
बहुत पुराने दुःखों की इक गाथा
उन हृदयों का दर्द पालते रहते
किसी मनुज का कष्ट देखते ही बस
और दूसरों के कष्टों, दुःखों में
मोह-वासना-हीन नहीं ये पलकें
अरे स्वर्ग की उदासीनता तो यह

सारे जग की करुणा और वेदना
जिस महानता का अब अंत हो गया
औ' इन नश्वर द्रव्यों के हित भी तो
किसी अजनबी प्राणी तक का दुख भी
यह तो फिर हे नारद मुनि है मेरा
यदि आना ही है अनिष्ट भावी को

अशुभ 'नियति' का अनजाने मुख-दर्शन
ऐसे मौन और अपशकुनी भय से
घुलघुल कर मरने में कौन लाभ है,
दिन को अपनी कुर्सी के पीछे से
उसकी राह देखना कब अदृष्ट वह
हरदम रहे सालती छिपी हुई 'विधि'

अरे कठिन कितना ही हो अब सहना,
तब मां की छाती को विदीर्ण करते
सावित्री के संकल्प को और अब
वज्र के सरिस घोर, कठोर बनाते
उनके शब्दों ने अब विश्व-'नियति' के
'महा देवता' मनुज-हृदय-वेदन से
अपने विश्व-मार्ग के खनने, गढ़ने
अपने भाग्याधीन दुरूह कार्य में

निपट अपरिचित हैं जो पीड़ाओं से,
ताका करते उदासीन नेत्रों से,
नीचे फैले मानव-व्यापारों को,
अल्प-टिकाऊ स्नेहों को, रागों को
आज भी हमें विचलित कर जाती है,
जिनमें नहीं सांस तक अब आती है,
हृदय हमारे द्रवीभूत हो जाते,
पूरा-पूरा हैं हम भाग्य बँटाते।
जिन्हें उमर के नहीं तक़ाज़े आते।
हमारे लिए अति ही कठिन, असह है;
निज पीड़ाएँ काफ़ी हमें नहीं हैं
बस-बस कर उर में अपनी बनती है।
उसके लिए कंठ रुँध-रुँध जाता है,
नयनों में पानी भर-भर आता है।
अरे वेध जाता है हृदय हमारा,
इक गर्भज शिशु प्राणों से भी प्यारा।
तो हमसे न हमारी नियति छिपाओ,
हे मुनि अब अविलम्ब सत्य प्रकटाओ !
यह तो इक असह्य पीड़ा ही होगी,

कुशल जानकर चलने में ही होगी,
और रात को शैय्या के नीचे से :
गाज गिरे हम पर आ किस कोने से,
निज अंतर की छाया के पीछे से,
यह तो एक असह्य परिस्थिति होगी।
जाना बहुत भला है अनजाने से।"
मुनि ने अपनी वाचा का शर छोड़ा,

स्रोत पर लगी छिपी मुहर को तोड़ा।
तीव्र परस का काम लिया करते हैं,
में उसका उपयोग किया करते हैं :

इक क्षण भर के उद्देश्य के लिए बस
वे मानव के रक्त, अश्रु की नदियां बिना हिचक के बहा दिया करते हैं।
फिर इस 'विश्व-प्रकृति' के मानदण्ड भी तो ये अपने जैसे अरे नहीं हैं,
उसकी आवश्यकता, उपयोगों की नाप-जोख भी अपना काम नहीं है।
उनके मुख से एक शब्द कढ़ते ही करण-शक्तियां फूट-फूट पड़ती हैं,
लापरवाह कर्म की एक क्रिया भी विश्व-नियति को निश्चित कर जाती है।
उसी भांति मुनि ने उस क्षण रानी के आगे उस कठोर भावी को खोला :—
"लो तुमने सत्य की कामना की है: तो मैं उसको उद्घाटित करता हूं।
इस मानव-संकुल में सावित्री ने मनुजजाति के जिस रत्न को चुना है,
स्वर्ग-धरा के आनन्द मिलन का वह तो साक्षात् चमत्कार इक घना है,
उसका रूपाकार महान् प्रकृति की महाकूच का अग्रिमतम वैभव है,
उसकी एक अकेली सत्ता ही बस यहां काल की सर्वोत्तम रचना है।
आकाश की सुशांत नींद से जैसे हो नीलम की कतरन गई उतारी,
ऐसी है शुचि आतमा सत्यवान् की आनन्द में गई हो जो कि पखारी,
आनँद-निमग्न अनन्तता में से ही एक किरण हो जैसे गई निकाली,
हर्ष-ऋचा को बनी विमुग्ध सुन रही जैसे हो इक नीरवता कि निराली।
एक दिव्यता औ' नरेशता उसके मस्तक को शोभा-मंडित रखती है,
औ' उसकी आंखें आनन्द-लोक की स्मृति को रक्षित सतत किए रहती हैं।
पृथिवी पर ऐसा तेजस्वी जैसे नभ में तिरता एक अकेला शशि हो
औ' ऐसा सुकुमार यथा मधु-ऋतु की इच्छा पर ही उगी मधुरतम कलि हो,
एक सरित् के सरिस शुद्ध, पावन जो नीरव कूलों को चूमा करता हो,
जो इन्द्रिय औ' अन्तरवासिनि आत्मा,
दोनों को ही बालसुलभ इक भोले उज्ज्वल आश्चर्यों से भर लखता हो।
पृथिवी पर उस स्वर्णिम - स्वर्ग की यथा जीती और जागती एक ग्रन्थि हो,
और कामनामय जगती के ऊपर झुका हुआ जैसे इक नभ 'विशाल' हो,
काल को मिला दीप्तोल्लास एक, जो शाश्वतता से लिया गया उधार हो,
उगा हुआ तारा एक भव्यता का, खिला हुआ इक आनँद का गुलाब हो।
उसमें प्रकृति - पुरुष, युग-सत्ताओं की युगल-'उपस्थितियां' समान बसती हैं,
इक व्यापक समस्वरता से आपस में बन संतुलिता, संगमिता रहती हैं।
मर्त्य-विधा में गढ़े गए इस अंतर
से ज़्यादा मीठा और सत्य-अंतर
'सतत सुखी' औ' दीप्ताकाश निवासी अमर देव तक के पास भी नहीं है,
जो जगके सब सुख-आनँद को अपनी इक स्वाभाविक भेंट सरिस लेता है,

औ' फिर उसको सबके बीच, जगत् के जन्माधिकार सरिस बांट देता है।
उसका शब्द-शब्द इक सूक्ष्म सत्य के प्रकाश को निज में धारण करता है;
औ' जग-आकारों में गुप्त रूप से
रहनेवाली सुशक्तियों के सँग-सँग
विशाल-दृष्टि एक विनिमय ने उसके मन को पूर्ण अनावृत कर रक्खा है,
वह भू के इन आकारों के भीतर निर्वस्त्र देवता का इक द्रष्टा है।
वह निर्वायु और निःशब्द गगन की एक शांत औ' निश्चल विशालता है,
जो इक अगम विचारोंवाले मन-सम इस सारी जगती को निरख रही हो,
इक नीरव-आकाश ध्यान में मज्जित औ' ज्योतित, जिसको आकर प्रभात ने
आनन्द के लोक में खोल दिया हो,

एक सुखी पर्वत प्रदेश पर फैले
हरे-भरे इक वृक्ष-कुंज-सम, जिसको
अभय सनसनाती दक्षिण पवनों ने, इक मर्मरित नीड़ निज बना लिया हो।
ये उसकी झलकों की उपमाएं हैं जो कुछ समानताएं दिखलाती हैं,
सुन्दरता में उसकी कुटुम्बिनी हैं गभीरता में उसकी समकक्षी हैं।
सतत ऊर्ध्वगामी संकल्प है कि जो जिजीविषा-सुखका चिर उन्नायक है
स्वर्ग-उँचाई है जो भू-सुषमा की मोहकता की मित्र है, सहायक है,
अमरों के वातावरणों प्रति उठती हुई एक अविराम अभीप्सा है जो,
मर्त्योल्लासों की गोद में पड़ी हो।

उसकी सुमधुरता औ' उसका आनँद सब हृदयों को है आकर्षित करता,
निज अंतर के और प्रसन्न राज्य में सबको रहने हित आमंत्रित करता,
उसकी शक्ति एक मीनार सरिस है जो स्वर्-सोपान का कार्य करती है,
भगवत्ता की मूर्ति है कि जो जीवन- पाषाणों से खनकर रची गई है।
हा हन्त! अगर मृत्यु बीच में आकर, इससे प्रथम कि वह अपने जीवन की
सबसे अधिक सुगन्धित श्वास भर सके, उस स्वर्ण-कलश को चूर-चूर कर दे,
उन्हीं पंचभूतों में उसे मिला दे,
जिनसे ही उसकी चारु-तन-कंचुकी का इक दिन कोमल निर्माण हुआ हो;
जैसे रख न सकी हो धरा अधिक दिन मिले स्वर्ग से अनुपम एक कोष को,
जिसे दिया था देवों ने उधार पर, ऐसे अमूल्य विरले एक जीव को,
ऐसी दिव्य कलाकृति को, रचना को!

एक वर्ष के अल्प-काल में ही जब यह सुखप्रदीप्त घड़ी लौट जाएगी,
बेफ़िक्री से जाकर महाकाल की एक डाल पर फुदक बैठ जाएगी,
बस फिर स्वर्ग से मिली पृथिवी की यह शाही सुन्दरता सब लुट जाएगी,

और मर्त्य आकाश से तुरत ही यह
आई स्वर्ग-महत्ता भू पर, लेकिन
तीव्र-पक्षधर बारह मास मिले हैं
और आज का दिन फिर से आते ही
मुनि के वाक्य गिरे, ऐसे ज्यों लप-लप
लेकिन चीख उठी रानी हो परवश :
स्वर्ग हमारी हँसी उड़ाता है बस

जो कि क्षणिक सुख की मदिरा का प्याला
जो लापरवाह सुरों के हाथों से
मुझे चाहिए नहीं कृपा अमरों की
बस अपने नक्क़ाशित रथ पर चढ़कर
ओ सावित्री ! घने जनपदों, नगरों
है अफ़सोस कि तेरा भोला अंतर
आकर्षित हो उठा हठात् अजाने
जा, तू एक बार फिर से चुनाव कर,
इस विधिविहित शीश को और त्याग दे,
जहां प्रेम-सुमधुरता उसके पीले
उस मधु-सिक्त दिशा में जाने से तो
यह क्षण भर का सुखानंद तो अति ही
कर न वकालत अपने वरण की जिसे
तेरी तरुणाई, आभा-शोभा यह
औ इक रीती रत्निल-मंजूषा-सम
सफल हो सके कम उत्तम चुनाव भी
पर उत्तर में अब सावित्री अपने
सुशांत उसकी गिरा और मुख-मुद्रा
"एक बार चुन लिया हृदय ने मेरे
निकल चुके जो शब्द एकदा मुख से
वह लिख गया बहीखाते में प्रभु के ।
सत्य-गिरा एक बार उच्चारित हो,

फिर भी 'विश्व-काल' की स्मृति में तो वह
और सुरों के किसी सनातन क्षण में
अद्‌भुत महिमा विलुप्त हो जाएगी।
बहुत महान् थी यहां टिक सकने को।
उन दोनों के फ़क़त साथ रहने को,
तजनी होगी काया सत्यवान् को।"
करके विद्युत् भू पर आ गिरती है।
"व्यर्थ 'स्वर्ग' की कृपा हमें मिलती है,
देकर कोई भेंट सदाभाकारी,
क्योंकि 'मृत्यु' है साक़ी अरे हमारी
भर ले आती है ओठों तक नश्वर,
मिला हमें क्षण भर को ही रागातुर।
और चाहिए नहीं हँसी भी उनकी।

में जाकर फिर से अपनी यात्रा कर।
हरी-भरी कानन की सुमुसकान से,
है इक छलिया मोहक आवाहन से।

इस अद्‌भुत तरु का कि मृत्यु माली है,
संगमर्मरी हाथों में सोती है;
तेरा पथ रुक ही जाने वाला है,
दुखद अन्त में मिल जानेवाला है।
बना मृत्यु ने अरे, व्यर्थ डाला है।
जनमी नहीं धूल में मिल जाने को,
माटी में ही पड़ी-गिरी रहने को,
शायद इक शुभ विधि के पा जाने में।"
तीव्र धड़कते हुए हृदय से बोली
फ़ौलाद के सरिस थी अचल अडोली।
और दुबारा यह न कदापि चुनेगा,
उन्हें अन्यथा कोई कर न सकेगा,

भू के जलवायु से चली जाती है,
औ' मन की सतहों से मिट जाती है,
बनकर अमर सदा गूंजा करती है।

एक बार ही यहां नियति के कर से
बस केवल पांसा फेंका जाता है।
मेरा हृदय सत्यवान् के लिए ही
निज निश्चय को मुद्रांकित बना चुका।
उसके हस्ताक्षर को एक विरोधी
'विधि' का कर भी नहीं मिटा है सकता।
जिसकी मुहर को कि 'विधि' और 'मृत्यु' क्या,
काल तक कभी नहीं गला सकता है।
जो अंतर में मिलकर एक हो चुके
उन्हें कौन है जो विलगा सकता है?
नष्ट तनों को करे मृत्यु का पंजा
आत्माओं को कब विनसा सकता है?
ले ही चले मृत्य यदि सत्यवान् को
तो मुझको भी तो मरना आता है।
करने मेरे साथ दो न सब 'विधि' को
जो कुछ करना चाहे और सके कर;
मैं उस मृत्यु से अधिक बलशाली हूं
औ' अपनी विधि से भी हूं सुमहत्तर,
सूर्य चन्द्र औ' जग लय हो जाएँ पर
मेरा प्रेम रहेगा अविचल होकर,
औ' मम अमरत्व से बनी असहाया
अपभावी रह जाएगी च्युत होकर।
'विधि' का नियम भले ही बदले मेरी
आत्मा का संकल्प न बदलेगा पर।"
अचल हिमाचल-सी संकल्प-शक्ति औ'
शब्द गिरे जैसे कांसा टनकारे
पर वे शब्द निकलकर उसके मुख से
रानी के मन में ऐसे झनकारे,
अपने सकल बचावों से कि भागकर
जैसे कोई कुभाग्य को वर डारे।
अब मां अपनी ही घोर निराशा को
उत्तर-सा देती, बोली दुख-कातर :
ऐसे बोल उचारे करुणा से भर

जैसे अपने भारी मन से कोई
एक व्यर्थ-सा सत्-प्रयत्न करता हो,
निज आशाओं की विवश सुबकनों में
अब और भी गहन दुख के तारों से
सहायता की इक बाट जोहता हो।
"ओ शिशु अपनी आत्मा की गरिमा में
किसी महत्तर अमर लोक के छोरों
के ऊपर ही जैसे बसी हुई-सी,
औ' अपने अतिमानवी विचारों के
प्रकाश में उत्फुल्ल चौंधिआई-सी
तू इक नश्वर आशा पर न्योछावर
महान् शाश्वतता को आज कर रही।
पर इस परिवर्तनशीला धरती पर
कौन भला किसका प्रेमी है अपना,
कौन सखा है, सतत प्रीति-निर्वाही
सब कुछ परिवर्तित होता रहता है
कुछ भी यहां नहीं है सुचिरस्थायी।
इस क्षणभंगुर भूगोलक पर कोई
जनमा नहीं किसी एक के लिए ही।
आज अरी तू जिसे प्रेम करती है
है वह भी तो मिला इक अजनबी ही,
और एक अजनबीपने में फिर से
हो जाएगा तुझसे अलग फिर कभी।
इस जीवन के रंगमंच के ऊपर
क्षणभर को बह अपना खेल खेलकर
जिसको निज अंतरात्मा के द्वारा

उसने निज अभिनय के हित पाया था
इक सीमित-सी अवधि के लिए दुष्कर,
फिर दूसरे दृश्य औ' अभिनेताओं-
सँग वह नाटक करने चल देता है,
और अपरिचित तथा नए मुखड़ों के
साथ-साथ फिर रोता औ' हँसता है।
औ' तन, जिसको कि तू प्यार करती है,

महा शक्तिशाली प्राकृत-तत्त्वों में
निर्ममता से फेंक दिया जाता है,
जो जग के लापरवाह अपरिवर्ती
आदिम तत्त्वों में फिर मिल जाता है,
यह जड़-पदार्थ उपादान बन कर फिर
अन्य प्राणियों की लीला रचता है।
किंतु अंतरात्माओं के ये यात्री
सतत घूमनेवाले 'ब्रह्म'-चक्र पर
बार-बार आते हैं औ' जाते हैं,
और महा 'नटवर' के विराट् नर्तन
की जादू-आवृत्तियों बीच किसी से
योजित और वियोजित हो जाते हैं।

रागावेश हमारा नहीं और कुछ
'उसके' उग्र गीत के तार-सप्तकी,
या फिर मंद पड़ रहे-से इक स्वर हैं
जो घटिका-धारा के चिर प्रवाह में
एक सतत जिज्ञासारत 'अंतर' की
आवेगों से भरी क्रियाओं द्वारा
एक विवशता से बस बलद रहे हैं।
अब स्वर्ग के सुदूर और आशाप्रद
गीतों का आवाहन करते रहना
अनुपलब्ध इक आनन्द को टेरना :—

इतना ही हम साहस कर सकते हैं।
एक बार गहकर भी स्वर्ग-गीत का
मधुर बोध हम से छुट फिर जाता है
बहुत पास आकर वह लय-स्पन्दित स्वर
खो जाता है, विलीन हो जाता है।
सब माधुर्य, हमें झुठलानेवाला
प्रतीक है, इक झूठी सुन्दरता है,
प्रेमी की आंखों के आगे ही तो
प्रेम हमारे उर में मर जाता है,
और जागतिक जीवन-आनँद, भंगुर
फूलदान की सुगन्धि-मादकता है।
तो फिर इच्छा-झंझाओं के सम्मुख
अपने जीवन का यह पाल खोलना,
औ' अपने अंधे अंतर नाविक को
उसके रख सकने के हित पुकारना :—
अरे, 'महाकाल'-सिंधु पर घटती यह
है कितनी भीषण नौ-विनाश घटना ?
अबोध ! फिर भी निज घोषणा करेगी ?

और 'महाविधान' का, जो शाश्वत का
अपना संकल्पन है विरोध करके
उस उत्तेजित दानव-मनोदशा का
क्या फिर भी अंधा अनुसरण करेगी ?
जिसके लिए कि इस जगत् में जहां पर
'सत्य' नहीं 'प्रकाश' औ' 'ईश' नहीं हैं,
बस केवल अपने ही एक भयंकर
संकल्प का दृढ़ विधान भर सही है।

तू जो आज कह रही उसको सुर ही ला सकते हैं केवल अपने मुख पर।
तू जो अभी मनुज ही है, पृथिवी पर देवों के सम उन्नत विचार मत कर।
क्योंकि मनुज के लिए, जो कि देवों से है न्यूनतर और पशुओं से बढ़कर,
उसके जीवन हेतु पथ-प्रदर्शन को दिया गया है शांत विवेक-ज्ञान भर।
वह तो किसी विचार-रहित इच्छा से होता नहीं अंध के सम अनुधावित,
और न पशुओं तथा पक्षियों के सम होते उसके कर्म कभी संचालित,
औ' न 'नग्न-आवश्यकता' के इंगित का ही उसकी शक्ति अनुसरण करती,
जैसे इन्द्रिय-प्रबोध-शून्य अचेतन द्रव्यों की गति है इस जग में बढ़ती।
दैत्यों और राक्षसों की इक भीषण
सेना है जो सब कुछ नष्ट भ्रष्ट कर है चाहती 'स्वर्ग' को भी हथियाना,
या कि तर्क की पैशाचिक विशालता को भी चाह रही है उछल घेरना।
बस वे उर के अविचारी भावों से
स्व-जीवनों को शाश्वत धर्म-'नियम' की वज्र-भीति से जा टकरा देते हैं,
औ' फिर गिर जाते, गिरकर अपने ही उग्र बोझ से टूट-फूट जाते हैं
इसी लिए इस चिन्तक मानव के हित मध्य-मार्ग ही बस सबसे उत्तम है।

बस अनंत संभावित ध्येयों में से काट-काटकर गए निकाले अपने,
इक-इक कठिन ध्येय की खातिर बढ़ने
के हित, इक तर्क के सजग प्रकाश में वह चापों का है चुनाव कर सकता,
और अनेक पथों के बीच फ़क़त इक पथ को ही अपनाकर है चल सकता।
छोड़ न अपना ध्येय, अतः इक सुन्दर मंगलमय श्रीमुख के सुअनुसरण का।
केवल जब तू चढ़ते-बढ़ते अपने मनस् लोक के ऊपर चढ़ जाएगी,
औ' जब उस 'केवल' 'एकम्' की ही बस विस्तृत महाशक्ति में जा विचरेगी,
तभी प्रेम तेरा अविरत औ' शाश्वत आनंद में बस शाश्वत बन सकता है,
और 'प्रेम' दैवी, धरती पर आकर स्थान मनुज बंधन का ले सकता है।
यहीं तो छिपा है आवृत विधान इक छिपी पड़ी है और कठोर शक्ति इक,
वह आज्ञा करती है कि शक्तिशाली कर निज, मर्त्य आत्मा को अधिकाधिक :
निपट अदेखी सुदूर और निगूढ़ा उस भागवत उँचाई पर चढ़ने को
एक-एक सीढ़ी के सम वह हमको
इन कार्य औ' विचारों के रूपों औ' नपे-तुले कुछ गभीर आनन्दों को
निज प्रचंड बकसीसों-सम देती है।
तब जाकर जीवन की गति सुशान्तिमय मीठी और मधुर यात्रा बनती है,
औ' प्रत्येक वर्ष एक कोस के सम स्वर्गिक पंथों पर है हमें बढ़ाता,

औ' प्रत्येक उषा-सौन्दर्य हमारे सम्मुख इक नव-प्रकाश को है लाता।
तेरे कार्य सहायक ही हैं तेरे औ' घटनाएं हैं संकेत, इशारे,
निद्रा और जागरण अवसर हैं शुभ मिले तुझे जो अमर-'शक्ति' से न्यारे :
इस प्रकार शुद्ध औ' अजित आत्मा को रख सकती तब तक शिखर पर उठाकर
औ' इक संध्या-नीरवता में रहकर

अविकृत औ' तटस्थ इक सौम्य सुविस्तृत आकाश के साथ उसको फैलाकर
धीरे-धीरे जब तक न महत् बनकर वह कालातीत शांति में मिल जाए,
जब तक धीरे-धीरे न शाश्वतीया सुशान्ति में, उठ वह महान् बन जाए।"
पर सावित्री स्थिर नेत्रों से बोली :—

"यह मेरा संकल्प और है ही क्या, शाश्वत-संकल्प का अंश ही तो है,
मेरी आत्मा की शक्ति जो रचेगी और गढ़ेगी वह ही मेरी विधि है,
मेरी आत्म-शक्ति जितना ढोयेगी और सहेगी वह ही मेरी विधि है,
मेरी शक्ति आसुरी नहीं दिव्य है।

खोज लिया है मैंने निज शरीर से
परे, दूसरे की ही इक सत्ता में अपनी सतत-प्रसन्न वास्तविकता को :
खोज लिया है मैंने गूढ़-गँभीरा अरे प्रेम की अविकारी आत्मा को।
तो फिर कैसे मैं कामना करूं अब उस बीरान और एकाकी शुभ की,
श्वेत, शून्य शान्ति की अभीप्सा करके हत्या कैसे करूं अगम-आशा की।
जिसने मेरी आत्मा को असीम औ' एकान्तिक निद्रा से सतत उठाकर
प्रेरित और कर दिया उसे जगाकर

देख लिया है बस मेरी आत्मा ने अब उस शोभा-महिमा के वर्चस् को
जिसके हित है वह जगती में आई,
देख लिया, सब द्रव्यों की ज्वाला में धड़कते हुए इक विशाल अन्तर को,
उसकी शाश्वतता ने ही अब मेरी शाश्वतता को निज बाहु में भरा है,
और 'काल' की मधुर गर्तता में अब
श्रम की थकान से बन अस्पर्श्य सतत
सदा प्रेम करते रहने की गहरी संभावना से हृदय उमड़ चला है।
बस यह, यह ही पहला और आख़िरी सुखानन्द है औ' उसके स्पन्दन पर,
सहस्र-सहस्र सौभाग्यपूर्ण वर्षों का वैभव धूल-सरिस रह जाता बनकर।
मुझ को मृत्यु और पीड़ा है ही क्या?

साधारण मानव के जीवन-सुख से अब तात्पर्य मुझे कोई है ही क्या?
साधारण प्राणी की अन्तरात्मा से मुझको लेना-देना ही क्या है?
सत्यवान् की अरे नहीं जो आंखें और ओठ उनका आकर्षण क्या है?

मुझको उसके भुजपाश से निकलकर
शोध निकाले उसके प्रेम-स्वर्ग से
और मुझे इक सुशान्त अनन्तता में
आत्मा को सत्यवान् में लखकर ही
उसके हित इस मिले जन्म अवसर के
उन मरकती पथों पर मैं छायावी
कहीं प्रकाशित कहीं एक सपने में

एक वर्ष यदि मुझे मिला है तो बस
फिर भी यह तो मुझको निश्चय ही है
कि जिऊँ, प्रेम करूं क्षण भर, मर जाऊँ।
क्योंकि आज जाना मैंने क्यों आई
तथा कौन हूं मैं, और वह कौन है,
मैंने अपनी शाश्वत-'आत्मा' की ही
देखा सत्यवान् के मिस मुसकाते
औ' देखा है उसमें, भू पर उतरे
इन शब्दों को सुन सब ठगे रह गए
चुप होकर बस बैठ रहे सारे जन

पुनः लौट आना स्वीकार नहीं है
यात्रा करने की दरकार नहीं है।

वैभव को बस मैंने निधिआया है।

उसके सँग संचरण करूंगी ऐसे,
देव संचरण करते 'दिव' में जैसे।
वह ही मेरा समग्र जीवन होगा,
इतना भर ही मेरा भाग्य न होगा,

है, मेरी आत्मा इस जगतीतल पर
जिसके लिए कि उमड़ रहा उर-सागर।
आंखों से वन में निरखा था उसको,
था अपनी दिशि बस साक्षात् 'ईश' को,
मानव का स्वरूप धरकर 'शाश्वत' को।''
नहीं शेष थी शक्ति कि उत्तर देते,
'विधि' की आंखों में ताकते-निरखते।

पर्व ६, सर्ग २

विधि की गति और दुःख का प्रश्न

कुछ क्षण को उन सबके ही आनन पर दौड़ गई जैसे मौनता-मुनादी,
औ' विधना के अमिट, अचल उस निर्णय पर चुप्पी ने थी इक मुहर लगा दी,
सावित्री की हत-विधि को अचलाते वे 'विधि' के अंकन अंतर-अपघाती
गिरे शिलावत्, मुनि के दैवी मुख से जिन्हें न कोई शक्ति बदल सकती थी,
जब तक अपने संकल्प को न आकर बदले अपने आप स्वयं ब्रह्मा ही।
अथवा कहें कि ऐसा पड़ा दिखाई।

फिर भी उस मौन से उठी इक वाणी
जिसने कि उस अपरिवर्ती विधान के विरोध में अब एक गुहार लगाई।
खड़ा हुआ संकल्प एक अब, उस ध्रुव, 'दैवी संकल्प' के सामने आकर,
इक माता के अंतर ने सुन पाई थी अभाग्यभाखी वाणी सुकष्टकर,
जिसकी भनक कान में ऐसी खनकी
यथा मृत्यु के ही बस आवाहन का वह दैवी आदेश लिए आई हो,
बस सारी आशा पर औ' जीवन पर मानो भीषण तुषार-वृष्टि हुई हो।
लेकिन फिर भी बैठ रही आशा तो भौराई चिनगी-सम नीचे दबकर।
अनुभव किया और रानी ने ज्यों इक सीसे के अनिवारी कर ने उठकर,
उसकी आत्मा के अभिगोपित गढ़ में बोल अचानक हमला आज दिया हो,
तथा सुखी औ' शान्त सत्त्व पर उसके इक भारी असह्य आघात किया हो;
महाकष्ट से विजित शान्ति के विस्तृत सुसाम्राज्य पर अधिकार कर लिया हो।
तनिक देर को वह साधारण मानव की ही मनोदशा में यथा आ गिरी,
आ पहुंची मर्त्य-दुखों के प्रदेश में 'प्रकृति'-धर्म के बंधन बीच आ पड़ी,
और सहा साधारण मनुज भाग्य के समान ही जग के कष्टों का रेला,
उसमें भाग्य बँटाया पूरा-पूरा
'काल'-प्रवाह के और तूफानों को मानव-अन्तर के समान ही झेला।
उस अतर्क्य शक्ति के सामने उसने
अपनी वाणी में अब ज्यों पृथिवी के सब प्रश्नों को करके आज उघारा
मौन, अचल द्रष्टा की ओर निहारा :

और 'प्रकृति' की गहन अचलताओं के
भाग्य-लीक पर चले आ रहे गूंगे
सकल यातनाओं की सहभागी-सी
साक्षात् दुःख के सम आवेगित-सी
गुमा दिया उसने क्षण भर के हित ज्यों
साधारण मानव के विवश-भाग्य के
'मृत्यु' और 'काल' के भयानक कर को
सहीं यातनाएं जो पड़ी हुई हैं
दे डाली अपनी संयत वाचा ज्यों
जिसमें मूक बने जग के अंतर की
जहां कि निज अज्ञ नियति के विरोध में
"ओ द्रष्टा ! विचित्र है यह पृथिवी की
जिसमें जाने कौन हृदय-बिन, अकरुण
औ' 'स्रष्टा' के किस गूढ़ संकल्प की,
किसी अचानक घटी एक घटना से,
दैवाधीन विवश-सी गति में पड़कर
औ' इक मुहूर्त्त की आवेश-उमँग में
पीड़ा और यातना की भीषणतम
सचमुच यही तुम्हारा 'प्रभु' है, जिसने
कोई विनाशकारी या कि शक्ति ने
फिर जिससे अपनी रक्षा करने में,
जबसे पृथिवी पर शुभ और अशुभ की
तभी से कु-आरंभ बीच जीवन के
तबसे पहले-पहले इस जीवन में
बस विचार का दुःख-बवंडर छाया,
इसने पशु-कार्यों की सीधी-सादी
सुसरलता को पाप-पुण्य के रूपों
शारीरिक देवों के काटे-छांटे
औ' इक टेढ़े-मेढ़े तथा अनिश्चित

और विचाराकाश में झलकते उस
जो कि अनिश्चित आदर्श-पथ धराता
फिर तीर-सरिस बस, प्राणी की सीधी

असन्तोष से बनकर यथा आक्रमित,
जीवों के दुःखों सँग बनी सहचरित,
सारे अज्ञ रुदन से बन संपीड़ित,
फूट पड़ी, प्रश्न-भरे, सुरपुर के प्रति।
अपनी आत्मा का शुचि-शान्त संतुलन,
साथ लिया अपना भाग्य जोड़ कुछ क्षण
सहा और उसने अपनी छाती पर,
जीवन के आहत गर्तों में छिपकर।
कुछ क्षण सतही आत्मा को, पृथिवी की,
सारी दुःख-कहानी मुखर हो उठी,
मानव गाथा थी विद्रोह कर उठी।
द्वन्द्व स्वभाव-भरी अपनी जीवन-गति,
एक विरोधी 'आवश्यकता'-प्रेरित !
हिम-विजड़िता-सनक से हो संचालित !
या कि किसी 'दैवयोग' से अभिनिश्चित,
निर्दय इक विधान की सृष्टि हुई है,
मानव-नियति की दिशा रची गई है?
यह रहस्यमयता कैसे आई है?
ऐसे क्रूर धर्म को यहां रचा है,
किए-धरे को उसके लीप दिया है,
औ' बचाव में वह लाचार बना है?
गई द्वंद्वता है सँग-सँग जोड़ियाई,
हुई प्राण-घातक बीज की बोवाई।
मनस्-रोग की छूतछात घुस आई,
दौड़धूप जीवन-ध्येय हित मचाई।

में था धर-धर तोड़ा और मरोड़ा,
सीधे मार्ग को घुमाया औ' मोड़ा
जीवन-पथ पर फिरा कि दौड़ा-दौड़ा,—
जो अपना ध्येय ढूंढ़ता फिरता है,
पीले तारालोक में भटकता है।
अस्थिर संकल्प को एक प्रकटाता।
निश्चित अंतर दृष्टि का अरे अपना

पाशव-सहज ज्ञान का एक सुरक्षित
और 'प्रकृति' की असंदिग्ध औ' सीधी
विकसनशीला आत्मा में सुसत्य औ'
कालातीता निर्दोषिता से तथा
उन आत्माओं के मुख्याधिकार को,
फेंक था दिया गया कठिन औ' जोखिम
जनमा जीवन एक रुदन के सँग अब
यद्यपि धरा-प्रकृति प्राणों के मिस, इस
जो 'जड़ तत्त्व' में हमारे, जिजीविषा
तो भी शत-सहस्र दुःखों की सेना
नश्वर मानव की इन घटिकाओं पर
औ' जीवन की स्वाभाविक प्रसन्नता
ये अपने शरीर बस इंजन-सम हैं
यही नहीं पर इसके सकल अंग भी
जो सब किसी आसुरी बुद्धि-चातुरी
रची गई है एक मर्त्य ख़तरे औ'
ख़ास तरह के दुःखों-पीड़ाओं की
'काल', नियति का चढ़ा हुआ इक कर बस
दुख सहने के इसके अजब तरीके
मानव को निज उन्नत जायदाद का
यही निशानी है इक मानवता की,
और भयानक रोगों की तो जैसे
जो अधिकारी भाड़ेदार बनी-सी
बनी रसद-भंडारी अरे मृत्यु की
औ' ये जग के विषाक्त गुरु गर्तों में
अवचेतन की अभिगुप्त दरारों में,
छिपे पड़े जोहा करते हैं, अपना
चारों मुख से व्यूह जोखिमों का रच
मानव-जीवन-दिवसों के दुर्गों में
नीचे-नीचे तो मानवी शक्ति के
फिर ये क्षति पहुंचाते हैं या झटपट
हम अपने भीतर ही प्राणघातिनी
और बैरियों को ही निज अंतर में

तादात्म्य भी आज था लुप्त हो गया।
चापों का निश्चय संदिग्ध बन गया,
स्वतंत्रता का भी अब अंत हो गया।
उस शान्ति के सुविस्तृत एक केंद्र से
छली गई हैं जो अबतक न जन्म से
इस पृथिवी पर अब सब कुछ सहने को,
दुःखों की थाती ढोते रहने को।
मिली स्वर्ग-श्वास का सुस्वागत करती,
की एक प्रेरणा है भरती रहती,

है अनजाने किया आक्रमण करती,
धीरे-धीरे नित्य छीजती रहती;
जो इक बड़ी कुशलता से हैं सर्जित,
उसी कुशलता से हैं हुए सुयोजित,
में इक चालाकी से रचे गए हैं,—

इसकी संगत, अनिवारी पैतृकता,
उसको करना ही पड़ता है चुकता,
मरने की भी अपनी एक है प्रथा।
यह भारी मूल्य चुकाना पड़ता है,
उसपर लगी हुई यह इक मुद्रा है।
एक भीड़ की भीड़ है चली आती,
आकर इस तन के घर में बस जाती,
जीवन की पीड़ादायी अपघाती।

हमला करने का इक समुचित अवसर,
घिरी हुई अपनी जीवन-नगरी पर,
जो ये अपना प्रवेश पा जाते हैं,
ये विषभरी सुरंग लगा जाते हैं,
ये मानव का वध ही करवाते हैं।
विपुल शक्तियों को पाले रहते हैं:
अतिथि बनाकर टिका-बसा रखते हैं,

जो जन्तुओं-समान विवर से अपने निकल-निकलकर रेंग चले आते हैं,
औ' इस दैवी गायक की वीणा के तारों को काटा-कुतरा करते हैं,
जब तक इसका संगीत ही न सारा धीरे-धीरे करके खुद मर जाए,
या चिचिया कर ऊँचे आर्त्तनाद से अंतिम श्वास छोड़कर न चला जाए।
है ही क्या और अरे अपना जीवन घिरा हुआ बस जैसे एक क़िला है,
बस हम जिस आदर्श को ललक बढ़ते
वह 'जड़ता' की अज्ञानावस्था की मलिन नींद का सपना बन जाता है।
और जगत् की असंवादिता से मन विकलांगी हो दुखी बना रहता है,
मानव-रचित वस्तु में सौंदर्यों की नीरसता से पंगु बना चलता है।
जीवन, चूक गया इक चमत्कार है, बिगड़ गई वह उन्नत एक कला है,
मानो कोष हो लुटा दिया गया इक या बेचा मिट्टी के मोल गया हो,
अंध-नियति के बाज़ार में कि कोई सौदा बेच मुफ़्त में दिया गया हो,
या इक अनमोल मूल्यवाली कोई काल-देवताओं से मिली भेंट, जो
गुमा गई इस लापरवाह जगत् में या कुजगह में ला फेंक दी गई हो।
यह जीवन अंधकार में, कोने में कार्य कर रहा एक शोध-कर्ता है,
एक सिपाही है जो बली शत्रु के
सम्मुख शस्त्र-कृच्छ्रता में निज भीषण, कटु वारों का मुक़ाबिला करता हो,
इक नौसिखिया कारीगर है जिसको अति-दुष्कर कार्यभार दिया गया हो,
'अज्ञान' बीच उठी समस्याओं का वह इक अज्ञानी निर्णयकर्ता है।
उसके स्वर्ग-उड्डयन, बन्द और इक कुंजी-बिन द्वार पर जा पहुँचते हैं,
भव्य और उन्नत रागोन्माद सब कर्दमता में फूट-फूट गिरते हैं।
मिली 'प्रकृति' की सौगातों पर भी तो जैसे उसकी, शाप लगे रहते हैं।
और हाथ में हाथ डालकर, अपने विरोधियों के सँग ही सब चलते हैं।
बनी हमारे नश्वर विचार की बस अरे भूल ही इक अभिन्न साथी है,
और सत्य की अंतर-गहराई में छिपकर असत्यता निवास करती है,
सुख-मोदों के भड़कीले पुष्पों से पाप स्व-विष, बरसाता ही रहता है,
या आत्मा को दाग अग्नि से उस पर रक्त-दाह का चिह्न छोड़ जाता है।
पुण्य हमारा इक धूमिल बंधन है और हमारे लिये जेलखाना है।
अरे हमारी खातिर इक-इक पग पर जिधर जायँ बस रहता जाल बिछा है।
जीवन-कर्मों के स्रोत तो हमारे इक अंधे तम-कूप से निकलते हैं,
जिनके लिये तर्क औ' आत्म-ज्योति के सकल प्रकाश विदेशी ही होते हैं।
बस अज्ञानता और अचेतना में ही तो रोपित जीवन की मूलें हैं।
कष्टों का वर्द्धनशील एक खाता,— इतना ही अपना पिछला हिसाब है,

अरे 'प्रकृति' की अगणित ईति-भीतियां
मानव की मूर्खता औ' गुनाहों का
मानो जग के बोझों की अनगिनती
औ' हठ करके मानव ने ही अपने
कर से देवों की जोती सीता में

जो विस्मरणशील 'काल' के अदेखे
उनकी सतत विकसती हुई सुविस्तृत
अपने आप खुशी से अपनी जाकर
अरे कहें क्या, वह नश्वर प्राणी खुद
उसका भौतिक विज्ञान समुन्नत यह
वह पृथिवी के अपने अन्वेषण को
बस अपनी जाति को हानि पहुंचाने
इस प्रकार अपने सुख औ' औरों के
काल और उसके इतिहास से अभी
जिस प्रकार वह आदि 'काल' में था, जब
अज्ञ-धरा जब 'विधि' के राजमार्ग पर
उसी प्रकार आज भी जीर्ण रूप सब
उसी प्रकार आज भी तो जीवन की
मधुर मुसकराती शान्ति को, युद्ध हैं
लूट, लड़ाई, ध्वंस और हत्याएं
वैसे ही आज भी लड़ाकू, क़ौमों

एक मूर्खता-भरा क़दम क्षणभर में
उसके क्रोध का बुख़ार और उसका
सौन्दर्य औ' महत्ता के महिमामय
तथा देश के श्रम और पसीने की
जो कुछ बहुत यत्न करके पाया था
उसको जोखिमभरे पर्वती ढालों
तथा बदल देता गौरव-गाथा को
उसकी लघुता बन संतुष्ट रेंगती
और स्वर्ग के प्रतिरोध को स्वयं वह

औ' भावी 'विधि'-लेखे की किताब है :
औ' आधि-व्याधियों की बृहद् भीड़ पर,
शताब्दियां हैं ऊँचा ढेर लगातीं,
वज्र-शिलाएँ काफ़ी हमें न होतीं,

दु:ख, यातना की फ़सलें हैं बोईं,
और पुराने अपने दुष्कर्मों की—
महा उदर में मूंदे ढके पड़े थे,
दुखद उपज उसने अब तक है काटी।
वह नर्क के जाल में हुआ बद्ध है,
अपना सबसे भारी एक शत्रु है।
उसकी अनिष्ट- भावी का सर्जक है,

का साधन ही बना-बना रखता है,
शुभ का अविरत हनन किया करता है।
उसने कुछ भी सीखा-पढ़ा नहीं है।
उसकी सुकुमार किशोरावस्था थी
चली भागती जा यंत्रवत् रही थी,
विश्वात्मा से चिपके हुए पड़े हैं :

बिल्कुल निष्फल औ' बेकार बनाते,

के हैं सुखद मनोरंजन करवाते।
सदियों में जो कुछ निर्मित होता है,
बस उसको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है,
घृणा-ज्वार, उसकी प्रतिभा से सर्जित
ऊंचे महलों को करता भू-लुंठित
सकल कमाई को करता अभिमर्दित।

पर घसीटकर कर देता फल-विरहित।
एक कुभाग्य, पतन के महाकाव्य में,
है कीचड़ कांदों में और धूल में,
अपने सिर पर आमंत्रित करता है,

तथा स्व-रचित यातनाओं में फिर वह घिसिआता, गिरता-पड़ता चलता है।
कहें क्या कि जग की इस करुण कहानी का अंश रूप में वह खुद स्रष्टा है,
मृत्यु, काल और नियति के सँग उसका संकल्प कुमंत्रणा रचा करता है।
गो कि पहेली-भरी धरा पर उसका क्षणिक आगमन तो फिर-फिर होता है,
किंतु प्रभु-रचित युग के महाचक्र पर
भ्रमनेवाले इस भीषण यात्री में
जिसका जीवन उसकी कोल्हूरढ़नी विस्तृत गति में घिरा-घिरा रहता है,
कुछ भी मतलब सिद्ध नहीं होता है।

उसकी आत्मा का विस्तृत अन्वेषण,
पुनः पुनः आगच्छन्ती आशाएँ,—
अपने निष्फल वृत्तों की लीकों पर, बार-बार चक्कर काटा करती हैं,
किए गए बेकार श्रमों को लेकर निष्फल सी आवृतियों में रढ़-रढ़ कर
एक शीघ्र-विस्मृत हो जाने वाले, मानव के इस नगण्य जीवन-पथ पर,
बार-बार आती हैं औ' जाती हैं।

यह सब कुछ तो किसी अर्थ-हीना-सी गाथा की जैसे कि एक घटना है।
तो फिर यह सब जगत्—पसारा क्यों है,
हम सब यहां और किस हित आए हैं?
यदि आत्माओं की यह ध्रुव भावी है,—
कि किसी शाश्वत आनँद की सत्ता में उन्हें लौट कर फिर वापिस जाना है,
या अनन्त शान्ति की एक नीरवतम
औ' निर्वैयक्तिक चरमावस्था में उनको आखिरकार पहुँच जाना है,
क्योंकि हम सभी 'तत्' के ही स्वरूप हैं क्योंकि हम सभी 'तत्' से ही जनमे हैं
तो फिर यह अति विचित्र और निरर्थक अन्तःकथा कहां से जन्म ले पड़ी,
और अनन्त-'काल' के इस प्रवाह में है जो अविरत बहती चली जा रही?
या जीवों को अवश्य रहना ही है और यह क्षणिक जीवन है जीना ही,
तो आत्मा को अज्ञान औ' अश्रु की भला कौन सी थी आवश्यकता ही?
शोक और पीड़ा के लिए कहां से थी पुकार फिर कैसे यहां उठ पड़ी?
या होकर मजबूर इन सबों ने फिर कारण बिना पदार्पण यहां था किया?
अरे जन्म के हित उस आत्म-पुरुष को किस शक्ति ने भला था विवश कर दिया?
अरे रह चुकी हो बस एक बार जो शाश्वतता में, बनकर शाश्वत साक्षी
फिरती रहती क्षणभंगुर दृश्यों में जग के है अब मृत्यु-रहित वह यात्री,
अर्ध-प्रकाशित अस्पष्ट-प्रदेशों में जो रचती फिरती निज खेमा-डेरा,
औ' मानव-विचार के बचे खंडहरों औ' सपनों में करती यहां बसेरा।

और नहीं तो किसने परमानँद से उसे पतित होने को फुसलाया है,
और अमरता के जन्मजात उसके अधिकार को यहां ज्ञप्त कराया है?
इस सुन्दर पर दुख-जाल सम जगत् में अरे घूमनेवाले इस यात्री पर
किसने लगातार जीते जाने के अंतहीन संकल्प को लदाया है,
उसके दुख-सुख और प्रेम के बोझे को सहने हित मजबूर बनाया है?
हां यदि नहीं निरीक्षण करती कोई सत्ता 'काल' के निरंकुश कार्यों का,
तो कठोर व्यक्तित्व-विहीन कौन-सी
'आवश्यकता' ने क्षणजीवी जीवों को है निरर्थ श्रम के हित विवशाया?
तो फिर कोई महान् 'माया' ने ही होगा रवि-शशि का निर्माण कराया,
लेकिन इस प्रकार शाश्वत आत्मा के अस्तित्व की सुरक्षा कैसे होगी?
असत्य सूर्यों के भ्रमणों में उसकी स्थिरता की कौन-सी व्यवस्था होगी?
या फिर यह अंतरात्मा निज गृह से भटका-सा इक यात्री है सैलानी,
'महाकाल' की औ' इक दैवयोग की अंधी गलियों में फिरती भरमानी,
और इक निरर्थक दुनिया में पाती नहीं ध्येय की अपने कहीं निशानी।
हमें बताओ या माया का शासन कहां शुरू औ' कहां खत्म होता है?
शायद जिसको हम आत्मा कहते हैं वह बस एक हमारा सपना ही है,
औ' समाधि में अनुभव होनेवाली शाश्वत सत्ता एक फ़साना है।

तब कुछ क्षण के महामौन के पीछे नारद ने वाचा के गवाक्ष खोले,
निज ओठों के स्वर को पार्थिव स्वर के साथ-साथ समस्वर करते-से बोले,
और नियति के एक निगुह्य अर्थ के पहलू ने यों अपना शीश उठाया,
कि इस मनुज की मर्त्य-गिरा के भंगुर संकेतों को गुरु-गंभीर बनाया,
अब गंभीर-पवित्र क्रांत-दर्शन से उनका विस्तृत भाल यकायक चमका,
जैसे परात्पर चिंतनधारा की चमक उठी हो दमदम एक पट्टिका,
ज्यों अलिखित वाणी के दीप्ताक्षर हों,
जो उसकी विशालता के ऊपर निज देवों का इक अंकन छोड़ गए हों।
उस 'झलमल' प्रकाश में यथा 'काल' के प्रवाह का सारा श्रम स्पष्ट हो गया,
उसका अदृष्ट कार्यकलाप खुल गया,
विस्तृत, जगव्यापी और दूरदर्शी सुयोजनाएँ, जो हैं पड़ी अधूरी,
औ' युग-युगान्तरों की दीर्घ उड़ानों द्वारा सतत जा रही हैं जो खुलती,
वे उसकी उस विश्व-विशाल दृष्टि में रेखायित औ' चित्रित हुई पड़ी थीं —
"तो फिर अभी निशा है इसी लिए क्या था अस्तित्व सूर्य का इक सपना ही?
उस 'शाश्वत सत्ता की सतत उपस्थिति मर्त्य हृदय के पीछे नित्य है बनी:

और तुम्हारी आत्मा के सुकक्ष में वह छिपकर चुपचाप अरे बसती है,
दुख-दारिद्र्य हैं वहां पहुँच न सकते केवल इक ज्योति ही जगी रहती है।
उसके और तुम्हारे मध्य में एक अंधकार की भारी भित्ति खड़ी है,
कि बस तुम्हें उस अद्भुत गौरवशाली 'अतिथि' की न वाणी तक सुन पड़ती है,
और न अनुभूति ही कभी होती है,
औ' अपने ही भीतर मंगलदायक छिपे सूर्य की किरण नहीं दिखती है।
हे राज्ञी! यह सकल विचार तुम्हारा 'अज्ञानता' रचित ही एक ज्योति है,
जो निज चमकीले-दमकीले पट से 'प्रभु' की आनन-छवि को ढक रखती है
और 'अचेतन' से उत्पन्न हुई ही बस इक सृष्टि को प्रकाशित करती है,
किंतु सृष्टि में गोपित 'मृत्युंजय' के चरम अर्थ को छिपा-छिपा रखती है।
और तुम्हारे मन का प्रकाश ही तो 'शाश्वत' विचार को तुमसे मूंदे है
और तुम्हारी नश्वर आशाओं का पट ही 'शाश्वत' संकल्प को ढके है,
तथा धरा के मोद-मनोरंजन ही 'अमरानंद' को तुमसे विलग किए है।
अरे तभी तो पड़ी बस ज़रूरत थी काले और अनाहूत इक देव की,
जग के एक कठोर, निठुर शिक्षक की इस मानव-विकास के सर्जक दुख की।
'अज्ञान' का निवास हो जहां, आना वहां यातनाओं का अनिवारी है,
शोक तुम्हारा 'प्रकाश' के हित ही तो तम की एक गुहार है, तैय्यारी है।
यह दुख तो इस 'अचित्'-सृष्टि में जनमी
वह पहली संतति है जो कि तुम्हारी मूक देह-सत्ता की आदि मूल थी,
जहां पड़ा था यह दुख पहले से ही एक गुप्त अवचेतन के स्वरूप में,
जैसे इक छाया हो सुप्त पड़ी-सी एक प्रतिच्छाया की तमस्-कोख में—
बाट जोहती कि प्राण-शक्ति जगत् में जागे और सृजन सक्रिय बन जाए
तो यह भी जागे औ' जिए-जिलाए।
जनमी वहां दारुणी 'शक्ति' तभी यह बस सुख-दुःख एक ओझरी में आए।
यों जनमा यह जीवन की छाती में अपने जुड़वां सुख को साथ छिपाए।
पर दुख ही जनमा पहले, क्योंकि यहां सुख आ सकता उसको ही पुछुआए।
बस, अज्ञान-तमस् की कठिन भूमि को पहले आकर जोता है दुख ने ही।
दुख द्वारा ही मिट्टी के ढेले से चेतन की यह गाथा शुरू हुई थी,
दुख द्वारा ही प्रच्छन्न चेतना में पड़े 'प्राण' से स्फुरणा जाग उठी थी।
इस 'जड़ता'-समाधि में छिपी हुई फिर वह प्रच्छन्न और आकंठ-मग्न-सी,
सोई पड़ी 'मनस्-शक्ति' पुनः अपने ही अस्तित्व की सजग होकर डोली;
और स्वप्नद्रष्टा ने आंखें खोलीं,
फिर उसने अपने स्वप्नों को लेकर दृश्य-प्रदेशों की अनुपम रचना की,

अवचेतन के विशाल गहरे तल से ला-लाकर भांति-भांति की आकृति दी,
औ' फिर अपनी रची हुई संसृति पर पीछे मुड़कर टुक एक दृष्टि डाली।
इस दीप्तिमय-तमोमय युग्मक से ही इस जोड़ियाए सुख-दुख के द्वारा ही,
अनुभवशून्य कड़ी इस जड़ जगती ने चेतनमय आत्मा की सदनुभूति ली,
नहीं तो अचेतन ने कभी भला क्यों होती परिवर्तन की आफ़त झेली।
दुख तो अमरों का वह घन है जिसको कि तोड़ना है पाषाणी विरोध को,
पड़ा हुआ मर्त्य हृदय में गोपित जो, जीवित पाहनवत् उस तम-तंद्रा को।
सतत चाहने औ' रोते रहने को यदि मानव अंतर मजबूर न बनता,
सुख से बना तुष्ट तो अचित् गर्त में कहीं पड़ा बस आत्म-हंस यह होता,
और उबर मानव शुरुआत से कभी बढ़ने की कुछ बात न सोची होती,
और सत्य के सविता तक चढ़ने की भांति-भांति की युक्ति न खोजी होती।
सारी पृथिवी श्रम से पटी पड़ी है औ' दुःखों से है यह कसी ठसाठस,
अन्तविहीन जन्म की प्रसूति-पीड़ा नरक-भोग में जकड़े अभी कसाकस।
सदियों पर सदियाँ बीती जाती हैं युग पर युग गुज़रते चले जाते हैं,
किन्तु व्यर्थ है, पृथिवी पर चिरवाञ्छित देवता अभी जन्म न ले पाते हैं।
लेकिन आदि मातु दुख-पीड़ाओं को प्रसन्नता से सहे चली चलती है,
तीव्र यातनाओं को और भव्यतम रोमांचों को आमंत्रित करती है,
क्योंकि जानती है वह दुख औ' श्रम से ही सारी रचना संभव बनती है।
अमरों के परितापों औ' कष्टों से भू के अंग अंग सब पटे पड़े हैं,
बन के विवश, 'काल' अंकुश के नीचे सर्जन की प्रसूति-पीड़ा सहते हैं,
औ' शाश्वत संकल्प सिद्ध करने को निज प्रयत्न में सतत लगे रहते हैं,
और इन्हीं मर्त्याकारों में दैवी जीवन को साकार किया करते हैं।
क्योंकि निम्न गर्तों से आनेवाले 'अशुभ' से महा-मोर्चा लेने के हित
औ' मानव-अज्ञान पर तथा उसके ज़िद्दी बल पर हो लेने को अभिजित,
मानव के मन की भारी भूलों से हरदम लड़ते रहने को बन जाग्रत्
औ' उसके हृदय में पनपती अंधी एक अरुचि से सतत होड़ लेने हित
उन्हें आज मानव-अंतर में 'प्रभु' की इच्छा को फलवती बनाना ही है।
हो न जाय जब तक आज़ाद मनुज यह
तब तक आत्मा का दुख के पल्ले से बँध कर रहना कटु विधि-विधान ही है।
मचा यहां इक रण का कोलाहल है, पगचापों की रौंदन है, धसकन है,
महाकूच की दौड़धूप का स्वन है,
महासिंधु के एक अगम विलाप-सम उठता अविरत एक आर्त क्रंदन है,
और मृत्यु के आघातों को खाकर उठता एक निराशोन्मत्त हास्य है,

बस फिर श्रम करना औ' खून-पसीना,
मनुष्य मरते हैं कि जी सके मानव,
फैले इस दुस्सह्य दुरन्त-'काल' को
दुख तो कर है अरे 'प्रकृति' माता का
वह तो एक प्रेरणा-दायक श्रम है,
जो कि अनिच्छुक मिट्टी के लोंदे को
स्व संकल्प के मत्तावेग से भरे
घोर परिश्रमवाले वज्र-घनों को
और दानवी चोटें दे-देकर वे
बस फिर उनके पुत्र उन्हीं की विस्तृत
यद्यपि इन मानव-शिल्पी देवों का
मर्त्य-मनुज की नाड़ी और नसों के
तो भी हृदयवासिनी अग्निल आत्मा
औ' प्रति निर्दय टीस और पीड़ा में
वह जो आत्म-सुरक्षा का इच्छुक है
जो उद्धार जाति का करना चाहे,
बस वह वीर कि जो इस भव्य प्रेरणा

वे महान् आत्मा जो आते जग में
और 'काल'-छाया औ' विधि-शासन' से
उनको दुख-दर्द के जुए के नीचे
वे जाते पकड़े खुद उन 'चक्रों' से
मानव विधि के बोझे को निज कंधों
वे सुरपुर से जो वैभव लाते हैं
अपने दुःख-यातनाओं से ही वे
और ज्ञान-उपहारों के बदले में
यह तो 'ईश-पुत्र' ही है जग में आ
और जगत् के विष को खींच पिया है,
जो इस पतित जाति, मानव का ऋण है
उसके स्वसंकल्प ने उसे मृत्यु औ'
जो कि व्यर्थ में ही अब चैन-सुखों औ'
अब वह सारा ऋण है अदा हो गया

औ' इक अनिष्ट भावी दुर्निवार्य है,
आंसू ढरकाना नित्य अनिवार्य है।
कभी देव का जन्म हो सके संभव।
इक महान् 'नीरवता' रही है निरख।
गढ़-गढ़ कर जो हमें महान् बनाता,

दिव-निष्ठुरता से गढ़ मूर्ति रचाता।
अशमनीय से अरे विश्वकर्मा ये,
सदा उठाए निज कार्यलग्न रहते,
स्व-प्राणियों का रूप गढ़ा करते हैं,
अग्नि-मुहर से मुद्रित बन जाते हैं।
भीषण स्पर्श यातना है इक महती,
लिए जो कि अति ही दुःसह है होती,
अपने बल में है चुपचाप विकसती,
इक प्रसन्नता ही है अनुभव करती।
वह एकल औ' शान्त बना जीता है,
उसे दुःख उसका सहना पड़ता है,
का रहकर अचल अनुसरण करता है,
उसको यह सत्य समझना होता है।
दुःख-ग्रसित जगती को खींच बचाने
जो आते हैं उसको यहां छुड़ाने,
होंगे अपने कंधे अरे लगाने;
जिन्हें तोड़ने की आशा करते हैं,
पर ढोने के लिये विवश बनते हैं।

उनके मूल्यों को चुकता करते हैं,
निज जीवन की बलि देते रहते हैं।
जिसने मनुज-'पुत्र' का रूप लिया है,
यों 'भगवत्'-ऋण को स्वीकार किया है।
औ' शाश्वत के ऊपर चढ़ा हुआ है,
दुःख-भरे जीवन से आ जकड़ा है,
सुशांति की लालसा किया करता है।
आदिम हिसाब का भुगतान हो गया।

बस मनुष्य के रूप में यहां आकर 'शाश्वत' ही तो सारे दुख सहता है,
उसने ही स्व रक्त से महामुक्ति के पट्टे पर हस्ताक्षर आज किया है,
और निज चिरंतन शांति के द्वार को अब उसने सबके हित खोल दिया है।
प्राणी के इस स्वाभाविक दावे को 'प्रभु' करके स्वीकार स्वयं भरता है,
दुःख और मृत्यु के अडिग विधान को 'स्रष्टा' अपने-आप स्वयं सहता है।
और देहधारी उस अवतारी को आकर प्रतीकार दण्डित करता है।
उसके दिव्य प्रेम ने मर्त्य मनुज-हित 'स्वर्ग' के लिए पथ तैयार किया है:
औ' मर्त्य अज्ञानता के तम-खाते
का हिसाब निज जीवन औ' प्रकाश को अर्पण कर चुकता आज कर दिया है।
और महान् रहस्यात्मक वह भीषण तापस बलि अब जाकर पूर्ण हुई है,
'प्रभु' की शहीद-काया के द्वारा जो जग की बलिवेदी पर होम गई है।
बस भूमि 'गैथ्समेन' औ' केलवरी की ही उसके भाग्य में बदी होती हैं,
स्वयं 'क्रास' लेकर वह चलता जिसपर मानव की आत्मा कीलित होती है,
हरेक के शापों की बौछारें ही उसके पथ के रक्षक हैं, साथी हैं।
व्यंगों, निरादरों का सहना ही तो उसके दिव्याधिकार की स्वीकृति है,
उसकी उन्नत मृत्यु पर, निकट लटका
शूली के ऊपर चोरों का जोड़ा, उसका कटु उपहास किया करता है।
रक्त-स्रवित भाल को लिए वह अपने उद्धारक के गुरु पथ पर चलता है।
पर एकात्म बन चुका है जो प्रभु सँग
वह तो देह-मृत्यु से विस्तृत आत्मा के प्रकाश का मूल्य अदा करता है,
औ' फिर उसकी देह-मृत्यु से उसका लाया अमर ज्ञान विजयी बनता है,
कटकर तथा चतुर्धा विभक्त होकर जब वह बाह्य मंच पर आ गिरता है
उसकी शहीद-गिरा गूंज जाती है:— औ' नीरव उद्घोष फूट पड़ता है,—
"मैं, बस मैं ही प्रभु हूं" सुन पड़ता है,
"हां सब कुछ 'प्रभु' है" यह घोष कड़ककर
दिव से टकराकर आया एक अमर नाद कि जैसे पुनः गूंज उठता है।
मानवता की मर्त्य गुफा में छिपकर भगवत्ता का बीज पड़ा सोता है,
और समय पाकर बस विश्व-वृक्ष पर 'भगवत्ता' का दिव्य कुसुम खिलता है:
इक दिन आएगा कि ढूंढ़ लेंगे सब 'प्रभु' को अपने में औ' वस्तु-वस्तु में।
पर जग की सहायता करने के हित जब भी यहां दूत 'प्रभु' का आता है
और धरा की आत्मा को उन उन्नत आदर्शों के प्रति मार्ग धराता है,
तो वह जुआ जिसे उतारने आया था वह, उसको भी ढोना पड़ता है,
जिन दुख-घावों को भरने आया है उनका दर्द उसे सहना होता है:

पार्थिव विधि के जुए से निबुककर औ'
जग-कष्टों के स्वाद से अलग रहकर,
कैसे भला बचाएगा जग को उन
विपदाओं से सहा न जिनको निज पर ?
बस वह उद्धारक जग की पीड़ा को
निज शांतचित्तता से ढक लेता है,
और चूंकि बाह्य दृष्टि को इस अपनी
उसका कुछ संकेत न मिल पाता है,
औ' यह शांति-अमृत, इस बुझे हुए से
विदीर्ण अंतर पर ढारा जाता है,
इसीलिए कशमकश चला करती है

पर उसका अज्ञात मूल्य तो उसके
द्वारा आज चुका ही दिया गया है
औ' ज्वाला, यातना तथा द्वंद्वों का
यह अंतर संघर्ष न बन्द हुआ है।
सारी दुखिया जगती को वह अपने
ही अंतर में धारण किए हुए है,
जग के पाप, विचारों का उसके ही
तो अब भारी भार बने रहते हैं,
और धरा का दुर्वह आदिम बोझा
लदा हुआ है उसकी ही आत्मा पर,
'निशा' और सब तमस्-शक्तियां इसकी
मंद प्रगति को करती हैं सुमंदतर,
औ' वह दानव विरोधियों के पंजों
की जकड़न को सहता है चुप रहकर।
उसकी जीवन-कूच युद्ध है भीषण
और तीर्थ-यात्रा है एक महत्तर।
जीवन-अशुभ उसे हतते रहते हैं
सारे दुख उसपर हमला करते हैं,
कोटि-कोटि गहरे व्रण उसके गोपित
अंतर में निज मुख खोले रहते हैं।
अंतहीन-सी घोर रात्रि में उसकी
इक अनिद्र यात्रा चलती रहती है,
और शत्रु-शक्तियां मार्ग पर उसके
चहुँमुख से आकर भीड़ लगाती हैं,
और आंतरिक जीवन-युद्धभूमि है,
जो चहुँमुख वारों से घिरी हुई है।
इतना क्या, इससे भी बढ़कर कोई
मूल्य चुकाना उसको पड़ सकता है,
औ' गुरुतर दुख हमला कर सकता है :

इक दिन उसका यह तादात्म्य सुविस्तृत,
सर्वाश्रयी प्रेम उसका निस्सीमित,
अपने अंतर-तल की गहराई में
जग-वेदन को कर लेगा आलिंगित,
सकल प्राणियों का परिताप बटुर कर
आकर उसके द्वार खटखटाएगा,
और उसी के घर में बस जाएगा।

इक सहानुभूति की डोर है भीषण
जो उसके अपने एक शोक-सम ही
जग-पीड़ा को खींच-बांध सकती है,
और लोक-लोक की यातनाओं को
जो अपनी यातना बना सकती है।
बस,फिर वह उस आदि विरोधी 'बल' से
साहसपूर्वक आगे बढ़ मिलता है,
खुद उन कोड़ों का शिकार बनता है,

जो जग का छलनी उर चीर रहे हैं।
सदियों-सदियों का औ' रुदन बटुर कर
उसकी आंखों में प्रवेश करता है,
वह रक्त रँगे अंगार-सम दहकता
एक नृसिंह वसन है धारण करता,

सारे जग का ज़हर इकट्ठा होकर उसके सुकंठ का है कलंक बनता।
अंधे जड़तत्त्व की राजधानी में लगनेवाली जग की प्रमुख हाट में
जीवन-नामी एक विषय पर होते आपस के भीषण वादविवादों में,
वह उस सत्य-सनातन 'यज्ञ-अग्नि' के बध्य-खम्भ में ला बांधा जाता है,
चुपचाप और उसकी इक अनदेखी आदिम किनार पर जलता रहता है,
कि कभी जड़तत्त्व आत्मतत्त्व बन सके,
इस प्रकार इक स्वरचित यज्ञ-ज्वाल में बलि बनता है अपने आप ही अरे!
और स्वयं ही 'अजर' 'अमर' वह आकर इस भू की नश्वरता में बँध-बँधकर,
और 'काल' के अंतहीन से पथ पर कभी जन्म ले कभी मरण को वरकर,
यहां शाश्वती तालों में ढल-ढलकर 'भगवत्'-मुहूर्त्त की रचना करता है।
वह मरता है इसीलिए कि जगत् यह नवीन जन्म ले सके और जी सके।
मान लो, कि भीषणतम अग्नि से कहीं किसी प्रकार से बचाव भी हो सके,
और मान लो, यह जग उमड़-घुमड़कर उसके अंतर में प्रवेश भी न करे,
सकल-डुबाऊ जोखिम-सिंधु न उमड़े,
तो भी दुष्कर बलिदानों द्वारा ही बस उन्नत स्वर्ग विजित बन सकता है:
जिसे नर्क पर जय की आकांक्षा है
उसे सामने आ रण करना होगा,
उसे दुःख का सागर तिरना होगा।
अरे कहें क्या मानवता के तल में एक विरोधी आदिम शक्ति पड़ी है,
छिपी हुई बैठी है 'काल-'-हृदय में
जो सब कुछ को अरे उलट देने के अधिकार का यहां दावा भरती है,
'प्रभु'-कार्यों को नष्ट किया करती है।
छिपी शत्रुता है, जो जग-अधिरोहण
की गति को कुंठित करने की ख़ातिर घात लगाए ही बैठी रहती है,
उसके विचार, वाणी और कर्म पर वह अपनी इक छाप छोड़ जाती है:
सारे किए-धरे पर दोष, लांछनों की आकर इक मुहर लगा जाती है:
बस जबतक उसका वध किया न जाए तबतक कहां शांति जग में आती है?
पर वह शत्रु दिखाई है कब पड़ता इक अदृष्ट ही घेरे हमको रहता,
अस्पर्श्य शक्तियां घेरे रहती हैं,
और विदेशी स्पर्श हमें मिलते हैं औ' विचार जो स्वीय नहीं होते हैं,
वे आकर अधिकार जमा लेते हैं
और भूलधर्मी मानव-अंतर को स्वादर्शों से विवश बना देते हैं।
अरे हमारे जीवन फँसे हुए इक माया-जाल में दिवस गुज़ारते हैं।

उस आदि काल में ही तो बस इक दिन यह विपरीता 'शक्ति' यहां उपजी थी :
जिसने ही नश्वर मानव जीवन पर अरे विरोधी निज सेना रेली थी,
इसने ही और अमरता की सीधी राह, दृष्टि से उसकी है छिपाधरी।
एक शक्ति जो बरबस घुस आई थी ढक-ढक लेने को शाश्वत 'प्रकाश' के
एक शक्ति जो खड़ी हुई है सम्मुख बाधा बनकर शाश्वत सुसंकल्प के,
वह अमोघ 'वाचा' के संदेशों को विमुख दिशा में घुमा-फिरा देती है,
विश्व-योजना-नक्शों की रेखाओं को तोड़-मरोड़ उपस्थित करती है :
खुसपुस-खुसपुस करके कुछ अंतर को अपकर्मों के हित फुसलाती रहती,
प्रज्ञा-चक्षु और आत्म-दृष्टि पर बस जैसे लगा एक ताला है जाती,
अरे यही तो सकल यातनाओं का इस जग की प्रारंभिक मूल-स्रोत है,
इसने ही पृथिवी को सब कष्टों औ' दुःखों से कर रक्खा ओत-प्रोत है।
जो 'भागवत'-शक्ति को परम शिखर से उतार कर इस धरती पर लाएगा,
उसको इन सब पर जय पाना होगा।

यह वह शत्रु है कि जो इस मानव के
अपने ही अंतर में छिपा हुआ है
इस पर वह या तो जय पा जाए, या निज महती विधि से च्युत होना होगा।
यह इक अंतर्युद्ध है कि जिससे बस उसे कभी छुटकारा न मिल सकेगा।

अरे इस परित्राता का जगती के कार्य बहुत दुष्कर, दुर्वह होता है,
खुद जग ही उसका प्रतिद्वंद्वी बनता
और जीव वे ही वैरी बन जाते जिन्हें वह बचाने आया होता है।
देखो तो, जिनका वह त्राण करेगा, वे ही बन जाते हैं परम विरोधी,
कहें भला क्या, स्व-अज्ञान से ही बस अपने जगती प्रेम है किया करती,
इसका तमसाच्छन्न ज्ञान त्राता के प्रकाश से निज वदन फेर लेता है,
उससे मिले मुकुट के बदले में जग सूली का उपहार उसे देता है।
उसके कार्य, दीर्घ रजनी में मानों इक भव्याभा बूंदों का चूना है,
वह इस सतत 'काल' की महाकूच पर
लखता अपनी विशाल दृष्टि खोलकर,– कि बहुत मार्ग अभी तो तय करना है।
थोड़े ही इस ढंग से बच पाते हैं अन्य अंधवत् यत्न किया करते हैं,
और विफलता के शिकार बनते हैं :

अस्त हो गया उदित हुआ इक 'दिनकर',
'महानिशा'-छाया फिर चली औ' प्रसर।

यह सत्य है, कि 'प्रभु' के सूर्य के निकट जाज्वल्यमान उन्नत सुखी मार्ग हैं,

लेकिन उस सूर्यालोकित ध्रुव पथ पर
केवल कुछ शुद्धात्मा नर-अधिपति ही
तम से, दुःखों से और बंधनों से
मानव के त्राण के लिए बस केवल

लेकिन बचकर निकले इने-गिने जन
जब कि अन्य जन उसी जुए के नीचे
उन्नत से उन्नत भी अरे पलायन
उठा नहीं सकता है उस जीवन को
अरे, पलायन इस परित्यक्त जाति को
दिव्य विजय को औ' प्रभु के शासन को

और आज तक जो प्रकाश उतरा है
स्वयं उतर पृथिवी पर आना होगा।
माना प्रकाश तो बढ़ रहा है और
फिर भी जब तक इस अपने ही घर में

जो गहरी 'अचित्'-नींव पर हमला कर

लेकिन कवच-सुरक्षित औ' अजेय उस
उसके अविचल संकल्प को यहां चल-
उसके ऊर्ध्व जयी शीश को जगत् की
इस गढ़ियाती जाती 'निशि' में उसकी
खसक जाय पीछे ध्येय भी भले, वह
'तमस्'-रात्रि में आते उच्चाह्वानों
औ' निम्न देवताओं की सहायता
अपितु अपरिवर्ती सुध्येय पर अपने
ऐसे में जन, पथ से मुकरा जाता
पर वह तो उस महान्, केवल, अपने
जो कि अकेला ही है जो शाश्वत की

उसकी चरण-चाप की आहट का अब

चलनेवाले महाभाग कितने हैं?
तो उस प्रकाश में चल-फिर सकते हैं।

खुला मुक्ति का नन्हा एक द्वार है,
इस नर्क से वही उसका उबार है,
जग को कैसे भला बचा सकते हैं?
अभी लड़खड़ाते ही पड़े हुए हैं?
इस जीवन को मुक्त नहीं कर सकता,
जो आता धरती पर अभी घसिटता।
कैसे उन्नत-विकसित कर सकता है?
वह इस भू पर कैसे ला सकता है?
उसके लिये महत्तर एक शक्ति को,
उससे भी इक विशालतर प्रकाश को,

धीरे-धीरे 'निशा' खिसकती जाती,
अति अपघाती अशुभ न मारा जाए,
औ' प्रकाश की सैन्य न बढ़ती आए,
'शक्ति' विरोधी का प्राणान्त कराए,
तब तक उसका यह श्रम चला करेगा,
और अधूरा ही समझा जाएगा।
केवल विभूति को आना ही होगा,
काल से स्व मोर्चा लेना ही होगा,
घन चोटें भी नहीं झुका सकती हैं,
चापें शांत और निश्चित रहती हैं,
फिर भी है वह इक स्थिरता से बढ़ता,
पर है न कभी अपने कान लगाता,
के हित कभी न अपने कर फैलाता,
आंख गड़ाए केवल बढ़ता जाता।
या दूसरा सहज पथ चुन लेता है,
भीषणतम मार्ग पर डटा रहता है,
ऊंचाई तक लेकर जा सकता है।
लो बस अकथनीय ऊर्ध्व-भूमिका पर,
होने लगा एक अनुभव भी सुन्दर।

उसने पृथिवी और स्वर्ग को अपने इष्ट कार्य का है उपकरण बनाया,
किन्तु स्वयं को भू और स्वर्ग में से नहीं किसी की सीमा में बँधवाया।
उनके नियमों का अतिक्रमण कर गया, फिर भी उनको है निज यंत्र बनाया।
प्राण शक्ति को अधिकृत अरे कर लिया, अपने अंतर पर और वश पा लिया।
आज 'प्रकृति' के छलिया रूप-रंग सब उसकी दृष्टि को न बहका सकते हैं,
औ' 'सत्य' के सुदूर शिखान्त पर सदा सीधे, अविचल उसके नेत्र गड़े हैं।
मानव 'विधि' के बधिर विरोध न उसके सुसंकल्प को कभी तोड़ सकते हैं।
बड़ी खतरनाक गली औ' कूचों में औ' इन भीषण प्राणान्तक मार्गों पर
उसकी आत्मा अजेय औ' अभेद्य है और अनाहत ही है उसका अंतर,
धरा-'शक्तियों' के दुर्धर्ष विरोधों के अति घमासान में वह जीता है,
तथा 'प्रकृति' के लगे दांव-घातों औ' जग-आक्रमणों में होकर बढ़ता है।
अपनी आत्म-उँचाई से पीड़ा औ' आनंद को अतिक्रमित कर जाता है,
अपनी शांत और समदृष्टि लिए वह शुभ और अशुभ के सम्मुख आता है।
पहेली-बुझाऊ 'स्फिनिक्स' प्राणी का पर सामना उसे करना पड़ता है,
उसकी अनजान अंध गहराई में बनकर निःशंक कूदना पड़ता है।
उसने 'अचित्' प्रकृति के गभिरातिगभिर अंध तलों को भेद-भाद डाला है,
जिन्होंने कि निज को ही निज आंखों से अब तक ढक और मूंद कर रक्खा है:
उसने 'प्रभु' की तंद्रा को जादूई लोकों की रचना करते देखा है।
निरख लिया है मूक 'ईश' को उसने इस 'जड़' पदार्थ का स्वरूप निरमाते,
देखा है उसको उसकी अनजानी निद्रा के सुठि सपनों को सपनाते,
उसकी 'अचित् शक्ति' को देख लिया है सकल ग्रहों की रूप-रेख विरचाते।
जान लिया है उसने अचित् की सकल कार्य-प्रणाली को औ' नियम-धर्म को,
उसके असम्बद्ध और विचारों को उसके अनम्य एक-एक कर्मों को,
उसके विचार औ' भाव की उमँग में अफ़लातूनी साहस के उफान को,
यांत्रिक ढँग से फिर-फिर घटनेवाली एक अव्यवस्था को, भागदौड़ को,
उद्देश्य-रहित उसके आह्वानों को झूठमूठ सच लगती खुसपुसान को,
देखा अवगुंठित श्रोता-आत्मा को धोखा देनेवाली सब घिसपिस को।
सब कुछ वह निज कानों से सुनता है किन्तु नहीं उनमें कुछ भी टिकता है,
सब कुछ उस नीरवता से आया था पुनः उसी चुप्पी में फिर जाता है।
लखता है कि अचित् की तंद्रिलता ने ही तो सारी जगती को सिरजा है,
जिसकी तमसाच्छन्ना जागृति ही तो जग को निरा निरर्थ सिद्ध करती है।
अरे 'असत्' में से ही जो निकली है और 'असत्' में पुनः लौट जाने की
ही जिसकी तैयारी है उस भू की

अंधकारमय तथा समर्थशालिनी अचेतना ही आदिम सदारंभ थी,
यह तो वह कूड़ा-कचरा है जिससे कभी सृष्टि-रचना सम्पन्न हुई थी,
इसकी एक अगम गहराई में जा सकल सृष्टि फिर से है लय पा सकती।
इसका विरोध आत्मा के विकास की बाधा बन शैलवत् खड़ा हो जाता,
अरे हमारे सब अज्ञान-तमस् को यही जन्म देनेवाली है माता।
पर त्राता को इसके अंध गह्वरों में ज्योतिराह्वान करना ही होगा,
और नहीं तो चरम 'सत्य' न कभी भी 'जड़तत्त्व' की नींद पर विजयी होगा,
और कभी भी यह अपनी आंखों को 'प्रभु'-आंखों में डाल न ताक सकेगा।
सब तमसिल औ' अस्पष्ट वस्तुओं को उसे ज्ञानप्रज्वलित बनाना होगा,
विकृत बन चुकी सकल वस्तुओं की औ' गांठ खोल उसको प्रकटाना होगा,
बस तैर कर उसे मिथ्यात्व-सिंधु के तीर, अपर छोर पर पहुँचना होगा,
यों प्रकाश को उतार लाने के हित जग के तम में उसे पैठना होगा।
उसकी आंखों के सामने अशुभ के उर को नग्न कर दिया जाना होगा,
औ' उसकी वैश्विक 'तमसावश्यकता' का गुप्त महत्त्व भी समझना होगा,
'प्रकृति'-भूमि में उसकी कठिन मूल औ' उसके अधिकार को जानना होगा।
और जानना होगा उस विचार को जो है असुर-कर्म को प्रेरित करता,
जो राक्षस के त्रुटिधर्मी घमंड को यहां उचित ठहराया ही है करता,
और धरा के वक्र, कुटिल सपनों में
छिपे पड़े जग के मिथ्यादर्शों के औचित्य को सिद्ध है करता चलता:
और उसे 'निशि' की शाश्वतता में भी निश्चय के सँग प्रवेश करना होगा,
जैसे वह 'प्रभु' के 'रवि' का ज्ञाता है, उसका तम भी उसे जानना होगा
इसके लिये उतरना होगा उसको गहरे से भी गहरे अरे गर्त में,
इसके लिये बोलना होगा हमला तम के शोक-ग्रसित विराट् विस्तर में।
होकर प्रज्ञावान् अनन्त, अनश्वर
भी, यदि जग की रक्षा करनी है तो सफ़र नर्क का भी तै करना होगा।
आखिरकार एक दिन उसको जाकर उस 'शाश्वत' प्रकाश तक बढ़ना ही है,
सब लोकों की परम मिलन-सीमा तक बढ़कर अविराम, जा निकलना ही है।
वहां पहुँच उस उन्नततम चोटी पर 'प्रकृति'-शिखर की उच्चतम पैड़ियों पर
वस्तु-वस्तु के भीतर छिपा हुआ वह 'विधान' पूरा होता जहां कि जाकर,
विपर्ययों के लंबे वैर-विरोधों के व्रण भर जाते उस थल पर आकर।
जहां सकल शाश्वत विरोध मिलते हैं,
एक-दूसरे से अंक भेंटते हैं,
उस लोक में पहुँचकर अरे दुःख भी इक प्रमत्त अग्निल प्रहर्ष बन जाता,

और अशुभ अपने आदिम औ' मौलिक उसी परम शुभ में है वापस आता,
और शोक धरकर निज शीश जहां है 'आनँद' की छाती पर अलख जगाता।
तथा जहां उसने सुख से पुलकाकुल होकर आंसू ढरकाना सीखा है,
आतुर आनन्दातिरेक में उसके जहां दृष्टि ने उमगाना सीखा है।
बस 'दुख' के अति महान् इस 'विधान' का जाकर अंत तभी बस हो पाएगा।
तब जाकर 'स्वर्ग' के प्रकाश का कहीं इस पृथिवी पर निज घर बन पाएगा,
तब स्वर्गजात द्रष्टा एक यहां आ मानव-अंतर में वास पा सकेगा।
परा चेतना की और किरण आकर मानव की आंखों का स्पर्श करेगी,
आत्मकिरण से 'जड़' पर हमला करती
औ' जड़ नीरवता को अमर विचारों के प्रति सतत जगाती और खोलती,
इसके मूक हृदय को जीवित-जाग्रत 'सत्य-गिरा' में परिवर्तित करवाती,
ऋत-चित्-सृष्टि धरा पर चरण धरेगी।
तब फिर यह नश्वर जीवन निज घर में 'शाश्वत' के आनन्द को बसाएगा,
और अन्नमय तन का अन्तश्चेतन मधुरिम स्वाद अमरता का चाखेगा।
तब जाकर उस जगत्राता का अपना ध्येय कहीं पूर्णकाम हो पाएगा।

बस तब तक यह जीवन यों ही अपने मरण-बीज को धारण किए चलेगा,
तब तक मन्द 'निशा' में युंही शोक का विलाप, सतत सुनाई पड़ा करेगा।
ओ नश्वर मानव! दुख-पीड़ाओं के महान् जग-विधान को यहां सहन कर,
औ' इस पीड़ा, दुःखभरी जगती से होकर जानेवाले कठिन मार्ग पर,
अपनी आत्मा की सहायता के हित 'देव'-शक्ति पर फ़कत तू भरोसा कर,
चल केवल ऊर्ध्व-'सत्य' की दिशि बढ़कर शान्ति और प्रेम की अभीप्सा से भर।
ऊपर के लोकों से यह थोड़ा-सा आनँद का उपहार उधार मिला है,
मानवीय दिवसों को औ' यह तेरे दिव्य-स्पर्श का सुपुरस्कार मिला है,
औ' अपने इस दैनिक जीवन-पथ को यात्रा एक बना तू महा-तीर्थ की,
क्योंकि इन्हीं लघु सुख-दुःखों से होकर वढ़ा जा रहा तू अंक में 'ईश' की।
किंतु शीघ्रता कर मत 'भगवत्ता' की दिशि बढ़ने को जोखिम पथ से होकर,
खोल न अपने द्वारों के मार्गों को किसी 'शक्ति' के लिए अनाम, अगोचर,
यत्न न कर औ' प्रभु' के प्रति बढ़ने का अरे बावरे 'आसुर' पथ पर चल कर।
जो दैवी 'विधान' के विरोध में निज केवल संकल्प को डटा देता है,
उसके पथ पर अपने शक्ति-गर्व का पर्वत ही लाकर उठवा देता है।
अविनश्वर 'सूर्य' के निकट जीने की
महती इच्छा लेकर और स्वर्ग में वह झंझा की सीढ़ी से चढ़ता है।

देवत्वाधिकार को वह भू-जीवन
और 'प्रकृति' से लूट-लूट लेने को   दानव विक्रम ले प्रयत्न करता है,
औ' तूफ़ान की तरह दौड़ अचानक   विश्व-नियति औ' स्वर्ग पर झपटता है।
जग-निर्माता के उच्चासन तक वह   जाने की लालसा नहीं करता है,
नश्वरता से खींच उठाने के हित
'प्रभु' के फैले हुए करों की औ' वह   नहीं प्रतीक्षा की इच्छा रखता है
खींच-तान बौने व्यक्तित्व को निजी
अनन्तता से होड़ लगा सब कुछ पर   कर लेना निज अधिकार चाहता है,
रहने कुछ भी न अनधिकृत देता है।

देवों के सब खुले हुए मार्गों पर   वह बहु-बहु बाधाएँ पहुंचाता है,
पृथिवी के प्रकाश, वायु को पूर्णतः   अपनी जायदाद ही बनवाता है,
और विश्व की भिन्न शक्तियों पर वह   अपना एकाधिकार कर लेता है,
औ' साधारण-जन के जीवन पर निज   प्रभुत्व का डंका पिटवा देता है।
अपने और दूसरों के दुःखों को   वह निज साधन बनवाकर चलता है,
मृत्यु और पीड़ा के ऊपर तो वह   निज सिंहासन की रचना करता है।
शक्ति और सामर्थ्य-भरे कर्मों की   अपने एक त्वरा औ' कोलाहल में,
बेहद बदनामी औ' नेकनामियों   की आवेशभरी भारी हलचल में,
निज अंतर से उठनेवाले भीषण   त्रास औ' घृणा के विशाल परिसर से
जग को और हिला देनेवाले निज   चरण-चाप की भीषण निठुराई से,
वह 'शाश्वत'-शांति के विरोध में सतत   आकर उसके सम्मुख डट जाता है,
अपने मन में अपने-आपको स्वयं   देव-समान महान् समझ लेता है,
और शक्ति को ही स्वर्गिक सत्ता की   केवल-प्रतिमा जान-मान लेता है।
अरे 'असुर'-अंतर तो एक अग्नि का   और शक्ति का बस साक्षात् सिंधु है।
सब चीजों के मृत्यु, विनाश, पतन में   तो उसका मन है अति हर्ष मनाता,
और शौर्य को अपने वह गैरों की   औ' निज की पीड़ा से पुष्ट बनाता,
जगभर की करुणा में औ' रागों में   उसके मन को अपार सुख मिलता है,
उसका गर्व और भीषण बल सारी   कलह-वेदना को न्योता देता है।
और शरीर-यातना औ' पीड़ा में   वह इक गौरव का अनुभव करता है,
तथा दुहाई भर तप और तितिक्षा   की तन के दागों को ढक रखता है।
उसकी आंखें अंधीं, दृष्टि-हीन-सी   नभ में भास्कर को घूरा करती हैं,
औ' जिज्ञासु-दृष्टि अंतर से उसके   लौट कहीं पीछे को सर जाती है,
शाश्वतता के उस उन्नत प्रकाश को   फिर वह जैसे कभी नहीं पाती है।
परलोक को रिक्तता-सम लखता है   यथा अंतरात्मा का एक शून्य हो,

अपनी महारात्रि को, अनन्त तम-सम
ही करके जान-माने रहता है।
औ' अवास्तविकता के छूंछेपन को
उसकी प्रकृति देखती बढ़ा-चढ़ा कर,
और 'शून्य' के भीतर ही वह केवल
एक सत्यता का अनुभव करती फिर,
वह अपने व्यक्तित्व की सकल जग पर
छाप लगाने की है इच्छा करता,
जग से उठे हजारों घोषों को वह
अपने यश से लेना दबा चाहता
औ' उसके जीवन के ये क्षण ही बस
सकल विश्व का केंद्र बने रहते हैं।
'उसके' नेत्र इसी नन्ही आत्मा को
अरे पूर्ण भगवान् समझ लेते हैं।
उसकी इस नन्हीं औ' नगण्य 'मैं' ने
अखिल विश्व को निज में लील लिया है,
और अहम् ने उसके फैल पसर कर
अनन्तता तक निज को बढ़ा दिया है।
उसका मन उस आदि 'असत्' के उर में
होती रहनेवाली इक धड़कन है,
जो उसके विचार को सतत 'काल' की
पाटी पर रहस्य-लिपि में लिखता है।
वह अंतरात्मा के उस प्रचंडतम
अभाव के ऊपर विशाल औ' विस्तृत
दर्शनशास्त्र 'असत्' का इक रचता है।
असंभाव्यता से सृष्टि-सृजन करता
उसके द्वारा 'निर्वाण' सांस भरता,
और बोलता तथा कार्य करता है।
शाश्वत एक शून्य ही तो बस उसकी
आकार रहित इक स्वत्व भावना है,
औ' उसकी आत्मा एक रिक्तता है
और अपौरुषेय एक निरतिशय है,
विकसनशील अरे ओ मानव सत्ते!
ऐसी लंबी छलांग तुम न लगाओ।
औ' 'प्रभु' की काली अंधी रजनी में
अपनी आत्मा का हंस मत गँवाओ।
प्रत्यक्ष है कि यह आत्म-ताड़ना तो
शाश्वतता की कुंजी यहां नहीं है,
और शोक से मूल्य अदा करना ही
जीवन से सुरपुर की मांग नहीं है।
ओ नश्वर प्राणी, केवल सहन करो,
औ' आगे चोटों को न्योता मत दो,
तुम देखोगे कि यातना-पीड़ा ने
खोज लिया है खुद ही आकर तुमको!
अभी तुम्हारे संकल्प के लिए वह
कोशिश तो सामर्थ्य के परे ही है,
मनुष्य की शक्ति तो एक सीमा के
भीतर ही बस रक्षित रह सकती है।
ध्येय तुम्हारा पर अनन्तता ही है

अश्रुपूर्ण जग-आनन के पीछे छिप
उसकी आनन्दानुभूति रहती है।
और तुम्हारे भीतर एक शक्ति है
तुम रखतीं जिसका कुछ भान नहीं हो,
अग्नि-स्फुलिंग छिपा है भीतर ही इक
तुम जिसका इक आधारमात्र ही हो।
वह 'काल' के बने इस बन्दीघर को
तोड़ मुक्ति-प्राप्ति का यत्न करता है,
जब तुम उसको जकड़-पकड़ रखती हो-
उसी मुहर-छाप का नाम पीड़ा है:
आनंद तो 'दिव्यता' का किरीट है,
शाश्वत है, स्वतंत्र है औ' अनन्त है,
मानव-जीवन के संगी उस दुख की
अंधी रहस्यमयता से विमुक्त है:

औ' दुःख 'अज्ञता' का हस्ताक्षर है
जो अंतर में अभिगुप्त देवता की

औ' वह जब तक उसे न पा ले तब तक
और शांत स्थिति ही वह आत्म-विजय है
चली चलो बस सहती, आख़िर इक दिन
जितना कुछ अस्तित्व यहां है जग में
यहां तक कि ये दुख और कष्ट भी सब
और तुम्हारे ही शोक औ' रुदन के
क्योंकि तुम्हारी शक्ति तो अधूरी है
और क्योंकि चेतना तुम्हारी अपनी
सीमित लघु आत्मा से परम दुखी बन
जब कि वह शरीरी जीवन की धुंधली
और जब कि जग के भीषण स्पर्शों को
इसीलिये बस तुम चिल्ला उठती हो
उदासीनता औ' दुख-सुख, ये तीनों

जिन्होंने कि 'प्रभु'-आनँद की काया को
इक दिन जग, आत्मा की शक्ति तुम्हारी
और यातनाएँ चिर सुखोल्लास में
उदासीनता बन कर धीर गँभीरा
औ' सुख की मादकता खुलकर खिल-खिल

ओ नश्वर ! तू जो अपनी इस 'विधि' की
मढ़ न किसी पर दोष कि सारी क्षतियों
दुःख-ग्रसित जगती में निज इच्छा से

एक बार अपनी अमरा असीमता

अनुभव किया कि ओर-छोर फैला है
जाना उसने निज को मृत्युरहित औ'
लखा सनातन, शाश्वत को फिर उसने

अलख उपस्थिति का निश्चित साक्षी है,
प्राणशक्ति जिसको इनकार रही है;
पीड़ा समाप्त कैसे हो सकती है ?
जो निज 'विधि' पर भी जय पा सकती है।
तुम्हें तुम्हारा आनँद-मार्ग मिलेगा।
आनँद ही तो सबका गुह्य तत्त्व है,
उस विश्वानँद का एक आवरण हैं,
पीछे छिपा हुआ वह जीवन-धन है।
उसमें 'प्रभु' की परिपूर्णता नहीं है,

निज दिव्य स्वरूप को बिसर जाती है,
आच्छाया में चला-फिरा करती है,
निज सत्ता पर सहन न कर पाती है,
यहां, यहां असह्य पीड़ा होती है।
उस आनँद 'नटवर' का छद्मवेश हैं,
रंग-बिरंगी लीला के स्वरूप हैं,
रक्खा तुमसे चहुँ दिशि मूंद-ढांक है,
'प्रभु' के सँग तुमको एकात्म करेगी,
सकल तुम्हारी परिवर्तित हो लेंगी,
अनन्त महाशक्ति में मिल जाएगी,
उस निरपेक्ष शिखर पर पहुँच हँसेगी।

औ' मृत्यु की शिकायत करता रहता,
को अपनी तूने ही तो है न्योता।
है निज निवास तूने स्वयं बनाया,
खुद निज दुख का है निर्माण कराया।
में रमकर झांका अन्तश्चेतन ने
'सत्-चित्' औ प्रकाश की विराट्ता से,—
औ' अपनी आनंदमयता से बाहर,
'आत्मा' का अवधिहीन आनँद-सागर,
देशरहित, कालरहित, अद्वितीय, चिर,
जिया और जीवन 'अनन्त' के भीतर।

की तब 'सत्य' महत्-छाया के प्रति बस
औ' अब आत्मा के उस अन्य-पक्ष पर
और महा-निशि में से झांकते हुए
एक अभावात्मक अद्‌भुत अनन्तता

जिसका विशाल बाहुल्य औ' प्रचुरता

जिसने महा-'प्रकृति' के एक विरोधी
औ' 'जड़ता' की दृढ़, अनम्य और कठिन
जो कि यहां एक क्षर-पुरुष की अपनी
जो फिर उत्पत्ति, अंत औ' अज्ञानी
जगा विराट् एक 'मन' औ' फिर जगकर
रहा घूरता तब तक न उस तत्त्व से,
जब तक लगे निकलने रूप अनवरत
बसा लिया अब उस सबको अपने में
परिणामतः 'असत्' ही लगा दीखने
और एक छूंछे अनन्त के भीतर
जिसकी गहरी प्रगर्तता में पड़कर
तमसिल एक 'प्रकृति' रह गई और तब
जो रह गया वहां था छिपकर ऐसे

यों अनात्म-सर्वसमर्थ 'अचेतन' का
तब स्वाभाविक आत्म-वायु का मिलना
प्राण-विहीन अचेतन-सी जगती में
उसका अस्तित्व यहां मर्त्य-काल में
बस आकर्षित बनी अंतरात्मा यह
जैसे कोई खिंचा चला आता हो
औ' फिर उसने 'अज्ञान' के उस महा
औ' अज्ञात के चमत्कार की तथा
आदि अराजकता के और गर्भ में
तथा अभावात्मक असत् के गर्त में
जो अंतहीन संभावना छिपी है,––
अथवा कहें कि अदृष्ट 'दैवयोग' की

एकाएक कुतूहल उसका जागा,
आकर्षित होकर उसका चित लागा:
इक अजान 'आनन' पर चित अनुरागा।
का उसने था अब जैसे रस चाखा,
शून्य परात्परता को और विलोका
'भगवत्ता' की और असीम 'काल' की
थी बढ़ और पसर कर नक़ल कर रही।
जन्म के लिये था आधार रचाया,
अचेतना का था निर्माण कराया,
चमक-दमक को आश्रय दे सकती है,
इस जीवन को द्योतित कर सकती है।
लगा घूरने महा 'असत्' के भीतर,

जिसका न यहां होना भी संभव था;
जो कि 'सत्य' का इकदम उलटा ही था,
'सत्' का विशाल इक मुद्रांकित कारण,
उसका बस गूंगा आधार गया बन,
आत्मा को विलोप हो जाना ही था,
जिसने आत्म-बीज को छिपा धरा था,
जैसे उसमें कुछ भी कहीं नहीं था
स्व-अनस्तित्व का कि नाटक करता था।
जब शाश्वत चेतन ही वास बन गया,
यहां एक दुष्कर विश्वास बन गया।
आनँद एक अजनबी वस्तु बन गया,
इक घटना-सम आया-गया हो गया।
स्वयं झुकी यों इस 'अंध गर्तता' पर
'महाशून्य' की अनिगद्य भव्यता पर:
जोखिमभरे खेल की अभिलाषा की,
उसके आनन्द भरे महाश्चर्य की

इस सबके हित इक आतुर इच्छा की,
अगम-अथाह दृष्टि से देखने लगी।

बस अविकारी सुख से अपने थककर
बस नव-नव साहस के आह्वान पर
तथा जोखिमों की मनमोहकता पर
आतुर बनी शोक की अति करुणा पर

घायल बन-बनकर बच-बच जाने की
बरबादी के संगीत पर भयानक
औ' करुणा-रस की भीनी मिठास पर

तथा श्लेष-अर्थी 'विधि' के आनन पर
इन वज्र-प्रयत्नों और स्वेद-स्रावी
औ' विनाश की जोखिम-भरी कोर पर

और एक अन्तविहीन अनिश्चय ने
और अभावात्मक इस 'महा-असत्' से
अज्ञान के मार्ग पर होनेवाली
अचक प्राणियों की विचित्र भेंटों पर

या निज जग पर जय पाने की ख़ातिर

ही उसने अपनी शाश्वती सुरक्षा

अमृतत्व से यथा मुख मोड़ थी गई:

अब वह जैसे खिची-खिची जाती थी,
औ' दुख के अति आकर्षक नाटक पर,
औ' विनाश की आपत् पर, ख़तरों पर,
नवल कला पर, वह वारी जाती थी,
उसकी चकाचौंध पर, और ध्वंस पर,
प्रेम-जुए के उन अंधे दावों पर,
नवल मानवी रागात्मकताओं पर,
वह ललचाई बढ़ी चली जाती थी।
परिश्रमोंवाले इस अपने जग ने,
होते रहनेवाले घोर युद्ध ने,
विविध शक्तियों के भिड़न्त-कौशल ने,
ही उसको आकर्षित यहां किया था,
निकले उस अभिनव सर्जन आनँद पर,

अधजानी आत्माओं की मैत्री पर,
खिचकर ही उसने अवतरण किया था,
एक अकेले जन की महानता पर,
औ' एकाकी उठती एक शक्ति पर,
को बस सदा-सदा के हित छोड़ा था।

शुरू हुआ यों एक विराट् अवतरण,
औ' आत्मा का प्रचंड इक अध:पतन :

क्योंकि आत्मा तो जो कुछ लखती है
और आत्मा जो कुछ सपनाती है
वह 'विचार' जो 'कालोत्तर' से कूदा

शाश्वत 'काल'-हृदय में घूम रहे इन
इस प्रकार अंधे-भीषण चुनाव से
लेकर जन्म असन्तुष्ट और व्याकुल
'अज्ञानता' के एक आश्रय थल-सम
इच्छाओं के खेमे जहां गड़े हैं
और विशाल छद्मवेशों के द्वारा

उससे इक 'सत्य' को जन्म देती है,
वह सच्ची दुनिया ही बन जाती है।
वह जग-परिणाम को बता सकता है,
सुरों का सफ़रनामा बन सकता है,
युग-चक्रों की गतिविधि बन सकता है।

यह महान् जग जनमा और बना है,
'दु:खों' के इस घर का सृजन हुआ है,
और शोक के मुख्य निकेत खुले हैं,
शाश्वत आनँद के सब स्रोत ढके हैं।"

यह सुनकर रानी तो रही जड़ बनी और अश्वपति ही तब ऋषि से बोले
“तो फिर क्या यह आत्मा दैवयोग औ' बाह्य जगत् से ही शासित होती है?
ओ द्रष्टा, अंतर्जग में क्या इसका मिलता कोई भी उपचार नहीं है?
लेकिन क्या है, तो फिर अपनी विधि यह यदि आत्मा का ही संकल्प नहीं है?
जिसे कि बहुत दिनों में धीरे-धीरे वह 'विश्व-शक्ति' ही पूरा करती है?
है मेरी धारणा कि महाशक्ति इक सावित्री का स्वरूप धर आई है,
तो यह महाशक्ति भी क्या इस 'विधि' की कर सकती बराबरी यहां नहीं है?”
पर नारद मुनि उस सत्य को सत्य से ही अब आवृत करते-से यों बोले :—
“हे अश्वपति, भले आकस्मिक क्षण या
देवों की पूत घड़ी में, घटनाएँ तुम्हें घुणाक्षरन्याय सरिस लगती हैं,
जिनके तटों पर तुम्हारी ये चापें कभी भटकती कभी भागती-सी हैं,
लघु से लघु लड़खड़ान किंतु तुम्हारी ऊर्ध्वलोक में पूर्वदृष्ट होती है।
और वक्र रेखाएँ ये जीवन की इक अचूकपन से खींची जाती हैं,
जो उस अजान में से आनेवाले 'काल'-प्रवह को अनुसरती चलती हैं,
जो इस रहस्य-इंगित पर चलती हैं जिसे शांत देवता छिपा रखते हैं।
औ' भविष्यवक्ता इन क्षपाकरों की ज्योति खचित एक चित्रलिपि है न्यारी,
बहुत गभीर अर्थ है उस भाषा का गई प्रतीकों में है जो सुसँवारी,
वह मुद्रांकित इस 'विचार' से कैसे जा सकती है समझी और उघारी,
तो फिर इस उन्नत लिपि के अर्थों को
पार्थिव मन के आगे बोलो कैसे समझा सकती मेरी गिरा बिचारी?
बस प्रज्ञतर स्वर्ग का प्रेम इसी से
नश्वर मानव की दीन प्रार्थनाओं को इकदम अस्वीकृत कर देता है,
मानव-इच्छाओं की राग-कुनकुनी श्वासों से न कभी अंधा बनता है,
आशा, भय की कुहेलिका को जो निज छाती पर न कभी घिरने देता है,
पर इस प्रेम-मृत्यु के युद्धक्षेत्र पर वह करुणा करके निहुरा रहता है,
उसने ही विशेष पीड़ाधिकार को सावित्री का भाग्य बना रक्खा है,
नृपति, तुम्हारी कन्या की आत्मा में अद्भुत महानता निवास करती है,
जो कि अकेली अपने औ' औरों के रूपांतर को सुसिद्ध कर सकती है,
पर ध्येय तक पहुँचने के हित उसको सब कष्टों का वाहक बनना होगा,
पथरीला-पथ पार उतरना होगा।
यद्यपि इक स्वर्ग की अमृत-कलशी-सम उसका शरीर ढाला-गढ़ा गया है,
औ' स्वर्गिक आकाश से रची जाकर भी उसने यह वातावरण चुना है,
फिर भी दुख की मानव आवश्यकता में उसको निज भाग बँटाना होगा,

औ' अपने आनंद के सब कारण को
मर्त्य-मनुज का मन तो मुख से निकले
और दृष्टि-दर्शन उसका, 'विचार' की
और अधखुले द्वारों से ही तो वह
अमित सत्य को काट-काट रखता है,
और उतारी एक-एक पट्टी को
और अन्तहीन 'संभावनाओं' में
औ' इस नमनीय महान् 'बृहत्ता' को
सर्वप्रज्ञ 'शक्ति' के दीर्घकालिक उन
उसको अंतहीन काल' में पदों की
पर उसकी प्रति कड़ी में निरर्थक-सी
या इक हिमवत् जड़ 'आवश्यकता' के
वह उस निगूढ़ जननी के अंतर के
बस उसकी छाती के वात्सल्य भरे
औ' उलटे इक जीवनहीन 'नियम' के
विश्व-'वास्तविकता' के मुक्त सुनिश्चित,
उस 'कालरहित' का संकल्प यहां जो
उसकी मानव-स्थूल दृष्टि में वह सब

मानो 'जादूगर' के मांत्रिक बीजों
औ' जब तक वे जगती पर क़ायम हैं
किन्तु यहां प्रत्येक कर्म की ख़ातिर
औ' जड़-नियमों के चापों के सँग-सँग
यदि वह 'जादूगर' चाहे तो क्षण में
हां, यदि मानव का संकल्प यह कहीं
यदि मानव विचार से सहज स्फुरित हो
तो यह नगण्य मानव सर्वज्ञानी
किन्तु अभागा अभी तो 'प्रकृति' की बस
फिर भी मानव मन 'भगवत्'-प्रकाश को
औ' मानव का बल उस 'भगवत्'-बल की
तब वह बन इक चमत्कार जाता है
जब ऐसा हो सके तभी वह केवल
यह तो नियम-विधान बन चुका ही है

दुख में परिवर्तित भी करना होगा।
शब्दों के पीछे-पीछे चलता है।
दीवारों के पीछे विश्रमता है,
बाहर केवल निज दृष्टि फेंकता है।
यथा पट्टियां हो नभ से उतारता,
ही वह निज पूर्णाकाश है मानता।
दृष्टि गड़ाए रहता सतत घूरता,
'दैवयोग' की संज्ञा है दे देता।
पकते परिणामों को विलोकता है,
क्रमिक योजना को रचते लखता है,
एक कड़ी का परिकल्पन करता है,
यांत्रिक कर का बस अनुभव करता है।
आशय को उत्तर न अरप पाता है,
मधुर स्पंदनों से वंचित रहता है,
कठोर अंगों का अनुभव करता है।
निरपेक्ष और केवल पदनिपात में,
काम कर रहा है इस धरा-'काल' में
नीरस औ' नितांत यांत्रिक लगता है,
या कि निरर्थक 'विधि' भासित होता है,
ने ही 'जड़' के सकल विधान रचे हैं,
तबतक सब कुछ उनसे ही जकड़ा है:
'आत्म'-अनुज्ञा की आवश्यकता है,
स्वतंत्रता का सुसहचरण होता है।
यह सब कुछ परिवर्तित हो सकता है।
'प्रभु'-संकल्प के साथ एक हो सके,
'प्रभु'-विचार की ही ध्वनि ध्वनित हो सके
औ' सर्वशक्तिशाली बन सकता है,
इक संदिग्ध किरण में ही चलता है।
स्वेच्छा से एक प्राप्त कर सकता है।
स्फुरणा से प्रेरित हो चल सकता है,
जो कि चमत्कारों को जनमाता है।
यहां 'प्रकृति' का 'राजा' बन सकता है।
और मरण सत्यवान् का निश्चित है,

उसके हित मुहूर्त है चुना जा चुका और प्राणहर आघात इक विहित है।
उसके बाद और जो कुछ होना है सावित्री की आत्मा पर अंकित है।
पर जबतक भावी की उस निर्माता लिपि को निश्चित घड़ी न आकर खोले,
तब तक उसके अक्षर अस्पष्ट और गूंगे बने रहेंगे बाट जोहते।
'अज्ञानावस्था' में फलित हो रही 'ऋत-चित्' का ही नाम तो अरे 'विधि' है।
नृपति! तुम्हारी विधि तो बस उस आत्मा
और प्रकृति सँग घड़ी-घड़ी पर घटता रहनेवाला आश्चर्य व्यापार है,
'प्रभु' ही जिस विशाल व्यापार-कार्य का बना पूर्वदृष्ट मध्यस्थताकर है।
बस 'भावी' के हिसाब के खाते की बची जमा का ही 'विधि' पड़ा नाम है।
मानव चाहे स्वीकारे उस विधि को चाहे अस्वीकार करे वह उसको।
फिर भी यदि 'एकम्' जारी रखता है उसी पुराने निजी हुक्मनामे को,
तो वह फ़क़त तुम्हारी अस्वीकृति को,
लेगा आँक जमा-पृष्ठ पर तुम्हारे,
क्योंकि तुम्हारी यह अनिष्ट-भावी ही तो मार्ग का तुम्हारे अंत नहीं है,
यही गुह्यतम कोई मुहर नहीं है।
जीवन की कारुणिक ध्वंस-गाथा से पढ़कर पाठ और उन्नत हो-होकर,
बस शरीर की सकल यातनाओं औ' मृत्यु-यंत्रणाओं से विकसित होकर,
प्रत्येक हार में आत्मा जगती है, अधिक-अधिक बलवती और बनती है,
प्रत्येक बार नीचे गिर-गिरकर भी
इसके दैवी पंखों की सुउड़ानें विशालतर औ' समर्थतर बनती हैं।
उसकी गौरवशाली असफलताओं का सब जोड़ विजय उसकी बनती है।
ओ मानव, ये घटनाएँ जो तुमको यहां तुम्हारे पथ पर आ मिलती हैं,
माना कि ये तुम्हारे तन औ' मन को दुख-सुख के आघात दिया करती हैं,
लेकिन यही तुम्हारी नियति नहीं है,
वे तो आकर पास तुम्हारे क्षणभर तुमको छूकर तनिक चली जाती हैं,
यहां तक कि मृत्यु भी तुम्हारी आत्मा की गति को न रोककर रख सकती है,
बस वह ध्येय जिसे तुम चुन लेते हो
और राह वह जिस पर चल देते हो वही तुम्हारी निज विधि बन जाती है।
जिसमें इक वेदी पर अर्पित होते रहते तव विचार, उद्गार, कर्म हैं,
और तुम्हारी विधि देवों के प्रति नित किया जा रहा लंबा याग-धर्म है,
यह चलता जाएगा तब तक, जब तक
वे न तुम्हारी उस निगुह्य आत्मा को खोल तुम्हारे सम्मुख प्रकटाएँगे,
अन्तर्निष्ठ देव के संग तुम्हारा जब तक न पूर्ण तादात्म्य कराएँगे।

इस अज्ञान सिंधु में 'महा-प्रकृति' के
परात्पर की अदृष्ट उंचाइयों पर
अदृष्ट-शत्रु-'शक्तियों' से लड़ने को

इस 'जड़ता' से उस 'कालातीतात्मा'
वह तो एक साहसिक है ऐसी जो
विवश बढ़ी जाती नित आगे-आगे
घुसी जा रही ज्यों चीरती-फाड़ती
धूल और कीचड़ में होकर सरती
सैन्यसुरक्षित मार्गों में से होकर
अतिघातक हमलों में से बच-बचकर
औ' घायल बन-बनकर पीछे हटने

रक्षा करने के हित चिपटी अपने
लड़ते हुए और बहु वैषम्यों से
या उस प्रहरी-अग्नि के चतुर्दिक बस,
मंद-मंद बढ़ती आती ऊषा की
भूख-प्यास से तपते, कभी विभव की
कभी यातनाओं से गुज़रती, कभी
हरी-भरी जीवन की रस-गलियों में
कभी चढ़ी जाती बंजर टीलों पर
पंक्ति-बद्ध अपने सैनिक जत्थों की
अपने यायावर सैन्य-अग्रदल की
पथ-भूले देव की अरे वह सेना
तब मानव बहुत देर में इस बिछुड़े
तब जाकर वह अपनी भूली-बिसरी
जिन ऊंचे गगनों से पतन हुआ था
उसकी अभेद्य औ' दुर्दम सेना की
कर ही लेती है अधिकार आख़िरी
और 'प्रकृति' की अंतिम ज्ञान-परिधि से
उस अगम्य और अभेद्य अज्ञात की
सब गोचर द्रव्यों की सीमा के पर
एक जादुई ऊर्ध्व-वायु में होकर

अरी कूदनेवाली आत्म-चेतने !
बढ़नेवाली यात्री, शस्त्र-सज्जिते।
तेरी आत्मा की विधि एक युद्ध है,
अंत-विहीन और अविराम कूच है,
तक जानेवाला एक संचरण है।
अंधे और अदेखे काल-क्षेत्र में
होकर जन्मों की लंबी क़तार में,
अविरत, बढ़ती सदियों के पड़ाव में।
पृथिवी की लथपथी भूमिकाओं पर,
ख़तरनाक मोर्चों पर महा-युद्ध कर,

की परवशतामय मजबूरी लेकर,
बरबस इक सुरसेना चली जा रही,
आदर्शों के उन जर्जरित क़िलों पर
रक्षा की उन एकांत चौकियों पर,
निशि में अपना डेरा-खेमा धरकर
भेरी की वह जैसे राह जोहती,
लहरों में उमगती, कभी दुख सहती,
विजयघोष में, कभी पतन में बढ़ती,
कभी, कभी मरु के बालुका-क्षेत्र पर,
सूर्य-प्रकाशित अद्रीय कगारों पर,
औ' बिखरी-सी पिछाड़ियों को लेकर,
संकेत-अग्नि के इंगित पर चलकर,
बिना रुके है अपनी कूच कर रही।
अकथनीय आनँद का रस चखता है,
गुह्यात्मा का यहां स्मरण करता है,
उन्हें पुलक वह पुनः प्राप्त करता है।
अगली पंक्ति एक दिन बस फिर बढ़कर
'अज्ञानता' रचित अंधे दर्रों पर,
बढ़ते हुए और भी आगे-आगे,
महाशोध में अपने मन को पागे,

तब तक यह मानव बढ़ता जाता है,

जब तक वह जग की महान् औ' नीरव ऊर्ध्व शिखाओं तक न पहुँच जाता है,
'प्रभु' के महिमामय शिखरों पर आकर औ' जब तक वह खड़ा न हो जाता है।
तो फिर सत्यवान् की मृत्यु के लिए सकल तुम्हारा यह परिताप व्यर्थ है,
सत्यवान् की तो मृत्यु महत्तर, नव जीवन का इक सुन्दर समारंभ है;
मृत्यु तो मिला आत्मा का अवसर है।

बहुत बड़े उद्देश्य की कामना इन आत्माओं को आज निकट लाई है,
प्रेम और मृत्यु ने यथा मिल कोई सुभग ध्येय हित मंत्रणा रचाई है।
क्योंकि अनवरत चले आ रहे जोखिम
औ' दुःखों के बाद कभी जीवन में स्वर्गानँद को तो आना ही होगा,
काल में छिपी उस अचिन्त्य घटना को
'प्रभु'-विरचित उस गुह्य योजना को औ' 'स्व'-चमत्कार तो दिखाना ही होगा।
यह जग बरबस इधर-उधर से आई दैवयोग ईंटों से नहीं बना है,
और न मानव की यह निश्चित भावी कोई अंध देव की ही रचना है।
जीवन का नक्शा तो एक चिन्मयी शक्ति ने करों से अपने खींचा है,
जिसकी प्रति रेखा और वक्रता में रहता इक गंभीर अर्थ बीजा है।
यह तो है इक प्रासाद महत् उन्नत
जिसे अनाम तथा नामवान् अनगिन कुशल विश्वकर्माओं ने सिरजा है,
अगिन अ-दर्शी कर चुपचाप लगे हैं जिनको कि 'अदृष्ट' चलाता रहता है।
उन्हीं प्रधान सुनिर्माताओं में से यह सावित्री भी इक निर्माता है।
हे राज्ञी! गुह्य संकल्प को 'विधि' के अतः बदलने की चेष्टा तुम न करो,
'काल'-वेग में घटती घटनाओं को
उसकी महा योजना की बस केवल कड़ियों के समान ही मानो-समझो,
तुम अपने असहाय औ' क्षणिक-से इन
मनुज-अश्रुओं को, इक अगम्य अंतर की घड़ियों के बीच न आकर रोपो,
क्योंकि उसे ज्ञात है कि उसका केवल-
संकल्प और 'प्रभु'-संकल्प एक है।
तो फिर वह अन्तर निज घातक भावी का बढ़ आलिंगन कर ही सकता है।
अपने शोक को लिए अपने भीतर
आंख मिलाते हुए मृत्यु से भी वह चुपचाप बना बैठा रह सकता है,
शस्त्र-सुसज्जित बनकर वह एकाकी अपविधि से मोर्चा ले ही सकता है।
अपनी नीरव और मौन आत्मा के
संकल्प की उच्चतम महानता में इस विशाल जग बीच अकेली रहकर,
निज बलिदानात्मा के सदावेश में

उसकी प्रचण्ड शक्ति नितान्त अकेली सारे जग के सामने खड़ी होकर,
जूझते हुए निज विधि से चुप रहकर
मानव, देव किसी को नहीं टेरती :
कभी किसी की और न मदद मांगती।

किसी एक प्राणी को कभी धरा की भावी का बोझा है सौंपा जाता,
पर वह देश-काल में बंधी शक्तियों से न कभी है कोई मदद मांगता।
बस अपने महान् कार्य के लिए तो वह ख़ुद अरे अकेली ही काफ़ी है।
पैर धरो मत उस आपदा बीच तुम, जो कि तुम्हारी सामर्थ्य से परे है,
यह संघर्ष है कि जो मर्त्य-विचारों से थाहा जा सकता अरे नहीं है,—
जब निर्वस्त्र बनी-सी अन्तर-आत्मा जाकर अनंत के सामने खड़ी हो,
और 'प्रकृति' की अनम्य सीमाओं से जब महत्त्वशाली प्रश्न कर रही हो,
औ', जब एकाकी, मर्त्य संकल्प की
अपनी गूढ़ कथा को लिए हुए वह शाश्वत नीरवता में प्रविश रही हो
तब तुम उसके पथ के बीच न आओ।

जैसे एक निसंग अकेला तारा
महा दिशाओं की अगम्यताओं में चकित और आशंकित बने बिना ही
इस विस्तृत आकाश में विचरता हो,
औ' अपने प्रकाश को लेकर ही जो इस शाश्वतता की यात्रा करता हो;
उसी तरह एकलपन में महान् जन सबसे अधिक शक्तिशाली बनते हैं।
सत्ता की 'प्रभु'-प्रदत्त सुसामर्थ्य को ही, बस वे निज शक्ति मान चलते हैं,
आत्मा के ज्योतिर्मय सुएकान्त की एक किरण उनका पथ द्योतित करती,
एक अन्तरात्मा जो अपने भीतर बनकर नितान्त है एकाकी जीती,
उसका ही 'ईश' से मिलन होता है;
औ' आत्मा का इक एकाकी जग ही उनका प्रिय संकेतस्थल बनता है।

आ सकता है इक दिन वह भी जब वह
जग की औ' अपनी अनिष्ट भावी के
बड़े ही ख़तरनाक इक किनारे पर खड़ी किसी की सहायता बिन होगी,
और विश्व की आनेवाली भावी को लेकर निज एकाकी छाती पर
औ' मानव की आशाओं को लेकर निपट अकेले निज अंतर के भीतर
उस आख़िरी निराशोन्मत्त छोर पर या तो पूर्ण रूप से जय पाएगी,
या तो इकदम असफल हो जाएगी!

बस एकाकी ही तो मृत्यु के साथ महानाश के उस छोर पर पहुँच कर,
अपनी एक अकेली महानता ले उस आख़िरी भयानक घोर दृश्य पर,

होकर उसे 'काल' में रचे भयंकर
महासेतु से पार उतरना होगा,
और विश्व-भावी के शीर्ष-बिन्दु तक
साहस करके सतत पहुँचना होगा।
जहां कि या तो सब कुछ विजित बनेगा,
या बस यह मानव सब कुछ खो देगा।

जग-विधि की निर्णयकारी घटिका के
उस नितान्त एकाकी और गुमे-से
एक भयानक औ' घनघोर मौन में,
औ' नश्वर काल के परे चढ़ती इस
आत्मा के इक उन्नत आरोहण में
जब वह नीरव, निराश, चोखिम तट पर
सारे जग से दूर औ' अलग रहकर
होती खड़ी 'मृत्यु' के सँग है एकल
या फिर 'प्रभु' के साथ खड़ी होती है,
जब एकाकी ही निज आत्मा के सँग
मृत्यु तथा भावी के सँग होती है,
यथा 'काल' औ' 'कालातीत' के बीच
खड़ी इक किनारे पर जब होती है,
जब कि अस्ति को चुक जाना होता या
जीवन को होता नव निरमाना है,
तब बस उसको एकाकी ही आगे
बढ़ते रहकर पूर्ण विजय पाना है,
या एकाकी सब कुछ व्यर्थाना है।

उसको नहीं वहां पर तब कोई भी
मानव निज सहायता दे सकता है,
और न कवचित 'देव' तेज को लेकर
उसके निकट खड़ा भी रह सकता है,
स्वर्ग से सहाय की पुकार व्यर्थ है
क्योंकि नितांत अकेली एक वही है
जो सब कुछ से रक्षा कर सकती है।

इसीलिए वह नीरव 'महाशक्ति' है
विधिप्रेषित-सी बनकर नीचे आई,
और सचेतन संकल्प ने यहां है
उसके, मानव की सुठि आकृति पाई,
वह खुद ही स्वयं को बचा सकती है
औ' जग की भी त्राता बन सकती है।
हे राज्ञी, तुम महाशक्तिशाली इस
घोर दृश्य से अब पीछे हट जाओ,
अब उसकी 'विधि' की भीषण घटिका औ'
उसके बीच न आकर विघ्न मचाओ।
इस मुहूर्त्त का आना अनिवारी है
नहीं किसी का उसमें दख़ल चलेगा।
उसको स्वर्-निर्धारित स्वीय कार्य से
पथ-विचलित करने की बात न सोचो,
उसको उसके संकल्प से समुन्नत,
खींचकर बचाने का यत्न मत करो।
खतरों भरे महा घोर संघर्ष में
अरे तुम्हारा कुछ भी स्थान नहीं है,
और तुम्हारे प्रेम और इच्छा के
निर्णय का उसमें कुछ काम नहीं है,
अब विश्व-नियति को औ' उसको केवल
'प्रभु'-संरक्षण में चुपचाप छोड़ दो।
'प्रभु' भी भले छोड़ दे उसको उसकी
एकाकिनी शक्ति के फ़क़त सहारे,
और भले ही यह सब कुछ हिल जाये,
गिर जाये, औ' अपना अन्त निहारे,
अन्तर जवाब दे जाये औ' केवल
मृत्यु तथा निशि ही जिन राज्य पसारे,
★

ऐसे अतिशय भयद किनारे पर भी
'प्रभु-प्रदत्त उसकी शक्ति ही वहाँ भी
जहां न कोई मानव शक्ति पहुँचकर
उस दिव्य गुप्त 'संकल्प' के बीच में
उसकी आत्मा के औ' उसके बल के
उसको ही बस 'विधि' औ' अपनी महती
जहाँ 'मृत्यु' ही फ़क़त अंत दिखती है,
निज अनिष्ट भावी से लड़ सकती है,
उसे रोक या सहाय दे सकती है।
छेड़-छाड़ करने की बात न सोचो,
बीच खड़े होने का यत्न मत करो,
'आत्मा' की चिंता के लिए छोड़ दो।"

यों ऋषि मुखर हुए औ' मौन हो गए
भूगोलक के संघर्ष, यातना को
मानव-दृष्टि से दूर, बहुत दूर अब
ज्यों इक निर्देशनकारी औ' सीधा
शाश्वत द्रष्टा के ज्योतित शरीर ने
मध्याह्न की अरुण श्यामल महिमा पर
वह ऊपर उठ 'अदृष्ट' के प्रकाश में
जैसे नभ में कोई ज्योतित तारा
पर अब भी जैसे अनंत विस्तर में
औ' अब भी इक श्रोता आत्मा के हित
इस नश्वर भू पर जैसे अति उन्नत
औ' सुदूर की इक अविनश्वर वाणी
धरा-दृश्य को तज कर भी चले गए,
छोड़कर बहुत ऊंचे थे, निकल गये,
निज आनंद-धाम की ओर फिर गये।
तेजस्वी शर दिव को चला गया हो,

जैसे कोई हमला बोल दिया हो,
जाकर मानो अंतर्धान हो गया,
कहीं ऊर्ध्व में उठकर लोप हो गया;
इक संदेशभरी ध्वनि गूंज रही हो,

शाश्वत-प्रेम-ऋचा गुंजार रही हो।

मूल्य रु. ४.००

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ७

श्रीअरविंद

सावित्री

(महाकाव्य)

हिन्दी रूपांतर

पुष्प ७

रूपांतरकर्त्री

विद्यावती 'कोकिल'

१९७२

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी–२

प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी–२

मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी–२

Hindi—Savitri Part VII by Sri Aurobindo

[*Translated by Vidyavati 'Kokil'*]

Published by Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry—2

Printed at Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry—2

‘सावित्री’

(हिन्दी रूपांतर)

धन्यवाद के उद्‌गार

आज हिंदी पाठकों के हाथ में सावित्री की अंतिम खेप पकड़ाते हुए मुझे शिशु-हृदयके एक भोले और अछूते संतोष की अनुभूति हो रही है। इस घड़ी में मेरे हृदय के उद्‌गार अपनी धन्यवाद-भावनाको उन विभूतियों और शक्तियों पर सुमनों की भांति लुटा देने को आतुर हैं जिन्होंने इस अनुवादरूपी पहाड़ी स्रोत को सजाया सँवारा है और इसे तट दिए हैं। पहाड़ी स्रोत इसलिए कि यह अनुवाद का आग्रह एक दिन हृदय की एक ऊबड़-खाबड़ भूमि से न जाने कब और कहां से निकल पड़ा था। उस हृदय का विद्वत्ता, पांडित्य या साहित्य-सामंजस्य से तथा किसी भी प्रकार के परिष्कार द्वारा संस्कार नहीं किया गया था। न जाने कौन-सा अनजाना अदम्य उत्साह लेकर यह अपनी तारोंभरी रात में प्रकृति की रहस्य-मयी गोद में छलांग भरता और वायु के साथ इठलाता-सा एक एकाकीपन में फूट पड़ा था। इसे आरंभ करने के बाद कितनी बार ऐसा भान हुआ कि राह में कठिनाइयों के पर्वत खड़े हैं और भय ने इतना आक्रांत कर दिया कि किसी भी समय यह स्रोत सूख सकता था। पर कहां? पर्वतों ने बाधा उपस्थित करके तो इसके उत्साह को अधिक अधिक बढ़ाया ही है। निश्चय ही इसे मैं मन, प्राण और शरीर का नहीं, आत्मा का ही कोई आग्रह मानती हूं, जो भला-बुरा कैसा भी हो,—केवल भगवान् श्रीअरविंद की आंखों के नीचे ही संपन्न हो रहा है और उनकी अनुमति से ही बढ़ता चला है। हां, इसमें जो भी भूलें रह गयी हैं उन्हें उन्होंने क्षमाभरी मुसकान के साथ सहर्ष ही सहा है जैसे पिता इंजीनियरी की शिक्षा के लिए पुत्र को किसी भारी मशीनरी को खोलकर उसे तोड़ने-फोड़ने से भी मना नहीं करता। निश्चय ही, इसमें जो अच्छा बन पड़ा है वह मूल के सौंदर्य का भास होगा और अखरनेवाली बातें मेरी कमजोरियां हैं। मुझे विश्वास है इसकी पुनरावृत्ति में उनकी यह उदारता और दया अपनी पुत्री को समुचित आनंद और संतोष देगी। हां, यह पुनरावृत्ति कब और कितनी बार में पूरी होगी यह कहना कठिन है क्योंकि सावित्री को समझना उसको जीने से कुछ कम नहीं है, यह कोई दर्शन शास्त्र नहीं है। और निश्चय ही इस चेतना से इसे जिया भी नहीं जा सकता, क्योंकि यह तो सृष्टि-सृजन के नव आह्लाद का अवतरण है या कहूं उसकी ही जगत् में पुनरावृत्ति है। फिर भला इसका अनुवाद क्या? तो फिर इस चेतना का सब कुछ छोड़ना होगा, यहां तक कि इस चेतना का वर्तमान ही क्यों, भूत भी जो उसमें मिश्रित है और छिपा हुआ बैठा है उसे भी ढहाना होगा। फिर एक नए भविष्य का निर्माण करना होगा।

फिर भी आज मैं अपने सारे भूतकाल की परम आभारी हूं कि जिसने प्रकाश

की इस देहरी पर लाकर मुझे खड़ा तो किया है और इस वर्तमान् की तो विशेष रूप से आभारी हूं जिसमें प्रभु की कृपा का साक्षात्कार कर रही हूं। उनके उठे हुए वरद कर का शीषपर अनुभव कर रही हूं। इसका चमत्कार भी देख रही हूं कि किस प्रकार भंगुर करणों द्वारा और मानवीय तौर-तरीकों द्वारा ही वे अपना काम लेते चले जा रहे हैं। मैं देख रही हूं कि मुझ मूढ़ में किस प्रकार पूज्य श्री अम्बालाल जी पुराणी ने इसके प्रति प्रेरणा भरकर मेरे भीतर इस कार्य की नींव डाली थी। फिर पूज्य श्री ऋषभचंद जी ने किस प्रकार इस चल पड़े शिशु को उँगली पकड़कर साधा था और इतना ही क्या ये सब मिले आधार किस प्रकार धीरे-धीरे कर झपट कर छीन भी लिए गए थे और जब मैं हताश और निराश हो चली थी तभी स्वयं ही अन्य सहायताएं आकर कैसे सहज भावसे जुड़ गईं। यदि युवक साधक श्री हीरालाल जी ने नियमित रूप से अपनी सहायता न अर्पित की होती और यदि श्रीअरविंद साहित्य के रसवेत्ता, सात्विक और साधु-प्रकृति तथा मेरे लिए पिता तुल्य प्रो० लालचंद जी ने अपनी सहायता न अर्पित की होती तो भी यह कार्य अधूरा ही रह गया होता। फिर भी इतने बड़े कार्य के संपन्न करने में कई प्रकार की सहायता देने की आवश्यकता होती है। अत: मैं अपने कृपालु भाई संस्कृत के महापंडित, वेदविद् श्री जगन्नाथ जी की तथा विद्वान् और साधनापूत भाई विनायक जी की सहायताओं की बहुत आभारी हूं। फिर टंकन और लेखन जैसे कार्य भी कम आवश्यक नहीं होते और उन कार्यों में तथा अन्य कार्यों के लिए मैं पुत्रीवत् कु० योगप्रभा तथा बहन उमा जी की भी सहायताओं को नहीं भूल सकूंगी। फिर अपने उन गुरुजनों को जो समय-समय पर इस कार्य में वैसे ही सद्भाव से संदेहनिवारण करते आए हैं जैसे अंधकार को चीरकर सूर्य द्विविधा को दूर कर देता है, जिनके भीतर ज्ञान का पूर्ण परिपाक हुआ है, जो विकसित गुलाब और कमल की भांति अपनी परिपक्व सुगंधि को लुटाते ही रहते हैं, उन ऋषितुल्य गुरुजनों के चरणों में विनत होती हूं। फिर प्रेस तथा प्रकाशन-विभाग से संबंधित उन परम हितैषी और स्नेही मित्रों की मैं अति ही आभारी हूं जिन्होंने इस महँगी के समय में भी मेरी इस सनक को कार्यान्वित किया है। अंत में पाठकवृंद की सहायताओं और शुभ कामनाओं के लिए उनका अभिनंदन करती हुई सारी भूलों के लिए क्षमा चाहती हूं। वे अपने सुझाव भी भेजेंगे तो अति ही आभारी होऊंगी। यद्यपि मैं यह जानती हूं कि यह सारी सहायता मुझे नहीं मिली है अपितु यह सब भगवान् के कार्य के लिए उनपर ही निछावर हुई है। इसी प्रकार मैं भी अपने इस श्रम को केवल भगवान् की पूजा ही मानती हूं, और भला-बुरा जो कुछ भी है उन्हें ही अर्पण करती हूं।

पर्व के विषय में

यद्यपि इस बार भी कोई भूमिका लिखने का विचार नहीं है और एक मुखर मौन में ही इसे समाप्त करना चाहती हूँ जिसमें सब कुछ कह देने की शक्ति निहित रहती है। फिर भी इन पर्वों के प्रति एक इंगित करना चाहती हूँ। पाठकों ने जिस उषा के क्षणिक दर्शन प्रथम पर्व और प्रथम सर्ग में किए थे उस शाश्वत उषा की स्थापना पृथिवी पर हो सके यह एक असंभव-सा कार्य ही इस महाकाव्य का निष्कर्ष है जो इन अंतिम पर्वों में प्राप्त हो रहा है। पर यह एक असंभव-सा कार्य है और अतीत का सारा इतिहास इसका साक्षी है कि यहां कुछ भी नहीं टिक पाता। उस उषा को पृथ्वी पर शाश्वत दिवस के स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सकने का जोखिम केवल जगत्-जननी के या उसकी शक्ति के बिना और कौन उठा सकता है? मृत्यु ने जो गंभीर से गंभीर और विशाल खाई सावित्री के लांघने के लिए खोदी थी जिसका इंगित हमें प्रथम पर्व में मिला था वह खाई क्या थी और कितनी भयानक और गंभीर थी उसका विस्तृत वर्णन और स्वरूप आप यहां पर्व ९, १० और ११ में स्वयं पढ़कर देखिए।

प्रथम पर्व के प्रथम सर्ग में ही कुशल लेखक ने काव्य की मुख्य समस्या का उद्घाटन कर दिया है। सत्यवान् की मृत्यु ही सावित्री के सम्मुख उस सारी समस्या के भारी खतरे को एक-एक कोने से उघार कर रख देती है जिसपर विजय पाने से ही मानव की समस्या का मौलिक समाधान संभव है और सारी मानव-नियति परिवर्तित हो सकती है। निश्चय ही वह समाधान व्यक्तिगत मनुष्य की मोक्ष-प्राप्ति से पूर्ण नहीं होता अपितु जीवन का पूर्ण रूपांतर करने से ही संभव है। सत्यवान् सत्य का वह सविता है जिसे अज्ञान की महारात्रि ने छिपाकर अपने गढ़ में रख लिया है। सावित्री को मानवता के लिये उसे बचाकर लाना होगा। पूर्ण रूपांतर तो उस छिपे सत्य को जीवन में उद्घाटित कर उसे जी सकने की सामर्थ्य का नाम है और सारी अज्ञानता जो हमारी जननी प्रतीत होती है पर है जो सत्य की मात्र कंचुकी, उसको ही केवल उतार फेंकना या सत्य में घोलकर उसका परिष्कार कर देना और इस क्रिया में इस जगत्पिता महाकाल को प्रकाश का धीरे-धीरे कर निगल जाना तथा शाश्वत दिवस का उदित हो सकना, यही वह असंभव कार्य है जिसे सावित्री ही करने में समर्थ हुई है। बस सत्यवान् की मृत्यु का दिन ही जिसे हम पुष्प ६ के ८ वें पर्व में पढ़ चुके हैं सावित्री के अंतर उद्बोधन की वेला है जो सत्य की उषा को संभव बनाती है।

अब आख्यायिका के माध्यम से प्रयुक्त किए इन प्रतीक-व्यक्तित्वों का आप मूल ग्रंथ में रस लें।

सावित्री

एक आख्यान और एक प्रतीक

सनातन रात्रि का पर्व

पर्व ९, सर्ग १

अंधकारमय शून्य की ओर

इस प्रकार वह उस विशाल कानन में
इक चिंतनबिन धुंधले जगत् से घिरी निपट अकेली ही आज रह गई थी,
औ' उसके प्यारे पति का शव उसके परित्यक्त अंतर पर टिका हुआ था।
पर उसने इस अपनी महती क्षति को नहीं विचार-विवश बनकर नापा था,
पीड़ा की संगमर्मरी मुद्राओं को न अश्रुओं से तोड़ा-फोड़ा था:
और भयानक उस देव का सामना करने को वह अब तक उठी नहीं थी।
उसकी आत्मा अटल गहन चुप्पी में हिले-डुले बोले बिन उस काया पर
जिसको वह अत्यन्त प्यार करती थी झुकी हुई छायी-सी पड़ी हुई थी,
जैसे सत्यवान् के साथ-साथ ही उसका मन भी क्षय को प्राप्त हुआ हो।
लेकिन फिर भी उसका मानव अंतर बरबस सुतीव्र गति से धड़क रहा था।
वह उसकी सत्ता को अब भी अपनी सत्ता के समीप ही समझ रही थी,
वह उस निर्जीव आकार को अपने अंतर से इस प्रकार चिपकाए थी,
मानो उसी पुरानी स्व-एकता को,—
जिसमें वे अबतक जीते आए हैं, संरक्षित रखने में यत्नशील थी,
उसकी काया के भीतर आत्मा को रोके रखने में अविराम लगी थी।
तभी हठात् एक परिवर्तन आया,—
जो जीवन की ऐसी भीषण घड़ियों
में मानव-आत्मा के ऊपर अपना पूर्णाधिकार जमा लिया करता है,
और उसे उसके ज्योतित सुकेंद्र के प्रति लखने को खोल दिया करता है।
बस तब पड़ा आवरण फट जाता है, कूच यह विचारक फिर कर जाता है:
औ' फिर केवल आत्मा ही लखती है औ' तब ज्ञात सभी कुछ बन जाता है।
तब भौंहों के ऊर्ध्व देश में सुस्थित उस सुशान्त 'शक्ति' के दरस मिलते हैं,
जो कि हमारे कर्मों और विचारों से न तनिक विचलित, कंपित होती है
जिसकी नीरवता इस जगती तल की सारी ध्वनियों को धारण करती है:
अचल, अडिग रह 'प्रकृति' को चलाती है जीवन पर अपनी दृष्टि डालती है।

यहां वस्तुओं के क्षुब्धावर्तन पर इसकी चितवन सुनियंत्रण रखती है,
दूरदृष्ट अपने उद्देश्यों को यह स्थिरता से आकारित कर देती है,
धूल और आंसुओं भरे जीवन में सतत अद्रवित औ' सुशान्त रहती है,
औ' संघर्षशील इन संकल्पों पर एक अमितता से छाई रहती है।
यह जिस 'महिमा' को देखा करती है
आत्मा उससे ही मिलने की खातिर बस फिर विकसित औ' विस्तृत होती है
निज जीवन-स्वर उन अनन्त ध्वनियों के प्रति समस्वरित होने लग जाता है,
विद्युत् की महान् पांखों पर उड़ने- वाली भक्तियां यहां चली आती हैं,
औ' देवोपम विचार आकर पार्थिव मन को बस चौंका चौंका जाते हैं।
आत्मा की शोभा औ' उत्कटता में
चमत्कारमय जन्मस्वरूप बाल-शशि लाकर यथा उछाल दिया जाता है,
जिसका यह रहस्यमय वक्रिल हँसिया इस अभिदीप्त शून्यता में तिरता है,
यथा लोक औ' नीरवता के नभ में, विचार आनन्द-विभोर हो उठा हो,
फिर तो उस अदृष्ट 'संगीतकार' के
द्वारा सारी सजीव मर्त्य मृत्तिका अपनी, यह अधिकृत कर ली जाती है,
औ' उसके सुतीव्र अग्निल तूफ़ानी स्पर्शों से आकारित हो उठती है।
तब आकर नवीन दृष्टि भेंटती है
और नवल वाणियां हमारे भीतर,
देवों के संगीत की नई ही इक सुन्दर काया को रच लेती हैं।
और अनामी अमर लालसाएं फिर यहां हमारे पास कूद आती हैं,
देव-भावनाओं के विशाल स्पंदन जिज्ञासा ले दौड़-दौड़ पड़ते हैं,
और एक शान्ति की सशक्त भूमि पर
सुसंकल्प के उन्नत औ' एकाकी आनन्द को यहां बुन-बुन देते हैं।
इक मार्मिक क्षण में यह चमत्कार सब उसके अंतर में बस प्रकट हो पड़ा।
अब उसकी वह असीम, अपार चितवन उन सब द्रव्यों को निहार सकती थी
जो मानव-विचार की स्थूल, पार्थिव इन पलकों से हैं छिपकर रह जातीं;
उसके सम्मुख वह 'चेतना' उभरकर जो कि 'प्रकृति' में कब से छिपी पड़ी थी,
अब लोकों में स्थित निज दीप्त नीड़ से कढ़कर औ' उड़ान भरकर चल दी थी।
महा रात्रि के गगनों में होकर यह विराट् अग्नि-शिखा के सम बढ़ती थी।
इस प्रकार आत्म-विस्मरण के सारे पाश आज कटकर छिन्न हो गए थे।
सुदूर ऊँचाइयों पर उन्नतवर्ती इक प्राणी-सम सावित्री ने ताका,
आदिम, सशक्त उसी केंद्र पर जैसे इक निर्वास शिला पर अपने ऊपर,
यत्नशील एकाकी आत्म-बुर्ज पर,
अपने उसी अकेले मन के भीतर, जहां कभी अपने कार्य को किया था,–
अवलोका, उस सबके मूल हेतु को, औ' कुछ वह अबतक जिसती आई है,

देखा—बस इस विश्वाकाश में अरे
और युग-युगान्तर के सुसंकल्प के

उसने अनुभव किया एक 'सन्निधि' को
यह केंद्रीय 'निखिलता' थी इक जिसने
इक प्रभुता, नीरवता और क्षिप्रता

जैसे अश्रुत ध्वनियों के संगीती
अन्तविहीन दीप्तियों को पसीजता
और 'काल'-घड़ियों को अनन्तता से
जोड़ते हुए, धरा और सावित्री
फिर वह उसकी आत्मा में समा गया
तब भावा से पूरित इक विचार के
समान ही, उस सुमहत्ता ने आकर
औ' उसकी सत्ता के सकल व्योम अब
वह सावित्री पर इस तरह छा गई
जिसके ओष्ठों पर कोई अनुच्चरित
और शीश पर प्रज्ञा का इक विद्युत्
फिर उसने बस सीधे सावित्री के
शक्ति तथा प्रकाश के सहस्रदल सुठि
उसकी नश्वरता की अमरा नेत्री

वह सर्वबला औ' वह 'काल'-अजेया

उस महती बेला के संग अब उसकी
यथा मृत्यु द्वारा उसकी मानवता
जो कि उसी की इक बार रह चुकी थी।
उसके पार्थिव अंगों के भीतर की
बाल दिव्यता ने अब इक आध्यात्मिक
औ' जीवन के इस विशाल सागर को
अपने मर्त्य भाग को अनुपम दैवी
छाया रहनेवाला दुःख चुक गया

जो कुछ वह अबतक करती आई है,
परिवर्द्धित, विस्तृत इक महाशक्ति को,
धीमे-धीमे बढ़ते रूपायन को,
अमर सत्य के तारक-दीप्त अंश को,
अचल 'शक्ति' के आवेगी साधन को।
जो श्रुतिसमर्थ जग में व्याप्त बनी थी,
उसके असीम जीवन को साधा था।
जो इन पातालों पर ध्यानमग्न थी,
यह जो खुद बस सावित्री ही तो थी।
उत्कृष्ट परिच्छद को पहने, अपनी
एक ओज ऊपर से उतर रहा हो,

को असीमता से कि लपेट लिया हो
औ' सावित्री रूपांतरित हो उठी।

धारण इक प्रतीक का रूप कर लिया;
'उसके' दिव्य स्पर्श से सिहर उठे थे,
यथा ढक अमर पक्षों ने कि लिया हो।
कि 'सत्य' की इक वक्र रेख झलकी हो,
भा-मंडल किरीट के सम शोभित हो,
शीर्ष-कमल में यथा प्रवेश था किया,
सुधाम में अपना अवतरण ले लिया।
उसके सब कार्यों की कर्त्री धर्त्री
औ' वह उसकी बाधा की उद्गम थी,
वह शान्ता, वह अचला और अबाध्या
सावित्री के ऊपर सुप्रतिष्ठित थी।

सत्ता का सब कुछ संयुक्त हो गया,
का अंतिमांश भी था निहत हो गया,

विशाल सुनियंत्रण को अपने लेकर,
स्वर्ग के गगन का इक मुकुर बनाकर,
महान् बल से अब आपूर किया था।
भेदनहारी भीति समाप्त हो गई:

उसका सकल शोक अब कूच कर गया
औ' उसका मन निश्चल था, सुशान्त था,
उसका अंतर एक भव्य बल को ले
सहज भाव से अपने धड़क रहा था।
अब अंतर के तारों के खिंचाव से
स्वतंत्रता का अनुभव उसे हुआ था,
औ' उसके सब कर्म दिव्यता की ही
इक सुस्थिरता से अब निकल रहे थे।
बड़े धैर्य और शान्ति से अब उसने
वन्य भूमि के ऊपर सत्यवान् के
शव को, जो अबतक उसके सुवक्ष से
चिपका था उसको नीचे सुला दिया,
औ' उस पृथकत्व को सधैर्य सह लिया:
औ' एकाकी ही उस दारुण, भीषण
परम देव के सम्मुख अब खड़ी हुई।
सशक्ततर उस देवी ने अब अपनी
प्रभुताभरी दृष्टि को इस जीवन औ'
इन द्रव्यों के ऊपर था घुमा दिया,
इक महत् कार्य की उत्तराधिकारी,
जिसपर उसके लँगड़ाते अतीत का
अपूर्ण कार्य छोड़ तब दिया था गया,—
जब कि अभी उसका मन इक आवेशी
शिक्षार्थी ही था, प्रयत्न में रत था
अन्य उपकरण भी जब सब अनगढ़ थे,
एक अमार्जित ढँग से संचालित थे।
पर अब हीन मनुज-शासन की सीमा
का हो अतिक्रमण ही आज चुका था,
तथा वहां अब इक शाही सुशक्ति थी
और एक देवोपम सुसंकल्प था।
फिर भी इक क्षण वह निश्चल रुकी रही,
औ' चरणों के निकट भूमिशायी उस
शव पर उसकी दृष्टि निहुर, झुकी रही,
बस फिर झंझा से मुक्त बने तरु-सम
उसने अपना उदात्त शीश उठाया;
औ' फिर अपनी चितवन के समीप ही
एक अपार्थिव काले भव्य देव को
जो सत्ता का असीम इक नकार था
उसको सम्मुख खड़ा हुआ अब पाया,
जो साक्षात् भयंकरता, विस्मयता
को ही ओढ़े जैसे खड़ा हुआ था।
तममय 'आकार', बस भयावह आंखों
में अपनी विनाशकर्ता देवों की
गहन दया औ' करुणा को धारे था।
विषण्ण इक विडम्बना ने बस उसके
ओष्ठों के वक्र चाप को खींचा था
जिनसे अनिष्ट भावी की कि कुवाचा
भणित और उच्चरित हुआ करती है।
औ' साकार 'सनातन निशि' वह अपने
अमरानन की कठोर सुन्दरता से
दया दृष्टि फेंकती यथा प्रकट हुई,
औ' जीवनधारी सकल वस्तुओं को
एक सनातनता से, निज अपार औ'
अगाध अंतर में बस धरे-समेटे
जीवों की पीड़ा औ' जगत्-वेदना
की एकमात्र आश्रय-सी खड़ी हुई।
उसका **स्वरूप क्या था,** मानो कोई
असत् को बना सत् ही दिया गया था,
और अंग, भंगुरता के स्मारक थे,
कभी न थकनेवाली एक शांतिमय

भौंहों के नीचे विशाल देवोपम
पलकें जीवन रूपी महा सर्प की ऐंठन को चुपचाप विलोक रही थीं।
जो विस्तृत कालातीता चितवन से
अचल बनी इन निष्फल युग-चक्रों को अविरत चले जा रहे देख चुकी थीं,
जो अनगिन तारों की आयु-अवधि को भी उलांघ कर जीवित बची हुई थीं,
औ' अविकृत गोलकों को अभी भी जो अभिरक्षण प्रदान करती रहती थीं।
इस प्रकार उस नारी औ' उस वैश्विक
परम देव ने, अब आमने-सामने एक दूसरे को आंखों से घूरा :
उसके चारों दिक् घिर-घिरकर जैसे अब अगणित अमानुषी एकाकीपन
अपनी असह्य रीती वीरानी को उसकी महान् औ' निसंग आत्मा पर
ढेर लगाते हुए चले आते थे।

रीती शाश्वतताओं ने आशा को
इनकारते हुए, बस सावित्री पर इक विशाल निर्जीव दृष्टि थी डाली,
औ' उसके कानों में पड़नेवाली
सब पार्थिव ध्वनियों को मौन बनाती शोकपूर्ण दुर्धर्ष गिरा इक प्रकटी,
कि समग्र विरोधी जग की बाधा हो।
वह चिल्लाई "इसे छोड़ दे! हट जा! इस मोहान्ध प्रेम का प्रभाव तज दे!
अरी 'प्रकृति'-अनुचरी, और इक अविकृत 'विधान' की विकारशील उपकरण री!
क्यों व्यर्थ में जुए के नीचे मेरे विद्रोही बनकर तू जूझ है रही!
इस पंचभूत का अब मोह छोड़ दे, रो-धो ले कुछ क्षण, फिर इसे भुला दे!
औ' प्रेमावेश को कि अपने जीवित कब्र में सदा के हित बस दफ़ना दे!
आत्मा द्वारा तजे हुए चीवर को
जिसको तूने कि कभी प्रेम किया है उसे छोड़ दे, औ' अब उसे बिसर जा!
औ' निज निष्फल-से पार्थिव जीवन में फिर तू आज अकेली अरी लौट जा!"
बन्द हो गई तब वह वाणी, फिर भी सावित्री तो नहीं हिली औ' डोली,
औ' तब वह वाचा ज्यों फिर से बोली,
अपनी उच्च लय को मानव-तारों के सँग मंद तथा नत करती उतरी,—
फिर भी यह भीषण क्रंदन था, जो उन भणित स्वरों के पीछे से आया था,
सकल शोक औ' अमर्त्य एक घृणा को प्रतिध्वनित करता, यों आहें भरता,—
दूर भटकती लहरों की कि क्षुधा हो।
"क्या तू सदा-सदा को मोह-जकड़ यह अपनी इसी भांति क़ायम रक्खेगी?
री, तू भी तो ऐसा ही प्राणी है,
जो कि समय आने पर इसी तरह बस एक दिवस मृत्यु का शिकार बनेगी,
फिर इसकी आत्मा को मृत्यु, शांति औ' नीरव विराम से क्यों वंचित करती?
अपनी जकड़-पकड़ को अब ढीला कर, यह शरीर पृथ्वी का औ' तेरा है,

पर उसकी आत्मा पर तो सुमहत्तर एक शक्ति का अधिकार हो चुका है।
वत्से! तेरा पति घोर कष्ट में है।"
सावित्री ने उस अंतरावेग को
खींच लिया था एकबारगी पीछे,– जो अब भी मृत शरीर को पकड़े था–
जो उसकी गोद से पृथक् होकर भी मसृण शस्य पर विश्राम कर रहा था,
जैसे पहले भी वह प्रायः अपनी निद्रा में विश्राम-मग्न रहता था,
जब कि तल्प से अपनी बस सावित्री शुभ्र उषोदय में चुपके उठ जाती,
क्योंकि उसे उसके दैनिक कार्यों की जिम्मेदारी थी इक टेर लगाती:
यों ही आज यहां भी आवाहित-सी बनी हुई वह बस उठकर खड़ी हुई,
ज्यों धावन-प्रतियोगी निज धावन हित सज्ज बना निज कंचुक को कि फेंक कर
अचल क्षिप्रता में एक खड़ा होकर
अपने सिगनल की है बाट जोहता।

यों ही सावित्री भी खड़ी हो गई, पर पथ का तो उसको पता नहीं था:
उसकी सूक्ष्म देह के गुह्य शिखर पर उसकी चित् सत्ता शोभायमान थी,
जैसे कि गिरि-शिखा के ऊपर कोई प्रहरी एक कोट बस दिया गया हो,
अग्निवर्णी महिमा ओजस्-मंत्री,–
इस ज्वलंत निःस्तब्धता ने, सावित्री की नीरव आत्मा के संग सब निरखा,
जैसे इक निवर्ति सिंधु के ऊपर कोई पोत शांत औ' अडिग हो खड़ा।
अचल-अकंप औ' रागावेगहीन वह एक लंगरित शक्ति-सम अचल रही
बाट जोहती कि आज शाश्वत सत्ता
से कौन-से महा आवेग की लहर सुदूर गिरि-माला-सम शीश उठाए,
किधर छहरकर औ' फिर उमगा जाए?

और तभी वह 'महाकाल' अधिराजा इक विशालता से नीचे यों निहुरा,
यथा थके-मांदे प्रदोष के ऊपर गोधूली वेला के झुक जाते ही
और सुदूर क्षितिज की दीवारों पर मंदाती किरणों के मर जाते ही
बस रजनी घेर घुमड़ आ जाती है,–
जब कि अभी तक प्रदोष पड़ी न अपनी शशि-रहस्यमयता से उग पाती है।
बस वह धूसर, भीषण देव जो अभी
कुछ क्षण पहले भू पर झुका हुआ था अब वह सीधा तनकर खड़ा हो गया,
तथा एक सपने में से जग उठने- वाले एक दूसरे सपने के सम
मृत माटी के दीन-हीन तन को तज
अपने, एक दूसरा ही ज्योतिर्मय सत्यवान् था उठकर खड़ा हो गया,
शायी मिट्टी से उठ खड़ा हुआ यों
जैसे अदृष्ट लोकों के सुछोर पर
होकर उदित किसी ने सुदूर सीमा में आकर अपना चरण धर दिया हो।

इस वार्षिक दिन की वेला में ही जब मौन चमत्कार एक उदित हुआ था,
जो उस 'काल-देव' औ' नश्वर नारी के बीच में कि आकर खड़ा हुआ था।
वह ऐसा लगता था मानो बिछुड़ा
कोई साथी ही दैवत प्रकाश से मंडित होकर बस आ खड़ा हुआ हो,
जो कि मर्त्य वातावरण के लिए तो एक अपरिचित श्री से ही सज्जित हो।
पर मन तो परिचित और चिर अभिलषित चिह्नों को ज्यों अब भी ढूंढ़ रहा था,
और अपरिचित रंगों को लख मानो हताश होकर लाचार हो गया था,
उस सुमधुर दीप्त आकार से उसके असंतुष्ट-सा औ' अतृप्त-सा रहकर
उसके सुप्रदीप्त दिव्य इंगितों में विश्वास जमाने में असफल बनकर,
उसको देख तो रहा था, पर जैसे चाह और ही कुछ उससे कि रहा था।
इस जीवन की पकड़-जकड़ की खातिर यह इक दीप्त प्रतीति अजनबी ही थी,
जो कि धरा की ऊष्ण सर्जनाओं की, ही बस अभिलाषा करती रहती थी,—
जो भौतिक सूत्रों में घुली-मिली हों,
दोषों हित उस महिमाशाली छाया का सब दर्शन, स्पर्शन व्यर्थ बन गया:
इतना होने पर भी उसकी आत्मा आत्मा को फिर भी पहचान रही थी,
औ' अंतर ने अपने उसी पुराने प्यारे अंतर का भान पा लिया था,
मानो अब वह बिलकुल बदल गया था।
वह इन दो राज्यों के बीच खड़ा था और तनिक भी हिल-डुल नहीं रहा था,
अपितु एक मौन और प्रबल प्रतीक्षा में वह अचकचाया-सा खड़ा हुआ था,
जो कि अंध के सदृश अक्रिय बनकर अब आशा की एक बाट जोह रहा था।
इस प्रकार से तीनों धरा-क्षेत्र पर अचकचाए-से जैसे खड़े हुए थे,
वे इस पृथ्वी की शक्तियां नहीं थे, उनमें केवल एक मनुज देही था।
सत्यवान् की काया के दोनों दिशि दो आत्माएं अविरत प्रयत्नरत थीं,
नीरवता संग नीरवता, विराटता के संग विराटता संघर्षरता थी,
पर अब उन सबके भीतर ज्यों 'पथ' पर बढ़ने की इक अनुभूति जग चुकी थी,—
कि उन्हें चलकर बस उस 'नीरवता' से— जो तारकमाला को साधे रहती,
आगे बढ़, इस दृश्यमान जगती की अंतिम सीमा को अब छूना होगा।
बस वह ज्योतित आकार लगा चलने जिसके पीछे वह 'काल' भी चल पड़ा,
जो बस अपने रवविहीन चरणों से धीरे-धीरे करके कि था बढ़ रहा,
जैसे स्वप्न विनिर्मित क्षेत्र में कभी
दिखलाई पड़ता छाया—गोपालक भटकी गौ के पीछे हो कि बढ़ रहा,
जो स्व-मूक गो-दल से बिछुड़ गई हो;
औ' उस शाश्वत 'यम' के पीछे-पीछे सावित्री भी थी चुप चली आ रही,
जो निज मनुज-डगों से अरे बराबर देव-डगों का भी अनुसरण कर रही।
चुप रहकर बस वह भी अपने प्रिय के चापों को अनुसरती चली आ रही,

और परालोक की भयानक भीषण नीरवताओं बीच बराबर बढ़ती
उसके चरण जहां पड़ते थे, उस थल स्व-मर्त्य चरणों को भी थी जमा रही।

और यहां पहले-पहले सावित्री
वन के इक अंधे दबाव के भीतर
अब विचित्र उन अमानुषी चापों संग वन्य भूमि पर चली और विचरी थी,
ऐसे चली जा रही थी वह मानो किसी अदृष्ट मार्ग पर कि चल रही हो।
इस फैली हरीतिमा के ऊपर औ' इस विचित्र आकारी भू के ऊपर,
कानन के इस चल पट ने चहुँदिशि से उसके चापों को बस घेर लिया था।
उसकी सघन भव्य डालों की बाधा उसकी काया को चहुँमुख घेरे थी,
और उसे मृदु गोचर फुसफुसान के भव्य देश में ठेल लिए जाती थी,
औ' पातों की मधुरस्वनी सुन्दरता
एक मरकती चोगे के सर-सर सम उसके चहुँमुख आकर लहराई थी।
पर फिर धीरे-धीरे करके यह सब बनकर सुदूरस्थ इक नाद रह गया,
और पुरानी अभिन्न काया उसकी उसको अब एक बोझ-सम लगती थी,
जिसको उसकी सत्ता इक सुदूरता से ही अब जैसे ढोए चलती थी।
वह अब अपने-आप तो किसी ऊंचे और दूर क्षेत्र में श्वास भरती थी,
जहां कि निज प्रिय के मात्र अनुसरण के
समाधिबद्ध एक अंतर दर्शन में वह एकदम मुग्ध थी औ' निमग्न थी,
और समुन्नत आकाशहीन सपने की एकल सन्निधियों में रमती थी,
जहां सत्यवान् की सुज्योतित आत्मा धीरे-धीरे बढ़ी चली जाती थी,
और महाछाया वह धूसरता से पीछे-पीछे बढ़ी चली आती थी।
फिर भी उसके करणों को लगता था,—
जैसे चाह भरे हाथों की कोई स्नेहभरी भीड़भाड़ बस घेरे हो,
उन्हीं पुरानी इच्छाओं के द्वारा विनम्रता से बने वे निवेदित थे,
अब भी वे पृथिवी की एक निकटता और वायु-कोमलता अनुभव करते,—
ऐसे, जैसे वह उनसे लिपटी हो,
औ' जब क्षुब्ध बनी डालें हिलती थीं तब उनको एक भास यह होता था
जैसे मन्थरगामी पवन के कहीं कि अनिश्चित चाप सुनाई पड़ते हों:
मन्द सुगन्ध का उसे अनुभव होता औ' सुदूर आह्वान सुनाई पड़ता,
वन-विहगों का कूजन सुन पड़ता था उनकी पर-फड़फड़ान भी आती थी,
पर वह सब इक भूले किसी लोक की उसांस की ही भांति दीख पड़ती थी।
अब पृथ्वी उससे दूर छूट गई थी यद्यपि वह उसके निकट ही बनी थी,
औ' सावित्री के चारों दिक् उसने अपनी सुमधुरता को बीन दिया था,
अपनी सुमहत्ता को औ' आनंद को उसपर स्नेह सहित बस तान दिया था,

उसके उन अति प्रिय जीवंत रंगों की
रवि-प्रकाश का धीरे-धीरे करके
औ' उसके नीले गगनों की आभा

आदि 'मातु' पृथ्वी ने अपने प्यारे
अपने दयालु औ' परिचित द्रव्यों के
पर अब तो लगता था उसके तन की
उसकी अनन्त-सम चाल-ढाल वाले
उन दो आत्माओं को उनके रुचिकर
औ' इक सीमा की अस्पर्श्य बाड़ के

एक दूसरे ही आकाशों में जा
औ' आत्मा वह जिसे प्यार करती थी
वह भी उसके जीवन के सँग अपनी
वे इक भीषण विशाल, निर्वात तथा
अचल, अशब्द अपरिचित गहन वायु में
इक विशाल धुंधली दूरी में भू के

बस त्यों ही उसकी उग्र ज्वलंतात्मा
चौंककर शरीर-पींजरे से उड़कर
ज्यों शावक-कल्लोलित ऊर्ध्व नीड़ में
चढ़े आ रहे साक्षात् काल के विमुख,

रौद्र रूप धारे एक गरुड़ मादा,
स्वर्णिम ज्वाल-पुंज के समान उड़ती
तथा गगन-मंडित विशाल एकाकी
यों आत्मा की जाज्वल्यमान भभकन
विभक्तकरी इन्द्रियों की सीमाओं
अब उसके सारे ही नश्वर अवयव
धुंधले और बहिष्कृत आवरणों सम
गुह्य देह की निद्रा में बस क्षण भर

न विचार, काल और न कहीं मृत्यु की
आत्मा से भी बनी अब अपरिचित थी,

सुचारु चमक-दमक उसको घेरे थी,—
दिन की दुपहरिया तक बढ़ते आना,
तथा भूमि का उसको दुलार करना,
यह सब चारों दिशि से बस घेरे था।
शिशु को अपना सब उत्सर्ग किया था,
सीधे-सादे जगको भेंट किया था।
सारी ऐन्द्रिय जकड़-पकड़ ने जैसे
दैवी स्वभाव की रोकथाम करके
पथ पर चलने को अब मुक्त किया था,
अपर पार जाने को छोड़ दिया था,
फिर वह मूक देव अतिशक्त बन गया
अब उससे वह जैसे दूर हो गया,

छन्दित सुनिकटता को छोड़ चुकी थी।

जाकर जैसे अब मुक्ति पा गए थे,
ऊष्ण नियंत्रण से हट चले गए थे,
सावित्री से भी दूर हो गए थे।
लगा कि अब अदृष्ट ही हो जाएंगे।

छटक सत्यवान् के निकट आ पहुँची
एक भयानक भय से आक्रामित बन,
छलिया तीर-नोक पर महा कुपित बन
भय से औ' दैवी कोप से भभक कर
निज शक्ति-वेग औ' गुरु क्रन्दन से भर
हहर नीड़ से अपने चल देती है,
नग्न शिलाओं बीच कूद पड़ती है,—
से उत्साहित हो सावित्री अपनी
को थी जैसे इकदम पार कर गई।
उसकी आत्मा को जैसे कि छोड़कर
शिथिलाकर नीचे आज गिर गए थे।
उसकी समाधि ने सब कुछ भुला दिया,
सूर्य, धरा, जगती, सबको गुमा दिया,
अब कोई अनुभूति उसे होती थी;
औ' सावित्री भी अब कहीं नहीं थी।

बस संकल्प का एक उग्र सिंधु ही
जहां इक बृहत् दुलार का बन्दी बन
उसका ध्येय और उसका वह आनंद,
वह उसका राजा उसकी सत्ता के
उसके भीतर बन्द बना वह अविरत
सावित्री के सँग वह तदाकार था

प्यारा प्राण सहेजा और सँवारा
महा कोश सम, बस आकाश-भ्रंश से
सावित्री सत्यवान् के चहुंदिशि अब
सावित्री की आत्मा उसकी आत्मा

यथा 'प्रेम' का, आज अमर औ' दुर्लभ
शाश्वतता की अरे शुभ्र सीपी में
अब निमग्नकारी समाधि-सागर से
उठकर स्नात बना-सा इक मन जैसे
अंतर्दृष्टि-रँगों में लहराता सा
और 'काल' के प्रति अब जाग्रत् होकर
इन देखी औ' जानी सीमाओं पर

सावित्री के आत्मिक परिदर्शन में
एक काल्पनिक आकृति के समान बस
इक सपने के अंश अंश से होकर
और अन्य सह-स्वप्नालुओं को तथा
अन्यों से भी वह उनकी एकाकी
अब अग्राह्य तथा अवास्तविक जैसे,
फिर भी वही पुराने औ' परिचित-से
ऐसे दृस्य वहां प्रायः सावित्री

औ' ज्यों भूले-बिसरे ध्येयों के प्रति
वे उन नीरवताओं के यात्री थे
औ' यात्रारत थे उस नव जगती में

इनके चहुमुख एक विचित्र देश था
ऊपर बड़े अलौकिक सुदूर नभ थे

उमड़ता हुआ दिखलाई पड़ता था,
परम एकता में औ' एकायित बन
आदि मूल बस सत्यवान् बसता था।
अंतर में बस बन्दी बना हुआ था,
इक छन्दित अंतर-सम धड़क रहा था,
फिर भी अपनी एक अलग सत्ता था,
जहां एक संपुटित और आलिंगित,

धरा गया था करके यथा सुरक्षित।
उमड़ी नामहीनता, अनन्तता से,
में परिपूर उठी इक विशालता से,
बनी समृद्ध एक 'सर्वकालता' से,
क्षण अब यहां प्राप्त कर लिया गया था
वह मुक्ता अब उपलब्ध हो गया था।

पार्थिव प्रकाश के सम्मुख खड़ा हुआ,
द्रव्यों के फिर रूपदान करने को
एक बार अब फिर से जी लेने को
आकर नई विधा से ज्यों प्रकट हुआ।
तीनों अविरत बढ़े चले जाते थे।
लगता था वह चलती चली जा रही,
लगता था वह अविरत बढ़ी जा रही,
अपनी भांति चले जाते लखती थी,
निद्रा में चलती देखी जाती थी।

यथा काल्पनिक स्मृति की कि गुफाएं हों,
के सम्मुख नाचते चले जाते थे,
पर क्षण भर भी टिकते कहीं नहीं थे,
लापरवाही से भागे जाते थे।

जहां न आत्माओं का कहीं पता था,
केवल जीवंत मनःस्थितियां ही थीं।
वह इकदम मौन और मायावी था,

यह ऐसा संदेही एक व्योम था जहां सभी पदार्थ समाते-से थे,
जो कि अपरिवर्ती विचार को अपने अनुसर, अपने में ही बस जीते थे,
और वहां तृण-दल भी मायावी थे, वृक्षरहित भूतल भी मायावी थे,
मायावी मार्ग एक दौड़ रहा था, दौड़ उसी भय की ओर जा रहा था
जिससे वह अति ही भयभीत बना था,
जो काली उन्नत औ' स्तम्भीकृत उन सजग शिलाओं के बीच से गुज़र कर
उन ध्यानस्थ महाद्वारों से होकर,
जिनके पाषाण-विचारों ने अपने
बृहत् बोध को तो उस पार ही कहीं दानवी निशा में इक गुमा दिया था।
जो कि अचेतन की शिल्पीय नींद की एक पहेली के सम खड़े हुए थे,
औ' जो उस प्राचीन घोरतम तम की समीपता के प्रतीक ही लगते थे,
और अचित् के महाराज्य के तो वे एक दानवी स्मारक के समान थे,
घोर गहनता प्रति यों खुले हुए थे ज्यों मूक भयद जबड़े खुले हुए हों,
जो भूतोपविष्ट पथ पर इक भटके यात्री की ताक में लगे रहते हों,—
जो इक घातक रहस्यमयता से खिच आकर वहां उपस्थित अरे हुआ हो;
वे निष्ठुर औ' शान्त बने सावित्री के पथ के ऊपर बस निरख रहे थे,
गूंगे 'अनिवार्यता'-संतरी के सम वे इक तत्परता से खड़े हुए थे,
सचेत अंत:कुपित इक अंधेरे के सुमौन शीर्षों-सम जो उठे हुए थे
अस्पष्ट और भीषण एक जगत् के आनन के थूथुन-सम जो शिल्पित थे।
तब वे हिमवत् जड़, शुष्क और भारी इक ऐसी रेखा पर आ पहुंचे थे,
जहां कि उनके चरण एक छायावी सीमाप्रदेश की किनार छूते थे,
मुड़ते हुए स्तब्धवत् और सुज्योतित
सत्यवान् ने घूम महाश्चर्य भरे निज नेत्रों से सावित्री को देखा।
पर इतने में महाकराल 'मृत्यु' निज घोर घोष कर गरजा औ' चिल्लाया,—
"अरी नश्वरी प्राणी! तू अपनी उस नश्वर जाति बीच चुपचाप लौट जा;
औ' यम के चरणों के संग-संग उसके स्व-धाम तक जाने का साहस मत कर,
जहां 'काल' को भी मरना पड़ता है रह सकती है तू क्या वहां बन अमर?
अपने इस मंत्र-जात मोह को तू री आया हुआ स्वर्ग का बल न समझ ले,
यह पृथ्वी के तल से अरे उठाकर तेरी आत्मा को उन्नत न करेगा,
औ' भौतिक पिंजरे को तोड़ फोड़कर
यह तेरे स्वप्निल चरणों को लाकर निस्तल 'शून्य' में नहीं खड़ा करेगा,
औ' इस मार्गविहीना अनन्तता में होकर तुझको साथे न रख सकेगा।
अपनी मानव-सीमा के भीतर ही मानव यहां सुरक्षित रह सकता है।
इन अवास्तविक अरे 'काल'-अधिपतियों में तू न कभी विश्वास कर भूलकर,
अपनी इस काया को अमर समझकर

जिसको कि उन्होंने बस एक स्वप्न की तिरती हुई भूमि पर ही सिरजा है,
इस पर न अमरता का अरे गर्व कर।
तू उस महा भैरवी पर अब अपनी आत्मा के संचालन को न सौंप दे!
जो उन लोकों में, कि जहां अनाथ इक विचारवत् तू विनष्ट हो सकती है,
वहीं, कि वह तव आवेगी अतिक्रमण को छोड़कर अकेला स्वतंत्र कर दे!
जीवन में निज आशाओं के जड़वत् इन सीमा-पत्थरों को समझ ले री!
और भावना के उधार के बल से अरी व्यर्थ में शस्त्र सुसज्जित होकर
मानव सीमा औ' उसके सीमित बल को उलांघ जाने का साहस मत कर।
अज्ञानी औ' सदा डगमगाऊ वह, नन्हीं सीमाओं भीतर मर्यादित,
जग के नकली राजा के सम निज को करके रखता है जो कि मुकुट-मंडित,
'मन' के द्वारा किए हुए कार्यों से करता है और 'प्रकृति' को भी पीड़ित।
ओ निद्रालु! दिव्यता को सपनाती! निपट उदासीना नीरवताओं में,
जिनमें तेरी सत्ता के इने-गिने दुर्बल ये सूत्र नष्ट हो जाएँगे,
अरी वहां तो भय से कंपित होकर तुझे आज जग जाना तुरत चाहिए।
औ' अस्थायी क्षणभंगुर प्राणी-सम फ़क़त 'काल' के शोकाविष्ट फेन-सम,
तेरे भंगुर मानव-प्रेम अरे ये, शाश्वत देवों को बाधित न बनाते।"
भीषण वाचा अब उस सहमतिदात्री चुप्पी में धीमी पड़ डूब थी गई,
पर वह चुप्पी इस प्रकार छाई थी मानो 'निशि' के जबड़ों से उठी हुई
इक अति विशाल और गहन-गंभीरा निःशब्दा अनुमति ही हो घिर आई।
फिर भी वह 'नारी' तो मौन ही रही
उसकी उन्नत और नग्न आत्मा अब मर्त्यावरण फेंक सम्मुख खड़ी हुई,
तथा अटल भावी औ' जग-विधान के
सम्मुख अपने केवल सुसंकल्प औ' आदिम बल को लेकर थी प्रकट हुई।
स्व-पीठिका पर अचल मूर्तिवत् सुस्थित
उस नीरवता बीच निपट एकाकी औ' उस विशालता के प्रति उन्मेषित,
अर्द्धरात्रि में गूंगी निस्तलताएं, जिसके सम्मुख लगी हुई थीं पुंजित,
वह सावित्री, ज्वाला औ' प्रकाश के स्तम्भीकृत शर-सी उठ कर खड़ी हुई।

पर्व ९, सर्ग २

सनातन निशि की यात्रा और अंधकारकी वाणी

क्षण भर को उस महारात्रि की हिमवत् भीषण किनार पर तीनों खड़े हुए,
यथा प्रलय-अभिशप्त बनी इक जगती
शाश्वत नीरवता के तट के ऊपर एक प्रतीक्षा में ही खड़ी हुई हो।
उनके ऊपर नभ यों झुका हुआ था
ज्यों धुंधली अशब्द चुप्पी के भीतर मेघाच्छन्न भर्त्सना-भृकुटि तनी हो।
यथा निराशाग्रस्त इक किनारे पर विचार मूक, स्तम्भवत् बन रह जाएँ,
जहां कि अंतिम गहराइयां भी अरे महा असत् में डूबकर समा जाएँ,
औ' अंतिम सपनों को भी जाकर बस जहां कि समाप्त होना ही पड़ जाए,
यों ही वे सब आकर वहां रुक गए;
छायामय पंखों की भांति सामने उनके अंधकार अब घिरे हुए थे,
औ' उनके पीछे फैली वह धुंधली
निर्जीव सांझ जैसे मृत मानव की चितवन के सम खुली हुई लगती थी।
और क्षुधातुर परालोक, वह रजनी, सावित्री की आत्मा की ग्राहक थी।
पर निज उन्नत देवालयी शक्ति के एकाकी अंतर-कोने में अब भी
अटल, अचल उसकी ज्वालदीप्त आत्मा थिर औ' अकंप चुपचाप जल रही थी,
जैसे कक्ष-गवाक्षों के भीतर से दीपक की ज्वाला छिटकी पड़ती हो,
और जो भयद काले अंधकार के अंतर को चुपचाप विभेद रही हो।
उस 'नारी' ने ही शाश्वत 'निशि' में हो
यात्रा करने का इक साहस करके बस 'पाताल' की प्रथम अवहेला की।
औ' फिर उसने प्रकाश से कवचित बन
उस अति भीषण वर्णविहीन शून्य में कि कूद पड़ने को पग बढ़ा दिया था।
एक अभय औ' अक्षय साहस के संग
उसकी आत्मा ने अब निर्दय, अंधे ऊसर-जोखिम का सामना किया था।
और निशा की मसिलिप्तता से घिरे
उसके मनुज-चाप के ऊपर जैसे अपनी रहस्यमय गतिविधि को गढ़ते
उस थल वे कुछ हिले और कुछ डोले,—
यह इक तिरती गति औ' हिंडोलन था, मानो निरुद्देश्य एक संचरण था,
यथा पिहित पलकों के सम्मुख अपनी, चलते आकार दिखाई पड़ते हों:
जैसे इक सपने में वे सरते हों, चले फिसलते से या कि जा रहे हों।

अब तो शिलाद्वार की स्थूल भित्तियां बस उनसे पीछे ही छूट गई थीं,
खिसकते हुए काल-पथों में होकर
ये वर्तमान और भूत दोनों जा इक 'कालातीत' बीच डूब गए थे;
औ' इक धुंधले साहस की किनार पर
यथा निरोधित बनकर वहां भविष्यत् डूब शून्य में निज अंत पा गया था।
औ' ध्वस्त हो रहे आकारों में वे सब उस तम में चक्कर काट रहे थे।
एक तमोमय जग की लुप्त हो रही ड्योढ़ी ने अब उनका किया सुस्वागत
लगते थे वे वहां चल मूर्तियोंवत् फिर भी लगते थे वे खड़े अचलवत्,
नहीं कहीं उनके चरण बढ़ रहे थे फिर भी वे चलते जैसे लगते थे,
यह इक गूंगा जुलूस था जो धुंधले एक चित्र का परिसीमन करता था,
सचेत आकार, दृश्य से इक सच्चे यथा गुजरते हैं, वे तथा नहीं थे।
भय-असीमता की रहस्यमयता ने– उसी विशाल निर्दयी महा शून्य ने
अरे क्षुधातुर अपने सारे बल को एकत्रित करके बस धीरे-धीरे,
अपनी अगाध, अतल गहनता द्वारा उसको चारों दिशि से घेर लिया था,
औ' इक विकटाकारी, गुहानुरूपी
एक विरूप पिशाच-कंठ ने खुलकर
उसको अपने तममय औ' गलग्रही एक पुंज में जैसे निगल लिया था,
यह एक स्वप्न के भीतर होती बस घोर औ' भयंकर आत्मिक पीड़ा थी।
औ' वह अंधकार इक अभेद्य भय के
पट-सम सावित्री के बोध-पींजरे के चारों दिशि लटका था अब ऐसे,–
निशि के बढ़ते साम्राज्य बीच जैसे
सुन्दर वृक्ष अवलियां लिपी-पुती-सी छाया में जब परिवर्तित हो जातीं,
औ' अंतिम प्रकाश की टिमटिमान भी है जब कि अंत को अपने पा जाती,
तब एक शिकारी द्वारा कानन में
बँधे हुए भयभीत वृषभ के ऊपर जो काली रजनी है घिरती आती,
वह कोरा तमपात भर नहीं होती।
औ' विचार जो जग में रढ़ता रहता नष्ट-भ्रष्ट कर वह सब दिया गया था,
जीने तथा जानने और समझने के प्रयत्न को उसने छोड़ दिया था,
आखिर उसको विश्वास हो गया था कि कभी भी उसका अस्तित्व नहीं था,
उसका किया कार्य रूपी सब सपना भी जैसे इकदम लोप हो गया था :
घनीभूत एक शून्य ही बस उसका काला परिणाम शेष यहां बचा था।
इस विशाल 'शून्य' के अरे गलग्रही इक भीषण दबाव के भीतर दबकर
मन से सारा चिन्तन छूट गया था,
और श्वास का चलना बन्द हुआ था,
आत्मा को अपनी स्मृति बिसर गयी थी और भूल अनुभव भी सभी गया था,

यह तो बस इक बंजर रीतेपन का एक खोखला खात दीख पड़ता था,
वह समष्टि जिसको यह ढके हुए था, उसका विस्मृतिशाली एक बिन्दु था,
'सर्जक' के आनँद की अस्वीकृति था,

जिस आनँद को विशाल सुविश्रान्ति के
और गहन-गंभीर शान्ति के द्वारा नहीं बचाया उस ठौर पर गया था।
औ' शाश्वत इनकार का 'नकार' ही गिरा था यहां आकर उस सब कुछ पर,–
जो 'सच' होने का दावा करता है,
जो 'प्रभु' होने का दावा करता है,
गिरा यहां था एक सचित् आत्मा पर और एक उन्मेषी आदि 'शब्द' पर,
औ' 'मानस' के उस सर्जक आनँद पर, और 'प्रेम' पर औ' उस 'पराज्ञान' पर,
औ' अंतर के गोपित महा हर्ष पर।

अंधकार में ज्यों स्वर्णिम दीपक-लौ
सुदूरनीत बनी इच्छा-नेत्रों से कि हमारे विलुप्त होती है दिखती,
वैसे ही सावित्री भी उन धूमिल छायाओं में थी अब लुप्त हो गई।
बस कोई उपाय अब रह न गया था और न कोई पथ ही दिख पड़ता था,
और न अंत तथा लक्ष्य ही बचा था:
उन निर्जीव खाड़ियों के भीतर वह दृष्टिहीन-सी बस इत-उत फिरती थी,
या वह किसी बड़े महान् औ' काले अनजाने ऊसर में भटक रही थी,
या 'दैवयोग' के दानवी करों के
द्वारा एकत्रित दुर्दम पवनों के संगम-थल पर उठती मूक भँवर में
वह चक्कर खाती-सी घूम रही थी।
और उस भयानक 'विराट्' में उसके पास न कोई साथी या संगी था:
अब तो वह उस धूमिल घोर देव को भी निज नेत्रों से न देख पाती थी,
उसकी आंखों ने अपने उस ज्योतित सत्यवान् को भी अब गुमा दिया था।
फिर भी इस कारण से उसकी आत्मा न कहीं बनी हताश, न मन्द पड़ी थी,
पर उसने निज प्यारे धन को ऐसी गभीरतर गहराई से जकड़ा था
जिससे सीमित बोध न धर पाते हैं,–
वे तो अपने प्रिय पदार्थ को केवल इक बाहरी रूप से ही गहते हैं,
पाते, उसे गुमा देने को ही हैं।
इसी तरह पृथ्वी पर भी वे दोनों जब निवास करते थे, तो सावित्री
वन-पंथों पर भ्रमते सत्यवान् को अपने भीतर ही अनुभव करती थी,
वे पथ उसका अंतर्दृश्य बने थे
और कन्दराएँ उनकी, बस उसकी सत्ता की छायादार बीथियां थीं
जो अपने भेदों को सत्यवान् की हर्ष-खोज के प्रति खोले रहती थीं,
क्योंकि सतत सावित्री के उस प्रेमी

अंतर की ईर्ष्यालु मधुरता अपने
प्रेमावेग में पगे सत्यवान् के
चरणों का मूक अनुसरण करती थी,
उसके प्यारे चरण जहां भी जाएँ,
जिस पुण्यस्थल पर भी वे पड़ जाएँ
उसकी काया को वह अपनी अंतर-
आत्मा से रखना भेंट चाहती थी।
पर अब उन दोनों के बीच यहां पर
मूक एक गुरु खाई आ पहुंची थी,
पातालता की महा एकलता में
सावित्री एकाएक आ गिरी थी,
गिरती हुई यहां तक जा पहुंची थी
कि फेंक निज निजता से दूर दी गई,
और प्रेम से भी दूर जा पड़ी थी।
उसकी घड़ियां लम्बी गुज़र रही थीं,
क्योंकि आत्म-पीड़ा की तपकन से जब
हम मन्दगति 'काल' का लेखा लेते
तब वे हैं लम्बी दिखलाई पड़तीं,
इक रीते औ' खिन्नमना अवास्तविक
तम में वह इस प्रकार से थी बढ़ती
ज्यों जीवन-शव पर यात्रा करती हो,
बुझी-बुझी-सी आत्माओं की औ' बस
एक अंधता में आकर खोई हो।
वह शून्यजात एकाकी पीड़ा में
'मृत्यु'-राज्य के भीतर भी जीती थी,
और निरंतर जय को प्राप्त हुई थी,
अरे व्यर्थ में ही उसकी समर्थ वह
सत्ता पहले पीड़ित, निहत बनी थी :
पीड़ा की भारी, लम्बी नीरसता
अपनी भयाक्रांत आत्म-यंत्रणा से
शिथिलाकर, ज्यों बस मन्द पड़ गई थी।
अब पहले-पहले इस अंधकार में
उसकी वह अशम्य ज्योति जुगगाजुई
जो मद्धिम थी लेकिन थी अमराई,
मानो मृत आत्माओं में स्मृति आई
वह स्मृति जो फिर जीने को ललचाई,
मन से, प्रविश 'प्रकृति' की जन्मजात इस
महा सुप्ति में थी वह यथा घुल गई।
और रात्रि के सम्मुख अपनी भीषण
आत्मा को उघारती-सी सावित्री
भटकी हुई चन्द्र की एक किरण-सम
ही बस इधर-उधर अब घूम रही थी,
और उस किरण के सम्मुख वह तमता
इक सर्प सरिस ऐंठी हुई पड़ी थी,
जिसके फण इक रहस्यमय निज माणिक
आभा से बस देदीप्त हो रहे थे;
जिसकी वे शिथिल और कोमल पर्तें
प्रकाश को लख पीछे खसक गई थीं,
बनी कुण्डलित-सी और जा रही थीं,
औ' अपसर्पण करती सी दिखती थीं,
मानो कि वे इस प्रकाश मात्र को ही
एक घोर पीड़ा करके लेती हों,
औ' आशा के इस मंद आगमन से
अति ही आहत, पीड़ित और बनी हों।
औ' 'निशि' तो निज भारी तमोराज्य पर
यह आक्रमण हुआ ही समझ रही थी;
और सनातन 'असत्'-राज्य के ऊपर

किसी दीप्त शाश्वतता की आभा ने
इक भ्रमणक 'सत्य' की विरल मयूख से यह तो मानो उसको ललकारा था।
अपनी असहिष्णु शक्ति से इस जग में निष्ठुरता से शासन रखनेवाली,
वही सत्य है, केवल इसी तथ्य पर होकर विश्वस्त सतत रहनेवाली
उस रजनी ने उस कृश, भयद किरण की श्वास रुद्ध कर देने की चेष्टा की,
सर्व-निषेधी स्व-बृहत्ता से अवगत बस निज भीम 'असत्'-शीश को उठाया,
सब कुछ का भक्षण कर जानेवाले औ' अपने मुख को उन्नमित बनाया,
औ' अपने भीतर इक अंधकारमय 'निरपेक्ष' का मात्र इक दर्शन पाया।
फिर भी प्रकाश विजयी बना हुआ था और निरंतर बढ़ता ही जाता था,
औ' सावित्री अपनी भूली बिसरी अंतरात्मा के प्रति जाग उठी थी,
उसके अंग-अंग ने और मृत्यु के आलिंगन से इनकार कर दिया था,
पीड़ा की एक जकड़ के ऊपर भी उसकी हृदय-धड़कनें जयी बनी थीं,
उसकी आत्मा अपने परम हर्ष पर,
अपने प्यारे की आत्मा के ऊपर
जो न उसे अब दिखलाई पड़ती थी, स्वाधिकार दिखलाती अचल डटी थी।
सम्मुख के इस जग की नीरवता में

एक बार सावित्री ने फिर से ज्यों एक देव की चरण-चाप सुन पाई,
औ' उस गूंगे अंधकार के ऊपर वह सत्यवान्, उसका प्रिय प्राणेश्वर,
अब ज्योतित छाया में था उठा उभर।
तब उस जड़ औ' भीषण साम्राज्य में एक नाद बस घहरा औ' गरज उठा,
थके हुए संतारी के कानों में घोर लहर-हहरन-सम था कि सुन पड़ा,
घातक, वज्रान्तरी गर्जना करते
हुए 'काल' ने फिर इक उर-दलहाती ध्वनि से निशि में निज आदेश प्रसारा।
"यह मौन असित मेरी असीमता है, और सनातन 'निशि' का निजी धाम है
और 'असत्' की रहस्य-गोपनता है,
जो जीवन-इच्छाओं की निरर्थता को अंतर में दफ़नाए रखती है।
ओ क्षणभंगुरहृदया अबला नारी! क्या तूने निज मूल स्रोत देखा है?
तुझे ज्ञात है, यह सपना, जो तू है, वह किस प्रकार सिरजा, रचा गया है?
और यहां के सुनग्न रीतेपन की
इस कोरी सच्चाई में तू अब भी अविरत जीने की आशा करती है,
सतत प्रेम का औ' साहस करती है?"
उस 'नारी' ने दिया नहीं कुछ उत्तर। उस 'निशि' की वाचा को जो ज्ञाता थी
और 'मृत्यु'-वाचा को जो चिन्तक थी—
उसकी आत्मा ने इन दोनों को ही, उत्तर देने से इनकार कर दिया।
फिर निज आत्मा की विशालता में हो

उसने अपनी अनादि अनन्तता में बस अब एक असीम दृष्टि से घूरा,—
औ' फिर अपने जीवन के अविनश्वर उन स्रोतों को उसने सीधे देखा,
फिर निज को शाश्वत, अजन्म कर लेखा।
किन्तु 'मृत्यु' ने फिर भी अन्तहीन निज निशि से उसका घोर विरोध था किया,
औ' उस उग्र देव ने उसके नेत्रों
के ऊपर अपनी भीषण चितवन के अमर स्थैर्य को बरबस थोप था दिया:
"यद्यपि इस अजात शून्य के राज्य में भी तू आकर जीवित अभी बची है,
पर जब तक है अस्तित्व इस 'काल' का, करेगा नहीं अरे क्षमा वह तुझको,
विचार-स्रष्टा आदिम विस्फोटन को,
अचल, अटल 'विराट्' को दुख सहने औ' जीने के हित बस मजबूर बनाकर,
अधिकृत की है तूने यही विजय भर,
कि कुछ दिवस सत्यवान् के बिन जी ले!
इसके अतिरिक्त उस आदि देवी से
तेरे हृत-स्पन्दन की उस स्रष्ट्री से और भला तुझको अब क्या मिलना है?
वह केवल इस स्वप्नजात जगती औ' महा असत् को बस वर्द्धित करती है,
औ' जीवन के एक निरर्थक श्रम से
तुझको शाश्वत निद्रा में जाने से बस केवल कुछ देर रोक रखती है।
चिन्तक मृद् का भंगुर चमत्कार यह
मायाओं से शस्त्र सुसज्जित बनकर यह 'काल'-बाल रहता यहां विचरता।
औ' वह रीतापन, जिसको अनुभवता औ' जिससे अविराम वह डरा करता,
जिससे वह उपजा है औ' जिसमें ही
उसको पुनः लीन भी हो जाना है,
उसके ही भरते रहने को केवल अपनी आत्मा को विस्तरता रहता,
और उसे ही 'ईश्वर' है पुकारता।
बस अपनी संपीड़ित आशाओं की
कुछ सहायता करने की खातिर ही वह गगनों का आवाहन करता है।
औ' अपने इक लालायित अंतर से शीश उठा अपने ऊपर लखता है,
उन आकाशों में लखता जो उससे भी तो अधिक अचित् में पड़े हुए हैं
औ' जो उसकी भांति एक मन को भी रखने के अधिकारी नहीं बने हैं,
अवास्तविक एक नीलिमा को तजकर और वहां पर कुछ भी अरे नहीं है,
वहीं अरे वह दयावान्, ओजस्वी सुशक्तियों को बसा हुआ लखता है।
क्योंकि यहां तो चहुंमुख सिंधु गरजता,
औ' उसके चरणों के नीचे भू यह कंपित औ' दोलायित हो उठती है,
द्वारों पर इक आग लगी रहती है,
औ' जीवन के इस भीषण कानन में

अपने शिकार की खोज में मृत्यु बस दबे पांव आकर दहाड़ उठती है।
और उन 'उपस्थितियों' से प्रेरित बन जिनको ले वह आराधन करता है
अप्रसाद्य मंदिरों में यहां औ' वह आत्मभेंट अर्पित करता रहता है,
औ' अपने सपनों की सुन्दरता से सबको भूषित सज्जित कर रखता है।
वे देवगण और जो अनिद्र रहकर इस भू की निगरानी करते रहते,
वे इस रिक्त शून्य में होती उसकी

भीषण औ' गंभीर लड़खड़ानों में हैं उसका अविरत पथ-दर्शन करते,
अरे उन्होंने ही मानव के ऊपर इस मनरूपी बोझे को डाला है;
और उन्होंने इसके निपट अनिच्छुक अंतर में निज अग्नि प्रज्वलित की है
अशमनीय औ' इक अशान्ति बोई है।

अनजाने अगणित मार्गों पर उसका मन बस एक अहेरी-सम फिरता है;
और व्यर्थ के निज आविष्कारों से अरे 'काल' को बहलाया करता है,
वह अपने विचार से अपनी विधि की निगुह्यता को और गुह्य बनवाता,
अपने रुदन, हास्य दोनों को लेकर एक गीत में है परिणत करवाता।
अमर देव के सपने सपनाने से नश्वरता उसकी बढ़ती जाती है,
अनन्त की श्वास से और फिर उसकी

भंगुरता को पीड़ित बना उन्होंने उसको ऐसी अगम क्षुधाएं दी हैं
जिन्हें न कोई खाद्य तृप्त कर सकते, वह गोपालक देवों का गोदल है।
उसकी काया ही उसका पगहा है जिससे रे वह बँधा हुआ रहता है,
औ' चारे भूसे की भांति उन्होंने

उसके आगे शोक और आशा को औ' सुख को लाकर बस डाल दिया है:
औ' उसकी गोचर भूमि को उन्होंने घेर 'अज्ञता' के द्वारा रक्खा है।
उसके असुरक्षित भंगुर अंतर में फूंक उन्होंने साहस एक दिया है,
जिसे 'मृत्यु' से कि जूझना पड़ता है,

उसे उन्होंने इक प्रज्ञा अरपी है 'रजनी' ने जिसका उपहास किया है,
और एक वह यात्रा दिखलायी है जो न किसी ध्येय को देख पाती है।
अपनी पीड़ा के अस्थिर ठहरावों से वह कभी-कभी कुछ विराम लेकर
औ' अनन्त इच्छा से ताड़ित होकर रे निरीह इक पशु की भांति बराबर,
उन भीषण देवों के रथ में जुतकर

यहां अनिश्चित जैसी इस जगती में उद्देश्य रहित बनकर श्रम करता है।
यदि तू अब भी आशा कर सकती है, और प्रेम की इच्छुक बन सकती है
तो निज काया के खोल में लौट जा,

जिसे उन्होंने भू से युक्त किया है,
औ' निज अंतर के क्षुद्रावशेष पर तुष्ट बनी जीने का यत्न किए जा।
सत्यवान् को पुनः जीत ले जाने की इस थल से अब तू आशा मत कर।

फिर भी तेरी शक्ति और साहस यह महान् इक किरीट का अधिकारी है,
औ' यह कोई छोटी बात नहीं है,
तेरे घायल जीवन की सुशान्ति हित निश्चय ही तुझको वर मिल सकता है।
वे समझौते जिसे कि नश्वर प्राणी निज विधि के सँग सुसम्पन्न कर लेते
राह किनारे की पुष्पित मधुताएं जिन्हें तोड़ लेना ये मर्त्य चाहते,
उन्हें वरे तेरा संकल्प अगर तो यह अवसर है, प्रसन्नता से वर ले।
और प्रवंचक पुरस्कारवत् अपने इस जीवन की आशाओं को चुन ले।"
वह भीषण औ' निष्ठुर वाचा ज्यों ही रुकी कि त्यों ही सावित्री के भीतर
उसके मूक अगाध हृदय-सागर पर
एक विचारों का अनन्त आन्दोलन, इक नीरवता से उठकर यों उभरा,
जैसे झकझोरित इक जल-प्लावन में चन्द्रदीप्त लहरें उठतीं कि झलमला।
आखिर फिर सावित्री के श्रीमुख से फूट उठी वाचा, जिसको गया सुना,
और 'रात्रि' द्वारा उसको गया गुना :
"ओ मृत्यु की विशाला छद्मावरणी! तेरे सम्मुख मुझे नहीं झुकना है,
मानव की भयभीता आत्मा के हित तू रजनी का असित असत्य बनी है,
जग के सब द्रव्यों का इक अवास्तविक और निपट अनिवारी अंत बनी है,
और अमर आत्मा के सँग ही खेला गया एक भीषण उपहास बनी है।
पर मैं तो अपने अमरत्व से सजग बनकर ही जग में विचरण करती हूँ।
एक जयी आत्मा बनकर फिरती हूँ औ' स्व-शक्ति से जागरूक रहती हूँ,
मैं तो एक दीन याचक-सम तेरे द्वारों न याचना करने आई हूँ :
'महा रात्रि' की वज्र जकड़ के नीचे भी तो मैं अनाहता बनी हुई हूँ।
मेरे प्रथम गभीर शोक में भी तो मेरा स्थिर मन विचलित नहीं हुआ है;
मेरे अरुदित आंसू बदल चुके हैं सुशक्ति की शुभ्रा मुक्तामाला में,
मैंने इस विरूप भंगुर माटी को
रूपांतरित कर लिया है, अभंग्य इक मूर्तित आत्मा की वज्रिल दृढ़ता में।
आज भव्य देवों के मल्ल-युद्ध में
जग के बृहत् निषेधों के सम्मुख अब
यह शक्तिशालिनी औ' दुर्दमनीया मेरी आत्मा अविनम्य खड़ी होगी।
पराधीन मानव-समूह के मन के सरिस नहीं मैं तो झुकनेवाली हूँ,
जो निबलों पर फेंकी नन्हीं-नन्हीं उपहासास्पद नगण्य बख्शीशों को
एकत्रित करने हित अपने आतुर संतोषी हाथों को लपकाता है,
और कुचलती हुई भीड़ के पांवों बीच पहुंच पंक से उन्हें चुनता है।
मम श्रम तो युद्धरत सुरों का श्रम है :
जो जाज्वलित स्वीय संकल्प को,—कि जो ताराातीत लोक से शासन करता,
उसको वे 'काल' पर थोपते रहते, जो सुस्त औ' अनिच्छुक-सा है बढ़ता,

औ' वे सुर 'जड़' द्वारा रची सृष्टि पर 'मन' के विधान को लागू करते हैं,
इस प्रकार वे आत्मा की इच्छा को,
पृथ्वी की अचित्-शक्ति के हाथों से छीनकर जयी बनवाते रहते हैं।
पहले तो चाहूँगी, सत्यवान् इस
मेरे पति ने अपने बालपने में उस वन की रम्य मोहिनी में जगकर
लम्बे और शुद्ध शैशव जीवन के अपने एकाकी सपनों के भीतर,
जो कुछ भी इच्छा, अभिलाषा की थी
जो कि उसे अपने सुन्दर जीवन के लिए न अब तक हो उपलब्ध सकी थी,
वह पूरी हो, अगर तुझे देना है तो अपने इस वर से इतना दे तू,
औ' इनकार कर सके तो कर दे तू।"
बस मानव के हित इस स्वप्नतुल्य औ' सुन्दर भू के उस आदि रचयिता ने,
सब प्रदत्त वस्तुओं का निरर्थकता से उपहास बना रक्खा है जिसने,
उसी 'मृत्यु' ने अवहेला से भर कर एक शीत स्वीकृति में शीश हिलाया,
औ' निज भीषण खतरनाक वाणी को ऊंची कर वह इस प्रकार चिल्लाया:
"मेरा एक स्पर्श भी जिन सपनों को
भंजित कर सकता, उन पर करुणाकर
मैं उसके अंध पिता के लालायित अंतर को यह सब अर्पित करता हूं,—
राज-पाट, सब क्षमता, मित्र मंडली खोई हुई सब महत्ता देता हूं,
और शान्तिमय इस अंतिम जीवन के हित राजोचित सब सज्जा देता हूं,
ढलते दिवसों के सब पाण्डुर वैभव
और उतरते जीवन की रजताभा, क्षीयमान सब शोभाएं देता हूं।
कुभाग्य में जो बुद्धिमान् बन बैठे
उस भ्रमितात्मा के हित, जो निर्व्यक्तिक
असत् की किसी रीती प्रशस्तता से बढ़कर, द्रव्यों का सुख चुन लेता है,
उसके हित सुख-सामग्री देता हूं।
औ' उन आंखों को मैं फिर प्रकाश का इक ऐन्द्रिय उपशमन दान करता हूं,
जो इच्छा करतीं, तो इक विशालतर साम्राज्य की बनी अधिकारी होतीं,
उस अनन्त रजनी में अपनी गहरी सुदृष्टि को उपलब्ध कर चुकी होतीं।
बस इतने के हित ही सत्यवान् ने जब वह पृथ्वी के ऊपर जीवित था
इस आशा को हृदय में संजोया था,
औ' देवों से विनय याचना की थी, जो याचना व्यर्थ तब चली गई थी
वह आशा मैं अब पूरी करता हूं।
जा, अब तो इस जोखिमतर प्रदेश के भीषण प्रताप से तू दूर चली जा,
ओ नश्वर! अपने उस सीमित नन्हें प्रदेश में फिर से तू अरी लौट जा।
जा, जल्दी कर, द्रुत चापों से फिर जा,

तूने इसके महान् नियम-विधानों का भीषण उल्लंघन आज किया है,
इसमें पैर धरा है औ' विचरी है,
आखिर न वह पाहनी, संगममंरी उनकी दृष्टि कहीं तुझ पर खुल जाए,
जीवन विमुख तुझे होना पड़ जाए!"
पर सावित्री ने उस उद्धत छाया को इस प्रकार अपना उत्तर अरपा:
"ओ विश्वात्मा! मैं तेरी समकक्षा ही बनकर इस जगती में जनमी थी।
मैं निज नश्वरता में भी अमरा हूं।
और अपरिवर्ती इन संगममंरी दिव-दूतों की अचल दृष्टि के आगे
जो अपने 'विधान' औ' 'विधि' की पाहन आंखों से घूरा करते हैं, उनसे
मैं न कभी कांपती और डरती हूं।
मेरी आत्मा निज जीवंत अग्नि ले उनके सम्मुख आने में समर्थ है।
बस तुम अपनी इस छाया से बाहर
करके सत्यवान् को हरे-भरे उस भू-प्रदेश पर रहने और विचरने
के हित मुझको लाकर फिर से दे दो!
और उन्हीं मानवी मधुर अंगों की प्यारी भंगुरता में फिर से मुझको
मम आत्मा के जाज्वल्य संकल्प की इच्छा, अभिलाषा को पूरा करने
के हित अविलम्ब उसे वापस कर दो!
मैं उसके सँग मिलकर आदि 'मातु' के अपने गहन भार का वहन करूंगी,
औ' उसके सँग मिलकर ही पृथ्वी के उस रहस्य-पथ का अनुसरण करूंगी,—
जो पृथिवी को 'प्रभु' तक ले जाता है।
और नहीं तो इस अमित अज्ञात में यों ही, साथ-साथ बस यात्रा करते
वे शाश्वत आकाश सामने मेरे एक एक कर खुलते ही आएंगे,
जब कि हमारे चहुं ओर ये विलक्षण क्षितिज सुदूर सरकते ही जाएंगे।
क्योंकि अरे मैं जो उन 'काल'-प्रदेशों पर उसके सँग विचरी और रमी हूं,
वह मैं, उसके चरणों को अनुसरती जूझ किसी भी निशा, उषा से सकती,
कोई घोर निशा क्यों न हो या कि फिर अकल्प्य विस्मयकारी ऊषा ही हो
जो इक अगम्य 'परलोक' में हमारी आत्माओं के सम्मुख उग आई हो,
मैं उनका सामना अडिग कर सकती।
और तुम कहीं भी उसकी आत्मा को ले जाओ मैं पीछा हूँ कर सकती।"
पर सावित्री की इस महा घोषणा की अति विरोधिनी और अप्रशम्या
इक वाणी ने महा निशा के अविरत पीछे सरते बीरान से निकलकर
'मृत्यु' की अपरिवर्ती दृढ़ 'आज्ञा' पर औ' उसके इक अचल अमिट 'विधान' पर
तथा रची द्रव्यों की नगण्यता पर ही बस अपना पूरा आग्रह रखकर
था अब अपना भीषण घोष गुंजाया,
जो एक भव्य प्रभुता से गर्वित था तथा भयानक तिरस्कार पूरित था,

जो अज्ञेय की कि पाताल गहनता
की पहेलिका से उत्पन्न हुआ था।
सर्वप्रहर्षविलोपी निज लहरों की
प्रबल शक्ति की सुधि करके बस जैसे
वात्यायाली, असुरपदी इक सागर
अपने विकट भयंकर अट्टहास से
संतारी को पराभूत कर देता,

वैसे ही इक सम्राज्ञी रजनी के
अंधकार से उठ सर्वशक्तिशाली
वह विश्व 'काल'-रव 'नारी' के विस्तृत
अंतर-विरोध में अब घहर उठा था:
"क्या तुझको देवों के पंख प्राप्त हैं,
औ' क्या तूने देव-चरण पाए हैं,
जो मम तारालोकों में रमते हैं,

ओ निर्बल प्राणी! तू अपना केवल
एक महत्त्वाकांक्षी साहस लेकर,
विचार-सीमाओं को निपट भूलकर
अपनी मर्त्य भूमिका को बिसराकर
बस मेरे प्रदेश में आ निकली है?
इन लोकों के मण्डल तो तेरी इस
आत्मा की निर्मिति के बहुत पूर्व ही
यहां कुण्डलित बने उपस्थित ही थे।
मैं जो 'महा काल' हूं, मैंने ही तो
स्व-शून्य से बस उनकी रचना की है,
उनके भीतर सब द्रव्यों को सिरजा,
औ' उनका विध्वंसक भी मैं ही हूं।
मैंने लोकों को निज जाल बनाया
इक-इक सुख को जाल-फन्द करवाया।
एक 'क्षुधा' है यहां कि जो बस अपनी
दुःखित पीड़ित मृगया की प्रेमी है,
यह जीवन जो सभी कुछ निगल जाता
सब द्रव्यों में मम प्रतिमा लखता है।
अरी मर्त्य! तेरी आत्मा तो मेरी
सतत रमणशीला बस एक श्वास है,
जिसकी भंगुरता को तो बस मेरी
स्मिति ने स्वीय कल्पना से सिरजा है,
स्व-प्राप्तियों को बस अपने इस कंपित
अंतर से चिपका कर अरी भाग जा,
जिसको मैंने अपनी पीड़ाओं के
तीरों से छलनी कर-कर डाला है,
जिसे 'काल' भी न शीघ्र भर पाएगा।

मेरी बधिर शक्ति की अंध चारिके!
जिसको सतत पाप करने की खातिर
मैं ही तो मजबूर निपट करता हूं,
जिससे तुझको दण्डित अरे कर सकूं,
औ' इच्छा करने को विवशाता हूं
जिससे कि निराशा व शोक के द्वारा
तुझको पीड़ित, ताड़ित और कर सकूं,
औ' फिर आखिरकार रक्त चुचुआती
तू मेरी शरण में आ उपस्थित हो,
इससे तव क्षुद्रता सुप्रकट हुई है,
औ' मेरी सुमहत्ता विदित हुई है,
जा तू शीघ्र लौट जा, सुसंपन्न इक
प्रदेश में आने का प्रयत्न मत कर,
यह थल केवल उन आत्माओं हित है
जो चलती हैं बस मेरे विधान पर,
जा, कि 'कोप-देवियां' कहीं इन तेरे
चापों द्वारा निज तमस्-मंदिरों में
अपनी उस अशांत और लौह-हृदया
निद्रा से न हठात् कहीं जग जाएं,

जो पूर्ण-कामना से भी तो अपना पूरा-पूरा बदला ले लेती हैं।
डर कर अरी लौट जा, नहीं तो कहीं
उन गगनों में, आवेश ने जहां पर जीने को निज आश लगा रखी थी
'अज्ञात' की बिजलियां लगें कौंधने, तब डरकर एकाकी और सुबकती
हुई कहीं तव परित्यक्ता आत्मा को
अरे स्वर्ग के आखेट-कुक्कुरों से आखेटित बनकर औ' घायल होकर
सदियों की घोर यंत्रणा के भीतर
अरे दौड़ना 'यहां न फिर पड़ जाए,
जिसके अविश्रांत कोप का, न तेरे कई जन्म भी अरे अंत कर पाएं,
जिस कोप का न नर्क शमन कर पाए, जिसे न दिव-करुणा सुशान्त कर पाए।
और असित शाश्वत, इस जकड़-पकड़ से मैं अब तुझको मुक्त किए देता हूं:
औ' अपनी विधि के इस अल्प दान को निज उर से चिपकाए हुए अरी तू
बस अपनी उस विश्रांति में चली जा, यदि मानव की खातिर वही उचित हो।"
पर सावित्री ने उस तिरस्कार का तिरस्कार से ही अरपा निज उत्तर,
और मर्त्य 'नारी' उस महा भयंकर 'अधिपति' के सम्मुख हो उठी अब मुखर:
"मुझे बताओ वह 'भगवान्' कौन है, जिसकी तव रात्रि ने कल्पना की है?
और इन उपेक्षित अवहेलित लोकों का इक हेय दृष्टि से सर्जन करके
किस अधिपति ने इन प्रदीप्त तारों की निज झूठी शान से कि रचना की है?
वह तो मेरा अंतर-देव नहीं है,
जिसने मेरे भावों और विचारों में निज मंगल मंदिर खड़ा किया है,
औ' मेरे मानव-अंतर को जिसने अपनी पवित्र क्रीड़ा-भूमि किया है।
मेरा 'प्रभु' तो इक दिव्य 'संकल्प' है जो अपने पथ पर है विजयी होता,
मेरा 'प्रभु' तो शुद्ध 'प्रेम' है जो सब पीड़ाओं को प्रसन्नता से सहता,
उसके ही सम्मुख मैंने इक बलिवत् निज आशा का उत्सर्ग कर दिया है,
और लालसाओं को उसके सम्मुख पूत भाव से अर्पित सतत किया है।
उस अद्भुतवर और महान् सारथी उस क्षिप्रग का पंथ कौन रूंधेगा,
बाड़ बनाकर उसे कौन रोकेगा?
जीवन के अगणित मार्गों का यात्री! उसके पग जो 'स्वर्ग'-ज्योति परिचित हैं
वे नर्क के तीव्र असि-विजड़ित भीषण
घोर प्रांगणों के ऊपर चलने में दुख का लेश नहीं अनुभव करते हैं,
और वहीं पर अरे अवतरित हो वह शाश्वत सुख पर पुनः सान धरता है।
अरे प्रेम के सशक्त स्वर्ण-पंख ये
अपनी महावात से तेरे भीषण घोर शून्य को उड़ा-उड़ा सकते हैं:
और प्रेम के नेत्र सितारों-सम इस काल-रात्रि में इकटक लख सकते हैं,
और प्रेम के पग नंगे पांवों ही कठोरतम लोकों में चल सकते हैं।

औ' वह जाकर अतल गहनताओं के
ओ 'काल' देव! वही प्रेम बस तेरे

कुछ क्षण सावित्री की सुघोषणा का
और जब कि वे यात्री उस पथरहिता
तब भी अभी सत्य की किरण अरे वह
औ' अपनी संदेहग्रसी चितवन से
और तभी उस अंधे महा 'शून्य' में
इक अवास्तविक यात्रा के भीतर बस
एक बार फिर से 'विचार' इक आया
और 'काल' ने फिर मानव-आत्मा को
"ओ प्राणी! तू क्या आशा करती है,
कुछ वर्षों तक और अभी इस भौतिक

एक क्षणस्थायी दमकती मूर्ति के
आलिंगन की इच्छा रखनेवाले
ही तो तू पीड़ा से बने आक्रमित

यह तो तेरी काया के सुमधुरतम
औ' तू, ओ आत्मा! तू है क्या?
बस कुछ क्षणिक भावनाओं औ' थोड़े
दीप्त विचारों द्वारा रचा गया-सा
और रात्रि में इत-उत उड़ते चंचल
जीवन के रवि-ज्योतित इस कर्दम पर
ओ हृत् सत्ते! तू अमरत्व वरेगी?
औ' शाश्वत साक्षी देवों के सम्मुख
कि तू और सत्यवान् ही अनन्त वे
अरी अंत तक फ़क़त 'काल' रहता है
मैं ही एक अकेला बस शाश्वत हूं

औ' मैं ही वह विराट् रीतापन हूं
मैं ही वह कालातीत इक 'असत्' हूं
मैं ही वह 'असीम' हूं औ' अनन्त हूं
मैं 'काल' ही अरे केवल बस 'प्रभु' हूं
मेरी ही अंतस्तलता से सब कुछ

भीतर भी अपना श्रम कर सकता है;
शिखरों पर आनन्दित हो सकता है,
जग का अब फिर से निर्माण करेगा।"
नहीं दिया उस वाचा ने कुछ उत्तर,
महा रात्रि में थे बढ़ रहे निरंतर
विवर्ण अक्षि सरिस भासित होती थी,
अंधकार को विक्षुब्ध कर रही थी।

जोखिम गहन विराम पुनः इक आया;
इक 'शब्द' ने शून्य में शीश उठाया
उत्तर दिया और निज घोष गुंजाया:
सकल यह अभीप्सा और किस लिए है?
इच्छा-मधु से औ' उस अंतराग्नि से
लँगड़ाते बोध के तृप्त करने को,

झूठे ऐकात्म्य के तुष्ट करने को
दुर्बल औ' दैवाधीन एक तन को
कुछ दिन रखने के हित ललक रही है,
आनन्द का मात्र एक प्रलोभन है।

केवल बस महिमामय एक स्वप्न है,
खद्योतों का इक थोथा नर्तन है,
इक देदीप्त हो रहा-सा उफान है?

भी आकर अपना राग गुंजाएगी,
सुशक्तियां हैं, जो अन्त तक रहेंगी?
और वह अचित् 'शून्य' मात्र बचता है।
और अंत तक मैं ही बस रहता हूं,
मैं ही निराकार 'दुर्धर्ष' बृहत् हूं
जिसको है 'आकाश' पुकारा जाता,
जो इस सब कुछ को है धारण करता,
मैं ही निःशब्द परम एकाकी हूं।
अन्य किसी 'प्रभु' का अस्तित्व नहीं है।
जन्म धारता मुझसे पोषित होता,

उसी अतल में पुनः लौट जाता है
अपनी अचित् 'शक्ति' के द्वारा ही तो
और 'प्रकृति' मेरी ही निजी शक्ति है,
औ' उन अंगों को जो जिजीविषा का

मैंने ही मानव को अरे प्रकृति का
उसकी काया मेरा महा भोज है
मानव के समीप 'मृत्यु' को छोड़कर
विश्राम औ' शान्ति के लिए अंत में
मैं 'विश्व-काल' ही तेरी आत्मा का
मानव जिनका आराधन करता, वे
वे तो मानव के भीतर माया की
ही शक्ति से बने प्रतिबिंबित मेरी
जिसको तू अमरात्मा-सम लखती, वह
वह तेरी अंतर्वासिनी 'मृत्यु' है
मैं ही तो बस वह 'ध्रुव' और 'अचल' हूं
औ' मैं ही वह नग्न 'शून्य' हूं जिसमें
मैं अकाय औ' अजिह्व हूं औ' मुख के
औ' मानवी नेत्र के तथा श्रोत्र के
बस तेरे विचार ने ही तो मेरे
क्योंकि दिव्यता की अविरत अभीप्सु ओ !
तूने निज आत्मा से मल्लयुद्ध के
इसी लिए मैंने इक आनन औ' इक
पर जो इक व्यक्तित्व सर्वदर्शी है,
वह तेरी भावुक आवेगी इच्छा
वह तो निरपेक्ष और एकाकी बन
एक अनामी सुशान्ति में स्थिर तेरे
उसकी सत्ता विशुद्ध है अबिद्ध है
और इस अचित् फैले परिदर्शन का

तारों का विशाल अस्तित्व जहां पर
यह 'एकम्' ही अक्षर है अनन्त है।
औ' परिवर्तनशाली सत्यवान् का
औ' वह सावित्री भी कहीं नहीं है
जो एक क्षणिक जीवन से बस अपने

औ' अपना सब अस्तित्व है गँवाता।
मैंने इक जग का निर्माण किया है,
जो उन हृदयों को, जो आशा करते,
अविरत ही हैं पालन-पोषण करते,–
उनका सर्जन और हनन करती है।
है इक यंत्र बनाया, दास बनाया
जीवन को मैंने निज खाद्य कराया।
बचता ही क्या और दूसरा चारा,
आता है मुझतक दौड़कर बिचारा।
इस जग में एक मात्र बस आश्रय हूं।
देव न उसकी सहायता कर सकते,

मनोदशाएं और कल्पनाएं हैं।
मेरे अनन्त की छाया-प्रतिमा है,
जो शाश्वतता का सपना लेती है।
जिसके भीतर सब वस्तुएं सचल हैं,
वे सब आकर समाप्त हो जाती हैं,
द्वारा वार्तालाप नहीं करता हूं,
द्वारा न संपर्क स्थापित करता हूं,
इस शून्य को एक आकार दिया है।

लिए आज मुझको जो ललकारा है,
शरीर औ' इक वाचा को धारा है।

में कैसे कुछ सहाय पहुंचाएगा ?
फ़क़त दूर से सब कुछ निरखा करता,
आर्तनाद से उदासीन है रहता।
और वह अचल है, ध्रुव है, एकम् है।
वह अनन्त एकम् अवलोकन करता,
जहां विनष्ट सभी कुछ है हो जाता,
झाग सरिस है अरे लीन हो जाता।

कोई अरे जन्म ही कहां हुआ था

सुख की बख्शीश की मांग करती है।

औं' निज अश्रु भरे उद्विग्न नेत्र ले
प्रेम तो कभी यहां न प्रकट हुआ है,
औं' यह 'काल' भी यहां कहीं नहीं है,
निस्सार 'देश' के न विराट् कहीं हैं।

उस 'एकम्' का सदेह बदन नहीं है,
उसका नामधेय भी और नहीं है,
न दृष्टि है न धड़कता हुआ हृदय है
निज सत्ता की सहायता करने औं'
अपने आनँद में भाग बंटाने को
पर की उसे अपेक्षा कहीं नहीं है।

यह शाश्वत एकलता का आनँद है।
तुझको यदि अमरत्व की अपेक्षा है
तो तू एक अकेली ही बस अपनी
आत्मा में यथेष्ट संपन्ना बन जा
जी, अपने भीतर एकाकी बनकर,
अपने प्रिय प्रेमी को और भूल जा।
तो फिर मेरी अन्तिम भव्य 'मृत्यु' बस
तुझे मुक्त इस जीवन से कर देगी,
तब तू अपने उसी अनाम स्रोत में
उन्नत होकर अरी पहुंच जाएगी।"
पर सावित्री ने उस महान् 'यम' की
भीषण 'वाचा' को निज उत्तर अरपा:
"तुम तो 'मृत्यु' देवता! तर्क कर रहे,
मैं तो तुम से तर्क नहीं करती हूं,
वही तर्क,—जो कि परीक्षण करता है
औं' सब कुछ को तोड़-फोड़ रखता है,
पर निर्माण नहीं कुछ कर सकता है,

या तो निर्माण व्यर्थ ही करता है,
क्योंकि उसे अपने ही किए कार्य पर
अविरत संदेह ही बना रहता है।
मैं तो सत् हूं, और प्रेम करती हूं,
द्रष्ट्री, कर्त्री, सुसंकल्पयित्री हूं।"
तभी 'मृत्यु' ने दिया उसे प्रत्युत्तर,—
उठा कि आस-पास का गहन नाद हो:
"तो फिर बढ़कर अब ज्ञात्री भी बन जा!
ज्ञात्री बनने से सब रुक जाएगा,
अंतर-भावुकता से मुक्ति मिलेगी
बन्द प्रेम करना भी हो जाएगा,
संकल्प भी नहीं फिर उठ पाएगा,

द्रव्यों की नश्वरता स्वीकृत करके
बस फिर विश्राममग्न बन जाएगी,
सदा-सदा को सुशान्त हो जाएगी।"

पर सावित्री ने मनुज-पक्ष लेकर
पुनः 'मृत्यु' को अपना उत्तर अरपा:
"जब मैं निज शाश्वत प्रेम कर चुकूंगी
निश्चय ही ज्ञात्री भी बन जाऊंगी,
जिस सत्य को विकृतियां ढक रखती हैं
उसको मम-अंतर प्रेम जानता है:
मुझे ज्ञात है कि सत्य-ज्ञान तो सतत
बस इक सर्वाश्लेषी आलिंगन है:
मुझे ज्ञात है कि प्रत्येक प्राणी यह
और द्रव्य यह, मेरी ही सत्ता है,
औं' वह नानारूपी 'एकम्' ही तो
प्रत्येक हृदय में छिपकर बैठा है,
मुझे पता है वह शान्त 'परात्पर' ही
इस सब जगती को धारण करता है,
वह ही इसका आच्छन्न 'निवासी' है
और वही इसका सुमौन 'स्वामी' है:

उसके गुह्य कर्म औ' अंतराग्नि का हूं मैं अपने भीतर अनुभव करती,
उसकी विश्व-'वाक्' का गुंजन सुनती।
मुझे पता है मेरा यहां आगमन 'ईश'-सिंधु की ही तो एक लहर है।
क्योंकि जन्म में मेरे, उसके सारे सूर्य पूर्ण चैतन्य तथा सचेत थे,
औ' वह जो कि हमारे भीतर से बस
गोपित रहकर प्यार किया करता है बना मृत्यु आवृत जग में आया था।
फिर इन भीषण औ' कठोर तारों के मध्य अरे यह मानव प्रकट हुआ था
जिसे कि तुझपर जय पाने की खातिर इक मन औ' अंतर भेंट में मिला था।"
स्व-निठुर संकल्प की चिरंतनता में
स्व-साम्राज्य औ' सम्यग् कवचित बलपर पूरी तरह भरोसा अपना रखकर,
आखेटित प्राणी के मुख से निकले
उग्र और असहाय बने शब्दों-सम ही उनकी नितांत इक अवहेला कर
फिर 'मृत्यु' ने नहीं अरपा कुछ उत्तर।
वह चहुंदिशि अंधकार से परिवेष्टित
एक मूर्ति औ' इक धुंधली छाया-सम निज गुप्त खड्ग-आतंकों से सज्जित
बनकर उस सन्नाटे में खड़ा रहा।
मेघ-पुंज के भीतर से बस जैसे अर्द्धदृष्ट इक तमसिल आनन प्रकटा,
और रात्रि का वह धूसर त्रिमुकुट ही जिसके शिर का जटाजूट मंडल था,
और चिता की रूखी भस्मी ही तो जिसके माथे का इक तिलक-खौर था।
एक बार फिर अंतविहीन रात्रि में महा 'परिव्राजक' रे वह सावित्री,
उन मृत, रीती आंखों की चितवन से बनी एकदम अंधभाव से वर्जित
आशारहित अशब्द उन विराटों में होकर बढ़ती ही जाती थी अथकित।
अंधकार का कंपित ऊसर उसके चहुंदिशि बस विस्तरता चला गया था
और ग्रासकारी इसका रीतापन
औ' प्रसन्नता-विहीन घोर वह मरण
सावित्री के विचार औ' जीवन पर औ' प्रेम पर कोप-सा बरस रहा था :
सावित्री के द्वारा विवश बनी-सी
असफल होती चली जा रही निशि में
उस अर्द्ध-प्रकाशित इक पार्थिव पथ पर तीनों धीरे-धीरे सरक रहे-से
उस धुंधलेपन में छायाओं के सम थे बढ़ते ही जैसे चले जा रहे।

द्विविध द्वाभा का पर्व

पर्व १०, सर्ग १

विभावना* की स्वप्न-द्वाभा

अब भी सब कुछ तमसाच्छन्न बना था
वहां न कोई परिवर्तन आया था

उस काले सपने में रे यह विचरण
अनस्तित्व के प्रदेश पर गन्ता को
बिना ध्येय औ' उद्देश्य के बराबर
तम से निगूढ़तर तम और मृत्यु से
अरूप मरु-देशों के भीतर होकर,–
वे इक निश्चित औ प्रत्यक्ष 'असत्' के
औ' पीड़ित प्रकाश की व्यर्थ किरण यह
उनके पीछे लगी चली आती थी;
जब कि बढ़ रही थी अविरत तब भी वह
फिर भी महाशून्य के उस हिम-विजड़ित

वह मृत शाश्वतता के पाण्डु प्रेत-सम
यह ऐसा ही था, बस जैसे उसको
इक जगमग 'माया' के प्रति अब अपना
जीने औ' चिंतन करने की सारी
निज अनन्त दुख का जुर्माना देकर
इन निम्नांकित सारे पापों को तो

और भयंकर था, एकाकी तम था,
न किसी परिवर्तन की आशा ही थी।
यह जो कि 'असत्' का इक निजी धाम था

न 'कुतश्चिदपि' अरे ले जा सकता था,
वे चालित-से बस इत-उत फिरते थे;
इक रिक्ततर मृत्यु में बस बढ़ते-से
जो कि अशब्द मूक और अज्ञेय थे,
ध्येय-विहीन बृहत् में पहुंच रहे थे।
एक निराशाग्रस्त तिमिर के भीतर
ज्यों अतीत महिमा की मंदस्मिति हो
उस थल तो अवास्तविक ही दिखती थी
अति विशाल औ' फैले उस प्रदेश को
अबुझ, निरंतर, एकाकी, दुर्बल औ'
अविराम प्रभावित ही किए हुए थी।
उसकी आत्म-कल्पना की स्रष्ट्री उस
वह सब ऋण चुकता ही करना होगा,
व्यर्थ धारणा को अब तजना होगा।

सर्वाधिक अपमोचित करना होगा,–

---

*'विभावना' शब्द अंग्रेजी के Ideal शब्द के लिए गढ़ा गया है। यह Idea के प्रदेश को द्योतित करता है। Idea विचार से कुछ विशाल है अतः इसे विभाव अर्थात् विशेष और व्यापक भाव के अर्थ में लिया गया है।

वह है, जग में सतत अस्ति की इच्छा, जो उसका मौलिक औ' गहन पाप है,
औ' उसका आध्यात्मिक घमंड तो बस अंतिम और महत्तम एक पाप है,—
यही कि अरे धूल से जनमा प्राणी दिव के सँग अपनी होड़ लगाता है,
अंध अचित् – 'प्रकृति' के स्वप्न से जनमा यह निन्दित और घृणित इक क्षणजीवी
कर्दम बीच बिलबिलानेवाले इस कृमिपन से नफ़रत करता रहता है,
औ' भंगुर प्राणी की पृष्ठभूमिका से बस वह इनकार किया करता है,
औ' 'प्रभु' के जीवित स्फुलिंग बनने का अपना दावा सतत लिए फिरता है,
दिव्य अमर औ' अक्षर होने की इक अभिलाषा को ही पाले रहता है।
उस भीषण घोर निरे अंधकार में सावित्री ने प्रायश्चित्त किया सब
किया अरे आदि-कर्म से लेकर अब,
जहां से अरे इस 'काल'-चेतना की भीषण भूल कि प्रथम प्रथम जनमी थी,
जहां अचित्-निद्रा-मुद्रा टूटी थी,

औ' आदिम अक्षम्य उग्र विस्फोटन
ने आकर कि जहां सब महा 'असत्' की शान्ति और नीरवता झकझोरी थी,
जो इस दिखलाई पड़नेवाले जग के पूर्व थी अखण्ड यहां विराजती,
औ' कल्पित आकाश के किसी मिथ्या अहंकार को लेकर प्रकट हो पड़ी,
शोक और दुख-दर्द को जनम देते जीवन ने था अपना शीश उठाया:
यह एक महान् 'नकार' ही अरे बस बना 'वास्तविक' का आनन दिखता था
जो कि 'काल' के निष्फल क्रम-विकास को इक अस्वीकृति ही देता रहता था:
औ' जब जग का यहां अंत आएगा, प्राणी का न कहीं भी चिह्न बचेगा,
और 'काल' का बरबस थोपा शासन यह सब जब नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा,
तब यह अभावात्मक इक 'नकार' ही केवल यहां शेष बस बच जाएगा,
और सुरक्षित बनकर फिर विचार से, वह अकाय निज शान्ति में पड़ा होगा।
सावित्री की आत्मा अरे वहां ही ,—
अविरत फिरने को उस 'शाश्वत' निशि में जो उसकी कि दिव्यता का सुस्रोत थी,
सदा-सदा के हित अभिशप्त-सी बनी,
सदा-सदा आनँद से विरहित बनकर ही जीने के हित बस बाध्य-सी बनी,
जहां अमरता ही इक दण्ड बन गई
उसकी सत्-ता उसका दोष बन गई, वहीं अभाग्य दण्डिता घूमती रही।
पर 'माया' आवरण है 'निरतिशय' का
अन्तर्निगुह्य एक 'सत्य' ने ही तो इस महान् जग का निर्माण किया है:
'शाश्वत' की इक प्रज्ञा औ' उसका ही
इक आत्मज्ञान यहां अज्ञ मानस औ' शरीर की गतिविधि में कर्म निरत है।
'अचित्' 'पराचेतन' की ही निद्रा है।
अबोधगम्य एक 'बुद्धि' है अरे जो

एक सृष्टि के उलटे औ' इस गहरे   असद्भास की रचना कर लेती है,
'जड़ता' के आकारों बीच ठसाठस   आध्यात्मिक विचार बस भरा पड़ा है,
अदृष्ट रहकर ही जो बस इस गूंगी   ऊर्जा को बाहर फेंका करता है,
और यंत्र के द्वारा ही बस सहसा   चमत्कार को इक प्रकटा देता है।
सभी कुछ यहां द्वंद्व भरा रहस्य है :
अंधकार तो स्वयं निगूढ़ ज्योति की   ही इक रची हुई जादू-लीला है
और यातना तो गुह्यानंद की ही   दुःख रूपधारिणी छद्म भूषा है,
मृत्यु सततजीवन का इक साधन है।
यद्यपि 'जीवन'-पथ पर अरे हमारे   'मृत्यु' साथ ही लग विचरण करती है,
काय जनमते ही, वह धुंधली प्रेक्षक   बनी निकट ही कहीं खड़ी रहती है,
मानव के निःसार महा कार्यों का   बन अंतिम परिणाम और जाती है,
फिर भी इसके इस द्व्यर्थक आनन की   पहेलिका का कुछ और ही तौर है :
अरे 'मृत्यु' इक सीढ़ी है, कपाट है   औ' एक लड़खड़ाता-सा वह डग है
जिसके द्वारा आत्मा एक जन्म से   अपर जन्म में निज प्रवेश लेती है,
यह तो वह धुंधली एक पराजय है   जिसके कि गर्भ में बस विजय छिपी है,
एक अमर्त्य अवस्था की दिशि यह तो   प्रेरित करनेवाला इक अंकुश है।
अरे अचित् का सारा साम्राज्य तो   आत्मा का ही निज निर्मित प्रदेश है,
और सनातन 'महारात्रि' तो केवल   'शाश्वत दिन' की ही बस इक छाया है।
न तो यह निशा अपना आदि मूल है   और न तो यह अपना अरे अंत है;
यह तो अपनी एक असित जननी है,
जिसकी कि कोख में हम जग-पीड़ा के
अत्यन्त ही प्रखर एक जागरण से   छिपकर बने सुरक्षित पड़े हुए हैं।
औ' हम सब तो उसकी कोख में अरे   एक परम 'प्रकाश' से ही आए हैं,
'प्रकाश' के द्वारा ही हम जीते हैं   'प्रकाश' में ही औ' प्रयाण करते हैं।
और यहां इस तम के अधिष्ठान में   उसके गूंगे एकाकी आश्रय में,
और सनातन 'शून्य' के हृदय-थल में
प्रकाश ने अपनी दुर्बल मयूख से   भी तो अद्भुत विजय अरे पा ली थी :
उसकी एक मंद घुसपैठन भी तो
निशि के अंध औ' बधिर तमःपुंज में   बस भेदती हुई-सी चली गई थी;
औ' फिर वह शीघ्र ही अरे ज्यों लगभग   मंदप्रकाशी इक दृष्टि ही बन गई,
जो अपने भीतर स्वर्णिम 'सविता' की   छाया को ही आश्रय दिए हुए थी,
जिसका गोलक उस 'शून्य' की आंख की   इक कनीनिका ही बस बन बैठा था।
यह इक स्वर्ण-अग्नि आई थी जिसने   निशि के अंतर को प्रज्वलित किया था,
औ' उसकी धुंधली मन विहीनता ने   सपनाना भी प्रारंभ कर दिया था,
'अचित्' भी अरे चैतन्य बन गई थी,

और 'रात्रि' ने भी अब अनुभव करना   औ' विचारना आरंभ कर दिया था,
स्व-राज्य के इक शाही रीतेपन में
बना आक्रमित कट्टर 'अंधकार' वह   था अब सहसा अरे विवर्ण पड़ गया,
यहां तक कि उस 'किरण'-शुभ्रता पर अब   शेष बचे कुछ ही काले धब्बे थे।
किन्तु मूक औ' विलुप्त बने व्योम की   अरे मिट रही-सी किनार के ऊपर
अब भी एक महान् अजगरी काया   का रुष्ट रूप फैला हुआ पड़ा था;
यह उस सुमंद, प्रयत्नरत ऊषा की
इक विरोधिनी थी, जो अपनी कोई   महा यंत्रणात्रस्त रहस्य-भूमि की
रक्षा के हित अति सन्नद्ध बनी औ'   अपनी कुण्डलियों को घसीटती-सी
उस मृत हुतात्म बने वायुमंडल में
अरे 'काल' के असित ढाल के नीचे   एक मोड़ लेती-सी भाग गई थी।

औ' फिर यहां उन उषर्बुध देवों की   प्रभात-द्राभा एक उदित होती है,
निद्रा से जग उनकी चमत्कारमय   आकृतियां निज रूप ग्रहण करती हैं,
और जहां ऊषा 'प्रभु' की इन लंबी   रातों का औचित्य सिद्ध करती है।
यहां नवीन जन्म की इक महिमा औ'   प्रेम प्रस्फुटित फिर होने लगते हैं,
बिचित्रपंखी दृष्टियां उमड़ उनकी   पलकों के सम्मुख मँडरा उठती हैं,
औ' वे स्वप्न-निमग्न देवतागण इस   दृष्टि-परिधि के उस पार देखते हैं,
और वहां आदर्श-जगों को अपने   सुविचारों में आकारित करते हैं,
जो जगत्, कामना के असीम क्षण में   आकर, उद्भूत हो उठे होते हैं,
जो कामना कि अबतक किसी गहनतम   अंतर में निगूढ़ बन पड़ी हुई थी।
बस अब नेत्र रहित उस अंधकार का   सारा भारीपन खत्म हो गया था,
और रात्रि का अपार शोक और दुख   सभी मरण को अपने प्राप्त हुआ था:
अंधानंद से होकर चकित, उझककर   कुछ गहने को अपने कर फैलाए,
जैसे कोई सहसा जागकर अरे   अपने सपने को सच ही पा जाए,
वैसे ही वह भी अब उस सुखकारी   धुंधली द्राभा की सुन्दर जगती में,—
जहां सभी प्रकाश, प्रेम औ' हर्ष के   पीछे भागे फिरते थे उस थल ही
आश्चर्य से ठगी-सी फिसल पड़ी थी।
और सभी सुदूर आनन्द तो वहां   अपने बहुत ही निकट खिंच आए थे,
और हर्ष के पूर्वाभास गहन वे
जो कि गहे और धर लिये जाने को   अविरत ही अति आतुर बने हुए थे,
पर न कभी भी पकड़े, गहे जा सके,   फिर भी वे नव आनंद बरसाते थे।
इक मुक्तापंखी धूमिलता थी बस   जो द्रुतगति से मानो तैर रही थी,
ऐसा एक वायुमंडल था जो इक   अति प्रकाश को सहन न कर सकता था।
धूमिल क्षेत्र थे, तथा कटे खेत के   धूमिल गोचर प्रदेश चमक रहे थे,

धूमिल तरु-पंक्तियां खड़ी दिखती थीं
औ' कूहा में तिरते सुमंदहृदयी
चमचम करते औ' उस कुहेलिका में
और अकाय नाद करती-सी धुंधली
धीमी, मीठी ध्वनियां आ-आकर बस
और किसी से अनुसृत बनी हुई-सी
किन्हीं समस्वरिता सुदूरियों के प्रति
आकार परम झीने औ' छलिया थे
अर्द्धदीप्त शक्तियां अरे उस अपने
एक अलौकिक और अपार्थिव पथ पर
उस विभावना के और प्रदेशों में

या फिर अपने चरण-न्यास से जैसे
या सुदूर से आती देवों की मृदु

स्व-विचारों की सतत सशक्त ताल में
और दीप्त पंखों की एक लहर ने
सुमंद, विक्षोभी कामना-स्वरों के

और अर्धश्रुत मंद रंभणों से तो
'सूर्यदेव' के प्रदीप्त गो-समूह ज्यों

ये ही अस्थिर सत्ताएं औ' छलिया
जो नेत्र को दिखे, आत्मा से भेंटे
किन्तु वहां स्थिरवत् कुछ कहीं नहीं था
उस भूमि पर और जाकर ये अपने
और न कोई जीवन-श्वास ही वहां
उस सुखद अव्यवस्था में प्रहर्ष बस
सौंदर्य जहां निश्चित आकार तथा
और रंग की रहसिलताओं में ही
फिर भी प्रसन्नता तो उन्हीं स्वरों को

वे ही विचार फिर-फिर आते-जाते
पर अन्तहीनता से निज मोहकता

धूमिल दृश्य सामने खुले पड़े थे,
धूमिल धौरे गोधन विचर रहे थे,
आत्माएं बस इत-उत घूम रही थीं,
अंतरात्मा को छू-छू लेती थीं,

झपट अनगही ही भागी जाती थीं;

उद्देश्य की न अभिलाषा करती थीं,
सुख से इधर-उधर भ्रमती, रमती थीं,
या कि धरातल के बिन तैर रही थीं,
दिवास्वप्न के पदांक छोड़ रही थीं;
मंद्र मंत्रध्वनि से बस प्रेरित होकर
सुमधुर पावन स्मृतियों के प्रदेश पर
ताल मिलाकर जैसे थिरक रही थीं।
बढ़ सुदूर नभ को था पार कर लिया;
साथ विहग थे ऐसे उड़े जा रहे
यथा पाण्डुवक्षी कि कल्पनाएं हों
श्रोता-कंठ हो उठे आकर्षित यों
उस कुहेलिका में आच्छन्न रहे हों
औ' रवि के प्रति स्व-प्रयाण कर पड़े हों।
ये ही आकार बस वहां मिलते थे
ये उस जग के स्वाभाविक वासी थे।
और देर तक न कहीं कुछ टिकता था;
मानव-पग तो कभी न टिक सकते थे,
शरीरधारी बनकर रह सकती थी।
नर्तन करता-सा भागा जाता था,
रेखा के हाथों से छटक गया था,
अपने स्पर्शबोध को छिपा धरा था।
अपने अब भी अविरत दुहराती थी
औ' सुस्थिर जगत् का भान देती थी;
आकारों में इक अद्भुत संगति थी,

को वे नवलीकृत करते रहते थे,

श्रुति को अविरत मोहित करनेवाले बस एक मधुर संगीत की तरह ही
पुनरावर्ती तुकान्त के समान ही
आशाकुलित किसी अंतर को जैसे अविरत आकर्षित करते रहते थे।
अधृत वस्तुओं का इक सतत भाव से यथा किसी को सुस्पर्श हो गया हो,
परोक्षतः दिव्य बने-से लोकों का मानो इक अंचल आज छू गया हो।
यथा विलोपी तारों की सीता ने
उस तैरते वायुमंडलके ऊपर
रंगों तथा प्रकाशों औ' अस्थायी किरणों की इक वर्षा-सी कर दी हो,
औ' फिर वह अपने उस जादू-नभ में आने के हित आवाहित करती हो,
और कान पर गिरते ही उसकी वह
सुमंद पड़ जानेवाली हरेक ध्वनि असिद्ध आनँद का ही एक नाद हो।
उत्सुक उर में पूजा का शासन था,—
शुचिता का एक भाव और अप्सरी सुषमा की मायावी विद्यमानता,
औ' अगृहीत आनँद की इक प्रभुता,
जिस आनँद की क्षणिक भागती पुलकन
अपने इस मांसल स्पर्श के लिए जो कैसी भी निःसत्त्व हो, काल्पनिक हो,
अक्षरता में कितनी भी क्षणिका हो, वह अत्यधिक मधुर प्रतीत होती थी
यहां तक कि वह परिचित आनँद जिसको भू या सर्वजयी दिव देता, उससे
भी तो बढ़कर वह प्रतीत होती थी।
क्यों कि स्वर्ग जो कि चिर युवा रहता, औ' पृथिवी जो अति दृढ़ और पुरानी है
वे निज गतिहीनता से सतत अंतर की गति को रोके-थामे रहते हैं,
उनका सृजनानँद इक आवश्यकता से भी अधिक अरे है लम्बा होता,
और साहसिक रचनाएं सब उनकी सीमा से भी अधिक निरतिशय होतीं,
जो एक दिव्य प्रयास की सुवेदना
से ही तक्षित हुई सनातन अचलों के ऊपर मूर्तित बन खड़ी हुई हैं;
या कि सजीव शिलाओं से 'प्रभु' की वे खोदी-खनी गई ही बस होती हैं,
औ' वे सब अपनी इस पूर्णाकृति से ही तो जीत अमरता को पाती हैं।
शाश्वत द्रव्यों के सँग वे रचनाएं आवश्यकता से ज्यादह अभिन्न हैं:
अनन्त वैशिष्ट्यों से भरे पात्र हैं,
वे आवश्यकता से अधिक स्पष्ट हैं महान् हैं और सदाशय-गर्भित हैं,
कोई कुहेलिका औ' छाया उनकी परास्त चितवन को न शान्त कर सकती,
और अनिश्चयता की कोई कोमल आच्छाया भी शमन नहीं कर सकती।
ये तो बस आनँद की केवल कोई स्वर्णिम किनार को ही छू पाती हैं,
ये तो देवोपम कोई आशा का एक चमकता पुरोभाग होती हैं,
औ' ये तो परमोत्तम इच्छाओं के एक भागते हुए चरण होती हैं।

ये तो रात्रि तथा दिवस के मध्य की
एक मंद कंपित किनार के ऊपर
किसी भोर के तारे से कि उतर कर अतिथियों सरिस आकर दीप्त हुई हैं,
और पूर्णता के तुष्ट प्रारंभ ये,
इक स्वर्गिक जगती की पहली-पहली कंपित, सिहरित और कल्पनाएं हैं:
ये थक जाने में जो अति अशक्त हैं, ये अपने आनँद की इक फुहार से
पुलकित होकर, अपने अन्वेषण के प्रवेग को इक साथ मिला देती हैं।
पर इस जग में सब कुछ आभासी था चित्रित बना नहीं कुछ अभी कहीं था,
ज्यों ज्वाला-पंखे के ऊपर बरबस मुख-आकृतियां कूदी-सी पड़ती हों,
इक रंजित धुंधलेपन में बस जैसे अद्‌भुत आकृतियां मचली पड़ती हों,
रजतिम कुहरे को लीपते हुए-से भागते हुए दृश्य चले जाते थे।
चौंकी हुई दृष्टि के ऊपर से ज्यों दृश्य कि पीछे को बस भाग गए हों,
चकित बनी-सी श्रुति से और छटककर ध्वनि जैसे झटपट ओट हो गई हो,
सब अनुभव इक उतावला आनँद था,
हर्ष यहां छीनाझपटी से मिलते, कोई अर्धविजित-सी सामग्री थे,
सकुची आत्मा की लग्नमंगलाएं बस झीने वस्त्रों में अवगुण्ठित हों,—
ज्यों इक देवी-अंतर आदि कामना के प्रति इक धूमिलता से बढ़ता है,
औ' उसकी शुभ्रा आत्मा फिर जैसे हो उठती एकाएक रूपांतरित,
एक प्रभासित 'नन्दन' कानन जैसे हो अप्सरामयूखों से आच्छादित,
तब वह प्रत्याशा के अग्निल जादू- डण्डे के प्रति यथा सिहर उठता है।
फिर भी इस सब कुछ ने अरे अभी तक 'आनन्द' का नहीं परिचय पाया है।
जादूई परिवर्तन के आग्रह में अथक हर्ष की धावित प्रसन्नता में
उस सुन्दर प्रदेश की सभी वस्तुएं एक अलौकिक रीति से विलक्षण थीं।
गुजर रही लुप्यमान सुझाड़ियों से दौड़ रहे और क्षेत्र संकेतों से
द्रुतताभरी पलायित-सी गलियों से,— जो पग के समीप से सरी जा रहीं
उनमें यात्रा करती यह सावित्री उनके न अन्त की कुछ भी इच्छुक थी:
यथा गरि-शिखरपर जलधर-पुंजों के भीतर कोई बढ़ता चला जा रहा,
किन्हीं गुप्त सुगहनताओं से उठकर
आती हुई अगोचर सरिताओं का स्वर हो सर-सर करता चला आ रहा,
यों वह रहस्यमय आकाश की एक माया से अवधूत थी बढ़ी जा रही,
इक अशरीरी स्पर्शों की मोहकता का जैसे इक सुख-स्वाद ले रही थी,
औ' उत्कृष्ट तथा मंद वाणियों की एक मधुर ध्वनि कानों में पड़ती थी,
जैसे चाहभरी पवनों के ऊपर
किन्हीं यात्रियों जैसा आकर्षक स्वर संगीती वाणी में टेर रहा हो।
जैसे एक पुराना सुसंगीत हो फिर भी सदा-सदा नवीन लगता हो,

और चल-सुझावों की माला उसके
अंतर के तारों पर कि आ बसी हो
औ' विचार वे जिन्हें न धाम मिला हो
फिर भी उसके मानस पर मंडराकर
अपने आवेगी पुनरावर्तन को
लेकर वे जैसे बस आ चिपके हों,
इच्छाएं जो कभी न आहत करतीं
केवल जीने में सुख अनुभव करतीं,
सदा-सदा जो अपरिवर्तिनी रहतीं,
सदा-सदा जो अतृप्त ही बन रहतीं,–
वे सावित्री के अंतर में जैसे
इक स्वर्गिक वीणा के सरिस बज उठीं।
इस प्रकार वह सब कुछ ठहर सका था,
पर अस्तित्व नहीं एक ले सका था।
यह सुन्दरता जिसमें मन भी मानो
इक गोचर द्रव्य दिखाई पड़ता था,
उसमें अद्‌भुत मयूख-अभिभूषित बन
सत्यवान् सावित्री के सम्मुख अब
उसकी मोहकता का केंद्र बना था,
सावित्री के उत्कंठित सपनों की
सारी सुन्दरता का इक मुखिया था,
उसकी आत्मा की उच्च कल्पनाओं
का जैसे सरदार और राजा था।
यहां तक कि आज 'मृत्यु'-मुख की भीषण
और भयद प्रभुता औ' उसकी काली
विषण्णता भी उन धावक गगनों की
अस्पर्श्य ज्योति को धूमिल न कर सकी,
और न उसका वध ही अरे कर सकी।

कुपित अशम्या उस काली छाया ने
उस सौंदर्य तथा सुहास को तो बस
और भी अधिक आज्ञापक बनवाया,
उसकी तमसिलता से वर्धित होकर
आनन्द और भी अभिदीप्त हो उठा,
आनन्द और भी प्रीतिकर हो उठा।

विभावना के शुभ्रिल दीप्त दृश्य को
तम-वैषम्य ने सुझल्लरित बनाकर
अंतर के उन कथित तात्पर्यों को
और भी अधिक गहन-गभीर कर दिया,
पीड़ा तो बस आनंद के अंतर की
इक सिहरित औ' धीमी गूंज बन गई,
औ' भंगुरता तो अमरत्व की सतत
तिरती-सी इक सुघर किनार बन गई,
वही क्षणिक चूनर जिसको कि ओढ़कर
वह और भी निखिल सुन्दरी बन गई,
इस प्रकार उसके वैपरीत्य ने तो
उसके दिव्यत्व पर सान धर दी थी।
उस 'मयूख', 'कूहा' औ' अग्नि-ज्वाल की
एक सखी ने अब चन्द्रदीप्त अपने
प्रिय के आनन की ओर यथा खिंचकर
ओजस्वी घटिका को जन्म दे दिया,
औ' अब वह उन तैरते विचारों में
एक विचार के सरिस ही लगती थी,
औ' आत्मा की शुभ्रा और आन्तरिक
ध्यानमग्नताओं में स्व-निकटवर्ती
स्वप्निल सुख से अर्ध परास्त बनी-सी
वह अब एक कल्पनाशाली मन से
तो मुश्किल से ही देखी जाती थी,
कुछ क्षण वह उस सम्मोहिनी भूमि पर
रही इसी विधि रमती और विचरती,
किन्तु बराबर आत्म-सचेत बनी थी।

उपरि-प्रतिष्ठित उसका जीवात्मा बस

एक सशक्त ध्यान के भीतर जैसे

वह अब ऐसी अडिग, अचल औ' दृढ़ थी

सब कुछ को देख रहा था, पर अपने
परात्पर कार्य के लिये जीता था,
जैसे कोई ध्रुव शाश्वत तारा हो।

पर्व १०, सर्ग २

मृत्यु का वेद्-वाक्य और विभावना की निस्सारता

तब वह अति ही अचल अडिग अभिमानी अनमनीय वाचा फिर से गरज उठी :
आशा को विनाशते औ' जीवन के स्वर्णिम सत्यों को जैसे मिटवाते
इसके घातक स्वराघात उस सिहरित मृदुल वायुमंडल से आ टकराए ।
औ' वह प्यारी जगती क्षीण और कृश यों ही अभी बराबर तैरती रही,
और चन्द्रहीना धुंधली संध्याओं
की किनार पर लगभग एक विलोपी मौक्तिक बिदा-किरण-सी भासती रही।
"अरी 'प्रकृति'-बन्दी बहुदर्शी आत्मा !
ओ विचार की प्राणी ! विभावना के इस प्रदेश में बस निस्सार अमरता
का इक अपना भोग भोगनेवाली,
जिसे कि सूक्ष्म चमत्कारी मानव के मन ने रचने का इक स्वांग किया है,
अरे यही तो बस तेरी जगती है जिसमें से तव तृष्णाएं जनमी हैं।
जब यह मन निपट धूल से शाश्वतता के रचने की अभिलाषा करता है,
तब मानव-विचार आकृतियां रचता, जो माया से घिरी हुई होती हैं,
और जिन्हें वह कभी नहीं देखेगा उन महिमाओं की भविष्यवाणी कर
अपने सपनों को ले उनके भीतर
इक बारीकी से वह श्रम करता है।
प्रकाश से गुच्छित इन आकारों की देख अरी तू अब इस भाग-दौड़ को,
अकाय देवों के वायव्य चीर को,
द्रव्यों के भीतर का और हर्ष यह जो न कभी भी अरे जन्म ले सकता,
आशा आशा प्रति देदीप्त औ' अमर निज समवेत गान करती रहती है;
बदली बदली को सुतुष्ट करती है
छाया इक उत्सुक छाया के ऊपर मृदुता से आ-आकर झुक जाती है,
मृदुता से आलिंगित बन जाती है, औ' मृदुता से अनुसृत बन जाती है।
औ' बस यही तत्त्व है जिसके भीतर से विभावना का रे जन्म हुआ है :
विचार ने ही इसकी रचना की है, अंतर इच्छा ही इसकी सुनींव है,
पर इनके आवाहन पर कोई भी न सत्यता आकर उत्तर देती है।
यह विभावना न आकाश में बसती और न यह धरती पर ही बसती है,
मानव की आशा-उत्कटता की बस यह इक दीपित उन्मादावस्था है
जो बस अपने एक कल्पना-मद से छकी-छकी औ' चूर-चूर रहती है।

यह तो जैसे इक प्रदीप्त छाया की सपनाती-सी बढ़ती एक लीक है।
औ' तेरे दर्शन का दोष ही अरे नीलाकाशों को रच-रच लेता है,
औ' तेरे दर्शन-दोष ने अरे यह सुरधनुषी इक चाप खींच रक्खा है,—
और मर्त्य उत्कण्ठा ने ही तेरे हित आत्मा की इक रचना रच ली है।
औ' तेरे शरीर का देवदूत यह जिसको तू प्रेम नाम से पुकारती,
जो तेरी भावुकता के रंगों से अपने पंखों को स्वरूप देता है,
तेरी देह से उठे इक खमीर में ही तो यह उत्पन्न हुआ होता है,
इसी देह के सँग जो इसकी रक्षा करती है, यह विनष्ट हो जाएगा।
यह तो तेरे उत्कंठित कोषों से उठा हुआ इक आवेश भर प्रबल है,
यह तो काया ही है जो काया को स्व-भोग-लिप्सा के हित पुकारती है,
और यही तेरा मन है जो कि किसी सह संवेदनकारी को अभिलषता,
औ' अपने साथी के पा जाने का क्षण भर को इक सपना है सपनाता,
और यही वह प्राणिक सत्ता है जो
उस निज दुर्बलता को, जो इस जग में एकाकी है, उसे साथ रखने को
मानव का इक अवलंब चाहता है,
अथवा कहें दूसरे के जीवन से यह अपनी ही भूख को मिटाता है।
औ' प्रेम तो इक शिकारी पशु है जो निज शिकार की टोह में ठहरता है,
और स्व-भोजन के हित इक अंतर औ' शरीर को कि झपट लेने की खातिर
शोभाशाली एक खिली झाड़ी में छिप जाता है चुपके अरे दुबककर :
और इसी पशु को तू अमर समझती, उसे देवता कर जानती-मानती।
इन नाशवान् द्रव्यों की ही बस तू इक शाश्वतता प्रदान कर देने हित
निर्जीव 'पाताल' को इक फुसलाकर
क्षण भर के प्रहर्ष को खींच-तान कर
शाश्वतता के लम्बे शून्य में यहां फैलाने का व्यर्थ यत्न करती है,
इसके अरूप, अनावेग खातों को भरने की व्यर्थ चेष्टा करती है,
इस प्रकार अंतर की भंगुर गतियों
को आत्मा के अमरत्व के छद्म से अपने तू बस छलती ही रहती है।
और 'असत्' से ही स्वीय जन्म पाकर यहां सभी कुछ उभर प्रकट होता है,
आकाश की रिक्तता से ही बस यह घिरा हुआ-सा अरे टिका रहता है,
कुछ काल को अजानी एक शक्ति से यदपि अधृत ही बना हुआ रहता है
फिर निज 'शून्य'-कोख में पीछे गिरकर विनष्ट हो जाता लय पा जाता है :
बस फिर केवल वही 'मूक' एकाकी सदा-सर्वदा यहां व्याप्त रहता है।
औ' फिर उस 'एकाकी' के भीतर तो अरे प्रेम को कुछ अवकाश नहीं है।
और प्रेम की नाशवान् मिट्टी को बस व्यर्थ में विभूषित कर रखने को
उस 'अमर' से उधार लिए करधे पर

आदर्श भाव का सुन्दर, भड़कीला
जिसको नहीं यहां पर अरे कभी भी
आकार में अरे बन्दी बनकर तो
इक शरीर में और पिहित होकर तो
अस्पर्श्य है, दूर है, सतत शुद्ध है,
स्व-देदीप्त शून्य की एक अधिराज्ञी
भू के वातावरण मध्य बसने को
वह उसके जीवन से बनी बहिष्कृत
निपट अपरिवर्ती औ' अशरीरी वह

औ' अबोल ही यह अपनी सारी
मानव-आवाहन को उत्तर देने
न विचरने के लिए चरण ही हैं औ'

इसका प्रकाश अरे विचारक मानव
को दिव्य वस्तुओं के ऐहिक रूपों
इसकी चित्र-विचित्रित छाया आकर
औ' मानव की ये सारी संस्थाएं
औ' गत परंपराओं पर वह अपनी
उसके पुण्य कार्य विभावना के ही
औ' उसके रेखायित आनन के ही
औ' वह उनकी नगण्यता को उसके
फिर भी उनकी उस दरिद्र औ' पार्थिव
रचना को ढक रखने की ख़ातिर यह
वहां फ़क़त पार्थिवता ही होती है
और वहां यदि स्वर्ग कहीं होते हैं
शाश्वत 'सत्य' बना अज्ञात और यदि
तो वह 'प्रभु' के भीषण एक 'शून्य' में
क्योंकि सत्य तो जगती के मिथ्यात्वों
स्वर्ग भला इस दुखियारी पृथिवी पर
परिवर्तनशाली 'काल' के धाम में
इस-पीड़ाकुल भूमि पर और बोलो,
जहां कि जीवन इक श्रम, आशा भर है,

इक अविवर्णी चीवर बीन लिया है।
आजतक बनाया सत्य जा सका है।
न वह सुमहिमा जीवित रह सकती है;
फिर वह बिलकुल श्वास नहीं भरती है।

मानव-अंतर के शुभ्रिल मंदिर में
एक अनिच्छा के साथ उतरती है :
बस अंतर में ही दीपित रहती है।
अलख सुन्दरी, दिव्य, भव्य औ' मूकित
अडिग, अचल महिमा अपने उस ज्योतित
सिंहासन पर विराजती रहती है,
भेंट, प्रार्थना को स्वीकृत करती है।
के हित वाचा इसके पास नहीं है,
भेंट ग्रहण करने को हाथ नहीं हैं:
नग्न भावना की वायव्य मूर्ति यह,
अकाय देव का अछूता विचार यह,

के रचने की सुप्रेरणा देता है,
मानव-कर्मों के ऊपर पड़ती है,
मानो उसकी कि शून्य समाधियां हैं,
उसके ही हस्ताक्षर कर देता है,
आकाशी चीवर को अरे पहनते,
इक आभामंडल को धारण करते :
दिव्य नाम से ढक ढक कर है रखता।

मानव का दीप्त ढोंग अपर्याप्त है :
कोई स्वर्गिक स्रोत नहीं होता है।
तो निज प्रकाश से आवृत होते हैं,
किसी जगह अपना शासन करता है,
अरे बराबर जलता ही रहता है;
से दूर ही कहीं ज्योतित होता है;
अरे उतर कर कैसे आ सकते हैं?
शाश्वत आकर कैसे बस सकता है?
'दिव्य भावना' कहां विचर सकती है,–

वह जड़ता का ही बस अपना शिशु है औ' जड़ता से ही पालित-पोषित है,
औ' वह इक ज्वाला है जो कि 'प्रकृति' की गोरसी में बस मंद-मंद जलता है,
यात्रा की अति कष्टसाध्य रेंगन है जिसका ध्येय मृत्यु में ले जाता है ?
अवतार व्यर्थ जनमे औ' चले गए
ऋषि का सारा विचार व्यर्थ हो गया देवदूत की वाणी व्यर्थ हो गई,
ज्योतित उन्नत 'देव-मार्ग' के दर्शन मिले--मिलाए सब बेकार हो गए।
इस घूम रहे रवि के नीचे पृथिवी निपट अपरिवर्ती ही पड़ी रह गई
उसको अरे मोह है स्व-पतन से ही,
कोई भी सर्व शक्तिमत्ता उसकी पार्थिव कमियों को न मिटा सकती है,
दिव की सीधी रेखा को मानव की वक्र अज्ञता पर न लाद सकती है,
या कोई भी सर्वशक्तिमत्ता हो
इस मृत्युलोक को वह उन देवों का उपनिवेश तो नहीं बना सकती है।
सूर्य-यान में रमनेवाली यात्री ! पूत कल्पना-मंदिर की सुपुजारिन !
जो इस पृथ्वी के निकेत के भीतर
निज मायावी अनुष्ठान से, शाश्वत प्रेम, विभावन की पूजा करती है,
है ही क्या, तेरा यह प्रेम कि जिसको तेरे विचार ने है अर्च्य बनाया,
सुपवित्र आख्यान औ' अमर कथा यह, जिसको कि कल्पना ने रचा-रचाया ?
यह तो तेरे माँस और मज्जा की इक चैतन्य बनी-सी उत्कंठा है,
तेरी नस और नाड़ियों के भीतर जाज्वल्यमान महिमामय ज्वाला है,
स्वप्निल शोभाशाली इक गुलाब है, जो तेरे मन में कि खिला रहता है
इक महान् अरुणिम आनंद है जो बस तेरे अंतर की घोर यातना है।
अकस्मात् तव जीवन में आ पहुंचा तेरे दिवसों का इक रूपांतर है,
जैसे ही यह समाप्त हो जाता है जगत् वहां का वहीं बना रहता है।
अंतर में यह पीड़ा और मधुरता दोनों की उन्मादी एक धार है,
इसकी उत्कंठा में बस इक पुलकन इसको जैसे दिव्य बना देती है,
स्वर्ण-सेतु है, जो कि काल की गर्जन के उस पार बस तुझे ले जाती है,
औ' उस सुदूर शाश्वतता के सँग-सँग तुझे बांधनेवाली एक डोर है।
फिर भी कितना स्वल्प और भंगुर है कितनी जल्दी समाप्त हो जाता है,
यह एक कोष है जिसको देवों ने व्यर्थ मनुज के ऊपर लुटा दिया है,
आत्मा आत्मा की यह सुखी निकटता दो कायाओं के संगम की मधुता,
यह उन्नीत हर्ष का प्रियतम अनुभव और शिराओं की आनंद मधुरता,
यह बोध का अलौकिक आलोक अरे देवों ने मानव पर लुटा दिया है।
सत्यवान् यदि अभी और जीता तो निश्चय ही यह प्रेम मर गया होता,
पर सत्यवान् बिदा ले गया है तो
तेरे शोकपूर्ण अंतर में कुछ क्षण प्रेम अभी यह जीता ही जाएगा,

जब तक स्मृति-भित्ति पर अरे बस तेरी मिट उसका आनन और तन न जाए,
और वहां पर न अन्य शरीर औ' इक अन्य मुखाकृति आ अंकित हो जाए।
मानव-जीवन के भीतर जब आकर प्रेम यकायक कभी उदित हो पड़ता,
तब मानव पहले-पहले हठात् इक सूर्य-लोक में अपने चरण चापता,
तब अपने भावावेश में स्व-स्वर्गिक अंश का यहां है इक अनुभव करता :
पर केवल तब सुन्दर सूर्य-प्रकाशित
उस भूमि ने दिवावेश के अलौकिक एक पक्ष को ही है धारा होता,
फिर भी सर्प वहीं बसता, गुलाब के अंतर में कृमि भी तो वहीं निवसता।
कोई शब्द, किसी क्षण किया कर्म इक इस अंतर-देव को निहत कर सकता;
दैवाधीन अमरता उसकी होती,
उसके दुख सहने के औ' मरने के जीवन में सहस्र-लक्षों प्रकार हैं;
यह प्रेम तो एक स्वर्गीय सुधा के ऊपर फ़क़त न जीवित रह सकता है,
पार्थिव रस पर ही यह पल सकता है,
क्योंकि सकल प्रेम-राग रे यह तेरा एक सुसंस्कृत दिखती विषयेच्छा थी,
तन की औ' अंतर की एक क्षुधा थी,

तेरा प्रेम-राग थक सकता है औ'
समाप्त भी हो सकता है, या तो फिर और किसी की ओर घूम सकता है,
या तो फिर अति भीषण और निर्दयी एक अंत को अपने लह सकता है,
इक कड़ुए विश्वासघात से या फिर
निष्ठुर घावों से आहत हो-होकर एक क्रोध से विरक्त हो सकता है,
औ' जब तेरे प्रथम प्रेम का आनंद नंगा होकर रह जाता, मर जाता,
तो बस असंतुष्ट इच्छा तेरी वह अन्यों से आकर्षित हो उठती है,
बस उस प्रेम-अग्नि के थल पर नीरस उदासीनता आकर जम जाती है,
या कि प्यार की इक दिखावटी आदत आ प्रेम की नक़ल करने लगती है,
बस फिर अशान्त औ' ऊपरी मेल का अविरत एक प्रयत्न चला करता है,
या फिर बरबस जीवन-समझौते की दैनिक क्रिया इक घिसटती चलती है।
जहां एकदा स्वर्गीय शक्तियों के
दैवी साहस ने आत्मिक भू के सम
एक भव्य भूमि पर अरे बस अपनी तदात्मता का एक बीज बोया था,
उस थल दोनों संघर्ष किया करते, इक अहर्ष सहयोगी बनकर रहते;
युगल अहंताओं को एक रज्जु में लेकर फिर वे खींचातानी करते,
और विसंवादी स्वीय विचारों से बने जुदा दो मन बस अलगा जाते,
दो आत्माएँ बेमेल बनी रहतीं और सदा को ही वे विलगा जातीं।
इस प्रकार मानव की जगती में यह दिव्यादर्श पहुंचकर अनृत बन गया,
क्षुद्र रूप या धुंधले रूप में कभी भ्रांति-निवारण इक दिन होता ही है,

जीवन की यह एक कठोर सत्यता आत्मा पर बस घूर-घूर लखती है,
स्वर्गिक घड़ी स्थगित हो जाती है औ' दौड़ अकाय 'काल' में है खो जाती,
मृत्यु तुझे इससे रक्षित रखती है औ' सत्यवान् को भी रक्षित रखती :
बस अब वह इससे बन गया सुरक्षित अपने से भी औ' वह मुक्त हो गया;
वह इक नीवरता और सुख शान्ति की ओर अरे अपना सुप्रयाण कर गया।

पृथ्वी की इन छलनाओं के भीतर
पशु-'मानव' के क्षुद्र औ' दरिद्री इस जीवन में न उसे अब आवाहित कर!
मेरे विशाल और शांत आकाशों में उस महान् मृत्यु-मौन के भीतर
सत्यवान् को अब इकरस बनकर बस सोने दे री आज वहां चुप रहकर,
जहां कि प्रेम शान्ति के वक्षस्थल पर
लेटा झपकी लेता रहता है बर।

और अकेली ही तू अब बस अपनी उस भंगुर जगती में पुनः लौट जा!

और ज्ञान से स्व-हृदय को तापित कर
औ' निज स्वभाव को स्पष्ट और जीवित उन्नत उँचाइयों में उठा हुआ लख,
औ' उघार कर उसका अवलोकन कर,
औ' अकल्प्य शिखरों के ऊपर से फिर आकाशी विहगों का दृश्य देख तू,
क्योंकि अरे जब तू अपनी आत्मा को इक सपने के भीतर रूँधे होगी
तभी शीघ्र इक कठिन विवशता तुझको सहसा देकर आघात जगा देगी :
प्रारंभ हुआ था जो हर्ष शुद्धतम उसका कभी अंत भी आना ही था।
यह ज्ञान तुझे भी बस हो जाएगा,--

शाश्वत सुसागरों में बंधी हुई इस
पलनाशायी तव आत्मा को न कहीं भी तव अंतर-लंगर झुला रहा है।
तेरे ज्योतित मन के चक्र व्यर्थ हैं।
अरे भुलाकर अब अपने सुहर्ष औ' आशा तथा अश्रुओं को सुगहनतर
तू इस सुखी 'शून्य' और अशब्दा इस निश्चलता के गहन हृदय के भीतर
रागावेगी निज प्रकृति को गुमा दे!
और रहस्यात्मक मेरी प्रशान्ति में उस सबको लाकर चुपचाप सौंप दे!
औ' मम अगम 'शून्य' सँग एक बनी-सी सब कुछ को अब तू भूल औ' बिसर जा!
तथा निरर्थक आत्मशक्ति की अपनी यह सारी बर्बादी अरी भूल जा!
और जन्म से उपजे आवागमनी के इस क्लांत चक्र को निपट भूल जा!
औ' उस प्रहर्ष को भूल जा, तथा उस संघर्ष और उस दुःख को भूल जा!
उस अस्पष्ट आत्म-खोज को भूल जा, प्रथम-प्रथम जो कि यहां शुरू हुई थी,
जब कि लोक-लोकान्तर फूटकर यहां अग्नि-पुष्प के गुच्छ सरिस प्रकटे थे,
और मानसिक नभ में जब महान् उन ज्वलंत सुविचारों ने यात्रा की थी,
'काल' और युग-युगान्त जब विराट् में उद्भव पाकर बस रेंगने लगे थे,

आत्माएं नश्वरता में प्रकटी थीं।"

पर सावित्री ने उस अंधकार की असित शक्ति को अपना उत्तर अरपा:
अरी 'मृत्यु'! तूने अब अपनी वाणी
को संवादी इक दुःख में गलाकर खतरनाक इक संगीत सुनाया है,
सत्य के दुखी स्वर में मिश्रित होकर
तेरे झूठ और मिथ्यात्वों ने बस
मेरे सम्मुख उन्हीं क्लांत आशाओं हित आकर्षक बाँसुरी बजाई है।
पर तेरी वाणी को मैं न कभी भी निजात्मवध की आज्ञा दे सकती हूँ।
मेरा प्रेम हृदय की क्षुधा नहीं है, औ' यह शारीरिक लालसा नहीं है,
यह तो मुझ तक 'प्रभु' से ही आया है 'प्रभु' में ही लौटा और जा रहा है।
यहां तक कि उस सबमें, जिसको मानव औ' जीवन ने कलुषित कर रक्खा है
उसमें भी एक दिव्यता की धीमी फुसफुसान अक्सर ही सुन पड़ती है,
औ' शाश्वत के लोकों से आई-सी श्वास एक अनुभूत हुआ करती है।
और स्वर्ग की इच्छा से ही आई, जो मानव हेतु भले अद्‌भुत होती,
दिव्यावेश की मधुर औ' अग्निल लय कभी प्रेम के कानों में गा उठती।
उसकी उन्मादी और अन्तहीना पुकार में इक आशा जुगजुगती है,
वह उन अपनी विस्मृत उंचाइयों के आवाहन के लिये जाग उठता है,
औ' जब उसके स्वर उन उन्नत-पंखी
आत्माओं के सुन्दर दिव में जाकर सुशान्त होकर नीरव हो जाते हैं,
तब उसकी जाज्वल्यमान इक श्वासा परालोक में भी रहती जीती है,
सूर्यों का आनन्द-मर्म बनती है,–
जो कि अलख आकाशों में जलते हैं सदा-सदा जो शुभ्र, शुद्ध रहते हैं,
औ' 'नित्यानन्द' की गिरा बनती है।

और एक दिन मैं महान् औ' प्यारे
अपने जग को देवों के कठोर इन छद्मावेशों को टारते लखूंगी,
भय का एक आवरण हट जाएगा, और पाप का चीवर गिर जाएगा।
औ' फिर सुसन्तुष्ट बन हम सब अपनी 'मां' के आनन के प्रति खिंच आएंगे,
औ' इन अपनी निश्छल आत्माओं को सुख से डाल गोद में उसकी देंगे;
तब हम उस आनंद को, जिसके पीछे
हम भागे-भागे फिरते रहते हैं उसे बाहु भर आलिंगित कर लेंगे:
तब हम स्वीय चिर-अपेक्षित सुदेव को पाकर सुख से मोहित, सिहरित होंगे,
तब हम सब उस 'दिव' की अप्रत्याशित तान को अरे फिर से प्राप्त करेंगे।
अरे शुद्ध देवों की खातिर ही तो यहां नहीं केवल अपार आशा है
अपितु उग्र तममयी शक्तियां भी तो
जो कि क्रोध भर 'एकम्' के अंतर से

कुछ ऐसा पाने के हित कूदी थीं,
जिसे न शुभ्र देव भी प्राप्त कर सके,
वे भी इस थल रक्षित बनी हुई हैं;

'मां' की आंखें उन पर गड़ी हुई हैं,
औ' उन विद्रोही पुत्रों की खातिर
सुप्रेम से बाहें भी उठी हुई हैं।
ऊपर से आया 'एकम्' ही, शाश्वत
प्रेम तथा प्रेमी और प्रेमिका है।
उसने अपनी ही खातिर तो है यह
अद्भुत और अलौकिक क्षेत्र रचाया,
और एक सुचमत्कारी नर्तन की
लय-ताल को उसी ने तो बिनवाया।
नर्तन के इन फेरों में औ' इन सब
जादुई घूम-घुमावों के भीतर
खिचा हुआ-सा वह इस थल आता है,
ठेल दिया-सा गया भाग जाता है।
बस मन की उन्मादी और मार्ग-च्युत
अरे प्रेरणाओं से चालित होकर
अश्रु-मधुरता का सुस्वाद लेता है,
औ' इक पश्चात्तापी मनोदशा में
आनंद को तिलांजलि दे देता है,
हास्य, क्रोध दोनों को धारण करता,
जो आत्मा का एक भग्न गायन है,
औ' खुद सुशांत बनकर अपने स्वर्गिक
अनुप्रास की खोज किया करती है।
और काल में आकर सदा हमारे
साथ अरे वह भेंट किया करता है
नया-नया प्रिय आनन ले आता है,
जो कि बस पुराना ही तो होता है।
और हमारे सम्मुख आकर उसका
आनंद हंसता है औ' जैसे छिपकर
स्पन्दायमान इक कानन के भीतर
ज्योत्स्ना-भीगी तरु-डालों से होकर
एक दूर से आती अदृष्ट-सी औ'
मोहक बंशीध्वनि से पुकारता है,
औ' क्रोध से भरी इक खोज के लिए
रागावेगी इक दुःख के लिए औ'
हमको उकसाता अविरत रहता है।
छद्मावरणों में छिपकर वह प्रेमी
बस आत्माओं को ढूंढ़ा करता है,
उनको आकर्षित करता रहता है।
मेरे लिए नाम धारण कर जग में
उसने सत्यवान् का रूप धरा है।
क्योंकि आदि से ही तो बस हम दोनों
नर-नारी का स्वरूप धर आए हैं,
हम जुड़वां आत्माएं हैं जो अमरा
उस एक अग्नि से उत्पन्न हुए हैं।
क्या वह मेरे सम्मुख ऊषा बनकर
नहीं अन्य लोकों में उदित हुआ था?
कैसे निशि में व्याघ्र की तरह उसने
जग-झाड़ियों बीच मुझको पछुआया,
और हठात् कहीं बस राह रोककर
सहसा मेरे सम्मुख है प्रकटाया,
और कूदकर निज महिमामय स्वर्णिम
छलांग से है मुझे झपट धर पाया!
अरे काल में असन्तुष्ट होकर वह
मेरे हित लालायित बना फिरा है,
कभी क्रोध से भर कर और कभी वह
अपनी भोली मधुर शान्ति से भरकर
जग के आदि काल से ही लेकर वह
बस मेरी इच्छा रखता आया है।
वह प्लावन से उठी हुई उन्मादी
एक लहर के समान उमड़ पड़ा था

विवश बनी मुझको आनन्द-सागरों
औ' आवृत मेरे उस भूतकाल से
और उन्होंने इक प्रेरक औ' कोमल
और उन्होंने प्रसन्नचित्त सुकंपित
इक निष्ठुर ज्वाला से और भभककर
सुन्दर आकारों में आकर्षित बन
और प्रहर्षित बनी दूर से आती
औ' अगणित भीषण बाधाओं में से
फिर यदि उससे सुखितर और महत्तर
उसको पहले आकर सत्यवान् की
औ' उसकी आत्मा को उसके ही सँग

औ' फिर उसको मुझे यों खोजने दो,
बस मेरे इस वक्षस्थल के भीतर
और वहां मेरे उर-सिंहासन पर
बढ़ो 'मृत्यु देवता' बढ़ो अब आगे
इस जग के छाया-सौंदर्य के अरे
मैं इन नागरिकों में अरे नहीं हूं,
मैं अग्निरूप देव की उपासक हूं!

अपनी शान्त और भीषण वाचा के
"तेरे विचार इक जगमगित भ्रांति हैं।
आध्यात्मिक डोर से घसीटी जाती
अपनी ही ऐन्द्रिय इच्छाओं की बस
निज उर की अरुणिम महिमा के द्वारा

पर भावुक अंतर में ज्ञान न बसता;
'प्रज्ञा'-सिंहासन से अंतर-वाणी
इस पृथ्वी पर स्वर्ग को बसाने की
तू दिव्यादर्श और 'दिव्य भावना'

जो अपने मात-पिता के चरणों को
जो अयोग्य रहकर स्व-साहसी नेता
पर नभ में यह शाही उड़ान भरने,-

में अपने औ' बरबस खींच लिया था,
कढ़ उसके कर मुझतक आ पहुंचे थे;
वायु की तरह मेरा स्पर्श किया था,
पुष्प की तरह मुझको तोड़ लिया था,
सुख से आलिंगित और कर लिया था।
फिर मैंने भी उसको ढूंढ़ लिया था,
उसकी ध्वनि पर बस मैं दौड़ पड़ी थी,
भी होकर उसकी ओर बढ़ गई थी।
कोई अन्य दूसरा सुदेव है तो
आनन-श्री को ही धारण करने दो,
जिस सुश्रेष्ठ को कि मैं प्रेम करती हूं
मिलकर अब एकात्मा बन जाने दो।
जिससे मैं भी उसकी चाहना करूं।
एक ही हृदय है जो धड़क रहा है,
एक देवता ही आरूढ़ बना है।

उस पार और अब हमको चलने दो!

'स्वप्न देव' को प्यार नहीं करती हूं।"
किन्तु 'मृत्यु' ने फिर उसके अंतर पर
प्रभुत्व को आरोपित किया शक्तिभर।

हुई अरी इक बन्दी के समान तू,
बनी हुई केवल उत्सुक गुलाम तू,
गरुड़-संतुलित से पंखिल शब्दों को
रवि से मिलने हेतु उठाया करती।

बनी अनसुनी च्युत होकर गिर जाती।
तेरी यह सारी लालसा व्यर्थ है।
के रचनेवाली ओ मनश्चेतने!
प्राण-कोख में 'जड़ता' की संतति है!
उच्च भूमिका हित प्रेरित करती है,
के चरणों पर न ठीक से चल पाते,

वाला मन पृथिवी पर धीरे-धीरे औ' लँगड़ा-लँगड़ा कर ही चलता है,
जीवन के विद्रोही तत्त्व को अरे ढाल-सँभाल कठिनता से पाता है,
इन्द्रिय-अश्वों की सरपट टापों पर कठिनाई से लगाम दे पाता है:
औ' उसके विचार बीच में रुके बिन सीधे बस स्वर्गों को ही लखते हैं,
वह स्वर्गिक एक खान से खन उनके सुवर्ण को तो खन निकाल लाता है,
किन्तु कर्म उसका सामान्य धातु पर निज कार्य कठिनता से कर पाता है।
री! तेरे सारे ही उन्नत सपने 'जड़' मन के द्वारा ही गढ़े गए थे,
कि वे रचे मन के सब कार्यों को इस 'जड़ता'-जेल में तनिक शान्ति दे सकें,
वह जड़ता जो इसका मात्र धाम है जहां कि केवल यह सच दिख पड़ता है।
जो कि सत्यता की इक ठोस मूर्ति है,
जिसने कि 'काल'-कार्यों के आलंबन हित ही तक्षित किया अरे प्राणी को।
'जड़ता' ही बस ठोस धरा पर अपनी दृढ़ता, निश्चयता से विराजती है,
सृष्ट जगत् की यह पहली संतति है,

औ' जब मन, प्राण सभी हत हो जाते तब अंत तक बस यही इक टिकती है,
अंत कहीं यदि इसका भी हो जाए तो फिर अंत सभी कुछ का आ जाए।
अन्य सभी कुछ परिणाम इसी का है,
या कि कहें इसकी ही इक मुद्रा है:
औ' तेरी आत्मा बस इस 'जड़ता' के भूमि-खण्ड में इस मन-मालीद्वारा
रचा हुआ बस भंगुर एक पुष्प है;
और उसी पौधे के ऊपर, जिसके ऊपर वह विकसा है औ' पनपा है,
उसके ही सँग विनष्ट हो जाता है,
क्योंकि इस धरा के रस से ही तो यह अपने इस स्वर्गिक रँग को पाता है,
तेरे विचार तो वे झलकें हैं जो जड़ता की किनार ऊपर पड़ती हैं,
औ' तेरा जीवन 'जड़ता'-सागर पर उतार को प्राप्त हो रही कि लहर है।
यही 'सत्य' की सीमित जायदाद का एक सचेत बना-सा कारिंदा है,
जो उसके दृढ़मूल बने तत्त्वों को

एक शाहखर्ची 'शक्ति' से बचाकर इक निधि की विधि निधियानेवाला है,
यह मन को इन्द्रियरूपी खेमे के खूंटे में लाकर गठिया देता है,
औ' प्राण की उड़ान को अरे भारी इक धूमिल दैनिकी में जकड़ता है,
और सकल जीवों को अरे 'नियम' की डोरों से बस बांध-बांध देता है।
यह तो रूपांतर कर देनेवाली अरे कीमियाओं का एक पात्र है,
मन औ' जीवन को एक साथ लेकर चिपका देनेवाला एक गोंद है,
यदि यह 'जड़ता' असफल हो जाए तो चूर-चूर हो टूट-फूट सब जाए,
'जड़ता' पर बस टिका सभी यों रहता मानो एक शिला पर टिका हुआ हो।
फिर भी सकल सुरक्षा औ' यह ज़ामिन

प्रमाण देने को जब परवश बनता तो धोखा ही एक सिद्ध होता है:
जहां किसी पदार्थ की अस्ति नहीं है यह इक पदार्थ का भ्रम पैदा करता,
केवल इक प्रतीति है औ' प्रतीक है एक 'शून्य' है औ' बस इक अभाव है,
इसके आकारों को अरे जन्म का कोई मौलिक अधिकार ही नहीं है:
औ' इसकी दृढ़ स्थिरता की प्रतीति यह
तो बन्दी गति के चक्र का फ़क़त इक अरे दीखनेवाला छद्मवेश है,
औ' यह ऊर्जा के चलते नर्तन के पद-विक्षेपों की एक व्यवस्था है,
जिसके पदांक बार-बार बस अपने उन्हीं उन्हीं चिह्नों को छोड़ रहे हैं,
निःसार 'काल' का यह मूर्त्तानन है,
आकाश-रिक्तता को और बिंदुकित कर देनेवाला एक प्रस्रवण है,
और अपरिवर्तित रहनेवाली औ' अविरत स्थिर दिखनेवाली इक गति है,
फिर भी परिवर्तन इक आता ही है, वह अंतिम परिवर्तन अरे 'मृत्यु' है।
जो अत्यंत वास्तविक कभी दिखा था वह सब कुछ इक 'शून्य' का तमाशा है,
जड़ की आकृतियां वे जाल-फंद हैं जो इन्द्रियबोध को फंसा लेती हैं,
और उसे बन्दी बनवा देती हैं।

अनादि 'शून्य' कि इसका निर्माता था:
यहां कुछ नहीं है बस 'दैवयोग' के द्वारा चित्रित की कुछ प्रतीतियां हैं,
औ' बस इक दिखनेवाली 'ऊर्जा' की प्रतीत होनेवाली आकृतियां हैं।
'यम देव' की और करुणा से ही बस सब कुछ श्वासें भरता, क्षण भर जीता,
और अचित् की एक कृपा से ही तो सब कुछ विचार तथा कर्म कर लेता।
अपने विचार-विलास के इस मोहक और पुराने एक व्यसन में फँसकर
इस 'मन' रूपी एक स्फटिक के भीतर
अपनी चितवन को उन गुह्य दर्शनों के लखने हित अंतर में न मोड़ तू!
औ' देवाकारों के सपनाने को अपनी आंखों को बरबस न मूंद तू!
आखिर तू नेत्रोन्मीलन स्वीकृत कर
औ' फिर देख यहां पर किन तत्त्वों से तू औ' यह जग निर्मित सकल हुआ है?
एक अचेतन निश्चल 'महा असत्' में
एक अचेतन से रहस्यमय ढंग से एक चल जगत् बस उत्पन्न हुआ है।
यद्यपि कुछ क्षण को वह रक्षित भी था सुख से बना पड़ा था यहां अचेतन,
पर रह सका नहीं वह अरे बराबर अपने सत्य से सतत सुसन्तुष्ट बन,
क्योंकि अरे निश्चेतन वक्षस्थल पर उसके किसी तत्त्व ने जन्म ले लिया,
जो बस जानने तथा लखने के हित
अनुभव और प्रेम करने की खातिर था जैसे इकदम मजबूर बन गया,
इसने किया निरीक्षण निज कार्यों का भीतर किया एक आत्मा का कल्पन;
लगा सत्य को इधर-उधर टटोलने आत्मा औ' 'प्रभु' के सपने को लखने।

फिर बस जब कि अचेतन ही सब कुछ था   तब यह सब कुछ भली भांति चलता था।
औ' मैं 'महाकाल' ही तो राजा था   निज शाही स्थिति को धारण करता था,
अपनी संकल्परहित, दोषरहित औ'   सकल योजना का कल्पन करता था,
एक शान्त और अचेतन अन्तर से   सब कुछ का सर्जन करता रहता था।
अचूक चिन्तनहीन शक्ति ने मेरी   अवास्तविकता की निज परम शक्ति में
उसी अभावात्मकता को रूपों के   धारण करने हित मजबूर बनाते,
विधि की भांति सुनिश्चित दैवयोग के   द्वारा इक निश्चयता को बस रचते,
एक सनक के द्वारा ही बस अपनी   'अनिवार्यता' के सुसूत्रों को गढ़ते,
अरे 'शून्य' की इस खोखली भूमि पर
'प्रकृति'-योजना की इस अति ही निश्चित   एक विलक्षणता को किया प्रतिष्ठित।
खाली 'आकाश' को नियंत्रित करके   मैंने बदल दिया था उसे 'देश' में।
बस इक प्रसरणशीला औ' आकुंचन-
शीला एक श्वास ने विश्व-अग्नियों   को निज में था आश्रय और दे दिया:
चरम-परम मौलिक उस स्फुलिंग को बस   मैंने ही संघट्टन से उपजाया
औ' 'शून्य' में विरल व्यूहबद्ध उसकी   सेनाओं को फिर चहुंमुख छितराया,
गुह्य दीप्तियों से उडु-मंडल विरचा
औ' उस अदृष्ट नृत्य-गुल्म को लेकर   इक क्रम से बस सुव्यवस्थित करवाया,
बस अणु और गैस के द्वारा मैंने   पृथिवी की सुन्दरता को निरमाया,
औ' इक रासायनिक प्राणरस द्वारा   जीवित-जाग्रत् मानव को सिरजाया।
बस तब 'विचार' इस जगती में आया   औ' समस्वरित जगत् को विकृत कर दिया,
जड़ता ने भी आशा, विचार करना   औ' अनुभव लेना आरंभ कर दिया,
नाड़ी और मांस-मज्जा ने भी अब   हर्ष-शोक का सहना शुरू कर दिया।
अचित् विश्व ने अपने कार्य-भार को   कि सीखने का एक प्रयत्न था किया,
'मन' में अज्ञानी व्यक्तिगत देवता   ने आकर बस अपना जन्म ले लिया,
औ' जानने-समझने की खातिर अब   इक बुद्धि के नियम का चलन रच लिया,
निर्व्यक्तिक 'विराट्' मनुज-कामना के   स्पन्दन पर स्पन्दित होने कि लग गया,
महान् जग के अंधे अचल हृदय को   विपत्ति ने दोलायित और कर दिया,
और 'प्रकृति' ने अपनी उस विशाल औ'   अमर शान्ति को था इकदम गुमा दिया।
तब से जीवन के हर्ष औ' शोक में
'जड़'-निद्रा में, 'मन' की नश्वरता में
फंसी हुई इन आत्माओं का भीषण   कुंचित, जटिल दृश्य इक प्रकट हो गया,
और 'प्रकृति' के बन्दीगृह के भीतर   स्व-मृत्यु औ' चेतनता अगोरते
जिज्ञासारत इक अज्ञता में पड़े
इन जीवों का एक विकृत औ' सुजटिल   वृत्तांत बस उपस्थित यहां हो गया।
यही जगत् है जिसमें तू भ्रमती है,   मानव-मन के इन उलझे पंथों में

इस निष्फल से जीवन के चक्कर में
अपनी आत्मा को ढूंढ़ती, खोजती
औ' इस भ्रम को पाले कि 'प्रभु' यही है
इधर-उधर भटकी-भटकी फिरती है।
किन्तु यंत्र की पाशव विशालता में
यहां अंतरात्मा को स्थान कहां है ?
या 'प्रभु' के हित कोई जगह कहां है ?
भंगुर एक 'प्राण' को ही तो तू बस
निज अंतरात्मा करके लखती है,
जो एक गैस से औ' जीवन-रस से
वीर्य तथा बीजाणु से कि उपजी है,
मानव-मन की सुप्रवर्द्धिता मूर्ति को
ही तो तूने 'प्रभु' की संज्ञा दी है,
तेरी ही यह एक प्रतिच्छाया है
जो प्रक्षेपित 'आकाश' में हुई है।
उन्नत औ' अवनत 'शून्य' के बीच बस
बनी अवस्थित तव चेतना अज्ञता
के विरूपकारी दर्पण में परितः
फैले जग को प्रतिबिंबित करती है,
या कल्पित तारों के धर लेने को
ऊपर की दिशि घूम-घूम पड़ती है,
और एक 'अर्ध सत्य' बस यदि अपने
प्रकाश को कोई काले छायान्वित
प्रदेश के ऊपर प्रक्षेपित करके
पृथिवी के सँग खिलवार कर रहा है
तो यह उसको छूता भर है औ' बस
एक प्रकाशित दाग छोड़ जाता है।
तू अपनी आत्मा के लिए बराबर
अरी अमरता का दावा करती है,
पर अपूर्ण मानव के लिये अमरता !
उस देव के लिए, जो अपने को बस
पग-पग पर आहत करता रहता है,
शाश्वत दुख का एक चक्र ही होगा।
प्रज्ञा और प्रेम पर तू जो अपने
अधिकार का यहां दावा करती है,
पर यह सारी विद्या तो जगती में
भूलों द्वारा निर्मित एक वस्तु है,
'निश्चेतन' की कुशाग्र धी-दलाल है,
औ' यह तेरा मानव-प्रेम तो फ़क़त
बस पृथिवी के रंगमंच के ऊपर
भरपूर आवेश से परी-नृत्य की
अनुकृति करता रहनेवाला नट है।
मानव का यह ज्ञान अरे अनुभव से
दबा-दबाकर पेरा हुआ कि रस है,
जो स्मृति-मटके में ढाला जाने पर
मर्त्य घूंट का ही कुस्वाद लाता है:
औ' प्रेम तो वासना की उद्दीपक
किन्हीं ग्रंथियों रिसता मीठा रस है,
जलती हुई नसों और नाड़ियों को
जो आह्लादित औ' पीड़ित करता है
वह तो अंतर का इक मधु है, विष है
जो अंतर के द्वारा इक देवों के
अमृत सरिस पान कर लिया जाता है,
यह पार्थिव मानव का ज्ञान तो अरे
कोई महान् धिषणा-शक्ति नहीं है,
और प्रेम तो इक गगनों से उतरा
कोई दीप्त स्वर्ग का दूत नहीं है।

यदि ये भू के तमोवायुमंडल के पार पहुंचने की सुअभीप्सा करते,
औ' अपने दुर्बल मोमी पंखों से उड़कर रवि की दिशि यों जाते बढ़ते,
तो यह कृत्रिम लादा हुआ उड्डयन कितना ऊँचा अरे पहुंच सकता है?
पर वह दैवी प्रज्ञा तो पृथिवी पर अपना शासन नहीं चला सकती है,
औ' दिव्य प्रेम की सुगन्धि पृथिवी के ऊपर न कहीं पाई जा सकती है;
वे स्वर्गजात हैं और स्वर्ग में ही वे केवल जी और जाग सकते हैं,
या कि वहां भी शायद बस वे दोनों एक प्रकाशित सपना ही होते हैं।
यही क्या! अरे तू जो कुछ भी है औ' जो कुछ करती, सपना मात्र नहीं है?
तेरे मन औ' प्राण अरे दोनों ही 'जड़ता', के ही बल के केवल छल हैं,
यदि तेरा मन तुझे एक सुप्रकाशित सूर्य की तरह दिखलाई है पड़ता,
औ' जीवन यदि तुझको एक क्षिप्र औ' महिमामय सपने-सा बहता लगता,
तो यह सब तेरे नश्वर अंतर की,—
जो इक कल्पित सौख्य औ' प्रकाश की सुकिरण से अपनी चौंधिया उठा है,
उसकी ही इक माया है, छलना है।
अपने पाए इक दिव्याधिकार से तो वे दोनों जीने में अशक्त हैं,
वे निज देदीप्त एक अवास्तविकता से खुद विश्वस्त बने ही जीते हैं,
औ' जब उनकी आधारभूमि उनसे
कट जाती है तो ये 'जड़ता' के शिशु 'जड़ता' में डूब नष्ट हो जाते हैं।
औ' यह जड़ता भी तब इक ऊर्जा की अस्पष्टता बीच बस खो जाती है,
औ' यह 'ऊर्जा' भी प्राचीन 'असत्' की एक क्रिया के स्वरूप रह जाती है।
तो दिव्यादर्श के असार रंग ये
भू की रक्तिम धूसरता पर कैसे स्थूल रूप में चित्रित हो सकते हैं,
सपने के भीतर इक सपना कैसे दोहरे प्रकार से सच हो सकता है?
इक अगियाबैताल किस तरह से रे! नभ का तारा सुसिद्ध हो सकता है?
तेरा 'दिव्यादर्श' तो अरे तेरे मन के भीतर उपजी एक व्याधि है,
तेरी वाणी औ' तेरे विचार की तेजस्वी एक प्रमादावस्था है,
सुन्दरता की अद्भुत मदिरा है जो मिथ्या दृष्टि के लिए उकसाती है।
और लालसाओं के द्वारा तेरी रची हुई यह उच्च कपोल कथा है,
उसको भी तेरी मानव-अपूर्णता में अपना भाग बंटाना ही होगा:
'प्रकृति' में रचा प्रति आकार कि उसका है अंतर को निराश ही कर देता,
और कभी स्वर्गिक आकार को यहां अपने है वह प्राप्त नहीं कर सकता,
न 'काल' में है वह सुसिद्ध हो सकता।
अरे विचारों की महिमा से अपनी छली गई ओ तू मानव की आत्मा!
स्वर्ग स्वप्नद्रष्टा ओ पार्थिव प्राणी!
सुसंतुष्ट होकर और शान्त होकर पार्थिव नियम का अरी परिपालन कर।

और उसी प्रकाश को जो तेरे इन दिवसों को दीपित करता, स्वीकृत कर।
फिर 'जीवन' के मिले हुए प्रहर्ष से जो कुछ ले सकती है उसे प्राप्त कर,
श्रम औ' शोक तथा चिन्ताओं को सह जिन्हें तुझे सहना ही है चुप रहकर।
और सनातन निद्रावाली मेरी

लम्बी और सुशान्त निशा बस इक दिन
तेरे इस रागावेष्टित अंतर को मौन बनाती हुई निकट आएगी :
और तू उसी नीरवता में अपनी जिससे आई है फिर लौट जाएगी।"

पर्व १०, सर्ग ३

प्रेम और मृत्यु का वाद-विवाद

उदास, विध्वंसी अवरोही स्वर-सम बस अब यम की वाणी डूब थी गई;
जीवन के बढ़ते क़ाफ़िले को यथा
अपने सँग ले आदिम, शान्त रिक्तता के भीतर जाकर बस लीन हो गई।
पर सावित्री ने सर्वशक्त 'यम' को था अब फिर से अपना उत्तर अरपा :
"जग के असित भाल ! ओ कूट तार्किक !
तू अपनी 'आदि भावना' के द्वारा उस वास्तव को है आवृत कर रखता,
और 'प्रकृति' के जीवित-जाग्रत् मुख को तू पाशविक वस्तुओं से ढक देता,
अपने मृत्यु-नृत्य से शाश्वतता के स्वरूप पर एक आवरण प्रसार कर
तूने अज्ञानी 'मन' को लेकर इक पट के समान यहां बीन रक्खा है,
और 'विचार' को सतत भ्रांति का लिपिक और रसद भंडारी बना दिया है,
औ' मनके सेवक-सम बोध को अरे झूठे साक्षी-सम तैयार किया है।
तू जगत् के शोक का एक रसिक है,
कटु और दु:खपूर्ण दार्शनिकता का तू इक पोषक है इक अनुमोदक है,
'प्रकाश' के सर्वथा बहिष्कर्ता उन शब्दों को ही तूने उच्चारा है,
और झूठ को उचित सिद्ध करने हित ही तूने 'सत्य' को बस पुकारा है।
असत्यभाषी एक वास्तविकता ही बनी यहां मिथ्या का राजमुकुट है,
औ' इक विकृत सत्य ही बना यहां पर उसका अतिमूल्यवान् इक हीरा है,
हे 'काल'-देव तू 'सत्य' तो बोलता, पर यह हतनेवाला एक 'सत्य' है,
लेकिन मैं तुझको उत्तर देती हूं उस 'सत्य' से कि जो रक्षा करता है।
इक अद्भुत यात्री जो कि यहां अपना नवल रीति से अन्वेषण करता है,—
जिस यात्री 'एकम्' ने इक 'जड़' जग को ही निज प्रारंभिक बिन्दु बनाया था,
उसने ही एक 'असत्-ता' में अपना जीवित-जाग्रत् इक धाम रचाया था,
और रात्रि को बस शाश्वत प्रकाश के ही इक क्रम विकास में निर्माया था,
और मृत्यु को ही अमृतत्व के लिए इक अंकुश के समान करवाया था।
बस 'प्रभु' ने 'जड़ता' की इस पगड़ी को अपने सिर पर इस प्रकार था बांधा
कि दृष्टि से उसको ओझल बना दिया,
और चेतना ने उसकी, निश्चेतन के सागर में थी इक डुबकी मारी,
और लगा तब 'विद्या' एक तमोमय निश्चेतन में बदल गई बस सारी,
औ' अनन्तता ने सीमाविहीन बस एक शून्य की रूप-रेख थी धारी।

आनन्द की और गहराइयां सभी
औ' 'शाश्वतता' बस बिलकुल खालीखम
बस उस 'आदिम' शून्य को मिटाते-से
कालातीत ने उसी रीतेपन में

जिससे आत्मा अपनी साहस-यात्रा
जग की अनिवारी आवश्यकता के
औ' व्यक्ति की अंतरात्मा अपने इस
बस फिर इन अंधी विशालताओं में
औ' उस प्राचीन 'असत्' के भीतर बस
'प्रभु' के इस भीषण 'शून्य' बीच फिर तो
उदीयमान एक ज्वाल की गुह्य औ'
औ' 'अभाव' के महाखात के भीतर
उसकी वर्चस्वी 'शक्ति' ने अरे निज
निज अरूप गति को आन्दोलित करके
औ' फिर इस निश्चेतन 'जड़ता' को उस
इक मन्द और शिशु-भाव में कि शाश्वत
फिर इस निष्क्रिय 'जड़ता' के भीतर से
अवचेतन 'प्राण' में अरे यह 'मन' की
बस फिर निज तंद्रा की मादकता को
झकझोर कर दूर कर देने के हित
इस जागते हुए 'जीवन' के मिस बस
एक अचेतन तत्त्व और फिर जैसे
विश्व-हृदय ने स्पन्दन शुरू कर दिया
मस्तिष्क के और मूक स्पन्दनों की
की खातिर बस एक वृत्त के भीतर
औ' फिर वाक्शक्ति को ढूंढ़ निकाला
जिसने विश्व अज्ञता पर प्रकाश की
मानव के जागरणशील इस मन में
बस इक तार्किक प्राणी ने संकल्पन

औ' पाशव साथी-संगियों बीच निज
फिर जीवन को नए ढंग से विरचा
निज विधि के विरोध में खड़ा हो गया
जग-शासनकर्ता और विधानों को

बदल फिर अचेतन सिंधुओं में गई,
आध्यात्मिक एक 'विराट्' ही बन गई।

फिर तो निजी प्रतिष्ठान ही बनाया,
और वहीं से जग का रूप रचाया,
पर इस 'काल'-क्षेत्र में बस उतर सके
सँग वह अपना भीषण युद्ध रच सके,
वैश्विक तीर्थाटन को सिद्ध कर सके।
इक आत्मा फिर से गतिशील बन गई,
उसने इक विचार की रचना कर दी,
इक अंतरात्मा हो उठी प्रकाशित,
श्रमकर्त्री इक दीप्ति हो उठी भासित।

महान् कार्य का सदारंभ कर दिया,
आकारों का अविरत सृजन कर लिया,
'अशरीरी' के शरीर में बदल दिया।
की अगणित ऊर्जाएँ यहां जग उठीं।
औंघाती 'प्राणशक्ति' ने सुश्वास ली,
शक्ति निगोपित, निद्रित पड़ी हुई थी,

अपने विशाल अंगों को फैलाया।
बोधेन्द्रिय में लगा कि सिहरित होने,
औ' लखना प्रारंभ किया नेत्रों ने।
भीड़-भाड़ में विचार निज को पाने
घूम-घूमकर लगा कि कुछ टटोलने
और उस नवोत्पन्न शब्द को पाला,
विततियां विरच सेतु इक बना डाला।
अरे 'मनीषी' ने निज धाम बनाया,
सीखा और योजना रचना जाना,
और सतत अन्वेषण का व्रत ठाना;
वह आकर बस सीधा खड़ा हो गया,
जग की नाप-जोख का मान रच लिया,
जूझ अदृष्ट 'शक्तियों' से और गया,
जीता, उनका उपयोग भी कर लिया,

स्वर्गों पर चढ़ जाने की आशा की
अपने विशाल वातावरण का और
बस अब मन की खिड़की में से होकर
मनुजात्मा के पर्दों के पीछे से
उसने अज्ञात को विलोक लिया है,
औ' 'सत्य' के निरावृत शुचि आनन को
औ' शाश्वत 'रवि' से आ इक मयूख ने
और पूर्वदर्शी सुगहनताओं में

औ' उड़ने हित उन्मीलित पंखों की
'प्रभु' की ओर विराट् तथा अवरोही

ओ मृत्युदेव! तू तो अभी अधूरी
जो तुझसे आक्रांता बनी हुई है,
अपूर्ण मनों और अज्ञ जीवनों से
और तभी तू कहता कि 'प्रभु' नहीं है,
पर कोई अबोध शिशु एकाएकी
और अभी वह शिशु है इसीलिए क्या
और अभी वह अज्ञ है इसी से क्या
इक नन्हें-से नगण्य बीज में अरे
औ' इक लघुतम बीजाणु के बीच यह
नन्हें वीर्य-बिन्दु में इक नन्हा-सा

तो क्या अब भी 'कालदेव'! तू 'प्रभु' के
गुह्य और अध्यात्मिक चमत्कार को
फिर भी यही कहेगा, कि 'प्रभु' नहीं है
इक गूंगी भौतिक सत्ता जगती है,
उसने आविष्कार किया वाणी का,
कुछ है, जो उस पार प्रतीक्षा करता,
कुछ है, जो उसको चहुंदिशि घेरे है,
छिपी हुई आत्मा को उधार लेना,

बस 'प्रभु' के भीतर गुप्त एक जग ने
औ' अभिव्यक्त 'ईश' के प्रति प्रयाण का

तारों तक जाने का हौसला किया,
सब प्रकार से वह इक 'ईश' बन गया।

छिपकर अर्धदेव एक ताकता है:

उसने दृष्टि उठाकर देख लिया है;
जैसे उसका सुस्पर्श कर लिया है,
अडिग, अचल, अवाक् वह खड़ा हुआ है,
'पराप्रकृति'-प्रकाश में जगा हुआ है,
शोभा-महिमा को वह निरख रहा है,
शक्ति का सुअवतरण विलोक रहा है।

इक जगती को ही बस देख रहा है,
निज पथ की अनिश्चिता बनी हुई है,
ही तो अब तक बस यह बसी हुई है।
औ' यह सब कुछ व्यर्थ का तमाशा है।
है कैसे परिपक्व पुरुष बन सकता?
वह न कभी भी पूरा विकसित होगा?
कभी भी न ज्ञानी पूर्ण बन सकेगा?
महान् इक वट-वृक्ष छिपा रहता है,
चिंतक प्राणी एक बन्द रहता है,
तत्त्व है कि जो विकसता-पनपता है,
दिग्विजयी बनता, ज्ञानी बनता है।
गुप्त सत्य का अपसार कर सकेगा?
क्या फिर भी तू इनकार कर सकेगा?
औ' आत्मा का कुछ अस्तित्व नहीं है?
औ' जगकर सब कुछको निहारती है;
छिपे एक संकल्प को उघारा है।
उसकी ही दिशि वह प्रयत्नरत रहती,
उसमें ही वह है विकसती-पनपती:
'ईश' के स्वरूप में फिर बदल जाना,
अपनी सीमा को उलांघ बढ़ जाना,—
उसका परमातिपरम यही कार्य है।
अपने अस्तित्व का किया आरंभन,
है करता धीरे-धीरे कि उपक्रम,

अरे हमारी सारी अपूर्णता यह सुपूर्णता की दिशि ही श्रमरत रहती,
औ' अपनी यह काया तो आत्मा के स्वर्ग-कीट की है कोषावस्था ही :
वह अनन्त स्वीय सशक्त बाहुओं में सान्त को गहे औ' साधे रहता है,
और 'काल'-अभिव्यक्त सनातनता की दिशि ही तो अपनी यात्रा करता है,
यह 'जड़' तो उस शाश्वत 'ज्ञानी' की ही चमत्कारितापूर्ण एक रचना है,
जो अपने रहस्य को रे अपनी ही आंखों से ओझल करके रखता है,
एक गुह्य संकेतों की भाषा में लिखा हुआ यह अनुपम एक शास्त्र है।
उस 'सर्वाद्भुतवर' की सुघर कला का यह तो निगुह्य दस्तावेज एक है।
इस जगती का और सभी कुछ उसकी गुप्त शक्ति की इक साक्षी देता है,
सब कुछ में ही उसकी एक उपस्थिति और शक्ति का हम अनुभव करते हैं।
अरे सूर्य तो उसकी राजस्-महिमा के प्रकाश का अविराम प्रज्वलन है,
औ' यह स्वर्ण तथा देदीप्त चंद्रमा उसका ओजस्वी महिमा-वलयन है,
उसका नील गगन का सुन्दर सपना उसकी महिमा का एक उच्छलन है,
उसके तारों के आवर्तन उसकी सुमहत्ता का इक भव्य परिगमन है।
उसकी सुषमा का मृदु हास्य कि जैसे हरिताभा तरुओं में फूट पड़ा है, '
उसकी सुषमा की घड़ियां ही जैसे एक पुष्प के भीतर खिल उठती हैं,
और नील सागर की यह हर-हर ध्वनि
औ' सरिताओं की धीमी कल-कल ध्वनि 'शाश्वत' की वीणा का मत्त नाद है।
बाह्याभिव्यक्ति में 'प्रभु' की सूपूर्णता यह ही तो इस जगती का आशय है।
'प्रभु' के विचित्र तौर-तरीके अपनी इन्द्रिय औ' बुद्धि को चुनौती देते,
अज्ञ 'शक्ति' की इन्हीं अंध औ' पाशव जैसी स्वाभाविक गतियों के द्वारा
जिन्हें नगण्य समझ अवहेलित करते अस्पष्ट, निम्न उन्हीं साधनों द्वारा
इन नन्हीं और नगण्य वस्तुओं पर एक महत्ता सुस्थित यहां हुई है,
एक अजान 'शून्य' के भीतर ही बस उसने इक जगती अभिसर्जित की है।
निज आकारों को अति सूक्ष्म रेणु से ही उसने बस पुंजीभूत किया है,
और नगण्य वस्तुओं के द्वारा ही उसके सारे चमत्कार सिरजे हैं,
यदि यह मन लँगड़ा है औ' निज जीवन यहां अशिक्षित औ' अनगढ़ दिखता है,
यदि कठोर छद्मावरण है यहां पर
औ' कुकृत्य घटते हैं यहां बराबर,
तो ये उसके विशाल औ' नानाविध एक कथानक की घटनाएं ही हैं,
उसके महान् औ' कराल नाटक के ये अति आवश्यक चरण-न्यास ही हैं;
वह इनके सँग औ' इस सब कुछ के सँग निज आवेशभरा खेल खेलता है,
जो खेल दीखता पर खेल नहीं है
अपितु परात्पर 'प्रज्ञा' की यह तो बस गहन-गभीरा महती सुयोजना है,
जिसमें वह निज 'प्रभु'-प्राप्ति की रीति को बस छाया औ' 'निशि' में ढूंढ़ रही है:

ऊपर तारों की जगहर होती है,

औ' एकाकी अनन्तता के द्वारा
बनी निरीक्षित इस गूंगी जड़ता में वह अपने 'प्रभु' को मूर्त्तिमान् करती,
प्रतीक-मन औ' जीवन के भीतर जो उसी निरतिशय को स्वरूप में गढ़ती।
उसका यांत्रिक दिखनेवाला यह सब शिल्प चमत्कारों का व्यापारी है,
'जड़ता' की मशीन ने ही विचार के नियम-विधानों को संपन्न किया है,
औ' 'प्राण' के इंजिनों ने आत्मा के श्रम औ' प्रयत्न को सहायता दी है,
वर्चस्वी 'माँ' ने निज सृष्टि रची है,
लौह-विधानों से स्व-निबद्ध बनी-सी उसकी विशाल, महती एक सनक है,
जिसने इस प्रहेलिका-जगमें अपने 'ईश्वर' को निपिहित करके रक्खा है:
उस 'सर्वज्ञ' को अचेतन निद्रा में जिसने लोरियां मल्हार, सुलाया है,
और 'सर्वशक्तिमान्' को इस तमता की पीठ पर संवारी करवाई है,
औ' निज दैवी तथा अचेतन चरणों
से निज विशाल अद्भुत कार्य-वृत्त पर वह एक पूर्णता से चली-फिरी है।
अमरत्व ने मरण द्वारा ही इस थल निज को दृढ़, निश्चित करके रक्खा था,
और 'काल'-प्रवहों में होकर ही तो 'शाश्वत' का मुख देखा यहां गया था।
अपनी विद्या को एक अविद्या का ही छद्मवेश 'उसने' था पहनाया,
औ' निज शुभ को लेकर स्वीय 'अशुभ' की इक दानव-क्यारी के बीच बोवाया,
और सत्यके प्रवेश करने के हित अरे भूल को ही इक द्वार बनाया,
औ' बस अपने आनँद-पारिजात को 'शोक', अश्रुओं द्वारा ही सिंचवाया।
औ' सहस्र रूपों ने घूम-घूमकर उस एकम्' की ही दिशि है इँगिताया;
औ' उस अद्वितीय को द्वंद्वभरी इस 'प्रकृति' में यहां है आवृत करवाया।
शाश्वत के इन गुम्फित-छद्म-स्वरूपों के इस आपस के एक सम्मिलन में,
आवेगी द्वंद्वों का जटिल नृत्य यह
खोई हुई एकता के अपने उस
घोर कलह को अपने आलिंगन से अरे दौड़कर है यों भर-भर लेता,
जैसे इक वर्जित से आलिंगन में प्रेमी-युगल खिंचा बरबस आ मिलता,
और शक्ति की चरम परमताओं के
इस युद्ध में और इस वाक्-कलह में
होकर ही भू के लक्षों मार्गों ने 'प्रभु' तक जाने का इक यत्न किया है
एक लड़खड़ाते मार्ग-प्रदर्शक के पीछे सभी लड़खड़ाते आए हैं,
फिर भी यह प्रत्येक लड़खड़ाहट निज
अनजाने-से मार्गों के ऊपर हो
इक अज्ञेय ध्येय तक पहुंचाने हित अति आवश्यक चरण-चाप होती है।
उसी परम 'देव' तक अरे जाने को सब ने भूलें कीं, इत-उत भटके हैं।

या तो एक दानवी जादू-बल से
परिवर्तित होकर शाश्वत सुशक्तियों ने निज भ्रामक आनन धार लिए हों,
कुटिल दिव्यता की मूर्ति बन गई हों,

और उन्होंने पशु के या कि दैत्य के शीशों को अपने ऊपर धारा हो,
मृग-शावक के कानों को पहना हो, 'नर-अज' के और खुरों को धारा हो,
औ' अपनी चितवन में निपट दानवी चितवन का बानक एक सँवारा हो।
अरे उन्होंने चिंतक मन को लेकर सुजटिल भूल-भुलैया ही रच ली है,
तथा उन्होंने 'निशि' के उन मदमाते
आमोदी उत्सवियों को बस अपने आनँद-मंदिर में कि प्रविष्ट कराकर
मानो युद्ध देवता के मदमाते इक स्वांग-नृत्य में कि सम्मिलित होकर
परिवर्तित अपना हृदय ही कर लिया।

वे ही अब जगती के महा पथों पर तथा जगत् के सुउपवनों के भीतर
स्व-दिव्य अंशों को एकदम भुलाकर बस कर्दम-लुंठित और बन गई हैं,
जैसे मायावी 'सरसी'[1] की तीखी मदिरा को पी मद्यप लोटा करते,
या जैसे एक शिशु 'प्रकृति'-कर्दम में किलोल करता औ' क्रीड़ा करता है।
यहां तक कि प्रज्ञा भी जो 'ईश्वर' के मार्गों को काट बनानेवाली है,
वह भी उनकी भीषण गहन भयावह उस 'क्रीड़ा' में भागीदार बनी है :
उसकी तीर्थ-यात्रा का वह थैला सामान-पेटिका और गुम गई है,
वह नक़्शे का न अध्ययन कर पाती न सितारों को निरख-परख पाती है,
स्वाहंकारी और नगण्य पुण्य ही उसका बस अपना एक भाण्डार है,
औ' बुद्धि की व्यावहारिक सुटटोलन और काल्पनिक-सा एक दृष्टि-दर्शन,
या पल भर के साफल्य की कला का वह देती रहती है बस इक शिक्षण,
उपयोगिता के एक विद्यालय में करवाती रहती है सतत प्रवेशन।
बृहत् चेतना के इक समुद्र-तलपर
नन्हें-नन्हें विचार झुण्ड-झुण्ड कर एक जाल में पकड़ लिए जाते हैं,
किन्तु महान् सत्य इन सँकरे पाशों के प्रक्षेपण से बच-बच जाते हैं,
औ' सृष्टि की गहनताओं से रक्षित इन पार्थिव आंखों को बने अगोचर
मन की उन नन्हीं मापनी डोरियों से वे अविराम ही अरे बस बचकर
अंधी और विशाल गहनताओं में बस अस्पष्ट बने तिरते रहते हैं,
कि क्षुद्र गोताखोरों के उन छिछले गोते की पकड़ से दूर रहते हैं।
और बिचारी नश्वर दृष्टि हमारी अज्ञ चखों से ही फ़क़त झांकती है,
और वस्तुओं के गहन मर्म में तो वह न कभी निज प्रवेश पा सकती है।

---

[1] यहां अंग्रेजी के Circean शब्द को जैसा का तैसा ही रख दिया गया है।

और 'भूल'-लगुड का सहारा लेकर ज्ञान हमारा बस विचरण करता है,
यह मिथ्या सिद्धांतों औ' देवों का अविरत एक पुजारी बन रहता है,
या तो वह कोई असहिष्णु धर्म का बस जैसे अंधा मतावलंबी है,
या प्राप्त हुए प्रत्येक सत्य पर यह अविरत संदेहशील अन्वेषक है,
या शंकित मन, जो दृढ़ 'नकार' को ले प्रकाश का सामना किया करता है,
या अपनी रूखी व्यंग्यस्मितियों से अंतर को हिम-विजड़ित कर रखता है,
या मानव के अंतर के सुदेव को सतत मिटा देनेवाला घृणालु है,
यह इक अंधकार है जो कि काल के मार्गों में लुढ़का-पुढ़का फिरता है,
या तारों के कलुषित कर देने को यह निज दानव-शीश को उठाता है,
औ' इक व्याख्याकारी मन को जैसे मायावी मेघ में बदल देता है,
औ' 'रवि' की सीधी भविष्यवाणी में यह इक महान् बाधा उपजाता है।
फिर भी तो उसमें 'प्रकाश' होता है; और वह 'प्रकृति' के द्वारों पर स्थित है:
औ' यात्री को भीतर ले आने हित धारण वह एक मशाल को किए है।
यह ज्ञान हमारे गोपित कोषों में जल उठने की सुप्रतीक्षा करता है,
इक तारा है जो अज्ञान सिंधु को अपनी ज्योति से प्रकाशित करता है,
और हमारे नौ-तल का दीपक है जो कि रात्रि को विभेदता रहता है।
जैसे-जैसे ज्ञान अरे बढ़ता है भीतर उग इक 'प्रकाश' जल उठता है,
यह इक मन का तेजस्वी योद्धा है,
अन्वेषणकारी अंतर के भीतर यह सपनों के स्वरूप एक गरुड़ है,
कि युद्ध में इक धारण किया कवच है, औ' यह 'प्रभु' के तीरों की कमान है।
तब विशालतर ऊषाएं आती हैं,
औ' 'प्रज्ञा' की शोभाएं-महिमाएं
सत्ता के सुमन्द औ' अर्धप्रकाशित क्षेत्रों को नांघती चली आती हैं,
तब दर्शन 'विचार' के घन-तटवाले गिरि-शिखरों के ऊपर चढ़ जाता है,
औ' विज्ञान प्रकृति की गुह्य शक्तियों को चीर-फाड़कर निकाल लेता है,
औ' यह भीषण जिन्न जो कि बस नन्हीं-
नन्हीं वामन आवश्यकताओं को ही केवल पूरी करता रहता है,
वह अब प्रकृति की कला के अभ्यंकित सूक्ष्म विवेचन को उधार देता है,
औ' उसके ही अपने बन्दी बल से उसके ऊपर बस जय पा लेता है।
औ' मन के अति साहसभरे उड्डयन से भी दुर्गम जैसी उंचाइयों पर
विफल हो रहे-से 'काल' के सुभीषण संकट-गर्भित इक उपांत के ऊपर
मानव-आत्मा अपनी अजरा-अमरा 'विश्वात्मा' में पुनः लौट जाती है,
फिर मानव की अपूर्ण विद्या 'प्रभु' की परम-चरम 'मयूख' ही बन जाती है।
और वहां वह रहस्यमय प्रदेश है जहां से कि वह शक्ति प्रस्फुटित होती,
जिसकी तीव्र अग्नि उन ऋषि-मुनियों के अति तेजस्वी नेत्रों में है जलती,

यह मन की एक आन्तरिक किनार पर
फिर 'विचार' चुप रहकर एक सुज्योतित
उन रहस्यमय औ' अदृष्ट शिखरों से
झंझा के मुख से औ' बाहर नि:सृत
यह वह ही वाणी है जो कि रात्रि की

औ' निश्चेतन भू से उठ आरोहण
उठा हुआ इक कर है जो अतिचेतन
सीमा के उस पार अरे 'अदृश्य' के
औ' उस 'अज्ञात' के पटों को बरबस
फिर अंतर में छिपी एक आत्मा बस
औ' यह उस दिव्य वाक् को सुनती है
उस चौंधन को दृष्टि भेद पाती है
यह अवसन ऋत-चित् के महिमा-मंडित
और शाश्वती की निगुह्यताओं का
इस प्रकार इक रहस्यमयी निशा में
इस प्रकार अब सब कुछ निज चकचौंधी
हे काल-देवता! तेरे शासन का
इन महान् गूंगे तारों की विवशित
कूच में धरा के विशृंखल औ' दुखप्रद
इस ध्येयहीन-सी यात्रा के भीतर,
इक तमता ने आकर बस फिर प्रभु के
औ' फिर 'जड़ता' का यह जग बस तेरी
तेरे इस छद्म मुखौटे ने 'शाश्वत'
वह आनन्द-चेतना जिसने जग की
फिर विराट् में परित्यक्त बन वह तो
बस एक अशुभ परिवर्तन ने उसके

केवल उसकी इक सर्जक तंद्रा में

जिन सृष्ट शक्तियों को नीले नभ के
सुहास्य के नीचे हरित उत्तरीयों
रंगों की इस बहुल अतिव्ययता में
और सूर्य के स्वर्णिम विचरण-पथ में

क्रांतदृष्टि की विद्युत्-कौंधन होती,
बस आकर अपनी क्रीड़ा है करती:
'महाशून्य' में इकटक निहारता है।
फिर बस इक वाणी नीचे आती है,
महिमामयी पुकार सुनी जाती है,
गभीरता के संग बातें करती है,
यह वज्रध्वनि है, पावक-पुकार है।
करनेवाले सकल स्तरों के ऊपर
की चौंधा देनेवाली ज्वलंततर
प्रदेश की दिशि है निज इंगित करता,
खींच-झटक कर है दूर फेंक देता,
'शाश्वत' की आंखों में निहारती है।
जिसके लिए हमारे हृदय बधिर थे,
जहां कि मनुज-विचार बने अंधे थे;
पयोधरों का अमृत पान करती है;
यह इक सम्यग् ज्ञान प्राप्त करती है।
सब कुछ इक दिन अभिमग्न हो गया था,
'रवि' से मिलने के हित जाग पड़ा है।
यह ही छिपा हुआ एकल रहस्य है।

प्रदेश में दिनकर के द्वारा चालित

क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया,
आकृति द्वारा शासित यहां बन गया।
के आनन को है आवृत बना लिया,
रचना की थी गहरी नींद सो गयी।
इस प्रकार औंघाती ही चली गई:
अंगों पर अपना अधिकार कर लिया,
यहां तक कि वह निज को भूल ही गई।
होकर बस उस आनँद औ' सुषमा की
मंद और दुर्बल स्मृतियां उड़ती थीं,

में शोभित वृक्षों की सुगंधियों औ'
तो स्व-अभिप्राय प्रकट करना ही था,
तारों की स्वप्निल भा की जगहर में

औ' गगनस्पर्शी उन ध्यान-निमज्जित पर्वत-शीशों की सुशान्ति के भीतर
औ' विलासकामी वर्षा से चुम्बित पृथिवी के इस वक्षस्थल के ऊपर,
औ' सिंधु के नीलमी उच्छलनों से अपने अंतरार्थ को कहना ही था।
पर अब उसका प्रारंभिक भोलापन तो सब थल से गुम और खो गया है,
औ' बस 'मृत्यु' तथा 'अज्ञान' ही फ़क़त इस मर्त्य जगत् का शासन करते हैं,
और 'प्रकृति' के मुख ने इक तमसिलतर धुंधले रंग को ही बस धार लिया है।
गो कि धरा ने आदिम मोहकता औ' सुन्दरता को क़ायम तो रक्खा है,
उस शोभा-महिमा औ' उस सुषमा को देखा उसमें अब भी तो जाता है,
पर उसके भीतर का दिव्य 'निवासी' तो आच्छन्न बना औ' छिपा पड़ा है।
मानव की आत्माएं 'दिव्यज्योति' से विमुख दिशा में मानो भटक गई हैं,
औ' महती 'जननी' ने बस अपना मुख अपने पुत्रों से ही फेर लिया है।
और विधात्री 'आनन्द मंगला' की हर्षवर्षिणी आंखें मुंदी हुई हैं,
औ' उसके सपनों में ही तो जाकर शोक-स्पर्श ने उसको ढूंढ़ लिया है।
औ' जब वह अपने शून्य के तल्प पर करवट लेती है हिलती-डुलती है,—
क्योंकि जाग तो सकती नहीं और वह अपने को प्राप्त कर नहीं पाती है,
न स्वीय पूर्णाकार रचा पाती है,
अपने स्वभाव औ' अपनी सुस्थिति की वह एकदम विस्मरणशीला बनकर
सुख के सहजज्ञान को और बिसरकर
आनंद की रचना को भूल भाल कर
वह खुद रोती है औ' निज जीवों की आंखों को सतत रुलाती रहती है;
औ' शोक की धार से निज पुत्रों के अंतर को एक कसौटी पर कसते,
व्यथा, आंसुओं की तीखी विलासिता
को वह आशा, श्रम के एक निरर्थक जीवन-मरु पर लुटवाती रहती है।
उस अर्ध चैतन्य-सी निज तंद्रा के दुःस्वप्न से हुए इक परिवर्तन में
अपने आप स्वयं वह पीड़ित बनकर
औरों को स्व-स्पर्श से पीड़ित करती
दुख का निष्ठुर, कठिन मुखौटा पहने वह अंतरों में हमारे आती है,
तनों, जीवनों में औ' प्रविशाती है।
और अकाल जन्म से अरे हमारा यह स्वभाव जो अब विकृत बन गया है,
जीवन के प्रश्नाकुल आघातों को यह उलटे-पुलटे उत्तर देता है,
जग-पीड़ा में तीव्र स्वाद लेता है,
और व्यथा की विकारमय औ' तीखी कटु मदिरा का सतत पान करता है।
जीवन के उस अमल, शुद्ध आनन पर बस इक भारी अभिशाप लग गया है:
यह आनंदचित् 'प्रभु' का चिह्न मधुरतम! 'सौंदर्य' की और यह जुड़वा साथी
जिससे कि अभीप्सक साधु औ' तपस्वी महात्मागण भय खाते रहते हैं,

एक भयावह औ' द्व्यर्थक छलिया के- सम इससे सब बचते ही रहते हैं,
औ' यह एक नारकीय 'शक्ति' की ही एक बाह्यतः शोभी कपट चाल है,
जो आत्मा को उसके आत्म-हनन औ' सतत पतन हित आकर्षित करती है।
इस कट्टरपंथी इक शुष्क 'ईश' ने
जिसने कि आनंद-मौज को यहां बस एक विषैला फल ही बनवाया है,
या कि मृत्यु की इक बाज़ार-हाट में इक अरुणिम आसव-सम सजवाया है,
और उसे एक पाप ठहराया जो कि 'प्रकृति'-आनँद का एक शिशु बना है।
फिर भी सुख-खोज में सभी रत रहते,
कठिन परिश्रम से सुख का क्रय करते,
और इस अचेतन-गोलक के धूमिल वक्षस्थल से एक उग्रता के सँग
चीर-फाड़कर सुख का बस कोई कण,
या आनन्द कलश—ठीकरे का शकल बस वे अतिश्रम से निकाल पाते हैं।
यहां तक कि यह आनन्द भी स्वयं ही इक घूंट विषैला ही बन जाता है,
उसकी भूख 'नियति' की और भयंकर एक बझाऊ कँटिया बन जाती है।
एक अकेली किरण के पकड़ने को सकल उपाय उचित समझे जाते हैं,
इक क्षणभर के आनन्द के लिए ही सब शाश्वती बस लुटा दी जाती है:
फिर भी तो शोक नहीं केवल आनँद के ही लिए धरा यह रची गई है,
यह अंतहीन पीड़ाकुलित 'काल' में चला जा रहा कोई स्वप्न नहीं है।
यद्यपि इस जगती को 'प्रभु' ने अपने आनन्द के लिए ही फ़क़त रचा था,
पर इक अज्ञानी 'शक्ति' ने यहां आ सारे कार्य-भार को साध लिया था,
जो लगने 'प्रभु' का ही संकल्प लगी
बस मृत्यु के गहन इक मिथ्यापन ने जीवन पर निज अधिकार जमाया है।
सब कुछ 'विधि' का कि स्वांग रचनेवाले इक दैवयोग का ही खेल बना है।

नील गगन की भांति गहन-गभीर इक विशुद्ध सुख का गुह्य वायुमंडल है,
जहां हमारी आत्माएं जीती हैं;
और हमारे हृदय तथा तन उसके अस्पष्टावाहन का अनुभव करते,
इन्द्रियबोध खोजते उसको रहते उसको छूते हैं औ' हैं खो देते।
यदि यह कहीं बिदा हो जाए तो बस जगती 'महाशून्य' में लय हो जाए।
यदि जग में इसका अस्तित्व न होता तो कुछ भी हिल-डोल, जी नहीं सकता।
इस जगती की सकल वस्तुओं के ही आदिमूल में एक छिपा आनँद है।
और 'काल' के इन असंख्य कार्यों को मौन हर्ष ही एक निहार रहा है:
अरे वस्तुओं में 'प्रभु' के आनँद का वास करा लेने के हेतु व्योम ने
अर्पित इस विस्तृत भूमि को किया है
औ' अपने भीतर 'प्रभु' के आनँद का वास करा लेने के हेतु हमारी

इक प्राचीना वशीकरण-माया ही
इस जगती के सारे ही पदार्थ बस
जिनकी मोहक मदिरा एक निगूढ़ा
उस 'सर्वाद्भुतवर' ने अरे गगन को
रीते प्राचीन व्योम को उसने निज
'जड़ता' के इन संकेतों के भीतर
उसकी महिमा की अग्नियां ही अरे
और चन्द्रमा में समुद झिलमिलाता

जो ध्वनि-क्षेत्रों में आलापें भरता;
और वायु के गीतों के सुपदों का
और वही तो अरे रात्रि के भीतर
वह ही तो जागता अरे ऊषा में
वह ही पाहन में सुप्त बन पड़ा है
फिर भी 'अज्ञानता' के महा श्रम में

अशुभ परिस्थिति तथा मृत्यु में भी तो
इन्द्रिय यहां स्पर्श जो कुछ करती है

शिव और अशिव सब में एक हर्ष है
औ' उस कार्मिक विधान की धमकी से
लापरवाह बना यह हर्ष हमारा
वर्जित एक भूमि के ऊपर भी तो
'दुख' के पादप औ' फूलों में होकर
'विधि' के नाटक से पुलकित होता औ'
यह अपने भोजन को दुःख, शोक औ'
खतरे औ' कठिनाई में होकर बस

औ' तारों का समकक्षी बनने को
परी-नृत्य में यह भाग बँटाता है,
तथा अनेकानेक महा सूर्यों के
सौंदर्य-सूर्य, शक्ति-सूर्य दोनों निज

इन आत्माओं ने यह जन्म लिया है।
इस जगती की परिरक्षा में रत है;
'विश्वानँद' के तक्षित सुरा-चषक हैं,
आत्मा का अपना आनन्द पेय है :
निज सपनों से कि ठास-ठास भरा है,
चमत्कार-गृह ही इक बनवाया है;
जिसने निज आत्मा को झलकाया है :
इस महान् रवि में प्रज्ज्वलित हो रहीं,
वह ही तो है जो नभ में तिरता है;
वही सकल सुमोहिनी सुन्दरता है,

वह ही तो गायन करता रहता है,
तारों में जागती सुनीरवता है,
प्रत्येक डाल पर और चहकता है,
तरु औ' फूल में वही सपनाता है,
और इस महा दुख के बीच बराबर
विषम धरा की जोखिम, कठिन भूमि पर,
इक जिजीविषा सदा बनी रहती है
अरे बुभूषा की न ललक चुकती है।
उस सब कुछ में अद्भुत एक हर्ष है,
सब आत्मानुभवों में एक हर्ष है,
पाप-पुण्य दोनों में एक हर्ष है :

नित-प्रति बढ़ने का साहस करता है,
उसका रस संचरता ही रहता है :
दुखदायी भावी से सिहरित होता,
आनँद के भीतर से निकाल लाता,
यह स्व-शक्ति पर है सान ही चढ़ाता;
कीट, सरीसृप के सँग लोटा करता,
है निज शीश को उठाया भी करता;
'नोम' प्रेत के सँग भोजन पाता है,
ताप औ' प्रकाश में यह घुमाता है,
स्वर्णिम किरणों से इसको बहलाते,
औ' इसका पालन-पोषण हैं करते;

यह 'दानव' औ' ईश्वर' दोनों के ही
भू के प्रतीक सुख-दुःखों में होकर
उन्हें अघाकर पी-पी लेने के हित
और 'गगन'-अंगूरों तथा 'गर्त' के
और 'नर्क' के ज्वालाघातों का औ'
और स्वर्ग की महिमा की उन धूमिल

मानव-जीवन के लघु क्षुद्रामोदों
और तुच्छ आवेशों औ' आनन्दों
तथा भग्न अंतरों के अश्रुओं औ'
स्वर्ण-मुकुट में औ' कंटक-किरीट में
इस जीवन के मधुर अमृत औ' कड़वी
अज्ञात एक आनन्द के लिए बस
नवल औ' विलक्षण वस्तुओं के लिए
जीवन इस पार्थिव-प्राणी के दिवसों
के भीतर इक उन्नततर प्रदेश से
वह मानव-चिंतन में और 'कला' में
वह इक पूर्ण शब्द की महिमा-शोभा
उसके गुरु संकल्पों, उदार कर्मों
उसकी भूलों बीच भटकता रहता
औ' पाताल-गर्त की इक किनार पर
उसके आरोहणों बीच वह चढ़ता
देव और दानव युगल बंधुओं-सम
औ' जीवन के अंतर के गहने को
बस वह जो इस वैश्विक महा दृश्य का
उसके लिए अरे सामान्य तुच्छता
उसकी उदारात्मता और क्षुद्रता
वे रँग हैं जो देवों के समदर्शी
वह उस 'कलाकार' के सुचातुर्य का

लेकिन सदा-सदा को खतरनाक यह
'प्रज्ञा' औ' आनँद इस धरा के परे,
पर अभिमुक्त धराके लिए ही बने
औ' वह अतिमानवीय 'महासत्य' तब
आखिरकार अंतरात्मा जग शाश्वत

बनने का भारी प्रयत्न करता है।

उसमें चिपटा और टिका रहता है,
फूलों का रस छक-छक पी लेने को
संपीड़नी कला का रस पीने को
बूंदों के मधुरिम रस के चखने को
वह धरती पर ही अटका रहता है।

में उसके वह एक स्वाद लेता है।
पीड़ा में भी अपना रस लेता है,

मदिरा दोनों को छक-छक पीता है।
सारी सत्ता की छानबीन करता,
सकल अनुभवों की है थाह लगाता।

सुठि प्रतिभा मंडित भाषा लाता है:
गहन से गहनतर होता जाता है
के ऊपर बस झपट कूद पड़ता है,
में और प्रफुल्लित हो-हो उठता है,

जाने का भारी साहस करता है,
और पतन में लुढ़का-पुढ़का फिरता।
हैं उसके कक्ष-सहनिवासी बनते,
उसके अधिकर्ता, प्रतियोगी बनते।
एक मृदु रसिक बनकर रस लेता है,
और महत्ता दोनों ही समान हैं,

एक धरातल को रंजित करते हैं,
जिसने यह सारी योजना गढ़ी है
उसकी इक प्रशस्ति गाया करता है,
खेल नहीं क़ायम इस थल रहता है,

निज परिपूर्ण ताज की रचना करते:
चिंतक मानव को आवाहित करता।
सुवस्तुओं की ओर घूम पड़ती है,

औ' प्रति मंदिर में यह इक 'प्रभु' के ही
तब जाकर शीर्षस्थ महा रहस्य का
तब जाकर सुअभीप्सित चमत्कार को
और अमर आनन्द-चेतना अपने
सुविशाल और स्वर्गीय लोचनों को

और 'काल' उसके प्रेम-संगीत के

तब वह इस मानव-अंतर को इसके
वाणी को तजकर औ' नाम-रूप के
शब्दविहीन विचार के प्रभासित इक
निरपेक्ष दृष्टि के इक नग्न, निरावृत

जहां कि दिव्य 'भावना' उस भविष्य को,
सुधि करती-सी नीचे बिछे हुए इन
औ' उपरिस्थ, नित्य बन इस जगती को
प्रशांत सागर के ऊपर ज्यों कोई
उसी भांति 'शाश्वत'-शांति के सुनिश्चल
स्वर्णहास्य में, उसके सर्जक आनंद
औ' जब कि अचित्-निद्रा के उन धूमिल
कुहेलिकाच्छन्न सिंधुओं के भीतर
एक शून्य से कढ़ सौंदर्य-निमज्जित
तब बस उसका यही ध्येय था, औ' बस

क्योंकि इसी हित महती 'आत्मा' आकर
औ' जड़ता की अजान बनी 'शक्ति' में

ही आत्मा इस 'महारात्रि' की संसद्
और मृत्यु-क्षेत्र में अमरता के ही
अरे यहां इक रहस्यमय औ' धीमा
और हमारी सकल धरा कर्दम से

और 'प्रेम' जो केवल कभी पाशविक
औ' फिर इक मीठा पागलपन बनकर

आलिंगन हित अधीर हो उठती है।
खेल यहां पर बस खेला जाता है,
अरे यहां पर प्राप्त किया जाता है,

तारों के ऊपर उन्मीलित करती;
निज सशक्त अंगों को चालित करती,
मृदु गीतों पर सिहर सिहर उठता है,
'दिशा' शुद्ध स्वर्गानंद से भर जाती।
ही शोक की गोद में सिपुर्द करके
द्वारा निश्चित क्षेत्रों को भी तजकर,
सुदूरदृष्ट व्योम के भीतर होकर
विचार-विमुक्त गगनों में से होकर
वह उन शिखरों ऊपर है चढ़ जाती,–
जो कि अवश्यंभावी है, बस उसकी
श्रमशील शक्ति-कार्यों को लखती है,
जिसको स्वयं रचा है, निहारती है।
गगन-खग बना हो स्व-पंख-उत्तोलित,
सागर पर, 'सत्य'-सूर्य के उस विस्तृत
का पंखिल उत्साह बना सुसंतुलित।

इस भव्य सृष्टि ने निज शीश उठाया
केवल यह ही उन्नततम विधान था
और 'प्रकृति' को सौंपा गया कार्य था।
महा गर्त में बस अवतरित हुई थी,
अपनी 'ऊर्जा' का संचार किया था,
देवालयी 'प्रकाश' में पहुंचने को
के नग्न सत्र में आकर उतरी थी,
स्व-देश-प्रत्यावर्तन को आई थी।
रूपांतर निज कार्य सिद्ध करता है।
अपना समारंभ बस कर देती है,
पहुंच गगन में कहीं अंत पाती है,
इच्छा बनकर ही विचरण करता था,
आनन्दी अंतर में रमा-बसा था,
बना सुखी मन की व्यग्र मित्रता था

वह अब, एक विशाल और आध्यात्मिक स्नेह-स्पृहा का महाव्योम बन जाता।
और एक एकाकी 'आत्मा' फिर उस 'केवल' के हित आवेगित हो उठती,
वह उर जिसने प्रेम किया मानव को 'प्रभु'-प्रेम के लिए पागल हो उठता
यह शरीर उसका ही एक कक्ष है,
यह शरीर उसका ही इक मंदिर है।
तब रे कहीं हमारी सत्ता अपनी आदि-पृथकता से विमुक्त बनती है,
तब सब अपना निज स्वरूप लगता है 'प्रभु' में नवानुभूति प्राप्त करता है।
तब इक 'प्रेमी' निज कुटिया-दुआर से
आगे झुककर सारे जग को अपने एकल आलिंगन में भर लेता है।
तब इस महारात्रि औ' 'महामृत्यु' का सब व्यापार ठप्प ही हो जाता है:
जब एकता प्राप्त कर ली जाएगी जब संघर्ष हार-थक चुक जाएगा,
और 'प्रेम' के द्वारा जब सब कुछ का ज्ञान यहां प्राप्त कर लिया जाएगा
बन आश्लिष्ट सभी उससे जाएगा
तो फिर अज्ञान और दुख-पीड़ा की ओर भला कौन घूमकर ताकेगा?

अरे 'मृत्यु'! मैं निज अंतरात्मा में तेरे ऊपर जय प्राप्त कर चुकी हूं,
और शोक के आघात से नहीं अब कुछ भी कंपित औ' सिहरित होती हूं,
मेरी अंतर-गहराई में सबला एक सुशान्ति ने प्रतिष्ठित होकर अब
मेरे शरीर औ' इन्द्रियबोधों पर बस अपना ही अधिकार कर लिया है:
यह शान्ति शोक को ले-लेकर जग के एक महा बल में परिवर्तित करती,
औ', जग के आनँद को ले यह 'प्रभु' के आनँद के सँग एक है बना देती।
मम शाश्वत प्रेम 'ईश' की सुशान्ति में सिंहासनासीन बनकर बैठा है;
क्योंकि 'प्रेम' को तो इन यथार्थ गगनों के भी ऊपर उड़कर जाना होगा,
अवर्ण्य गुह्याशय को पाना होगा,
इसको निज मानव रीति-नीतियों को दिव्य रीति-नीति में बदलना होगा,
औ' फिर भी पार्थिव आनँद के शाही- पन को अविरत क़ायम रखना होगा,
अरी 'मृत्यु'! मैंने तुझसे इस जीवित
सत्यवान् को पाने का यह दावा
निज अंतर के मधुरावेग के लिए ही तो केवल आज न प्रकट किया है
औ' सुख-मोदों में रहनेवाली निज काया-विलास के हित नहीं किया है,
अपितु महान् कार्य के वहन हेतु ही,
जो हम दोनों को मिलकर करना है उसके हित ही यह अभिलाषा की है,
जो कि हमारी जिम्मेदारी ही है,
तारों के नीचे स्थित हम दोनों के जीवन 'प्रभु' के संदेशवाह ही हैं,
जो कि 'मृत्यु'-छाया की गोद में यहां

इस अज्ञान जाति के लिए धरा पर
'प्रभु'-प्रकाश के आकर्षित करने के हित ही तो बस आकर टिके बसे हैं,
मानव-अंतर के खात को पाटने के हित 'प्रभु'-प्रेम के खींच लाने को,
जग की पीड़ाओं के घाव पूरने के हित 'प्रभु'-आनंद के उतारने को
ही ये इस थल पर आ बसे हुए हैं।
'नारी' रूपा मैं 'प्रभु' की सुशक्ति हूं,
औ' सत्यवान् मानव जाति में यहां 'शाश्वतता' का ही केवल प्रतिनिधि है,
हे 'मृत्यु देव'! तेरे जग-'विधान' से मेरा सुसंकल्प यह कहीं बड़ा है;
औ' मानव-'विधि' के इन पाशों से तो मेरा प्रेम कहीं सुशक्तिशाली है:
हम दोनों का 'प्रेम' उसी सर्वोत्तम 'सर्वश्रेष्ठ' की स्वर्गिक एक मुहर है।
और मुहर-भंजक इन तेरे हाथों से सतर्क बन मैं पहरा देती हूं।
धरती के ऊपर इस दिव्य प्रेम का जीना कभी न बन्द यहां करना है:
क्योंकि यहां इस द्यावा औ' पृथिवी के बीच 'प्रेम' ही इक सेतु है, कड़ी है,
और 'प्रेम' ही सुदूर 'परात्पर' का यहां धरा पर केवल एक दूत है,
औ' उस 'निरपेक्ष' पर यहां मानव का बस 'प्रेम' ही एक पूर्वाधिकार है।"
पर तारों के श्रम को निराश करते अपनी वाणी के इक व्यंग्य हास्य में
नारी को अरपा 'मृत्यु' ने स्व-उत्तर:
"इसी तरह भव्य विचारों से अपने अरे 'सत्य' को मानव छलते रहते।
तो क्या तू भी नीम हकीम और इस मानी छलिया मन का कहा करेगी?
उसकी झीनी आदर्श-वायु से तू
अपनी काया की नंगी इच्छाओं के हित इक सुन्दर सा पट बिनने को
औ' निज हृदय को जकड़ लेनेवाले लोभी आवेशों के ढक लेने को
उस छद्मी मन का उपयोग करेगी?
जीवन के इस झीने पट को तू निज जादूई रंगों से कुचित्रित न कर:
अच्छा हो, तू अपने विचार को बस बनवा ले सीधा-सच्चा दर्पण ही,
जो प्रतिबिंबित करे मर्त्य औ' जड़ को
औ' तू अपनी अंतरात्मा को तो समझ मांस-मज्जा की एक उपज ही,
रचे हुए इस जग में समझ उसे तू अपनी रची हुई एक चेतना ही,
तेरे शब्द रहस्यात्मक सपने में तेरी लंबी चौड़ी इक बड़बड़ हैं।
क्योंकि अरे तव स्वप्नजात 'प्रभु' की यह
अस्पष्ट और धुंधली-सी महिमा फिर
मानव के कलुषित अंतर के भीतर आकर कैसे टिक औ' बस सकती है?
या कि मनुज कह जिसे पुकारा जाता,
दो टांगोंवाले इस नग्न कीट में
कौन दिव्यता के एक आकार को औ' मुखमंडल को निहार सकता है?

अरे मनुज आननधारी तू अपने मन-चित्रित छद्मावरणों को तजकर,
अरे वही पशु औ' कीट जो 'प्रकृति' का आशय है बन रहने का प्रयत्न कर,
औ' अपने तुच्छ जन्म को औ' अपने सीमित पार्थिव जीवन को स्वीकृत कर।
क्योंकि सत्य तो पाहन सरिस नग्न है और मृत्यु के समान अति कठोर है;
इसी नग्नता में तू सुनग्न बनकर
इसी सत्य की कठोरता के सँग-सँग ही कठोर बनकर जीवन व्यतीत कर।"
लेकिन सावित्री ने अति कठोर उस 'परम देव' को फिर भी उत्तर अरपा:
"हां यह सच है कि मैं एक मानव हूं,
फिर भी यह छोटा-सा मानव-प्राणी
सब शोक, दु:ख, विधि को और मृत्यु को उलांघकर उन अमर्त्य उँचाइयों में
पहुंच पहुंच जाने हित मेरे द्वारा निज चरणों से तुझे कुचल डालेगा,
क्योंकि यहां 'प्रभु' इक मानव प्राणी में अपनी घटिका की सुप्रतीक्षा करता।
हां यह मेरी मानवता तो 'प्रभु' का ही इक छद्मरूप और मुखौटा है,
वह मेरे कर्मों का संचालक ही मेरे अंतर के भीतर बसता है,
अपने विश्व-कर्म के महा चक्र को भीतर से चालित करता रहता है।
मैं उसकी द्युति का जीवित स्वरूप हूं,
औ' उसकी ही सुशक्ति का मैं जीवित- जाग्रत् इक विचारवान् उपकरण हूं,
मैं ही तो मानव-अंतर के भीतर रे 'प्रज्ञा' को मूर्तिमान् करती हूं,
मैं ही तो उसकी बस सतत विजेत्री और अबध्या इक संकल्पशक्ति हूं,
निराकार परमा 'आत्मा' ने मुझमें ही तो अपना रूप अरे खींचा है,
वह 'निर्नामा' और 'गुप्तनामा' वह ये दोनों ही तो मेरे भीतर हैं।"
और 'मृत्यु' ने संदेहशील अपने अंधकार से अब निज नाद गुंजाया:
"एक कल्पना-गृह की फ़क़त पुजारिन!
पहले तो बस इन निश्चित औ' निश्चल 'प्रकृति'-विधानों को तू दिखा मनाकर,
असंभाव्य को दैनिक कर्म बनाकर,
दो शाश्वत बैरियों को भला कैसे तू परिणय के हेतु विवश कर सकती
अशमित बने स्व-आलिंगन में भी वे
अपनी शुद्ध चरमताओं की महिमा को इकदम अस्वीकृत कर देते हैं,
और अभागा गँठबंधन बस उनके रुद्धप्रगति बल को पंगु बना देता,
सत्य-असत्य अरे दोनों को लेकर कैसे तव संकल्प एक कर देगा?
जहां कि यह 'जड़ता' ही बस सब कुछ है, उस थल 'आत्मा' तो इक सपना ही है:
औ' यदि यह सब कुछ इक 'आत्मा' है तो बस यह 'जड़ता' झूठ ही ठहरती है,
कहो कौन तब झूठा था औ' किसने जगती की यह माया-रचना की है?
सदसत् तो न कभी भी मिल सकते हैं।
जो 'प्रभु' की ओर झुकेगा उसको तो इस दुनिया को बस तजना ही होगा,

वह जो आत्मा में रमना चाहेगा उसको यह जीवन तजना ही होगा,
जो अपनी 'आत्मा' से भेंट चुका है वह स्व-अहं का परित्याग करता है।
मन की लक्ष-लक्ष राहों के यात्री
जो इस संसार में कि इसके अंतिम सुछोर तक यात्रा कर पहुँच गए हैं
उन ऋषिमुनियों ने संसार-सिंधु के
विस्तारों को थहा-थहाकर केवल
निर्वाण का सुरक्षित औ' एकाकी निपट एक ही पोताश्रय पाया है,
बस इस मानव के और पलायन को जग में अब तक दो ही द्वार मिले हैं,
एक शरीर-मृत्यु है जो सुशान्ति को जानेवाला 'जड़ता'-रचित द्वार है,
और दूसरा आत्म-मृत्यु है जो बस मानव का अंतिम सुख और हर्ष है।
मेरे भीतर सभी शरण लेते हैं, क्योंकि मैं 'मरण' ही 'देवाधिदेव' हूँ।
पर सावित्री ने उस सुशक्तिशाली 'महाकाल' को अरपा अपना उत्तर :
"मेरा अंतर इन 'तर्क' के विचारों से भी कहीं अधिक प्रज्ञाशाली है,
मेरा यह अंतर तेरे पाशों से भी तो कहीं अधिक सुशक्तिशाली है।
जो सबके भीतर बस एक धड़कते अंतर को ही लखता, अनुभव करता,
औ' यह उस परमोच्च 'परात्पर' के ही सूर्य-समान करों का अनुभव करता,
और विश्व-'आत्मा' को अविरत अपने वैश्विक महा कार्य में है रत रखता;
औ' इस धुंधली 'महारात्रि' में भी यह 'प्रभु' के साथ-साथ ही लेटा रहता।
मेरी अंतःशक्ति सकल जगती के दुःख, शोक का सहज वहन कर सकती,
फिर भी अपने उस अभिज्योतित पथ से
जो 'प्रभु' की शांति से गुज़रनेवाली उसकी भीषण विशुद्ध इक कक्ष्या है,
उससे न लड़खड़ाती न डगमगाती,
वह शुभ्रात्मिक स्पर्श को बिना बिसरे
गभीर 'अनन्तता' में ध्यान-निमज्जित सुशान्ति को क्षण भर को भी बिन भूले
सर्वानंद का सिंधु सोख सकती है।"
तभी 'काल' बोला, "क्या सचमुच में तू हे अंतर सत्ते और आत्म सत्ते !
इतनी सशक्त है, इतनी स्वतंत्र है ?
क्या मेरे पथ-पार्श्व पर खिली डालों से दीप्त सौख्य को बटोर सकती है,
फिर भी दुरूह यात्रा के स्व-लक्ष्य पर बिना लड़खड़ाए ही बढ़ सकती है,
जग में उस भयद स्पर्श को सह कर भी स्व-पतन से और बची रह सकती है ?
अब तू निज शक्ति का मुझे परिचय दे।
और विधानों से मेरे बचने की सुसामर्थ्य रखती है यह प्रकटा दे।"
पर सावित्री ने निज उत्तर अरपा :
"जीवन के उन हरे-भरे कर्णजपी
सुकाननों में मैं निश्चय ही अपने रहस्यान्तरी सौख्यों को पाऊंगी,

और चूंकि वे सत्यवान् के हैं तो इस कारण बस वे मेरे ही होंगे,
या मेरे हैं तो उसके निमित्त हैं, क्योंकि हमारे आनन्द एक ही हैं।
यदि मैं टिक पाऊं तो अरे 'काल' यह हम दोनों का होगा, 'प्रभु' का होगा,
औ' यदि गिर जाऊं तो भी क्या उसका हाथ अरे मेरे ही निकट न होगा?
यह सब कुछ एक अखंड योजना है,
राह किनारे का प्रत्येक कर्म यह आत्म-सुसंवेदन को गहन बनाता,
औ' ध्येय को निकटतर अपने लाता।"

तभी घृणालु 'शून्य' उस 'महाकाल' ने बस अरपा सावित्री को निज उत्तर:
"इस प्रकार तू प्रज्ञ सुरों के सम्मुख
अपने पार्थिव आनँद के चुनाव से निज निरपेक्ष शक्ति को सुप्रमाणित कर,
फिर तू कर मांग स्वत्व की औ' फिर भी
निजता औ' उसके उन स्थूली छद्मी मुख-आवरणों से रह स्वतंत्र बनकर।
तब मैं तुझको वह सब कुछ दे दूंगा जिसकी तव आत्मा ने इच्छा की है,
दूंगा सब भंगुर आनन्दों को जो पृथ्वी पर मर्त्य मनुज को मिलते हैं।
फ़क़त एक तव अति प्रिय इच्छा को रख, जो सबसे ज्यादह भारी पड़ती है,
कटु-विधान जिसको रोकते हैं तथा, व्यंग्यपूर्ण विधि मुझे मना करती है।
एक बार का किया हुआ बस मेरा संकल्प 'काल' में फिर नहीं बदलता,
सत्यवान् फिर तुझे न अब मिल सकता।"

लेकिन फिर भी सावित्री ने अरपा अपना उत्तर उस तमशील शक्ति को:
"अंधकार की आंखें अगर सत्य को कहीं देख सकती हैं बस सीधे तो
तू मेरे अंतर में देख और बस चुपचाप यह समझ ले कि मैं कौन हूं!
औ' हे 'काल'! तुझे जो कुछ देना है या जो देना पड़ जाएगा, दे दे!
सत्यवान् के अतिरिक्त तो नहीं कुछ और मांगना है मुझको अब तुझसे।"
वहां छा गयी इक चुप्पी ऐसी ज्यों संदेही विधिवालों की चुप्पी हो।
और 'मृत्यु' ने उस प्राणी-सम जो बस हार जाय पर भरा घृणा से ही हो,
अपने शाही शीश को अरे अब इक ठंडी अनुमति के रूप में झुकाया:
"मैं मृत्यु तथा तेरी उग्र नियति से बचाकर तुझे वह सब कुछ देता हूं
जिसको जीवित सत्यवान् के अंतर ने था निज सावित्री के हित चाहा।
मैं ज्योतित मध्याह्नों को देता हूं अक्षत नवल उषाओं को देता हूं,
अंतर औ' मन में तेरे ही जैसी तेरे स्वरूप कन्याएं देता हूं,
औ' शुभ्र वीर पुत्रों को देता हूं,

औ' तेरे प्यारे औ' सच्चे पति के
सँग तेरे सुखकारी प्रेम-मिलन की अविक्षुब्ध सुमधुरताको देता हूं।
तू अपने आनन्दित गृह में अपने
बन्धु-बान्धवों द्वारा घिरी हुई उन हर्षित संध्याओं का सुख भोगेगी।

तेरे पास बने एकत्रित हृदयों को प्रेम बांधकर तुझसे रक्खेगा।
अपने सारे प्रिय स्वजनों के ऊपर तेरे जीवन के इच्छित औ' प्यारे
साम्राज्य में तेरे उन दिवसों से
एक नई औ' कोमल शुश्रूषा की इक और ही मधुरता आ भेंटेगी,
ओ सावित्री फिर तेरे जीवन में बस आनंद के दो ध्रुव एक बनेंगे।
अतः लौट जा हे शिशु! त्यक्त धरा पर।"
पर सावित्री ने यों उत्तर अरपा: "मैं ये भेंटे अस्वीकृत करती हूं,
मैं यदि लौट अकेली ही जाऊंगी तो पृथिवी फल-फूल नहीं है सकती।"
तब 'मृत्यु' ने पुनः एक बार अपनी क्रुद्ध गिरा से निज घोष को गुंजाया
बचकर भागते हुए शिकार पर ज्यों सिंह एक झिड़की-घुड़की हो देता:
"भू के वैभवमय गतिशाली जीवन के बारे में तुझे पता ही क्या है?
कि जो सोचती है इक मानव भर के बिछोह से सब सुख ठप हो जाता है,
अरी अन्त तक यों ही दुखिया बनकर रहने की धारणा हृदय में मत कर,
क्योंकि थके इक मानव के अंतर में शोक शीघ्र ही समाप्त हो जाता है,
और शीघ्र ही अन्य अतिथिगण आकर रीते कक्षों को हैं भर-भर देते,
अरे प्रेम तो तेरा एक पर्व की उमंग में आकर भूतल के ऊपर
क्षणभर की इक सुन्दरता की खातिर
भंगुर-सा इक खींचा हुआ चित्र है,
या कि 'प्रेम' वह यात्री है जो शाश्वत के पग-चिह्नों को अनुसरता रहता,
उसके पदार्थ उसके आलिंगन में यों परिवर्तनशाली प्रवहशील हैं
ज्यों अनंत-सागर पर तिरते तारों की बांहों में सागर की लहरें हों।"
पर सावित्री ने उस धुंधले तमसिल 'देवाधिदेव' को निज उत्तर अरपा:
"बस मेरे एकमात्र 'स्वामी', मेरे सत्यवान् को अब तू मुझे सौंप दे!
मेरी आत्मा जो इन भंगुर द्रव्यों
में भी गभीर शाश्वत एक सत्य का अनुभव करती उसके हित तो तेरे
ये विचार बस निपट खोखले ही हैं।"
तब 'मृत्यु' ने दिया उसको निज उत्तर:
"जा, लौट जा, और फिर अपनी आत्मा का अब तू जी भरकर इक प्रयोग कर
औ' सुशान्ता बनकर शीघ्र ही अरी तू यह पाएगी कि अतिव्ययी धरा पर
और सुजन भी हैं जो सुन्दरता से तथा शक्ति और सत्य से मंडित हैं,
औ' सत्यवान् को जब तू अर्धविस्मृत कर देगी तब इनमें से ही कोई
आकर तेरे अंतर को बस, जिसको अपने सम्मुख प्रतिसंवेदनकारी
इक अंतर की परमावश्यकता है, उसको घेर चार दिशि से बस लेगा।
क्योंकि मर्त्य बन ऐसा कौन है कि जो निपट अकेला प्रसन्न ही रह सकता?
औ' फिर यह सत्यवान् तो तेरा बस विलीन भूत में कहीं हो जाएगा।

औ' इक नवल प्रेम औ' नन्हें-मुन्नों
द्वारा तेरी यह कोमल सुस्मृति भी दूर ढकेल कहीं बस दी जाएगी,
यहां तक कि तू आश्चर्य ही करेगी कि कभी तूने प्रेम किया भी होगा।
अरे यही जीवन है, जिसको भू की प्रसव-वेदना यह धारण करती है,
यह इक ऐसा अविरत गति-प्रवाह है जो न कभी यकसां बनकर रहता है।"
पर सावित्री बोली 'महाकाल' से :
"प्रभु'-कर्म के हे असित व्यंग्यालोचक!
तू तन औ' मन की एक डगमगाती उस वस्तु की खोज का मजाक करता,
जिसको भविष्यदर्शी किसी घड़ी में है यह अंतर भी धारण कर लेता,
और जिसे यह अजरा अमरा आत्मा बना एक दिन बस अपना ही लेगी।
मेरा हृदय वही है जिसने अपनी
उसी देव-मूर्ति की कि जिसकी इसके सुप्रेम ने अविरत उपासना की थी
पूजा और अर्चना करता रहता,
गो वह हृदय आज त्यक्त-सा बना है।
उसके चरणों का सतत अनुसरण कर, मैं ज्वाला में जल और तप गई हूं।
क्या हम वे ही नहीं, जिन्होंने एकल बने प्रतिष्ठित 'प्रभु' के सँग शिखरों पर
विराट् एकान्त का सुवहन किया था?
तो फिर 'काल'! निरर्थक ही बस मुझसे क्यों तूने संघर्ष ठान रक्खा है,
मैं वह मन हूं, जो संध्या के धुंधले सभी विचारों से अभिमुक्त बना है,
जिसको देवों की रहस्यमयताएं हस्तामलक सरिस इक बोधगम्य हैं,
तो फिर मुझसे व्यर्थ तर्क करता है।
क्योंकि मुझे संदेहातीत भाव से आखिरकार आज ज्ञात हो चुका है
कि ये महान् सितारे बस मेरे ही एक निरंतर पावक से जलते हैं,
जीवन और मरण ये दोनों उसके ही तो अविरत ईंधन बने हुए हैं।
यह जीवन तो एक प्रेम करने का मेरा रचा हुआ अंधा प्रयास था;
मेरे संघर्ष को धरा ने देखा आकाश ने विजय को मेरी देखा,
अब सब कुछ ही अधिकृत बन जाएगा सब कुछ अतिक्रमित औ' हो जाएगा,
और विवाह-अग्नि के सम्मुख अपने
आवरणों को फेंकते हुए दोनों शाश्वत वर-वधु आपस में भेंटेंगे।
आखिरकार हमारी भग्न उड़ानों को स्वर्गों ने स्वीकार कर लिया है।
चीर 'काल'-लहरों को बढ़नेवाले
जीवन के इस पोताग्र पर हमारे आशा सिगनल का कोई प्रकाश भी
कभी निरर्थक नहीं अरे चमका है।"

बस सावित्री की वाणी यों निकली :
और देवता के निस्सीम अंग सब जैसे गुह्यानंद से बने आक्रमित

नीरवता में यों चुपके-से सिहरे
जैसे सागर के धूमिल तल उठकर बनें चन्द्रमा के प्रति सहज समर्पित।
तब उस अस्पष्ट तथा दीप्त जगत् में सहसा एक पवन से उत्तोलित-सी
उसके चहुंमुख संध्याभा यों लहरी
ज्यों फटने को उद्यत कोई पट हो।

इस प्रकार निज शस्त्रित वाणी से वे युगल विरोधी संघर्ष में रहे रत।
उस अभिदीप्त कुहासे के भीतर अब उन आत्माओं के चारों दिशि जैसे
अपने मौक्तिक पंखों को फैलाकर गहराती अर्धज्योति और उड़ चली,
यथा किसी सुदूर आदर्श-प्रांत में कि पहुंचने के लिए अधीर हो पड़ी।
उसके विचार रूप-रेख से सज्जित चमकीले कुहरे से निकल उड़ चले,
वे प्रदीप्तपंखी उन विविध ज्योतियों औ' आवरणों के सँग बनकर मिश्रित
औ' उसके सारे शब्द जगमगाते
रत्नों के समान अब उस रहस्यमय जगती की आभा से बने अभिप्रसित,
या उसके रंगों की कि इन्द्रधनुषी विचलन के द्वारा वे बने प्रवंचित
प्रतिध्वनियों के सम बस लगे तैरने
मंद पड़ रहीं जो सुदूर ध्वनियों में।

सारे उच्चारण, सब मनोदशा को
उस थल मन के द्वारा सिला हुआ-सा अस्थायी इक पट बन जाना ही है,
जिससे वह सुन्दर परिवर्तनवाला झीना-सा चीवर बस एक बन सके।
अपने नीरव संकल्प पर बनी-सी केन्द्रित वह अब धूमिल औ' अवास्तविक
मैदानों पर धुंधले-से तृणदल पर होकर मौन बनी ही विचर रही थी,
तैर रहा-सा अंतर्दर्शन का अब एक आवरण बस उसके सम्मुख था,
औ' सपनों का एक घिसटता आता चीवर उसके चरणों के पीछे था।
लेकिन अब उसकी चैतन्य शक्ति की आत्मिक ज्वाला ने अपनी उस निष्फल
सुमधुरता से जैसे पीछे हटकर

स्व-विचारों को अंतरस्थ करने हित
उन्हें ध्यान-गृह के इक गुह्य कक्ष में वाचा से अब पीछे खींच लिया था।
क्योंकि अंतरात्मा का सुदृढ़ सत्य बस अरे वहीं पर फ़क़त निवस सकता था:
वह तो अविनश्वर इक यज्ञ-ज्वाल है
जो उस केन्द्रीय अग्नि-वेदी भीतर बिना बुझे बस अविराम जल रही थी,
जहां परम गृह-स्वामी और स्वामिनी
के हित वह गृह की रक्षक औ' साक्षी पावक अविरत ही है जलती रहती,
जिससे देव-वेदियां प्रदीप्त होतीं।

पर अब भी तो सब कुछ विवश-सा बना

एक अपरिवर्ती ढंग से जैसे था
तिरता और फिसलता चला जा रहा,
फिर भी तो उन लोकों का अपना क्रम
अब जैसे इकदम ही उलट चुका था:
अब एक मर्त्य नेता बना हुआ था
देव तथा वह आत्मा अनुसर्ता थे,
औ' सावित्री ही उस महा कूच की
पीछे से बस अगुआ बनी हुई थी,
औ' वे आगे रह कर भी बस उसके
संकल्प का अनुसरण ही करते थे।
अरे टिमटिमाते-से इस कुहरे में
धूसरता के साथी बने हुए वे
उन अस्थिरतम मार्गों के ऊपर बस
आगे-आगे बढ़ते ही चले गए,
पर अब वे तेज़ी से भागने लगे
यथा किसी ने विक्षुब्ध कर दिया हो
वे तो सावित्री की आत्मशुभ्रता
से मानो बचकर थे चले जा रहे।
और पवन की रत्नजटित पांखों पर
एक स्वर्ग का पक्षी सवार होकर
चित्र-विचित्रित अंतरस्थ इक ज्वाला
के समान ज्यों ले जायी जाती हो,
परियों के द्वारा ज्यों मुक्तावर्णी
किसी गुफा में बस आनीत बनी हो,
यों ही उस मंत्रमुग्ध धुंधलेपन में
उसकी आत्मा बस बढ़ती जाती थी।
और 'मृत्यु' उसके औ' सत्यवान् के
आगे-आगे बढ़ी चली जाती थी,
डूब रहे इक तारे सरिस मृत्यु की
उस तम-सीमा में संचरणशील थी,
और शीश के ऊपर उसके, उसकी
विधि का वही अगोचर सुसंतुलन था।

पर्व १०, सर्ग ४

पार्थिव वास्तविकता की स्वप्न-द्राभा

ऐसा एक ढाल सम्मुख आया जो
एक डगमगे औ' धूमिल ढलान में
बस विभावना का वह मद्धिमहृदयी
उसके उन प्रदीप्त कोमल सपनों के,
औ' अर्धखचित मंद महत्ताओं के

औ' इक तनाव औ' कठोरता के सँग

द्राभा-ज्योति अभी भी तैर रही थी
अब उसने एक न्यून आनँदवाले
और वायु के ऊपर इक थके हुए
अब मद्धिम रक्त वर्ण के सँग आकर
जो बस दिन के मटियारे कुहरे के
एक कड़े और क्रूर-से तनाव ने
खतरनाक एक बोध से औ' उसका
इक दुखितर और महत्तर-सी ध्वनियां
उस झिलमिल-सी चौंधन को अति दारुण

मेघाच्छन्ना पर्वत-मालाओं की
अपने शृंगों औ' बुर्जों को लेकर
एक अपरिवर्ती और निष्प्रयोजन
औ' लंबे घाटों ने और तटों ने
उसकी दृष्टि को किया क्षण भर के हित
उसने देखा इन दृश्यों मध्य वहां
सतत सचल औ' निज नश्वर यूथों में
यह सपने की तमसिल आवरणी में
लिपटे हुए दीप्त छायाकारों के

नीचे गहराई में था उतर गया
जाकर अरे पलायन सतत कर गया।
चमत्कार तो सब गुम-गुमा ही गया;

तरह तरह के अपने आद्भुत्यों की
भीड़-भाड़ अब पीछे छूट गई थी:
विचार निम्न तलों पर पतित हुआ था,
वह अब इक स्थूल वास्तविकताके हित
जैसे अति ही अधीर बना हुआ था।
पर उसके रंगों में अब अंतर था,
सपने को खूब लपेटकर रक्खा था:
अंगों में वह आकर थिरा गई थी,
उसके प्रतीक-रँग सुर मिला रहे थे
समान ही मैले, धूमिल लगते थे।
बस उसके अंतर को घेर लिया था
स्पर्शबोध भारी आज बन गया था,
अब उसके कर्ण-गुहर पर छाई थीं,
खुली फाटनों के भीतर से होकर
उसके अंतर्दर्शन ने अब देखा,—
गतिशील भूतलों की एक त्वरा को,
विशाल पांडुरवर्णी सरिताओं को

नभ की दिशि चढ़ते नगरों को देखा:
औ' सपोत शुभ्रिल बन्दरगाहों ने
आकर्षित और हो गए अन्तर्हित।

श्रमरत जनसमूह वेदनाग्रस्त था,

इक परास्त चलचित्र सरिस लगता था।

जीवन के बोझीले प्रवाह में वे अर्थों की एक कल्पना करते थे;
उसी अनिश्चित वातावरण मध्य औ' वे अपने विश्वास को जमाए थे,
औ' अपने आत्मिक दृश्य को बदलने के हित मृत्यु की परीक्षा करते थे।
औ' श्रम का इक बर्बर कोलाहल था शस्त्रित जीवन की इक पग-चरमर थी,
विचार औ' कर्मों की विरस गूंज थी सदा-सदा जो वैसी ही रहती थी
जैसे इक महान् पाशव मशीन की बस नीरस प्रत्यावर्ती घर्घर हो,
यह तमसिल औ' असन्तुष्ट-सा रव था
गरजते हुए एक प्रशान्त सिंधु की कराह का एक अनुकरण लगता था।
और विशाल राक्षसी एक घोष था,—
मीनार रचयिताओं का कि गान था जो स्वर्ग की ओर चढ़ता जाता था,
एक इंजिनों की धक्-धक् होती थी औ' इक यंत्रों की खट्-खट् होती थी,
जो संघर्ष और श्रम की पीड़ा के गहरे एक मंद्र स्वर को लाई थी।
जैसे जब पांडु बिजलियां आ सहसा पीड़ित आकाश को चीर जाती हैं,
सावित्री के ऊपर तब अज्ञानी मन के विवश सर्जनों की परंपरा
मेघों से रेखायित बनी हुई बस पछुआती-सी थी ऐसे चमक उठी,
जैसे कि लाल चिमनी में से उठता धुंआ कि पछुआता हो चला जा रहा,
सावित्री उन सबको शकलों निर्मित चित्रों-सरिस भागता इत-उत लखती,—
मानव-विचार औ' रुद्धाशा-प्रेतों,
औ' 'प्रकृति'-रूप को, मनुज-कलाओं को,
मानव-दर्शन शास्त्रों की विविधा को जीवन के अनुशासन औ' विधान को,
प्राचीन समाजों की मृत आत्मा को,
दानव और कीट की रचनाओं को।

जैसे विगत और विस्मृत प्रकाश के खोए हुए कि ये अवशेष मात्र थे,
ये सब धूमिल अभिव्यक्तियां थीं और मोचक कभी रह चुके परम वाक्य थे,
संदेशहर सुरों के सुसंदेश थे ऋषि-मुनियों की औ' इक महावाक् थे,
औ' बीत रहे मत-मतान्तरों की, जो एक लेखमाला के सम लगते थे,
वे निज लक्ष्य और रक्षिका शक्ति का अपनी आज दिवाला पीट चुके थे।
प्रत्येक जिन्होंने निज स्वर्ण काल में शाश्वतता का दावा एक किया था,
वे सब उसके सम्मुख से गुज़र गए :
वे आदर्श, वाद औ' विज्ञान सकल कविताएं औ' वे शिल्पकलाएं सब
जो सर्जक एक 'शक्ति' के द्वारा बस अधीरता से ढूंढ़े खोजे जाते
वहां अथक भाव से दिखे मिटते औ' देखे गए तथा फिर पैदा होते।
पर ये सब इक रीते विराट् को बस पार कर रहे-से सपने ही तो थे।
पर्वत-शृंगों से या सरित्-तटों से
औ' कानन के वृक्षों से घिरे हुए विवृत पथों के एकाकी अंतर से

दिव के विश्राम को और आत्मा की लोकोत्तर शान्ति को खोजनेवाले
एकाकी ऋषियों औ' द्रष्टाओं की तप-वाचाएँ आवाहन करती थीं,
या कि मूर्तिवत् सुस्थिर कायाओं के
अपने अनिद्र विचार में अचलाई समाधिरत निवृत्तियों में डूबी-सी
सुषुप्तिमग्ना आत्माएँ बैठी थीं,
औ' यह भी तो बस इक सपना ही था।

सभी वस्तुएँ जिन्हें विगत ने सिरजा और हता है, वहांपर उपस्थित थीं,
इसके खोए, भूले सभी रूप औ' जो एकदा कि जग में जिए जगे थे,
और सभी वर्तमान प्रेम हमारे जो नवीनता को ले प्रकट हुए थे,
औ' भविष्य में सुपूर्ण होनेवाली आशाएँ जो निष्फल चली गई थीं,
जो व्यर्थ के प्रयासों द्वारा पाई और फिर गुमा दी एकदम गई थीं,
इसी तरह निष्फलता से पुनः पुनः जो युग-युग दुहराई अरे गई थीं
वे सबकी सब वहां पर उपस्थित थीं।

अब भी जीने का इक आग्रह करता लौटा सभी वहां इक अथक भाव से,—
क्योंकि अनुसरण-परिताप एक सुख है, श्रम और हार तथा जीत में सुख है,
सृजन तथा धारण में भी इक सुख है, और नाश का भी अपना इक सुख है।
ये युगचक्र घूमते हुए बराबर गुज़र गए औ' फिर से हुए उपस्थित,—
लाए फिर फिर उन्हीं श्रमों-कष्टों को लाए फिर फिर बंजर उसी अंत को,
लाए फिर फिर नव-नव आकारों को,
जो कि सर्वदा वही पुराने ही थे,
औ' लाए अति लम्बी और भयानक जगती की नानारूप क्रांतियों को।

एक बार फिर महती विनाशकारी वह वाचा बस गूंजी औ' घहराई:
उसकी विशाल अस्वीकार से भरी सर्वपराजयकारी शक्ति वह प्रबल
पीड़ार्त 'काल' की इस अज्ञ कूच का पीछा करती-सी लोकों के निष्फल
श्रम पर आर-पार जैसे प्रसर गई।

"री इस प्रतीक-प्रदेश के ऊपर तू देख ध्यान से आकारों, रूपों को,
और देख इसके सर्जन-सपने को स्थूल और बाह्य रूप-रेखाओंको
प्रेर रहीं जो भू के मूर्त कर्म को।

मानव-जीवन की इस सचल कथा में अरे यहां तू पता लगा सकती है,
उस परिणाम का, कि जिसको यह अपनी 'प्रकृति' प्रदान यहां करती रहती है,—
अस्तित्व के हमारे अरे पाप का, और वस्तुओं की सारी भूलों का,
जीने हित मजबूर बनानेवाली अरे हमारे भीतर की इच्छा का,
औ' मनुष्य की इस उपचार-विहीना आशा करने की इस महाव्याधि का।
एक अपरिवर्तीय व्यवस्था-क्रम में जहां न 'प्रकृति' कहीं परिवर्तित होती

वहां न मानव परिवर्तित हो सकता :
उसके निश्चित परिवर्तन के नियमों का सतत उसे पालन करना पड़ता।
फिर-फिर दुहराई-सी प्रकृति-कथा के
नए संस्करण की तालों के ऊपर सतत घूमते युग-चक्रों के भीतर
मनुज जाति चक्कर काटा करती है।
बस इन चक्रिल गति सीमाओं में ही उसका मन इक बँधुआ बना हुआ है :
और वस्तुतः मन ही मानव है जो विचार के उस पार न उड़ सकता है।
यदि वह निज सीमा को तज सकता तो निश्चय ही अभिरक्षित बन सकता था :
वह देखा तो करता, किन्तु महत्तर निज स्वर्गों पर पहुंच नहीं पाता है,
गो पंखों पर उड़ता भी है पर निज जन्मभूमि इस भू पर आ गिरता है।
वह मन के जाल का एक बन्दी है
औ' जीवन की दीवारों से अविरत वह आत्मा के पंख फड़फड़ाता है।
निराकार 'शून्य' में दीप्त देवों के निवास की उन्नत एक कल्पना कर
अरे व्यर्थ में निज व्यग्र प्रार्थना को उसका हृदय ऊर्ध्व प्रति उठवाता है।
निराश होकर फिर 'लौटता' शून्य में
सुखद अभावात्मकता में औ' उसकी एक मुक्ति की अभिलाषा करता है,
जो उसकी आत्मा के स्वर्णिम सपने का एक शान्त औ' सुखद निर्वाण है :
नीरवता में 'शब्द' अन्त पाता औ' नाम-रूप 'शून्य' में डूब जाता है।
इस मर्त्य समूह से अलग रहकर ही
मानव अव्यवहार्य 'दिव्य सत्ता' को
अपनी एकाकी आत्मा का प्रेमी बन जाने के हित टेर लगाता है,
या उसके शून्यात्मक आलिंगन में प्रक्षिप्त स्व-आत्मा को कर देता है;
अथवा निष्पक्ष उसी 'सर्वात्मा' में वह अपनी एक प्रतिमूर्त्ति पाता है,
वह अपने ही संकल्प को अरे उस अडिग, अचल के ऊपर धर देता है,
उस 'शाश्वत' प्रभु में भी अरे क्रोध का तथा प्रेम का आरोपण करता है,
औ' जो निपट 'अकथनीय' है उसे ही सहस्र लक्ष नाम अर्पित करता है।
ऐसे मानव जीवन में तू 'प्रभु' को उतार कर लाने की आशा मत कर :
बता, उस 'सनातन' को तू पृथ्वी पर कैसे फिर आवाहित कर सकती है?
इस भागते 'काल' में तो उसके हित रचा गया कोई भी धाम नहीं है।
और व्यर्थ ही इस जड़ जगती में तू इक उन्नत ध्येय की खोज करती है,
अरे यहां कोई भी ध्येय नहीं है, केवल एक बुभूषा ही होती है।
सदा-सदा को उसी प्रकार अरे बस 'प्रकृति' से बंधे सब जन विचरा करते।
देख, और इन आकारों को जो बस एक घड़ी टिकते और चले जाते,
देख जीवनों को, जो इच्छा करते संघर्षनिरत रहते औ' मिट जाते;
ये रचनाएं जिनके भीतर कोई अपना अरे टिकाऊ सत्य नहीं है,

अरे यहां के रक्षक धर्म और मत जो अपने को ही न बचा पाते हैं,
और मनुज-विचार से बने बहिष्कृत
तथा 'काल' द्वारा झूठ सिद्ध होकर
अरे समय के गलग्रही हाथों से वे अपने नाश को प्राप्त होते हैं,
दर्शनशास्त्र जो कि तर्कों से अपने बाल की खाल उधेड़ कर रखते हैं,
किन्तु धरा के आदिकाल से अबतक न समस्या कोई हल कर पाए हैं,
औ' विज्ञान व्यर्थ में ही अपने को सर्वशक्तिशाली घोषित करते हैं,
जिससे हम इतना तो सीख सके हैं कि सूर्य किन-किन तत्त्वों से निर्मित है,
औ' जिससे हम सारे आकारों को
अपनी बाह्यावश्यकताओं के ही सुसिद्ध करने हेतु बदल लेते हैं,
हम नभ में चढ़ उड़ान भर लेते हैं
और सिंधु के जल के भीतर-भीतर कि पनडुब्बियों से यात्रा करते हैं,
पर हम खुद किन तत्त्वों से निर्मित हैं औ' क्यों आए हैं, न जान पाते हैं;
ये शासन-तंत्र और मानवद्वारा मस्तिष्क से गढ़े अनगिनत भवन ये,
निर्मित हुए शुभाशुभ की ईंटों से,
मनुजात्मा को भित्ति-पिहित करते हैं,
औ' ये विदीर्ण बने हुए-से आलय, एक साथ प्रासाद तथा बंदीगृह,
निज शासन-काल में गलित होकर बस ये अपने उस महाध्वंस के पहले
ही ह्रास को प्राप्त हो-हो जाते हैं;
औ' ये फिर-फिर होती महा क्रांतियां, इक राक्षस औ' इक मदमत्त देव-सम
केवल उसी पुराने आनन को ही नए रँगों में फिर चित्रित करने हित
बस मानवता के घायल शरीर को हिला-कंपा कर हैं संक्षुब्ध बनाती.
ये भीषण रण, विजयी महाध्वंस औ' महानाश जो उन्मत्त बन गया हो,
औ' सदियों-सदियों का किया-धरा सब एक घड़ी में बस लुप्त हो गया हो,
अरे पराजित का वह बहा रक्त सब, विजयी के शिर का औ' स्वर्ण-मुकुट वह,
जिसको भावी की पीढ़ी बस भीषण दुख सह-सहकर कि चुकाती रहती है,
या नर-अज के पाशव अंगों ऊपर बना प्रतिष्ठित एक वीर का मुखड़ा,
अर्धदेव के साथ मिलाकर साधी और सँवारी यह राक्षसी भव्यता,
यह महिमा औ' पशुता औ' यह लज्जा;
यह सब आखिर क्यों है, औ' यह सारा भारी श्रम औ' कुहराम किस लिए है,
इन क्षणभंगुर आनन्दों की माला, और आंसुओं का यह शाश्वत सागर,
सतत लालसा, आशा और रुदन यह युद्ध, विजय और पतन का यह चक्कर,
औ' यह ध्येयहीन-सी यात्रा अनथक,
जागृति का यह घोर अनवरत श्रम औ' इस सब कुछ का और प्रयोजन क्या है,—
गायन, चिल्लपुकार और क्रन्दन यह, ज्ञान तथा मूर्खताभरा प्रलाप यह,

मानव-हास्य, सुरों का और व्यंग यह, आखिर यह सब क्यों और किस लिए है?
कहां जा रहा है कारवां भला औ' सकल तीर्थयात्रा का लक्ष्य कहां है?
पथ का नक्शा किसके पास धरा है किसने इसकी सब मंजिलें रची हैं?
या कि स्वयं संचालित बना जगत् यह अपने पथ पर स्वयं चला जाता है,
या कि एक सपनानेवाले 'मन' को छोड़ यहां पर कुछ भी और नहीं है:
औ' यह जग जो एक पुराण-कथा है, किन्तु वास्तविक ही जो बनी हुई है
एक सचेतन 'मन' है जो कि अरे बस अपने-आपको इसे सुना रहा है,
मायावी जड़ता की पृष्ठभूमि पर चित्रित और नटित होता यह सब है,
उसी भूमि पर सारा सचल-चित्र यह निःसार इक विराट् में अवस्थित है।
जहां कि मन ही सर्जक है, दर्शक है, अभिनेता है औ' इक रंगमंच है:
केवल मन का ही अस्तित्व है यहां
औ' जो कुछ भी वह चिंतन करता है वह ही फ़क़त दृष्टिगोचर होता है।
तो फिर यदि सब कुछ यह मन ही है तो आशा करना आनन्द की छोड़ दे!
औ' फिर यदि यह सब कुछ मन ही है तो अरी 'सत्य' की आशा करना तज दे!
क्योंकि नहीं यह मन तो अरे कभी भी 'सत्य' के शरीर को छू सकता है,
औ' यह मन 'ईश्वर' के अंततम को नहीं कभी भी यहां देख सकता है,
यह तो केवल उसकी परछांही भर को ही फ़क़त पकड़ औ' गह पाता है,
कहां हास्य को उसके सुन पाता है,

क्योंकि विमुख होकर यह तो उससे, इन
बाह्य वस्तुओं की झूठी प्रतीति की ओर ही तुरत घूम-घूम पड़ता है।
यह मन छाया औ' प्रकाश के ताने- बाने द्वारा बिना हुआ इक पट है,
उचित और अनुचित ने जिसमें अपने मिले हुए अंशों को कि सिल दिया है,
अथवा कहें कि यह मन सत्य-झूठ के
दुख औ' सुख के बीच हुआ संपादित बद्धप्रतिज्ञ 'प्रकृति' का इक विवाह है,
संघर्षनिरत इस जोड़ी को कोई अरे अदालत जुदा न कर सकती है।
मन का प्रति विचार बस इक चमकीली धातु-मिलावट का कि स्वर्ण-सिक्का है,
ग़लत औ' सही, ये दोनों सिक्के के बस मुख और पीठ हैं, युगल पक्ष हैं,
यह ही तो मस्तिष्क की राजसी इस टकसाल का अरे मुद्रा-टंकन है
इसके सब सिक्के बस इसी तरह हैं।
जीवित 'सत्य' को न तू इस पृथ्वी पर अरे उगाने की स्वीय कल्पना कर,
औ' इस 'जड़' जगती को 'तू' ईश्वर का धाम बनाने का बस विचार मत कर,
सत्य तो यहां उतर नहीं सकता है केवल सत्य का विचार ही यहां है,
ईश्वर का इस थल कुछ पता नहीं है, केवल नाम ही सुनाई पड़ता है,
यदि आत्मानामी इस थल कुछ है भी तो वह अनाकार है औ' अजात है,
उसकी कोई निज व्यक्तिता नहीं है और न किसी से बनी वह अधिकृत है,

तो अपने इस सुखी जगत् का तू कह, किस नींव पर अरे निर्माण करेगी,
मन औ' प्राण को निकाल कर फेंक दे! तब तू जाकर आत्मा बन सकती है,
और सर्वदर्शी व निरी, औ' केवल इक 'सर्वव्यापिता' तू बन सकती है,
औ' यदि ईश्वर यहां कहीं है भी तो वह जग की न तनिक चिंता करता है;
अपनी सुशान्त और तटस्थ दृष्टि से सभी वस्तुओं को वह निहारता है;
उसने शोक तथा इच्छा करने हित सब हृदयों को दण्डित यहां किया है,
और सकल जीवन को अपने निष्ठुर नियम-विधानों से बस जकड़ दिया है:
और प्रार्थना-डूबी अज्ञ गिरा को वह न कभी कुछ भी उत्तर देता है।
औ' जब कि युग-युगान्तर उसके नीचे
सतत अथक श्रम करते चले जा रहे वह शाश्वत बनकर बैठा रहता है,
इन द्रव्यों से, उसने जिन्हें रचा है वह अस्पर्श्य और अद्रवित बना है,
पशुओं की पीड़ा औ' मानव-विधि को
वह सुदूर तारों में घटी-हुई-सी इक घटना-सम तुच्छ ही समझता है:
उसका सुज्ञान अनाप है, असीम है, वह तेरे विचार के निपट परे है,
उसके एकाकी आनंद को कहां तेरे मानव-प्रेम की अपेक्षा है।
उसका महा सत्य मानव-विचार के भीतर बंधकर कैसे रह सकता है:
अगर तुझे उस सत्य की कामना है
तो अपने मन को, अदृष्ट औ' गूंगे 'प्रकाश' से बचकर तू अब सुशान्त कर,
सदा-सदा के लिए उसे सुस्थिर कर।
वह 'अमरानंद' तो आकर मानव के वातावरण में नहीं जी सकता है,
वह समर्थ 'जग-जननी' फिर किस विधि से
निज सुशांत आनँद को इस अति सँकरे औ' भंगुर-से फूलदान के भीतर
रे फिर सतत सुवासित रख सकती है,
औ' कैसे निज मधुरिम और अखण्डित
हर्षातिरेक को दुख-शोक अभिग्रसित इन पार्थिव हृदयों में भर सकती है
कैसे उन तनुओं में धर सकती है,—
जिन पर जब चाहे लापरवाही से मृत्यु यहां स्व-आक्रमण कर सकती हो?
प्रभु के द्वारा सुनियोजित जगती को अरे बदलने का सपना न देख तू!
औ' शाश्वत विधान के भीतर कोई उलट-फेर करने का यत्न न कर तू!
औ' यदि ऐसे कोई स्वर्ग कहीं हैं जिनके द्वार दुःख के लिए बन्द हैं
तो फिर उस आनँद की वहां खोजकर जिसको पा न सकी तू यहां धरा पर,
या अविनश्वर उस ऊर्ध्व गोलार्ध में
जहां पर प्रकाश का कि निजी धाम है औ' आनन्द ही जहां पर अधिपति है,
और जहां आत्मा की अमर भूमि पर ही सारी वस्तुएं चिर-प्रतिष्ठित हैं,
अरे वहीं पर हे शाश्वत की पुत्री! तू निज उन्नत, स्थायी स्थिति को वर ले!

यदि तू सचमुच ही आत्मा है औ' यह प्रकृति अगर तेरी आवरणी ही है
तो अपने आवरण को हटाकर बस तू केवल इक कोरी आत्मा बन जा!
औ' आत्मा के अपने अमर सत्य में तू बस एक सनातन सत्ता बन जा!
उस नीरव औ' सुशान्त 'केवल' में ही अरी सतत 'एकाकी' आत्मा बन जा!
फिर तू अविरत 'प्रभु' की ओर घूम जा! उसके हेतु सकल जग को फिर तज दे!
अपने इस प्यारे प्रेम को भूलकर सत्यवान् को भी फिर और बिसरकर
'प्रभु' की अविचल महाशक्ति के भीतर अपनी सत्ता को संपूर्ण मिटा दे!
ओ आत्मा तू अपने-आपको अरी उसके निश्चल आनन्द में डुबा दे!
क्योंकि तुझे ईश्वर की ऊंचाई तक
चढ़ पाने के लिए निजी निजता का हनन यहां अवश्य ही करना होगा।
मैं मृत्यु ही कपाट हूं अमरता का।"

पर सावित्री ने उस महा कुतर्की 'काल' देव को अरपा अपना उत्तर:
"क्या सत्य के नेत्रों को तू अब भी
अंधा करने के हित फिर 'प्रकाश' की चकाचौंध का रे आह्वान करेगा?
अज्ञानता' के सुघर पाश में पुन: अरे ज्ञान को बंदी बनवाएगा?
मेरी जीवित 'आत्मा' का वध करने को 'शब्द ब्रह्म' का फिर शर छोड़ेगा?
हे राजाधिराज अपने वरदानों
को तो तू उन श्रान्त क्लान्त आत्माओं औ' हृदयों के ऊपर ही बरसा रे!
जो न सह सके काल-व्रणों की पीड़ा
औ' जो तन औ' मन से बद्ध बन गए उनको ही निज बंधन चीर-फाड़कर
इक आश्रय की ओर पुकार लगाते, इस भगवत्-लीला से अरे भागकर
शुभ्र शांति में कहीं शरण पाने दे!
निश्चय ये वरदान बड़े महान् हैं क्योंकि स्वयं तू ही वह चरम परम है।
पर मैं इस अंतहीन-सी सुशान्ति में सुविश्रमित बन कैसे रह सकती हूं,
मैं जो कि स्वयं उस गरिमामय मां की उग्र शक्ति को निज में वास दिए हूं
औ' मैं जो उसके अंतर्दर्शन को अपने अंतर में यों फेर चुकी हूं,
कि जगत् की पहेलिका को पढ़ पाऊं,
औ' मैं, जो उसके संकल्प को, कि जो 'प्रज्ञा'-रवि-ज्वाला में तप्त हुआ है
उसको निज अंतर में धार चुकी हूं

औ' उसके प्रेम के हृदय की अनुपम
जाज्वल्यमान नीरवता को अपने उर में बसा और सुसँवार चुकी हूं,
वह मैं, इस शांति से तुष्ट हो सकती?

यह जग इक आध्यात्मिक असद्भास है:
जो अदृष्ट के भीतर इक अनिवारी आवश्यकता से ही रचा गया है,
प्राणी के इन्द्रियबोध के लिए तो उस 'तत्' की यह इक नगण्य छाया है,

जो विचार औ' वाणी से अतीत है,
वह तो उसका प्रतीक है, जिसको बस कोई प्रतीक व्यक्त न कर सकता है
औ' यह जग तो इक ऐसी भाषा है जिसका उच्चारण तुतलाता-सा है,
औ' जिसका अक्षर-विन्यास बराबर शुद्ध नहीं है औ' लँगड़ाता-सा है,
इतना होने पर भी वह सच ही है।
जिसकी सभी शक्तियां उन चरम-परम शाश्वत उँचाइयों से ही आई हैं,
और अचित् के धुंधले महाखात में आकर वे सब सीधे कूद पड़ी हैं,
वे ही स्व-चमत्कारी महा कार्य हित उसके भीतर से उठ फिर जागी हैं।
आत्मा उस 'अनभिव्यक्त' का स्वरूप है,
मानव का मन उस 'अचित्य' केवल के चिंतन करने में ही लगा हुआ है,
औ' जीवन उस अमर को यहां अपना जन्म धारने के हित पुकारता है,
औ' मानव-शरीर उस अपरिमेय को मंदिरस्थ करने को अकुलाता है।
रे यह जगती 'सत्य' और 'ईश्वर' से विलगाई-सी कोई वस्तु नहीं है।
अरे 'काल'! तूने काली अलंघ्य जो खाई खोदी है यह निपट व्यर्थ है,
तेरे द्वारा रची हुई यह अंधी द्वारविहीना भित्ति भी निरर्थक है,
तेरे भीतर से होकर ही मानव की यह आत्मा स्वर्ग तक पहुंचती है,
औ' स्वर्ग का सूर्य अपना प्रकाश ले
मृत्यु तथा अज्ञ रात्रि को विभेदकर जगती पर अपनी छवि फैलाता है,
इस सत्ता की उस कोर पर पहुंच कर उसका प्रकाश दिखलाई पड़ता है,
मेरा मन तो शाश्वत रवि के द्वारा ही दीप्त की गई बस इक मशाल है,
मेरा जीवन तो उस अमर 'अतिथि' के द्वारा ही ली जाती एक श्वास है,
और मर्त्य काया यह मेरी केवल उस शाश्वत का ही इक अपना गृह है।
अब तो मशाल अमर मयूख बन रही
अब तो जीवन उस 'अमर' सनातन की महाशक्ति में रूपांतरित हो रहा,
औ' शरीर रूपी गृह, गृहस्वामी का अंश बन गया, एकात्म हो गया है,
तो तू कैसे कहता 'सत्य' कभी भी मानव-मन को न दीप्त कर सकता है,
औ' आनन्द न मर्त्य हृदय के ऊपर अपना धावा कभी बोल सकता है,
औ' प्रभु ने जिस जगती को विरचा है उसपर वह अवतरित न हो सकता है?
यदि सृष्टि है निरर्थ शून्य में प्रकटी,
औ' यदि एक अरूप, अकाय शक्ति से ही है यह अपनी जड़ जगती उपजी,
और अचित् के महा वृक्ष में यदि यह 'प्राणशक्ति'-रस चढ़ता चला जा सका,
औ' मरकत पत्रों के ऐश्वर्य में हरिताह्लाद यहां यदि फूट है सका,
औ' इसका सौंदर्य-हास्य यदि खिल-खिल फूलों की विकचन में विहँस है सका,
और मांस-मज्जा औ' नस-नाड़ी में तथा कोष में यदि बोध जग सका है,
औ' मानव-मस्तिष्क के कलल को इस, 'विचार' अधिकृत यदि आज कर सका है,

औ' आत्मा यदि काया के निज स्थूली
पट से भी उस निगुह्यता के बाहर
तो किस तरह यह कहा जा सकता है
कि वह अनामी प्रकाश नहीं एक दिन
और 'प्रकृति' की गाढ़ नींद से उठकर
अरे आज भी अज्ञानता की मधुर
तारों के समान ही दीप्त 'सत्य' की
और आज भी अविनश्वर 'प्रेमी' का
कहीं कक्ष का द्वार तनिक खुल जाए
तो 'प्रभु' को चुपके-से आ जाने में
या निद्रित आत्मा का चुंबन करने
अरे आज भी 'प्रभु' अपने समीप हैं
क्योंकि हमारी तमसिल नास्तिक काया
तो क्या यह आवश्यक है इक ऋषि भी

मैं तो विचार से औ' स्पर्शबोध से
मैं 'अनन्त' की महिमा में जीती हूं
औ' वह 'अकथनीय' तो अब मेरे ही
किन्तु 'शाश्वती' के इस दीप्त छोर पर

मैं आत्मा से 'आत्मा', अंतर-सत्ता
पर मैंने 'प्रभु' की इस काया को ही,
उसके पार्थिव औ' प्यारे स्वरूप के
बस इस अंतर को जो प्रति अंतर के
उसको यह एकाकी स्वतंत्रता अब

सब आत्माओं की मुक्ति के लिए ही

तब उस भीषण 'महाकाल' का भैरव
जैसे अपने मरु-विधान के बोझे
के नीचे अपने ही एक हठीले

वह पहलेवाले असहिष्णु स्व-स्वर को
पर अब वह असंख्य मार्गों पर बढ़ने-
जो कि सतत श्रम ही करता रहता है,

अपना शीश उठाकर झांक सकी है,

इस मानव के ऊपर बरस पड़ेगा,
अनजानी शक्तियां न मचल उठेंगी,
मनश्चन्द्रिका की मोहक महिमा में
स्फुरित टिमटिमानें जग-जग उठती हैं,
मादक स्पर्श एक हम अनुभव करते:

कौन है कि जो रोक-टोक सकता है,
में उसको कौन मना कर सकता है?
और 'सत्य' अपने एकदम निकट है:
उसको अबतक पहचानती नहीं है,
'प्रकाश' को बस अस्वीकृत कर जाए,
औ' द्रष्टा भी आत्म-विमुख बन जाए?
औ' आकार से बंधी हुई नहीं हूं,
मैं 'अनाम' औ' 'अज्ञेय' के निकट हूं,
अपने घर का इक अभिन्न साथी है।
होकर खड़े यहां मैंने पाया है,
कि विश्व भी तो अन्य नहीं 'वह' ही है।
से 'अंतस्सत्ता' के संग भेंटी हूँ,
इस जगती को भी तो प्यार किया है।
पीछे-पीछे औ' अनुसरण किया है।
सँग अभिन्न औ' एकात्म बन चुका है,
है कैसे संतुष्ट कहो कर सकती:
मैं एक अभीप्सक जगका प्रतिनिधि हूं,
मैं निज-आत्म-मुक्ति की आकांक्षी हूं।"

एक गहनतर निनाद फिर से गूंजा।

अर्थहीन संकल्प से अरे दबकर,
घृणालु था पर थकित औ' करुण बनकर
क़ायम नहीं और आज रख सका था'
वाले जीवन का ही नाद बना था,—
प्राप्त नहीं औ' कुछ भी कर पाता है,

जन्म तथा परिवर्तन इसका कारण,
इन्हीं युगल शक्तियों को अरे लेकर
तो वह अपने पथ पर टिका हुआ है,
इन दो दृढ़ सीमा-स्तंभों के चहुंमुख
ध्येयविहीन दौड़ की एक सुविस्तृत
चक्रिल गति में जैसे घूम रहा है,—
जिसका मार्ग सदा दौड़ा करता है,
फिर भी जैसा का तैसा रहता है।
औ' मानव का यह भौतिक पार्थिव मन
'विधि' औ' 'दैवयोग' और 'काल' के सँग
अपनी इस लंबी जीवन-लीला में
हारे या जीते पर निज क्रीड़ा की
एक निरर्थकता प्रति बना सुनिश्चित
स्व-अज्ञता और संदेह के अपने
बोझ से बना हुआ सतत संपीड़ित,
जो बोझ ज्ञान के सँग बढ़ता जाता,
उन्नति से औ' बर्द्धित होता जाता,
उससे यह मन डूबा-सा रहता है,
निराश हो जाता, बूढ़ा लगता है,
औ' अपने कार्य पर निरुत्साहित औ'
थकी हुई एक दृष्टि से लखता है।
तब क्या यह सब 'कुछ भी' अरे नहीं था
या सब प्राप्त किया व्यर्थ हो गया था?
इसने कुछ तो महाकार्य साधा था,
उस भीषण विशाल की अचित् पकड़ से
छुटकर कुछ प्रकाश तो प्रकटा ही है,
औ' एक शक्ति तो प्राप्त ही हुई है:
निशि के प्रभाव से यह उबर सका है;
जो ऊषाओं को इक चक्रिल गति में
गोल-गोल घूमते हुए लखता है,
कोई उषा न भले ठहर पाती हो।
यह ही परिवर्तन अब 'काल देव' की
सुदूरगामी वाणीमें आया था,
उसका भयद रूप अब बदल गया था
औ' शाश्वतता के प्रति सतत हमारे
क्षणभंगुर प्रयत्न को मान लिया था,
फिर भी उसने अरे असंभव दिन के
भव्य इंगितों प्रति, जिनके कि विषय में
और अन्यथा भी कुछ हो सकता था,
ऐसी विस्तृत शंकाओं को फेंका।
फिर अब महान् वाचा उमड़-घुमड़कर
सावित्री पर इस प्रकार चिल्लायी:
"क्योंकि तुझे तो उस ज्ञानकी प्राप्ति है,
जो आकारों को ढकनेवाले औ'
आकारों से दुराव करनेवाले
ज्ञानों को भी अतिक्रम कर जाता है,
तो तू अब द्रष्टा देवों के द्वारा
मुक्त बनी-सी उठ जा, और जाग जा!
यदि तू जीवन के भीषण दबाव से
अपने मन को मुक्त कहीं कर पाती,
तो तू उनकी भांति शांत बन जाती
उनके-सम और सर्वज्ञ बन जाती,
पर तेरा उग्र आवेशमय अंतर
वैसा करने में भी आड़े आता।
यह तो एक अराजक महाशक्ति का
जैसे झंझा गरुड़ बना उड़ता है,

जो जग को ही उलट-पलट डालेगा
औ' उसके भीतर से जो बस 'विधि' की अनुद्राच्य और अपाठ्य कुण्डली को
तथा मृत्यु के शासन औ' 'विधान' को
अज्ञेय 'सुसंकल्प' को, जो निकाल कर सबको इकदम चीर-फाड़ डालेगा।
कर्म में उतावली दिखानेवाली औ' उस 'प्रभु' का नियम तोड़नेवाली,
ये सब वे महान् आत्माएं हैं जो अति ही अधिक प्रेम में मतवाली हैं,
औ' वे जो तेरी ही विधि सिरजी हैं क्योंकि अरे तुझमें दोनों ही गुण हैं,
ऐसे जन अपनी सुविशाल प्रकृति ले
अरे 'काल' को उलांघकर जीवन की इन सँकरी सीमाओं में आए हैं।
ये शक्ति के उपासक तो होते हैं पर उसकी प्रतिक्रिया से अपरिचित हैं,
उनके दानव-संकल्प बस बराबर विक्षुब्ध युगों को परवश करते हैं।
प्रज्ञावान् सतत सुशान्त रहते हैं, महान् शैल सरिस नीरव होते हैं,
जो अपने उस अपहुंच नभ की दिशि बस अविरत गति से लड़ते ही रहते हैं,
जो निज अचल अपरिवर्ती आसन पर अरे प्रतिष्ठित भू पर ही होते हैं
पर शीशों को स्वप्नरहित समाधि में अचल स्वर्ग में उठवाए रहते हैं।
औ' वे अपनी उन उन्नत औ' नीरव अभीप्सा निरत उँचाइयों के ऊपर
अपनी आरोहणशीला आत्मा को अरे स्वर्ग के मार्ग बीच उठवाकर
वे ज्ञानी, मध्यस्थ उन सितारों की परिक्रमाओं का वीक्षण-सा करते
सुसन्तुष्ट बनकर हैं सुस्थिर रहते।
और अडिग रहकर भी धरा-शक्ति के साथ-साथ जैसे घूमा करते हैं,
और युगों को गुजर रहा लखते हैं किन्तु बने वे ज्यों के त्यों रहते हैं।
युग-चक्रों के सँग चिंतन करते हैं
दूर-सुदूर में और घटनेवाली वस्तुमात्र की पग-चापें सुनते हैं
औ' वे अविरत धीर बने रहते हैं,
तथा अविचलित बने हुए-से अपनी
खतरनाक प्रज्ञा को अपने उर की गहराइयों में नियंत्रित रखते हैं,
कि कहीं मानव के दुर्बल जीवन-दिन अज्ञात सिंधु में बस डूब न जाएँ,
बद्ध तिमिंगल महा मत्स्य के द्वारा कर्षित किए हुए पोत के सरिस ही
अपने इन अति भीषण महासागरों के न अंध तल में ले जाए जाएं।
अरे देव जब अति समीप आ जाते तब यह सब कुछ कैसा हिल जाता है?
व्यथित, विदारित और विप्लवित बनकर
ही यह सब कुछ अपनी गति करता है और सभी खतरे में पड़ जाता है।
यदि इस अपूर्ण भू पर सहसा दिव से शक्ति अवतरित इक होने लग जाए,
और कहीं इन अयोग्य आत्माओं पर नग्न ज्ञान आकर आक्रमण बोल दे,
तो ये दौड़ रहे युग और युगान्तर बहुत शीघ्र ठोकर खाकर गिर जाएं।

अरे देवताओं ने अपनी भीषण शक्ति को छिपाकर ही रख छोड़ा है,
'प्रभु' ने निज विचार को छिपा धरा है,
और कभी तो वह खुद भी बस जैसे भूल कर रहा दिखलाई पड़ता है।
इस मंथरगामी और चतुर जग में तू भी सुशान्त और मन्दगामी बन !
उस धुंधले वन में, प्रभात में उठकर तूने जिसकी नित्य प्रार्थना की थी
उस चंडी देवी को हृदय में बसा तू भी शक्तिशालिनी है बन बैठी।
उन्मादी दानव-आत्माओं के सम तू अपनी शक्ति का न कुप्रयोग कर,
सुप्रतिष्ठित प्रणालियों और पुराने सुविधानों में छेड़छाड़ तू मत कर !
महान् औ' सर्वमान्य सभी वस्तुओं की स्थिरता का हृदय से समादर कर।"
उस विशाल 'काल-देव' को लेकिन फिर सावित्री ने अपना उत्तर अरपा :
"अरे नियामक ! काल ! कौन-सी स्थिरता की तू है रे इतनी डींग मारता ?
क्या ये वही विकट शक्तियां नहीं हैं
जो कठोर-सी कोई चक्रिल गति में श्रृंखलबद्ध बनी घूमा करती हैं
जो आत्माविहीन पाहनी दृष्टि ले बस यांत्रिक सपने देखा करती हैं ?
अचल, अटल 'विधान' ही यदि सब कुछ है तो आत्मा की आशा सकल व्यर्थ है :
पर 'प्रभु' का औचित्य सिद्ध करते-से एक त्वरा में भागे जाते युग ये
सदा-सदा ही एक नवीन और इक अज्ञात की ओर हैं बढ़े जा रहे।
जब कि अरे मानव का धीमा जीवन
दैवी शब्दों के द्वारा औ' मानव- रूपी देवों के द्वारा विकसित बन
एकाएकी झपट भव्य मार्गों पर एक छलांग मारकर कूद पड़ा था,
तब यदि भू के धूमिल महा नियंत्रण सहसा ही टूट-फूट न गए होते,
औ' अपने तमसिल बीज को फोड़कर महिमाएं प्रकटित न हो गई होतीं
तो पृथ्वी के इन युग-युगान्तरों का क्या उद्देश्य सिद्ध आज हुआ होता ?
वह मन्द नियम-दृढ़ता जो कि अचेतन जड़ द्रव्यों को बांध-बांध रखती है
उसको अरे सचेतन मनवालों औ' जाग्रत् अंतरवालों पर न थोप तू !
पशुओं की जाति के लिए तो बिलकुल अंध अचित् शासन यह हितकारी है,
अविचल और जुए के नीचे इसके सुसंतुष्ट बन रहना सुखकारी है,
पर मानव को उन्नत चाल चाहिए,
मानव को प्रशस्ततर मार्ग चाहिए।
तेरे इस विधान को तो मैं अपनी जीवित चापों से मर्दित करती हूं;
क्योंकि अरे स्वतंत्रता में जगने को ही तो मैं इस पृथ्वी पर जनमी हूं।
यदि मैं सुशक्तिशाली हूं तो मेरे बल को अब उद्घाटित हो जाने दे !
जो उन अनादि महाशक्तियों का ही इक समकोटिक सहचर और सखा है,
या तो फिर उस हतोत्साह आत्मा को अरे डूबकर मेरी मिट जाने दे !
देवत्व की अनधिकारी बनकर औ' उस आदिम निद्रा में सो जाने दे !

आज 'काल' से मैं स्वीय संकल्प की
काल-क्षणों से कालातीत 'ईश' की
'मृत्यु' ने दिया सावित्री को उत्तर :
"क्यों ऐसा अभिजात, अमर संकल्पी
भंगुर भू के क्षुद्र नगण्य कार्यों

मृत्यु और काल के बंधनों के सँग
लड़ते रहना ही विचार औ' बल का
जिस श्रम से देवों की प्राप्ति हो सके
बस तुच्छ सुखों को पाने की खातिर,—
जिन को भू-क्षणभंगुर द्रव्योंवाली

उनके लिए सतत रण करते रहना

ओ शिशु! क्या तूने उन देवों तक को
कि पार्थिव नगण्य जीवन के चिथड़ों
जिसे प्रेम करती है तू उसके हित
औ' उसकी आत्मा को भी स्वर्गों प्रति
जिसको उदारचेता उन देवों ने
क्या 'प्रभु' के दरबारों से भी तेरे
तब सावित्री ने यों उत्तर अरपा :
"मैं तो बस उस पथ के ऊपर चलती
जिसको मेरे हित ही उस बलशाली

और जहां उसकी मीठी औ' भीषण

बता मुझे, विशाल लीकों की महती
औ' अपनी आवेगी महा श्वास से
और किस प्रयोजन से उसने मेरे
औ' स्व-दीप्त गर्वीली इच्छाओं को
अगर उसे मेरे माध्यम से उनको

तो अपनी मानव-मूर्ति को भला फिर

शाश्वतता की अरे मांग करती हूं,
प्राप्ति के लिए मैं दावा करती हूं।"

के हित आकर अरे नमित बनता है,
क्यों यह शाश्वत स्वतंत्रता तजता है,
और 'सनातन' मार्ग को भुलाता है?

क्या सबसे उत्तम एक उपयोग है?
उसका यों व्यय करना क्या संगत है?

अपनी छोटी-सी एक तिजोरी में
संभाल और संजो कर रख सकती हो
औ' घावों की पीड़ा सहते रहना,
क्या यह क्षुद्र प्रयास कभी हितकर है?
इसीलिए पद-मर्दित फ़क़त किया है
के ऊपर तू निज अधिकार रख सके?
स्व-मुक्ति को तू रद्द है किए देती,
शीघ्रगमन-आनँद से वंचित करती,
दया कर किया दिव में आवाहित है?
भुजपाश अधिक आकर्षक हैं, मृदु हैं?"

औ' बढ़ती हूं सीधी चली जा रही,
हाथ ने अरे खोदा और खना था
जिसने पथों को हमारे सिरजा था।
वाणी दौड़ाती है दौड़ रही हूं,
मैं 'प्रभु' की रासों से ही चालित हूं।
सुयोजना 'प्रभु' ने किस लिए रची थी,
इस अनंतता को क्यों व्याप्त किया था?
नश्वर इस आकार को रचाया था,
मेरे भीतर किस कारण रोपा था,—
इस जगती में सिद्ध नहीं करना था,
मेरे भीतर स्फुरित नहीं करना था,
मेरे द्वारा प्रेम नहीं फलना था,

क्यों उसने इक वैभवशाली ढंग से
तक्षित करके बस तैयार किया था,
उसे विचारों, विशालताओं से औ'
स्वर्ण-शक्तियों से क्यों सज्ज किया था?
वह सुदूर 'स्वर्ग' तो निजी सुशान्ति में
हम दोनों के सुआगमन की कुछ दिन
अभी और फिर बाट जोह सकता है।
स्वर्ग-सृजन तो 'प्रभु' के लिये सरल था।
पृथिवी का सर्जन इक कठिन काम था,
पृथिवी ने एक समस्या, समष्टि औ'
संघर्ष का नवल गौरव अरपा है,
अरे यहां अपशकुनी छद्मानन हैं
और विकट शक्तियां बहु उपस्थित हैं,
और यहीं पर देवों के रचने की
भारी एक महत्ता भी उभरी है।
क्या यह आत्मा सदा-सदा को ही रे!
अमर नहीं है औ' निर्दोष नहीं है,
औ' 'काल'-फंद से अभिमुक्त नहीं है?

तो फिर 'मर्त्याकाश' में यहां आकर
क्यों इसने अपना अवतरण किया है?
मानव के भीतर ही 'उसने' अपनी
उन्नतात्मा को सुकार्य सौंपा है,
और 'प्रकृति' के शिखरों के ऊपर बस
अरे गुप्त निज राजाज्ञा आंकी है,
सतत प्रतिष्ठित इक आत्मा की खातिर
स्वतंत्रता तो यही अर्थ रखती है,—
सीमाओं में रह कि असीम बन सके,

औ' जड़ता की गांठों के भीतर रह
उन्हें खोलने का बल प्राप्त कर सके,
सिरजे हुए इन विविध लोकों में से
कर्म के महान् तत्त्व का रच लेना,
असम और छितरे धागों को लेकर
एक सूक्ष्म प्रज्ञा के पट का बुनना,
युद्ध तथा निशीथ के भीतर से ही
प्रेम और सुषमा को विकसित करना:
बदी गई यह ही अद्भुत बाजी है,
खेली गई और दैवी लीला है,
सच्ची स्वतंत्रता की परिभाषा है।

जब तक वह रिक्त कर दिए जाने में
ही न मुक्ति का अनुभव ले सकती हो,
तो यह आत्मा की क्या स्वतंत्रता है?

जब तक वह उन संपूर्ण बंधनों को
जिन्हें कि प्रेमी ने प्रिय के अंगों के
चारों दिशि से कस-कसकर बांधा है,—
उनका चुंबन करने में अशक्त है,
जब तक प्रेमी के अत्याचारों का
उसके आलिंगन में पिस जाने का
उसने सहर्ष चुनाव नहीं किया है
तो वह कैसे मुक्त कही जाएगी?
वह उसकी बांहों के सीमाकारी
घेरे को इस हित स्वीकृत करती है
कि निज असीम हृदय से अपने प्रिय को
और भी अधिक अधिकृत अरे कर सके,
औ' आनन्द-विभोर बनी वह उसके
प्रभुतामय हाथों के नीचे झुकती
उसके वैभवपूर्ण बंधनों में ही
वह बंध-बंधकर है बस खिल-खिल पड़ती
जितना जितना बंधती है उतना ही
अधिक अधिक है स्वतंत्र अनुभव करती,

ओ 'काल'-देवता! तेरे प्रलोभनों के हित बस मेरा यह ही उत्तर है।"

औ' 'मृत्यु' की अटल अस्वीकृति ने यों किया सामना उसके महा घोष का :
"तू चाहे जितनी भी महीयसी हो,
देवों के गुह्य मंत्र-गृह में तेरा कोई भी गुप्त नाम उच्चारित हो,
पर तेरे अंतर का क्षणावेश यह
सर्वमान्य द्रव्यों के लौह-दुर्ग को नहीं तोड़ने में समर्थ हो सकता,
जिसके द्वारा सशक्त 'सुर' ये अपने 'आकाश'-शिविर को रक्षित रखते हैं।
मानवता के छद्मरूप के पीछे तू कितनी भी महती इक सत्ता हो,
चाहे तू क्यों न जगन्माता ही हो,
औ' 'दैवयोग' के क्षेत्रों पर अपने दावे को रखना गाड़ चाहती हो,
फिर भी यह विश्व का महा 'विधान' तो तेरे संकल्प से महत्तर ही है।
वह 'ईश्वर' जिसने कि विधान रचे हैं वह भी इनका आदेश मानता है :
यह 'विधान' तो थिर औ' चिरजीवी है यह तो परिवर्तित न कभी होता है,
'काल'-सिंधु पर 'व्यक्ति' बुदबुदा ही है।
तेरी आत्मा तो उस आनेवाले विशालतर 'सत्य' की पुरोगामी है,
औ' इक अपने स्वतंत्रतर 'विधान' की अरे स्वयं ही बस रचनेवाली है,
अपने पीछे बसनेवाली 'ऊर्जा' जिस पर ही तो वह निर्भर करती है,
औ' ऊपर का वह प्रकाश कि न जिसको तेरे सिवा किसी ने भी देखा है,—
इनकी तू जो इक डींग मारती है,
औ' 'सत्य' की विजय के प्रथम फलों पर सगर्व अपना जो दावा करती है।
किन्तु बता तो अरे 'सत्य' वह है क्या, कौन रूप को उसके पा सकता है?
इन्द्रियगत भड़कीले आकारों में मन के इन अनगिनती अनुमानों में,
'विचार'-अनिश्चयों से बसी हुई औ' इस जग की इन काली दुविधाओं में,
कौन 'सत्य' को ढूंढ़, पकड़ सकता है?
क्योंकि 'काल'-हाट के अनंत शोर में
'सत्य' कहां है, औ' उसकी वह पग-ध्वनि कब किसके कान में पड़ी भी होगी,
इसका न्याय कौन फिर कर सकता है?
औ' अगणित इन उठी हुई ध्वनियों में
जो सुननेवाले मस्तिष्क में सतत
आती-जाती रहती औ' आत्मा को छलते रहनेवाले उन नादों में
कौन 'सत्य' की वाणी धर सकता है?
ताराखचित उच्च-नाम के सिवा बस क्या तेरा यह सत्य और कुछ है भी?
या कि एक धूमिल औ' भव्य शब्द है, जिसके द्वारा मानव का विचार यह
आत्म-प्रकृति के चुनाव को बस अपने सहमति देता, संस्कारित करता है।

यह तो अंतर की एक चाहना है, जिसने धार ज्ञान का वस्त्र लिया है,
चुनी हुई में भी इक चुनी हुई या यह तो मनचाही एक भावना है,
या कि जिन्होंने मन-क्रीड़ा-आँगन में नाद गुंजाकर भीड़ लगा रक्खी है,
या मनके निद्रा-कक्षों में आकर जो शिशु-निद्रा में मग्न हो गए हैं
उन अर्ध-प्रकाश के बालकों में से यह विचार का प्यारा इक बालक है।
सभी वस्तुएं अरे यहां पर 'प्रभु' की इक हां-ना के बीच में कि लटकी हैं,
दो शक्तियां कि जो वास्तव हैं, लेकिन एक दूसरे के प्रति अवास्तविक हैं,
मन की चन्द्रिका-निमग्ना निशीथ में जैसे दोनों दो साथी तारे हों
जो एक दूसरे के निपट विरोधी क्षितिजों के ऊपर घूमा करते हों,
यह ऐसा इक रहस्यमय पक्षी है जिसका शीश श्वेत है, पुच्छ असित है,
तीव्र और लँगड़े जिसके कि पैर हैं एक पंख अति दृढ़, दूजा भंजित है,
और जो अनिश्चित जग की काया का भारी भार वहन करता चलता है
यह आकाशों में उड़नेवाला बस महान् औ' अतियथार्थ एक व्याल है।
तेरे गर्वीले औ' उच्च सत्य को भारी जोखिम एक मोल लेना है,
औ' 'जड़ता' की मर्त्य तुच्छता में फँस भीषण इक खतरे में ही जीना है।
सब कुछ इस जग में सत्य दीखता है फिर भी तो यह सब कुछ असत्य ही है:
इसके सारे ही विचार इक शाश्वत महा शून्यता में दौड़े जाते हैं,
इसके सभी कर्म बस उभर-उभर कर
अरे 'काल' की कोई चक्राकारी शून्य योगफल में प्रसार पाते हैं।
इस प्रकार यह मानव एक साथ ही पशु भी है औ' एक देवता भी है,
'प्रभु' का सहचर बनकर कि विसंवादी पहेलिका भी यह एक बन गया है,
जो भीतर के देवत्व के रूप को नहीं खोलने की क्षमता रखता है,
अपने-से इक छोटी सत्ता लगता,
फिर भी जो कुछ दिखलाई पड़ता है उससे तो वह बहुत कुछ अधिक ही है,
एक अभीप्सा-निरत बना-सा पशु है, और निराश बना-सा एक देव है,
फिर भी न पशु है न वह पूर्ण देव है, अपितु निरा इक पृथिवी का मानव है,
पर यह मनुज बंधा दयालु भू-श्रम से
उससे आगे बढ़ जाने की खातिर अविराम इक यत्न करता रहता है,
उच्च 'वस्तुओं' के पा लेने के हित 'प्रभु'-नसेनियों पर चढ़ता रहता है।
पदार्थ तो प्रतीतियां भर हैं, जिनके सत्य को न कोई भी जान सका है,
औ' विचार तो ये, बस इक अज्ञानी देव के कि अनुमान सरिस लगते हैं,
और धरा के अविवेकी अंतर में नहीं 'सत्य' का मंदिर यहां कहीं है:
फिर भी बिना तर्क के मानव-जीवन सपनों का इक उलझाव मात्र ही है,
लेकिन यह तर्क एक धुंधली खाई के ऊपर सुसंतुलित बना हुआ है;
फिर भी आखिरकार खड़ा वह कोई संदेह-पटल के ऊपर ही तो है।

शाश्वत सत्य भला इन मर्त्य मानवों   के साथ-साथ कैसे है रह सकता ?
और अगर तेरे नश्वर अंतर में   उस शाश्वत सत्य का सुवास कहीं है
तो सदेह 'सत्य' को मुझे दिखला तू !
या उसके आनन की रूप-रेख ही   मेरी आंखों के सामने खींच तू !
जिससे मैं भी उसका भक्त बन सकूं !
जिससे मैं उसकी अर्चना कर सकूं !

तब मैं तेरे सत्यवान् को निश्चय   तुझको फिर से वापस लौटा दूंगा।
किंतु यहां तो रूखे तथ्य मात्र हैं   औ' लौहबद्ध-सा केवल 'विधान' है।
मैं तो बस इतना सत्य जानता हूं   कि सत्यवान् मृत्यु को प्राप्त हो चुका,
औ' तेरी सुमधुरता भी अब उसको   आकर्षित कर फेर नहीं सकती है।
कोई भी जादू-सत्य एक मृत को   जीवन में ले आने को अशक्त है।
निष्पन्न हो चुकी जो वस्तु, न उसको   भू की कोई शक्ति बदल सकती है।
और मृत्यु के पीछे टिकनेवाला   कोई भी अंतर का हर्ष नहीं है,
कोई भी आनन्द न भूतकाल को   फिर जीने के हित फुसला सकता है।
इस गूंगे 'शून्य' को फ़क़त 'जीवन' ही   है जो कि सान्त्वना कुछ दे सकता है,
और 'काल' के रीतेपन को जो निज   विचार के द्वारा कुछ भर सकता है।
तो फिर अपने मृतक को यहीं तजकर   सावित्री जा लौट, और कुछ जी ले !"
पुनः शक्तिशाली महती छाया को   उस रमणी ने दिया और निज उत्तर :
उसके मुख से कढ़े बोल ज्यों ही बस   नश्वरता उसकी सब लुप्त हो गई;
उसकी और भगवती सत्ता ही अब   उसके नेत्रों से बरसने लग गई,
औ' स्वर्ग-स्वप्नवत् अब एक ज्योति बस   उसके आनन से चमकने लग गयी।
"अरी 'मृत्यु' तू भी तो 'प्रभु' ही है पर   पूरा-पूरा 'उसका' रूप नहीं है,
अपितु 'ईश' ज्यों-ज्यों 'रात्रि' को छोड़कर   निज 'उन्नत' पथ पर बढ़ता जाता है
औ' निज से चिपकी उस अचित् 'शक्ति' को   अपने पीछे घसीटता लाता है,
तब उसके पथ पर पड़नेवाली तू   बस उसकी इक काली छाया ही है।
'प्रभु' की अचेतनावस्था में दिखता   तू बस उसका श्यामल वर्ण शीश है,
औ' तू उसकी ही अंध अज्ञता का   पश्चात्तापहीन-सा एक चिह्न है,
औ' उसके विशाल औ' अंधकारमय   गर्भ का अरे इक स्वाभाविक शिशु है,
और अमरता के ऊपर बस उसकी   लगा एक जारजता का कलंक है।
सकल द्वंद्व भाव तो और उसके ही   आनन के बस मानो विविध पक्ष हैं।
यह 'बहुत्व' तो असंख्य बना 'एक' है,
और 'एकमेवाद्वितीय' ही अंतर   में समष्टि को धारण किए हुए है।
वह 'निर्वैयक्तिक' है, वह अभेद्य है   और वह निरा एकाकी बसता है,
वह ही एक अनंत 'पुरुष' है जो बस   अपनी इस जगती को निरख रहा है,
औ' उसकी 'नीरवता' ही 'शाश्वत' की   महा मूक मुद्रा को धारण करती,

उसकी एक ज्योति ही है जो शाश्वत 'वाचा' को प्रेरित है करती रहती,
उस 'अचलायमान' ब्रह्म की गभीरा और अमर एक मौनता वह ही है,
उसकी शुभ्र और लक्षणविहीन-सी
रीती औ' वह सर्वास्वीकृतिकारी अचला और सुस्थिरा शांति वही है,
यह सब कुछ होकर भी, इस सब कुछ का वह ही स्रष्टा 'पुरुष' बन उपस्थित है,
वह ही सर्वशक्त 'स्वामीवत्' स्थित है,
और देवताओं द्वारा जो अपना संकल्प पूर्ण होते निरख रहा है,
औ' इक इच्छा को जो अर्ध सचेतन मानव को प्रेरित करती रहती है,
और अनिच्छुक-सी इस अर्ध रात्रि को वह चुपचाप ऊर्ध्व से देख रहा है।
ये विशाल औ' दिव्य चरमताएं सब और परस्पर की प्रतिकूल शक्तियां
'प्रभु'-काया के दक्षिण-वाम पक्ष हैं।
और शक्तिशाली युगल भुजाओं के बीच सुसंतुलिता सांसारिक सत्ता
'विचार' की असमाहित गभीरताओं को मन के सामने खड़ा करती है,
इस सत्ता के नीचे अंधकार है औ' ऊपर अप्रमेय इक 'प्रकाश' है,
'प्रकाश' में ये दोनों मिले हुए हैं,
लेकिन एक विभाजक 'मन' के द्वारा ही तो बस वे यहां विभक्त बने हैं,
औ' आमने-सामने हुए खड़े हैं, विपरीती होकर भी कि अविभाज्य हैं,
एक-दूसरे के ये दो विपरीती
जैसे उसके महान् 'विश्व-कार्य' के लिए परम आवश्यक-सा साधन थे,
ये दोनों दो ध्रुव हैं जिनमें बहती
दो धाराएं ही भीषण, विशाल इस 'विश्व-शक्ति' को अभिजाग्रत् करती हैं।
औ' वह अपनी 'आत्मा' की सुविशाला
निगुह्यता में इस जगती के ऊपर अपनी पंख-संतुलित-सी-मुद्रा में
युगल अवस्थाओं में एक बना-सा आदि-हीन है औ' अंतहीन भी है,
फिर दोनों छोरों को भी उलांघकर अरे 'निरतिशय' में प्रवेश करता है।
उसकी अपनी सत्ता तो इस मन के उस पार का एक भारी रहस्य है,
उसके तौर-तरीके मर्त्य अज्ञता को अपनी चौंका-चौंका देते हैं,
और सान्तता अपनी नन्हीं नन्हीं
सीमाओं में सज्जित बनी हुई-सी इस सब पर आश्चर्यचकित होती-सी
'प्रभु'-साहस पर विश्वास नहीं करती,—
जो इक अति अकल्प्य 'सर्व' बनने के एक असंभव कार्य को सँवरता है,
औ' 'अनंत' की भांति सतत लखता है, औ' 'अनंत' की भांति कार्य करता है।
मानव की बुद्धि के सामने उसका बस यह ही तो इक घोर अपराध है,
कि ज्ञात होकर भी वह सदा-सर्वदा उससे अज्ञात ही बना रहता है,
वह सब कुछ है औ' फिर इस रहस्यमय समग्रता को भी उलांघ जाता है,

औ' होकर निरपेक्ष 'काल' के ही इस सापेक्ष जगत् में निवास करता है,
यद्यपि वह 'शाश्वत' सर्वज्ञानी है, आवागमन-यातना, पर सहता है,
सर्वशक्तिशाली होकर भी तो वह 'दैवयोग', 'विधि' से खेला करता है,
बुद्धि के लिए यही महापराध है।

'आत्मा' होकर भी 'जड़' और 'शून्य' के स्वरूप को आकर धारण करता है,
यद्यपि वह असीम है, औ' अमेय है, आकार औ' नाम से निपट परे है,
पर वह शरीर में आकर रहता है,

एकम् है, परमातिपरम है लेकिन पशु, मनुष्य और देवता बनता है:
एक शान्त औ' गहन सिंधु है फिर भी वह हरहरती लहरों में हंसता है:
'विश्वरूप' में अपने वह सब कुछ है, परात्पर रूप में न कोई भी है।
औ' मानव की न्याय बुद्धि की खातिर यह उसका वैश्विक घोरापराध है,—
कि वह शिव-अशिव दोनों से ही पर रह बना सर्वशक्तिमान-सा जीता है,
औ' इस दुष्ट जगत् में उन पुण्यात्मा
और साधु पुरुषों को उनकी विधि पर बेफ़िक्री से युंही छोड़ देता है,
औ' इस विशाल जग पर अरे अशुभ को शासन की एक छूट दे देता है।
उद्देश्यहीन-सा इक श्रम दिखता है जिसमें अर्थ बहुत थोड़ा होता है
ये आंखें जो अंशमात्र लखती हैं समग्र-दर्शन न प्राप्त कर सकती हैं,
इन्हें सभी कुछ एक विरोध औ' कलह या दैवयोग दिखलाई पड़ता है।
मानव-दृष्टि सतह को ही लखती है,
गभीरताएं तो उसकी शोधों से अरे सर्वदा छटक-छटक जाती हैं,
एक वर्णसंकर रहस्य या पामर
निरुत्साहकारी इक चमत्कार बस ललकारता दृष्टि को उसकी रहता,
फिर भी चौकस सी इस 'अचेतना' की
नग्ना औ' कोरी एक कल्पना में जगत्-अज्ञता की अनजान भूल में
एक योजना दिखलाई पड़ती है,
छिपे 'बुद्धितत्व' की झलक मिलती है,
प्रत्येक लड़खड़ाहट और पतन में इक उद्देश्य सदैव निहित रहता है;
और 'प्रकृति' का इक लापरवाही से सुस्ताना तो उसकी इक मुद्रा है,
जिसमें वह आगामी एक चरण के भरने की बस तैयारी करती है,
किसी गहन परिणाम को सँवरती है।

इक सोद्देश्या स्वरलिपि के भीतर ज्यों चतुरताभरे स्वर कि प्रविष्ट हुए हों,—
यों ही लक्ष-लक्ष ये विसंवाद बस
उत्क्रांति के विशाल समूह-नृत्य में सामंजस्यमयी इक लय के भीतर
निज विविधता बिन्दुकित कर जाते हैं।

उस परमातिपरम 'सत्य' ने जगत् को यहां जनमने के हित विवश किया है,

'जड़ता' को तो इसने अपने ऊपर
यह एक 'मृत्यु' रूपी अरे क़फ़न है
इसने नीरव आकाश मध्य सूर्यों,
जो विशाल चिंतननिरत आकाश की
निराकार इक महा समाधि में यथा

इसने ही उस 'चित्' को इक पर्यावृत
और इसी ने 'सत्' तत्त्व को एक घन
औ' 'आनंद' से ही तो अरे अचेतन
यहां सान्त द्रव्यों के भीतर अपनी
औ' जड़ता की इस बेबस समाधि के
अपने निद्रामग्न अचेत 'शून्य' से
सोते औ' सपनाते हुए अरे यह
जो पंगुल औ' बंधे हुए, कठोर इस
यह सत्य एक खण्डित समग्रता है
और चमकते हुए अंश ये उसकी
इसका छायामय प्रतिबिंब ही यहां
यह गूंगी और जड़ पुंजता से इक
मस्तिष्क औ' नाड़ियों के द्वारा जो
सुख-दुख के अनुभव के स्वरूप में औ'
अस्पष्ट अनुभवों का इक समूह यह
जीवन-आघातों को उत्तर देता
औ' फिर यह चूर-चूर हो जाता है

बस इक अदना और नगण्य अतिथि यह
जिसके भीतर जिया और जागा है
पर अंतरात्मा अपने इस गृह के
औ' अपनी काया को यह अविरत ही
अज्ञानी उद्देश्यहीन जग में यह
पृथ्वी के इक अर्थहीन जीवन में
अर्धदेव के जैसा यह इक पशु बस

फिर भी अपने उच्च विचारों द्वारा
यह क्रीड़ा करता, चिंतन करता है
और एक पशुवत् स्व-क्षुद्र इच्छाओं

एक क़फ़न की तरह लपेट लिया है,
और 'अज्ञता' का ही एक क़फ़न है।
को जलने हित मजबूर बनाया है—

उसी सत्य के बुद्धि-अगोचर जैसे
विचार के बस दीप्त ज्वाल-इंगित हैं,
संघर्षनिरत प्रकाश है बनवाया,
मूक अचित् तत्त्व में यहां पलटाया,
जग की सुन्दरता को है निरमाया।
उस 'अनंत' का ही तो अरे वास है:
भीतर वह ही छिपा हुआ सोता है,
सारी जगती पर शासन करता है;
मन, अंतर, आत्मा का क्षेपण करता,—
धरती के ऊपर श्रम करते रहते;
जो बिखरे अंशों से कार्य सँवरती,
'प्रज्ञा' के हीरक विचार-सम लगते,
अज्ञानता बस हमारी है होता।
अनगिन धाराओं में प्रकटाता है,
एक व्यक्तिता को बस रच जाता है,
इक चेतन प्राणी को निरमाता है,
औ' मात्रास्पर्शों का एक बिन्दु यह,
क्षणभर की स्व-आयु लेकर आता है,
बस शक्ति का दिवाला पिट जाता है,
औ' निज मृताकार को तज जाता है,

उसी विश्व को छोड़ चला जाता है।
भीतर छिपी हुई बढ़ती रहती है,
निज शक्ति और श्री देती रहती है,
उद्देश्यों का सुअनुसरण करती है,
अविरत अर्थदान करती रहती है।
इक चिंतक मानव बनकर आया है,
यह कीचड़ कांदो में लोटा रहता,
यह स्वर्ग में उड़ानें भरता रहता,
हंसता-रोता है औ' सपनाता है,
को अविरत सुतुष्ट करता रहता है,

जीवन-पुस्तक के अध्ययन बीच यह विद्यार्थि-दृष्टि में डूबा रहता है।
आखिर बुद्धि और इन्द्रियज्ञान की घोर जकड़बन्दी से बाहर आकर
सान्त विचारों की औ' सँकरी सीमा के भीतर से इक दिन और निकलकर
आध्यात्मिक मन में जाग्रत् होता है;
बस इक उच्च मुक्ति-प्रति चल देता है, औ' ज्योतित प्रदेश में जीने लगता,
शाश्वतता की एक झलक लेता है, अनन्तता को पहुंच कि है छू लेता
इन महती औ' आकस्मिक घड़ियों में देवों का संसर्ग प्राप्त करता है,
फिर जग को अपने ही इक विराट्तर रूप के सरिस बस अनुभव करता है,
देश-काल को इक 'प्रकाश' के भीतर
उच्चावच के अरे जोड़ देने हित बना एक अपना अवसर लेता है,
हृदय-गुफा के भीतर गुपचुप, 'प्रभु' के साथ अरे संलाप किया करता है।
पर ये तो उन्नतस्पर्श हैं, प्रेरित घड़ियों में जीने के कुछ अनुभव हैं;
परम 'सत्य' के लघु अंशों ने उसकी आत्मा को सुप्रकाशित कर रक्खा है,
ये तो सुशांत जलाशयों पर आकर सविता के पड़ते प्रतिबिंब मात्र हैं।
अंतिम आरोहण पर चढ़नेवाले तो कुछ ही विरले सुसाहसी जन हैं,
औ' उस चकाचौंध कर देनेवाले
उन्नत प्रकाश की अंतिम सीमा को फोड़कर वहां प्रवेश करनेवाले,
औ' अपने चहुंमुख इक सशक्ततर नव वातावरण में श्वास लेनेवाले
अपने से इक विराट्तर सत्ता के संदेशों को सुप्राप्त करनेवाले
इसकी विशाल औ' एक सहजबोधी 'मयूख' में कि नहाते रहनेवाले
इस जगती में कुछ विरले जन ही हैं।
उन्नततम 'मन' के ऊपर बस अपने ज्योतिर्मय उच्च भूमिकाएँ स्थित हैं
जो 'अनंतता' के झलमल प्रकाश में डूबी और नहाई-सी रहती हैं।
ये उस 'सत्य'-धाम के बहिष्प्रांत हैं औ' ये उसके इक आश्रय-प्रदेश हैं
ये मन की सुसमुन्नत जागीरें हैं औ' ये इकदम अमाप हैं, अमेय हैं।
मानव वहां पदार्पण कर सकता है पर स्थायी बन निवस नहीं सकता है,
वैश्विक 'विचार' निज विशालताओं को चारों ओर प्रसारे ही रहता है,
जिसके नन्हें-से अंश ही यहां पर बनकर दर्शन शास्त्र उतर आते हैं,
ये सब नन्हीं बातों की व्याख्या के
सुविस्तार से एक घोषणा करके
प्रत्येक वस्तु की अपनी सर्वज्ञा एक योजना रेखायित करते हैं।
लेकिन मन की चढ़ती हुई ज्योति यह इससे भी उन्नततर उठ सकती है
अंतर्दृष्टि के विराट् हैं यहां औ' इतना ही क्या, शाश्वत सविता भी हैं,
अमर दीप्ति के औ' गहन सिंधु भी हैं,
ज्वाला के पर्वत हैं, जो स्व-शिखाओं से स्वर्ग पर आक्रमण करते रहते,

अरे वहां पर बसना क्या है, सब कुछ ज्ञान-दृष्टि का प्रकाश-विस्फोटन है,
जहां एक अंतर्दृष्टि की जाज्वलित चूड़ा मन का पथ प्रशस्त करती है,
विचार जिसके पीछे पुच्छल तारे- सम स्व-पुच्छ को घसीटता आता है;
हृदय दीप्ति से जाज्वल्यमान रहता जैसे इक ज्ञानी हो, इक द्रष्टा हो,
इन्द्रियबोध जहां तादात्म्य-ज्ञान में अपने बस इक जगा-जगा रहता है।
जहां पर अरे उन्नततम उड़ान इक कि गहनतम का दर्शन पा लेती है,
सहजज्ञान के नभ के एक सुविस्तृत- से खुलाव में उसकी चपल बिजलियां
अपने दीप्त समूहों में इत से उत
सत्यों की मांदों में सारे गोपित
सत्यों का शिकार करके बस उनको खोज मांद से बाहर ले आती हैं;
औं इस सहजज्ञान की पूर्ण दृष्टि की
ज्वाल-धार आत्मा के बन्द पड़े उन
अज्ञात सुएकान्तों के द्वारों में बल भर कर बस प्रविष्ट हो जाती है,
मस्तिष्की नभ के गुह्य प्रदेशों की और खोज में लगी हुई रहती है,
तथा हृदय के उन गोपित कक्षों को आकर सतत प्रकाशित कर देती है,
औं इसकी सत्य-खोज का शूलाग्री आघात नाम और रूप के पट पर
गिर कर उसे चीर, सब कुछ की गोपित आत्मा को उघार बाहर लाता है।
और 'विचार' यहां पर क्रांत दृष्टि के रवि-ज्योतित नेत्रों से अभिसज्जित है,
'शब्द' महान् प्रेरणाभरी स्व-'वाचा'
लेकर 'सत्य' के स्व-एकान्त कक्ष के अंतरतम में निज प्रवेश करता है,
फिर 'प्रभु' औं' जीवन के रोधक पट को चीर-फाड़कर अरे फेंक देता है।
तब निस्सीम सान्तता का आखीरी विस्तार फैलता जाता दिखता है,
'अधिमानस' की उन्नत भूमि यही है और विश्वमन का साम्राज्य यही है,
इस 'काल' को उठाकर कि 'शाश्वती' से योजनहारा अंतर-राज्य वही है,
वह मानव-अनुभव में आ पाने को अति विशाल है औं' अति ही विराट् है।
एक स्वर्ण-नभ के नीचे बस इस थल सब कुछ आकर एकत्रित होता है,
स्व-अनंत संभावनावाले गृह में
विश्व-विधात्री सभी 'शक्तियां' आकर इस स्तर पर निज स्थान ग्रहण करती हैं,
औं' आकर निज निवास वर लेती हैं,

और वहीं से तो प्रत्येक देवता
अपनी-अपनी एक विशेष प्रकृति के अनुरूप एक जगती को रचता है,
दिव्य भावनाएं तो उस प्रदेश में
अंक-राशियों के समूह में मानो व्यूहबद्ध-सी फैली हुई पड़ी हैं,
औं' 'विचार' तो उस प्रदेश में जैसे
भीड़ लगाए-से पुंजों-पुंजों में इक चितवन से अधिकृत बने हुए हैं,

सकल 'काल' तो मानो इक काया है, सकल 'देश' मानो कि एक पोथी है,
और वहां पर ही तो 'प्रभु' की सब कुछ लखनेवाली सार्वभौम चितवन है,
और अमर 'मन' की वे सीमाएं हैं:

और वहीं पर वह रेखा है जो दो
परार्ध-अपरार्ध के कि गोलार्धों को अलगाती और मिलाती रहती है,
औ' जो 'देवों' के महान् उस श्रम को उस पार छिपाकर ही बस रखती है,
और 'काल' की इस रेढ़नी चाल से स्व-शाश्वती को भितियाकर रखती है।
वह शाश्वत प्रकाश के गौरवशाली साम्राज्य बीच शोभित सर्वशासिका,
परम 'सत्य श्री' जो न किसी से शासित, अखिला शक्तिमती औ' सर्वज्ञात्री,
वह एकल इस स्वर्ण देश में अपने अमेय गृह की निगरानी करती है;
औ' अपने अलिंद में बैठी-बैठी
वह उस 'अनभिव्यक्त' में से आते-से उसके उन पग-चापों को सुनती है
जो तबतक न लौटकर अब जाएंगे
जब तक न 'अज्ञात' वह ज्ञात बन सके, औ' मानव द्वारा साक्षात् बन सके।
उस वैश्विक 'दृष्टि' की चकाचौंधन औ' उसके फैले सुविस्तार के भी पर
अशब्द 'विचार'-नीरवता के ऊपर

अरे अमर रूपों की अरूप सर्जक
और अनामी होकर भी जो अपने दिव्य नाम के धारण करनेवाली,
'काल' तथा कालातीत इन युगल ही सीमाओं को उलांघ जानेवाली,
महा 'शक्तिशाली' वह 'मां जगदम्बा' आलोकित स्व-शान्ति में विराजती है,
औ' अपने घुटनों पर शाश्वत 'शिशु' को साधे है औ' तबतक दुलारती है
जब वह शिशु 'विधि' से भी वार्ता ठाने उस दिन की आतुर बाट जोहती है।
निज भविष्य-आशा की मूर्ति वही है;

सारा तम जिसकी बाट जोहता है अपना वह जगमगता सूर्य वही है,
निज अविनश्वर सामंजस्य वही है;

जग के सारे द्वंद्व भाव उस थल पर आरोहण कर कि एक बन जाते हैं,
जग के सकल सत्य जिसके सुअंश हैं सत्यों का वह महान् 'सत्य' वही है,
औ' विश्व-अज्ञता जिसकी छाया है आलोकों का वह 'आलोक' वही है,
औ' यह छाया तबतक बनी रहेगी
जब तक न वही 'सत्य' कि जिसने इसको फेंका था फिर से निज में समेट ले,
और वहीं पर वह 'प्रेम' है, जिसे ही
अपने द्वंद्वों के घाव पूरने को जगती के सब अंतर पुकारते हैं,
वह आनंद भी वहीं है जिसके हित भटके त्यक्त शोक सब लालायित हैं:
वह छबि जिसे कभी हम इस भूपर भी पा जाते, उस थल से ही आती है,
और वहीं से वे सुपरम परमेश्वर इस मानव-आत्मा को दर्शन देते,

और वहीं से आ सुषमा औ' सपने 'प्रकृति'-सुआनन पर छा-छा जाते हैं।
शाश्वत-जात पूर्णता अरे वहां ही रही टेर 'कालजा' पूर्णता को है,
'प्रभु' का सत्य वहीं मानव-जीवन को सुआश्चर्य से अभिभूत कर रहा है,
और वहीं पर इन सान्ताकारों को 'प्रभु'-प्रतिमा ने बस ज्यों जा पकड़ा है।
वहीं सनातन 'आलोक' का जगत् है,
वहीं 'सत्य' है जो कि यहां स्व-शीश को एक महा गुह्यता में छिपाए है,
औ' इस भौतिक स्वरूप की कटु कृति में,—
जिसकी पहेलिका को कि बुद्धि द्वारा समझा गया सदैव असंभव ही है,
वही 'सत्य' 'अतिमानस' के प्रदेश में सीधा, अदुर्बोध बन विराजता है;
जिसके मुख से उस प्रदेश पर ही जा छद्मावरण पूर्णत: खसक गया है,
औ' बस 'प्रकृति' तथा सकल वस्तुओं का सामान्य नियम खुल एकदम गया है।
और वहां पर ही उस परम सत्य की आत्म-तत्त्व से बनी हुई काया है,
जो सुसनातन अग्नि को अरे धारण करनेवाली इक पाहन-वेदी है,
औ' जिसमें कर्म तो फ़क़त आत्मा की गति को ही सुव्यक्त करनेवाले हैं,
और 'विचार' अमोघ भाव से अपने निरपेक्ष बने-से विचरा करते हैं,
जीवन अविरत पूजा-संस्कार है,
जो कि पूर्णत: उस 'एकम्' को अर्पित किया जा रहा इक आनन्द-यज्ञ है।
अरे वहां पर आत्मिक बोध और इक वैश्विक दर्शन सारे ही अनंत को
सान्त रूप में बसा हुआ लखता है,
औ' प्रकाश के एक स्फुरित आनंद के द्वारा उसे देख औ' अनुभव करके
उस 'अशरीरी' के भ्राजित आनन की इक प्यारी औ' मधुर शोध करता है,
और एक पल में प्रकटे 'सुसत्य' में और एक पल की आत्मा के भीतर
वह 'शाश्वतता' के मधुर सोमरस को चुसकी ले-लेकर पी-पी सकता है।
वह 'आत्मा' है, कोई व्यक्ति नहीं है, फिर भी वह असंख्य है, औ' अगणित है,
निज जग का वह गुह्य अनंत 'पुरुष' है, स्व-बहुल व्यक्तित्व को गुणित करता है,
औ' अपने इन सकल शरीरों पर ही स्व-दिव्यता की छाप लगा देता है,
औ' सबके भीतर वह अद्वितीय औ' अजर-अमर खुद ही आकर बसता है।
प्रति दैनिक कार्यों के पीछे अपने 'परम अचल' वह सदा खड़ा रहता है,
अपनी शक्ति और स्थिरता में सारी सृष्टि को धरे और समेटे रहकर
और अपरिवर्ती उस अमर संतुलन औ' सब परिवर्तन को धारे रहकर
वही सृष्टि के सब दृश्य औ' क्रिया की बस पृष्ठभूमि बनकर इक बसता है।
अविरत भागे जाते अरे काल से 'कालातीत' यहां झांका करता है,
जहां वह 'अनिर्वचनीय' अरे अपनी वाचा का चीवर धारण करता है,
जिसके जादूई ताने-बाने सम उसके सारे शब्द-समूह बिने हैं,
जो कि दीप्ति से अपनी प्रेरित करती- सुषमा से मंडित हो दौड़ रहे हैं

औ' प्रति विचार जो कि जगत् की स्मृति में पहले से अंकित बन पड़ा हुआ है
अपना विधित स्थान धारण करता है।

परम 'सत्य' निर्वैयक्तिक, विशाल है,
वह अपने को काल औ' परिस्थिति में निपुणाई से ढाल-ढाल लेता है,
औ' इसका सत्त्व तो विशुद्ध स्वर्ण है सदा-सदा जो वही बना रहता है,
आत्मा के उपयोग के लिए लेकिन पात्रानुरूप आकार धारता है,
इसका स्वर्ण तत्त्व ही तो मदिरा की कलशी बनता, फूलदान बनता है।
सभी कुछ वहां उस परमाभिव्यक्ति का ही प्राकट्य और उसका प्रकाश है,
औ' वह सर्वाद्भुतवर' प्रति घटना को बस इक आश्चर्य ही बना देता है,
वही 'सर्व सुषमावर' तो बस केवल प्रत्येक आकार का चमत्कार है,
औ' 'सर्वानंदवर' ही तो अंतर के— स्पंदों को आनंद से झंकृत करता,
इन्द्रिय का उपयोग तो वहां केवल इक विशुद्ध औ' स्वर्गिक आनंद होता,
औ' प्रत्येक व्यक्ति उस थल पर जैसे आत्मा का ही अपना एक अंग है,
अगिन असंख्य मनीषावाले 'अखिलं' का ही तो वह केवल एक अंश है,
कालातीत 'ऐक्य' का अधिकारी है,
बहुत्व की सुमधुरता तथा भिन्नता का अपना यह सारा अद्भुत आनंद
उस 'एकम्' को ही अंतरंगता से बना हुआ चारों ओर झल्लरित है।

किन्तु 'सत्य' का शोभामंडित आनन रे मृत्यु! तुझे कौन दिखा सकता है?
मानव-वाचा उसे न प्रकटा सकती अपितु वह उसे छायान्वित करती है।
और विचार के लिये तो वह अद्भुत प्रकाश का इक अचिंत्य आनंद ही है,
औ' मानव-वाचा के लिए तो निकट एक अनिर्वचनीय सुचमत्कार है।
ओ मृत्यु! अगर तू उस चरम 'सत्य' का
स्पर्श कर सके तो तू एकाएकी 'प्रज्ञा' से सम्पन्न, पूर्ण बन जाए,
औ' तेरा अस्तित्व सकल मिट जाए।

औ' यदि अपनी ये आत्माएं 'प्रभु' के महा 'सत्य' को देख नज़र भर पाएं,
औ' उसको ये हृदय प्रेम कर पाएं, औ' उसका पूर्णालिंगन पा जाएं
तो उसकी अंतहीन दीप्ति हमारे हृदयों को इकदम अधिकृत कर लेगी,
और हमारा अस्तित्व निपट 'प्रभु' की ही प्रतिमा में तब फिर ढल जाएगा।
औ' भू का जीवन इक दैवी जीवन में ही तब परिवर्तित हो जाएगा।
तब अंतिम बार मृत्यु ने बस अपना उत्तर सावित्री को इस विधि अरपा :
"चरम 'सत्य' यदि यहां 'ज्ञान' के द्वारा या आरोहणशील विराटों द्वारा
अपनी छाया चीर प्रकट हो जाए,

तो फिर उसके विरचे स्वप्न जगत् औ'
उसके खुद के बीच की महा खाई पर कौन सेतु की रचना कर सकता?

या फिर कौन उसे मानव-जगती में उतार लाने की आशा कर सकता ?
औ' अस्पर्श्य स्व-महिमा औ' आनंद को छोड़कर यहां इस पृथिवी के ऊपर
औ' अपनी शोभा को इसके दुर्बल वातावरण बीच व्यर्थ ही लुटाकर
अरे कठिन इस भूगोलक पर अपने
घायल चरणों से चलने-फिरने को कौन उसे फुसला और मना सकता ?
हे नश्वर अंगों की अनुपम सुषमा !
और जाल से मेरे बचने के हित पंख फड़फड़ानेवाली ओ आत्मा !
क्या तेरे अंतर में वही शक्ति है, तू मानवी छद्मवेश में कौन है ?
तेरी वाचा शाश्वत स्वर गर्भित है, और ज्ञान तुझमें निवास करता है,
तेरे शब्दों में 'सत्य' बोलता है,
उस पार की सुद्रव्यों का प्रकाश ही नेत्रों में देदीप्यमान होता है।
पर 'काल' और मृत्यु की विजेता वह तेरी शक्ति किधर है, मुझे दिखा तू ?
यहां स्वर्ग के मूल्यों के रचने हित क्या तेरे पास शक्ति है उस 'प्रभु' की ?
क्योंकि 'सत्य' भी और ज्ञान भी तो वह, एक निरर्थक प्रदीप्ति ही होता है,
जिस 'ज्ञान' में सब जगत् का परिवर्तन करनेकी कुछ शक्ति नहीं होती है,
जिस 'सत्य' में न्याय्य मार्ग पर चलाने की अपनी 'सामर्थ्य' नहीं होती है।
'सत्य' नहीं यह तो अंध 'शक्ति' ही है जो अज्ञानी जग की रचना करती,
'सत्य' नहीं यह तो अंध 'शक्ति' है जो मनुज जीवनों को संचालित करती :
रे 'प्रकाश' से नहीं 'शक्ति' से ही तो यहां देवगण सब, शासन करते हैं,
अरे 'शक्ति' ही 'प्रभु' की सबल भुजा है वही 'नियति' की और अटल मुद्रा है।
अरी अमरता के ऊपर तू अपना दावा करनेवाली मानव-पुत्री !
अब अपनी शक्ति को खोल मम सम्मुख और आत्म-बल को सु-अनावृत कर दे !
तब मैं निश्चय ही तुझको बस तेरे प्यारे सत्यवान् को वापस कर दूं !
औ' यदि सर्वबला 'माता' है तुझ में
तो मुझको उसका आनन दिखला तू, जिससे मैं उसकी अर्चना कर सकूं,
तो 'मृत्यु' के नेत्रों में अमर्त्य उन नेत्रों को खुलकर सतत घूरने दे,
औ' इन सारे जड़ पदार्थों में बस उस 'अनश्वरी' महाशक्ति को अपना
अमर स्पर्श देकर इस धरा-मृत्यु को बदल अमर इक जीवन में देने दे।
तब तेरा मृत सखा तुझे मिल सकता और धरा पर जाकर है जी सकता,
औ' यह औंधी पड़ी धरा भी शायद अपनी दृष्टि उठा ऊपर सकती है,
'प्रभु' की छिपी हुई काया को अपने पास उपस्थित अनुभव कर सकती है,
और भागते हुए 'काल' को तब फिर 'प्रेम' और वह 'आनंद' धर सकता है।"

फिर सावित्री 'महामृत्यु' को केवल रही घूरती दिया नहीं कुछ उत्तर।
लगा मृत्यु की उस प्रतीक आकृति के

मिस जग-तम ने 'स्वर्ग-प्रकाश' के लिए भी अब लगभग निज अनुमति प्रदान की,
रही न शेष और कुछ आवश्यकता 'प्रभु' को अरे उस 'अचित्' आवरणी की।
बस सावित्री की संपूर्ण प्रकृति में इक महान् रूपांतर था अब आया,
अंतरस्थ 'देव' का इक प्रभा-मंडल औ' उसके आनन पर अब प्रकटाया,
'अमर देवता' के उस प्रकाश ने बस जिसने था मुखमंडल दीप्त कराया,
जिसने अपनी प्रदीप्ति को अब उसके काया-गृह रूपी शिविर में बसाया,
और प्रसर फिर सकल वायुमंडल को एक ज्योति का सागर ही बनवाया।
आविर्भाव की सुप्रज्वलित घड़ी में
'अवतार' ने अवतरित होकर अपनी आवरणी को कि परे फेंक दिया हो।
औ' वह अनन्तता में जैसे अपना नन्हा स्वरूप धर कर खड़ा हुआ हो,
औ' 'शाश्वत' का स्वधाम दिख पड़ता हो,
उसकी आत्मा ही ज्यों विश्व-केंद्र थी,
फैली हुई दिशाएं औ' ये सारी उसका एक बाहरी चीवर ही थीं।
दूर स्वर्ग का सुशांत गर्व ही यथा
उसकी भाल-वक्र-रेख के रूप में धरा-नम्रता में अवतरित हुआ था,
विशाल भाल-वितति ने उसकी नम कर 'सर्वज्ञ'-दृष्टि को तोरणित किया था।
उसकी आंखें तो बस दो तारे थे जो कि सकल जगती को निरख रहे थे।
और 'शक्ति' वह जो उसकी सत्ता के ऊर्ध्व शिखर पर से शासन करती थी,
और उपस्थिति जो कि सहस्त्र कमल-दल की गुह्यता बीच उसकी निवसित थी,
वह अब भौंहों के मध्य केंद्र में बस आज्ञा-चक्र मध्य उसके उतर पड़ी,
औ' उसपर पूरा अधिकार कर लिया,
जहां कि मन का 'स्वामी' बैठा जग को स्वनियंत्रण-कक्ष से नियंत्रित करता;
जहां ध्यान के स्वाभाविक आसन पर सिंहासनासीन-सा बना हुआ वह
मानव के भीतर खोलता है अरे, इक रहस्य-गर्भित तीसरे नेत्र को,
यह 'अदृष्ट' का ही स्व-नेत्र होता है जो लखता है बस सीधे अदृष्ट को,—
पर तब, जब 'प्रकाश' स्वर्णिम आनंद से उसके मस्तिष्क को पूर जाता है,
औ' शाश्वत' की ही प्रज्ञा आकर जब उसकी इच्छा को प्रेरित करती है,
औ' शाश्वत 'संकल्पशक्ति' मानव के सुसंकल्प को अधिकृत कर लेती है।
औ' फिर तो वह शक्ति उतरकर उसके संगीती कंठ-विशुद्ध-चक्र में कँपी,
औ' तब फिर उसकी वाचा के भीतर अमर 'वाक्' निज वैभव लेकर लहरी,
'वैश्विक विचार' के सँग उसका जीवन इक संगति में चालित, लयित हो उठा,
और 'विश्व-आत्मा' की पगध्वनियों से था अब वह स्पन्दित औ' स्वरित बन चला।
औ' फिर 'प्रभु'-सविता की भांति कि जो निज रहस्यमयी गुफा में है सर जाता
जहां कि उसका प्रकाश पीछा करने- वाले सुरों से छिपा निज को रखता,
यूंही फिसल कर उसने हृदय-कमल में जाकर था आसन अपना जमा लिया,

औ' 'विधि' को परिवर्तित करनेवाले
बस फिर नाभि-कमल की गहराई में
प्राण-प्रकृति के उस संकुचित भवन में
दैहिक इच्छाओं के ऊपर उसने

और जहां कुण्डलित बनी यह वैश्विक
'ऊर्जा' सोती है उस गुफा में पहुंच
और अन्नमयता में जा सहस्रफण
जो अग्निशिखा-समान चढ़ी ऊर्ध्व में
औ' इस 'जड़ता' की मूकता को उठा
पृथ्वी के सारे कर्मों के भीतर
इस प्रकार बन रूपांतरित निपट वह
'शाश्वतता' ने सीधे निज नेत्रों से
'अंधकार' ने 'प्रभु' की जीवित-जाग्रत्
तब श्रुति में इक 'वाणी' पड़ी सुनाई
या कि कहें, अनन्तता ही निद्रा के
तब उसके मुख से उच्चारित होता
"ओ सर्वशक्तिशाली, सर्व-विजेता!
'अनन्तता' के भीषण गौरवशाली
अहो 'शून्य'! सब कुछ की अस्ति के लिए
सूर्यों के ठंडे भस्मावशेष को

औ' अपने अग्निल जबड़ों के भीतर
तारों की सर्जक ऊर्जा को इकदम
विचार के बीजों को निज में धारण
जिसमें सारा 'ज्ञान' समाधिस्थ बना
जहां, वही 'भ्राजितज्ञान' मानस की
धीरे-धीरे जिसकी रीती छाती
अरे 'मृत्यु' तू मेरी ही छाया है
मैंने ही तुझको अति भय का भीषण
औ' तेरे कर में मैंने ही भय की
जिससे तू मानव के इन अधजाग्रत्
उसकी आत्मा को चिर 'प्रकाश' के हित
अरे तुही तो बस उसके कार्यों में
शाश्वत आनंद की लालसा के लिए

'बल' को उसके भीतर था जगा दिया।
अपने प्रभाव को कि उँडेल था दिया,
आकर औ' फिर अपना वास कर लिया,
स्वर्गानंद के कुसुम को विकसाया,
इच्छा को सित स्वर्गिक ज्वाल बनाया,

एकाएकी अपना दखल जमाया,
सर्प 'शक्ति' के ऊपर आघात किया,
औ' सीधे जा 'विश्वात्मा' से भेंटी,
जोड़ 'आत्मा' की चुप्पी से आई,
आत्मा की नीरव सुशक्ति भर लाई।
लगी देखने बाट दिव्य 'वाणी' की।
अरे 'मृत्यु' की आंखों में तब निरखा,
परम 'वास्तविकता' को सम्मुख देखा।
जो नीरवता की आत्मा लगती थी,
अंतर से जब बातें करती होती
उसका धीमा सुशांत सोद्गार थी,—
'महा मृत्यु'! हे तेरा अभिनन्दन है,
महान् 'अंधकार'! तेरा वंदन है।
स्थान बनानेवाला एक तुही है,
खाती रहनेवाली महा क्षुधा है,
जो जग को काटा-कुतरा करता है,
सकल जगत् को चबा-चबा जाता है,
विनष्ट कर देनेवाले ध्वंसक हे!
करनेवाले औ' साकार अचित् हे!
निद्रा-निमग्न है, वह निश्चेतन हे!
आवरणी को फिर से धारण करके
में से फिर शीश उठाता, वह तम हे!
औ' मेरा ही बस एक उपकरण है।
रूप-रंग यह अर्पित अरे किया है,
औ' शोक-दुःख की यह असि अरपी है,
दिवसोंवाले अल्प आयु जीवन में
कि संघर्ष करने को विवश कर सके,
सुमहत्ता की प्रेरक एक शक्ति है,
उसकी तू ही तो अविरत अंकुश है

अमरत्व की तीव्र आवश्यकता है।

अरे 'मृत्यु' कुछ काल और तू जी ले
बनकर मेरा यंत्र और कुछ टिक ले!
इक दिन मानव भी अगाध नीरवता-
अंतर से तेरे परिचित हो लेगा
और 'रात्रि' की ध्यानस्थित सुशांति की

औ' तेरे शाश्वती नियम-'विधान' के
गभीर आज्ञा-पालन को जानेगा,
औ' उस अडिग, अचल चितवन में तेरी
शांत कठोर दया को पहचानेगा।
किन्तु अरे ओ कालातीत 'महत्ता'!
एक किनारे को तू अभी सरक जा!
इस मेरी अवतरित 'शक्ति' के पथ को
छोड़ अभी तो तू एक ओर हट जा!
औ' असितावरणी में अपनी तूने

जिस ज्योतिर्मय देव को पकड़ रक्खा
है उसको तू बंधन-विमुक्त कर दे!
औ' सत्यवान् के स्वरूप में जग की
उस आत्मा को अब अवमोचित कर दे!
जिसमें तेरे दुख और अज्ञता के

पंजे से छुटकर वह जीवन का औ'
विधि का स्वामी बनकर खड़ा हो सके
जिसमें 'प्रभु' के इस निवास के भीतर
वह मानव का प्रतिनिधि अरे बन सके,
औ' 'प्रज्ञा' का संगी सतत बन सके
ज्योति-कन्यका का और वर बन सके,
शाश्वत वधु का शाश्वत नाथ बन सके।"

सावित्री ने यों निज उत्तर अरपा;
पर 'मृत्युदेव!' अब भी असन्तुष्ट बन
करता रहा विरोध बराबर उसका।
यदपि वह समझ गया सभी कुछ था, पर
अब भी उससे इनकार कर रहा था,
उसे दिखाई सब सत्य पड़ रहा था
पर उसको अस्वीकार कर रहा था,
और दिखाता दावा स्व-अधिकार का
अडिग बना-सा अब भी खड़ा हुआ था।
यद्यपि उसकी आत्मा नमित बनी थी
पर संकल्पशक्ति अपने स्वभाव के
विधान का थी पालन किए जा रही,
जो देवों पर भी हावी रहता है।
और खड़े होकर आमने-सामने
किया सामना दोनों ने दोनों का।
उसकी सत्ता सम्मुख, अंधकार के
एक विशाल दुर्ग के सरिस खड़ी थी;
उसके चहुंदिशि सावित्री का जीवन
सागर के समान घेरा डाले था।
कुछ क्षण दिव का तिरस्कार करती-सी
वह 'छाया' क्षणभर के हित डटी रही,
उसने सावित्री की दैवी इच्छा
की एक निरंकुशता को सहन किया,
जो सम्मुख से कि आक्रमण करती-सी
ऊपर से उसका प्रदमन करती सी
चित्शक्ति के ठोस पुंज के रूप में
उसपर अविरत ही उमड़ी आती थी।
असह्य बल का भारी दबाव उसके
उद्धत शिर का भारी भार बन गया,
हठी हृदय का बोझ अपार बन गया,
औ' प्रकाश ने इक जलती ज्वाला-सम
उसके विचार-जग को चाट ही लिया,
औ' वह 'प्रकाश' उसके अंतर में अब
जाज्वल्यमान पीड़ा एक बन गया,

औ' 'प्रकाश' वह उसकी नस-नाड़ी में इक भव्य वेदना-सम दौड़ था गया,
औ' उसकी ज्वाला में विनष्ट होते होते उसका तम भुनभुना रहा था।
उसकी प्रभुत्वभरी 'गिरा' का तेजस् उसके प्रति अंग पर सवार हो गया,
उसके भीषण संकल्प के लिए औ' नहीं स्थान कोई उसने छोड़ा था,
वह अब निस्सहाय आकाश में कहीं मानो कि आज ढकेल दिया गया था,
औ' फिर जो अब वापस न आ सका था और उसे अब रीता छोड़ गया था।
उसने अब 'रात्रि' को पुकारा लेकिन वह कांपती हुई पीछे सरक गई,
उसने फिर 'नर्क' को पुकारा लेकिन वह भी खिन्नमना मुख मोड़ चला था:
अब उसने सहायता हेतु 'अचित्' की ओर शीश था अपना अरे घुमाया,
निज विशाल आधार-आत्मा के प्रति, जिसमें से ही तो वह था जनमाया,
पर उसने अनन्त एक शून्यता में ही उसको अब यथा घसीट लिया था,
ज्यों अपने को अपने आप ही अरे खा जाने को बस मजबूर किया था:
उसने फिर अपनी शक्ति को पुकारा वह भी उसको आज जवाब दे गयी।
भा ने उसके तन को लील लिया था,
औ' उसकी आत्मा को निगल लिया था।

आखिर उसको यह ज्ञात हो गया था कि अब पराजय इकदम अनिवारी है,
औ' आकार जिसे उसने धारा था उसको अब क्षय होते छोड़ था चला,
मानव-आत्मा को स्व-शिकार बनाने की आशा-इच्छा सब त्याग चुका था,
अमरा आत्मा को मर्त्यता के लिए विवश बनाने में हो विफल चुका था।
उसके भारी आतंकमय स्पर्श से बचकर अब वह सुदूर भाग था गया,
पीछे सरक रही-सी और 'रात्रि' में उसने अपना आश्रय ग्रहण कर लिया।
उस प्रतीक जग की स्वप्निल द्वाभा में
भीषण औ' कराल वह वैश्विक 'छाया' तभी वहां से अंतर्धान हो गयी,
और 'शून्य' में लय को प्राप्त हो गयी,—— उसी शून्य में कि जहां से प्रकटी थी।
स्व-मूल कारण के विलोप होने पर
उनकी आत्माओं से स्वप्निल द्वाभा- प्रदेश घुलकर क्षय को प्राप्त हो गया,
औ' अब सत्यवान् औ' सावित्री ही उस थल पर बस केवल समुपस्थित थे।
पर दोनों में कोई भी हिला नहीं,
औ' उन दो आकारों मध्य वहां पर
एक मौन औ' निपट अदृश्य, अगोचर अरे पारदर्शी भीति थी उठ गयी,
इस सुदीर्घ औ' रीती घटिका के उस विराम में कुछ हिल-डुल नहीं रहा था:
सब कुछ उस अज्ञात औ' सुदुर्बोध्या 'संकल्पशक्ति' का पथ जोह रहा था

शाश्वत दिवसका पर्व

पर्व ११, सर्ग १

शाश्वत दिवसः

अंतरात्मा का चुनाव और परम संसिद्धि

उन हर्षोन्मद आकाशों से नीचे
मृत्युहीन आनंद के इन लोकों पर,
'शाश्वत' की गुह्य रभस-हृदय-धड़कनों
को अभिविवश, व्यक्त करती-सी आती

'ईश' के सनातन दिवस ने उदित हो
सतत प्रकाश-प्रदेशों ने आकर अब
सकल 'प्रकृति' के ऊपर अरे 'निरतिशय'
और शाश्वती के स्पर्श से पुलक कर
औ' उसकी आत्मा अब अनन्त के ही
अनन्तता के सान्त बाह्य रूपों में
जो कि सनातन इक अवलोकन के हित
यह तो अपनी विराट् आत्मसृष्टि को
निज अंतहीन सामर्थ्य औ' हर्ष को
जिससे कि 'काल' के संग खेल रही ये
जो अज्ञात गहनताओं से आकर
एक चिरंतन नवल जन्म लेती हैं,
जो अज्ञात की उँचाई से अपनी
अमरताभरी छलांग लगा रही हैं,
जो इक अमर प्रेम से स्फूर्त बनी है,
जो न कभी भी धूमिल हो सकते हैं,
हर्षमत्त उर और नेत्र की शाश्वत
उस अद्भुत के स्वप्नीले विस्तारी
और पारभासी इक महाशान्ति के
सूर्यज्योति ने परसा उन नेत्रों को
जिन्होंने सतत पूर्ण किरण प्रकाश को
और सभी आकारों के स्वरूप की

अद्भुत एक सूर्य ने था अवलोका,—
यहां पूर्णता के सुन्दर मन्दिर पर

उसकी स्मिति के जादूई उदयों पर
अपनी अनुपम किरणों को था फेंका।
सावित्री को चहुंदिशि से घेरा था,

आनंद का बस हमला बोल दिया था।
उसकी सारी काया सिहर उठी थी,
स्रोतों के समीप आ खड़ी हुई थी।
ही तो अब वह टिक और बस गयी थी,
तो अविरत ही नवीन बने हुए थे।
शाश्वतता ने ही बहुगुणित किया था,
करके रूपांतरित एक आनंद में
आत्माएं इन महती महिमाओं में,—

औ' इन विशाल, महती सुशक्तियों में,—

औ' इस आवेगी अंतर-धड़कन में,—
और मधुरता के इन चिर दृश्यों में,—
इनमें अपना पूरा भाग ले सकें।
नील गहनता इक नीचे खसक पड़ी,—
निरभ्र गगनों से जैसे कि फिसलकर
सौम्य प्रसन्न तोरणों में से होकर,

बिना किसी कष्ट के कि सहा-सँभाला,
अमर धवलिमाओं का दर्शन पाया।

उस वातावरण से स्वप्न-छाभा औ' धूसरता निर्वासित बनी हुई थीं,
ऐसे देदीप्यमान गगनों में तो 'रात्रि' असंभव बन आज रह गई थी।
औ' सर्जक आनँद की सौम्य शांत इक सुन्दरता द्वारा भव्यतया जनमें
आध्यात्मिक विस्तार थे वहां प्रकटे, जो असीमता-अंतर में सुस्थिर थे;
दिव्य शांति के कोई प्रमाद को बस
खुश करने हित साकारी विचार निज प्यारे-प्यारे आयामों को धारे,
एक अनन्त बोध की गहन मांग को आकर अपना उत्तर अरप रहे थे,
उसकी अतनु पुलक के निवसाने को,
रूपायन के इक दिव्य प्रयोजन को, पूरा करने हित साकार बने थे।
विश्व-शक्ति की यह इक 'काल'-कूच थी,
आत्मा की उन अपरिमेयताओं के सामंजस्य भरे एक अभिक्रम ने
कालचाक्रिक सम्मितियों के भीतर, छन्दित लोक-भूमिकाओं के भीतर,
विश्वानँद की मस्ती को पाला था,–
जो वस्त्वात्मा के अनंत रूपायन में उस कलाकार से रची गई थीं
जिसने इन जगतों को सपनाया था।
अरे यहां के सारे सुसौंदर्य औ' इस जग के सारे ही चमत्कार की,
और 'काल' की सब जटिल विविधता की शाश्वतता ही केवल मूल तत्त्व थी।
वे सब पदार्थ 'जड़ता' की नमनीया इक कुहेलिका से ही बने नहीं थे,
अपितु आज तो अपनी गभीरताओं का इक आभास लिए प्रकट हुए थे,
और शक्तियों के महान् अनुक्रम को भी अपने उद्घाटित कि कर रहे थे।
उस त्रिविध रूप गुह्य गगन के नीचे
सप्त अमर पृथिवियां प्रकट होकर इक भव्य वेश में दिखलाई पड़ती थीं,
जो कि देवताओं के अपने गृह थीं, जो मृत्यु और निद्रा से कि मुक्त थे,
लुप्त-आत्म औ' अन्वेषी लोकों से कोई शोक और दुख जहां पहुंचकर,
औ' कोई भी पीड़ा जहां कि आकर,
'स्वर्ग'-प्रकृति की अपनी इस अविकारी निश्चलता को नहीं बदल सकते थे,
शाश्वत सुशांति की महान् मुद्रा को
उसकी अविचल आनँद की भंगी को नहीं कभी परिवर्तित कर सकते थे।
वहां भूमिकाएं यों फैली थीं ज्यों 'प्रभु' की विशाल निद्रा के विस्तर हों
और अमरता की नील सिंधुता में
डूबे हुए विचार-सुपंख स्वर्ग की विशाल विश्रांति में चढ़े जाते थे।
रूपांतरित एक पार्थिव स्वभाव ने सुशांति की एक श्वास अब अनुभव की।
वायु जहां इक सुख का महासिंधु थी अज्ञात आत्मप्रशांति की शैय्या थी,
और महान् विशाल एक निश्चलता
अपने पूर्णानँद की निःस्वरता में सब नादों को निगले कि ले रही थी,

यहां तक कि 'जड़ता' भी एक सुसंहत औ' चिन्मय स्पर्श लिए ही आती थी,
और एक 'प्रभु' की ही व्यापकता से सब कुछ जैसे स्पन्दित औ' सिहरित था।
औ' इन सातों पृथिवी लोकों में वह निम्नस्थ भी अलौकिक एक स्वर्ग थी,
जो पार्थिव दृश्यों की शोभा-सुषमा
को दिव्य वस्तुओं की महिमा-गरिमा में कर रूपांतरित सुसहज रही थी।
शाश्वत पर्वत-मालाओं की दीपित शिखा, शिखा पर चढ़ती चली गई थी,
जिनकी रेखाएँ नीलमी थाल पर खुदी हुई सी शोभित कि हो रही थीं,
और गगन के मध्याह्न की जाज्वलित सीमाएँ कि उरेही-सी लगती थीं,
वे कोई उन्नत मंदिर की सुन्दर सोपानावलि-सी बस उठी हुई थीं
औ' निश्चूड़ ध्यान में मग्न शिखाओं
से अपनी अविरत नियराते आते नीलयात्रि-दल का इक रव सुनती थीं,
कालजयी सुसागरों का घहराता विशाल यात्रा-गीत एक सुनती थीं।
गीत अलाप रहे स्तोताओं का दल पर्वत की छाती से फिसल पड़ा था,
फूलों की उसाँस से बना सुगन्धित डालों की बाहों से खिसक रहा था,
अपनी मत्त छलाँगें-सी भरता जो माधुर्य वक्ष पर हो भाग रहा था,—
ये गुंजार रही सुख-स्रोतस्विनियां एक अलौकिक निज सज्जा में ऊर्मित,
औ' मधुकंठी इच्छाओंवाली ये
स्व-हर्ष की गर्गरित स्वसा-भंवरों को करती एक दूसरी में अभिमिश्रित,
फिर, इक निश्चलओष्ठी ध्यान-चाप तक विशाल औ' सुशांत बनकर नीचे गिर,
बहुआभाशोभी स्वप्न-मुहानों में
अपनी सर-सर, फर-फर ध्वनि में गाकर तरल शांति-झीलों में विलय पा गईं।
इक इन्द्रियातीत आनन्द में सधी
औ' विचार के शाश्वत सुसंतुलन की बनी सुसहज संतरी, तट के ऊपर
इन ध्वनि-स्रोतस्विनियों के अंचल पर

सपनाती आत्माएं स्व-अपरिवर्ती
संगमर्मरी आनंद-मुद्राओं में मूर्तित बनकर जैसे आ बैठी थीं।
सावित्री को घेरे 'ईश'-दिवस के
शिशु अपने इक अकथनीय आनंद को लेकर बस अब टिक और बस गए थे,
यह इक कभी न खोनेवाला सुख था औ' अमरोंवाली इक सुविश्रांति थी,
प्रसन्न शाश्वतता के हर्ष से तथा आनन्द से भरी इक अनेकता थी।
सावित्री के चहुंमुख अमर जातियों का पद-रव था औ' मृदु कण्ठध्वनि थी,
प्रदीप्त दैवी सुख की आत्माएँ औ' अशेष सुन्दरता निर्मित आनन थे,
'किरण' से ढले अंग-उपांग सुघर थे,
एक सचेत पाहनी रत्नशिलाओं से काट तराशे सुन्दर नगरों में
आद्भुत्यमयी सुघर चरागाहों में

दमदम चमक रहे सिंधु के तटों पर तेजस्वी आकार दीख पड़ते थे,
जो शाश्वतता की दीप्त जातियां थीं।

सावित्री के ऊपर लयाभिमज्जित
देवों ने उन ज्योतिष्क-मंडलों को था घूर्णित और परिभ्रमित कर दिया
जिन नन्दित चलवन्त अचलताओं को
अरे हमारे तारामंडल की ये
विशाल और भ्रमित कक्ष्याएँ सारी एक अंधवत् गति से खोज रही हैं।
आह्लादमत्त कंठों ने उठकर बस श्रुति-तंत्री पर इक आघात किया था,
प्रति गतिधारा ने जैसे अब अपना एक निराला संगीत पा लिया था।
चिर हरिदाभा-मंडित शाखाओं को पक्षि-गायनों ने उल्लसित किया था,
जिनके पंखभार ने कल्पना-परों
के कि इन्द्रधनुषी रंगों से ही तो अपने को बस रंजित कलित किया था।
सिहर रही वायु के और कण कण को एक अमर सुगन्धि ने पूर दिया था,
द्रवितहृदयवाली कुंजों के भीतर सुस्पन्दित गभीरताओं के भीतर,
शाश्वत मधुऋतु के वे लक्ष-कोटि शिशु अपनी सुन्दरता में खिले हुए थे,
बहुरंगी आनँद के अमल-धवल औ' असंख्य तारों के सम उगे हुए थे,
अपने उस हरिताकाश में स्व-आश्रय हेतु बसेरा लिए वहां शोभित थे,
वे पुष्पों के विविध झुंड परियोंवत् निज विहँसित नेत्रों से झांक रहे थे।
इक बंधनमुक्त होलिका नर्तन ने औ' सतरंगी एक विपुल सागर ने,
विस्मयकर रंगोंवाले बहुवर्णी अगणित पुष्प-दलों की उस आभा को,—
जो स्वप्न के निमीलित नेत्र-पुटों के भीतर आर-पार तैरा करती है,
स्वर्गसचेत बनी-सी दृष्टि में उसे इकदम शाश्वतता में बदल दिया था।
और अमर छन्दों की धाराओं ने उसकी श्रावी श्रुति को पूर दिया था,
अति उच्च लोक से उच्चरित हो रहा महान् स्वतःस्फूर्त इक महा मंत्र वर
छन्दित महिमा के विशाल पंखों पर
सधा हुआ, दैवी रहस्य से सिहरित स्वर के गहन चित् हृदय से इक उठकर
गीतों की धारा को बरस रहा था।

और पवन में इक सुखमत्त चेतना इत से उत नाची नाची फिरती थी,
जहां पाहनों औ' पातों के भीतर भी इक आत्मा ध्याननिमग्न बनी थी,
विचार-सचेत बने हुए वाद्यों की
ध्वनियां नीरवता की कोई जाग्रत् किनार पर थीं बहकी चली आ रहीं,
और गहन अंतर से कोई उठकर द्रव्यों की उस शब्दहीन वाणी से
जो अगाध औ' अनभिव्यंजनीया थी,
स्तुतियां गूंज-गूंज 'अज्ञात' को सतत वाचा में इक अभिव्यक्त कर रही थीं।
अदृश्य शब्द-नसेनी का अवरोही वह संगीत अरे अद्वितीय ही था,

जो स्व-अभीप्सा में इन अल्प हमारे प्रयत्नशील पगों के सरिस नहीं था,
जो भंगुर तंत्री पर दौड़ा करते
पर उसने तो अपनी सतत नवल औ'
असंख्य ध्वनियों को बस कोई अभिनव अपूर्वदर्शी शोधावेग में वहां,
परिवर्तित पूरी तरह कर लिया था,

और पुराने विस्मृत आनन्दों को
कोई रहस्यमंडित अंतर का इक वर्धनशील कोश ही बना दिया था।
उसने एक चेतना धर पायी थी,
जो अशोध आकर्षण औ' इच्छा के प्रत्येक नाद में व्याकुल रहती है,
उसने अतृप्त बनी गहनताओं के भीतर फिर से कोई सुशोध की थी,
जैसे गहन, गुप्त अंतर के भीतर कोई चुपके से मृगया निमग्न हो,
कि वहां खोया, गुमा हर्ष पा लेगा।

सुदूर में लयित हो रही ध्वनियों में,—
जो हर्षमत्त बोध के सुसम्मोहन से फूटकर झर्झरित बनी हुई थीं,
उनमें सावित्री आज सुन रही थी,—

दिव्यात्मा की गीति-सिंधु यात्रा को,
जो फेन और खल-खल एक हास्य को चीर बढ़ी निज यात्रा पर जाती थी,
जो निज पोताग्र भाग से उन भोले
'मायाविनि' के द्वीपों की मोहकता को भी आकर्षित कर चली जा रही,
ये साहस-यात्राएँ अति सुन्दर थीं जिनमें जोखिम का कुछ काम नहीं था,
उस देश में, जहां इक माया-नारी 'अद्‌भुत' गीतों से है मोहा करती,
सतत फेन-झर्झरित सागरों में निज, लयवान् शिलाओं पर बैठी बैठी।
उस मौलिक दृष्टि के साम्य के भीतर,

मानव की उस नन्हीं सीमाकारी एक विचार-किरण से विमुक्त होकर,
और 'ईश' का किसी वेश में भी तो
आलिंगन करने में, अंध हृदय की सतत अनिच्छा से अब इकदम छुटकर,
सावित्री ने लखा 'प्रकृति' का उज्ज्वल रूप वहां विशुद्धतर औ' अद्‌भुततर।
सुसौन्दर्य की विश्व-उमँग में डूबी
उसकी सत्ता की अंतर-तंत्री बस स्पन्दित होती आगे बढ़ जाती थी,
और उपरिव्यक्तित्वों के ऊपर निज गहन ऐक्य का अधिकार जनाती थी,
और स्पर्श की दिव्य सूक्ष्मताओं ने
सभी स्वरों को धर लेनेवाले उन विशुद्ध बने हुए अंतर-तारों पर,
अथक भाव से जीवित आह्लादों के वे बोल निकाले थे खींच-खींचकर
पार्थिव जीवन जिन्हें न सह सकता है।

जिसे यहां हम पीड़ा कह पुकारते वही वहां कहलाता अग्निल आनंद।

सभी यहां जो आवेगी इंगित है और रहस्यमयी छाया लगता है,
जिसे फ़क़त अंतर्द्रष्टा ने खोजा,—
जो इन्द्रियगत द्रव्यों के भीतर भी आत्मानँद के दर्शन कर लेता है,
वही वहां उस सपने से मृदुतर था, जिसे न हम सपना भी अभी सके हैं।
वे महान् इंगित जिनके दबाव से धरा बिचारी डरती ही रहती है,
उनसे सतत कंपिता बनी हुई है, क्योंकि उन्हें वह समझ नहीं पाती है,
उन्हें निराले उन्नत आकारों में उसे गुह्य रूप में सँजोना पड़ता,
पर उस थल वे इक अनन्त मानस के अपने पहले-पहले शब्दकोष थे,
जो शाश्वत आनँद की भाषा को ही व्यक्त औ' अनूदित करते रहते थे।
हर्ष यहां पर साधारण घटना थी ;
वह लावण्य, कि जिसकी बन्दी पुलकन का ही तो इक पतित सूत्र, यह सारा
जिसको जाता मानव-मोद पुकारा,
भगवान् की भव्य स्वर्णिम भूषा पर
वह प्रतीक रूपों में चित्रित होकर
इक लापरवाह अलंकरण की तरह पड़ा हुआ है काढ़ा-बुना अपारा।
निर्मित हुई वस्तुएँ तो बस सारी
वे आकारित गृह थे, जिनके भीतर
यह मन एक गहन भौतिक प्रहर्ष की थाह लगाने को ही बस पहुंचा था,
अंतर इक दीपक था जो अनन्तता से ही सतत जाज्वलित बना हुआ था,
अंगोपांग तो सभी बस आत्मा की स्पन्दित सुसघनताएँ बन बैठे थे।
ये पहले प्रदेश थे, बाह्यांगण थे,
विशाल थे पर स्व-प्रसार में अल्प थे और मूल्य में भी अपने हल्के थे,
अमर देवताओं के अल्पानँद थे।
अंतर्दृष्टि उठी उसकी उन्नततर लेकर सुदीर्घ दोलन ज्ञान-विस्तरण,
विशाल, नीले अंतराल-द्वारों से
उस पार की ज्योति की विशालता में जाकर हुई प्रविष्ट वह सुदीर्घ चरण,
ये भी केवल अभिजाततर और इक
अति उत्फुल्लतया सुचारु लोकों के भव्य तथा सज्जित सुन्दर कपाट थे।
उन दैवी लोकों का वह आरोहण अगम अभीप्सा से इक भरा हुआ था;
उनका एक-एक स्तर सावित्री की उड्डायि-दृष्टि का स्वागत करता था।
तब फिर उस स्थान पर कि जो आरोहण का इक शीर्षस्थ बिन्दु ही दिखता था,
जहां अनंत, सान्त एक ही बने थे
वहां विलोका मुक्त दृष्टि से उसने अक्षत देवों के उच्च आसनों को,
जो स्वर्गिक आनँद के हित जीते हैं
और अमर 'मयूख' के मध्य प्रांत पर वे अविचल रहकर शासन करते हैं।

और सुरगणों की वे भव्य मूर्तियां उन अमर श्रेणियों पर सुप्रतिष्ठित थीं
स्फटिक अग्नि की पारदर्शिता में से
अजात और अनागत आंखें उठकर सावित्री पर निहुरी निरख रही थीं।
प्रहर्ष की उमंग में रेखायित उन कायाओं की अनुपम सुन्दरता में,
आनँद को भी अवाक् करनेवाले मुग्धकरी मार्दव के आकारों में
रवि-पाहनों जड़ित मानस-प्रांगण में मुग्ध जगमगाते पग थिरक रहे थे,
'स्वर्ग'-साकियों के कर में प्याले थे, 'शाश्वत'-मदिरा के दौर चल रहे थे,
प्रदीप्त कायाओं का संगुफन था, द्रवित आत्माओं का सुसम्मिलन था,
जो अंतर्ग्रंथित औ' गाढ़ हर्ष को आंकती हुई-सी बढ़ती जाती थीं,
गुह्य हर्ष के आवेशी सुऐक्य में
अविरत सुयुक्त बने प्राणियों का यह लय औ' छन्दोमय चाप-संचरण था
रवि किरणें ज्यों जीवंत बन गई थीं,
रवि किरणें ज्यों दैवी बनी हुई थीं,

स्वर्णिम पयोधरा 'अप्सरा' देवियां
एक प्रदीप्त नील स्वप्न में तैरते
मानो आनँद के इक रजत थाल से अविरत कुंजों में उमगी पड़ती थीं,
औ' अपनी सुचूनरों की बदली में वे स्वर्णांगों से दीप्त हो रही थीं,
और चमकते हुए चरण-चापों से परी तृणस्थलियों पर जो तिरती थीं,
मद से प्रमत्त सारल्य की निर्मला
ये गतियां जो निज प्रमोद-क्रीड़ा को 'ईश' रासलीला करके लेती थीं,
ये अंतर की चन्द्रप्रदीप्त उमंगों में भर, कर कर में ले थिरक रही थीं।
भूल रहित इन आकारों के भोले, दोषरहित ये दैवी कलाकारगण,
औ' ध्वनि के ये जादूगर निर्माता औ' लयस्पन्दित शब्दों के ये शिल्पी,
ये समीरकेशी 'गन्धर्व देवता'
श्रुति के हित वह स्तोत्रगान करते थे जो विश्व-विचार को रूप देता है,
श्लोक-पंक्तियां, वे उच्चार रहे थे जो 'सुर'-आनन-पट विदीर्ण कर देतीं,
औ' उन छन्दों को लयकार रहे थे जो 'प्रज्ञा'-सागर का रव ले आतीं।
अरे इन्हीं शोभाओं महिमाओं में वे अमराकारी औ' दीप्तमस्तकी
अपने महान् औ' उन्नत पूर्वजगण उस प्रदेश पर ही मुद विचर रहे थे,
अशेष शक्ति, तथा निज ज्योति-तुष्ट वे
उस उन्नत बोध के भोग में रत थे, जिसके हित हम यत्नशील रहते हैं।
महान् द्रष्टा, प्रेरित कविगण ने ही, था उन अमर विचारों को अवलोका,—
जो उन्नत लोकों के भव्य यात्रियों सम ही पास हमारे आ पाते हैं,
खोज से हमारी ही विकृत बने से मनावरण से और छले जाते हैं,—
यथा जन्म-धारण के दुःख-कष्ट से यहां देवता कुरूप बन जाते हैं;

उन द्रष्टाओं ने ही दिव-शब्दों को
पकड़ा था, जो यहां मर्त्य जिह्वा पर
दुष्कर आनंद से गहे जाकर बस
दुर्बल औ' धूमिल स्वर बन जाते हैं;
वही सबल जो यहां लड़खड़ाते हैं,
पाप किया करते हैं, वही वहां पर,
शान्त सुशील और गर्वीले सुर थे।

महिमा औ' ज्वाला से मंडित होकर
इक विद्युत्-प्रकाश से बन परिपूरित,
संवेदन और सत्यदर्शन की इक
उमंग की लहरों में बना परिद्रवित
औरों के भावस्पन्दों से छेड़ी
वीणावत् होकर झंकृत औ' सिहरित,
अजान आनँद की पुलकावलियों के
तारों से बस बना हुआ-सा कर्षित,
सावित्री का मानव-स्वभाव मानो
स्वर्गिक सुख से मूर्च्छालु बन गया था,
इक अद्‌भुत हर्षानंद में डूबकर

अनुभव किया सुआलिंगन, जो अब तक
बना हुआ था इस पृथिवी को वर्जित,
और नग्न प्रेम की अनश्वर चितवन
को उसने सीधे सह लिया प्रहर्षित,
चढ़ती चली गई और भी समुन्नत
इक-इक स्तरपर अपने महान् पग धर,
जिसे न जिह्वा उच्चारित कर सकती
जिसे न सपना सकता यह मन नश्वर:
अनन्त-आयतनी लोकों ने आकर

यहां 'प्रकृति' के सारे आन्दोलन को
था अब किरीट मंडित सतत दिया कर।
एक महत्तर सुशान्त सुमधुरता थी,

इक सूक्ष्मतर, गहनतर और व्योम था,

स्वर्गिकतम बोध भी कि जिसे दे सके
उससे भी उन्नततर इक पद्धति थी।
और श्वास-प्रश्वास तो यहां अविरत
द्रष्टा-मन का प्रवाह ले बहता था,
आकार तो यथा आत्मा के द्वारा
धारण किए सूक्ष्म वस्त्राभूषण थे:
और रंग आनँद के दृश्य भाव थे,

देखे हुए रूप औ' आकार सभी
आधे अमूर्त जैसे ही लगते थे,
फिर भी विषय-भोग को स्पर्श्य बने थे

अंतर्वासी गोपित हृदय-पुरुष को
स्पर्श के लिए ग्रहणीय बनाते थे।
इन्द्रियबोध पूर्ण और ऊर्ध्वमुख था
अपने जाज्वल्य रूप में जीता था,
अंतर्मयूख का इक सुखी दास था,

हरेक अनुभव 'शाश्वत' का ही अपना
समर्थ और शक्तिशाली इक शिशु था,
विचार सुमधुर औ' जाज्वल्य देव था।

पवन एक तेजोमय भावबोध था,
नाद मात्र बस सुधामयी वाणी थी,
सूर्य-ज्योति आत्मा की ही स्व-दृष्टि थी,
और चंद्रिका उसका ही सपना थी।
निःशब्द शान्ति के इक विशाल औ' इक

जीवंत आधार के ऊपर सब कुछ
एक समर्थ समुज्ज्वल हर्ष बना था,
सावित्री की आत्मा ऊँचाइयों पर
उस पक्षी-समान उड़ती जाती थी

जो आरोहण के प्रति स्पन्दित उर के
उद्गारों को द्रुत अलापता तब तक   अविरत अनदेखा चढ़ता है जाता,
जब तक थमते पंखों का थिराव आ
इक अंतिम औ' तृप्त प्रकाश में सिहर   अपने अंत को नहीं है ले आता,
औ' अपनी आत्मा को रीता करके   जब तक नहीं सुनीरव हो जाता है,
और हृदय के उस आनंद बोझ-से   जबतक नहीं विमोचित बन जाता है,
आनँद के रंजित वक्ष पर प्रतिष्ठित
होकर अनुभव वृत्ताकार उड़ानें   भरता अपहुंच लोकों तक पहुंच गया।
और 'काल' शाश्वत के संग संग ही   एकात्मा बन जीने वहां लग गया;
विशाल हर्षोल्लास एक आकर अब   आनन्दमत्त विश्रांति से जुड़ गया।

इक शोभा-महिमा के औ' आनँद के   सागर में अब नख से शिख तक डूबी
चौंका देनेवाले इन लोकों की   भूलभुलैया में औ' मौन बनी-सी
सावित्री ने दृष्टि उठाकर देखा,—
उनकी जीवंत ग्रंथि तथा मूल को,
उनके सब आकर्षण की कुंजी को,   उनके आनँद के उस महा स्रोत को,
औ' जाना, बस यह तो वही 'पुरुष' है,—
जो निज महा भयंकर निठुर पाश में   फंसा हमारे जीवन को है लेता,
और सदा को बन्दी बनवा देता,
इस प्रकार वह इस जगती को अपना   है इक बन्दी शिविर ही बना देता,
अपने विशाल औ' रिक्त विराटों में
जो तारों के श्रम को एक व्यर्थ की   है बस कोल्हूगति ही बनवा देता,
औ' मानव-निर्मित प्रत्येक मार्ग का   अंत उसी एक मृत्यु में करवाता,
औ' मानव के श्रम के पुरस्कार-सम   उसे शोक औ' दुख अर्पित कर जाता।
अरे वही है, जिसको इक दिन उसकी   आत्मा ने 'मृत्यु,' 'रात्रिवत्' देखा था,
जिसके अंगों में अब सुमधुरताओं   का सुसार एकत्रित कि हो उठा था,
जिसने सब सूर्यों की सुषमाओं प्रति   उसके अंतर को अंध ही किया था।
वह भीषण, दारुण आकार मृत्यु का   है अब नितान्त रूपांतरित हो गया।
औ' फिर उसकी उस शोकसे भरी औ'   विनाशकरी शक्ति को सतत मिटाते,
उसके उन्नत और उग्र कर्मों के   रहस्य को अविराम यथा प्रकटाते,
एक गुप्त महिमा, नेत्रों के सम्मुख,—   खड़ी हो गई आकर उसी ठौर पर
जहां कि पहले वह साकार 'शून्य' ही   खड़ा हुआ था निष्ठुर और भयंकर,
वह 'निशि' रूपी धूमिल अवगुण्ठन अब   था इक अद्भुत आनन में बदल गया।
वह धूमिल अनन्तता निहत बन गई   जिसने कि भयानक 'अज्ञात' से कभी
तमसिल और महा विनाशकारी उस   देव-मूर्ति की रूप-रेख सिरजी थी,

और शोक को शस्त्रित करनेवाली
और अज्ञता का वह भीषण गह्वर
जिसकी रिक्त गहनता ने ही अपने

यथा नींद में जाग्रत् बनी निमीलित
आंखों के सम्मुख इक महा ग्रंथ की
औं' उसके भीतर सुप्रभासित सुन्दर
जो अपने भीतर विचार की स्वर्णिम
यों, इक अद्भुत रूप-माधुरी खुल कर
जिसकी सुमधुरता से सब जीवन की
और 'प्रकृति' की संघर्ष-यातना सब
तथा विश्व औं' उसकी सब दुख, पीड़ा
समवेत रूप से निज पंखुरियों को
साधे ज्यों एक पुष्प-कोश वायवी
अपनी प्रकाश की पंखुरियोंवाला
जिसने कि वस्तुओं के स्पन्दित अंतर
अब तारों के नीचे फैली भारी
और 'प्रकृति'-छद्मावरणी के पीछे
और घृणा के काले कपट की कहीं
परिवर्तित आनन पर आज 'प्रेम' के
अरे घृणा यह इक उद्दाम प्रेम के
इक अधिकारलुब्ध निर्दयी प्रेम ने,
उसी प्रेम के 'संकल्प' को भूलकर
अंतर में उसके साथ एक होकर

बस फिर एक अकेली निज आत्मा में
जिसको इसने अपना बना लिया था
और उसे अपने साथ एक बनने
तो फिर उसको पीड़ा औं' विनाश से
जग पर भी उसके इनकार के लिए
सदा-सर्वदा लेने को ही आतुर
आज प्रकृति ने अपने मुख से काला
'भगवत्ता' का छिपा प्रेम अब उसके
निखिल चारुता, महिमा तथा दिव्यता

महा भूल वह अब कूच कर गई थी,

उस अभाव को दारुण वाचा दी थी
वह इत से उत ज्योतित आज हो उठा।

काली जिल्द कहीं सहसा खुल जाए,
लिखी पड़ी अक्षर-पांत झलक जाए,
आभा-प्रदीप्ति हो अंकित करवाए,—
दृष्टि को सहज प्रत्युत्तर अरप गई,
प्रगाढ़तम पीड़ा भी उचित बन गई,
जिसका अति तुच्छ मूल्य अब लगती थी,
आज दृष्टि को सार्थक बनी हुई थी।

संगीत-लहरियों पर प्रकट हुआ हो,
मदमत्त एक परमानन्द-'कमल' हो,
से उमगाकर एक स्वरूप धरा हो।
यह पीड़ा, यातना न शेष बची थी,
छिपे अशुभ की छाया भी न रही थी,
नहीं निशानी कुछ शेष रह गई थी,
कहीं नहीं वह निष्ठुर भृकुटि अँकी थी।
संघर्ष की एक जकड़न ही तो थी,
मौलिक मधुर 'देव' का स्थान लिया था,
जिसने उसको जग में जन्म दिया था
सतत बन्द रहने के निजी प्यार को
भूल एकता के और इसरार को
उससे वह इकदम दूर जा पड़ा था;
सब कुछ को खा जाना चाह रहा था,
उस आत्मा को ही एकदम निगलते
में वह यदि एक अनिच्छा दिखलाए
दण्डित और यातनाग्रस्त बनाते,
अपना अति ही उग्र क्रोध प्रकटाते,
देने की विधि अब वह भूल गया था।
सब मृत्यु आवरण उतार फेंका था,
मुखड़े पर ज्योतित आज हो उठा था।
एक मूर्ति में इस थल एकत्रित थे,

उसके चख से जग के सब आराधित चख उसके आनन से निरख रहे थे,
अपने श्री-शोभा-मंडित अंगों में वह सब देवों को धारण करता था।
जिसमें सिंधु सरिस आत्मा बसती थी,
बस असहिष्णु और दुर्जेय हर्ष वह
मुक्ति औ' परात्पर सुतृप्ति का प्लावन,
सुषमा की नव अमर रूप-रेखाओं में ढल उसके सम्मुख खड़ा हुआ था,
उसके भीतर ही तो अरे चतुर्विध 'पुरुषोत्तम' वह किरीट सज्ज बना था
जो अनाम 'नाम' का महा रहस्य है।

यह जग इक शब्द के अपार अर्थ के
द्वारा जिसके निगुह्यतम आशय को लिखता हुआ सतत जा रहा चला है
वह दृश्यजगत्-शिल्पी उसके भीतर,
जो एक साथ ही अपने कार्यों की स्वयं कला भी है औ' कलाकार भी,
जो है आत्मा भी औ' है द्रष्टा भी, दृष्ट वस्तुओं का है औ' चिन्तक भी,
वह 'विराट्' जो इन सूर्यों को अपनी शिविर-वह्नि-सम सुप्रज्वलित करता है,
तारा-गुम्फित यह आकाश सुविस्तृत उसका ही बस अपना साम्राज्य है,
'भौतिक जग' उसकी अपनी वाणी है यों ही बस निज को अभिव्यक्त किया है:
ये बिखरे पदार्थ उसके अक्षर हैं और शक्ति-धाराएँ शब्द-निचय हैं
औ' घटनाएँ उसके ही जीवन के गुथे पड़े अनगिन इतिहास-वृत्त हैं,
औ' ये अपार सागर और धरातल उसकी गाथा के ही लिखे पृष्ठ हैं,
यह जड़ 'जग' उसका अपना साधन है, औ' यह उसका आध्यात्मिक लक्षण है;
पलक उठा वह भाव तोल देता है,
और रक्त के साथ-साथ इस तन में आत्मा को प्रस्रवित करा देता है।
इक अणु की औ' मिट्टी के लौंदे की गूंगी इच्छा उसकी ही इच्छा है;
इक 'दिव्य संकल्प' है जो बिन कोई आशय, उद्देश्य के कार्य करता है,
एक 'बुद्धि' है जिसे योजना रचने और सोचने की दरकार नहीं है,
और जगत् अपने को इस प्रकार बस अजेयता से रचे चला चलता है;
क्योंकि अरे इस जगती की काया तो बस उस 'परम पुरुष' की ही काया है,
और हृदय के भीतर तो इसके वह 'राजाधिराज' 'विराट्' ही बसता है।
और 'हिरण्यकुमार' उसी के भीतर अपना स्वरूप प्रतिबिंबित करता है,
जो स्व-जन्म को 'सूर्यों' से आच्छादित' 'विराट्' में दोलायित कर देता है:
और वह 'हिरण्यगर्भ', जो कि विचारों औ' सारे सपनों का निर्माता है,
जो कि अगोचर को भी लख लेता है,
नश्वर श्रुति में कभी न पड़नेवाले नादों औ' ध्वनियों को सुन लेता है,
और अचिंतित सत्यों का शोधक है,
जो कुछ हमने जाना-समझा उससे कहीं अधिक 'सुसत्य' का वह पालक है,

और हमारे अंतर के मार्गों का एक वही नेता है पथ-दर्शक है।
वह इक द्रष्टा है जिसने इन वर्जित क्षेत्रों में आकर सुप्रवेश किया है,
और वही विचार का सर्वशक्त इक जादू सुदण्डधारी जादूगर है
गुप्त असृष्ट जगों का सृजनहार है।
स्वर्णवाक् औ' हीरकदृष्टि सुसज्जित वही क्रांतदर्शी, भविष्यवक्ता है,
अरूप का स्वरूपदा, रूपकार है
अदृष्ट मार्गों का वह गढ़नहार है, और वही यात्री है, चलनहार है,
गुप्त अग्नि का और वही वाहक है,
'अनिर्वाच्य' की और वही वाचा है, औ' प्रकाश का अदृश्य आखेटक है,
रहसिल आनन्दों का 'देवदूत' है, आत्मा के राज्यों का सुविजेता है।
पीछे वह तृतीय पुरुष था प्रतिष्ठित जो उनका बस इक निगुह्य कारण था,
जो 'प्रज्ञाघन' था इक ज्योति-पुंज था औ' प्रकाश से चारों ओर घिरा था,
अपनी सर्वज्ञा सुषुप्ति में ही जो जग की सकल वस्तुओं का स्रष्टा था,
उसकी नीरवता से सब कुछ प्रसृत, यथा हुआ हो महावृक्ष इक विकसित,
वही हमारा बीज, वही मर्मस्थल वही हमारी नींव और शीर्षस्थल।
यह अपना सब प्रकाश तो उसके ही मीलित नयनों की बस एक चमक है:
सर्वज्ञानी 'सत्य' तो अरे उसके अंतर के भीतर का रहस्यधर है,
औ' सर्वज्ञ 'किरण' तो उसकी पलकों के ही पीछे निपिहित हुई पड़ी है:
और वही वह 'प्रज्ञाघन' है जिसको विचार नहीं कभी भी धर सकता है,
उसकी शब्दरहित नीरवता ही तो उसकी अमर गिरा को ले आती है।
अणु औ' ज्वलंत उडु में वही सुप्त है,
वही सुप्त है देव तथा मानव में, पशु औ' पाहन-उर में वही सुप्त है:
क्योंकि प्रतिष्ठित है वह वहां, इसी से 'अचेतना' अपने कार्य में लग्न है,
क्योंकि प्रतिष्ठित है वह वहां, इसी से यह जगती मृत्यु को भूल जाती है,
'प्रभु' रूपी वृत्त का केंद्र है, है बस वही परिधि, जिसपर कि 'प्रकृति' नटती है
उसकी सुप्ति विश्व की सब द्रव्यों में अंतःसुषुप्त 'सर्वशक्तिमत्ता' है,
और जागता है जब, तब वह ही तो 'शाश्वत' पुरुष है और 'सर्वेश्वर' है।
ऊपर 'अनन्त' का आनंद ध्यानस्थित,
औ' उसकी सर्वज्ञाता औ' उसकी सर्वशक्तिशाली विश्रांति निमज्जित,
केवल और निरतिशय अचला अटला इक अद्वितीय नीरवता थी प्रसृत।
और यहां अगणित सामंजस्यों में सकल शक्तियां थीं आपस में गुम्फित।
वह परमानंद जिसने सृष्टि रची है वह उसके तन में जीवंत बना था।
और सर्वसौषम्यमयी काया के प्रेम, हर्ष ये दोनों शिरोभाग थे,
जिनके मधुर पाश के आकर्षण में
गर्वीले आनन्दभरे अंगों ने फिर से जहां कि साध बांध रक्खा था,—

जग के उन मोदों को, छूट गए जो
और जो छटक कर बस भाग चले थे
जो कुछ दर्शन स्पर्शन इन आंखों से
जो कुछ भी सौख्य, स्वप्न में आता है
वही सुधा जो कंपित प्रेम-करों से
औ' आनंद जो 'प्रकृति' के प्याले में
ये सब सुख उसकी आनन-सुषमा में
उसके हास्यामृत की बाट जोहते

जीवित ओठों के ऊपर वाणी को
औ' अनन्त के साथ अंतरात्मा के
उसमें पूर्णोद्भव को प्राप्त हुए थे :
फूलों, तारों के गुप्तालापों ने
उसकी अपार औ' अगाध चितवन में
और उषा के गुलाब के समान ही
उसकी स्मिति जो मन के विस्मय के संग

और झिलमिलाती थी ऐसे जैसे

उसकी दृष्टि शाश्वती की चितवन थी
उसके मधुर शान्त संकल्प का सार
बस घड़ियों के उल्लास में कि जिसने
औ' जो एक चमत्कारी निकुंज में
उसके मन की एक समूहवादिनी
जिज्ञासाओं ने अपने आपस के
अपने नानारूपी विविध स्वरों से
समृद्ध अंतर और अलौकिकता ले
औ' एक परिवार के ही कुटुंबियों-
आज जिन्होंने निज सर्वसामान्य औ'
इक आनन्द-रसिक देव की वीण से
जो कि स्वर्ग के किसी हर्ष को भी बस
बस उस साकारी प्रकाश से झरता
असीम नभ की विशालता लगता था

दोनों ने एक-दूसरे को देखा

हांफते हुए विवश बने अंतर से,
अरे प्राण के इक वासनावेग से।
छूट और बचकर कि निकल जाता है,
या इक समाधि में पकड़ा जाता है,
बारबार बस छलक-छलक जाती है,
धरा-संभाला न कभी जा सकता है,–
आकर यहां हुए थे बस एकत्रित
कि खिल उठें उसमें बनकर समस्वरित।
घड़ियों के मौन में छिपी द्रव्यें सब
प्राप्त न कर पानेवाले विचार सब,
गर्भायित रह गए सुप्रेम-मिलन सब,–
औ' जाज्वल्यमान होकर प्रकटे थे :

अपने अंतरार्थ को मुक्त किया था।
ओष्ठ-वक्रिमा मुखरित बनी हुई थी,
खेला करती, मुख से अनुपस्थित बन
अंतर में निज निवास ले लेती थी,
प्रभात-उडु इक विशाल निरभ्र नभ को
रत्नजटित करता-सा दमक रहा हो।

प्रसन्नता का अपना विज्ञ धाम था,
युगों युगों के प्रकाश को खोला था,
उगा हुआ प्रज्ञा का एक सूर्य था।
विशालता में सारी ही प्रतिद्वंद्वी
घन संबंध को सतत पहचाना था,
एक दूसरी को सुचमत्कृत करती,
वे एक दूसरी के सँग भेंटी थीं।
सम आपस में मिलकर बसी हुई थीं,
रहस्यमय परम धाम को पाया था।
यथा गीति-आनँद का मधु बहता हो,
अगीत नहीं छूटने दे सकता हो,
इस प्रकार का आनँदमय जीवन था।
निश्शोक धरा का जीवनावेग था,
विश्व-व्याप्त सूर्य का ताप लगता था।
बस आत्मा ने आत्मा को अवलोका।

तब अंतर की ज्योतिष्मान् गुफा से उठी एक वाचा स्तोत्र-सम ऊर्ध्व में
जिसकी इक जादूई ध्वनि पृथिवी के
तीखे क्रन्दन, रोदन को आनंदमय सिसकारी के मध्य बदल सकती थी,
औ' चीख औ' पुकारों को उसकी जो आत्मा का संगीत बना सकती थी :–
"अमर शब्द की अहो मानवी प्रतिमे !
कैसे पुखराजी प्राचीरों के पर
दिव्य द्वार के प्रदीप्त भगिनी-कुल को तूने अपनी दृष्टि उठा देखा है,
औ' कैसे उनकी जाग्रत् निद्रा की सुशक्तियों का रे आह्वान किया है ?
कैसे तूने द्रष्टा सुतोरणों के
नीचे तक्षित, विचार-पर्यावृत उन द्वारों को हहराकर खोल दिया है,
आध्यात्मिक दृष्टि की बीथियों को औ' कैसे उद्घाटित आज कर दिया है ?
औ' अपनी हर्षमत्त इस आत्मा को
स्वर्गिकतर प्रदेश पर चलने के हित कैसे तूने पथ को धरा दिया है,
जो स्वर्गिक कुंजी को धारण करती
जिसे न अंध मनुज है प्राप्त कर सका उसी दृष्टि ने तेरे भीतर खुल कर
अपने सुदृश्य को है प्रकट कर दिया, 'काल'-मार्ग के पर, जो मम यात्रा है,
और मृत्यु के पल्ले पार पहुँचकर, अपने महा दृश्य को खोल दिया है ?
वही मृत्यु जो मेरी सुरंग है, मैं जिसका जीवन में संचालन करती,
कि कभी फिर से उस अदृष्ट आनंद की सुदूरियों तक पहुंचा अरे जा सके।
मैं स्पर्धी देवों की स्तब्ध खोज हूं
जिन्होंने कि मेरे ज्ञान के सुविस्तृत रहस्यमय सुकर्म का पीछा करके
उसे स्वर्ग के लक्षों और सहस्रों मिलन मार्गों के बीच धर लिया है।
मैं अवगुण्ठनरहित 'किरण'-सुषमा हूं औ' अनन्त रात्रि के गहन मार्गों पर
इस अजेय यात्री, भू के अंतर को तारों के दीपक-प्रकाश के नीचे
आकर्षित कर लिए चली जाती हूं।

मैं एक अधृत आनंदातिरेक हूं;
औ' जिसने मेरे दर्शन पाए हैं उसे दुःख की कुछ दरकार नहीं है।
वे आंखें भी जो निशि में बसती हैं एक दिवस मेरा स्वरूप देखेंगी।
दुख-पीड़ित इक धूसर नभ के नीचे
ये सचेत फेनिल जल-ग्रीवाएँ हैं, जो बहतीं धुंधले कूलों के ऊपर,—
मौलिक आनंद से ही प्रकटाकर ये युगल शक्तियां पास-पास सरती हैं,
पर मानव जीवन में विलग बनी हैं,
एक धरा पर झुकी हुई है, दूजी आकाशों के प्रति आकांक्षारत है,
स्वर्ग, लिए अपने सुप्रमत्त हर्ष को पूर्ण धरा का सपना सपनाता है,
पृथिवी, अपने शोक, दुःख में डूबी पूर्ण स्वर्ग के सपने देखा करती।

दोनों ही इच्छालु बने सुमिलन को लेकिन अलग-अलग ही विचरणरत हैं,
अपने ही झूठे आत्म-गौरवों से बने व्यर्थ में ही तो वे विभक्त हैं,
उनकी मायावी महद् भीतियों ने ही एकता से उन्हें बिलगाया है,
कोसों दूर विचारों के द्वारा बस गया गुह्यता से इक अलगाया है:
और नींद के नीरव खातों पर से वे एक-दूसरे को घूरा करते।
या मेरे विस्तारों पर वे दोनों हैं वर औ' वधु-सम पास-पास लेटे,
जादूई ढँग से आपस में बिछुड़े,
वे जगते हैं प्रेमाकुल बनते हैं, पर न परस्पर आलिंगित हो पाते,
युगल प्रेमियों के बीच में बराबर एक क्षीण रेखा होती है झंपित,
उनकी सुहाग शैया पर लटकी है एक खड्ग की छायामूर्ति विकंपित
जिसको वे न उलांघ कभी पाते हैं।
पर जब यह प्रैतिक ज्वाल-रेख इकदम बुझ जाएगी, समाप्त हो जाएगी
तब 'देश-काल' कोई भी दोनों को वियुक्त कभी नहीं तनिक रख सकेंगे,
न प्रेमिका, प्रेमी अलग रह सकेंगे;
तब 'देश' महत् औ' दीप्त यवनिका को बस अपनी घसीट पीछे को लेगा।
और 'काल' आत्मा के अन्तहीन इक आनंद के स्पंदन में बदल जाएगा।
तू उस स्वर्गिक विधि के वर मुहूर्त्त की अभी ठहर कर कुछ और प्रतीक्षा कर।
तब तक तू सत्यवान् के सँग मिलकर द्वैत विधान का अभी परिपालन कर
जिस विधान की झलक कि दिव्य दृष्टि के गुप्तचरों ने ही अबतक पाई है,
जिन्होंने कि अपने चिंतन-अरण्य के बीच बराबर बढ़कर खोज लिया है,—
देवों के उन सँकरे सुसेतुओं को।
और रूप के भंगुर सभी बंधनों को तू तबतक सहती अरी चली चल
और विभाजन को उस सुखी एकता का तू इक हर्षद साधन बनवा ले,
जिसे कि तुम दोनों के मध्य के अरे स्पन्दित इक अंतराल-आकर्षण ने
अत्यानंद से वर्द्धित, गुणित किया है।
फिर भी यदि तू संतप्त औ' दुखित इस जग को तजने की इच्छा करती है,
औ' मर्त्यों की कलुष कराहों आहों को यदि सुनी-अनसुनी कर सकती है,
तो संयोग-भूमि के पार चली जा तो इस भीषण प्लावन को उलांघ जा,
तो फिर श्रमरत इस शक्ति के साथ बस विच्छेद संबंध का अपने कर ले,
पृथिवी से जो तुझे जोड़ सकता, उस बंधन से तू इनकार आज कर दे,
फेंक मर्त्य हृदयों की करुणा को दे।
औ' फिर उठ तू बस अपनी आत्मा के उस विजिताधिकार को सार्थक कर ले:
दूर फेंक निज भंगुर श्वास-भार को
उदासीन तारों की हिम-चितवन के नीचे इस उधार की निज काया को
तृण-दल के ऊपर चुपचाप छोड़कर ओ आत्मा तू आ, अब ऊपर उठ आ!

शाश्वत 'शिशु' के क्रीड़ा-अजिर में यहां
या ज्ञानी 'अमरों' के रमण क्षेत्र में
अनस्तगामी रवि के तीर बैठकर
जैसे जग की चिन्ता किए बिना कुछ
'प्रकृति'-शक्तियों के उस भारी श्रम में
बस इक अपने आत्मानँद में डूबे
पार्थिव इच्छा की अस्पष्ट औ' जटिल

वशीकरी वाणी के अद्‌भुत गायन
सावित्री के ऊपर, एक हर्ष अब
जो अज्ञात शाश्वती का आनँद था,
उस विशाल नयनी के नेत्रों में थी

जैसे प्रभात की इक प्रथम किरण, जो
दो जाग्रत् सरसीरुह-सरोवरों पर
"हे देवता मरण औ' जीवन द्वारा
जग के सुख-दुख औ' इस हर्ष-शोक के
सुदूर दिव का इक लालच दे-देकर
उसे नर्क का निकट स्पर्श दे कर हे!
पर मैं तेरे शाश्वत महा 'दिवस' पर
जैसे शाश्वत 'निशा' को आज तेरी
तो फिर बस मुझको जो तेरे पार्थिव
उसको तू उसका अर्द्धांग फेर दे
तव आकाशों को सुख-वर्द्धन के हित
पर तव निर्मित उसकी सुन्दर आत्मा
कि वह स्वर्ण-जाल की तरह पृथ्वी पर
पृथिवी तो समर्थतर आत्माओं का
पृथ्वी तो वीर-धीर आत्माओं का
और कर्मशाला है कि 'विश्वकर्मा'
पृथ्वी पर तव सेवक बनकर रहना,
हे राजन्, स्वर्ग की महा महिमामय
स्वर्ग तो कभी मुझको प्यारा मेरा

आनन्द-धाम में आ, अपने बस जा!

निज ज्योतित संगी के साथ भ्रमण कर,
आध्यात्मिक गगनों में तू विचरण कर,
कि देवतागण सुख-चैन से जी रहे;
अपना कुछ भी भाग नहीं बँटा रहे:
हैं जो प्रमुदित अविरत जिए जा रहे।
उस पुराण गाथा का स्मरण त्याग दे।
अरी अमर! आ आनन्द में वास ले।"

को सुशांत अंतर के भीतर सुनती
भू-दिव अतिक्रमण कर लगा बरसने,
किसी प्रतीक्षारत अनन्त का सुख था।
चली आ रही इक स्मिति ऊर्मित होती,—
अनन्त के साहसी हर्ष की दूती,

चली जा रही हो बस सतत उमड़ती:
इस मानव-आत्मा के हे परिवेष्टक!
तथा 'रात'-'दिन' द्वारा उसके रोधक!
मानव-अंतर को ललचानेवाले!
उसका शक्ति-परीक्षण करनेवाले!
नहीं ऊर्ध्व संचरण हेतु उद्यत हूं,
मैं कर चुकी बहिष्कृत, अस्वीकृत हूं।
'मार्ग' से न जानेवाली हो फिरकर
यही मम प्रकृति की इच्छा पूरित कर।
सत्यवान् की क्या आवश्यकता है?
की भू को भारी आवश्यकता है,
वह अपने आनंद को सभी पर फेंके।
ही इक अपना चुना हुआ प्रदेश है,
अपना चुना हुआ इक कुरुक्षेत्र है,
जहां स्व-कर्मों का स्वरूप गढ़ता है।

स्वतंत्रता से भी यह सुमहत्तर है।
अरे रह चुका है नैसर्गिक गृह ही,
मैं उड़ु-मंडित कुंजों में घूमी हूँ

सूर्य-सुवर्ण गोचरों में विचरी हूं, शशि-रजताभ तृणस्थल में विरमी हूँ
औ' उनकी स्रोतस्विनियों के खल-खल वंशी सुहास्य को कान से सुना है,
उन डालों के नीचे मुद विरमी हूं जिनमें से रसगंध रिसा करता है;
पवनों के आकाशी अंचल को छू प्रकाश-क्षेत्रों में लीलाएं की हैं,
औ' तेरी उन संगीती ध्वनियों पर बनकर सुमत्त परिक्रमाएं की हैं,
सहज स्फुरित औ' ज्योतित सुविचारों की छन्दित गति में जीवन लयित जिया है,
विस्तृत आनँद की सुतीव्र स्वर-गतियों के सँग ताल मिलाकर और चली हूं,
आत्मा की स्वाभाविक और साहजिक तालों पर तालें देकर नाची हूं,
वे देवों के ही महान् नर्तन थे, वे उनके ही स्वाभाविक नर्तन थे।
अह! कितनी सौरभमय हैं वे गलियां! तेरी सन्तति जहां रमण करती है,
'नन्दन वन' की अद्भुत पुष्पराजि में उनके पग की स्मृति कितनी प्यारी है:
पर मेरे तो चरण भार-बोझिल हैं, सशक्ततर एक स्पर्श से स्पन्दित हैं।
यहां जहां पर देव और दानव ये दोनों ही रात्रि में युद्ध करते हैं,
या कि 'सूर्यमंडल' की सीमाओं पर दोनों जहां मल्ल रणरत रहते हैं,
उस थलपर जीवन की सुमधुरता औ'
पीड़ा की असम कष्टकर धड़कन से,—
जो कि दिव्यता की आशा-किनार को लखकर नित स्पन्दित होती रहती है,
सहन की कला में पारंगत बनकर,
शोधभरी पीड़ा के साथ असंभव को भी कर सकने का साहस लेकर,
मेरे भीतर अमर प्रेम का अंतर
इस सारी मानवता को बाहों में भरने के हित निज कर फैलाता है।
मेरे लिए सुखी स्वर्गलोक तेरे इन आर्त मनुष्यों से बहुत दूर हैं।
जिसमें न सभी जन भाग बँटा पाएं तो फिर ऐसा आनँद अपूर्ण ही है।
जब तक प्रेम हमारे भीतर तेरे सारे जग को ओतप्रोत न कर दे,
तबतक अविरत विस्तृत बनते जाना,
और नित्यप्रति अधिक-अधिक हृदयों को आलिंगित औ' अधिकृत करते जाना,
कितना सौभाग्यपूर्ण है, सुखकर है।
हे प्राण स्रोत! भ्रम्यमाण तारों के नीचे का बहता यह अविरत जीवन,
मिला मृत्यु-रण में जो परम विजय को, मिला घोरतम रुद्र धनु लचाने को
और मिला जो 'प्रभु' की महिमाशाली ज्योतिर्मय असिधारा चमकाने को,
रण में भेरी-नाद गुंजानेवाले
अहो देव! असि-उपयोग के पूर्व ही उससे उसकी मूठ को न विलगाओ,
योद्धा को उसके बाण-संधान से पूर्व ही न युद्ध से दूर ले जाओ।
लक्षों-लक्षों समर यहां अब भी क्या नहीं युद्ध की आकुल बाट जोहते?
अरे विश्वकर्मा! तुम स्व-हथौड़ों से

पीटे जाओ, यह तो समारंभ है, अभी और भी हमको गढ़ते जाओ,
औ' जीवन की सशक्त निर्माणी में पीटकर हमें एक बनाए जाओ !
औ' स्व-अग्नि की रत्नजटित औ' वक्रिल सुमूठ को सावित्री की संज्ञा दो,
निज असिधारा की हर्षोज्ज्वल स्मिति को हे देवता सत्यवान् का नाम दो !
औ' हमको फिर सुसौंदर्य में ढालो औ' फिर जग के बीच हमें चमकाओ।
गीत निकलने के पूर्व ही देव हे ! वीणा के दो टुकड़े मत कर डालो !
अभी उसे अगणित गायन गाने हैं !
हे सूक्ष्मात्मन् काल-छन्द के गायक !
मेरे सप्तक में जो भर रक्खा है, वह निज मुरली राग बजाते जाओ,
और तान से उसकी पहला शोधित प्रमत्त प्रेम-उपालंभन कढ़ने दो,
और अभीतक जो कुछ अगीत ही है उसको वाणी देकर प्रकटाने दो !
मुझे बोध है मैं मानव-आत्मा को उस 'परमेश्वर' तक उठवा सकती हूं,
मुझे बोध है सत्यवान् की आत्मा उस 'शाश्वत' को नीचे ला सकती है।
यहां हमारी इच्छाशक्ति तुम्हारी ही इच्छा-प्रेरित हो श्रम करती है,
और तुम्हारी अनुपस्थिति में तो वह छूछी झंझा का निनाद होती है,
और तुम्हारे बिन वह असुर शक्ति सब एक निरर्थक चक्रवात बनती है,
और तुम्हारे बिन देवों की गरिमा केवल एक पाश ही तो होती है।
लखो देव ! मानव जाति जो कि भू की
इस अज्ञता बीच अविरत 'प्रकाश' के लिए युद्ध करती है चली आ रही,
कहीं अचित्-गर्त उसे निगल न जाए ! आत्म-बिज्जु से झलमल वज्रपाणि हे !
अपने सविता को उस अंधकार औ' महामृत्यु के हाथों में न सौंप दो !
अपनी प्रज्ञा की उस गुप्त और दृढ़ आज्ञा का तुम करो आज प्रतिपालन,
और निज निगुह्य विश्व-व्याप्त प्रेम के आदेश का करो तुम यहां अनुसरण।"
सावित्री के शब्द मौन पड़कर बस विचार के अनन्त सिंधु में खो गए,
जिसने उनके स्वर की काष्ठाओं पर जाकर उनको जैसे था कि ग्रस लिया,
और अर्थ को उनके जैसे जाकर किन्हीं दूरियों में था बस छिपा दिया,
जो प्रेरित करतीं इक उच्च वाक् प्रति,
जिसको वाचा ने कि कभी 'अचिंत्य' औ' सुअस्पर्श्य से प्राप्त किया होता है,
जो कि विचारों की अंतिम सीमा है, जिसे कि 'अकथ्य' से पाया होता है,
जो सारे शब्दों का आदिस्रोत है।

तब अद्भुतदर्शी वह महा 'देवता'
मध्याह्न के नभों-सम हँसती अपनी शोभा-स्मिति लेकर इस प्रकार बोला :
"कैसे धरा-प्रकृति औ' मनुज-प्रकृति यह
स्वर्ग भूमिकाओं तक उन्नत उठकर बनी धरा पर फिर भी रह सकती है !

भू-दिव एक दूसरे को निहारते जिनके कि बीच में इक महा खात है,
जिसके पार स्वल्प जन ही जा सकते उसका स्पर्श नहीं हैं वे कर सकते,
ये भू-दिव धुंधले आकाशी कुहरे में से ही इक दिन उद्भूत हुए थे,
जिसमें से ही इस आकाश-भ्रमंता सभी वस्तुओं ने स्वरूप पाए थे,
वह छोर है, जिसे लखता सब कोई पर कोई भी पार न जा सकता है।
स्वर्ग का प्रकाश कभी-कभी धरा के मन को आ-आकर छू-छू लेता है,
और धरा के नभ में विचार उसके एकाकी उडु-सम जल-जल उठते हैं;
कोमल मधुर दिव्य जिज्ञासाएं फिर उसके अंतर में स्पन्दित होती हैं,—
कि विहंगिनियां पर फड़फड़ा रही हों,
औ' वे दुर्लभ आनँद-दर्शन जिनको न कभी भी वह अधिकृत कर सकती थी
उसके स्वप्नों के धुंधले दर्पण में आ-आकर बस गुजर-गुजर जाते हैं।
औ' आनँद-प्रकाश के क्षीण बीज वे शोक-ग्रस्त फूलों को विकचाते हैं,
एक अर्धश्रुत गायन से पकड़ी सी मंद-मंद सुन पड़ती छन्दित ध्वनियां
भ्रमते नादों के इस कोलाहल में मूर्च्छित हो-होकर गिर-गिर जाती हैं,
औ' उन उद्वेलित ज्योति-सिंधुओं से, जहां कि देवों का सौंदर्य निवसता,
जहां कि देवों का हर्ष है निवसता
आता इक उन्मादी फेन-पुंज है,
औ' अनजाने आनन्दातिरेक हैं, और अति चमत्कारी अनुपम सुख है,—
जो कि धरा को पुलकित करते हैं, पर
प्राण और मन आधे ही स्वरूप को धर पाते और वे गुज़र जाते हैं।
व्यवधान तथा बाधा की चिंता बिन
पृथिवी अपने नन्हें सान्त पगों के ऊपर उन लोकों का अनुभव करती,—
जो अविरत ही बीना करते हैं इक नियम-विधान परे की सुपूर्णता को,
स्वयंप्राप्त आनँद की इक जगती को,
औ' उन कालातीत मधुर तालों की अनभिव्यंजनीय एक अद्भुत लय को,
औ' उस 'एकमेव' की ही उन अगणित गतिवाले अंतर के मृदु स्पन्दों को,
इक आत्मा के असीम ध्वनि-जादू को, अनन्त के स्वातंत्र्य की व्यवस्था को,
'केवल' की अद्भुत रूप-कलाओं को।
'निखिल सत्य' वह वहीं तो प्रतिष्ठित है, कालातीत परम आनन्द वही है।
किन्तु लुप्त तारे की एक किरण के चूर्णविशेष ही बस पृथ्वी के हैं,
देवों के भूले-बिसरे आकस्मिक सुआगमन ही उसको मिल पाते हैं।
यह इक 'प्रकाश' है जो धुंधला जाता, एक 'मंत्र' है जो कि मौन हो जाता,
औ' इन सबका जो कुछ भी आशय है वह न धरा पर अधिक देर टिक पाता,
उन्नत झलकें तो उसको मिलती हैं स्थायी दृष्टि नहीं कुछ मिल पाती है।
थोड़े से ही जन तो केवल बस उस अविनाशी दिनकर तक चढ़ सकते हैं,

रहस्य-शशि छोरों पर बस सकते हैं,
जादूई किरण को यहां पृथिवी के
मन में और प्रसारित कर सकते हैं।
वे वीर-धीर अर्द्धदेव थोड़े हैं,

जिनके कि निकट आ वे अमर वाक्य सब,
निज आशय कहते, बातें करते हैं,
औ' जिनके कर्मों को स्वयं देवगण
ही आकर प्रेरित, चालित करते हैं।
वे नीरवताएं तो विरली ही हैं
जिनमें कि 'सत्य'-गिरा सुनी जाती है,
औ' वह निज अंतर के कालातीती
आशय को उघार कर प्रकटाती है,
औ' द्रष्टाओं की महिमामय घड़ियां
तो जीवन में कभी-कभी ही आतीं।
स्वर्गावाहन विरले ही आता है

और उसे ध्यान लगा सुननेवाला
अंतर यहां विरलतम ही होता है;
औ' साधारण मन के लिए तो अरे
द्वार प्रकाश के निपट बन्द पड़े हैं,
पृथिवी की आवश्यकताएं मानव
जन को पृथिवी से बांधे रखती हैं,
ये मानव-जन इक उन्नत दबाव की
उत्तोलनकर घटिका के भीतर ही,
आते किन्हीं महत्तर सुसंवेदनों
को बस अपना उत्तर दे पाते हैं:
कि दिव-वायु में कुछ श्वासें भरने को

इक सशक्त कर से उठवाए जाकर
वे फिर कर्दम बीच फिसल पड़ते हैं,—
जहां से कभी ऊंचे चढ़े-बढ़े थे;

उस कर्दम में जिससे कि वे बने थे
जिसके विधान से वे अति परिचित हैं,
उस प्यारी निज हेती नींव में पुन:
लौट सुखित, रक्षित अनुभव करते हैं,
यद्यपि उनके भीतर अपनी कोई
खोई महिमा, बधित महत्ता के हित,
इक क्रंदन होता रहता है, फिर भी
स्व-पतन को ही वे स्वीकृत करते हैं।
वे साधारण प्राणी बनकर रहने
में ही अपना कल्याण मानते हैं,
जैसे सब साथी-संगी जीते हैं
वैसे ही जीने में सुख लेते हैं।
क्योंकि अधिक जन तो बस इसी 'प्रकृति' की
धरा-योजना के अनुसार बने हैं
और महत्तर किसी भूमिका का ऋण
अपने ऊपर बहुत नहीं पाते हैं।
सामान्य मनुज-स्तर उनकी काष्ठा है,
इक चिन्तक पशु ही भौतिक सीमा है।
अविरत आरोहणरत लम्बे क्रम में

वैश्विक जीवन के सुअटल मितव्ययी
विधान के भीतर एक एक प्राणी
अपने अपने निश्चित किए कार्य पर
अपने अपने निश्चित किए स्थान पर
अपनी स्व-प्रकृति द्वारा ही निबद्ध है,
अपनी आत्मशक्ति से और बद्ध है।
यदि यह भंग सहज ही हो जाए तो

उन सृष्ट वस्तुओं का स्थित सुसंतुलन
टूट फूट बस सारा ही जाएगा,
और विश्व की शाश्वत क्रमिक व्यवस्था
सारी की सारी हिल-डुल जाएगी।
औ' फिर 'विधि'के इस ताने-बाने में
इक फाटन अपना मुख फैलाएगी,
अगर यहां मानव न कहीं होते औ'
सभी कहीं तेजस्वी सुर ही होते,

जो 'मध्य मार्ग' के सर्पिल चक्रों को
भारी श्रम औ' मंद युगीन डगों के
द्वारा 'प्रभु' की सुनहल, सुचमत्कारी

मेरा संकल्प और आवाहन तो
पर जग के धूसर पर्दे के पीछे
जो खींचे लेती सब जग को अपने
औ' उसके अंध मूक महा गर्त में
बन्दी बनकर कण भर एक चेतना
पर वर्द्धित प्रकाश से ईर्ष्यालु बनी
स्व-गुहा के धूसरी किनारों पर ही
जैसे स्नेहशील एक अज्ञ माता
अपने शिशु को अपने 'निश्चेतन' के
मानव-मन के बिन यह 'अचेतना' तो
स्व-सुप्ति निर्मित जगती के रहस्य को
मानव ही तो एक सचेत द्वार को
लेकिन फिर भी मानव को वह अपनी
और विचारों को उसके वह अब भी
और परम 'प्रकाश' के प्रति खुलने से
उन्नत एक चौंधिया देनेवाली
औ' काली अंधा कर देनेवाली
इन दोनों ही आकाश-मंडलों से
वह निज शब्दों और कल्पनाओं से
और उपरिसतहों को पढ़ते-गुनते
या फिर अपने सावधान चरणों से
उसकी विद्या अभी अविद्या ही है।
अपनी अंतर-गभीरताओं से वह
'अज्ञात' की मुखश्री को औ' अपनी
फिर वह सर्वज्ञ के विशाल चखों से
औ' उस सर्वशक्त की सुशक्ति के संग
अति करुणामयि! हे अति आतुर ऊषे!
युग-युगान्तरों की इस परिक्रमा को
और अचेतन 'संकल्प' की क्रिया को

तो न बीच की योजक सीढ़ी होती,
जिसके द्वारा 'जड़' में आत्मा जगती,
स्वीकृत करके भ्रमती नटती फिरती,

सुकिनारी तक है जो अरे पहुंचती,
'विश्वात्मा' की महिमा बीच प्रविशती।
मानव और वस्तुओं बीच निहित है,
'अचेतना' का अपना साम्राज्य है,
'रात्रि', 'मृत्यु' और 'सुप्ति' के अंतर में।

ही बाहर आ सकने में समर्थ है,

उसको यों खींच रोककर रखती है,–

आंचल में ढांके-मूंदे रखती है।

कुछ भी पढ़ औ' जान नहीं सकती थी :
उद्घाटित करनेवाली कुंजी है।
जकड़-पकड़ में लटकाए रहती है,
एक दानवी घेरे में घेरे है,
उसके उर को बन्द किए रखती है,
सीमा उसके ऊपर सुप्रतिष्ठित है,
इक सीमा उसके नीचे सुस्थित है :
बस उसका मन बना हुआ निपिहित है।
खोज 'सत्य' की अविरत करता रहता,
और अगढ़ बाह्य का अध्ययन करते
इक उथले सागर में थाह लगाते,

अभी बाह्य निष्कासित बना हुआ है,
आंखों से वह निरख नहीं सकता है।
कैसे लख सकने में समर्थ होगा?
कैसे निज इच्छा को एक करेगा?

तू यों ही धीरे-धीरे बढ़ने दे!
इसी प्रकार बस विकसता चलने दे!

औ' पार्थिव जाति को अपूर्ण ज्योति में
उसको यों ही बस बढ़ता चलने दे!
दीर्घ 'काल'-चक्र में सिद्ध सब होगा।

यद्यपि यह मानव-जन बस अपनी ही
इक जाति की प्रकृति से बँधा हुआ है,
फिर भी उसके भीतर उसकी आत्मा
उसकी विधि से उच्च औ' महत्तर है:
'देश', 'काल' के प्लावन से ऊपर है,
औ' उस वैश्व सर्वसाधारणता से,—
जिसमें जीवन सुख-दुख संबंधित है,
उससे वह उन्नत है औ' विमुक्त है,
और विश्व के 'विधान' से स्वतंत्र है,
वह अद्वितीय तथा परात्पर आत्मा
सूर्य-सरिस एकाकी जल सकती है,
जो मन की बाधाकारी परिखा को
छेद-भेदकर पथ निरमा सकती है,
शाश्वत नभ में एकल जल सकती है,
विशाल अनन्त सुशांति की वासी है।
हे अग्निज्वाल! अपनी उस ज्योतिर्मय
सत्ता में ही आश्रय आज ग्रहण कर,
और नहीं तो अपनी मौलिक, आदिम
महा शक्ति में ही जा चली लौटकर,
जो इस विचार के औ' जग के ऊपर
स्थित है उन्नत द्रष्टा तुंग श्रृंग पर,
मम अखण्ड शाश्वतता की सहवासी!
मम शक्ति के महा आनन्त्य में अरी
अब बनकर एकात्मा विलीन हो जा!

क्योंकि तुही जग-'जननी' है जग-'वधु' है।
पार्थिव जीवन की व्यर्थ लालसा से
और अविश्वासप्रद निबल सपनों से,
बाहर आ, उन पक्षों को सुप्राप्त कर
जो जा सकते अनन्तता को तिर कर,
उनपर उड़कर उसी 'शक्ति' में जा फिर,
जहां से कि इक दिन उद्भूत हुई थी।
तू अपने अरूप उड्डयन को अरी
उस थल तक ऊंचा उठवा सकती है,
औ' तेरा अंतर निपट असंतोषी
हृदय-स्पंदनों से ऊंचा उठ सकता,
और वहां उस आत्मा की शाश्वतता
और आत्मसुख का अनुभव कर सकता,
जिसने आनन्द कभी न गुमाया हो।
इस प्रेम के पतित उर को उन्नत कर,
जो निज आकुल पंख फड़फड़ाता है,
और अलख खाड़ियों बीच तू अपने
निज वासना-नर्क को अरी डुबा दे!
और प्रकृति के इन नाना रूपों से
इकदम बंधन विमुक्त-सी बनकर फिर
ये उद्देश्यहीन युग-चक्र सभी जो
चाह रहे हैं, उस सत्य को खोज ले,
औ' उस सबसे गुम्फित बनी रह वहां
जिसे व्यर्थ भू-रूपों में ढूंढा था।
और भंग निज नश्वर स्वरूप को कर
बस शाश्वतता के साथ एक कर दे,
हे विद्युल्लेखे! आ अब तू अपनी
जा उस ज्वाला में घुल अलख, अगोचर,
हे विशाल सागर! तू स्वीय ऊर्मि का
निज गहराई में जा आलिंगन कर,
निज अंतर-उमंग में उद्वेलित बन
सदा-सदा को रम जा, सुतृप्त बनकर।
और अतलता के गंभीर, धीर उस
आवेग के साथ एकात्मा बन जा!
तब तू 'प्रेमी' और 'प्रेमिका' दोनों
की इकरसता का अनुभव पाएगी,

जब तू दोनों को कि विभाजित करने वाली सीमाओं से छुट जाएगी।
और यहां इस अनन्त सावित्री में सत्यवान् का कर तू स्वागत आकर,
औ' फिर अपने इस अनन्त औ' शाश्वत सत्यवान् में रह जा विलीन होकर,
हे अद्भुत! तेरा अथ हुआ जहां से आज वहीं अपनी इति कर दे आकर।''

पर सावित्री ने फिर भी ज्योतिर्मय 'परमदेव' को अपना उत्तर अरपा:
''देव! वृथा ही तुम हम दो जग-पीड़ा-
विमुक्त आत्माओं को इस एकाकी आनन्द का यह प्रलोभन देते हो,
मेरी औ' उसकी दोनों की आत्मा इक अभेद्य बंधन में बंध आई थीं,
एक कर्म करने को ही ये दोनों इस जगती में आकर प्रकटाई थीं,-
कि उठा जग को ये 'प्रभु' तक ले जाएं औ' उस शाश्वत 'प्रकाश' में पहुंचाएं,
औ' फिर 'प्रभु' को जगती में ले आएं इसी लिए हम इस भू पर आए थे,
कि इस पार्थिव जीवन को हम दैवी जीवन में अब परिवर्तित करवाएं।
जग की औ' मानव की रक्षा करना मेरे संकल्प का अटल निश्चय है;
ओ आनन्द देवता! यहां तक कि यह
तेरी मोहक वाचा का जादू भी हमें रोक औ' बांध नहीं सकता है।
इन सुखितर लोकों के लिए धरा की नहीं कभी रे मैं बलि दे सकती हूं।
क्योंकि यहीं तो 'शाश्वत' की विशालतम अपनी 'विभावना' ने वास लिया है,
और यहीं पर मानव औ' द्रव्यों में उसका सक्रिय संकल्प आ जिया है,
इस प्रकार ही तो आंखों के सम्मुख महा दृश्य यह आरंभ हो सका है।
अरे तारकावलि की अर्थहीन यह ऊसरता है कहो कहां से आई,
औ' सूर्यों की यह महान् औ' ऊसर परिक्रमा क्यों है चक्कर लगा रही?
और 'काल' में निष्फल जीवनबद्धा आत्मा का निर्माण किया है किसने,
अंतर के भीतर इक आशा को औ' एक ध्येय को रोपा है रे किसने,
इस विशालतर असार कार्य-क्षेत्र में बोलो किया नियुक्त 'प्रकृति' को किसने,
या कोटि-कोटि युगव्याप्त प्रयत्नों के उसके मरु को यहां रचा है किसने?
पृथ्वी ऊपर और रेंगनेवाले
इन सचेत जीवों को जन्म, मृत्यु औ' रुदन के लिए विवश किया है किसने?
लेकिन यदि पृथिवी जागकर स्वर्ग के प्रकाश के प्रति उन्मुख हो सकती है,
औ' अपने इस एकाकी क्रन्दन का आता कुछ उत्तर भी सुन सकती है,
तो फिर उनका मिलन निरर्थ नहीं है, स्वर्ग-स्पर्श फिर कोई पाश नहीं है।
अगर सत्य हम-तुम, तो सत्य जगत् भी;
यद्यपि तुमने अपने ही कार्यों के पीछे बस अपने को छिपा धरा है,
फिर भी जगती का अस्तित्व यहां पर निरर्थ एक विरोधाभास नहीं है,
जब कि 'ईश' ने भू को निरमाया, तो भू को भी निज में 'प्रभु' को रचना है,

क्योंकि छिपा जो भीतर पड़ा हुआ है उसको उसे खोलकर प्रकटाना है।
उस जग के हित, जिसे बनाया तुमने मैं अधिकार सहित तुमको पुकारती।
यद्यपि मानव निज मानवता से ही घिरा हुआ है अब तक चला आ रहा,
सदा-सदा को अपनी दुख-पीड़ा से बंधा और जकड़ा ही चला आ रहा,
तो उसके भीतर से एक महत्तर सत्ता को अब यहां प्रकट होने दो,
औ' उस मनुजोत्तर को, फिर 'शाश्वत' के संग मिलने और आबद्ध बनने दो,
और उस 'अमर' को पार्थिव आकारों के द्वारा ही सुप्रकाशित होने दो।
और नहीं तो यह सब सृष्टि व्यर्थ थी, औ' महती जगती यह एक असत् थी,
जो एक 'काल' की घटिका-धारा में ही जीती सी बस प्रतीत होती है?
पर मेरी दृष्टि ने तो अचेतन इस छद्म मुखौटे को भेद, लख लिया है;
और वस्तुओं में इक गुप्त चेतना के स्पन्दन को अनुभूत कर लिया है,
जो कि सतत वर्द्धित हो रही 'ईश' की काया का अभिवहन किए चलती है;
यह आवृत रूपों को छेद-भेदकर देख अनावृत सुसत्य को लेती है,
देव-यवनिका को पीछे सरका कर अपनी 'शाश्वतता' में चढ़ जाती है।"
नारी के अंतर के प्रति अभिमुख हो किन्तु देव ने अपना उत्तर अरपा:
"ओ मूर्तित 'वाणी' की जीवित ओजस्,
'विश्व पुरुष' ने जो कुछ सपनाया है उस सबकी तू रचना कर सकती है,
और तुही वह ऊर्जा है जिससे बस मैंने इन लोकों को सिरजाया है,
और तुही बस मेरी सतत दृष्टि है संकल्प शक्ति है, मेरी वाणी है।
किन्तु ज्ञान भी मेरा तेरा ही है, विश्व योजना का भी तुझे ज्ञान है,
'काल'-चाल औ' उसके मंथर क्रम पद का भी भली भांति तुझको परिचय है।
अपने ज्वाल भाव के तीव्र वेग में
इस मानव औ' धरती को बंधन से मुक्त कराने के अपने प्रवेग में
क्रुद्ध बनी-सी काल-अर्गलाओं से क्रम विकास के मंद, अलस चापों से
इस अज्ञानमय जगत् में आत्मा को
लेकर अकाल में ही मत 'प्रकाश' की यात्रा पर स्व-दिशा दर्शन प्रदान कर,
कि वह अभी भी मानव में बँधे हुए, निद्रालु देव को दे जगा ठेलकर,—
अनिर्वाच्य नीरवताओं के भीतर,
सुदूर अज्ञात के और अदृष्ट के अन्तहीन उन विस्तारों के भीतर,
सीमाकारी 'मन' के अपर छोर पर
और 'पराचेतना' की महा दारुण उस संकटकारी सीमारेखा पर
'अनंत' के भारी जोखिम के भीतर।
किन्तु अगर तू 'काल' और 'ईश्वर' के लिए प्रतीक्षा ठहर नहीं करती है,
तो तू यों ही अपना कार्य किए चल 'विधि' पर स्व-संकल्प को औ' लादे चल!
जैसे पहले मैंने तुझसे महती निधि का भारी बोझा खींच लिया है,

औ' जैसे द्वाभा की शंकाओं को
उसी तरह आज 'प्रकाश' के निरंतर
ये तो मेरे प्रतीक साम्राज्य हैं,
किन्तु नियति को निश्चित करनेवाला
और 'पराबाचा' का यह अनुमोदन
और महत्तर लोकों की सीढ़ी पर
चढ़ आ! उस अनन्तता में कि जहां पर
नहीं अरे उस सुविशाल आकाश में
जहां महत्तर 'प्राणशक्ति' यह अपने
नहीं वहां भी, जहां कि मनश्शृंग की
औ' उस शासन में भी नहीं, जहां पर
कि सूक्ष्म 'जड़'-आत्मा अपनी निगुह्यता

ये तो बस बीच की फ़क़त कड़ियां हैं,
उनके पास नहीं स्रष्टा सुदृष्टि है,
उनके पास न वह अंतिम अवलंबन,
जो वैश्विक सोपानों के अभिक्रम को
दो शक्तियां हैं यहां, जो कि 'काल' के
एक पूर्वद्रष्टा 'आत्मा' औ' दूजी
मौन बनी 'प्रभु'-आज्ञा पालन करती,

जो अवचेतन है और अनावृत है,
और गर्भगत अपने वस्तुतत्त्व को
जो देश-काल के भीतर 'ईश्वर' की
चेतन तथा अचेतन सब द्रव्यों में
उसके आदेशित कार्य को बराबर

दिव्यादेश से न रत्तीभर डिगती,
यदि यथार्थ में तुझे धरा औ' मानव
को आध्यात्मिक उँचाइयों के ऊपर

तो 'प्रभु' की, मानव की औ' जगती की
तब जानते, देखते हुए सभी कुछ
ओ आत्मा! तू अपनी कालातीता

औ' स्वप्नों को मैंने हटा दिया है,
दिन को भी तुझसे खींचे लेता हूं।

चुनाव इस थल लिया न जा सकता है।
उच्चारित न यहां से हो सकता है।
चढ़ आ, अपने चरण बढ़ाती तू अब!
जगती का भी अस्तित्व है असंभव।
सुनी दृढ़ सनातन आज्ञा जा सकती,—
रहस्य, चमत्कार को करती उन्नत,
ज्योतिष्मान शिखाएं बनी जगमगित,

के टिम-टिम प्रकाश में है छिपी हुई;
सुनी शाश्वती वह आज्ञा जा सकती,—
जो 'विधि'-चूड़ा को नींव से जोड़ती।

उनके पास न पूर्ण सुसिद्ध कर्म है,

अटल निरंतर धारण किए हुए है।
दो छोरों को अविरत साधे रहतीं,
'जड़ता' उसके विचार को उघारती,
कहीं बिन्दु भर, कणभर नहीं छोड़ती,
इक प्रतिनिधि, जो ननुनच नहीं जानती,

अनिवार्यतया विकसित करती चलती,
स्व-शक्ति का ही गुप्ताशय है होती,

अटल भाव से पूरा करती रहती।
कृत कर्म को नहीं तिल मात्र मिटाती,
'अदृश्य'-डगों को न परिवर्तित करती।

स्वतंत्र करने की अभिलाषा ही है
तो तू लख नीचे जीवन-धारा पर,
परम वास्तविकता की अरी शोध कर;
तू अपने सुअपेक्षित कार्य को सँवर।
उन्नत, शाश्वत सत्ता में अब चढ़ जा!

विधि के महा मोड़ का तू चुनाव कर
बस फिर उसकी वाणी बन्द हो गई
एक शक्ति उठ ऐसी फूटी जिसने
औ' रूपावलि के खेमों के सारे
तथा दृष्टि की पकड़न औ' विचार की
किन्हीं तिरोहित होते दृश्यों के सम
'आकाश' के बृहत्तर रंगमंच में
सकल स्वर्ग-लोकावलि लुप्त हो गई।

जो निज विराट् खोज में अनादि था
शांत सिंधुओं के समूह गायन-सम
जो व्योमरहित कक्ष्याओं के भीतर
अवर्णनीय भंगिमा में अब अपनी
अब इक अकथनीय जगती के भीतर
त्रिविध 'अनन्त' की क्रियाशक्ति एक वह
इक अमेय 'वस्तुसत्य' बीच प्रतिष्ठित
एक समन्वित बहुगतिमती पूर्णता
सब कुछ को 'प्रभु' के विशाल आनँद में
संयुक्त बनाती इक विविध औ' बहुल
प्रति आत्मा की शाश्वतता धारण कर
अनगिनती आत्माओं की इक पोषक
वह सब जो कल्पित औ' संकल्पित है
दिव्य भाव-धारा की ध्वनि को, उसकी
उसकी दृष्टि आज इस रूपावलि की
उसका हृदय एकता के ही शत-शत
ध्याननिमग्न 'ज्योति' की एक गुफा औ'
यथा परालोक की वस्तुओं का ही
बस एक विधित औ' विराट् चक्कर की
'अज्ञेय' से मिला जो कुछ भी था सब

सावित्री की आत्मा के भीतर अब

औ' सावित्री के चारों दिशि कोई
पिघल रहे इक मुक्ता के चारों दिशि

छाप 'काल' पर निज संकल्प की लगा!"
औ' उस गिरती आखीरी ध्वनि में से
दृढ़ प्रतिष्ठ लोकों को था कँपा दिया,
खूंटो को ढीला कर था हिला दिया।
पर्तों की जकड़न से विमुक्त होकर
उसके स्पर्शबोध से जैसे छुटकर,
अनुपम आध्यात्मिक प्रकाश के भीतर,

था इक स्पन्दन चारों ओर छिड़ गया,
गूंज एक नाद और शब्द था गया,
अचिन्त्य प्रत्यावर्तन में अकाल था:
उसने शाश्वत विचार का श्रवण किया,
औ' उन काल रहित मार्गों के ऊपर
बस लयमान बना-सा घूम रहा था।
सिद्ध बनी-सी सावित्री जीती थी।

इक आनँद, इक चित्शक्ति और सत् थी,
अक्षुण्ण एकता, ज्योतिर्मय वपु थी

आलिंगन को निज में निवास देकर,
विश्व-प्रेम के आग्रह का पालन कर,
अनुपम जग-जननी एक बन गई थी।
उस सब कुछ की वह अंतर्ज्ञाता थी,
श्रवणशक्ति अविरत सुनती रहती थी,
परिपाटी से तनिक न बंधी हुई थी,
औ' सहस्र-सहस्र द्वारों के समान था,
मन्दिर के समान अब प्रकट हुई थी,
अपना अंतिम और निगुह्य धाम हो।
वह भीषण गति इकदम रुद्ध हुई थी,
नीरवता ने वापस उसे किया था,
उसका श्रोता विचार भी अब चुप था।
सब रूपावलि समाप्त आज हुई थी
वह पूर्णदेव भी अब लोप हो गया।
भीषण एक चेतना समुपस्थित थी,
रहस्यमयी एक ज्वाला दिपती थी,

और विनष्ट 'व्योम' की इक छाया में
इक ध्वनि थी जो कानों को अश्रुत थी,
और इस प्रकार से पुकार उठी थी :
"चुन ले री ! तू अपना वर अब चुन ले !
यह अवसर फिर कभी न तुझे मिलेगा,
क्योंकि अभी तो मेरी उस उन्नततम
सत्ता से वह अरूप तथा अनामा
शांति, कि जिसमें सब कुछ विश्रमता है
तेरे ऊपर स्व-दृष्टि डाल रही है।
सुखी, विराट् समुन्नत परिसमाप्ति में
इस अनुभव को तू आज प्राप्त कर ले,–
शाश्वतता में सुविशाल निर्वाण का
जो कि अनन्त-निमज्जी एक बिन्दु है,
बुझी हुई एक ज्वाल के आनँद का
तू आज एक अनुपम अनुभव ले ले,
और जान ले इक अनन्त सागर में
एक लहर के अंतिम मज्जन-सुख को,
अविरत भटकते हुए निज विचार की
सारी दुख-पीड़ाके अरे अन्त को,
औ' अपनी महान् यात्री आत्मा की
इस अति लम्बी यात्रा की परिणति को।
हे संगीत ! आज तू अपनी सारी
स्वरमाला की परिश्रांति स्वीकृत कर,
हे सरिते ! तू अपने युगल तटों के
इस विशाल भंजन को अब स्वीकृत कर।"
बस घड़ियां शाश्वत में लयित हो गईं।
किन्तु अजाने अंतर के भीतर अब
यथा हो उठा था कोई लालायित।
औ' फिर हौले-हौले उस नारी के
अंतर ने इस प्रकार उत्तर अरपा :
"हे प्रभु यह शान्ति तो तुम्हारी निश्चय
अंतर में रखने योग्य एक वर है,–
इस उग्र 'काल' के हुंकार ध्वंस में
भूतल की महिमामय मनुजात्मा हित।
और तुम्हारी निश्चलता हे भगवन् !
जो तव आनँद-कर को धारण करती
यह भी मानव हित इक अनुपम वर है।"
द्वितीय बार एक सिंधु-सम उफनता
एकाकी एक द्वीप के चहुंमुख ज्यों,
शाश्वत नाद हो उठा पुनः निनादित।
"अरे अनिर्वचनीय द्वार ये तेरे
सम्मुख विशालता से खुले पड़े हैं।
भू-बाधाओं के आज तोड़ने को
मम विशाल आत्मा नीचे निहुरी है,
इस विचार औ' लक्षणहीन एकता
पर ही केवल अब मंत्रमुग्ध बनकर,
भित्ति, बाड़ के तोड़-फोड़ देने को
और स्वर्ग के नंगा कर देने को
अनन्त के विशाल नेत्र से ताक तू,
तारों के ताने-बाने से कढ़कर
आ, नीरवता में आरोहण कर तू।"
विशाल जग-ध्वंसकरी सुविश्रांति में
सुना, आज इक भीषण निनाद उसने
जो उन अगणित जीवों की पुकार थी,
औ' उमड़ी उसके पास आ रही थी।

उसके भावों की भीषण नीरवता
में इक अपार तथा अमेयपने से
फूट पड़ी नारी की प्रकृति बिलख कर,
"पर इन चले आ रहे अगिन अंतरों
में एकता तुम्हारी है 'प्रभु' न्यारी,

अनगिनती आत्माओं बीच तुम्हारी
इक विशालता से पश्चाद् गमन कर,
समुद्र की लहरों के भाटे के सम
महान् चेतावनीभरा आवाह्न
"मैं अपने पंखों के महदाश्रय को
मेरी अतल गहनताओं से मेरी

एक महा महिमा-शोभा के भीतर,
और सृष्टि के भीषणतम इन घूर्णित
सकल वस्तुओं के अंतर से उठता
इक भावावेग से उमड़कर औ' फिर
"अरे तुम्हारी ऊर्जा से हे स्वामी!
सकल वस्तुओं को और प्राणियों को

धीर और गंभीर कि कहीं दूर पर
यों ही अंतिम बार महा मुहूर्त्त में
"मैं अपने आनँद के स्वरातीत उस
तेरे सम्मुख अद्वितीय एकाकी
जहां कि वह निर्मल चुप्पी में निश्चल
नृत्य की मधुर आवेश मत्तता से
जिस नृत्य-ताल से उठकर ही हृदयों
बस लेकर फ़रियाद, पुकारें अपनी
शांति रहित इक पूजास्तोत्र कि जैसे
और पक्षधारी, सम्मेलनकारी
तब नारी की सुपूर्ण सत्ता ही अब
"अरे तुम्हारा यह आलिंगन हे 'प्रभु'
हे स्वामी! और तुम्हारा यह आनँद
गहन प्रेम की निज जादू-सरिताएं
औ' अपनी सारी ही सुमधुरताएं

तब एक मौन के उपरांत शांत औ'

जब कि अनोखे इक प्रहर्ष की चर्चा
और खोज के एक हर्ष की औ' इक

मधुरिम अनन्तता मुझको है प्यारी।"

तृतीय बार उठा औ' उमड़ा-घुमड़ा:
चारों ओर कर रहा हूं सुप्रसारित।
महा शक्ति अब नीचे ताक रही है—
चरम-परम निज अद्भुत महिमा लेकर,
निश्चल बनी हुई अपनी सुषुप्ति में
चक्रों के ऊपर प्रत्याहृत होकर।"
एक आर्त्त क्रन्दन ही अब उत्तर था,
नारी का अंतर अब बोल उठा था:
मैं जग के नर-नारी को भेंटूंगी,
उनके दुख के बीच ही अंगेजूंगी,
उनको मातृ-भुजाओं बीच भरूंगी।"
देवदूत वीणा के स्वर बजते हों,
सतर्ककरी गिरा इक सुनी गई थी:
हर्षातिरेक के उधार देने को
आज विशाल नयन को खोल रहा हूं,—
आनँद-समाधि में डूबा रहता है,
विराम लेता सा कि पड़ा रहता है,
का यह स्पन्दन अभिव्यक्त हो पड़ा था।"

चढ़ता चला आ रहा था अब अविरम,
आत्माओं का संगीती लय-स्पन्दन,
उत्सुकता से भर इस प्रकार बोली:
जो दुःख-ग्रंथि को विदार देता है,
जिसमें सब प्राणी श्वासें भरते हैं,

दो मुझको पृथिवी औ' मानव के हित।"

आनँदमय इक स्वर प्रारंभ हो पड़ा,—
ज्यों वह इक दिन 'अनन्त' से फूटा था,
उसके अंतर में सहसा जागी थी,
अन्वेषण औ' आनँद के प्रवेग की
अद्भुत सुकल्पना प्रारंभ हुई थी,

और एक मुग्ध हास्य ने लोकों के छन्दों को कर दिया अनुप्रासित था।
"मूर्त्त 'शब्द' की हे सुषमामयि काये!
तेरे विचार मेरे ही हैं, तेरी वाचा से मैं ही तो बोल रहा था,
मेरा संकल्प सकल तेरा ही है, औ' तेरा सब चुनाव मेरा ही है,।
तूने जो कुछ मांगा औ' चाहा है, मैं पृथिवी औ' मानव को देता हूँ।
मेरे विचार कर्म और परियोजन के संपादक औ' इक प्रतिभू द्वारा,
मेरी संकल्पशक्ति के निष्पादक— रे इस शाश्वत नित्य काल के द्वारा,
यह सब विधि-खाते में लिख जाएगा।
किन्तु आज तूने जो मेरी अक्षत इस प्रशांति से इनकार कर दिया है,
अनन्त सुशांति से मुख मोड़ लिया है,—
जिसमें कि 'देश' का नाम मिट गया है, और 'काल' का आकार खो गया है,
औ' जो बिलगात्मा के स्व-निर्वाण से, जो मम विसंग शाश्वतता में स्थित है,
उससे भी खिचकर दूर हट गयी है,
तो, यह अस्वीकृत है सब इसी लिए
कि यह अनामी, लोकों से विहीन यह 'शून्य' तो बना तेरे लिए नहीं है।
जीवित आत्मा का यह सर्वविलोपन,
और अमापी उस रिक्त 'अज्ञेय' में
सारे विचार औ' सारी आशा का जीवन और प्रेम का अरे समापन
हे सावित्री तेरे लिए नहीं है,—
क्यों कि अरी तूने तो मेरी शाश्वत सुसंकल्पशक्ति का किया है पालन,
मैं तेरी ज्वलंत अंतरात्मा पर निज हाथों को सुप्रसारित करता हूं,
और प्रेम निर्मित तेरे अंतर पर अपने करों को अधिष्ठित करता हूं,
औ' काल में कार्यमग्ना स्व-शक्ति से मैं तुझको अब संयोजित करता हूं।
क्योंकि अरी तूने तो मेरी शाश्वत सुसंकल्प शक्ति का किया है पालन,
क्योंकि अरी तूने भू-संघर्षों औ' उसकी विधि को दिया स्व-कर-अवलंबन,
और धराबद्ध मानवों के ऊपर करुणाकर निहुरी है अरी द्रवितमन,
औ' उनकी सहायता करने के हित त्याग मोक्ष का भी है किया शान्त बन,
उनकी ही सेवा में है आकुलमन,
तो मैं तेरे अंतर-प्रवेग द्वारा करता बद्ध स्व-अंतर तव अंतर संग,
अपने शोभाशाली और जुए को धरता हूं तेरी आत्मा के ऊपर।
अब मैं तेरे भीतर अपने गोपित चमत्कार-कार्यों को सिद्ध करूंगा।
अब मैं तेरे स्वभाव को अपनी ही शक्ति-डोरियों से सुनिबद्ध करूंगा,
तेरी आत्मा के अंगोपांगों को अपने आनँद से अभिभूत करूंगा,
औ' तुझको अपने समग्र आनँद की जीवित-जाग्रत् इक ग्रंथि बनाऊंगा,
औ' तेरे भीतर अपना गर्वीला शोभाशाली स्फटिक हर्म्य विरचूंगा।

तेरी दिनमाला मेरी सुशक्ति औ' मेरे प्रकाश की बाणावलि होगी,
औ' तेरी रातें मेरे आनँद की तारक रहस्यमयताओं-सम होंगी
मेरी सुमेघमाला तेरे केशों के गुच्छक-मंडल बन शोभित होंगी,
मेरी सारी वसंत ऋतुएं तेरी मुखश्री की शोभा-सुषमाएँ होंगी।
हे 'सवितृवाणी'! तू भू की आत्मा को प्रकाश तक उठवा ले जाएगी,
औ' उस परम पिता 'प्रभु' को फिर नीचे भू पर मानव-जीवन में लाएगी;
तब पृथिवी मम कार्यक्षेत्र बनेगी तब पृथिवी मेरा निज धाम बनेगी,
दैवी एक बीज के बपन योग्य फिर मम जीवन-उपवन अभिराम बनेगी।
जब इस मानव-काल में सकल अपने सुकार्य को तू परिसम्पन्न करेगी,
तब भू-मन इक प्रकाश-धाम बनेगा,
और धरा का जीवन सुरपुर के प्रति क्रमपरिवर्द्धित इक वटवृक्ष बनेगा,
और धरा-काया 'प्रभु'-धाम बनेगी।
मर्त्य अज्ञता से जाग्रत् होकर बस मानव शाश्वत की किरण में दिपेगा,
औ' उसके विचार मम रवि-आरोहण की इक महिमा से सुप्रज्वलित होंगे,
औ' मेरे प्रेम की मधुरता का रस वे निज हृदयों में अविरत चाखेंगे,
औ' अपने कार्यों में मम वर्चस् के इक अद्भुत प्रेरण का अनुभव लेंगे।
तब मेरी संकल्पशक्ति बस उनके दिवसों का केवल इक अर्थ बनेगी,
उनकी जीवन-गति मुझमें ही होगी मुझसे होगी, औ' मेरे हित होगी।
अपनी सृष्टि-गुह्यता के अंतर में तेरी आत्मा का नाटक खेलूंगा,
'तेरी', 'मेरी' सुदीर्घ प्रेम कथा के मधुर कथानक को बस यहां लिखूंगा।
सदियों-सदियों के भीतर फिर तो मैं तेरा पीछा औ' अनुसरण करूंगा;
और प्रेम अपनी सकल भंगिमा ले इस जग में तेरा आखेट करेगा,
अज्ञान की रक्षिका आवरणी फिर तुझको मुझसे आवृत न कर सकेगी,
और इन प्रभासित देवों की मेरे, सकल यवनिकाएं बेकार बनेंगी,
और दिव्य इच्छा से मेरी, तुझको फिर कोई आकार न छिपा सकेगा।
औ' इस जीवंत दृष्टि से मेरी बस कहीं भागकर तू फिर जा न सकेगी।
निज शोधित आत्मा की सुनग्नता में,
औ' जो कुछ भी है, इस सब के सँग इक केवल अभिन्नतम चरम एकता में,
मानवता-आवरण से निरावृत बन
औ' मानव-विचार की सघन यवनिका से औ' भू से नितांत ही विमुक्त बन
प्रति मन से, काया से औ' अंतर से बनी हुई बस अभिन्न इक तुझ में ही
सकल प्रकृति की आत्मा और 'ईश' के सँग-सँग एकाकार हुई तुझ में ही,
तेरी एकल आत्मा के भीतर ही, निज रहस्य-जग को एकत्रित करता
मैं तेरे भीतर ही फिर इस अपनी सारी जगती को अधिकृत कर लूंगा,
औ' फिर मैं जो कुछ हूं उसको यह जग तेरे भीतर ही बस प्राप्त करेगा।

तू सब कुछ को धारण सतत करेगी, कि रूपांतरित सब पदार्थ हो जाएं,
तू सब कुछ को ही मेरी महिमा औ' मेरे आनंद से परिपूर्ण करेगी,
मेरी रूपांतरकारी आत्मा के सँग तू सकल पदार्थों को भेंटेगी।
औ' मेरी अनन्तताओं के द्वारा बनी हुई ऊपर से सतत आक्रमित,
औ' मेरी विशालताओं के द्वारा नीचे से होती तू स्पन्दित सिहरित
मेरे द्वारा बनी हुई अनुसारित, मेरे मन के भित्तिरहित विस्तर में
जो मेरे जीवन की तुंग तरंगों का इक सागर ही है बना सुविस्तृत,—
दो उच्छलित समुद्रों में खोई तू
मेरे बाह्य दुखों, अंतर-माधुर्यों में मेरे आनंद को खोज रही-सी,
मेरी द्वंद्वभरी रहस्यमयताओं में इक तारी के सम अविरत तिरती
अपनी प्रत्येक शिरा के द्वारा तू मेरे पाने को अकुलाती होगी।
और अतलताओं औ' उँचाइयों की युगल भूमियों में मुझसे मिलने को
झंझा और शांति दोनों के भीतर मेरी सन्निधि का अनुभव लेने को,
उदात्त औ' अनुदात्त सभी कार्यों में
सुन्दर द्रव्यों भीषण इच्छाओं में मेरा एक प्रेम अनुभव करने को
ही एक दृष्टि तव संचरित श्वास को आकर चालित बाधित और करेगी,
तेरा अंतर महान् कार्य-चक्र पर फिरने को संचालित तुझे करेगा,
औ' तेरा मन विचार-ज्वालाओं में बढ़ने को उत्साहित सतत करेगा।
नर्क के सकल दुःख कष्ट तेरे हित फिर मेरा इक चुम्बन बन जाएंगे,
और स्वर्ग के फूल तुझे मेरे ही सुखस्पर्श की प्रतीति दिलवाएंगे।
मेरे महा भयानक छद्म मुखौटे भी तुझको आकर्षक, मधुर बनेंगे,
तलवारों की टंकार में तुझे इक संगीती झंकार सुनायी देगी,
ज्वाला के अंतर में होकर भी इक सुन्दरता की प्रतीति होती होगी
ग्रहों के भ्रमण में तू मुझे लखेगी भ्रमते अणुओं में मुझसे भेंटेगी।
मम जग की भ्रमती ऊर्जाओं से तू मेरे ही नाम की पुकार सुनेगी।
सुधा सुपूर्ण सुधाकर से मेरे औ' आनँद-सुधा नीचे रिसती होगी,
और मालती की गंध-फंद में बस मम सुगन्धि तुझको अधिकृत कर लेगी,
दिनकर के मिस अरे आंख ही मेरी खुलकर यथा तुझे निहारती होगी।
प्रकृति की निगुह्यात्माकी दर्पण बन,
तू मेरे उस छिपे हुए आनँद के अंतर को प्रतिबिंबित सतत करेगी,
और अमिश्र मधुरता को मेरी तू
ताराखचित औंठवाले उस पावन कमल-चषक में जी भर पान करेगी।
तेरे अंतर पर मेरे भीषणतम हाथ धरे होंगे, जो तेरी सारी
सत्ता को दारुण और भयानकतम
इच्छाओं की धाराओं में डुबकी लेने के हित बाधित करते होंगे।

तू उस एकमेव औ' स्पन्दित स्वर की   औ' अंतर-प्रवेग की खोज करेगी,
जो मेरे सब रागों की वीणा है,
औ' फेनायित लहरों को तू मेरी,   प्रेम-सिंधुओं में उच्छलित करेगी।
मेरे ध्वंस-झपेटे भी तेरे हित
विपरीत रूप में हर्षातिरेक के   ही मेरे, इक अग्नि-परीक्षण होंगे :
दुख की आत्मा के भीतर मेरा ही   निगुह्य मुखड़ा तो मुसकाता होगा :
तुझको मेरे निष्ठुर औ' परिपूरण   सुसौंदर्य को सतत साधना होगा,
औ' काल के क्रूर अपकर्मों द्वारा
कुचली हुई तुझे मम स्पर्शानंद के   सुखोल्लास की टेर लगानी होगी।
सारे ही प्राणी तेरे जीवन में   मेरे दूत सरिस दिखलाई देंगे,
मुझसे ही केवल आकर्षित बनकर   स्व-मित्र के अंतर की ओर खिंची-सी,
मुझसे ही मिलने को विवश बनी तू   निज वैरी की आंखों बीच घूरती,
तेरे अंतर से ही बस ये मेरे   प्राणी तुझसे मेरी मांग करेंगे।
तू न किसी भी सुसहोदर-आत्मा से   अपने को करके अलग रख सकेगी,
सबके प्रति बरबस इक खिंचाव होगा   छोड़ किसी को भी तू रह न सकेगी।
तेरे दर्शन से यह जन-साधारण   मम आनंद-स्पर्श का अनुभव लेगा
शोक दुःख की और यंत्रणाओं में   विश्वानंद-पदागम का सुख लेगा,
औ' उनका जीवन दो विरोधियों की   एक आपसी उत्कंठा के भीतर
उस आनँद के ही एक तुमुलकारी   आघात का एक उन्मद सुख लेगा।
तव प्रेम से जो हृदय छू जाएँगे,   मेरे आवाहन का उत्तर देंगे,
तेरी वाणी के सुप्रकाशी स्वर में
तारामंडल की छन्दित गति के सँग   खोज आदि विश्व-संगीत को लेंगे,
चूंकि यहां तू है, तो वे सब मेरे   पास ही खिंचे बरबस आते होंगे।
तव अंतर की सुषमा से मोहित बन
तेरी अंतरात्मा में वे मेरी   काया को स्व-बाहुओं से भेंटेंगे,
तेरे जीवन में मेरे सुहास्य की   सुषमा को निज कानों से ओनकेंगे,
जिससे मैंने इस विश्व को रचा है   उस स्पन्दित आनँद को पहचानेंगे।
तुझको जो कुछ भी संपदा मिली है   औरों के आनँद के हित ही होगी,
बस जो कुछ तू विरचे और बनेगी   सब मेरी अपनी समृद्धि ही होगी।
तेरे द्वारा निज आनँद ढारूंगा,   ऐसे, ज्यों कलशी से मधु ढरता हो,
औ' जग के मार्गों के ऊपर तुझको   इत से उत निज रथ-सम लिए फिरूंगा,
मैं अपनी तलवार और वीणा के   समान ही तेरा उपयोग करूंगा,
उस पर विचार की एक स्तोत्र माला   अपनी अरे बजाऊंगा, गाऊंगा।
औ' जब तू पूर्णानंद में पगी निज   सतत पुलक में स्पन्दित होती होगी,
सभी पदार्थों सँग एकात्मा बनकर   उनके साथ-साथ ही जीती होगी,

तब तुझको निज जीवंत अग्नियों से
न तपाने में तनिक बाज आऊंगा,
और तपा, निज कालातीत शक्ति का
तुझे एक द्रुत माध्यम बनवाऊंगा।
मेरी गुप्त उपस्थिति ही बस तुझको
पृथिवी के वाचा विहीन अंतर में
अरे निरंतर तेरे आदि काल से
अलख दिशा-दर्शन करती आयी है,
उसने जीवन औ' दुख-दर्दों में हो
काल, मृत्यु और संकल्प से होकर
जग के बहु बाह्याघातों में होकर,
अंतर की नीरवताओं से होकर,
'देश', 'काल' के रहस्य-मार्गों के सँग
चलकर उस अनुभव तक पहुंचाया है,—
जिसे सकल 'प्रकृति' छिपाकर रखती है।
वह जन जो मेरा पीछा करता है
औ' जो मुझको अधिकृत कर लेता है,
वह मेरा बन्दी ही बन जाता है:
यह सत्य है, जिसे भविष्य में तेरे
अंतःस्पन्दन तुझको दरसा देंगे।
ओ 'ईश्वर' की निखिल सुन्दरी दासी
तू प्रेम की सतत धारणकर्त्री बन,
मेरे आनंद के विवर्धनशाली
कण्ठ-पाश की मोहक अरी रज्जु हे!
मेरे विश्व-प्रेम की मधुर डोर बन!
और जीव को, मेरे असंख्य ऐक्यों,
मेरे अन्तहीन आकारों के औ'
मेरी सब दैवी अंतरात्माओं
के आलिंगन के हित बाधित करके,
उसको स्वपाश में तू निबद्ध करके
उस आदिम सृजनानंद की अति सुमधुर
अतल एकता के प्रति विवश बना दे।
हे 'मन'! तू शाश्वत सुशांति में भर उठ,
हे 'शब्द' उस अमर स्तव का कीर्तन कर,
तुंग स्वर्ण मन्दिर है सृष्ट हो चुका,
और अग्नि-शिशु है निज जन्म ले चुका।

"अब अपने आराध्य देव के सँग-सँग
आ, जीवन में अपना सुपदार्पण कर!
ओ सत्यवान्! ज्योतिर्मय सावित्री!
मैंने पुराकाल से तुम दोनों को
तारामंडल के नीचे भेजा था,
अज्ञ जगत् में प्रभु की युगल शक्ति को
भेजा असीम आत्म-देश से बाहर,
जग-बाड़ों के इस घेरे के भीतर
कि धरा-जीवों को उन्नीत बनाकर
और अमरता तक ऊंचा उठवाकर
'प्रभु' को यहां अचेतन एक दीप्ति में
लाए तू उतारकर इस पृथिवी पर।
मम ज्ञान और अज्ञान के जगत् में,
जहां कि 'प्रभु' बनकर अदृष्ट रहते हैं,
केवल उनका नाम सुना जाता है,
और ज्ञान, मन की बाड़ों के भीतर
जहां बन्द करके रक्खा जाता है,
और कामना-काँटिया से खींचा यह
जीवन, पाश-बद्ध होकर रहता है,
और जहां 'जड़', आत्मा को उसकी ही
अपनी दृष्टि से छिपा कर रखता है,
उसी क्षेत्र में तू मम 'शक्ति' है कि जो
पार्थिव विधि के उन्नत उठवाने के
लिए कार्य सब संपादित करती है,

तू मेरा ही स्वरूप बन, इस विस्तृत ढालू प्रदेश के ऊपर चढ़ती है,
जो आत्मा के रात तथा दिनरूपी,– इन दो छोरों तक दौड़ लगाता है।
सत्यवान् मेरी अंतरात्मा है जो निश्चेतन 'निशि' से ऊपर चढ़ती,
जो प्राण तथा मनस्-भूमिका से हो और पराचेतन के 'विराट्' से हो
चढ़ती 'कालातीत' परम प्रकाश तक, चल 'काल' में छिपी मम शाश्वतता तक,
औ' मेरी उस असीमता तक, जिसको
कि 'दिशा' ने अपनी इस वक्र चाप से काट-काट कर सीमित बना दिया है।
फिर वह उस स्व-महत्ता तक चढ़ती है जिसको छोड़ कभी नीचे आई थी,
उस सुषमा औ' आनंद तक चढ़ती है जिससे कि कभी नीचे यहां गिरी थी,
औ' चढ़ती है वह सब दिव्य वस्तुओं की सुनिकटता औ' एक मधुरता तक,
सीमा रहित विशाल एक जीवन तक, छोर रहित औ' अपार इक प्रकाश तक,
औ' 'अकथनीय' के आनंद की अपनी गभीरताओं के मधुरतम स्वाद तक,
अनन्त औ' शाश्वत के एक स्पर्श तक,
सत्यवान् मेरी ही आत्मा है जो पशुता से उठ टोह में लगी रहती,
कि सतत वह ज्योतित विचारवाली इस मानवता की उच्चतर शिखाओं पर
तथा 'सत्य' के इक उन्नत पड़ोस तक कभी पहुंचने में बस सफल हो सके।
पार्थिव प्राणी के आकारों में ही शरीर धारण करके वह जगती में
मानव के जीवन में अविरत विकसित होता रहनेवाला कि देवत्व है,
धरा-अज्ञता के ही अरे सिंधु से
एक प्रकृति की तरंग के स्वरूप में वह 'प्रभु' तक चढ़ती मानव-आत्मा है।
ओ सावित्री! तू मम 'आत्मशक्ति' है, अमर शब्द की उन्मेषी वाचा है,
'काल'-मार्गों पर इक 'सत्यानन' है,
जो मानव की आत्माओं को 'प्रभु' के राजपथों का इक इंगित देता है।
जब तक आवृत 'आत्म'-शिखर से धुंधला प्रकाश एक नहीं आकर, 'जड़ता' की
अचित् गाढ़ निद्रा पर यों गिरता है,–
कि सघन वन-पथ पर पाण्डु चन्द्रिका हो,
औ' जब तक 'मन' अपनी अर्द्धज्योति में फ़क़त अर्द्ध सत्यों में ही रमता है,
औ' मानव का अंतर केवल अपने मानवीय प्रेम का स्वाद चखता है,
उसका जीवन स्खलनशील औ' अस्थिर अपूर्ण एक शक्ति बनकर रहता है,
और शरीर पड़ा यह अपने भावी दैवाधीन दिवस गिनता रहता है,
तब तक, सन्दिग्ध इन्हीं घड़ियों में तू
आत्म-दिव्यता को ढक रखनेवाले आकारों में ही स्व-जन्म धारेगी,
भू के शंकित इसी वायुमंडल की
अरे यवनिकाओं के मध्य से सतत मेरी महिमा को यों प्रकट करेगी,—
मेघों से ज्यों सूर्य प्रकट होता है,

था इक अपूर्व अंतराग्नि के सम ही उसको यहां प्रज्वलित सतत करेगी,
औ' इक अनजाने प्रभाव से मेरे, मनुज-जीवनों को बस भर-भर देगी।
फिर भी उनकी ऊर्ध्व दृष्टि यों होगी यथा 'प्रभु'-शिखरपर ही निरख रहे हों,
औ' उर में 'प्रभु' का अनुभव यों लेंगे कि किसी परिवेष्टक वायु से घिरे हों
औ' 'प्रभु' पर ही ऐसे आश्रित होंगे यथा अचल एक नींव पर सुस्थिर हों।
फिर भी मन के ऊपर वक्र चन्द्र-सम
इन पाण्डु नभों के भीतर आत्मा की वर्द्धमान नव शशि-महिमा झलकेगी,
औ' 'प्रभु' के प्रति बढ़ते मानव-पथ पर उसके जीवन को सुप्रदीप्त करेगी।
पर 'प्रभु' के उस परालोक के भीतर इससे और अधिक कुछ छिपा हुआ है,
जो इक दिन निज अवगुण्ठन खोलेगा।
किन्तु आज तो बस यह 'मन' औ' उसकी अनिश्चित किरण ही जैसे सब कुछ है
यही प्राण औ' शरीर का नायक है,

आत्मा का विचार-संचालित रथ यह,
ज्योतिष्मान रथी को लिए लिए जो बस इस निशि में बढ़ा चला जाता है,—
दूर अनिश्चित ऊषा-विस्तारों प्रति, आत्म-कामना के अगम सीमान्त प्रति
आत्मा के निरपेक्ष सत्य-सपने प्रति उसके निरानंद की सुकल्पना प्रति।
यहां महत्तर औ' उच्चतर लक्ष्य हैं मन उनकी कल्पना न कर सकता है,
जो इस विकसनशील 'मार्ग' की चूड़ा के ऊपर अविराम सुप्रतिष्ठित हैं,
औ' वह यात्री अभी अज्ञता में ही अरे बस अजाना-सा विचर रहा है,
अपने अगले चरण से अपरिचित है, ध्येय न उसका उसको अभी ज्ञात है।
इस यात्री के अविरत आरोहणहित मन का शिखर ही नहीं यह सब कुछ है,
इन लोकों के सोपान की शिखा के ऊपर सतत प्रज्वलित एक अग्नि है,
वहां सनातन 'प्रकाश' का इक गृह है
इक अनन्त ऋत, इक निरपेक्ष शक्ति है।

औ' आत्मा की सामर्थ्य एक दिन बस अपने छद्मावरण को हटा देगी,
औ' जग का जीवन-पथ रचने में इक सुमहत्ता भी अनुभव की जाएगी।
औ' फिर स्व-रश्मिमाला में यह झलमल बनी निपट निर्वस्त्र लखी जाएगी,
यथा 'अचित्' की अपनी रजनी में से उदित हो रहा-सा कोई तारा हो,
'पराप्रकृति' के तुंग शिखर पर चढ़ता हुआ कि जैसे यह कोई सविता हो।
संदिग्ध 'मध्य पथ' को त्यागते हुए
कुछ थोड़े जन ही उस महा अलौकिक 'आदिस्रोत' की झलकी ले पाएंगे
औ' तेरे बीच स्वल्प जन ही होंगे जो गुह्य 'वीर्य' का अनुभव पाएंगे,
उस अज्ञात चरण से जा मिलने को वे ही तो बस अपने डग मोड़ेंगे,
और महत्तर 'दिन' की इस यात्रा पर परम धीर ही चलने का प्रण लेंगे।
मन के सीमाकारी विस्तारों से

ऊपर चढ़ते हुए बराबर वे ही जग की विशाल रूप-रेख खोजेंगे,
प्रवेश 'सत्य' 'ऋत' 'बृहत्' बीच करेंगे।

औ' तू ही उन सबके सम्मुख मेरी गुप्त शाश्वतताओं को खोलेगी,
उन अनन्तताओं की महा श्वास को जो कि अभी तक बस बन्द ही पड़ी है,
औ' आनँद के इस सुप्रमत्त हर्ष को जिसने कि इस सृष्टि की रचना की है,
औ' 'ईश्वर' की सर्वशक्तिमत्ता के इक प्रवेग को, तू ही तो खोलेगी,
उस सर्वज्ञा 'निगुह्यता' की अपनी एक किरण तू ही उन पर छोड़ेगी।
पर जब वह 'भागवत' मुहूर्त्त हमारे समीप धीरे-धीरे खिंच आएगा
तब वह 'सर्वशक्तिशाली' 'जग-जननी' यहां 'काल' में स्वीय जन्म धारेगी,
औ' मानव-मिट्टी में 'प्रभु' जनमेंगे,

तेरे मनुज-जीवनों के द्वारा ही तैयार सुरूपों में स्व-जन्म लेंगे,
तब जाकर मानव उस चरम 'सत्य' के सुप्राप्त करने के उपयुक्त बनेगा।
मनोमय पुरुष के उस पार महत्तम एक अनन्त पुरुष का अरे वास है,
इक अमेय ही नाना आकारों के भीतर आकर बस प्रक्षिप्त हुआ है,
'बहुता' 'एकम्' का ही चमत्कार है।

यहां गुह्य एक चेतना है जिसका यह अपना मन स्पर्श न कर सकता है,
न गिरा इसकी व्यक्त उसे कर सकती, और न विचार उसे खोल सकता है।
पृथ्वी पर इसका गृह अभी नहीं है, औ' मानव में इसका केंद्र नहीं है,
फिर भी सारी चिन्तित औ' कृत द्रव्यों का मूल स्रोत वही चेतना तो है,
सकल सृष्टि की औ' उसके सब कर्मों की आदि मूल में बस यह ही तो है।
यही सकल सत्य की एक सर्जक है, आंशिक मन-किरणों का सूर्य-वृत्त है,
अनन्तता का विस्तृत एक गगन है, जो भगवत् बूंदों की वर्षा करता,
एक वह 'बृहता' है जो मानव को 'स्व'-विस्तार के हित आवाहित करती,
एक विशाल 'लक्ष्य' है जो उसके इन क्षुद्र प्रयासों को उचित बताता है,
और वही उसके नन्हें आनँद का माध्यम है, जिसको वह चख सकता है।
कुछ ही जन उस उन्नततम महिमा के बनवाए सच्चे पात्र जा सकेंगे,
कुछ ही, शाश्वत की जाज्वल्यमान उस सुशक्ति के वाहक फ़क़त बन सकेंगे,
ये उत्कृष्ट अग्रगामी जन होंगे इने-गिने ये 'काल'-शिरोमणि होंगे,
पार्थिवता से बंधे हुए मानव के ये ही महा मुक्तिदाता गण होंगे,
मानव की जड़ माटी के ये ही तो इक उन्नत रूपांतरकारी होंगे,
उस नव परमा-चरमा जाति के अरे ये ही प्रथमजात औ' अगुआ होंगे।
वह युगल 'शक्ति' यहां अवतरित होकर उन्मुक्त भागवत द्वार को करेगी,
'शाश्वत' अतिमन भू-'काल' को छुएगा।

मर्त्य मनुज में अतिमानव जागेगा, गुप्त ईश-अंश को सुप्रकट करेगा,
या वह 'प्रभु'-प्रकाश में विकसित होगा औ' 'प्रभु'-'सामर्थ्य' के बीच पनपेगा,

तब उसकी सुप्रभासित 'परात्परता'
सतत अनावृत बनकर इस मानव के
औ' इस जीवन को और इस कर्म को,
दैवत संकेती दिव्य वर्णमाला

औ' उसकी वह जीवंत 'विश्व-आत्मा'
अमरत्व के लिए उद्यत प्राणी को,–
और अज्ञता द्वारा रचे हुए बस
सुन्दरता के गुह्य अर्थ को लेकर
औ' जीवन के गुप्ताशय को लेकर
उसकी दृष्टि सनातन रहस्य-लहरों
को लांघकर 'प्रकृति' के हित उस आदिम
खोए-गुमे हुए उसके आनँद के
लाएगी विस्मृत हर्ष के नाद को,
'अंतर्यामी' ही साक्षी 'प्रभु' होगा
जो सहस्त्रदल कमल-सुसिंहासन पर
उसकी निष्क्रिय एक पुरुष सत्ता औ'
पृथिवी के स्वभाव के ऊपर शाश्वत
एक मनीषी होगा जो फिर अपने
'काल'-सिंधु के तट पर शोभित अपने
अनगिन अनन्तताओं का अचलायित
तब फिर यह देही इक ऐसे प्राणी-
सम जिसके विचार, संकल्प सभी तो
'प्रभु' की ही तो अरे दिव्यता की वह
उनकी ही शक्ति का करण इक होगा,
अनन्तता में खिंची रेख इक होगा

केवल 'शाश्वत' सत्य, ही विचारों को
केवल 'शाश्वत' सत्य, ही यहां उसका
तब सब कुछ परिवर्तित हो जाएगा,

इस मर्त्य जगत् में फिर इक सशक्ततर

गुप्त गुहायित देव को उभारेगा।
तब वह 'परम पुरुष' भू-स्पर्श करेगा,

अंतर को औ' मन को दीप्त करेगी,

में निज अनभिव्यंजनीय गुह्यता के
सुव्यक्त करने को अभिविवश करेगी।

मृत्यु, दुःख के विधान को अमान्य कर,
नियमों, सिद्धांतों को निपट मिटाकर,

बस चारों दिशि से घेर घेर लेगी।

सुख को जीने हित वापस लाएगी,
छन्दित हृदय-स्पन्दनों को लाएगी,
प्रथम जग-रचयिता 'आनँद'-नर्तन को।

स्थित सबका सुनिरीक्षण करता होगा,
उसकी निःशब्द और मौन शक्ति वह
विधान से बस शासन करती होगी,
'अचित्' जगत् को सचित् बनाता होगा,
सहस्र-स्तम्भशोभी मन्दिर के भीतर
परम केंद्र इक यहां प्रतिष्ठित होगा।

'प्रभु' के होंगे, इस थल सुस्थित होगा,
इक आवरणी होगा, चीवर होगा,
औ' उसका भी भागीदार बनेगा,
या फिर उसमें अंकित कि बिन्दु होगा,
अविनश्वर की अभिव्यक्ति एक होगा।
अतिमानस उसका प्रकृति-स्रोत होगा,
औ' कर्मों को उसके गढ़ता होगा,
इक प्रकाश होगा, इक नेता होगा।
इक जादुई व्यवस्था आ जाएगी,
जो इस यांत्रिक जग पर छा जाएगी।
उच्च जाति का अपना निवास होगा।

और 'प्रकृति' की प्रदीप्त सुशिखाओं पर और 'आत्मा' की उस महा नींव पर
वह अतिमानव सारे ही जीवन का अधिराजा बनकर बस राज करेगा।
पृथिवी को दिव-संगी बनवाएगा, औ' उसका जोड़ीदार बनाएगा,
औ' मानव के इस अज्ञान हृदय को, 'प्रभु' और सत्य की ओर खोल देगा,
और मर्त्यता को देवत्व-दिशामें वह अविरत ही उन्नत उठवाएगा।
इन्हीं घेर रखनेवाली सीमाओं से एक महा शक्ति विमोचित होगी,
औ' जिसकी ऊंचाई महा मृत्यु की बुभुक्षित पहुंच से अति सुदूर होगी,
बस जीवन के शिखर उस 'अनश्वर' के सुविचारों से अभिदीप्त हो उठेंगे,
और ज्योति की किरणें अंधकार पर, उसकी मूलों में आक्रमण करेंगी,
तब इस विकसनशील 'काल' के क्रम में सब कुछ एक योजना-अंग बनेगा,
दिव्य समंजस, धरा-विधान बनेगा,
सुषमा और हर्ष ये दोनों मिलकर नव जीवन का इक नव मार्ग गढ़ेंगे :
औ' फिर काया भी 'प्रभु'-स्मरण करेगी प्रकृति, मर्त्यता से अपगमन करेगी,
औ' परमा 'आत्मा' की ज्वालाएं ही भू की अंध-शक्ति की नेत्री होंगी,
ईप्साकुल 'विचार' के भीतर फिर वह
'प्रज्ञान' ही 'सत्य' औ' 'प्रभु' के प्रति द्रुत उन्नत एक निकटता को लाएगा।
अतिमानस, ही एक 'प्रकाश' को लिए सारी जगती को अधिकृत कर लेगा,
मुग्ध बने अंतर को 'ईश'-प्रेम से बस पुलकित औ' सिहरित कर-कर देगा,
और 'प्रकृति' के उस उन्नमित शीश पर 'प्रकाश' के किरीट को पहनाएगा,
औ' उसकी अविकंपित सुदृढ़ नींव पर 'प्रकाश' के शासन को स्थित कर देगा,
पृथिवी के सत्य से महत्तर, उत्तर एक सत्य पृथिवी पर छा जाएगा,
औ' फिर वह मन के नाना मार्गों पर अपने रवि-प्रकाश को फैलाएगा;
एक अचूक शक्ति होगी जो मानव के विचार का बस नेतृत्व करेगी,
इक द्रष्टृ-शक्ति जीवन और कर्म पर अपने शासन को सतत चलाएगी,
और पार्थिव हृदयोंके भीतर बस 'अविनश्वर' की ज्वाल को जलाएगी।
अचित् धाम में आत्मा एक जगेगी।
मन, 'प्रभु'-दर्शन का चल मंदिर होगा, काया, अंतर्बोध का करण होगी,
औ' सारी जीवनचर्या बस 'प्रभु' के गोचर एक वीर्य का माध्यम होगी।
आवृत बने बिना तन औ' जीवन से,
आवृत बने बिना मनस्-अज्ञता से, यह संपूर्ण धरा ही बस आत्मा का
परित्यक्त सुन्दर इक धाम बनेगी।
दोषरहित इक अचूक 'कर' ही सारी घटना और कर्म को रचता होगा।
इन्हीं 'प्रकृति' की आंखों के द्वारा ही बस 'आत्मा' की आंखें लखती होंगी,
और 'प्रकृति' की सारी ऊर्जाओं को बस 'आत्मा की सुशक्ति भर भर लेगी,
औ' फिर यह जग 'ईश्वर' का ही अपना गोचर इक नंदन उपवन-गृह होगा,

और धरा 'प्रभु' का ही प्रदेश होगी, यहां सतत 'प्रभु' का ही शिविर लगेगा,
औ' फिर मानव इस नश्वरता के प्रति
काया की दुर्बलतम भंगुरता प्रति अपनी स्वीकृति देना बिसर जायगा।
यह जगती अपने उस गुह्य बोध पर लगी हुई मुद्रा निर्भग्न करेगी,
और सृष्टि का यह विकास-क्रम अपने प्राचीन अग्र रूप को बदल देगा,
इस अज्ञ विवर्तन का विकासक्रम फिर
नीचे नींव में पड़ी दीर्घ शृंखलित एक दिव्य 'प्रज्ञा' उघार खोल देगा।
'आत्मपुरुष' ही मानव के इस जग का एक मात्र अधिपति होगा, प्रभु होगा,
आकार के आवरण बीच कहीं भी छिपा हुआ न पड़ा तनिक रह सकेगा,
और 'प्रकृति' स्वीय कार्य के शासन को विपरीत दिशा में एक उलट देगी,
और बाह्य जगती उस 'सत्य' को जिसे गोपित रखती है उन्मुक्त करेगी;
इस जगती की सकल वस्तुएं ही तब आवृत 'ईश्वर' को अभिव्यक्त करेंगी,
सब कुछ विश्वात्मा के ही प्रकाश को औ' उसकी ही सुशक्ति को खोलेगा,
औ' उसकी निश्चित आनन्द-नियति की दिशि ही अपनी सारी गति मोड़ेगा,
और यदि विरोधी बल अपने शासन के प्रति चिपका ही रह जाए, तो भी,
औ' निज अखण्ड साम्राज्याधिकार का एक बिगुल अविराम बजाए, तो भी,
औ' मानव अपनी उन्नत आध्यात्मिक विधि का बहिष्कार करवाए, तो भी,
निगुह्य 'सत्य' यहां द्रव्यों के भीतर होता हुआ जयी ही चला जायगा।
क्योंकि सर्वसिद्धिकरी 'काल'-कूच में
'परात्पर' के संकल्प की घड़ी का शुभागमन तो अनिवारी होता है,
अरे 'प्रकृति' के दृढ़ विधि-विहित मार्ग में
सभी कुछ स्व-पूर्वसुनिश्चित ध्येयों प्रति मुड़ और घूमकर बस चल पड़ता है,—
जो कुछ लोकों के आदिमारंभ से
सृष्ट वस्तुओं के भीतर गभीरतर साररूप में कि वहां आदेशित था :
यहां तक कि आएगा उच्च विजय-सम 'मृत्यु'-अन्त भी, अज्ञान की मृत्यु वह।
पर पहले उस उन्नत 'सत्य' को यहां अपने पैर जमा लेने ही होंगे,
औ' मानव को उस शाश्वत-प्रकाश के प्रति अविराम अभीप्सा करनी होगी,
औ' उसके अंगों को 'आत्मा' के ही एक स्पर्श का अनुभव करना होगा,
औ' उसके सब जीवन को अंतर की एक 'शक्ति' को ही अनुसरना होगा।
यह, निश्चय ही सुसम्पन्न सब होगा; क्योंकि यहां आना है,—नव जीवन को
इक 'अति चैतन्य' 'सत्य' की काया को, परा प्रकृति के ओजों के स्व-क्षेत्र को,
भू की निश्चेतन भूमिका में उसे 'ऋत' का इक उपनिवेश बनवाना है,
यहां तक कि इस अज्ञानता को उसे एक पारदर्शी पट करवाना है,
जिसके भीतर से कि 'सत्य' के ज्योतित अंगोपांग झलकने, दिखने होंगे,
और 'सत्य', 'प्रकृति' के शीश के ऊपर एक सूर्य-सम शोभित होता होगा,

और 'सत्य' ही फ़क़त 'प्रकृति'-चरणों का बना एक बस मार्ग-प्रदर्शक होगा,
और 'प्रकृति' की गहना गभीरता से एक 'सत्य' ही निरख रहा बस होगा।
औ' जब वह अतिमानव स्वयं 'प्रकृति' के राजा के सम, निज जन्म यहां लेगा,
तब उसकी इक प्रबल उपस्थिति ही इस 'जड़' जगती को रूपांतरित करेगी :
वह 'प्रकृति' की निशा में परम 'सत्य' की महा अग्नि को बस प्रज्वलित करेगा,
और 'सत्य' के सुमहत्तर विधान को यहां धरा पर सुप्रतिष्ठित कर देगा,
उस परमा 'आत्मा' के आवाहन प्रति तब फिर यह मानव भी उन्मुख होगा।
निज गुप्त संभावना के प्रति जगकर, अंतर-प्रसुप्त उसी सत्य-प्रति जगकर,
भू के उस आदि जन्म की वेला में,
औ' 'आत्मा' ने अज्ञानी जग को जब निज धाम बनाया था उस वेला में,—
जो कुछ अर्थ 'प्रकृति' ने सपनाया था, उस सारे ही विधान के प्रति जगकर
वह उस 'सत्य' तथा 'ईश्वर' की औ' उस आनंद की आकांक्षा करता होगा।
इक दिव्य-विधान का अरे व्याख्याता,
इक परम योजना का और करण वह
इक उन्नत जाति का अरे प्राणी वह,
इस मानव के उन्नीत कराने को यहां धरा के ऊपर निहुर पड़ेगा।
औ' मानव अपनी उन उँचाइयों पर चढ़ने की आकांक्षा पुनः करेगा।
औ' ऊपर का सत्य एक नीचे के सत्य को यहां बस जाग्रत् कर देगा;
यहां तक कि यह मूक धरा भी तो फिर एक सचेतन बल ही बन जाएगी,
और 'आत्म-सत्ता' की सकल शिखाएं तथा 'प्रकृति' की नींव, निकट आएंगी,
निज पृथक् सत्य का रहस्य पाएंगी
औ' फिर एक-दूसरे में वे दोनों एक देव की ही छबि को पाएंगी।
'आत्मा' 'जड़ता' की दृष्टि से लखेगी, 'जड़ता', 'आत्मा' का घूंघट टारेगी।
तब फिर यह मानव औ' वह अतिमानव ये दोनों मिलकर समस्वरित बनेंगे,
सकल धरा का जीवन एक बनेगा।
यहां तक कि जन-साधारण भी तब फिर उस दैवी 'वाणी' का श्रवण करेगा,
और 'आत्मसत्ता' से संबंधित हो, अपने ही भीतर फिर अभिमुख होगा,
औ' उन्नत आत्मिक विधान की आज्ञा पर चलने का एक प्रयत्न करेगा :
और यह धरा भी उत्तम आवेगों
को ले प्रेरित होगी, औ' मानवता गहना आत्मा में उद्बुद्ध बनेगी,
'प्रकृति' छिपे 'ईश्वर' को पहचानेगी।
यहां तक कि जन-मंडल भी उन्मुख हो, उसके प्रति संवेदनशील बनेगा,
औ' दिव्यावेग की महा महिमा को, औ' अदृष्ट द्वारों प्रति उसकी भीषण
दस्तक को निज में संभालता होगा।
स्वर्गिकतर एक आवेश मानव के इन्हीं जीवनों को उन्नीत करेगा,

औ' उस अवर्णनीय किरण-प्रकाश में
उस आनन्दातिरेक और अग्नि का
और धरा के सिरजे सकल कलेवर
और मर्त्यता के बंधुआ गुलाम ये
साधारण जन आध्यात्मिक सुप्राणियों

अंतर्बोध की सुरश्मियां अरे फिर
और प्रकृति की गहराइयों को सतत
उन जीवों का 'सत्य' सुनायक होगा,
औ' उनके विचार, कर्म औ' गिरा को,
वे अपने को तब फिर एक समुन्नत
औ' अपने को देवों से कुछ ही कम
क्योंकि स्व-प्रदीप्त धाराओं को विद्या
अंधकार से ग्रसे हुए मन भी तब
औ' वे 'दिव्य भावना' की ज्वाला से
मर्त्य अज्ञता से और भागने को
'अज्ञानता' की सभी सीमाएं तब
अधिक अधिक आत्माएं औ' प्रकाश में
मानव के प्रदीप्त औ' प्रेरित मन फिर

और हृदय, देवी आनन्द पर सतत
रे मानव के सब संकल्प भागवत
औ' भिन्न व्यक्तित्व ये सब आत्मा के

देह, मांस और नाड़ियां ये सारी
औ' क्षर कायाएं इक अक्षरता को

मनुज की शिराओं में और कोश में
औ' इन श्वासों, वाणी तथा कर्म पर
सब विचार सूर्यों की प्रभा बनेंगे
प्रसुप्त मन के कक्षों बीच उजाला
करती-सी अक्सर ही इक ज्योतिर्मय
अंग-अंग में हठात् बस आनँद की
और प्रकृति एक उच्चतर सशक्ततर

उसके मन निज भाग बंटाते होंगे,
उसके अंतर अनुभव लेते होंगे,
आत्मा में सुसचेत बन गए होंगे।
खोल बंधनों को अपने सब देंगे,
में फिर बढ़ते और पनपते होंगे,
जगा दिव्यता को औ' पाते होंगे।
प्रकृति की शिखाओं को छूती होंगी,
अभिव्यक्ति एक, प्रेरित करती होगी :

एक 'सत्य' संचालित करता होगा,
गगन के निकट खड़ा हुआ पाएंगे,
होने की विशेष अनुभूति लहेंगे।
तब रेल औ उँडेल धरापर देगी,
इक अभिनव जीवन से सिहरित होंगे,
अविरत जलते और दहकते होंगे,
वे बस अपना मुख मोड़ चुके होंगे।
अरे खिसकती पीछे चली जायंगी,
बढ़ती हुई सवेग चली आएंगी,
उस गुह्यावाहक की गिरा सुनेंगे,
जीवन द्रुत अंतर-ज्वाल में जगेंगे,
मुग्ध बने-से विकसें औ' पनपेंगे,
संकल्प के साथ समस्वरित बनेंगे,
एकत्व का सदनुभव करते होंगे,
इन्द्रियबोध एक स्वर्गीय बोध को
एक अलौकिक अलख नवीन हर्ष को,
गहने में सुसमर्थ बन रही होंगी।

दिव्य शक्ति एक स्रवित होती होगी,
वह अपना अधिकार जनाती होगी,
प्रति अनुभूति दिव्य इक सिहरन होगी।

अंतर की ऊषा बस प्रकटाएगी;
लहर लहरती एक दौड़ जाएगी,
'सन्निधि' से बस पूर-पूर जाएगी।
भगवत्ता के प्रति यों, धरा खुलेगी,

साधारण जन, विशालता से ऊपर उठे हुए होने का अनुभव लेंगे
'परमा आत्मा' की धवला मयूख से सामान्य कर्म भी जगमगा उठेंगे,
साधारण द्रव्यों के भीतर बसने- वाली सतत दिव्यता से भेंटेंगे।
अंतर्निहित 'ईश' की विवृति के लिए, जीवन धारण अपना 'प्रकृति' करेगी,
औ' जग की इस सब मानव-लीला को 'आत्मा' ही निज हाथों में साधेगी
और धरा का जीवन दिव्य बनेगा।"

वह सूक्ष्म संगीत-लय बन्द हो गई।
औ' सावित्री की अंतरात्मा अब भू पर आने के हित विवश बनी-सी
अदृष्ट लोकों, अतलाकाशों में हो
बस तैरती और उतराती झटपट अब गिरती-सी नीचे को चली गई,
औ' तारे के समान डूबने लगी।
वह दैवी वीणों के एक हास्य में चहुंमुख अनाम वाचाएँ सुनती थी,
जो विजयोन्माद को गुंजा रही थीं यह इक अगणित स्वरोंभरा निनाद था।
यह तो एक खिलखिलाती पवनों का किन्नर-दल उससे मिलने आया था।
अनन्तता का सारा बोझा जैसे उसने अपने ऊपर वहन किया था,
सारे ही सूक्ष्माकाश के हृदय में वह इक स्पन्दन का अनुभव करती थी।
इस निपात में बस इक अशम्य ढंग से उसका पीछा करता इक तरुणानन
उसके ऊपर दिखलाई पड़ता था,
निखिला सुन्दरता का इक प्रतीक वह जिसको आंखें निरख नहीं सकती थीं,
एक सुशोभाशाली रंग-बिरंगे मोरपँखों के किरीट से शोभित था,
और नीलमणि से ज्यों आकारित था,
हृदय गुदगुदा देनेवाली जिसकी
स्मिति, आनंद प्रति एक अतृप्त भाव से मन को अविरत खींचे कि ले रही थी,
जो सावित्री के आत्मालिंगन के मृदु काम-भोग में अविरत डूबा था।
स्व-रूपलावण्य में बना परिवर्तित, आनन्दातिरेक में पर वैसा ही
अब इक श्यामा निखिल सुन्दरी नारी के स्वरूप में ही वह बदल गया था।
तारा-जटित सचल नेत्रोंवाली जो एक चंद्रिका-स्नात निशा लगती हो,
जैसे छायावी महिमा हो, कोई अति बवंडरी गहना गहराई हो,
'संकल्प' में बनी अपने दुर्धषी और प्रेम में चंडी बनी हुई हो।
उन उन्मद नेत्रों ने, जिनके भीतर
आत्मा की आवेशप्रमत्त तृप्ति से एक 'प्रकृति' का अंधा औ' आनन्दित
जीवन प्रकट हुआ आज उन्होंने ही
सावित्री को किया सतत आदेशित भू के भैरव नर्तन में जाने को।
और शीश के बल इस अधःपात के अनुपम आनन्द में वेग से गिरती

शिशु के-से तुष्ट बने हाथों में अब
इक विमुग्धकारी जकड़न में उसकी
जब तक नहीं 'काल' का कि अन्त आए
औ' इक रहस्यमय आनंद के फल सम
सत्यवान् की आत्मा को सावित्री

औ' उस सशक्त निपात में वह आत्मा
अनुन्मोचनीय ढंग से इक जैसे
अब इस अधःपात में, रेल-पेल कर

तब फिर पृथिवी के सारे अंधे औ'
असीम आनंद की भीषण द्रुतताओं
औ' द्रुततम गति की चकरानेवाली
भीषण इक निपात-ऋजुता के भीतर
घूर्णित औ' परिमग्न बनी सावित्री

पारिजात से गिरा पात ज्यों उड़ता
इक अभिनन्दनकारी सौकुमार्य ने
और चमत्कारिणी अतलताओं के
उसके ऊपर किन्हीं महा पांखों ने
और महा जननी के वक्षस्थल के

तब फिर इक कालातीत भूमिका से
ताका इक परमा 'आत्मा' ने नीचे
औ' उस अन्तविहीन घड़ी के भीतर
फिर भी तो सब कुछ देवों की ही उस
भविष्यदर्शी एक महा मुहूर्त्त ने
और भागते हुए धरीय काल के
'शाश्वत' की सुशांति की हीरक भा को,
अमर 'प्रेम' की एक दृष्टि उस चितवन
और अलौकिक इक आनन ने बाहर
अमर रहस्यों की रक्षाकर्त्री उन
स्वर्ण शलाकाओं को आज हटाता
औ' काल के रहस्यभरे ताले के
और जहां पर सकल देवताओं की

इक पक्षी की भांति गृहीत बनी-सी
आत्मा श्रमरत थी, कुलबुला रही थी,
तब तक मुक्ति नहीं उसको इच्छित थी,
निज आवरक हृदय में अति दृढ़ता से
अपने अंतर में यों निधिआए थी
ज्यों मधुऋतु-अंतर में पुष्प छिपा हो।

खिंची हुई अविराम चली जाती थी।
अदृष्ट स्वर्ग, मार्ग से गुज़र रहे थे,
जैसे हों ऊपर को उड़े जा रहे।
समीप आकर्षण ने, अधःपात के
हित सावित्री को मजबूर बनाया।

विशाल अचेतना के महा कुण्ड में
बनी हुई अभिभूत, अदृष्ट हो गई,–
मँडराता सर में विलोप हो जाए;
उसको अब अंतर में खींच लिया था,
महाद्भुत्य में उसे समेट लिया था,
घिरकर अंधकार एक कर लिया था,
भीतर थी वह समाधिमग्न हो गई।

जो 'काल' का निरीक्षण करती रहती
फैले इस विधि के विधान के ऊपर,
लखे गुजरते सब युग और युगान्तर।
नीरवता के भीतर बस डूबा था।
आवृत असीम आकाश को किया था,
अंतर में बस उसने फेंक दिया था,—
'प्रभु'-आनंद के अरुणिम एक बीज को;
से कढ़कर बस जैसे नीचे उतरी।
अपने शाश्वत नेत्रों से था झांका;

एक हाथ दिखलाई उसे था पड़ा।
भीतर इक चाबी अब घूम गई थी।
वह महान् नीरवता बीत गई थी,

वहां, एक निश्चलता में से उठकर
जिसने आतुर हृदयों को अब अपने
हर्षातिरेक से औ' एक हास्य से,
एक शक्ति बस नीचे यहां झुक पड़ी
वह अनन्त आनंद इस विशाल भू पर

उन्नततर सामंजस्य एक प्रकटा,
हर्ष और सुमधुरता से चौंकाया,
औ' इक नाद से चमत्कृत करवाया।
इक सुख ने अपना गृह ही था पाया।
आज कुलाय निलायी बना हुआ था।

उपसंहार

पर्व १२, सर्ग १

पृथिवी की ओर वापिसी

गहन-गभीर एक भारी समाधि से	थी अब सावित्री की आत्मा जागी।
उसने देखा कि वह धरा-माता की	शांत, अचित् छाती पर पड़ी हुई है,
औ' उसकी काया पर हरीतिमा से	आच्छादित शाखाएं झुकी हुई हैं,
अपने मंत्रमुग्ध जीवन से उसकी	निद्रा पर जो पहरे में सुलग्न है,
और शीश पर नीलमपंखी आनँद	उन्नत स्वर से निज आह्वान को गुंजा
एक डाल से अपर डाल पर फर-फर	मानो अपने पंख फड़फड़ाता है।
कानन की जादू-रहस्यमयता में	
पातों के उस चंचल और मरकती	जाली-वातायन से झांकते हुए
तंद्रिल आकाशों में अधिशायी-सा	
वह दिन, मन्द चाल से ढलते-ढलते	संध्या की सुशांति में डूबने लगा।
अब सत्यवान् की जीवित काया को	उसने अपने कर से तनिक दबाया;
जी सकने और श्वास भर सकने के	इस अपने कायिक और मौन सुख पर
उसके शिर के आनंद-भार को ले	
अपने स्तनद्वय की हर्षमुग्धता के	स्नेह-ऊष्ण श्रम की अंक में सँभाला,
उसके अंगों के जागते मोद ने	
सत्यवान् के अंगों को इक स्वर्गिक	भार के सुखद अनुभव के सम ढाला,
द्रव्यों के समस्त आनन्द-भोग के	एक स्पर्श का घूंटा मधुमय प्याला,
औ' उसका सब जीवन सत्यवान् के	जीवन में ही जैसे जगा हुआ था,
उसकी सत्ता को आलिंगित करके	
सावित्री की सारी ही सत्ता ने	आनन्द का मधुर रस पान किया था।
उसकी समाधि की विशाल औ' महती	वह दूरी आज समाप्त हो गई थी;
पुनः एकदा हो मानवी गई थी,	भू की सावित्री बन सँवर उठी थी,
फिर भी अपने भीतर वह निस्सीमित	इक परिवर्तन का अनुभव लेती थी।
एक शक्ति जो भू के लिए बहुत ही	महान् है, उसके उर में बसती थी,
इक आनँद जो स्वर्ग के लिए अति ही	विशाल है, उसके भीतर बसता था।
'प्रकाश' जो विचार हित बहुत गहन था	
और प्रेम जो भू की राग-भावना	
हित अति बृहत् था, उन्होंने अब उसके	मन-आकाशों को प्रज्वलित किया था,

औ' उसकी अंतरात्मा के सुगहन सुखी सिंधुओं को अभिमग्न किया था,
औ' इस जग में सब कुछ, जो पावन है
वह सब उसकी मनोदशा की दैवी निष्क्रियता के समीप खिंच आया था।
नीरवता की अद्भुत इक वाणी ने अपने सुविचारों को व्यक्त किया था।
सावित्री ने 'देश'-'काल' की सारी द्रव्यों को अपना करके जाना था;
उसके भीतर ही वे गति करती थीं उसके द्वारा ही तो वे जीवित थीं,
औ' उससे ही वे अस्तित्ववान् थीं

सारी जगती परमानन्द के लिए सावित्री को धर कर चिपक गई थी,
जो उसके प्रेम के एक उन्मादी आलिंगन के हित ही रची गई थी।
सकल बंधनों से अब मुक्त बनी-सी उसकी देशातीत आत्मा में अब
ये असंख्य अनगिन वर्ष एक लंबे खिंचे हुए-से मुहूर्त ही लगते थे,
प्रदीप्त काल-खंड थे शाश्वतता के

उसकी पार्थिव ऊषाएं अब सारी आनँद की ज्योतिष्मान् उड़ानें थीं,
जो कि विहग के अपने प्रदीप्त गृह से बाहर कढ़े उड्डयन ही लगती थीं
वह अब असीम थी, शाश्वती-रूप थी।
क्षणस्पन्दनों में अब बिन खोए ही
उसकी आत्मा अपनी चेतनता में अनन्त भावी का अनुभव लेती थी,
सकल अनादि भूत के सँग जीती थी:

जीवन, एक उषा का जयी उदय था,
भूतकाल ने औ' भविष्य-दिवसों ने अपने सपनों को अब जोड़ लिया था,
बीती संध्याओं औ' सुदूर भावी में आनेवाले उन मध्याह्नों ने
पूर्वभासी घड़ियों के उर-दर्शन को अब उसके सम्मुख झलकाया था।
आनन्द की निमज्जित इक मुद्रा में कुछ क्षण वह बस सीधी ही पड़ी रही,
जाग्रत् एक समाधि की अलौकिकता के भीतर विवशाई-सी बनी रही;
तब फिर तनिक अधउठी-सी मुद्रा में अपनी चितवन को चहुं ओर घुमाया,—
यथा पुराने, मीठे औ' नगण्य उन सूत्रों की सारी छितरी लड़ियों को,
एकत्रित करने का यत्न हो किया,
और सुखी औ' प्राचीन विचारों को, अपनी लघु-लघु निधिआई स्मृतियों को,
फिर से सुधियाकर एक अमर दिन में बुन लेने का एक प्रयास हो किया।
औ' निज वक्षस्थल के परम स्वर्ग पर
अपने प्रेमी सत्यवान् को जैसे सतत भाव से धारण किए हुए थी,
जो विमुग्ध गहन नींद में सोया था,

औ' जो अनुमतिकारी दो लोकों की
किनार पर जैसे लोरियों सुलायी इक अजान शिशु आत्मा-सम लेटा था।
पर अपने प्यारे के ऊपर फिर वह बस शीघ्र ही झुकी औ' उसके मूंदे

अक्षिपुटों को इस प्रकार सहलाया
और सशक्त हर्ष की सुशान्त चितवन

अब वह विस्तृत थी असीम आनँद में,
औ' वह अब विशुद्ध थी औ' देवों के
कहीं न इच्छा अब पंख फड़फड़ाती;
क्योंकि आज तो चारों दिशि से सब कुछ
जैसे भू के मैदानों पर नभ ने
यथा धरा को चहुंमुख से आलिंगित
यह इक प्रशान्त आनन्दानुभूति थी
तब उसके स्पर्श से चिहुंक कर मानो
औ' उसकी पुष्प सरिस पलकों से उठ
उसकी आंखों ने खुलकर सावित्री

औ' देखा अब एक बार फिर से ही
औ' उसके अंतर-राग की सकल श्री
और बाहुओं के मंडल में अपने
स्व-संपत्ति को ज्यों निकटस्थ बनाने
औ' उसके सकुचाए ओठों ने अब
औ' उस चमत्कार को धूमिलपन से
"ओ स्वर्णिम मयूख मेरी सावित्री !
ओ भगवत्ते, ओ कुलांगने ललने !
प्रेमश्रृंखलित मुझ बन्दी को तू फिर
अपने निकट तथा प्रकाश-दीवारों
क्योंकि बिना शक, मैंने विचित्र लोकों

औ' हम दोनों ने मिलकर रजनी के
दिव्यानँद से भी मैंने मुख मोड़ा,
वह 'दुर्धर्षकार' जो कि हम दोनों
के विरोध में था सम्मुख अचलाया
मृत्यु तथा इक 'अनस्तित्व' के हित ही

या यह सब कुछ बस इक सपना ही था

कि पुनः उसका मन उसके प्रति जागे;
अब तो सुस्थिर औ' शान्त ही बनी थी
नहीं लालसा कोई कहीं उठी थी,
या तो इक शाही अंतिम सुतृप्ति में,
इक गहरे प्रेमावेग में पगी थी।

स्वर्गिक किरणों की मेहराब बना था,
अपना मुग्ध नियंत्रण शुरू किया था,
करने हित अब दिव ही झुक आया था,
एक विराट् सुरक्षा का अतिसुख था।
वह कोमलपंखी नींद थी जग गई,
मँडराती-सी भुनभुन कर निकल गयी।
की सुप्रतीक्षारत आंखों को ताका,
हाथों के मधुरिम अनुभव को पाया,
यह पृथिवी, उसका घर उसे मिल गया,
यह सावित्री उसकी पुनः बन गई।
सावित्री को चहुंओर से भर लिया,
के हित ही यह इक जीवंत ग्रंथि थी,
सावित्री का मृदु नाम गुनगुनाया,
मुद सुधियाता सा इस प्रकार बोला:
अरी सकल माधुर्यों की सुपेटिके !
औ' मेरी आत्मा की मृदुल ज्योत्स्ने !

तक कौन लोक से वापस लाई है ?
की इक यात्रा तेरे सँग-सँग की है
तव आत्मा पछुआए सतत रही है,
द्वारों की भीषण अवहेला की है;
अपर्याप्त तेरे बिन सुरपुर भी है।

री ! वह कौन दिशा में चला गया है ?
सारी जगती को बस अधिकृत करते
'प्रभु' औ' 'आत्मा' को अस्वीकृत करते
वह 'शून्य' की आत्मा कहां गई है ?
या आत्मिक निद्रा का इक दर्शन था,
'काल'-विरोधों का या इक प्रतीक था,

या तम के दबाव के भीतर कोई
'मार्ग' प्रकाशित करता अर्थ भरा-सा   मानस-प्रदीप इक आकाश-दीप था,
या कि 'मृत्यु' की जलग्रीवा में होकर   जाते संतारी का पथदर्शक था,
या तो आत्मकिरण की सहायता से
'दैवयोग' के सुसंकुलित मार्गों की   कुल्या में आत्मा को खोज रहा था,
जो जग-साहसयात्रा पर आई थी
या 'शाश्वतता' से आया यात्री था,   औ' शाश्वतता का एक गुप्तचर था?"

सावित्री ने यों अरपा निज उत्तर:
हम दोनों की अरे वह पृथकता तो   सत्य नहीं थी, केवल इक सपना थी;
सत्यवान् हम तो साथ-साथ ही हैं,   कभी मृत नहीं थे, हम जीते ही हैं,
तुम अपनी दृष्टि उठाओ औ' अपने   चारों ओर तनिक मुड़कर अब देखो,
प्रसन्न और अपरिवर्तित इस गृह को,   अपने प्यारे अरे उसी कानन को,
देखो सहस-सहस परिचित नादों सँग   इन पातों के बीच पवन सरसर को,
और बिछी हरियाली के सुझरोखों   से देखो संध्या के विशाल नभ को,
स्व-जीवनों के एक नील सुठि आश्रय,   देखो 'प्रभु' के इस वितान, छाजन को,
अंतर को सुख से भर देनेवाली   और पक्षियों की कुहकन, चहकन को,
और हमारे एकाकी शासन के   सुपक्षधारी इन गायक कवियों को,
इस पृथिवी के अपने इन मित्रों को,   कि जहां के हम राजा औ' रानी हैं।
केवल अरे, हमारी आत्माओं ने
ही तो अभी एक महत् शक्तिशाली   स्वप्न-वास्तविकता से बन परिवर्तित,
प्रतीक लोकों की द्युति से बन ज्योतित,   और वस्तुओं की आत्मा के विस्तृत
उन्नत तुंग शिखर से बन आलोकित   उस 'मृत्यु'-रात्रि को पीछे छोड़ा है,
और हमारी आत्माएँ ही आकर
भगवत्ता-द्वारों पर खड़ी हुई हैं,   इक असीमता से, इक स्वतंत्रता से।"

तब अपनी सुख की महिमा में डूबे
औ' फिर सुरक्षिततया अपने कर में   कर ले अंगुलि-गुम्फित-से बने हुए
औ' अपनी सुशांत नीरव चितवन में   एक दूसरे के ऊपर टिके हुए
बस वे दोनों ही उठकर खड़े हुए।
पर अब सत्यवान् का अंतर कोई   निपट अलौकिक आश्चर्य से भर उठा,
आंखों में नव पूजा-ज्वाल जल उठी:
"सावित्री यह अद्भुत परिवर्तन है,   तू तो अब कितनी उच्च उठ गई है।
तेजोमय तू सदा-सर्वदा ही थी   एक शांत देवी थी औ' विशुद्ध थी,
अपने इन मधुरिम मानव-अंगों में   फिर भी मुझको अब प्रियतरा बनी है,—
जिन्हें धरा ने अर्पित तुझे किया है   उनमें बनी दिव्यतर सँवर उठी है।

मम भक्ति ने वशीभूत कर लिया था,
झुकी कामना थी औ' मेरी नीचे अरी तुझे बस अधिकृत कर लेने को,—
मम साहस ने जकड़ लिया था तुझको
तेरी काया औ' आत्मा से, घोषित करके मम जीवन की जायदाद ओ!
ओ मम आनन्दातिरेक का वैभव! और प्रेम का प्यारा मधुर कोष ओ!
मेरी आत्मा के एकल मन्दिर में नीरवता की सुन्दर अमल मूर्त्ति ओ!
उत्कंठा से भरी हुई देवी ओ! और एक स्वर्णाभा शोभित वधु ओ!
पर अब तो तू अरी मर्त्य मानव की पूजा हित अलभ्यता से महान् है,
औ' लगभग अपहुंच-सी अति उन्नत है,
तव चरणों के नीचे 'काल' पड़ा है सब जग तेरा एक अंश लगता है,
तेरी सन्निधि सुशांत एक स्वर्ग है, जिसके भीतर मैं निवास करता हूं,
तारों की चितवन के द्वारा तू ही मुझको बस इकटक निरखा करती है,
फिर भी तू मेरी आत्मा की पार्थिव इक रक्षक है और इक सहेजक है,
मेरा जीवन तव स्वप्नालु विचारों की ही इक गुनगुन है इक रुनझुन है,
मेरी ऊषाएं तेरी आत्मा की पांखों की ही मोहक चमक-दमक हैं,
मेरे निशि-दिन तव सौंदर्य अंश हैं।
नहीं हर लिया क्या तूने मम अंतर,
अपने वक्षस्थल के परम सुरक्षित वातावरण बीच निधिया लेने को?
उस नीरवता औ' निद्रा से जगकर
तेरे हित ही स्व-अस्तित्व धारण की, मैंने अपनी विमुग्ध स्वीकृति दी है
तेरे सँग मैं अपने जीवन का वह मर्त्य वृत्त तो श्री संपन्न कर चुका
किन्तु आज तू मम हित दूर स्वर्ग की
निपट अरेखायित अनन्तताओं को ले अमित भेंट के स्वरूप आई है।
यदि इनके ही यहां पूर्ण करने को तूने अपनी पूत उड़ान भरी है
तो मेरी मानवी धरा यह फिर भी तेरे आनँद की कामना करेगी:
फिर भी अपने द्वारा मम जीवन को इक प्रहर्ष-संगीत अरी बनवा तू
मेरी नीरवता को अपने सँग-सँग और विशाल तथा गंभीर बना तू।"
सत्यवान् के सुसंकल्प को अपनी अनुमति देती, वह स्वर्गीया रानी
उसके चरणों को अपने केशों में मन्दिरस्थ करती उनसे लिपट गई,
यथा प्रेम के एक मखमली चीवर ने उनको अब ढक औ' लपेट था लिया,
औ' फिर अति कोमलता से यों बोली जैसे इक वीणा झंकार उठी हो:
"अब तो यह सब कुछ ही बदल गया है, फिर भी अभी सभी कुछ वही बना है।
लो, हमने 'प्रभु'-आनन निरख लिया है,
और हमारा जीवन आज दिव्यता के साथ एक होकर विकस गया है।
हमने उस परमातिपरम के सँग बस धारण एक एकता को कि किया है,

मर्त्य जीवनों के भीतर औ' उसके
निगूढ़ सब आशय को जान लिया है।
औ' उस नवल सशक्त स्पर्श के द्वारा
प्रेम हमारा बन उच्चतर गया है,
औ' उसने अपने स्वर्गीय अर्थ को
भली भांति अब पढ़ औ' जान लिया है,
फिर भी मर्त्य प्रेम के उस प्रहर्ष का
एक बूंद भी खोया नहीं गया है।
स्वर्ग-स्पर्श ने भू को पूर दिया है,
किन्तु बहिष्कृत उसको नहीं किया है:
और फिर विगत के उस सांचे में ही
इन अपनी कायाओं की हम दोनों
को इक अनिवारी आवश्यकता है;
अब हम दोनों के हृदय के मध्य इक
दिव्य गुह्य लय पुनरावर्तित होती,
और मानवी हृदयस्पन्द हमारे
अनुराग से निकट ही हैं धड़क रहे।
मैं आज भी तुम्हारी वही प्रिया हूं,
जो कानन के इस सीमा-प्रदेश पर
इक रविज्योतित पातों के मर्मर में
आकर तुम्हें समर्पित कभी बनी थी,
मैं वह ही माद्री औ' सावित्री हूँ।
औ' जो कुछ मैं रह पूर्व में चुकी हूं
तुम्हारे लिए वैसी ही अब भी हूं,
सकल तुम्हारे विचार औ' आशाओं
और श्रमों की मैं अभिन्न साथी हूं,
सकल सुखी द्वंद्वों को और तुम्हारे
लिए अरे प्रसन्नता से जोडूंगी।
और जीवनों में फिर यहां हमारे
सारे सुमधुर संबंध आ मिलेंगे,
और मैं तुम्हारा ही साम्राज्य हूं,
जिस प्रकार तुम मेरा साम्राज्य हो,
और कामना की मैं अरे तुम्हारी
इक रानी भी हूं इक दासी भी हूं,
और तुम्हारी इक नतमुख स्वामी हूं,
औ' तव आत्मा की मैं एक स्वसा हूं,
और तुम्हारी मांगों के प्रति मां हूं;
औ' तुम तो मेरा सकल विश्व ही हो,
और धरा हो, जो मुझको है वांछित
दिव हो जो मम विचार को आकांक्षित,
मेरा जग हो, जिसमें मैं बसती हूं
सुदेव हो, जिसकी पूजा करती हूं।
तव काया मम काया की पूरक है,
औ' प्रति अंग, निज जवाबी अंगों की
है अविराम कामना करता रहता,
और तुम्हारा अंतर मम अंतर के
सकल स्पंदनों की एकल चाबी है,—
ऐसी हूं मैं सत्यवान् तेरे हित!
ऐसे ही तुम भी बस मेरे हित हो।
आज हमारा यह वैवाहिक जीवन
एक नया प्रारंभ यहां रचता है,
गुमी नहीं, है कोई भी खुशियाली,
नश्वर आनंद की कोई गहराई,
आज हमें इस नवल भव्य जगती में
चलने दो, जो वैसी ही है पाई।
यदपि हमें यह फिर से आज मिली है,
पर यह अपनी परिचित है, जानी है,
यह तो एक हमारी रास-भूमि है,
यह तो 'प्रभु' का ही अपना निवास है,
जो अपने को इस पशु औ' पक्षी में
औ' मानव में छिपा-छिपा रक्खे है,
जिसमें वह अपने को पुनः प्रेम के

जिसमें वह निज को पुनः एकता के द्वारा एक मधुरता से फिर ढूंढे।
उसकी यहां उपस्थिति ही निज जीवन के छन्दों की अगुआगीरी करती,
जो दुख को सहकर भी एक आपसी आनंद को अविरत है ढूंढा करती!
बनी अनावृत इस महान् आत्मा के

प्रकाश में, हमने है आज पा लिया हे सत्यवान् अब एक दूसरे को।
चलो हमें गृह को प्रयाण करना है, क्योंकि सांझ नभ में झुकती आती है।
अब तो शोक निहत हो चुका है तथा इक प्रसन्न आनंद ही शेष बचा है,
जो कि हमारे आनेवाले सारे दिवसों के अंतर का एक मर्म है।
और इस अलौकिक जगती में अब तुम निरखो तो इन सहवासी जीवों को!
वितरित करो आज इन में आनंद को!

क्योंकि आज हम इस के अधिकारी हैं।
क्योंकि हमारी ये आत्माएँ जग में उस 'अनभिव्यक्त' का आवरण चीर कर
सुगहन विशाल 'अज्ञेय' से निकल कर
शंकित भू की अज्ञानी छाती पर खोज में लगे श्रमरत मनुज-पथों पर
नहीं फ़क़त अपने हित ही जनमी हैं।
दो अग्नियां हैं अरे हम दोनों तो जो निज पितर 'सूर्य' के प्रति जलती हैं
और वे युगल किरणें हैं जो प्रतिपल मौलिक 'प्रकाश' प्रति यात्रा करती हैं।
हम तो मानव-आत्मा को बस केवल
'सत्य' तथा 'प्रभु' के प्रति ही उठवाकर ले जाने के लिए यहां जनमे हैं,
और मर्त्य जीवन की रंग-बिरंगी
एक योजना को अमर योजना के अनुरूप खींच दिने को आए हैं,
और उसे 'प्रभु'-प्रतिमा के सुनिकट तक गढ़ औ' रच लेने के हित आए हैं,
जग के रचनेवाली 'दिव्य भावना' के कुछ और पास लाने आए हैं।"
सावित्री ने निज बाहों से उसके वक्ष और शीश को लपेट लिया था
औ' इस काल-यात्रा पर चलते रह
सदा-सदा को वक्षस्थल पर स्थापित करके मानो उसको पहन लिया था।
बस कुछ देर के लिए दोनों यों ही बने हुए-से आलिंगित खड़े रहे,
औ' उनकी प्रेम-समाधि और चुम्बन
उनकी सम्मिश्रित आत्माओं का ही जैसे प्रगाढ़ एक सुमिलनस्थल था,
जिसमें दो तन औ' दो आत्माएं वे
धरा-काल के आनंद की ख़ातिर ही सदा-सदा को मिलकर एक बने थे।
तब हाथ में हाथ डालकर चल पड़े तज उस पुण्यस्थल को रहस्यराते,
मौन अलौकिक स्मृतियों को सुधियाते,
चले वन्य प्यारे गृह की दिशि अपने हरीतिमा के लम्बे पथ पर माते,
कानन के अंतर के ठीक बीच से धीरे-धीरे थे अब लौटे जाते;

औ' चारों दिशि का प्राकृतिक समाँ सब
अपराह्न से सांझ में बदल गया था;
निद्रामग्न क्षितिज के अरुणाचल में
दिनकर तो अब बस डूबा जाता था,
उड़ते हुए पक्षियों की सुठि पातें
जहां कि निज नीड़ों को लौट रही थीं
दिवा-निशा दोनों एक-दूसरे की
बाहों में झुककर और पड़ गई थीं।

अब संध्या की गोधूली में चहुंदिशि
घन तरु-पातें ऐसे खड़ी हुई थीं,—
ज्यों सपनाती परियां खड़ी हुई हों,
और रात को बढ़ने से रोके थीं,
भूरी आंखोंवाली विचारमग्ना
संध्या को उनकी पग-चाप सुन पड़ी,
औ' दिशि के चारों कोनों से आती
नियराते निशिचारी चौपायों के
रंभण, क्षुरगतियों की भनक सुन पड़ी।
तब इक मानव-हलचल पड़ी सुनाई
जो उनके उन एकाकी दिवसों में
बहुत दिनों से बनी अपरिचित ही थी,
वह पातों की विमुग्ध निर्जनता पर
जो कि कभी एकान्त अकेलेपन के
लिए बड़ी पुनीत थी, उसके ऊपर
हमला करती हुई चली आती थी,
औ' उसकी भोली विशुद्ध निद्रा को
एक उग्रता से नष्ट कर रही थी।
औ' उस पर्यावृत संध्या के भीतर
वह हलचल बस बढ़ती ही आती थी,
औ' अगणित ध्वनियां तैरती हुई-सी
निकट, निकट नियराती ही आती थीं,
औ' असंख्य पग-चापें सुन पड़ती थीं,

जब तक कि न उनकी आंखों के सम्मुख
इक कर्मठता औ' संकुलता को ले
वह मानव-जीवन आकर चमक उठा,
आंखों पर रंगों की एक लहर का
था औ' जैसे हमला एक हो पड़ा।
और शीश के ऊपर झलमल करती
अगिन मशालों को हाथों में साधे
अब इक शोभाशाली औ' इक महती
जगमग करती-सी भीड़ उपस्थित थी
जीवन, क्रम-निबद्ध हलचल में सम्मुख
अब दोलायमान-सा प्रकट हुआ था,
जो एक अपरिचित अनगिन मुखड़ों की
धारा को ही लेकर फूट पड़ा था,
जरी किनारीवाली शीश-पगड़ियों
औ' तारकशी के वस्त्रों से सज्जित
आभूषणों की चमक और दमक से
वस्त्र-अंचलों को करते सुझिलमिलित,
शत-शत हाथों ने आकर बस जैसे
कानन की डालों को था अब टारा,
शत-शत हाथों ने उन उलझे-पुलझे
वन्य पथों को ढूंढ़ा और उघारा।
शुभ्र वस्त्रधारी शांत पंडितों के
गभीर नेत्रों में इक सुमधुरता थी,
सशक्त योद्धा अपने शोभाशाली
कवचों में सज्जित थे, दमक रहे थे,
औ' अश्वों के वे गौरवशाली क्षुर
थे बन को कि रौंदते चले आ रहे।
आगे-आगे राजा द्युमत्सेन थे
सब सेना की अगुआगीरी करते
और अंग अब क्षीण, मलीन नहीं थे,

वे अब दृष्टिहीन औ' दीन नहीं थे,
पर अब उनकी दूर-सुदूर खोजरत
आंखें, प्रकाश के प्रति पूर्ण रूप से फिर से अपने विश्वास में पगी थीं,
औ' आकारित बाह्य जगत् को अपने चर्म चक्षुओं से अवलोक रही थीं;
और चरण उनके दृढ़ता से अपने राज-डगों से भू पर विचर रहे थे।
और साथ में उनकी रानी का औ' आतुर मां का आनन चमक रहा था,
जिस पर प्रतिदिन की अभ्यस्त आज वह बोझीली चितवन न देख पड़ती थी,
जिसने अपने थके हुए श्रम की उस
बुझती हुई शक्ति से दीन दिनों में उन सबके जीवन का भार लिया था,
जिन्हें कि वह अत्यंत प्यार करती थी।

उसकी सुशांत धैर्यवान् पांडुरता इक चिंतामग्न दीप्ति को धारे थी
जो संध्या की मंद दृष्टिवत्, जिसमें एकत्रित आलोक बिदा लेता हो,
जो अपने प्यारे शिशु में भावी की ऊषा का पूर्वाभास ले रही हो।
पीछे खसक रही और इस किरण की
चमक-दमक सब उस गीतिमय उषा की विचारनिमग्न इक भविष्यवाणी है,
औ' इस स्वर्णिम आशा पर अभिमग्ना
वह निज आकाश की शांत महिमा में डूब रही सी क्षण भर को ठहरी है।
उसकी आंखों ने ही सबसे पहले स्व-बालकों के आकार को लखा था।
बस उस सुन्दर जोड़ी के दर्शन पर
सहसा निकले नादों के स्वर-क्रम से आन्दोलित हो वातावरण जग उठा,
मात-पिता ने दौड़ तीव्रता के सँग बस अपने उस बालक सत्यवान् को
अपने जीवन के मौलिक कारण को
जिसने उसको श्वासें अर्पीं, उसको अपनी बांहों में था पुलक भर लिया।
तब फिर द्युमत्सेन सत्यवान् से यों प्यारभरी झिड़की के स्वर में बोले:
"आज यकायक भाग्यवान् देवों ने मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि निज की है,
मुझे खोजता राज्य स्वयं आया है, दिव-किरणों ने स्व-स्नेह बरसाया है,
किंतु बोल तू अब तक अरे कहां था?

ओ मेरे प्राण! ओ लाड़ले मेरे!
तूने तो इस भयधूमिल छाया से प्रसन्नता को पीड़ित कर रक्खा है,
दिन सब डूब गया इस कानन में ही, किस खतरे में अटका कहां रह गया?
मोद-प्रमोद भला निज रंग-रास में
कैसे भूल गया था कि नेत्र मेरे तेरे बिन इक छूछे गोलक ही हैं,
जो प्रकाश पाने पर तुझे देखने में ही अपना सुख एक मानते हैं?
ओ सावित्री! तेरे आभिजात्य के उपयुक्त तो कार्य यह नहीं हुआ है,
जो तूने निज पति को मेरी आतुर बांहों में न शीघ्र ही पहुंचाया है;

यह जानते हुए भी कि मुझे तो बस
भोजन का सारा स्वाद तभी तक है
जब तक सत्यवान् मेरे समीप है,
औ' बाकी जीवन-दिवसों में मेरा
यह तन, प्रात:-संध्या बस उसके ही
स्पर्श के लिए एक मात्र जीता है।"
सत्यवान् ने हँसकर उत्तर अरपा:
"पर सब कुछ का मूल बीज यह ही है,
सब कुछ का कारण सावित्री ही है।
बस इसने ही अपने सम्मोहन से
मुझको अपने चहुंमुख बट डाला है,
तुम देखो तो! मध्याह्न में अरे मैं
इस अपने माटी के गृह को तजकर
पर-शाश्वतताओं में था चला गया,
फिर भी इसके स्वर्ण-करों का बन्दी
बना हुआ मैं यहां फिर उपस्थित हूं,
और पुनः इस लघु टीले पर, जिसको
तुम हरित धरा कहते, घूम रहा हूं,
और तुम्हारे भंगुर इस दिनकर के
काल-क्षणों के भीतर विचर रहा हूं,
औ' व्यस्त मानवी कार्य-कलापों में
एक मोद से फिर जी-जाग रहा हूं।"
तब तो अरे सभी आंखों ने अपनी
आश्चर्य दृष्टियां उस ओर फेर दीं
जहां कि अपनी नीची आंखों से वह
अभिजात और प्रिय बालिका खड़ी थी,
जिसके कि कपोलों पर ताम्र-स्वर्ण रंग
गहरे से गहरा होता जाता था ,
एक सर्वसम्मतकारी विचार ने
तब सबके हृदयों को द्रवित कर दिया:
"अरे धरा-नभ का यह कौन दमकता
चमत्कार है जो इस सत्यवान् के
पास यहाँ संध्या के धुंधलेपन को
परम उजागर करता मौन खड़ा है?
यदि यह वही महाभागा नारी है
जिसकी सारी जगती में चर्चा है
तो कुछ भी परिवर्तन हो सकता है,
कोई भी सुख-सुहाग आ सकता है

इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है।
सुख का प्रत्येक सहज चमत्कार तो
उसके उस सशक्त रूपांतरकारी
अंतर की जैसे एक कीमिया है।"
तब एक पुरोहित, ऋषि दिखनेवाले
आगन्तुक के मुख से बोल कढ़ उठे:
"ओ नारी आत्मा, अद्भुत प्रकाश है!
सम्मुख उन्मुक्त हुई कौन शक्ति है?
जो कि आज के तीव्र चमत्कारों को
करती हुई सुसिद्ध चली जाती है,
औ' अपने द्वारा हम सबकी खातिर
सुखितर युग आरंभ किए देती है।"
उसकी उन्नमिता स्पन्दित बरौनियों
ने अब उसी दृष्टि के भीतर जिसने
अमर वस्तुओं की नापजोख ली थी
पुलकित होकर निज आनंद की खातिर
था मनुजाकारों को खींच भर लिया।
और उन्होंने सुगहन बालसुलभ निज
मातृत्व के लिए उन आत्माओं के
जीवन पर, सावित्री का ही अपना
जीवन मानकर कि अधिकार कर लिया,
औ' फिर इक पल में ही विनत बन गईं
बस प्रकाश पर जैसे कि पट पड़ गया।

फिर मुख से इक सुमंद गिरा झर चली :
"हां, निज अंतर-आशय के प्रति जगकर मैंने परम तथ्य को पकड़ लिया है,—
कि प्रेम और एकता का अनुभव ही इस जीवन का केवल तात्पर्य है,
ओ ऋषि, मानव के स्वर्णिम परिवर्तन का बस यह ही केवल इक जादू है,
और यही सारे सत्य का सार है जिसको जान लिया है, खोज लिया है।"
बस आश्चर्यभरे उसको विलोकते उसकी ज्योतिर्मय वाणी को सुनते
एक तीव्रता से गहराती निशि में घूम पड़े वे सब अब परिचित दिशि में।

जटिल और उलझी कानन-सीमाओं
से विमुक्त होकर अब निद्रित भू की धूमिलता से वे बाहर थे आए,
और चल रहे थे अब वे सब उसके उन मैदानों पर धुंधले, औंधाए।
बस इक चरमर होता था, इक गति थी औ' मानव चापों की इक धसकन थी,
जो रात्रि-मौन को कर भंग रही थी,

जीवन के अस्पष्ट विविध नादों के
सागर से भी ऊंची उन अश्वों की हिनहिनाहटें, चीत्कारें गूंजी थीं,
जो कि कूच की उस पूरी यात्रा भर टापों से जैसे तुक लगा रहे थे,
यह गृह को लौट रहे रथ का स्वर था।

शुभ्र धवल अश्वों के द्वारा चालित उन्नतछत्री रथ में बने प्रतिष्ठित
तथा चल मशालों के इक प्रकाश में
सावित्री औ' सत्यवान् दोनों थे हाथ हाथ में डाले चले जा रहे,—
सुनते बारात की मधुर रथ-यात्रा गुनते विवाह-गीतों की सुमधुरता
वहां, जहां मानव-जग बाट जोहता औ' असंख्य कंठों से स्वागत करता।
औ' उस धूमिल प्रदेश के ऊपर ज्यों प्रकाश की लीकों को उरेहती-सी
अगणित तारावलियां तैर रही थीं।

औ' तब भी जब निज नगर की दक्षिणी किनार पर जाकर वे हुए उपस्थित,
निशि अपनी ध्यान-निमग्ना भौंहों के भा-मंडल में जैसे मज्जित-मज्जित,
शशि से महिमाशाली बने गगन में
अपनी रजत शांति में सपनाती निज ज्योतिर्मय शासन को चला रही थी,
औ' अपनी नीरवता मध्य बराबर उस विचार पर ध्यान निमग्न बनी थी
जो उसकी रहसिल प्रकाश-पर्तों में एक सावधानी से अभिरक्षित था,
औ' वह निज अंतर में एक महत्तर ज्योतित ऊषा का पोषण करता था।

शुद्धि-पत्र

इस शुद्धिपत्र के साथ एक विशेष सूचना आपको दी जा रही है, पढ़ते समय इसे ध्यानमें रखें।

(१) पर्व १ या कहें पुष्प १ इसी क्रम में फिर से प्रकाशित हो रहा है।
(२) पर्व २ आपको पुष्प ४ और पुष्प ५ में मिलेगा।
(३) पर्व ३ और पर्व ४ क्रमशः पुष्प २ में हैं।
(४) पर्व ५ और पर्व ६ क्रमशः पुष्प ३ में हैं।
(५) पर्व ७ और पर्व ८ पुष्प ६ में हैं।
(६) पर्व ९ पर्व १०, पर्व ११ और १२ क्रमशः पुष्प ७ में हैं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कविता की पंक्तियां सदा बांएं से दाहिनी ओर पढ़नी चाहिएं। प्रत्येक पंक्ति में दो चरण हैं: कहीं कहीं पहला या दूसरा एक ही चरण है। तो भी जो चरण नहीं है उसे छोड़ते हुए बांए से दाहिने ही पढ़ने की क्रिया है।

पुष्प २, पर्व ३ व ४

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
११	२५	(भूमिका में)	'उपनिषदों' के स्थान पर 'वेदों' पढ़ें।
२२	४	प्रथम चरण	'से' के स्थान पर 'प्रति'
३७	१३	२	'यद्यपि महान् था लेकिन श्रीविरहित
,,	१४	२	महासिंधु मे हुआ अरे विनिमज्जित।'
४२	१३	द्वितीय चरण	'राह' के स्थान पर 'रार'
४३	२५	प्रथम	'अपने' के स्थान पर 'उठते'
५०	१३	प्र०	'प्रति उत्तर' के स्थान पर 'प्रत्युत्तर
५२	२७	द्वितीय	'आननों' के स्थान पर 'वाणियों'
६६	२१	प्र०	'दीप्त शांति का उदासीन इक बंजर'
६६	२१	द्वि०	'औ' इक मरु ही दिखलाई पड़ता था'
८०	२३	द्वि०	'उच्चतरा' के स्थान पर 'उच्चरता'
८७	११	प्र०	(छुटी पंक्ति) 'वह उनके ही समक्ष एक महत्तर'
८७	११	द्वि०	(छुटी पंक्ति) 'प्रकाश के प्रति औ' जाती बढ़ती थी
९८	१९	प्र०	'औ' मस्तक की उस विस्तृत सपनाती'

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
१०६	४	प्र०	'जीवन-वास अरे जीवन के नन्हें'
१०६	४	द्वि०	'बहे जा रहे दिवसों के हित अपने,'
"	५	प्र०	'आधार के लिए बस जुती भूमि की'
"	५	द्वि०	'ऊपर जैसे कि झुके हुए पड़े थे।'
११०	२८	प्र०	'शक्ति' के स्थान पर 'शान्ति'
"	३२	प्र०	'घृणा तथा उस संघर्ष का अंत कर'
"	"	द्वि०	'देने के हित मानो फुसला-फुसला'
११३	२६	प्र०	'मूछित' के स्थान पर 'मूर्च्छित'

पुष्प ३, पर्व ५ व ६

२२	६	द्वितीय	'मंत्रवित्' के स्थान पर ''मंत्रविद्'
३६	४	प्रथम	'की कक्षा' के स्थान पर 'के मंदिर'
४०	२९	प्र०	'रूत' के स्थान पर 'रूप'
४२	१६	द्वि०	'वक्ष' के स्थान पर कक्ष'
४७	३	प्र०	'उन नीरव, थिर सीमाओं के भीतर'
४९	४	प्र०	'मानवता' के स्थान पर 'भगवत्ता'
५०	३३	द्वि०	'पारिजात' के स्थान पर 'गुलाब'
५१	१२	द्वि०	'में' के स्थान पर 'से'
५३	८	द्वि०	'और भयंकरता से अति महान् हो'
७९	२६	द्वि०	'पुछुआए' के स्थान पर 'पछुआए'
८५	१२	प्र०	'शक्ति' के स्थान पर 'शान्ति'
९०	१७	प्र०	'बेहब' के स्थान पर 'बेहद'

पुष्प ४, पर्व २

२५	१	शीर्षक	'जगत्-सोपान्' के स्थान पर 'जगत्-सोपान'
३०	२६	द्वि०	'मूर्तत्व' के स्थान पर 'मूर्त्तत्व'
३४	१	शीर्षक	'सूक्ष्म जड़तत्त्व का लोक'
३६	१७	प्र०	'जादूतल' के स्थान पर 'जादूथल'
४६	६	प्र०	'सुषमत्कारिक' के स्थान पर 'सुचमत्कारी'
६३	१०	द्वि०	'धगधगित' के स्थान पर 'धग-धगित'
६९	१३	द्वि०	(छूटा चरण) 'औ' स्व-पतन में ही गौरव लेती थी

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
६९	१४	प्र०	'देवी' के स्थान पर 'दैवी'
१०३	२५	द्वि०	'सर्वशक्तमत्' के स्थान पर 'सर्वशक्तिमत्'
१०६	३४	द्वि०	(छुटा' च०) 'नश्वर मन और बोध में श्रम करती
१३०	१४	द्वि०	'अपनी' के स्थान पर उनकी'
१३८	१०	प्र०	'प्रकाश' के स्थान पर 'आकाश'
१४०	१	प्र०	'प्रशांत' के स्थान पर 'अशांत'

पुष्प ५, पर्व २

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
३८	३	द्वितीय	'भाग्य' के स्थान पर शून्य'
५५	२५	प्र०	'जीवन के सारे ही उन्नत सपने'
७३	२८	प्र०	(छुटा च.) 'मानव की निश्चेतनता की भीषण'
"	"	द्वि०	(छुटा च.) 'विशाल नंगी दीवारों के ऊपर'
७४	३२	द्वि०	कृपया 'सज्जित ...' इस पंक्ति के बाद पृष्ठ ७६ की अंतिम तीन पंक्तियां पढ़ें।
७६			इस पृष्ठ की अंतिम ३ पंक्तियां छोड़कर पृष्ठ ७७ पर जायं।
८९	१	प्र०	'भवन' के स्थान पर 'कमल'
८९	५	द्वि०	'जुड़पे' के स्थान पर जुड़ते'
११०	३३	प्र०	'पर उस 'तत्' को उसे प्राप्त करना है'
१२७	१३	प्र०	'शक्ति' के स्थान पर 'शांति'
१२९	३२	द्वि.	(छुटा च.) 'और दृष्टि-सायुज्य ज्वाल-क्षेपण थी'

पुष्प ६, पर्व ७ और ८

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
५४	३	द्वि०	'ईश' के स्थान पर देव'
५४	४	प्र०	'मैं शोकों की ही मानव-सत्ता हूँ'
७२	३	द्वि०	'बुझा बुझा' के स्थान पर 'बुझ-बुझा'
७८	८	प्र०	'देव' के स्थान पर 'ईश'
८९	२१	द्वि०	'तादात्म्य को यहां इक प्राप्त करेगी'
१००	२२	द्वि०	'शाश्वत स्वराघात उच्चार रही थी।'
१०४	१७	प्र०	कृपया प्रथम चरण के बाद ये दो चरण बढ़ा लें

पृष्ठ	पंक्ति	चरण	शुद्ध पंक्ति या शब्द
१०४	१७	प्र० के बाद	'वह ही कर्मों में सुकार्य करता था, औ' उसके अंगों की सुन्दरता था',
१०६	३२	प्र०	'भौतिक' के स्थान पर 'मौलिक'
१०८			इस पृष्ठ के आगे दो पृष्ठ छूट गए हैं वे अलग से छपे हैं, कृपया उन्हें यहां जोड़ लें।